३.3

विश्व-इतिहास
की
झलक

पहला खण्ड

लेखक
जवाहरलाल नेहरू
अनुवादक
चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय

१९८६
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
एन ७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली

●

सातवीं बार : १९८६
मूल्य : दोनों खण्डों का : साठ रुपये

●

मुद्रक
अग्रवाल प्रिंटर्स
नई दिल्ली

प्रकाशकीय

इस पुस्तक में नेहरूजी के विभिन्न जेलों से अपनी पुत्री इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम लिखे पत्रों का संग्रह है। इन पत्रों में विद्वान् लेखक ने दुनिया के इतिहास और साम्राज्यों के उत्थान एवं पतन की कहानी बड़ी खूबी के साथ लिखी है। उन्होंने बहुत दिन पहले कुछ पत्र इन्दिरा के नाम लिखे थे, जो 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' से सन् १९२९ में प्रकाशित हुए। उन पत्रों में सृष्टि के आरम्भ से प्राणी की उत्पत्ति और इतिहास-काल के आरम्भ तक का हाल था। 'झलक' की कहानी उसके बाद से शुरू होती है। दोनों पुस्तकें एक-दूसरे की पूरक हैं, फिर भी अपने-आपमें स्वतन्त्र हैं।

अंग्रेज़ी पुस्तक के नये संस्करण के अन्त में लेखक ने जो उपोद्घात तथा नई टिप्पणियाँ जोड़ी थीं वे इस पुस्तक के दूसरे संस्करण में बढ़ा दी गई थीं। अन्त में निर्देशिका भी दे दी गई है।

प्रस्तुत संस्करण में सारे ग्रन्थ की भाषा में फिर से संशोधन करके उसे अधिक प्रवाहपूर्ण बना दिया गया है। साथ ही लगभग पचास नक़शे इस पुस्तक में दे दिये गए हैं, जिससे विषय के समझने में सुगमता होती है।

नेहरूजी की यह अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। इसमें उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा इतिहास के गहरे ज्ञान का मानों सागर भर दिया है।

पुस्तक का यह ~~नया~~ संस्करण है। हम आशा करते हैं कि इस संस्करण का भी पूर्ववत् स्वागत होगा।

—मन्त्री

भूमिका

चार बरस हुए मैंने इस किताब का लिखना देहरादून-जेल में खत्म किया । उसके कुछ दिन बाद यह अंग्रेज़ी में छपी थी। मेरी इच्छा थी कि यह हिन्दी र उर्दू में भी निकले। उसका कुछ प्रबन्ध किया भी, लेकिन दुर्भाग्य से उसमें उस मय कामयाबी नहीं हुई। मैं फिर जेल चला गया।

अब मुझे खुशी है कि ये मेरे पत्र इन्दिरा के नाम देश की पोशाक में निकल े हैं। क़सूर तो मेरा है कि मैंने इनको शुरू में विदेशी लिबास पहनाया। मुझे छ आसानी हुई अंग्रेज़ी में लिखने में, क्योंकि उसमें लिखने का अभ्यास अधिक था र विषय भी ऐसा था, जिसमें ज्यादातर किताबें यूरोप की भाषाओं में हैं और न्हींको मैंने पढ़ा था।

दुनिया के इतिहास पर किसीका भी कुछ लिखना हिम्मत का काम है। रे लिए यह जुर्रत करना तो एक अजीब बात थी, क्योंकि मैं न लेखक हूँ और न तिहास के जाननेवालों में गिना जाता हूँ। कोई बड़ी पुस्तक लिखने का तो मेरा याल भी नहीं था। लेकिन जेल के लम्बे और अकेले दिनों में मैं कुछ करना चाहता ा और मेरा ध्यान आजकल की दुनिया और उसके कठिन सवालों से भटककर राने ज़माने में दौड़ता और फिरता था। क्या-क्या सबक़ यह पुराना इतिहास हमें खाता है? क्या रोशनी आजकल के अँधेरे में डालता है? क्या यह सब कोई लसिला है, कोई माने रखता है, या यह एक बेमानी खेल है, जिसमें कोई क़ायदा-ानून नहीं, कोई मतलब नहीं, और सब बातें यों ही इत्तफ़ाक से होती हैं? ये ख़याल रे दिमाग़ को परेशान करते थे, और इस परेशानी को दूर करने के लिए इतिहास ो मैंने पढ़ा और आजकल की हालत को मैंने समझने की कोशिश की। दिमाग़ में हते हुए विचारों को पकड़कर काग़ज़ पर लिखने से सोचने में भी आसानी होती और उनके नये-नये पहलू निकलते हैं। इसलिए मैंने लिखना शुरू किया। फिर न्दिरा की याद ने मुझे उसकी तरफ़ खींचा और इस लिखने ने उसके नाम पत्रों का प धारण किया।

महीने गुज़रे। कुछ दिनों के लिए जेल से निकला, फिर वापस गया। सर्दी का ौसम खत्म हुआ, वसन्त आया, फिर गर्मी और बरसात। एक साल पूरा हुआ, सरा शुरू हुआ और फिर वही सर्दी, वसन्त, गर्मी और चौमासा। लिखने का लसिला जारी रहा और हलके-हलके मेरे लिखे हुए पत्रों का एक पहाड़-सा हो या। उसको देखकर मैं भी हैरान हो गया। इस तरह से, क़रीब-क़रीब इत्तफ़ाक

से, यह मोटी पुस्तक बनी। इसमें हज़ार ऐब हैं, हज़ार कमियाँ, लेकिन फिर भी समझता हूँ कि इससे कुछ फ़ायदा भी हो सकता है। अंग्रेज़ों ने या यूरोप के लोगों जो ऐसी पुस्तकें लिखी हैं, उनमें यूरोपीय दुनिया का अधिकतर हाल है, एशिया औ पुराने इतिहास की चर्चा कम है। मैंने कोशिश की है कि एशिया का हाल ज़्यादा दूँ दोनों को सामने रखकर ही पूरी तसवीर सामने आती है। वह तसवीर चाहे कितन ही अधूरी हो और उसमें ऐब और ख़ामियाँ हों, फिर भी वह पूरी तसवीर है मुझे इस बात का विश्वास है कि (हम किसी एक देश का हाल नहीं समझ सकते जबतक कि और देशों का हाल नहीं जानते। कोई एक देश औरों से अलग होकर रहा है और न रह सकता है। आजकल की दुनिया में तो यह बात बिलकुल ज़ाहि है और हम सब एक-दूसरे के सहारे खड़े रहते हैं या गिरते हैं।)

यूरोप की भाषाओं में बहुत सारी पुस्तकें दुनिया के इतिहास पर हैं, लेकि हमारे देश की भाषाओं में इनकी बहुत कमी है। इसलिए मैं ख़ासतौर से यह चाहत था कि यह मेरी पुस्तक हिन्दी और उर्दू में निकले। गोकि इसमें ऐब और ख़ामिय हैं, और वे बहुत हैं, फिर भी यह इस कमी को कुछ पूरा करती है। हिन्दी अब यह निकल रही है और मैं आशा करता हूँ कि जल्दी ही उर्दू में भी निकलेगी

इसको लिखे कोई चार बरस हुए। दुनिया के इतिहास के लिए चार बर क्या चीज़ है? लेकिन हम एक ऐसे अजीब ज़माने में पैदा हुए, जबकि दुनिया क रफ़्तार तेज़ है और हम सब उसकी धारा में बहते जाते हैं। कोई कह नहीं सक कि यह कहाँ पहुँचायगी। इन बरसों में क्रान्ति और इन्क़िलाब कितने देशों में ह गये। अबीसीनिया की हत्या हुई। स्पेन में बढ़ती हुई आज़ादी को एक भयान मुक़ाबला करना पड़ा और अभीतक ज़िन्दगी और मौत की कुश्ती जारी है फ़िलस्तीन में हमारे अरब भाइयों का गला घोंटा जा रहा है। चीन के मशहूर शह जहाँ लाखों लोग रहते थे, मिट्टी के ढेर हो गये, और उस मिट्टी में बेशुमार पुरु और स्त्री, लड़के और लड़कियाँ और बच्चे दबे पड़े हैं। साम्राज्यवाद और फ़ासिस् वाद हर जगह हमला कर रहे हैं और दुनिया की नई उमंगों को कुचलने की कोशि कर रहे हैं। उसीके साथ समाजवाद और राष्ट्रीयता के विचार फैलते जाते और वे इस मुक़ाबिले से हटते नहीं।

इस पुस्तक के आखिर में मैंने लड़ाई के साये का ज़िक्र किया है। इन चा बरसों में यह साया सारे देश में फैल गया है और एक भयानक घटा हमें घेरे हुए है दिन और रात इस लड़ाई की तैयारी सब देश कर रहे हैं और एक सवाल हरेक क ज़बान पर और चेहरे पर है। यह तूफ़ान कब दुनिया पर छायगा और क्या-क मुसीबतें लायगा? क्या इसका नतीजा होगा—हमें लाभ या हानि?

मैं चाहता था कि इन चार बरसों का कुछ हाल लिखकर इस किताब के अन्त में जोड़ दूँ। लेकिन और कामों में इतना फँसा हूँ कि समय नहीं मिलता।

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना कठिन काम है। कभी पूरा मतलब इस तरह से अदा नहीं हो सकता। फिर भी यह काम तो करना ही होता है। इस अनुवाद में एक और कठिनाई हुई। हम सबकी इच्छा थी कि यह बीच की हिन्दुस्तानी भाषा में हो, जो न कठिन हिन्दी हो, न कठिन उर्दू। हमें अपने देश में ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा को चालू करना है। शुरू-शुरू में इसमें काफ़ी दिक्क़तों का सामना करना पड़ता है और दोनों तरफ़ के साहित्यकार नाराज़ हो जाते हैं। ऐतराज़ होता है कि यह क्या दोगली चीज़ है—न हिन्दी, न उर्दू। साहित्य के प्रेमियों से मैं माफ़ी माँगता हूँ, लेकिन मैं समझता हूँ कि बीच के रास्ते पर चलकर हम एक मज़बूत और जानदार साहित्य बना सकेंगे। इस कोशिश में ग़लतियाँ होंगी और कभी-कभी आँखों को और कानों को चोट लगेगी। लेकिन जल्दी ही समय आयगा जब हम इस नई चीज़ की, जो आम जनता से पैदा हो और उसीकी तरफ़ देखे, शक्ति पहचानेंगे और उसके बढ़ाने में लगेंगे।

रेल में
२१-११-३७

जवाहरलाल नेहरू

विषय-सूची

पहला खण्ड

— सालगिरह की चिट्ठी ३
१. नये साल की भेंट ८
२. इतिहास से शिक्षा ११
३. 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद' १४
४. एशिया और यूरोप १६
५. पुरानी सभ्यताएँ और हमारी विरासत १९
६. यूनानी २४
७. यूनान के नगर-राज्य २९
८. पश्चिमी एशिया के साम्राज्य ३१
९. पुरानी परम्परा का बोझ ३५
१०. प्राचीन भारत के ग्राम-गणराज्य ३९
११. चीन के हज़ार वर्ष ४३
१२. पुरातन की पुकार ४७
१३. धन कहाँ जाता है ? ५१
१४. ईसा के पूर्व छठी सदी और मज़हब ५५
१५. ईरान और यूनान ६१
१६. यूनान का वैभव ६७
१७. मशहूर विजेता : लेकिन घमण्डी युवक ७२
१८. चन्द्रगुप्त मौर्य्य और कौटिल्य का अर्थशास्त्र ७७
१९. तीन महीने ! ८२
२०. अरब सागर ८४
२१. छुट्टी के दिन और स्वप्न-यात्रा ८६
२२. जीविका के लिए मनुष्य का संघर्ष ८८
२३. सिंहावलोकन ९२
२४. 'देवानां प्रिय' अशोक ९४
२५. अशोक के ज़माने की दुनिया १००
२६. चिन् और हन् १०३

. रोम बनाम कार्थेज १०७
. रोमन गणराज्य साम्राज्य बन गया १११
. दक्षिण भारत का उत्तर भारत पर छा जाना ११७
. कुषाणों का सीमावर्ती साम्राज्य १२१
. ईसा और ईसाइयत १२५
. रोमन साम्राज्य १३१
. रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर छायामात्र रह जाता है १३५
. विश्व-राज्य की भावना १४०
. पार्थव और सासानी १४४
. दक्षिण भारत के उपनिवेश १४६
७. गुप्त सम्राटों का हिन्दू साम्राज्यवाद १५१
८. हूणों का भारत में आना १५५
९. विदेशी मण्डियों पर भारत का क़ब्ज़ा १५७
०. देशों और सभ्यताओं के चढ़ाव-उतार १५९
१. तांङ-वंश के शासन में चीन की उन्नति १६५
२. चोसेन और दाई निप्पौन १६९
३. हर्षवर्धन और ह्यूएनत्सांङ १७५
४. दक्षिण भारत के अनेक राजा और योद्धा और एक महापुरुष १८२
५. मध्य युगों का भारत १८७
६. शानदार अंकोर और श्रीविजय १९१
७. रोम फिर अन्धकार में गिरता है १९६
८. इस्लाम का उदय २०३
९. स्पेन से मंगोलिया तक अरबों की विजय २०८
०. बग़दाद और हारूँ-अल-रशीद २१३
१. उत्तर भारत में—हर्ष से महमूद तक २१८
२. यूरोप के देशों का रूप लेना २२४
३. सामन्त-प्रथा २३०
४. चीन घुमक्कड़ क़बीलों को पश्चिम में खदेड़ देता है २३५
५. जापान में शोगुन का शासन २४०
५६. मनुष्य की खोज २४३
५७. ईसा के बाद के पहले हज़ार वर्ष २४७
५८. एशिया और यूरोप पर एक और नज़र २५३
५९. अमेरिका की मयसभ्यता २५८
६०. मोहेन-जो-दड़ो की तरफ़ वापस छलांग २६३

६१. कुर्तुबा (कॉरडोवा) और ग्रैनैडा २६

६२. 'क्रूसेड' या सलीब के युद्ध २७

६३. क्रूसेडों के समय का यूरोप २७

६४. यूरोप के नगरों का अभ्युदय २८

६५. अफ़ग़ानों का भारत पर हमला २९

६६. दिल्ली के ग़ुलाम-वंशी बादशाह २९

६७. चंगेज़खाँ एशिया और यूरोप को हिला डालता है ३०

६८. मंगोलों का दुनिया पर छा जाना ३१

६९. महान् यात्री मार्को पोलो ३१

७०. रोमन चर्च की सरज़ोरी ३२

७१. सत्तावाद के ख़िलाफ़ लड़ाई ३२

७२. मध्य-युग का अन्त ३२

७३. समुद्री रास्तों की खोज ३३

७४. मंगोल साम्राज्यों का बिखरना ३४

७५. भारत एक कठिन समस्या से जूझता है ३४

७६. दक्षिण भारत के राज्य ३५

७७. विजयनगर ३५

७८. मज्जापहित और मलक्का का मलेशिया साम्राज्य ३६

७९. यूरोप पूर्वी एशिया को हड़पना शुरू करता है ३६

८०. चीन में शान्ति और समृद्धि का युग ३७

८१. जापान अपने को बन्द कर लेता है ३७

८२. यूरोप में खलबली ३८

८३. 'रिनेसाँ' या पुनर्जागरण ३८

८४. प्रोटेस्टेण्टों का विद्रोह और किसानों का युद्ध ३९

८५. सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के यूरोप में निरंकुशता ३९

८६. नीदरलैंड की आज़ादी की लड़ाई ४०

८७. इंग्लैण्ड ने अपने बादशाह का सिर उड़ा दिया ४१

८८. बाबर ४२

८९. अकबर ४२

९०. भारत में मुग़ल-साम्राज्य का पतन और अन्त ४३

९१. सिक्ख और मराठे ४४

९२. भारत में अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर अंग्रेज़ों की विजय ४४

९३. चीन का एक महान् मंचू-शासक ४५

९४. चीनी सम्राट् का अंग्रेज़ बादशाह को पत्र ४६

९५. अठारहवीं सदी के यूरोप में विचारों की लड़ाई ४६६
९६. महान् परिवर्तनों के पहले का यूरोप ४७३
९७. बड़ी मशीन का आगमन ४८०
९८. इंग्लैण्ड में उद्योगी क्रान्ति की शुरुआत ४८६
९९. अमेरिका का इंग्लैण्ड से नाता तोड़ना ४९३
१००. बास्तील का पतन ५०२
१०१. फ़्रान्स की राज्य-क्रान्ति ५०९
१०२. क्रान्ति और उलट-क्रान्ति ५१७
१०३. हुकूमतों के ढंग ५२५
१०४. नेपोलियन ५३०
१०५. नेपोलियन का कुछ और हाल ५३८
१०६. संसार का सिंहावलोकन ५४७
१०७. महायुद्ध से पहले के सौ वर्ष ५५३
१०८. उन्नीसवीं सदी की कुछ और बातें ५६०
१०९. भारत में युद्ध और विद्रोह ५६९
११०. भारतीय कारीगर की रोज़ी छिन जाती है ५७९
१११. भारत के गाँव, किसान और ज़मींदार ५८६
११२. ब्रिटेन ने भारत पर राज कैसे किया ? ५९६
११३. भारत की नई चेतना ६०५
११४. ब्रिटेन का चीन पर ज़बर्दस्ती अफ़ीम लादना ६१६
११५. चीन पर मुसीबतें ६२५
११६. जापान तेज़ी से आगे दौड़ता है ६३०
११७. जापान रूस को हराता है ६३९
११८. चीन गणराज्य बन जाता है ६४६
११९. भारत के पूर्ववर्ती देश ६५१
१२०. नया साल फिर आया ६६०
१२१. फ़िलीपाइन और संयुक्त राज्य अमेरिका ६६३
१२२. तीन महाद्वीपों का संगम ६६९
१२३. पीछे की तरफ़ एक निगाह ६७४
१२४. ईरान की अटूट पुरानी परम्पराएँ ६८०

मानचित्र

१. पश्चिमी एशिया तथा दक्षिण-पूर्वी यूरोप की प्राचीन सभ्यताएँ २५
२. चीनी सभ्यता की शुरुआत ४४
३. ईरानी और यूनानी राज्य ६२
४. सिकन्दर का साम्राज्य ७३
५. अशोक का साम्राज्य ९७
६. रोम एक साम्राज्य बन जाता है ११२
७. कुषाण-साम्राज्य के समय का भारत १२२
८. भारत का उपनिवेशीकरण तथा चीन का तांङ साम्राज्य १६४
९. अरबों की विजय-यात्रा २०९
१०. नवीं सदी का यूरोप २२५
११. एशिया तथा यूरोप—१००० ई० २४८
१२. मध्य अमरीका की मय सभ्यता २५९
१३. तेरहवीं सदी का यूरोप २७९
१४. चंगेज़ख़ाँ—'ख़ुदा का क़हर' ३०४
१५. समुद्री रास्तों की खोज ३३६
१६. रोम के विरुद्ध बग़ावत ३९३
१७. अकबर का साम्राज्य ४२७
१८. भारत में अंग्रेज़ों और फ़ान्सीसियों की लड़ाइयाँ ४४९
१९. चिनलुंङ का साम्राज्य—१७९६ ई० ४६२
२०. अमेरिका द्वारा सम्बन्ध-विच्छेद ४९४
२१. यूरोप पर नेपोलियन की छाया ५३१
२२. भारत १८५७ ई० की क्रान्ति के समय ५७०
२३. ब्रिटेन और चीन ६१७
२४. जापान का उत्कर्ष ६३१
२५. भारत के पूर्ववर्ती देश ६५२
२६. उस्मानी साम्राज्य—१६वीं और १७वीं सदी में ६७०

विश्व-इतिहास
की
झलक

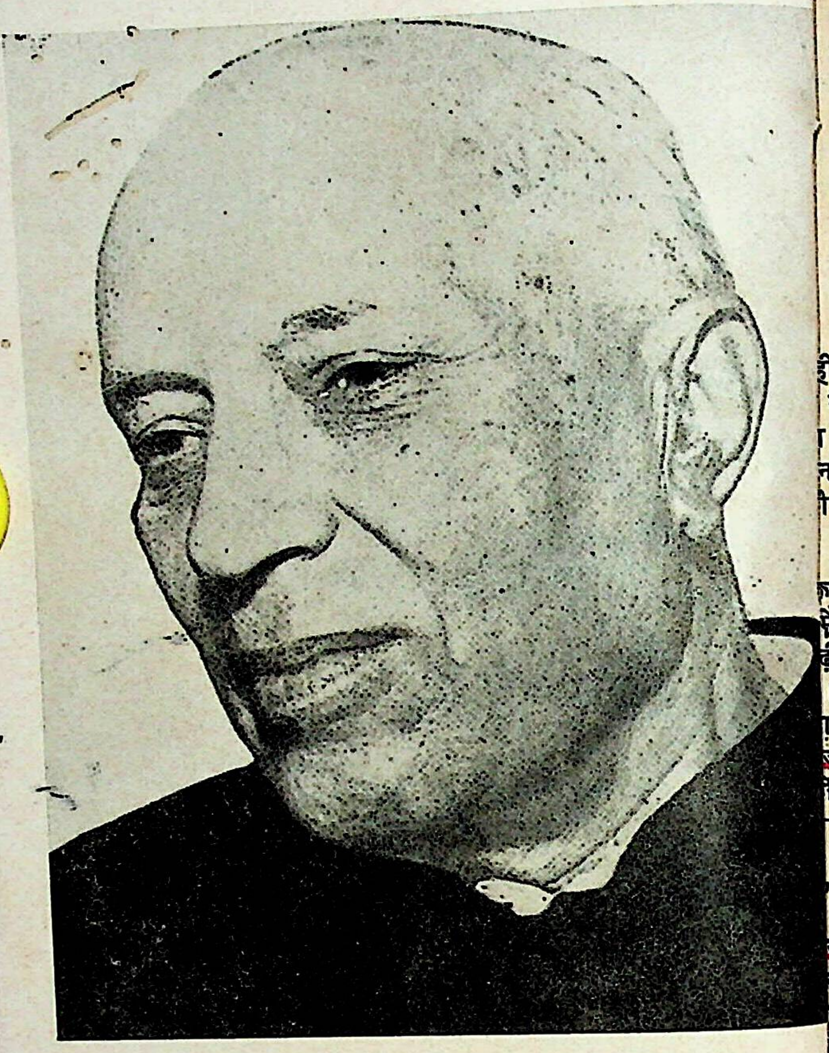

“जेल के लंबे और अकेले दिनों में मैं कुछ करना चाहता था । इंदिर
की याद ने मुझे उसकी ओर खींचा, इसलिए मैंने लिखना शुरू किया
और इस लिखने ने उसके नाम पत्रों का रूप धारण किया ।”

—जवाहरलाल नेह

सालगिरह की चिट्ठी

सेन्ट्रल जेल, नैनी
२६ अक्तूबर, १९३०[1]

इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम
उसके तेरहवें जन्मदिन पर—

अपनी सालगिरह के दिन तुम बराबर उपहार और शुभ-कामनाएँ पाती ही हो। शुभ-कामनाएँ तो तुम्हें अब भी बहुत-सी मिलेंगी। लेकिन नैनी-जेल मैं तुम्हारे लिए कौन-सा उपहार भेज सकता हूँ? फिर मेरे उपहार वास्तविक बहुत ठोस शक्ल के नहीं हो सकते। वे तो हवा के समान सूक्ष्म ही होंगे, जिनका न और आत्मा से सम्बन्ध हो—ऐसे उपहार शायद तुम्हें नेक परियाँ ही दे सकें र इन्हें जेल की ऊँची दीवारें भी नहीं रोक सकतीं।

प्यारी बेटी, तुम जानती हो कि उपदेश देना और नेक सलाह बाँटना मुझे तना नापसन्द है। जब कभी ऐसा करने को मेरा जी चाहता भी है तो मुझे मेशा एक 'बहुत अक़्लमन्द आदमी' की कहानी याद आ जाती है, जो मैंने एक बार ढ़ी थी। कभी शायद तुम खुद उस पुस्तक को पढ़ोगी, जिसमें यह कहानी लिखी । तेरह सौ बरस हुए एक मशहूर यात्री अनुभव और ज्ञान की खोज में चीन से ारत आया था। उसका नाम ह्यू एनत्सांङ[2] था। उसकी ज्ञान की प्यास इतनी ज थी कि वह अनेक खतरों का सामना करता, अनेक मुसीबतों और बाधाओं ो झेलता और जीतता हुआ, उत्तर के रेगिस्तानों और पहाड़ों को पार करके

---

[1] इन्दिरा का जन्मदिन अंग्रेज़ी तारीख़ के हिसाब से १९ नवम्बर को पड़ता , लेकिन विक्रमी संवत् के अनुसार २६ अक्तूबर को मनाया गया था।

[2] ह्यू एनत्सांङ एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुक और चीनी यात्री था। इसका समय न् ६०५ से ६६४ ई० के लगभग माना जाता है। ६२९ में यह हिन्दुस्तान के ए रवाना हुआ। उन दिनों चीन में शाही हुक्म के अनुसार विदेश-यात्रा करना ना था, इसलिए इसकी रवानगी का पता लगने पर इसकी गिरफ़्तारी की बड़ी ोशिश की गई; लेकिन बड़ी कठिनाइयों से यह वहाँ से निकल भागा और रास्ते भी बहुत मुसीबतें झेलीं, मगर घबराया नहीं और हिन्दुस्तान आ पहुँचा। इसने हाँ से लौटने के बाद चीन, मध्य-एशिया और भारत की तत्कालीन स्थिति का ड़ा ही दिलचस्प वर्णन लिखा है।

इस देश में आया था। यहाँ नालन्दा[१] के महान् विश्व-विद्यालय में, जो उस
के पाटलिपुत्र[२] और आज के पटना के नज़दीक था, इसने ख़ुद पढ़ने और
के पढ़ाने में कई वर्ष बिताये। ह्यूएनत्सांङ बहुत बड़ा विद्वान् हो गया औ
त्रिपिटकाचार्य यानी बौद्ध-धर्म के आचार्य की उपाधि दी गई। फिर वह सारे
में घूमा और इस महान् देश के उस ज़माने के लोगों का और उनके रस्म-
का अध्ययन करता रहा। बाद को इसने अपनी यात्रा के बारे में एक पुस्तक
और जो कहानी मुझे याद आई वह इसी पुस्तक में है। कहानी यों है कि
भारत का रहनेवाला एक आदमी कर्णसुवर्ण नाम के नगर में गया। य
उस ज़माने में बिहार के आजकल के भागलपुर शहर के आसपास क
हुआ था। इस पुस्तक में लिखा है कि वह आदमी अपने पेट और कमर
ओर ताँबे के पत्तर लपेटे रहता था और अपने सिर पर जलती हुई मशाल
चलता था। इस विचित्र भेष में, हाथ में डण्डा लिये और अकड़ के साथ लम्बे-ल
रखता हुआ यह शख़्स इधर-उधर घूमा करता था। जब कोई उससे पूछता कि
यह अजीब स्वांग क्यों बना रक्खा है, तो वह जवाब देता, "मुझमें इतनी
अक़्ल है कि अगर मैं अपने पेट के चारों तरफ़ ताँबे की चादरें न बाँधे रहूँ तो
कि कहीं मेरा पेट फट न जाय। और क्योंकि मुझे सब तरफ़ दिखाई देनेवाले
आदमियों पर, जो अँधेरे में भटक रहे हैं, दया आती है, इसलिए मैं अपने
मशाल लेकर चलता हूँ।"

मुझे पूरा भरोसा है कि अक़्ल की ज़्यादती के कारण मेरे पेट के फ
का कोई अन्देशा नहीं है; इसलिए मुझे ताँबे की चादरें या ज़िरह-बख़्तर
की ज़रूरत नहीं है। बहरहाल, मुझे उम्मीद है कि मुझमें जो-कुछ भी अ
वह मेरे पेट में नहीं रहती। मेरी अक़्ल चाहे जहाँ रहती हो, वहाँ और ज़
लिए अब भी काफ़ी जगह बाक़ी है, और इस बात का कोई अन्देशा नहीं कि
के लिए वहाँ जगह ही न बचे। फिर जब मेरी अक़्ल इतनी सीमित है तो
के सामने अक़्लमन्द होने की शान कैसे गाँठ सकता हूँ और सबको नेक
कैसे बाँट सकता हूँ? इसलिए मेरा हमेशा से यह विश्वास रहा है कि यह

---

[१] नालन्दा—यह मगध, आजकल के बिहार, के अन्तर्गत एक पुरा
मठ और मशहूर विद्यापीठ था। ज्ञान और धर्म का उपदेश देने के लिए यह
विद्वान् बौद्ध पण्डित रहते थे। उनके अलावा लगभग दस हज़ार से ज़्यादा
और शिष्य यहाँ पर रहा करते थे। इसके जोड़ का विश्व-विद्यालय उ
दुनिया में दूसरा न था।

[२] पाटलिपुत्र—पटना का पुराना नाम। यह मगध और गुप्त स
की राजधानी था।

लिए कि क्या सही है और क्या नहीं, क्या करना चाहिए, और क्या न करना चाहिए, सबसे अच्छा तरीक़ा यह नहीं है कि उपदेश दिया जाय; बल्कि यह है कि बातचीत और चर्चा की जाय, क्योंकि अक्सर ऐसी चर्चाओं में से कुछ-न-कुछ सचाई निकल आती है। मुझे तो तुमसे बातचीत करना ही पसन्द रहा है और हमने आपस में बहुत-सी बातों पर चर्चाएं की भी हैं। लेकिन दुनिया बहुत लम्बी-चौड़ी है और हमारी इस दुनिया के परे भी बहुत-सी आश्चर्यजनक और रहस्य-भरी दुनिया है। इसलिए हममें से किसी को भी ह्यू एनत्सांङ की कहानी में बताये हुए बेवक़ूफ़ और घमण्डी आदमी की तरह कभी उकताना नहीं चाहिए और न यह ख़याल ही करना चाहिए कि जितना सीखने लायक था वह सब हमने सीख लिया और अब हम बहुत अक़्लमन्द हो गए। और शायद इसी बात में अपनी भलाई है कि हम बहुत अक़्लमन्द नहीं बन जाते, क्योंकि 'बहुत ही अक़्लमन्द लोग', अगर इस क़िस्म के लोग कहीं पाये भी जाते हों, ज़रूर इस बात को सोचकर उदास हो जाते होंगे कि अब सीखने को कुछ भी बाक़ी नहीं रहा। नई बातों के सीखने और नई चीज़ों के खोज निकालने के आनन्द से—उस महान् साहसपूर्ण कार्य के आनन्द से, जिसे हममें से जो चाहे प्राप्त कर सकता है—वे ज़रूर वंचित रह जाते होंगे।

इसलिए उपदेश देना तो मेरा काम नहीं। तब फिर मैं करूँ क्या ? चिट्ठी से बातचीत का काम तो निकल नहीं सकता। ज़्यादा-से-ज़्यादा उससे एक तरफ़ की बात ही प्रकट की जा सकती है। इसलिए अगर मेरी कोई बात तुम्हें उपदेश-सी जान पड़े, तो उसे कड़वा घूंट न समझना। तुम यही समझना कि मानों हम दोनों सचमुच बातचीत ही कर रहे हैं, और इस बातचीत में मैंने तुम्हारे सामने विचार करने को कोई तजवीज़ रक्खी है।

इतिहास की किताबों में हम राष्ट्रों के जीवन में बीतनेवाले बड़े-बड़े ज़मानों का और उनके महान् पुरुषों और महिलाओं का हाल और उनके शानदार कारनामों की कहानियाँ पढ़ते ही रहते हैं। कभी-कभी हम सोचते-सोचते और सपने देखते-देखते यह ख़याल करने लगते हैं कि मानों हम भी उसी पुराने ज़माने में चले गए हैं और पुराने ज़माने के उन वीरों और वीरांगनाओं के समान हम भी बहादुरी के काम कर रहे हैं। क्या तुम्हें याद है कि जब तुमने पहले-पहल 'जीन द आर्क'[1] की कहानी पढ़ी थी, तो तुम कितनी मुग्ध हो गई थीं और तुम्हारे दिल में कितना

---

[1] ज[illegible]द आर्क—इसका जन्म सन् १४१२ ई० में फ्रांस देश के एक किसान-ज़मींदार के घर में हुआ था। कहते हैं कि बचपन से ही इसके हृदय में 'दैवी-सन्देश' आया करते थे और इसे विश्वास हो गया था कि फ्रांस का उद्धार इसीके हाथों होगा। उस वक्त फ्रांस अंग्रेज़ों के अधीन था। एक बार जीन फ्रांस के बादशाह चार्ल्स के पास जा पहुँची और उसे प्रभावित करके चार-पाँच हज़ार सेना के साथ मर्दाने

२ 'जीनद आर्क'

हौसला पैदा हुआ था कि तुम भी उसीकी तरह कुछ काम करो ? साधारण मर्द और औरतों में आमतौर पर साहस की भावना नहीं होती। वे तो अपनी रोज़ाना की दाल-रोटी की, अपने बाल-बच्चों की, घर-गिरस्ती की झंझटों की और इसी तरह की दूसरी बातों की चिन्ता में फँसे रहते हैं। लेकिन एक समय आता है जब किसी बड़े उद्देश्य के लिए सारी जनता में उत्साह भर जाता है और उस वक़्त सीधे सादे मामूली स्त्री और पुरुष वीर बन जाते हैं, और इतिहास दिल को थर्रा देनेवाला और नया युग पैदा करनेवाला बन जाता है। महान् नेताओं में कुछ ऐसी बातें होती हैं जो सारी जाति के लोगों में जान पैदा कर देती हैं और उनसे बड़े-बड़े काम करवा देती हैं।

वह वर्ष, जिसमें तुम्हारा जन्म हुआ, अर्थात् सन् १९१७, इतिहास का एक बहुत प्रसिद्ध वर्ष है। इसी वर्ष एक महान् नेता ने, जिसके हृदय में ग़रीबों और दुखियों के लिए बहुत प्रेम और हमदर्दी थी, अपनी क़ौम से इतिहास के एक शानदार और अमर अध्याय की रचना करवा दी। उसी महीने में, जिसमें तुम पैदा हुईं, लेनिन ने उस महान् क्रान्ति को शुरू किया था, जिससे रूस और साइबेरिया की काया पलट गई। और आज भारत में एक दूसरे महान् नेता ने, जिसके हृदय में मुसीबत के मारे और दुखी लोगों के लिए दर्द है और जो उनकी सहायता के लिए बेताब हो रहा है, हमारे राष्ट्र में महान् प्रयत्न और उच्च बलिदान करने के लिए नई जान डाल दी है कि जिससे हमारा राष्ट्र फिर आज़ाद हो जाय, और भूखे, ग़रीब और पीड़ित लोग अपने पर लदे हुए बोझ से छुटकारा पा जायं। बापूजी[1] जेल में पड़े हैं, लेकिन हिन्दुस्तान की करोड़ों जनता के दिलों में उनके सन्देश का जादू पैठ गया है और मर्द और औरतें और छोटे-छोटे बच्चे तक अपने-अपने छोटे-छोटे और तंग दायरों से निकलकर भारत की आज़ादी के सिपाही बन रहे हैं। भारत में आज हम इतिहास निर्माण कर रहे हैं। हम और तुम आज बड़े ख़ुशक़िस्मत हैं कि ये सब बातें हमारी आँखों के सामने हो रही हैं, और इस महान् नाटक में हम भी कुछ हिस्सा ले रहे हैं।

लिबास में अंग्रेजों से लड़ने चल पड़ी। आर्लियंस की लड़ाई में इसने अंग्रेजों को मार भगाया और चार्ल्स को फ्रांस की गद्दी पर बिठाया। पर चार्ल्स ने इसका साथ न दिया और बर्गण्डी के ड्यक ने इसे युद्ध में पकड़कर अंग्रेज़ों के हाथ बेच दिया। अंग्रेज़ों ने इसे इन्क्वीज़िशन (देखो फ़ुटनोट पृष्ठ १४५) के हवाले कर दिया और इन्क्वीजिशन ने इसे काफ़िर और जादूगरनी क़रार देकर रूअन नगर में ज़िन्दा जलवा डाला। उस वक़्त इसकी उम्र २० साल की थी। इसके २५ वर्ष बाद पोप ने इसे बेक़सूर बतलाया और बाद को यह जादूगरनी के बजाय साध्वी क़रार दी गई।

[1] महात्मा गांधी।

इस महान् आन्दोलन में हमारा व्यवहार कैसा रहेगा ? इसमें हम क्या भाग गे ? मैं नहीं कह सकता कि हम लोगों के ज़िम्मे कौन-सा काम आयेगा। किन हमारे ज़िम्मे चाहे जो काम आ पड़े, हमें यह याद रखना चाहिए कि म कोई ऐसी बात नहीं करेंगे, जिससे हमारे उद्देश्यों पर धब्बा लगे और मारे राष्ट्र की बदनामी हो। अगर हमें भारत के सिपाही होना है, तो हमको सके गौरव का रक्षक बनना होगा और यह गौरव हमारे लिए एक पवित्र धरोहर गी।

कभी-कभी हमें यह दुविधा हो सकती है कि इस समय हमें क्या करना ाहिए ? सही क्या है और ग़लत क्या है, यह तय करना आसान काम नहीं होता। सलिए जब कभी तुम्हें शक हो तो ऐसे समय के लिए मैं एक छोटी-सी कसौटी म्हें बताता हूं। शायद इससे तुम्हें मदद मिलेगी। वह यह है कि कोई काम खुफ़िया ौर पर न करो, कोई काम ऐसा न करो जिसे तुम्हें दूसरों से छिपाने की इच्छा ो। क्योंकि छिपाने की इच्छा का मतलब यह होता है कि तुम डरती हो; और रना बुरी बात है और तुम्हारी शान के ख़िलाफ़ है। तुम बहादुर बनो और बाक़ी ीज़ें तुम्हारे पास आप-ही-आप आती जायँगी। अगर तुम बहादुर हो तो तुम डरोगी हीं, और कभी ऐसा काम न करोगी जिसके लिए दूसरों के सामने तुम्हें शर्म ालूम हो। तुम्हें मालूम है कि हमारी आज़ादी के आन्दोलन में, जो बापूजी की हनुमाई में चल रहा है, गुप्त तरीक़ों या लुक-छिपकर काम करने के लिए कोई थान नहीं है। हमें तो कोई चीज़ छिपानी ही नहीं है। जो कुछ हम कहते या करते , उससे हम डरते नहीं। हम तो उजाले में और दिन-दहाड़े काम करते हैं। इसी रह अपनी निजी ज़िन्दगी में भी हमें सूरज को अपना दोस्त बनाना चाहिए ौर रोशनी में काम करना चाहिए। कोई बात छिपाकर या आँख बचाकर नहीं रनी चाहिए। एकान्त तो अलबत्ता हमें चाहिए और वह स्वाभाविक भी है, लेकिन कान्त और चीज़ है और पोशीदगी दूसरी चीज़ है। इसलिए, प्यारी बेटी, अगर म इस कसौटी को सामने रखकर काम करती रहोगी तो प्रकाश की सन्तान कर बढ़ोगी और चाहे जो घटनाएँ तुम्हारे सामने आयें तुम निर्भय और शान्त होगी और तुम्हारे चेहरे पर शिकन तक न आयगी।

मैंने तुम्हें एक बड़ी लम्बी चिट्ठी लिख डाली। फिर भी बहुत-सी बातें ह गईं, जो मैं तुमसे कहना चाहता हूँ। एक पत्र में इतनी सब बातें कहाँ समा कती हैं ?

मैंने तुम्हें बताया है कि तुम बड़ी खुशक़िस्मत हो कि आज़ादी की बड़ी ड़ाई, जो हमारे देश में इस वक़्त चल रही है, तुम्हारी आँखों के सामने हो रही । तुम्हारी एक बड़ी खुशक़िस्मती यह भी है कि तुम्हें एक बहुत बहादुर और

दिलेर स्त्री 'मम्मी'[1] के रूप में मिली है। जब कभी तुम्हें कोई शक-शुबह हो,
कोई परेशानी सामने आये, तो उनसे बढ़कर मित्र तुम्हें दूसरा नहीं मिल सकता।

प्यारी नन्हीं, अब मैं तुमसे बिदा लेता हूँ, और मेरी यह कामना है कि तु
बड़ी होकर भारत की सेवा के लिए एक बहादुर सिपाही बनो। मेरा प्रेम औ
आशीर्वाद तुम्हें पहुँचे।

: १ :

नये साल की भेंट

१ जनवरी, १९३

क्या तुम्हें उन पत्रों[2] की याद है, जो दो साल से ज़्यादा हुए मैंने तुम्हें लि
थे, जबकि तुम मसूरी में थीं और मैं इलाहाबाद में था? उस समय तुमने मु
बताया था कि मेरे वे पत्र तुम्हें पसन्द आये थे। इसलिए, मैं अक्सर यह सोचत
रहता हूँ कि पत्रों के इस सिलसिले को मैं क्यों न जारी रक्खूँ और अपनी इस दुनिय
के बारे में तुम्हें कुछ और बातें क्यों न बताऊँ? लेकिन मैं हिचकता रहा। संसा
के बीते हुए ज़माने की कहानी और उसके महान् पुरुषों और स्त्रियों और उन
महान् कार्यों का चिन्तन करना बहुत दिलचस्प चीज़ है। इतिहास का पढ़ना अच्छ
है, लेकिन उससे ज़्यादा दिलचस्प और दिल लुभानेवाली बात इतिहास के निर्मा
में मदद देना है। और तुम जानती हो कि हमारे देश में आज इतिहास का निर्मा
हो रहा है। भारत का पिछला इतिहास बहुत ही पुराना है और प्राचीनता के कुह
में खो गया है। इसमें अनेक दुःखद और अप्रिय युग भी हैं, जिनकी याद करके ह
शर्म आती है और ग्लानि होती है। लेकिन सभी बातों का लिहाज़ करते हुए हमार
पिछला ज़माना बहुत शानदार है, जिसपर हम सही तौर पर गर्व कर सक
हैं और जिसका खयाल करके हम ख़ुशी हासिल कर सकते हैं। लेकिन आज ह
इतनी फ़ुरसत नहीं कि हम अतीत की याद करने बैठें। हमारे दिमाग़ में तो व
भविष्य, जिसका हम निर्माण कर रहे हैं, भरा पड़ा है, और वह वर्तमान है, जिस
हमारा पूरा समय और हमारी पूरी शक्ति लग रही है।

यहाँ नैनी-जेल में मुझे इस बात का काफ़ी समय मिल गया है कि मैं जो कु
चाहूँ लिख-पढ़ सकूँ। लेकिन मेरा मन भटकता रहता है और मैं उस महान् संघ
के बारे में सोचता रहता हूँ, जो बाहर चल रहा। मैं यह सोचता रहता हूँ कि दूस
लोग क्या कर रहे हैं, और अगर मैं उनके बीच में होता तो क्या करता? वर्तमा

---

[1] इन्दिरा की मा श्रीमती कमला नेहरू। [2] ये पत्र 'पिता के पत्र पुत्री
नाम', नाम से पुस्तक रूप में छप चुके हैं।

और भविष्य के विचारों में मैं इतना डूबा रहता हूँ कि बीते हुए ज़माने पर ध्यान देने की फ़ुरसत ही नहीं होती। लेकिन, साथ-ही-साथ मैं यह भी महसूस करता रहा हूँ कि ऐसा सोचना मेरे लिए मुनासिब नहीं है। जब मैं बाहर के कामों में कोई हिस्सा ले नहीं सकता, तो उसकी फ़िक्र क्यों करूँ?

लेकिन असल वजह, जिससे मैं तुम्हें पत्र लिखना टालता रहा हूँ, दूसरी ही है। क्या चुपके से तुम्हारे कान में कह दूँ? मुझे यह शक होने लगा है कि मैं इतना जानता भी हूँ या नहीं कि जो तुम्हें पढ़ा सकूँ। तुम इतनी तेज़ी से बढ़ रही हो और इतनी अक़्लमन्द लड़की साबित हो रही हो कि जो कुछ मैंने स्कूल या कॉलेज में और उसके बाद पढ़ा-लिखा है, सम्भव है, वह तुम्हारे लिए काफ़ी न हो और इसमें तो कोई शक नहीं कि वह कुछ बासी है। यह भी हो सकता है कि कुछ दिन बाद तुम शिक्षक का स्थान ले लो और मुझे कई नई-नई बातें सिखाओ। जैसा मैंने तुम्हारे जन्मदिनवाले पिछले पत्र में तुम्हें लिखा था, मैं उस 'बहुत अक़्लमन्द आदमी' की तरह बिलकुल नहीं हूँ जो अपने शरीर के चारों तरफ़ ताँबे की चादरें बाँधे फिरता था, ताकि कहीं अक़्ल की ज़्यादती से उसका पेट न फट जाय!

जब तुम मसूरी में थीं तब दुनिया की शुरुआत के दिनों के बारे में कुछ लिखना मेरे लिए आसान था। उस ज़माने के सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी पाई जाती है वह अनिश्चित और धुंधली-सी है। लेकिन जब हम उस बहुत पुराने ज़माने से इस पार निकल आते हैं, तो इतिहास धीरे-धीरे शुरू होने लगने लगता है और मनुष्य-जाति दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में अपना विचित्र जीवन शुरू करती दिखाई देने लगती है। पर मनुष्य-जाति के इस जीवन को, जो कभी-कभी अक़्लमन्दी लिये हुए लेकिन ज़्यादातर पागलपन और बेवक़ूफ़ी से भरा है, सिलसिलेवार पकड़ना आसान काम नहीं है। किताबों की मदद से कोशिश-भर की जा सकती है। लेकिन नैनी-जेल में कोई पुस्तकालय नहीं है। इसलिए मेरे बहुत चाहने पर भी, मुझे अन्देशा है कि मैं तुम्हें शायद दुनिया के इतिहास का सिलसिलेवार हाल न बता सकूँगा।

मुझे यह बहुत नापसन्द है कि लड़के और लड़कियाँ सिर्फ़ एक देश का इतिहास जानें, और वह भी सिर्फ़ कुछ तारीख़ें और चन्द घटनाएँ रटकर। इतिहास तो एक सिलसिलेवार मुकम्मिल चीज़ है, और जबतक तुम्हें यह मालूम न हो कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में क्या हुआ, तुम किसी एक देश का इतिहास समझ ही नहीं सकतीं। मुझे उम्मीद है कि इस भद्दे तरीक़े से, तुम इतिहास को एक या दो देशों तक ही सीमित रहकर न पढ़ोगी, बल्कि सारी दुनिया पर नज़र दौड़ाओगी। हमेशा याद रक्खो कि अलग-अलग देशों के लोगों में इतना ज़्यादा अन्तर नहीं होता जितना लोग समझते हैं। नक़्शों और नक़्शों की किताबों में मुल्क अलग-अलग

रंगों में दिखाये जाते हैं। इसमें शक नहीं कि अलग-अलग देशों के रहनेवालों कुछ भेद जरूर होता है, लेकिन उनमें समानता भी बहुत ज्यादा पाई जाती इसलिए हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए और नक़शों के रंग या राष्ट्रों सीमा-रेखाएँ देखकर भुलावे में नहीं पड़ना चाहिए।

मैं तुम्हारे लिए अपनी पसन्द का इतिहास नहीं लिख सकता। इसके तुम्हें दूसरी पुस्तकें पढ़नी होंगी। लेकिन मैं तुम्हें बीते हुए ज़माने के बारे में, उस ज़माने के लोगों के बारे में कि जिन्होंने दुनिया के रंगमंच पर बड़े-बड़े किये हैं, समय-समय पर थोड़ा-बहुत लिखता रहूँगा।

मैं नहीं कह सकता कि मेरी चिट्ठियाँ तुम्हारे लिए रोचक होंगी और तुम्ह दिल में कुतूहल पैदा करेंगी या नहीं। सच तो यह है कि मैं यह भी नहीं जान कि ये चिट्ठियाँ तुम्हें कब मिलेंगी या कभी मिलेंगी भी या नहीं। कितनी विचि बात है कि हम एक-दूसरे से इतने नज़दीक होते हुए भी इतनी दूर हैं! मसू में तुम मुझसे कई सौ मील के फ़ासले पर थीं; लेकिन तब मैं जितनी दफ़ा चाह तुम्हें पत्र लिख सकता था, और जब कभी तुम्हें देखने को बहुत तबीयत चाह तब जाकर मिल सकता था। लेकिन आजकल तुम जमना नदी के उस पार और मैं इस पार हूँ; एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं। फिर भी नैनी-जेल की ऊ दीवारों ने हमें एक-दूसरे से एकदम अलग कर रक्खा है, पन्द्रह दिन में मैं एक लिख सकता हूँ और एक पा सकता हूँ; और पन्द्रह दिन में बीस मिनट की मुलाक भी मुझे मिल सकती है। फिर भी मैं इन बन्दिशों को अच्छा समझता हूँ। क्यों जो चीज हमें सस्ती मिल जाती है, हम अक्सर उसकी क़द्र नहीं करते, और यह विश्वास करने लग गया हूँ कि कुछ दिन जेल में बिताना आदमी की शि का बहुत वांछनीय हिस्सा है। खुशक़िस्मती की बात है कि हमारे देश के बी हज़ार आदमी आज इस तरह की शिक्षा पा रहे हैं!

मैं नहीं जानता कि जब तुम्हें मेरे ये पत्र मिलेंगे तुम इन्हें पसन्द करोगी नहीं। लेकिन मैंने अपनी ही खुशी के लिए इनका लिखना तय कर लिया है। पत्रों से तुम मेरे बहुत नज़दीक आ जाती हो और मैं तो यहाँ तक महसूस क लगता हूँ कि मानों मैंने तुमसे बातें कर लीं। वैसे तो मैं तुम्हें अक्सर याद क रहता हूँ, लेकिन आज तो सारे दिन तुम शायद ही मेरे चित्त से हटी होगी। आ नये साल का पहला दिन है। आज बड़े सवेरे जब मैं बिस्तर पर लेटे-लेटे ता को देख रहा था, तो मेरे दिल में पिछले महत्वपूर्ण वर्ष का खयाल हो आया। अ साथ ही खयाल में आईं उस साल की वे सब उम्मीदें, टीसें और खुशियाँ अ वे सारे महान् और वीरता के काम जो इस साल में किये गए। मुझे बापूजी का खयाल आया, जिन्होंने यरवदा-जेल की कोठरी में बैठे-बैठे अपने जादूभरे स्पर्श

हमारे बूढ़े देश को जवान और ताक़तवर बना दिया। और मुझे दादू[1] की भी याद आई, और दूसरों की भी। मुझे ख़ास तौर से तुम्हारी मम्मी का और तुम्हारा ख़याल आया। इसके बाद सुबह होने पर ख़बर आई कि तुम्हारी मम्मी गिरफ़्तार करली गईं और जेल पहुँचा दी गईं। मेरे लिए यह नये साल की एक सुन्दर भेंट है। इसकी उम्मीद तो बहुत दिन से की जा रही थी और मुझे इसमें कोई शक नहीं कि मम्मी बिलकुल प्रसन्न और सन्तुष्ट होंगी।

लेकिन तुम अपने-आपको अकेली अनुभव कर रही होगी। पन्द्रह दिन में तुम एक दफ़ा मुझसे और एक दफ़ा अपनी मम्मी से मिल सकोगी और हम दोनों के संदेसे एक-दूसरे को पहुँचा दिया करोगी। लेकिन मैं तो क़लम और काग़ज़ लेकर बैठ जाया करूँगा और तुम्हारा ध्यान किया करूँगा। तब तुम चुपके-से मेरे पास आ बैठोगी और हम एक-दूसरे से बहुत-सी चीज़ों के बारे में बातचीत करेंगे। हम गुज़रे हुए ज़माने का स्वप्न देखेंगे और भविष्य को बीते हुए ज़माने से ज़्यादा शानदार बनाने की तरकीबें सोचेंगे। इसलिए आओ, आज नये साल के दिन हम लोग इस बात का पक्का इरादा करें कि, इससे पहले कि यह वर्ष भी बूढ़ा होकर चल बसे, हम अपने उज्ज्वल भविष्य के सपनों को वर्तमान के नज़दीक ले आयेंगे, और भारत के प्राचीन इतिहास में एक शानदार पृष्ठ और बढ़ा लेंगे।

: २ :

इतिहास से शिक्षा

५ जनवरी, १९३१

प्यारी बेटी, मैं तुम्हें क्या लिखूँ और किस जगह से शुरू करूँ? जब मैं पुराने ज़माने का ख़याल करता हूँ तो मेरी आँखों के सामने बहुत-सी तसवीरें तेज़ी के साथ घूम जाती हैं। कुछ तसवीरें ज़्यादा देर तक ठहरती हैं, तो कुछ थोड़ी ही देर तक। वे मेरी पसन्द की चीज़ें हैं, और उनके बारे में विचार करते-करते मैं उन्हीं में डूब जाता हूँ। बिलकुल अनजान में ही मैं पिछली घटनाओं से आजकल की घटनाओं का मुक़ाबला करने लगता हूँ, और उनसे आगे के लिए नसीहत लेने की कोशिश करता हूँ। लेकिन आदमी का मन भी क्या अजीब खिचड़ी है, जिसमें ऐसे विचार भरे रहते हैं कि जिनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं होता और ऐसी तसवीरें मौजूद रहती हैं, जिनमें कोई तरतीब नहीं पाई जाती—जैसे कोई ऐसी चित्रशाला हो, जहाँ तसवीरों की सजावट में कोई व्यवस्था न रक्खी गई हो। लेकिन शायद इसमें हमीं लोगों का सारा दोष नहीं है। हममें बहुत-से आदमी अपने

---

[1] इन्दिरा के दादा पंडित मोतीलाल नेहरू।

दिमाग़ में घटनाओं के क्रम को ज़रूर बेहतर तरीक़े से जमा सकते हैं। लेकि कभी-कभी खुद घटनाएँ इतनी अजीब होती हैं कि उन्हें किसी भी योजना के ढां में ठीक तरह बिठा सकना मुश्किल हो जाता है।

"मुझे ख़याल पड़ता है कि मैंने तुम्हें एक बार लिखा था कि इतिहास पढ़ हमें यह सीखना चाहिए कि दुनिया ने कैसे आहिस्ता-आहिस्ता लेकिन निश्चि रूप से तरक़्क़ी की है। दुनिया के आरम्भ के सरल जीवों की जगह पर अधि उन्नत और पेचीदा जीव कैसे आ गये और कैसे सबसे अख़ीर में जीवों का सिरता आदमी पैदा हुआ और अपनी बुद्धि के ज़ोर पर उसने कैसे दूसरों पर विजय पा बर्बरता से निकलकर सभ्यता की ओर मनुष्य की प्रगति का हाल इतिहास विषय माना गया है। मैंने अपने कुछ पत्रों में तुम्हें यह बताने की कोशिश की कि सहयोग यानी मिल-जुलकर काम करने की भावना कैसे बढ़ी और सब भलाई के लिए मिल-जुलकर काम करना हमारा आदर्श क्यों होना चाहिए लेकिन कभी-कभी जब हम इतिहास के लम्बे ज़मानों पर नज़र डालते हैं, तो य विश्वास करना मुश्किल होता है कि इस आदर्श ने बहुत ज़्यादा तरक़्क़ी की है हम लोग बहुत सभ्य या उन्नत हो गये हैं। सहयोग का अभाव आज भी बहुत का पाया जाता है। एक मुल्क या राष्ट्र दूसरे मुल्क और दूसरे राष्ट्र पर ख़ुदग़र से आक्रमण कर रहा है या उसे सता रहा है; एक आदमी दूसरे आदमी से बे फ़ायदा उठा रहा है। अगर करोड़ों वर्षों की प्रगति के बाद भी हम इतने पिछ और अपूर्ण हैं, तो न जाने समझदार और वाजिब बात करनेवाले आदमियों तरह व्यवहार करना सीखने में हमें और कितने दिन लग जायँगे! कभी-कभी ह इतिहास के उन बीते हुए ज़मानों के बारे में पढ़ते हैं, जो हमारे ज़माने से बेहत मालूम होते हैं और अधिक संस्कृत और सभ्य भी जान पड़ते हैं। इससे हमें यह श होने लगता है कि हमारी दुनिया आगे बढ़ रही है या पीछे हट रही है। गुज़ हुए ज़माने में खुद हमारे देश में ही ऐसे उज्ज्वल युग ज़रूर बीते हैं जो हर बात वर्तमान से बहुत अच्छे थे।

यह सच है कि भारत, मिस्र, चीन, यूनान, वग़ैरा बहुत-से देशों के पुरा इतिहास में उज्ज्वल युग हुए हैं और इन देशों में से बहुत-से बाद में पिछड़ गये औ गिर गये हैं। लेकिन फिर भी हमें हिम्मत न हारनी चाहिए। दुनिया एक बहुत ब जगह है, और थोड़ी देर के लिए किसी मुल्क के चढ़ाव और उतार का सा दुनिया पर कोई ज़्यादा असर नहीं पड़ता।

आजकल बहुत-से लोग हमारी महान् सभ्यता की और विज्ञान के चमत्का की डींग मारते रहते हैं। इसमें शक नहीं कि विज्ञान ने बहुत चमत्कार कर दि है, और बड़े-बड़े वैज्ञानिक पूरी इज़्ज़त के योग्य हैं। लेकिन जो डींग मारते हैं

अक्सर बड़े नहीं हुआ करते। दूसरे, यह बात भी याद रखनी चाहिए कि बहुत-सी बातों में आदमी ने दूसरे जीवों की बनिस्बत कुछ बहुत ज्यादा प्रगति नहीं की है। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ बातों में कुछ जीव आदमी से अब भी श्रेष्ठ हैं। यह बात बेवक़ूफ़ी की-सी मालूम पड़ सकती है और जो लोग ज्यादा नहीं जानते, वे इसकी हँसी भी उड़ा सकते हैं। लेकिन तुमने अभी मैटरलिंक की लिखी हुई 'शहद की मक्खी, दीमक और चींटी की ज़िन्दगी'[1] नामक किताब पढ़ी ही है और इन जन्तुओं के सामाजिक संगठन का हाल पढ़कर तुम्हें ज़रूर ताज्जुब हुआ होगा। हम लोग इन जन्तुओं को सबसे नीचे दर्जे के जीव समझकर हिक़ारत की नज़र से देखते हैं। लेकिन इन छोटे-छोटे जन्तुओं ने सहयोग और सार्वजनिक हित के लिए त्याग की कला आदमी की अपेक्षा कहीं ज्यादा सीख रक्खी है। जबसे मैंने दीमक का और अपने साथियों के लिए उसके त्याग का हाल पढ़ा तो मेरे दिल में इस जन्तु के लिए आदर का भाव पैदा हो गया है। अगर आपसी सहयोग को और समाज की भलाई के लिए त्याग को सभ्यता की कसौटी मानें, तो हम कह सकते हैं कि इस लिहाज़ से दीमक और चींटियाँ मनुष्य जाति से ऊँची हैं।

संस्कृत की हमारी एक पुरानी पुस्तक में एक श्लोक[2] है, जिसका अर्थ है, "कुल के लिए व्यक्ति को, समाज के लिए कुल को, देश के लिए समाज को और आत्मा के लिए सारी दुनिया को त्याग देना चाहिए।" आत्मा क्या चीज़ है, इसे हममें से न कोई समझता है और न बता सकता है और हरेक आदमी आत्मा का अर्थ अपने-अपने खयाल के अनुसार अलग-अलग किया करता है। लेकिन संस्कृत का यह श्लोक हमें सहयोग की और सार्वजनिक हित के लिए त्याग करने की वही शिक्षा देता है। हम भारत के लोग असली महानता के इस राजमार्ग को बहुत दिनों तक भूले रहे, इसीलिए हमारा पतन हुआ। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि अब फिर हमें उसकी झलक दिखाई देने लगी है और सारे देश में जागृति की लहर दौड़ रही है। यह देखकर कितना आश्चर्य होता है कि मर्द और औरतें, लड़के और लड़कियाँ, हँसते-हँसते भारत के हित के लिए आगे बढ़ रहे हैं और कष्ट या यातना की ज़रा भी परवा नहीं करते! उनका हँसना और खुश होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि एक महान् उद्देश्य के लिए यत्न करने का आनन्द उनको मिला है, और जो खुशक़िस्मत हैं, उन्हें बलिदान होने का भी आनन्द प्राप्त होता है। आज हम भारत को आज़ाद करने की कोशिश कर रहे हैं। यह एक बड़ी बात है। लेकिन मनुष्य-मात्र का हित इससे भी बड़ी चीज़ है। और क्योंकि हम यह महसूस करते

---

[1] 'Life of the Bee, the white Ant and the Ant'

[2] त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥—पञ्चतंत्र

हैं कि हमारा संग्राम मनुष्य-मात्र की तकलीफ़ों और मुसीवतों को मिटाने के महान् संग्राम का एक हिस्सा है, हम भी इस बात पर खुशी मना सकते हैं कि ह दुनिया की प्रगति में मदद करके अपना कुछ फ़र्ज़ अदा कर रहे हैं।

इस बीच तुम आनन्द-भवन में बैठी हो, मम्मी मलाका-जेल में बैठी हैं, औ मैं नैनी-जेल में हूँ। हमें कभी-कभी एक-दूसरे की याद बुरी तरह सताती है। क्यों सताती है या नहीं? लेकिन उस दिन की याद करो, जब हम तीनों फिर मिलेंगे मैं उस दिन का इन्तज़ार करूँगा और उसका खयाल मेरे दिल को हलका करेग और उसे उम्मीद से भर देगा।

: ३ :

'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद'

७ जनवरी, १९३

प्रियदर्शिनी, आँखों को प्यारी, लेकिन जब आँखों से ओझल हो तो और भी प्यारी! आज, जब मैं यहाँ तुम्हें पत्र लिखने बैठा तो दूर के बादल की गरज जैसा कुछ हलका-सा शोर मुझे सुनाई दिया। पहले तो मुझे पता न चला कि यह आवाज़ कैसी है, लेकिन यह कुछ परिचित-सी जान पड़ी और ऐसा मालूम हुआ कि उसके जवाब में मेरे हृदय से गूँज उठ रही है। धीरे-धीरे यह आवाज़ नज़दीक आती हुई और बढ़ती हुई मालूम देने लगी और थोड़ी ही देर में वह क्या है उसके बारे में कोई शक नहीं रहा। 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद'! 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद!' इस जोशभरी ललकार से जेलखाना गूँज उठा; और इसे सुनकर हम सबके दिल हरे हो गए। मैं नहीं जानता कि ये कौन लोग थे—जो हमारे इस जंगी नारे को हमसे इतना नज़दीक जेल के बाहर बुलन्द कर रहे थे—शहर के मर्द और औरतें थीं या गाँवों के किसान लोग? और न मैं यह जानता हूँ कि आज इसका कौन-सा मौक़ा था? लेकिन ये लोग चाहे जो हों, इन्होंने हमारे दिलों के हौसले बढ़ा दिये और इनके अभिवादन का हम लोगों ने खामोश जवाब भेज दिया, जिसके साथ-साथ हमारी सारी शुभकामनाएं भी थीं।

सवाल यह होता है कि हम 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद' क्यों पुकारते हैं? हम क्रान्ति और परिवर्तन किसलिए चाहते हैं? इसमें शक नहीं कि भारत में आज बहुत परिवर्तन की ज़रूरत है। लेकिन वे सारे बड़े परिवर्तन, जो हम चाहते हैं, हो भी जायँ, और भारत को आज़ादी भी मिल जाय, तो भी हम निश्चल नहीं बैठ सकते। दुनिया की कोई भी चीज़, जिसमें जान है, बिना परिवर्तन के नहीं रहती। सारी कुदरत रोज़-ब-रोज़ और मिनट-मिनट पर बदलती रहती है। केवल

मुर्दों की ही बढ़ोतरी रुक जाती है, और वे निश्चल हो जाते हैं। ताज़ा पानी बहता रहता है और अगर कोई उसे रोक दे तो वह बँधकर गन्दा हो जाता है। मनुष्य-जाति की और राष्ट्र की ज़िन्दगी का भी यही हाल होता है। हम चाहें या न चाहें, बूढ़े होते जाते हैं। बच्चियाँ छोटी लड़कियाँ हो जाती हैं; छोटी लड़कियाँ बड़ी लड़कियाँ हो जाती हैं; वे ही बाद में युवतियाँ और फिर बूढ़ियाँ हो जाती हैं। हमें इन सब परिवर्तनों को बर्दाश्त करना पड़ता है। लेकिन बहुत-से लोग इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं कि दुनिया बदलती रहती है। वे अपने दिमाग़ को बन्द रखते हैं और उस पर ताला डाल देते हैं और उसमें किसी नये ख़याल को घुसने नहीं देते। सोच-विचार करने की भावना से उन्हें जितना डर लगता है, उतना किसी दूसरी चीज़ से नहीं। नतीजा क्या होता है? दुनिया तो फिर भी आगे-आगे बढ़ती ही जाती है, और चूँकि वे और उन्हीं के ख़यालों के दूसरे लोग बदलती हुई परिस्थितियों के मुताबिक़ अपने को नहीं ढालते, इसलिए समय-समय पर बड़े-बड़े विस्फोट होते हैं; बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ हो जाती हैं—जैसी कि १४० वर्ष पहले फ़्रान्स में और आज से १३ वर्ष पहले रूस में हुई थी। इसी तरह अपने देश में हम भी आज एक क्रान्ति के बीच से गुज़र रहे हैं। बेशक हम आज़ादी चाहते हैं; लेकिन हम इससे भी कुछ और ज्यादा चाहते हैं। हम तमाम बदबूदार गड्ढों को साफ़ कर डालना चाहते हैं और हरेक जगह ताज़ा और साफ़ पानी की धार पहुँचा देना चाहते हैं। हमारा फ़र्ज़ है कि हम अपने देश की गन्दगी, ग़रीबी और मुसीबतों को निकाल फेंकें और जहाँतक हो सके बहुत-से आदमियों के दिमाग़ों में भरे हुए जालों को भी साफ़ कर दें जिनकी वजह से कि वे लोग विचार नहीं कर पाते और उस महान् काम में, जो हमारे सामने है, सहयोग नहीं देते। यह एक बड़ा काम है और सम्भव है इसके पूरा होने में देर लगे। आओ, कम-से-कम एक धक्का लगाकर इसे आगे तो बढ़ा दें! इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद!

हम अपनी क्रान्ति के दरवाज़े पर खड़े हैं और यह नहीं जानते कि भविष्य में क्या होनेवाला है। लेकिन हमारी मेहनतों का फल बहुत काफ़ी मात्रा में वर्तमान ने ही हमारे सामने ला रक्खा है। भारत की स्त्रियों को देखो कि वे कितने अभिमान के साथ लड़ाई में सबसे आगे बढ़ती जा रही हैं! नम्र, लेकिन बहादुर और किसीसे न दबनेवाली स्त्रियाँ, देखो किस तरह दूसरों को आगे बढ़ने का रास्ता बता रही हैं? और कहाँ गया आज वह परदा, जिसने हमारी बहादुर और सुन्दर स्त्रियों को छिपा रक्खा था, और जो उनके और उनके देश के लिए एक अभिशाप था? क्या वह तेजी के साथ हट नहीं रहा कि अजायबघरों की आलमारियों में, जहाँ कि बीते ज़माने की निशानियाँ रक्खी जाती रहती हैं, जाकर अपनी जगह ले।

बच्चों को—लड़के और लड़कियों को—वानर-सेना और बाल-बालिका-

सभाओं को भी देखो। इनमें से बहुत-से बच्चों के माता-पिता ऐसे होंगे, जो शाय पहले कायरों और ग़ुलामों की तरह आचरण करते रहे हों। लेकिन क्या अब को यह शक करने की हिम्मत कर सकता है कि हमारी पीढ़ी के बच्चे ग़ुलामी य कायरता को कभी भी बरदाश्त करेंगे?

और इस तरह परिवर्तन का चक्र चल रहा है और जो नीचे थे वे ऊप आ रहे हैं और जो ऊपर थे वे नीचे जा रहे हैं। हमारे देश में भी इस चक्र के चल का समय आ गया है। लेकिन इस बार हम लोगों ने इसे ऐसा धक्का दिया है अब कोई भी इसे रोक नहीं सकता।

इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद!

: ४ :

एशिया और यूरोप

८ जनवरी, १९३

मैंने अपने पिछले पत्र में बताया था कि हरेक चीज़ बराबर बदलती रह है। इन परिवर्तनों के अभिलेखों के सिवा वास्तव में इतिहास और है भी क्या? अगर पुराने ज़माने में बहुत कम परिवर्तन हुए होते, तो इतिहास लिखने के लि कुछ मसाला ही न मिलता।

स्कूलों और कॉलेजों में जो इतिहास पढ़ाया जाता है, उसमें आमतौर प कुछ ठीक बातें नहीं होतीं। दूसरों की बाबत तो मैं जानता नहीं, अपने बारे में यह ज़रूर कह सकता हूँ कि स्कूल में मुझे बहुत कम ज्ञान हासिल हुआ। मैंने भारत के इतिहास के बारे में बहुत ही कम और इंग्लैण्ड के इतिहास के बारे में कुछ थोड़ी-सी बातें स्कूल में पढ़ीं। भारत का इतिहास भी जो-कुछ मैंने पढ़ा, वह ज़्यादातर ग़लत या तोड़ा-मरोड़ा हुआ और ऐसे लोगों का लिखा हुआ था जो हमारे देश को नफ़रत की नज़र से देखते थे। दूसरे देशों के इतिहास के बारे में तो मेरा ज्ञान बहुत ही धुँधला था। कॉलेज छोड़ने के बाद ही मैंने कुछ असली इतिहास पढ़ा। ख़ुशक़िस्मती से जेल की यात्राओं ने मुझे अपना ज्ञान बढ़ाने का ख़ासा मौक़ा दिया।

अपनी पिछली चिट्ठियों में मैं तुम्हें भारत की प्राचीन सभ्यता, द्रविड़ों और आर्यों के आगमन के बारे में लिख चुका हूँ। मैंने आर्यों के आने के पहले के ज़माने का कोई हाल इन पत्रों में नहीं लिखा था, क्योंकि मुझे उसके बारे में ज़्यादा मालूम नहीं है। लेकिन तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि भारत में इन पिछले वर्षों में एक बहुत प्राचीन सभ्यता के चिह्न खोज निकाले गये हैं। ये चिह्न उत्तर-

पश्चिम भारत में मोहेन-जो-दड़ो[1] नाम की जगह के आस-पास पाये गए हैं। क़रीब पाँच हज़ार वर्ष पुराने इन खण्डहरों को लोगों ने खोदा और वहाँ प्राचीन मिस्र की-सी मोमियाई[2] भी मिली हैं। ये सब बातें हज़ारों वर्ष पुरानी, आर्यों के आने से बहुत पहले की हैं। यूरोप उस समय वीरान रहा होगा।

आज यूरोप मज़बूत और ताक़तवर है और वहाँ के रहनेवाले अपनेको दुनियाभर में सबसे ज़्यादा सभ्य और सुसंस्कृत समझते हैं। वे एशिया और उसके निवासियों को नफ़रत की नज़र से देखते हैं, और एशिया के देशों में आकर जो कुछ यहाँ मिलता है, उसे झपट ले जाते हैं। ज़माना कितना बदल गया है! आओ, हम एशिया और यूरोप पर ज़रा ग़ौर से नज़र डालें। नक़्शों की किताब खोलो और देखो कि छोटा-सा यूरोप एशिया के विशाल महाद्वीप में किस तरह चिपका हुआ है। यह एशिया की ही एक छोटी-सी टाँग मालूम देती है। जब तुम इतिहास पढ़ोगी तो तुम्हें मालूम होगा कि लम्बे युगों और वर्षों तक उसपर एशिया का प्रभुत्व रह चुका है। एशिया के लोग बार-बार बाढ़ की तरह यूरोप में गये और विजयी हुए। इन लोगों ने यूरोप को उजाड़ा भी और सभ्य भी बनाया। आर्य, शक, हूण, अरब, मंगोल और तुर्क, ये सब एशिया के किसी-न-किसी हिस्से से आये, और एशिया और यूरोप के सब हिस्सों में फैल गये। मालूम होता था कि एशिया इन्हें टिड्डी-दल की तरह बेशुमार संख्या में पैदा कर रहा है। सच तो यह है कि यूरोप बहुत दिनों तक एशिया का उपनिवेश रहा, और आज के यूरोप की बहुत-सी जातियाँ एशिया से गये हुए इन हमला करनेवालों की वंशज हैं।

एशिया एक बड़े और भारी-भरकम देव की तरह नक़्शे में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला पड़ा है। यूरोप छोटा-सा है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि एशिया अपने विस्तार के कारण बड़ा है, या यह कि यूरोप ज़्यादा ध्यान दिये जाने के योग्य नहीं है। किसी आदमी या देश का आकार उसकी महानता की सबसे तुच्छ कसौटी है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि यूरोप सब महाद्वीपों से छोटा होने पर भी आज महान् बना हुआ है। हम यह भी जानते हैं कि यूरोप के अनेक देशों के इतिहास में शानदार युग हुए हैं। इन देशों ने विज्ञान के बड़े-बड़े पंडित पैदा किये, जिन्होंने अपनी खोजों और आविष्कारों से मानवी सभ्यता को बहुत आगे बढ़ाया और करोड़ों आदमियों और औरतों के लिए ज़िन्दगी आसान बना दी। इन देशों में बड़े-बड़े लेखक, विचारक, कलाकार, संगीतज्ञ और कर्मवीर पैदा हुए हैं। यूरोप की महानता को स्वीकार न करना बेवक़ूफ़ी होगी।

---

[1] **मोहेन-जो-दड़ो—यह स्थान सिंध नदी की घाटी में है और अब पाकिस्तान में है।**

[2] **मोमियाई या ममी—मसाला लगाकर रक्खा गया मुर्दा।**

लेकिन एशिया की महानता को भुला देना भी उसी तरह की बेवक़ूफ़ी होगी। कभी-कभी हम यूरोप की तड़क-भड़क से प्रभावित होने लगते हैं और पुरानी बातों को भूल जाते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि एशिया ने ही बड़े-बड़े मौलिक विचारक पैदा किये हैं जिन्होंने दुनिया पर इतना प्रभाव डाला कि शायद ही किसी दूसरी जगह के किसी आदमी या किसी चीज़ ने डाला हो। ये हैं संसार के मुख्य धर्मों के महान् प्रवर्त्तक। हिन्दू-धर्म, जो आजकल के बड़े मज़हबों से सबसे पुराना है, भारत की ही देन है। ऐसा ही उसका महान् भाई बौद्ध धर्म भी है, जो आज तमाम चीन, जापान, बरमा, तिब्बत और लंका में फैला हुआ है। यहूदियों और ईसाइयों के मज़हब भी एशियाई ही हैं, क्योंकि उनका जन्म एशिया के पश्चिम किनारे पर फ़िलस्तीन[1] में हुआ था। ज़ोरास्ट्रियन मज़हब जो पारसियों का मज़हब है, ईरान[2] में शुरू हुआ। और तुम यह तो जानती ही हो कि इस्लाम के पैग़म्बर मुहम्मद अरब के मक्का में पैदा हुए थे। कृष्ण, बुद्ध, जरथुस्त,[3] ईसा, मुहम्मद,

---

[1] फ़िलस्तीन—इसे पैलस्टाइन भी कहते हैं। यह एशिया का एक प्राचीन देश है और यहूदियों, ईसाइयों व मुसलमानों, तीनों की पवित्र भूमि है। पश्चिम देश के अधीन रहने के बाद ईसा से ११०० वर्ष पूर्व यह फ़िलस्तीन जाति के अधिकार में आया। ईसा से पहले की नवीं सदी से छठी सदी तक अशर और बाबुल के साम्राज्य इसे जीतते और फिर इससे हारते रहे। एक ज़माने में यहूदियों ने यहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य क़ायम किया था। कभी यह मुसलमानों के भी अधीन रहा। १९१७-१८ से १९४८ ई० तक यह अंग्रेज़ों के अधिकार में रहा। अब इसके दो भाग कर दिये गए हैं। एक भाग इज़राईल है, जिसे यहूदियों ने अपना राष्ट्रीय वतन बना लिया है। दूसरा जार्डन है जहाँ अरब लोगों का प्रभुत्व है।

[2] ईरान—एशिया का एक स्वतन्त्र देश है। ईसा से पूर्व ५५९ से ३३१ तक ईरानी सभ्यता बहुत उन्नत दशा में थी और सम्राट् डेरियस या दारा के ज़माने से इसका साम्राज्य इतना विस्तृत और शक्तिशाली हो गया था कि यूनानियों को इसके डर के मारे नींद नहीं आती थी और यूरोप, अफ़्रीका और एशिया ईरानी सम्राट् के नाम से काँपते थे। लेकिन बाद में धीरे-धीरे इसका पतन होने लगा, और यूनानी विजेता सिकन्दर ने इस साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला।

[3] जरथुस्त—यह प्राचीन ईरानी मज़हब के प्रवर्त्तक या पैग़म्बर थे। यह किस ज़माने में हुए, इसका कुछ ठीक-ठीक पता नहीं लगता। लेकिन कुछ लोगों के खयाल में इनका समय ईसा से १००० वर्ष पहले का है। ईरानी शाहंशाह कुरुश के ज़माने में इसका धर्म ईरान का खास धर्म हो गया था। यह भी एक आर्य-धर्म ही था। भारत के पारसी अब भी इसी धर्म को मानते हैं। इनके सिवा इस धर्म का माननेवाला दुनिया में अब कोई नहीं है। इनकी मुख्य धर्म-पुस्तक ज़ेन्दावस्ता है।

ौर चीन के महान् दार्शनिक कनफ़्यूशस[1] और लाओ-त्से[2], वग़ैरा एशिया के ड़े-बड़े विचारकों के नामों से पृष्ठ-के-पृष्ठ भरे जा सकते हैं। इसी तरह एशिया कर्मवीरों के नामों से भी पन्ने-के-पन्ने रँगे जा सकते हैं। कई और तरीक़ों से भी मैं म्हें वता सकता हूँ कि हमारा यह वूढ़ा महाद्वीप प्राचीन काल में कितना महान् ार महत्वपूर्ण रहा है!

देखो, ज़माना कितना वदल गया है! लेकिन अव भी वह हमारी आँखों सामने ही फिर वदलता जा रहा है। इतिहास आमतौर पर धीरे-धीरे सदियों में पना प्रभाव दिखाता है, हालाँकि उसमें कभी-कभी भगदड़ और विस्फोटों के ाल भी होते हैं। आज तो एशिया में ज़माना बहुत तेज़ी से आगे बढ़ रहा है और ह वूढ़ा महाद्वीप अपनी लम्बी नींद के वाद जाग उठा है। दुनिया की आँखें इस र लगी हैं, क्योंकि सभी जानते हैं कि भविष्य के निर्माण में एशिया बहुत बड़ा हिस्सा लेनेवाला है।

: ५ :

पुरानी सभ्यताएँ और हमारी विरासत

९ जनवरी, १९३१

हिन्दी अख़बार 'भारत' में, जो हमें हफ़्ते में दो बार बाहरी दुनिया की ुछ ख़बरें पहुँचाता रहता है, कल मैंने पढ़ा कि तुम्हारी मम्मी के साथ मलाका-ल में ठीक व्यवहार नहीं किया जा रहा है और वह लखनऊ-जेल भेजी जानेवाली ं। इससे मुझे कुछ धक्का-सा लगा और मैं परेशान होने लगा। फिर सोचा कि ायद 'भारत' में छपी अफ़वाह सही न हो। लेकिन इस सम्बन्ध में शक भी दुःख नेवाला है। अपनी तकलीफ़ों और मुसीबतों को सहना काफ़ी आसान है। इससे रेक को फ़ायदा होता है, वरना हम लोग बहुत नाजुक बन जायँ। लेकिन दूसरे ागों की, जो हमें प्रिय हैं, मुसीबतों के वारे में सोचना कोई बहुत आसान या सल्ली देनेवाली वात नहीं है। इसलिए उस सन्देह के कारण, जो 'भारत' ने

---

[1] कनफ़्यूशस—यह मशहूर चीनी दार्शनिक और धर्म-प्रवर्त्तक या पैग़म्बर ा। ईसा से ५५१ वर्ष पहले इसका जन्म हुआ था और इसने अपना सारा जीवन पने देश की प्राचीन पुस्तकों के इकट्ठा करने, सम्पादन करने और छपाने में ताया। ईसा से ४५८ वर्ष पहले इसकी मृत्यु हुई। चीन में अब भी इसका ज़हब माननेवाले वहुत पाये जाते हैं। इसका चीनी नाम कुंग-फ़ू-त्से है।

[2] लाओ-त्से—मशहूर चीनी वेदान्ती और पैग़म्बर था। यह कनफ़्यूशस ज़माने में ही हुआ और उसका विरोधी था। इसके माननेवाले भी चीन में बहुत हैं।

मेरे मन में पैदा कर दिया था, मैं मम्मी के बारे में चिन्ता करने लगा। वह बहादु
है और शेरनी का-सा उसका दिल है; लेकिन वह शरीर से कमज़ोर है, और
नहीं चाहता कि उसका शरीर और कमज़ोर हो जाय। हम दिल के चाहे कितने
मज़बूत क्यों न हों, अगर हमारे शरीर हमें जवाब दे बैठें तो हम क्या कर सकते हैं
अगर हम कोई काम अच्छी तरह करना चाहते हैं तो हमारे लिए तन्दुरुस्ती, ताक़
और शरीर का तगड़ापन ज़रूरी है।

शायद यह अच्छा ही है कि मम्मी लखनऊ भेजी जा रही है। सम्भव है क
वहाँ ज़्यादा आराम से और ख़ुश रहे। लखनऊ-जेल में उसे कुछ साथिनें
मिल जायँगी। मलाका-जेल में वह शायद अकेली ही हो। फिर भी यहाँ इतना सन्तो
ज़रूर था कि वह दूर नहीं है; हमारी जेल से सिर्फ़ चार-पाँच मील पर ही है
लेकिन यह बेवक़ूफ़ों का-सा ख़याल है। जब दो जेलों की ऊँची-ऊँची दीवारें बी
में खड़ी हैं तो क्या पाँच मील और क्या एक सौ पचास मील, दोनों बराबर हैं।

आज यह जानकर बेहद ख़ुशी हुई कि दादू इलाहाबाद वापस आ गये हैं
और पहले से अच्छे हैं। यह जानकर और भी ख़ुशी हुई कि वह मम्मी से मिल
मकाका-जेल गये थे। मुमकिन है, तक़दीर से कल तुम सब लोगों से मेरी मुलाक़ा
हो जाय, क्योंकि कल मेरा 'मुलाक़ात का दिन' है और जेल में यह दिन एक ब
दिन माना जाता है। क़रीब दो महीने से मैंने दादू को नहीं देखा है। उम्मीद
कल उनसे मुलाक़ात होगी और मैं तसल्ली कर सकूँगा कि वास्तव में वह अ
पहले से अच्छे हैं। तुमसे तो मैं एक बड़े लम्बे पखवाड़े के बाद मिलूँगा, और तु
मुझे अपना और अपनी मम्मी का हाल सुनाओगी।

क्या ख़ूब! लिखने तो बैठा था पुराने इतिहास पर, लेकिन लिख रहा है
बेवक़ूफ़ी की बातें। अच्छा, अब थोड़ी देर के लिए हम वर्तमान को भूल जा
और दो-तीन हज़ार वर्ष पीछे लौट चलें।

मिस्र में और क्रीट[1] के प्राचीन नगर नोसास[2] के बारे में मैंने तुम्हें अपनी
पहली चिट्ठियों में कुछ लिखा था, और तुम्हें बताया था कि प्राचीन सभ्यता

---

[1] क्रीट—यह भूमध्यसागर के सबसे बड़े टापुओं में से एक है। प्राचीन सभ्यत
में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। कला-कौशल में कुशलता पानेवाला यह सब
पहला यूरोपीय देश है। यहाँ का राजा माइनास बड़ा मशहूर शासक था और इतिह
का सबसे पहला राजा था, जिसके पास अपनी जल-सेना थी।

[2] नोसास—राजा माइनास के वक़्त में भूमध्यसागर के क्रीट नामक टा
की राजधानी था। यह बड़ा सम्पन्न और ख़ुशहाल शहर था। मिट्टी का काम त
यहाँ ख़ास तौर पर सुन्दर होता ही था, सोने-चाँदी का काम भी बहुत अच्छा होत
था। यहाँ के हथियार भी बहुत मशहूर होते थे।

न दोनों देशों में और उस मुल्क में जो आज इराक़[1] या मैसोपोटामिया कहलाता तथा चीन, भारत और यूनान में पहले-पहल जन्म लिया। यूनान शायद औरों कुछ देर में सामने आया। इसलिए प्राचीनता के लिहाज़ से भारत की सभ्यता स्र, चीन और इराक़ की सभ्यताओं की बराबरी की है। प्राचीन यूनान की भ्यता भी इनके मुक़ाबले में कम उम्र की है। इन पुरानी सभ्यताओं का क्या हाल आ? नोसास ख़त्म हो गया। सच तो यह है कि क़रीब तीन हज़ार वर्षों से उसका ोई नाम-निशान भी नहीं है। यूनान की बाद की सभ्यता के लोग यहाँ पहुँचे और न्होंने इसे नष्ट कर दिया। मिस्र की पुरानी सभ्यता कई हज़ार वर्षों के शानदार तिहास के बाद समाप्त हो गई, और अल-अहराम[2], स्फिन्क्स[3], बड़े-बड़े मन्दिरों खण्डहरों, मोमियाइयों और इसी तरह की दूसरी चीज़ों के अलावा वह अपना ोई निशान नहीं छोड़ गई। मिस्र का देश तो अब भी है और नील नदी पहले ी तरह अब भी उसमें होकर बहती है, और दूसरे देशों की तरह वहाँ भी स्त्री ौर पुरुष रहते हैं, लेकिन इन नये आदमियों को इनके देश की पुरानी सभ्यता जोड़नेवाली कोई कड़ी नज़र नहीं आती।

इराक़ और ईरान—इन देशों में कितने साम्राज्य फूले-फले और क-दूसरे के बाद विस्मृति के गर्भ में समाते गये। इनमें सबसे राने साम्राज्यों के ही कुछ नाम लिये जायँ तो वे हैं बाबुल[4],

---

[1] इराक़—फ़रात और दजला नदियों के बीच के पूरे प्रान्त का नाम इराक़ । यह देश प्राचीन सभ्यताओं में से कइयों का क्रीड़ा-क्षेत्र रहा है।

[2] अल-अहराम या पिरेमिड—मिस्र देश के पत्थर के विशाल स्तूप या ार जिनके नीचे मिस्र के प्राचीन सम्राटों की क़ब्रें हैं। सबसे बड़ा पिरेमिड ज़ेह नामक स्थान पर है। इसमें पत्थर की तेईस लाख चट्टानें लगी हैं, और क-एक चट्टान का वज़न ढाई-ढाई टन है। जिस ज़माने में मशीनों का नाम तक था, उस ज़माने में लोगों ने कैसे ढाई-ढाई टन के तेईस लाख पत्थर एक-दूसरे चुनकर रख दिये, इस बात के समझने में बुद्धि चकरा जाती है।

[3] स्फिन्क्स—यूनान की कहानियों के अनुसार यह एक दानवी है, जिसका र स्त्री का-सा और धड़ पर-दार शेर का-सा है। गिज़ेह नामक जगह पर पिरे-डों के पास इसकी एक बड़ी भारी मूर्ति है, जिसकी लम्बाई १८७ फुट और ाई ६६ फुट है। उसका केवल सिर ही ३० फुट लम्बा है, और मुँह की चौड़ाई फुट है।

[4] बाबुल—इराक़ के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। प्रथम बाबुली जवंश की स्थापना ईसा से क़रीब २३०० साल पहले हुई थी। कई बार इसका थान और पतन हुआ। ईसा से क़रीब ६२५ साल पहले, नाबोपोलासार के

अशर[1] और ख़ाल्दिया[2]। बाबुल और निनीवे[3] इनके विशाल नगर थे। इंजील बाइबिल का पुराना हिस्सा तौरात[4] यहाँ के लोगों के वर्णनों से भरा पड़ा इसके बाद भी प्राचीन इतिहास की इस भूमि में दूसरे साम्राज्य फूले-फले मुरझा गये। अलिफ़लैला की मायानगरी बग़दाद यहीं है। लेकिन साम्राज्य और बिगड़ते रहते हैं और बड़े-से-बड़े और अभिमानी-से-अभिमानी राजा सम्राट् दुनिया के रंग-मंच पर सिर्फ़ थोड़े ही अरसे के लिए अकड़ के साथ पाते हैं। पर सभ्यताएँ क़ायम रह जाती हैं। लेकिन इराक़ और ईरान की पु सभ्यताएँ मिस्र की पुरानी सभ्यता की तरह बिलकुल ही ख़त्म हो गईं।

अपने प्राचीन दिनों में यूनान सचमुच महान् था और आज भी लोग उ

ख़ाल्दिया के सम्राट् होने पर यह फिर आगे बढ़ने लगा, और उसके उत्तराधि दूसरे नेबूख़ुदनज़र ने ईसा से पूर्व क़रीब ६०४ और ५६५ साल के बीच साम्राज्य को गौरव की सबसे ऊँची चोटी तक पहुँचा दिया था। लेकिन उ बाद फिर उसका ऐसा पतन हुआ कि आगे कभी न उठा। इसकी राजधानी बा एशिया का बहुत पुराना शहर था। आजकल के बग़दाद से क़रीब ६० मील द की तरफ़, फ़ुरात नदी के दोनों किनारों पर यह आबाद था। यहीं पर अशर ईरानी साम्राज्यों की राजधानियाँ भी थीं। यहाँ के 'लटकते हुए उद्यान' सं का एक आश्चर्य माने जाते थे।

[1] अशर—एशिया के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। इसका वि साम्राज्य उन सबसे पहले साम्राज्यों में से एक है, जिनके ऐतिहासिक लेख मिलते अपने गौरव-काल में यह मिस्र में ईरान तक फैला हुआ था।

[2] ख़ाल्दिया—एक अर्थ में यह बैबीलोनिया का एक प्रान्त था। ई की खाड़ी के ऊपर की तरफ़ अरब के रेगिस्तान से मिला हुआ फ़ुरात नदी निचले हिस्से के किनारों पर आबाद था। यहाँ का निवासी नाबोपोलासार जाति की मदद से बैबीलोनिया का सम्राट् हुआ और उसीके उत्तराधिकारियों ज़माने में बैबीलोनियन साम्राज्य अपने गौरव की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँ इसलिए वह ज़माना ख़ाल्दियन बैबीलोनियन ज़माना कहलाता है।

[3] निनीवे—इसका दूसरा नाम नाइनस भी है। यह पुराने ज़माने का मशहूर शहर है और असीरियन साम्राज्य की राजधानी था। सम्राट् सेनके के ज़माने में इस शहर ने बड़ी तरक़्क़ी की थी और क़रीब दो सौ साल तक ब बड़ा व्यापारिक केन्द्र बना रहा। यहाँ का पुस्तकालय अपने ज़माने में दुनिया में मशहूर था। ईसा से पहले ६१२ में मीड़ों और बैबीलोनियनों ने मिलकर ह किया और इस फूलते-फलते शहर को तहस-नहस कर डाला।

[4] Old Testament of the Bible.

ान-शौक़त का हाल अचरज के साथ पढ़ते हैं। आज भी हम उसकी संगमरमर
की खूबसूरत मूर्तिकला देखकर स्तम्भित और चकित हो जाते हैं, और उसके
राने साहित्य के उस अंश को, जो बच गया है, श्रद्धा और आश्चर्य के साथ पढ़ते
ं। कहा जाता है, और ठीक ही कहा जाता है, कि मौजूदा यूरोप कई दृष्टि से यूनान
ा बच्चा है क्योंकि यूरोप पर यूनानी विचार और यूनानी तरीक़ों का गहरा असर
ड़ा है। लेकिन वह शान जो यूनान की थी, अब कहाँ है ? इस पुरानी सभ्यता को
ायब हुए अनेक युग बीत गये। उसकी जगह दूसरी तरह के तौर-तरीक़ों ने ले ली
ौर यूनान आज यूरोप के दक्षिण-पूरब में एक छोटा-सा मुल्क भर रह गया है।

मिस्र, नोसास, इराक़ और यूनान—ये सब ख़त्म हो गये। इनकी सभ्यता
ी हस्ती भी बाबुल और निनीवे की तरह मिट गई। तो फिर इन पुरानी सभ्यताओं
े साथी बाक़ी दो, चीन और भारत, का क्या हुआ ? और देशों या मुल्कों की तरह
न दोनों देशों में भी साम्राज्य के बाद साम्राज्य क़ायम होते रहे। यहाँ भी भारी
ादाद में हमले हुए, बरबादी और लूटमार हुई। बादशाहों के वंश सैकड़ों वर्षों तक
ाज करते रहे और फिर इनकी जगह पर दूसरे आ गये। भारत और चीन में ये
ब बातें वैसे ही हुईं जैसे दूसरे देशों में। लेकिन सिवाय चीन और भारत के, किसी
ी दूसरे देश में सभ्यता का असली सिलसिला क़ायम नहीं रहा। सारे परिवर्तनों,
ड़ाइयों और हमलों के बावजूद इन देशों में पुरानी सभ्यता की धारा अटूट
हती आई है। यह सच है कि ये दोनों अपने पुराने गौरव से बहुत नीचे गिर गये
और इनकी प्राचीन संस्कृतियों के ऊपर ढेर-की-ढेर गर्द और कहीं-कहीं गन्दगी,
म्बे अर्से से जमा होती गई है। लेकिन ये संस्कृतियाँ अभी तक क़ायम हैं और
ाज भी वही भारतीय सभ्यता और भारतीय जीवन का आधार है। अब दुनिया
नई हालतें पैदा हो गई हैं; भाप से चलनेवाले जहाज़ों, रेलों और बड़े-बड़े
ारखानों ने दुनिया की सूरत ही बदल दी है। हो सकता है, बल्कि वास्तव
सम्भव है, कि वे भारत की भी काया-पलट कर दें, जैसा कि वे कर भी रही हैं।
किन भारतीय संस्कृति और सभ्यता, जो इतिहास के उदयकाल से लेकर लम्बे-लम्बे
गों को पार करती हुई वर्तमान काल तक चली आई हैं, के इस लम्बे विस्तार
ौर सिलसिले का खयाल दिलचस्प और बहुत-कुछ आश्चर्यजनक है। एक अर्थ में
ारत के हम लोग इन हज़ारों वर्षों के उत्तराधिकारी हैं। यह हो सकता है कि हम
ोग उन प्राचीन लोगों के ठेठ वंशज हों जो उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी दर्रों से होकर
स लहलहाते हुए मैदान में आये, जो ब्रह्मावर्त्त, आर्यावर्त्त, भारतवर्ष और बाद में
न्दुस्तान कहलाया। क्या तुम अपनी कल्पना में इन लोगों को पहाड़ी दर्रों से होकर
ीचे के अनजान मुल्क में उतरते हुए नहीं देख सकतीं ? बहादुरी और साहस की
ावना से भरे हुए ये लोग, परिणामों की परवा न करते हुए हिम्मत के साथ आगे
ढ़ते चले गये। अगर मौत आई तो उन्होंने उसकी परवा नहीं की। हँसते-हँसते

उसे गले लगाया। लेकिन उन्हें जीवन से प्रेम था और वे जानते थे कि जीवन सुख भोगने का एकमात्र तरीक़ा यह है कि आदमी निडर हो जाय, और हार आफ़तों से परेशान न हो। क्योंकि हार और आफ़त में एक बात यह होती है निडर लोगों के पास नहीं फटकतीं। अपने उन प्राचीन पूर्वजों का ख़याल तो जो आगे बढ़ते-बढ़ते एकदम समुद्र की ओर शान के साथ बहती हुई पवित्र के किनारे आ पहुँचे। यह दृश्य देखकर उनका हृदय कितना आनन्दित हुआ हो और इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है कि इन लोगों ने गंगा के सामने आद अपना सिर झुका दिया हो और अपनी समृद्ध और मधुर भाषा में उसकी की हो?

यह सोचकर सचमुच कुतूहल होता है कि हम इन सब युगों के उत्तराधि हैं। लेकिन हमें घमंड से फूल न जाना चाहिए क्योंकि अगर हम युग-युगान्तरों उत्तराधिकारी हैं तो उसकी अच्छाई और बुराई दोनों के हैं। और भारत में मौजूदा विरासत में जो कुछ मिला है, उसमें बहुत-सी बुराइयाँ हैं; बहुत-ऐसा है, जिसने हमें दुनिया में नीचा गिराये रक्खा और हमारे महान् देश को ग़रीबी में डाल दिया और उसे दूसरों के हाथ का खिलौना बना दिया। लेकिन हमने यह निश्चय नहीं कर लिया है कि यह हालत अब न रहने देंगे?

: ६ :

यूनानी

१० जनवरी, १

तुममें से कोई भी आज हमसे मिलने नहीं आया और 'मुलाक़ात का बिलकुल कोरा ही रहा। इससे निराशा हुई। मुलाक़ात टलने की जो वजह गई, वह और भी निराशाजनक थी। हमें बताया गया कि दादू की तबीयत नहीं है। इससे ज्यादा हमें कुछ और पता न चला। ख़ैर, जब मुझे यह मालूम कि आज मुलाक़ात न होगी, तो मैंने अपना चरखा उठाया और कुछ सूत का मेरा अनुभव है कि चरखा कातने और निवाड़ बुनने में दिल को मज़ेदार मिलती है। इसलिए जब कभी असमंजस में हो, तो कातने लगो!

अपने पिछले पत्र में हमने यह देखा था कि यूरोप और एशिया, इन में कितनी बातें एक-दूसरे से भिन्न हैं और कितनी एक-दूसरे से मिलती-जुलती आओ, अब हम प्राचीन यूरोप पर, जैसा कि वह बतलाया जाता है, थोड़ नज़र डालें। बहुत दिनों तक भूमध्यसागर के चारों तरफ़ के देश ही यूरोप जाते थे। हमें उस ज़माने के यूरोप के उत्तरी देशों का कोई हाल नहीं मि "भूमध्यसागर के देशों के रहनेवाले लोगों का ख़याल था कि जर्मनी, इंगलैण्ड

पश्चिमी एशिया तथा दक्षिण-पूर्वी योरप की प्राचीन सभ्यताएँ

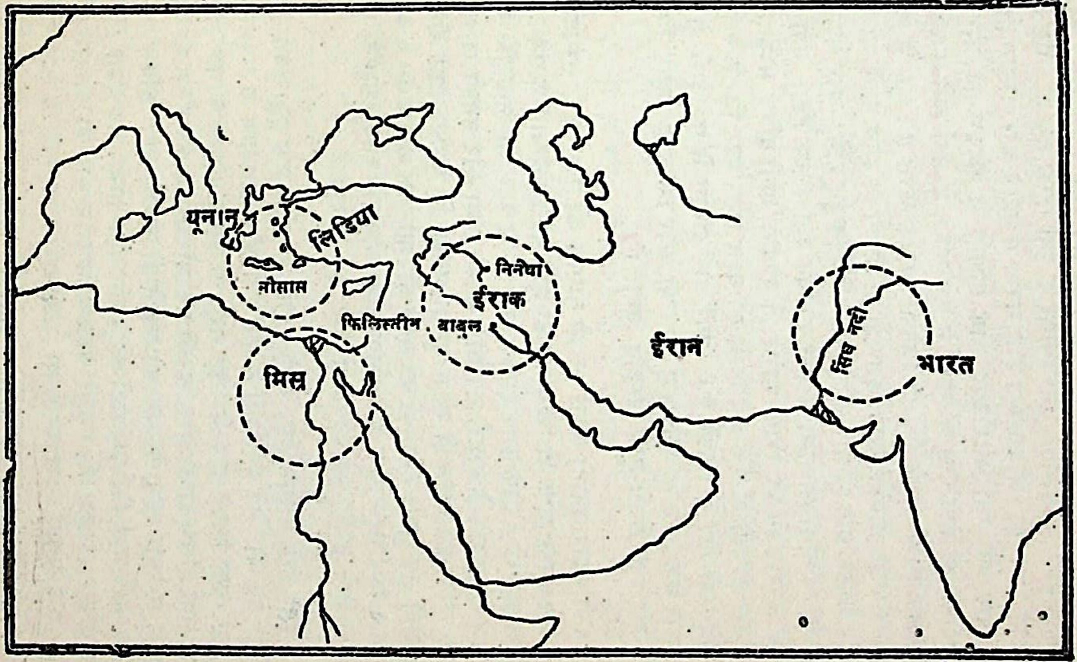
यूनान
लिडिया
नौसास
मिस्र
फिलिस्तीन
निनेवा
ईराक
बाबुल
ईरान
सिंध नदी
भारत

फ्रान्स में जंगली और बर्बर कबीले रहा करते हैं। यहाँतक कि लोगों का ख़या कि शुरू ज़माने में सभ्यता भूमध्यसागर के पूर्वी हिस्से तक ही सीमित थी। जानती हो कि मिस्र (जो अफ्रीका में है, यूरोप में नहीं) और नोसास ही पहले थे, जो आगे बढ़े। धीरे-धीरे आर्य लोग एशिया से पश्चिम की ओर बढ़े और यूनान तथा आस-पास के मुल्कों में फैल गये। ये आर्य वही यूनानी हैं, हम प्राचीन यूनानी कहते हैं और जिनकी तारीफ़ करते हैं। शुरू में मेरा ख़ है कि ये लोग उन आर्यों से बहुत भिन्न नहीं थे, जो शायद इसके पहले भारत में चुके थे। लेकिन बाद में धीरे-धीरे इनमें परिवर्तन हुए होंगे, और धीरे-धीरे जाति की इन दोनों शाखाओं में दिन-पर-दिन ज्यादा फ़र्क होता गया। भार आर्यों के ऊपर उससे भी पुरानी भारत की सभ्यता, यानी द्रविड़ सभ्यता का शायद उस सभ्यता के बचे-खुचे हिस्से का बहुत असर पड़ा, जिसके खण्डहर हमें मोहेन-जो-दड़ो में मिलते हैं। आर्यों और द्रविड़ों ने एक-दूसरे से बहुत लिया और एक-दूसरे को बहुत कुछ दिया भी, और इस तरह इन्होंने मिल-जुल भारत की एक मिली-जुली संस्कृति बनाई।

इसी प्रकार यूनानी आर्यों पर भी नोसास की उस पुरानी सभ्यता का ज्यादा असर पड़ा होगा जो कि यूनान की भूमि पर इनके आने के समय खूब से लहरा रही थी। इनके ऊपर इसका असर ज़रूर पड़ा, लेकिन इन्होंने नोसास और उसकी सभ्यता के बाहरी रूप को नष्ट कर दिया और उसकी राख पर अ सभ्यता रची। हमें यह कभी भी न भूलना चाहिए कि यूनानी आर्य और भार आर्य, दोनों उस पुराने ज़माने में बड़े सख्त और जाँ-बाज़ लड़ाके थे। ये बड़ी जी वाले थे और जिन नाजुक या अधिक सभ्य लोगों से इनका सामना हुआ, या तो इन्होंने हज़म कर लिया या नष्ट कर डाला।

इसी तरह नोसास ईसा के पैदा होने के क़रीब एक हज़ार वर्ष पहले हो चुका था, और नये यूनानियों ने यूनान में और आस-पास के टापुओं में अ अधिकार जमा लिया था। ये लोग समुद्र के रास्ते एशिया कोचक[1] के पश्चि किनारे तथा दक्षिण-इटली और सिसली तक और दक्षिण-फ्रान्स तक भी जा पहुँ फ्रान्स में मारसाई नाम के शहर को इन्होंने ही बसाया था। लेकिन शायद जाने के पहले वहाँ फ़िनिश लोगों की बस्ती थी। तुम्हें याद होगा कि फ़ि जाति एशिया कोचक की मशहूर समुद्र-यात्री क़ौम थी, जो व्यापार की त में दूर-दूर तक धावे मारा करती थी। उस पुराने ज़माने में ये लोग इंग्लैण्ड

---

[1] एशिया कोचक या एशिया माइनर—एशिया महाद्वीप के पश्चिम एक प्रायद्वीप। यहाँ तुर्की का राज्य है।

हुँच गये थे, जिन दिनों वह बिलकुल जंगली देश था, और जब जिब्राल्टर के जल-मरूमध्य का जहाज़ी सफ़र ज़रूर ख़तरनाक रहा होगा।

यूनान की मुख्य भूमि में एथेन्स, स्पार्ता, थीब्स और कोरिन्थ जैसे मशहूर हर आबाद हो गये। यूनानियों के, जो उस वक्त हेलेन्स कहलाते थे, पुराने ज़माने ा हाल 'ईलियद' और 'औदेसी' नाम के दो महाकाव्यों में बयान किया गया है। म्हें इन दोनों प्रसिद्ध महाकाव्यों का कुछ हाल मालूम ही है। ये दोनों महाकाव्य, मारे देश की रामायण और महाभारत की तरह के ग्रन्थ हैं। कहते हैं कि होमर ने ो अन्धा था,-ये काव्य लिखे हैं। 'ईलियद' में यह क़िस्सा बयान किया गया है कि स तरह सुन्दरी हेलन को पेरिस अपने शहर त्राय में भगा ले गया और किस रह यूनान के राजाओं और सरदारों ने उसे छुड़ाने के लिए त्राय के चारों तरफ़ रा डाला। और 'औदेसी' त्राय के घेरे से लौटते वक़्त औदेसियस या यूलीसस भ्रमण की कहानी है। एशिया कोचक में, समुद्र-तट से बहुत नजदीक, त्रायका ह छोटा शहर बसा था। आज इसका कोई निशान नहीं है और उसकी हस्ती टे बहुत ज़माना हो गया; लेकिन कवि की प्रतिभा ने इसे अमर बना दिया ।

इधर तो हेलेन्स या यूनानी क़ौम तेजी के साथ, थोड़े दिन की लेकिन शान-र जवानी पर पहुँच रही थी। उधर एक दूसरी शक्ति का, जो आगे जाकर यूनान ो जीतनेवाली और उसकी जगह लेनेवाली थी, चुपचाप उदय होना, दिलचस्पी ी बात है। कहा जाता है कि इसी ज़माने में रोम की बुनियाद पड़ी। कई सौ र्षों तक इसने दुनिया के रंगमंच पर कोई महत्व का काम करके नहीं दिखाया। किन ऐसे महान् शहर की स्थापना अवश्य ही उल्लेखनीय है, जो सदियों तक यूरो-य संसार पर हावी रहा और जो 'संसार की स्वामिनी' और 'अमरपुरी' नाम से मशहूर हुआ। रोम की स्थापना के बारे में अजीब-अजीब क़िस्से कहे ते हैं। कहते हैं कि 'रेमस' और 'रोमुलस'[1] को, जिन्होंने इस शहर की बुनियाद

---

[1] रोमुलस—रोम का संस्थापक और पहला सम्राट् था। रोमुलस और ेमस दो जुड़वाँ भाई थे। इन दोनों को उनके नाना एम्यूलियस ने एक डोंगी में ाकर टाइबर नदी में बहा दिया। डोंगी उस दलदल में जाकर रुक गई, जहाँ बाद को रोम आबाद हुआ। कहा जाता है कि यहाँ से एक मादा भेड़िया इनको ाकर ले गई और इन्हें अपना दूध पिलाया और बाद को फोस्च्यूलस नामक रिये की स्त्री ने इनका पालन-पोषण किया। बड़े होकर ये फ़िलस्तीन के युद्ध- गड़रियों के एक गिरोह के सरदार बन गये। कुछ समय बीतने पर इनके बाबा-न्हें पहचान लिया, जिसने अन्यायी एम्यूलियस को क़त्ल कर अल्बस की राज- पर इनको वापस बैठा दिया था। इन्होंने अब इस भूमि पर, जहाँकि इनक-

डाली थी, एक मादा भेड़िया उठा ले गई थी और उसी ने उन्हें पाला था। तुम्हें यह क़िस्सा मालूम है।

जिस ज़माने में रोम की बुनियाद पड़ी, उसी ज़माने में या कुछ समय प्राचीन दुनिया का एक दूसरा बड़ा शहर भी बसाया गया। इसका नाम का था और इसे अफ़्रीका के उत्तरी समुद्र-तट पर फ़िनिश लोगों ने बसाया था। शहर बढ़ते-बढ़ते एक बड़ी समुद्री शक्ति बन गया। रोम के साथ इसकी प्रतिस्पर्धा चली और बहुत-सी लड़ाइयाँ हुईं। अन्त में रोम ने विजय पाई कारथेज बिलकुल नष्ट कर दिया गया।

आज की कहानी समाप्त करने से पहले फ़िलस्तीन के ऊपर अगर स नज़र डाल लें तो अच्छा होगा। फ़िलस्तीन यूरोप में नहीं है और न इसका ज़्यादा ऐतिहासिक महत्व ही है। लेकिन बहुत-से लोग इसके प्राचीन इतिहा दिलचस्पी रखते हैं, क्योंकि इसका ज़िक्र तौरात में पाया जाता है। इस क का सम्बन्ध यहूदियों के कुछ कबीलों से है, जो इस छोटे-से देश में रहते थे, इसमें बताया गया है कि यहूदियों को अपने दोनों तरफ़ बसे हुए शक्ति पड़ोसियों, बावुल, अशर और मिस्र से कितने झगड़े करने पड़े। अगर यह क यहूदी और ईसाई मज़हबों का हिस्सा न बन गई होती तो शायद ही कि इसका पता चलता।

जिस समय नोसास नष्ट किया जा रहा था, फ़िलस्तीन के इज़ भाग का बादशाह सालूस[1] था। इसके बाद दाऊद[2] और

पालन-पोषण हुआ था, एक शहर बनाने का इरादा किया, लेकिन कौन पहले करे इसपर झगड़ा हो गया, जिसमें रेमस मारा गया। रोमुलस ने रोम आबाद और अपनी शक्ति बढ़ाकर और अपने शत्रुओं को हराकर एक-छत्र राज्य लगा। बाद में वह एकाएक एक तूफ़ान में ग़ायब हो गया और अन्त में एक की तरह से पूजा जाने लगा।

[1] सालूस—यहूदियों के देश इज़राईल का पहला बादशाह था। समय ईसा से क़रीब १०१० साल पहले है। इसने फ़िलस्तीन जाति को हराया। अमालेकाइट जाति का दमन किया। लेकिन अन्त में फिर फ़िलस्तीनों से हार और इसलिए आत्मग्लानि से अपनी ही तलवार पर गिरकर आत्म-हत्या कर

[2] दाऊद—इसे डेविड भी कहते हैं। यह इज़राईल का दूसरा बाद था। इसका समय ईसा से १०३० से लगाकर ९९० साल पहले तक है। जब शाह सालूस ने खुदकुशी कर ली और फ़िलस्तीनों ने राजकुमार को मार डाला, यह राजा बनाया गया। कहा जाता है कि बाइबिल के पुराने अहदनामे का "सा हिस्सा इसीका लिखा है।

सुलेमान[1] हुआ जो अपनी अक़्लमन्दी के लिए बहुत मशहूर है। मैं इन तीन नामों का इसलिए ज़िक्र कर रहा हूँ कि तुमने इनके बारे में ज़रूर पढ़ा या सुना होगा।

: ७ :

यूनान के नगर-राज्य

११ जनवरी, १९३१

मैंने अपने पिछले पत्र में यूनानियों या हेलेन्स का कुछ हाल लिखा था। आओ, हम फिर इनपर एक नज़र डालें और इस बात को समझने की कोशिश करें कि ये लोग किस तरह के थे। जिन लोगों को या जिन चीज़ों को हमने कभी नहीं देखा उनके बारे में सही और सच्चा ख़याल बनाना बहुत मुश्किल होता है। हम लोग अपनी आजकल की हालत और रहन-सहन के इतने आदी हो गये हैं कि एक बिलकुल दूसरी तरह की दुनिया की कल्पना भी नहीं कर सकते। लेकिन प्राचीन दुनिया, चाहे वह भारत की हो, चीन की हो, या मिस्र की, आजकल की दुनिया से बिलकुल निराली थी। ज़्यादा-से-ज़्यादा हम यही कर सकते हैं कि उनकी पुस्तकों, इमारतों और बचे हुए दूसरे निशानों की मदद से अन्दाज़ा लगायें कि उस ज़माने के लोग किस तरह के थे।

यूनान के बारे में एक बात बड़ी दिलचस्प है। ऐसा लगता है कि यूनानी लोग बड़ी-बड़ी बादशाहतें या साम्राज्य पसन्द नहीं करते थे। उन्हें छोटे-छोटे नगर-राज्य पसन्द थे, यानी उनका हरेक शहर एक स्वतन्त्र राज्य हुआ करता था। ये राज्य छोटे-छोटे गणराज्य होते थे। बीच में शहर होता था और चारों तरफ़ कुछ खेत होते थे, जिनसे लोगों के लिए खाने की सामग्री मिला करती थी। तुम जानती ही हो कि गणराज्य में कोई राजा नहीं होता। यूनान के ये नगर-राज्य बिना राजा के थे, लेकिन धनी नागरिक इनका शासन चलाते थे। साधारण आदमी को राज्य के मामलों में बोलने का कोई हक़ नहीं था। बहुत-से ग़ुलाम थे, जिन्हें शासन में कोई अधिकार नहीं होता था, और औरतों को भी इस प्रकार का कोई हक़ नहीं था। इस तरह आबादी के सिर्फ़ एक हिस्से को इन नगर-राज्यों में नागरिकता का अधिकार मिला हुआ था, और यही हिस्सा सार्वजनिक मामलों पर राय दे सकता

---

[1] सुलेमान—इसे सालोमन भी कहते हैं। इज़राईल का यह तीसरा बादशाह था। इसके पास बहुत धन था, इसलिए पुराने इतिहास में इसका राज्य शान-शौकत के लिए मशहूर है। इसके गीत और कविताएँ भी प्रसिद्ध हैं और कहा जाता है कि यह बड़ा बुद्धिमान और इन्साफ़-पसन्द बादशाह था। इसकी अक़्लमन्दी की बहुत-सी कहानियाँ मशहूर हैं।

था। इन नागरिकों के लिए वोट देना कोई मुश्किल काम नहीं था, क्योंकि सब सब एक ही जगह पर इकट्ठे किये जा सकते थे। यह इसलिए होना सम्भव था कि छोटे-छोटे नगर-राज्य थे, किसी एक सरकार की मातहती में कोई बड़ा देश था। भारतभर के, या बंगाल या उत्तर प्रदेश जैसे सिर्फ़ एक प्रदेश के ही वोट के एक जगह जमा होने की ज़रा कल्पना तो करो! ऐसा करना बिलकुल असम है। बाद को दूसरे देशों को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ा। तब इसी लिए 'प्रतिनिधि सरकार' का हल ढूँढ़ निकला गया। इसका मतलब यह हु कि किसी मामले का फ़ैसला करने के लिए देशभर के सारे वोटरों को इकट् करने के बजाय लोग अपने 'प्रतिनिधि' चुन देते हैं, जो इकट्ठे होकर देश के सम्बन्ध रखनेवाले सार्वजनिक मामलों पर विचार करते हैं और देश के लिए क़ानू बनाते हैं। यह समझा जाता है कि साधारण वोटर इस तरह अपने देश के शास में परोक्ष रूप से सहायता देता है।

लेकिन इस चीज़ का यूनान से कोई ताल्लुक़ नहीं। यूनान ने कभी नग राज्य से बड़ी कोई राजनीतिक इकाई बनाई ही नहीं। और इस तरह वह मुश्किल सवाल को टाल गया। हालाँकि यूनानी लोग, जैसा कि मैं तुम्हें बता चु हूँ, यूनान भर में, और दक्षिण-इटली, सिसली और भूमध्यसागर के दूसरे किना पर फैल गये थे, लेकिन इन लोगों ने अपने अधीन इन सब देशों में कोई साम्रा या एक सरकार बनाने की कोशिश नहीं की। जहाँ कहीं ये गये, वहीं इन्होंने अप अलग नगर-राज्य क़ायम कर लिया।

तुम देखोगी कि शुरू के ज़माने में भारत में भी, यूनान के नगर-राज्यों तरह के ही, छोटे-छोटे गणराज्य या छोटे-छोटे राज्य हुआ करते थे। लेकिन मालू होता है कि वे बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रहे और बड़े राज्यों में समा गये। इ पर भी, बहुत समय तक, हमारी गाँवों की पंचायतों के हाथों में बहुत बड़ी ताक़ रही। शायद पुराने आर्यों की पहली प्रेरणा यही होती थी, कि जहाँ-जहाँ जा वहीं छोटे-छोटे नगर-राज्य बनायें। लेकिन भौगोलिक परिस्थितियों और अपने पुरानी सभ्यता के सम्पर्क ने इन्हें अपने इन विचारों को, उन देशों में, जहाँ जाकर ये बसे, धीरे-धीरे छोड़ने पर मजबूर कर दिया। ईरान में ख़ासतौर से ह देखते हैं कि बड़े-बड़े राज्य और साम्राज्य क़ायम हुए। भारत में भी बड़े-ब साम्राज्य स्थापित करने की ओर झुकाव रहा। लेकिन यूनान में नगर-राज्य बहु दिनों तक क़ायम रहे, और उस समय तक बने रहे, जबतक कि एक इतिहास प्रसिद्ध यूनानी ने दुनिया को जीतने की सबसे पहली बार कोशिश की। इसका नाम था अलेक्सान्दर या सिकन्दर महान्। इसके बारे में बाद को कुछ कहूँगा।

इस तरह यूनानी लोगों ने अपने छोटे-छोटे नगर-राज्यों को मिलाकर को

बड़ा राज्य, सल्तनत या गणराज्य बनाना पसन्द नहीं किया। यही नहीं कि ये लोग एक-दूसरे से अलग और स्वतन्त्र रहे हों, बल्कि ये लोग क़रीब-क़रीब हमेशा आपस में लड़ते भी रहे। इनमें आपस में बड़ी प्रतिस्पर्धा रहा करती थी, जिसका नतीजा अक्सर लड़ाई होता था।

फिर भी इन नगर-राज्यों को आपस में जोड़नेवाली बहुत-सी समान कड़ियाँ थीं। इनकी भाषा एक थी, संस्कृति एक थी और मज़हब एक था। इनके धर्म में अनेक देवी और देवता माने जाते थे और इनकी पौराणिक गाथाएँ हिन्दुओं की पुरानी पौराणिक गाथाओं की तरह बड़ी सुन्दर और प्रचुर थीं। ये लोग सौन्दर्य के पुजारी थे। आज भी इनकी बनाई हुई संगमरमर और पत्थर की कुछ पुरानी मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं, जिनकी सुन्दरता आश्चर्यजनक है। स्वस्थ और सुन्दर शरीर में इनकी बहुत रुचि थी और इसके लिए ये लोग खेल-कूद और दौड़ों की व्यवस्था करते रहते थे। यूनान के ओलिम्पिया नामक स्थान पर समय-समय पर इस तरह के खेल बड़े पैमाने पर हुआ करते थे और यूनान भर के लोग वहाँ जमा होते थे। तुमने सुना होगा कि ओलिम्पिक खेल आजकल भी होते हैं। यह नाम ओलिम्पिया में होनेवाले पुराने यूनानी खेलों से लिया हुआ है, और अब उन खेलों के लिए इस्तेमाल किया जाता है, जो भिन्न-भिन्न देशों के बीच होते हैं और जिनमें सर्वोत्तम खिलाड़ी चुने जाते हैं।

इस तरह यूनान के नगर-राज्य अलग-अलग रहते थे, जो खेलों में आपस में मिला करते थे लेकिन अक्सर आपस में लड़ा भी करते थे। मगर जब बाहर से कोई बड़ा ख़तरा आता दिखाई देता तो उसका मुक़ाबला करने के लिए वे सब एक हो जाते। ऐसा एक ख़तरा ईरानियों का हमला था, जिसके बारे में आगे लिखूँगा।

: ८ :

पश्चिमी एशिया के साम्राज्य

१३ जनवरी, १९३१

कल तुम सब लोगों से मुलाक़ात हो गई, यह अच्छा हुआ। लेकिन दादू को देखकर मुझे सदमा पहुँचा। वह बहुत कमज़ोर और बीमार मालूम पड़ते थे। उनकी देखभाल अच्छी तरह करना और उन्हें फिर तन्दुरुस्त और तगड़ा बना देना। कल मैं तुमसे बात ही न कर सका। थोड़ी देर की मुलाक़ात में कोई क्या कर सकता है? बहुत अर्से से जो मुलाक़ातें और बातचीतें नहीं हुईं उनकी कमी मैं इन पत्रों को लिख कर पूरी करने की कोशिश करता हूँ। लेकिन ये पत्र उनकी जगह नहीं ले सकते और यह दिल-बहलावा ज़्यादा देर नहीं टिकता। फिर भी, कभी-कभी दिल को फुसलाने का खेल भी फ़ायदेमन्द होता है।

अच्छा, तो अब प्राचीन काल के लोगों की चर्चा फिर शुरू की जाय। ह्र में हम पुराने यूनानियों का ज़िक्र कर रहे थे। उस समय दूसरे देशों की क्या हाल थी? हमें यूरोप के दूसरे देशों के लिए परेशान होने की ज़रूरत नहीं। हमें, क से-कम मुझको, इन देशों के बारे में कोई दिलचस्प बात नहीं मालूम। उस सम उत्तरी यूरोप की जलवायु शायद बदल रही थी, जिसकी वजह से नई परिस्थि ज़रूर पैदा हो गई होगी। शायद तुम्हें याद हो, लाखों-करोड़ों वर्ष पहले उत्तरी यू और उत्तरी एशिया में बहुत कड़ी सरदी पड़ती थी। इस ज़माने को 'हिमयु कहते हैं, जब बर्फ़ की विशाल नदियाँ मध्य-यूरोप तक फैली हुई थीं। उस व आदमी तो शायद पैदा ही नहीं हुआ था और अगर उसका अस्तित्व हो भी वह मानव की बनिस्बत जानवर जैसा ज़्यादा रहा होगा। तुम्हें आश्चर्य होगा आज हम यह कैसे कह सकते हैं कि उस ज़माने में वहाँ हिम-नदियाँ हुआ करती थीं पुस्तकों में तो उनका कोई ज़िक्र हो ही नहीं सकता, क्योंकि उस ज़माने में न पुस्तकें थीं और न उनके लिखनेवाले। लेकिन मैं उम्मीद करता हूँ कि तुम यह भूली होगी कि प्रकृति की भी एक पुस्तक होती है। वह अपना इतिहास अपने तरी से चट्टानों और पत्थरों में लिखा करती है और इसे वहाँ जिसकी इच्छा हो वह सकता है। इसे एक तरह की आत्म-कथा यानी ख़ुद अपनी कहानी कहना चाहि बर्फ़ की नदियों में एक बात यह होती है कि वे अपनी हस्ती के ख़ास निशान छ जाती हैं। एक बार तुम इन निशानों को पहचानने लगो, तो फिर बहुत जल्दी इ समझ सकती हो। अगर तुम इन निशानों का अध्ययन करना चाहती हो, तो सि यह करना पड़ेगा कि आजकल की किसी हिम-नदी को, हिमालय में, आल्प्स पर दूसरी जगह जाकर, देख आओ। आल्प्स पर तुमने माउण्ट ब्लांक[2] के आसपा बहुत-सी हिम-नदियाँ देखी होंगी। लेकिन उस समय तुम्हें शायद किसीने इन ख़ास निशान नहीं बतलाये। कश्मीर में और हिमालय के दूसरे हिस्सों में भी बहु सी सुन्दर हिम-नदियाँ हैं। हम लोगों के लिए सबसे नज़दीक पिंडारी हिम-नदी जो अल्मोड़े से हफ़्ते भर की मंज़िल पर है। जब मैं छोटा था—जितनी बड़ी तु आज हो, उससे भी छोटा—तो मैं एक बार इस हिम-नदी को देखने गया था औ आज भी मुझे उसकी स्पष्ट याद बनी है।

---

[1] हिम-युग—हिम का मतलब बर्फ़ है, इसलिए इसे बर्फ़-युग भी कह सक हैं। सृष्टि का यह सबसे पुराना युग है, और बर्फ़-युग इसलिए कहलाता है कि उ समय दुनिया के बहुत-से हिस्से बर्फ़ से ढके हुए थे। इस युग के चार काल हुए और चौथा काल ईसा से पचास हजार साल पहले का है।

[2] माउण्ट ब्लांक—यह स्विट्ज़रलैण्ड में आल्प्स पहाड़ों की सबसे ऊँ चोटी है।

इतिहास और गुज़रे ज़माने को छोड़कर मैं हिम-नदियों और पिंडारी की चर्चा में बह गया। मन को फुसलाने के खेल का यही नतीजा होता है। मैं यह चाहता हूँ कि सम्भव हो तो तुमसे इस ढंग से बात करूँ, मानों तुम यहीं हो। और ऐसा करने के लिए हमें कभी-कभी हिम-नदियों और इसी तरह की दूसरी जगहों की कुछ खयाली सैर ज़रूर करनी चाहिए।

मैंने हिम-नदियों की चर्चा इसलिए शुरू कर दी कि बीच में हिम-युग का ज़िक्र आ गया था। हम कह सकते हैं कि हिम-नदियाँ मध्य यूरोप और इंग्लैण्ड तक उतर आई थीं, क्योंकि इन देशों में अभी तक इनके खास निशान पाये जाते हैं। पुरानी चट्टानों पर ये निशान आज भी मिलते हैं और इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि उस समय मध्य और उत्तर यूरोप में बहुत ज्यादा सर्दी रही होगी। बाद को जलवायु कुछ गर्म हुई और हिम-नदियाँ धीरे-धीरे पीछे खिसकती गईं। भूगर्भ-शास्त्री, यानी पृथ्वी की रचना के इतिहास का अध्ययन करनेवाले हमें बताते हैं कि सर्दी की इस लहर के बाद गर्मी की लहर आई और तब यूरोप आज से भी ज्यादा गर्म हो गया था। इस गर्मी की वजह से यूरोप में घने जंगल पैदा हो गये।

आर्य लोग घूमते-घामते मध्य यूरोप तक जा पहुँचे। मालूम होता है, उस समय उन्होंने वहाँ कोई खास उल्लेखनीय काम नहीं किया। इसीलिए हम फ़िलहाल उन्हें छोड़ सकते हैं। यूनान और भूमध्यसागर के सभ्य लोग शायद उत्तर और मध्य यूरोप के इन लोगों को बर्बर ही समझते रहे। लेकिन ये बर्बर लोग अपने जंगलों और गाँवों में स्वस्थ और योद्धाओं की ज़िन्दगी गुज़ारते थे, और अनजान में अपने को उस दिन के लिए तैयार कर रहे थे, जब इन्हें दक्षिण की अधिक सभ्य जातियों पर टूट पड़ना था और उनकी सरकारों को ढहा देना था। लेकिन यह बात बहुत सभय बाद हुई और हमें आगे की बात का ज़िक्र अभी नहीं करना चाहिए।

अगर हमें उत्तरी यूरोप के बारे में कुछ नहीं मालूम है, तो विशाल महाद्वीपों और ज़मीन के लम्बे-चौड़े खण्डों के बारे में तो हम बिलकुल ही नहीं जानते। कहते हैं कि कोलम्बस ने अमेरिका की खोज की, लेकिन इसका यह मतलब नहीं, जैसा कि अब हमें पता लगता जा रहा है, कि कोलम्बस के वहाँ पहुँचने से पहले इस देश में सभ्य लोग थे ही नहीं। कुछ भी हो, जिस ज़माने की हम बात कर रहे हैं, उस समय के अमेरिका के बारे में हम कुछ नहीं जानते। अफ़्रीका के महाद्वीप के बारे में भी हम कुछ नहीं जानते, लेकिन मिस्र का और भूमध्यसागर के किनारों का इसमें अपवाद करना होगा। इस ज़माने में शायद मिस्र की महान् और प्राचीन सभ्यता पतन की तरफ़ जा रही थी। लेकिन, फिर भी यह उस ज़माने में बहुत उन्नत देश था।

अब हमें यह देखना है कि एशिया में क्या हो रहा था। इस महाद्वीप में, जैसा कि तुम जानती होगी, प्राचीन सभ्यता के तीन केन्द्र थे, इराक़, भारत और चीन।

उस प्राचीन काल में भी इराक़, ईरान और एशिया कोचक में कितने साम्राज्य एक के बाद एक बनते और बिगड़ते रहे। यहाँ असुर, मीदिया,[1] बा और बाद में ईरानी साम्राज्य बने। हमें इस विवरण में जाने की ज़रूरत नहीं ये साम्राज्य आपस में कैसे लड़ते थे या कुछ दिन शान्तिपूर्वक साथ-साथ कैसे र थे, या इन्होंने एक-दूसरे को कैसे नष्ट किया। पश्चिमी एशिया के साम्राज्यों यूनान के नगर-राज्यों के अन्तर पर तुमने ग़ौर किया होगा। एशिया में बहुत के ज़माने से ही बड़े राज्य या साम्राज्य के लिए ज़बर्दस्त लगन पाई जाती थी शायद इसका कारण इसकी पुरानी सभ्यता थी, या शायद कोई दूसरी वजह भी सकती है।

एक नाम सुनकर तुम्हें ज़रूर दिलचस्पी होगी। यह नाम क़ारूँ का है तुमने सुना होगा। 'क़ारूँ का ख़ज़ाना' एक मशहूर कहावत है। तुमने इस क़ा के क़िस्से भी पढ़े होंगे कि यह कितना धनवान और घमण्डी था और उसे किस त नीचा देखना पड़ा। क़ारूँ लिदिया का राजा था। यह देश एशिया के पश्चिमी पर था, जहाँ आज एशिया कोचक है। समुद्र के किनारे होने की वजह से यहाँ व्यापार शायद खूब बढ़ा हुआ था। उसके ज़माने में क़ुरुष[2] की मातहती में ईरा साम्राज्य तरक़्क़ी कर रहा था और ताक़तवर होता जाता था। क़ुरुष और क़ा में मुठभेड़ हो गई और क़ुरुष ने क़ारूँ को हरा दिया। यूनानी इतिहास-ले हिरोदोत[3] ने इस पराजय की कहानी लिखी है और बताया है कि किस त मुसीबत पड़ने पर घमण्डी क़ारूँ को अक़्ल और समझ आई।

क़ुरुष के पास बहुत बड़ा साम्राज्य था, जो शायद पूर्व में भारत तक फै हुआ था। लेकिन उसके एक उत्तराधिकारी दारा के पास इससे भी बड़ा साम्रा था, जिसमें मिस्र, मध्य-एशिया का कुछ भाग और सिन्ध नदी के पास का भार का भी छोटा-सा हिस्सा शामिल था। कहा जाता है कि उसके इस भारतीय प्रा

---

[1] मीदिया—ईसा के ७०० बरस पहले का एशिया का एक पुराना साम्रा जो कैस्पियन सागर के दक्षिण और ईरान के उत्तर था। ई० पू० ३३१ में सिकन्द ने इसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। बाद में यूनानियों के पतन के बाद ईरा साम्राज्य में मिला लिया गया और उसके बाद छिन्न-भिन्न हो गया।

[2] क़ुरुष या साइरस—यह ईरानी साम्राज्य का प्रवर्त्तक सम्राट् था। इस समय ईसा से ६०० से लगाकर क़रीब ५२९ साल पहले तक है। यह बड़ा प्रता सम्राट् था, इसीलिए इसे 'महान्' की उपाधि मिली थी।

[3] हिरोदोत या हेरोडोटस—मशहूर यूनानी इतिहास-लेखक। इसका सम ईसा से क़रीब ४८४ से ४२४ साल पहले था। इसके इतिहास का मुख्य विष

से सैकड़ों मन सुनहली रेत[1] उसे ख़िराज के तौर पर भेजी जाती थी। उस ज़माने में सिन्ध नदी के किनारे सुनहली रेत पाई जाती होगी। आजकल वहाँ इसका निशान भी नहीं मिलता। सच तो यह है कि इस प्रान्त का ज़्यादातर हिस्सा आजकल ऊसर है। इससे ज़ाहिर होता है कि यहाँ की जलवायु कितनी बदल गई है।

जब तुम इतिहास पढ़ोगी और पुराने ज़माने की हालत की आज़कल की हालत से तुलना करोगी, तो एक बात जो तुम्हें सबसे ज़्यादा दिलचस्प मालूम होगी वह है मध्य-एशिया में होनेवाला परिवर्त्तन। वह वही प्रदेश है जहाँ से अनगनती क़बीले—स्त्री और पुरुषों के दल-के दल—बाहर निकले और फैलते-फैलते दूर-दूर तक के महाद्वीपों में पहुँच गये। यही जगह है जहाँ पुराने ज़माने में बड़े-बड़े और शक्तिशाली शहर थे—ख़ूब घने बसे हुए और मालामाल—जिनकी तुलना आजकल की यूरोपीय राजधानियों से की जा सकती है और जो आजकल के कलकत्ते और बम्बई से कहीं बड़े थे। हर जगह बग़ीचे और हरियाली थी—और जलवायु सुखद और सम थी, यानी न बहुत गर्म और न बहुत सर्द। यह प्रदेश ऐसा ही था। लेकिन अब हज़ारों वर्षों से यह बंजर और क़रीब-क़रीब रेगिस्तान हो गया है, जहाँ आदमियों को रहने में बड़ी तकलीफ़ होती है। उस ज़माने के विशाल नगरों में से कुछ नगर—जैसे समरक़न्द[2] और बुख़ारा—जिनके नाम से ही अनेक स्मृतियाँ जग उठती हैं, अब भी अपने दिन गिन रहे हैं। लेकिन अब तो ये अपने पुराने रूप की छाया-मात्र रह गये हैं।

पर मैं फिर आगे की बात कहने लगा। उस पुराने ज़माने में, जिसकी चर्चा हम कर रहे हैं, न समरक़न्द था न बुख़ारा। ये सब बाद में होनेवाली बातें थीं। उस वक़्त तो ये भविष्य के गर्भ में छिपे थे और मध्य-एशिया की महानता और उसका पतन भी तबतक भविष्य की बात थी।

: ९ :

पुरानी परम्परा का बोझ

१४ जनवरी, १९३१

जेल में मैंने अजीब आदतें पैदा कर ली हैं। उनमें से एक है बहुत सुबह, पौ

रान और यूनान की लड़ाई थी, और उसमें उस ज़माने का अच्छा वर्णन है। इसे तिहास का जन्मदाता अथवा पिता कहा जाता है।

[1] सुनहली रेत—कई नदियों के किनारे पाई जानेवाली रेत, जिसमें से ना निकाला जाता है।

[2] समरक़न्द—मध्य-एशिया का एक मशहूर शहर है। इसका पुराना नाम राकण्डा है। चौदहवीं सदी में यह मुस्लिम एशिया का सांस्कृतिक केन्द्र था।

फटने से भी पहले, उठना। यह आदत मैंने पिछली गर्मियों से शुरू की, क्योंकि मु यह देखना भला मालूम होता था कि उषा कैसे आती है और किस तरह धीरे-धीरे तारों की रोशनी को बुझा देती है। क्या तुमने कभी पौ फटने से पहले की चाँद देखी है और यह देखा है कि धीरे-धीरे यह तड़का दिन के रूप में कैसे बदल जा है? मैंने चाँदनी और उषा की इस प्रतियोगिता को अक्सर देखा है, जिसमें की हमेशा जीत रहती है। इस विचित्र और मन्द रोशनी में कभी-कभी यह मुश्किल हो जाता है कि यह चाँदनी है या आनेवाले दिन की रोशनी है। थोड़ी देर के बाद कोई सन्देह बाक़ी नहीं रह जाता; दिन हो जाता है और फीका चन्द्र प्रतियोगिता में हार कर पीछे हट जाता है।

अपनी आदत के अनुसार मैं आज जब उठा तो तारे चमक रहे थे और तड़के से पहले हवा में जो अजीब ताज़गी होती है उससे कोई भी अन्दाज़ सकता था कि सुबह होनेवाली है। और ज्योंही मैं पढ़ने बैठा कि दूर से आनेवा आवाज़ों और मरमराहटों ने, जो बढ़ती ही जाती थीं, सवेरे की शान्ति को भंग दिया। मुझे याद आ गया कि आज संक्रांति यानी माघ मेले का पहला पर्व है, यात्री लोग हज़ारों की तादाद में संगम में—जहाँ गंगा, यमुना और गुप्त सरस्व मिलती हैं—स्नान करने जा रहे हैं। ये चलते-चलते गाते जाते थे, और क कभी गंगा माता की जय पुकारते थे। 'गंगा माई की जय!' इनकी यह आवा नैनी-जेल की दीवारों को लाँघकर मेरे कानों में पहुँच रही थी। इन्हें सुन मुझे यह खयाल आ गया कि देखो श्रद्धा में कितनी शक्ति है कि वह इन अस लोगों को नदी के किनारे खींच लाई है और ये लोग थोड़ी देर के लिए अपनी ग़री और मुसीबतों को भूल गये हैं! और मैं यह सोचने लगा कि देखो सैकड़ों हज़ारों वर्षों से हर साल यात्री लोग किस तरह त्रिवेणी की यात्रा को आते आदमी पैदा हों और मर जायँ, सरकारें और साम्राज्य कुछ दिनों के लिए जमा लें और फिर अतीत में ग़ायब हो जायँ, लेकिन पुरानी परम्परा बराबर जा रहती है और पीढ़ी के बाद पीढ़ी, उसके सामने सिर झुकाती रहती है। परम में बहुत-कुछ अच्छाई होती है; लेकिन कभी-कभी वह एक भयंकर बोझ बन जा है, जिसकी वजह से हमारी प्रगति मुश्किल हो जाती है। जो अटूट ज़ंजीर और प्राचीन अतीत से हमारा सम्बन्ध जोड़ती है, उसकी कल्पना करने से तेरह सौ वर्ष पहले के लिखे हुए इन मेलों के, जो उस समय भी पुरानी परम से चले आ रहे थे, हाल-चाल पढ़ने से चित्त मोहित हो जाता है। लेकिन इस ज़ं में एक आदत यह है कि जब हम आगे बढ़ना चाहते हैं तो यह हमारे पैरों में लि जाती है और हमें इस परम्परा के शिकंजे में कसकर क़ैदी-जैसा बना देती है। सच है कि अपने अतीत से जोड़नेवाली बहुत-सी लड़ियों को हमें क़ायम र

ड़ेगा। लेकिन अगर यह परम्परा हमें आगे बढ़ने से रोकने लगे तो हमें उसके दखाने को तोड़कर बाहर भी निकलना होगा।

पिछले तीन पत्रों में हमने यह कोशिश की है कि तीन हज़ार से लगाकर ढाई हज़ार वर्ष पहले के बीच के ज़माने की दुनिया किस तरह की थी, इसकी एक तसवीर हमारे सामने खिंच जाय। मैंने तारीख़ों का कोई ज़िक्र नहीं किया है। मुझे तारीख़ें पसन्द नहीं हैं और न मैं यह चाहता हूँ कि इनके पचड़े में तुम ज़्यादा पड़ो। अलावा इसके, इस पुराने ज़माने की घटनाओं की सही तारीख़ें जानना आसान भी नहीं है। बाद को कभी-कभी यह ज़रूरी हो सकता है कि कुछ तारीख़ें भी दे दी जायँ और उन्हें याद रक्खा जाय, ताकि हमें घटनाओं को ठीक सिलसिलेवार याद रखने में मदद मिल सके। अभी तो हम प्राचीन संसार की रूपरेखा ही खींचने की कोशिश कर रहे हैं।

यूनान, भूमध्यसागर, मिस्र, एशिया कोचक और ईरान की एक झलक हम देख चुके हैं। अब हम अपने देश की तरफ़ आते हैं। भारत के प्रारम्भिक इतिहास का अध्ययन करने में हमारे सामने एक बड़ी कठिनाई आ जाती है। आदि आर्यों ने, जिन्हें अंग्रेज़ी में इण्डो-एरियन कहते हैं, इतिहास लिखने की तरफ़ ध्यान ही नहीं दिया। हम अपने पिछले पत्रों में देख चुके हैं कि ये लोग बहुत-सी बातों में कितने बढ़े-चढ़े थे। इन लोगों के रचे हुए ग्रन्थ—वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, वग़ैरा—ऐसे हैं जिन्हें महान् पुरुष ही लिख सकते थे। इन ग्रन्थों से और दूसरी सामग्री की मदद से हमें पुराने इतिहास का अध्ययन करने में सहायता मिलती है। इनसे हमें पूर्वजों के रस्म-रिवाज, रहन-सहन और आचार करने के ढंग का पता लग जाता है। लेकिन ये वास्तव में इतिहास नहीं हैं। संस्कृत में वास्तविक इतिहास की अकेली पुस्तक कश्मीर के इतिहास पर है, लेकिन वह बहुत बाद के ज़माने की है। उसका नाम है 'राजतरंगिणी'। उसमें कश्मीर के राजाओं का सिलसिलेवार हाल है और यह कल्हण की लिखी हुई है। तुम्हें यह जानकर ख़ुशी होगी कि जिस तरह मैं तुम्हारे लिए ये पत्र लिख रहा हूँ, उसी तरह तुम्हारे रणजीत फूफा[1] कश्मीर के इस महान् इतिहास का संस्कृत से अंग्रेज़ी में अनुवाद कर रहे हैं। वह क़रीब आधा ख़त्म कर चुके हैं। यह ग्रन्थ बहुत बड़ा है। जब इसका पूरा अनुवाद प्रकाशित होगा तब हम सब बड़े चाव के साथ इसे पढ़ेंगे, क्योंकि दुर्भाग्य से हममें से बहुत-से लोग इतनी संस्कृत नहीं जानते कि मूल ग्रन्थ को पढ़ सकें। हम इस पुस्तक को सिर्फ़ इसलिए नहीं पढ़ेंगे कि यह बहुत सुन्दर है, बल्कि

---

[1] स्वर्गीय श्री रणजीत एस० पण्डित, श्रीमती विजयलक्ष्मी के पति तथा लेखक के बहनोई। ये भी उस समय जेल में थे। 'राजतरंगिणी' का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

इसलिए भी कि इससे हमें पुराने ज़माने का बहुत-कुछ हाल मालूम होगा—खा कश्मीर का, जो कि तुम जानती हो, अपना पुराना वतन है।

जब आर्यों ने भारत में क़दम रक्खा, यह देश पहले ही सभ्य हो चुका वास्तव में उत्तर-पश्चिम में मोहेन-जो-दड़ो के खण्डहरों से अब यह सही पर मालूम पड़ता है कि आर्यों के आने के बहुत दिन पहले से इस देश में एक सभ्यता मौजूद थी। लेकिन इसके बारे में अभी तक हम कुछ ज़्यादा नहीं ज सम्भव है, कुछ वर्षों के अन्दर ही जब हमारे पुरातत्त्ववेत्ता[1] वहाँ जो कुछ मिल है, उसे खोज निकालेंगे, तब हम उसके बारे में कुछ ज़्यादा जान सकेंगे।

बहरहाल इसके अलावा भी यह प्रकट होता है कि उस समय दक्षिण में, और शायद उत्तर भारत में भी, द्रविड़ों की एक समृद्ध सभ्यता थी। भाषाएँ, जो आर्यों की संस्कृत से निकली हुई नहीं हैं, बहुत पुरानी हैं और बड़ा सुन्दर साहित्य पाया जाता है। इन भाषाओं के नाम हैं तमिल, तेलुगू, और मलयालम। ये भाषाएँ दक्षिण भारत में आजकल भी फूल-फल र शायद तुम्हें मालूम होगा कि हमारी राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस) ने भा प्रान्त भाषाओं के आधार पर बनाये हैं, हालाँकि अंग्रेज़ सरकार ने ऐसा नहीं है। यह तरीक़ा बहुत अच्छा है, क्योंकि इससे एक तरफ़ के लोग, जो एक ही बोलते हैं, और जिनके रस्म-रिवाज आमतौर से एक ही तरह के हैं, एक प्र क्षेत्र में आ जाते हैं। दक्षिण में काँग्रेस के माने हुए प्रान्त ये हैं—उत्तरी मद्र आन्ध्र देश, जहाँ तेलुगू बोली जाती है; दक्षिणी मद्रास में तमिलनाड़, जहाँ भाषा बोली जाती है; बम्बई प्रान्त के दक्षिण में कर्नाटक, जहाँ कन्नड़ भाषा जाती है; और केरल, जो क़रीब-क़रीब मलाबार ही है, जहाँ मलयालम बोली जाती है। इसमें कोई शक नहीं कि भारत आगे चलकर जब प्रान्तों मं जायगा, तो क्षेत्रीय भाषा पर बहुत ध्यान दिया जायगा।

यहाँ पर मैं भारत की भाषाओं के बारे में ज़रा कुछ और कह दूं। और दूसरे मुल्कों के कुछ लोग समझते हैं कि भारत में सैकड़ों भाषाएँ बोली हैं। यह बिलकुल बेहूदा बात है और ऐसा करनेवाला खुद अपना ही अज्ञान करता है। यह सच है कि भारत-जैसे बड़े देश में बहुत-सी बोलियाँ हैं, जो भेद के अनुसार किसी एक भाषा के अलग-अलग रूप हैं। यहाँ के पहाड़ी और हिस्सों में भी कितनी ही छोटी-मोटी जातियाँ हैं, जिनकी अपनी-अपनी ख़ास बो हैं। लेकिन अगर सारे भारत को एक साथ लिया जाय तो इन सबका कोई नहीं रह जाता। उनका महत्व सिर्फ़ मर्दुमशुमारी के खयाल से ही है। जै

---

[1] पुरातत्त्ववेत्ता—पुराने ज़माने के खण्डहरों और बाक़ी बचे निशा ख़ास अध्ययन करनेवाले विद्वान्।

मेरा ख़याल है, मैंने अपने एक पिछले पत्र में लिखा है कि भारत की असली भाषाएँ दो परिवारों में बाँटी जा सकती हैं—पहला परिवार द्रविड़ भाषा का है, जिसका ऊपर ज़िक्र आ चुका है, और दूसरा भारतीय आर्य-जाति की भाषा का है। भारतीय आर्यों की मुख्य भाषा संस्कृत थी और भारत की सारी आर्य-भाषाएँ—हिन्दी, बँगला, गुजराती और मराठी—संस्कृत से निकली हैं। इसके अलावा कुछ और भेद भी हैं। असम में असमी है, उड़ीसा या उत्कल में उड़िया बोली जाती है। उर्दू भी हिन्दी का ही एक भेद है। हिन्दुस्तानी शब्द का मतलब हिन्दी और उर्दू दोनों से है। इस तरह भारत की मुख्य भाषाएँ सिर्फ़ दस हैं—हिन्दुस्तानी, बँगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम, उड़िया और असमी। इनमें से हिन्दुस्तानी, जो अपनी मातृभाषा है, सारे उत्तर भारत में—पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली और मध्यभारत में—बोली जाती है। यह बहुत बड़ा हिस्सा है, जिसमें करीब पन्द्रह करोड़ आदमी बसते हैं। इस प्रकार तुम देखोगी कि अभी भी पन्द्रह करोड़ आदमी कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ हिन्दुस्तानी बोलते हैं और तुम यह अच्छी तरह जानती ही हो कि भारत के ज्यादातर हिस्सों के लोग हिन्दुस्तानी समझते हैं। भारत के सब लोगों की भाषा शायद यही बनेगी। लेकिन इसका यह मतलब कभी भी नहीं है कि दूसरी मुख्य भाषाएँ, जिनका मैंने ऊपर ज़िक्र किया है, ख़त्म हो जायँ। बेशक ये प्रान्तीय भाषाओं की हैसियत से बनी रहेंगी, क्योंकि इनमें सुन्दर साहित्य पाया जाता है और किसी जाति की समुन्नत भाषा को छीन लेने की कोशिश किसी भी हालत में नहीं की जानी चाहिए। किसी क़ौम के विकास और उसके बच्चों की शिक्षा का एकमात्र साधन उसकी अपनी भाषा ही है। भारत में आज हरेक चीज़ उलट-पुलट हो रही है और हम आपस में भी अंग्रेज़ी बहुत ज्यादा इस्तेमाल करते हैं। तुम्हें अंग्रेज़ी में पत्र लिखना मेरे लिए एक भद्दी बात है—फिर भी मैं ऐसा कर रहा हूँ। लेकिन मुझे उम्मीद है कि हम लोग जल्दी ही इस आदत से छुटकारा पा जायँगे।

: १० :

प्राचीन भारत के ग्राम-गणराज्य

१५ जनवरी, १९३१

प्राचीन इतिहास का अपना निरीक्षण हम कैसे आगे बढ़ावें? मैं हमेशा सीधा रास्ता छोड़ देता हूँ और इधर-उधर की पगडण्डियों पर भटक जाता हूँ। पिछले पत्र में मैं इस विषय पर पहुँच ही रहा था कि मैंने भारत की भाषाओं की बात छेड़ दी।

अच्छा, अब फिर प्राचीन भारत की चर्चा करें। तुम जानती हो कि जो देश

आज अफ़ग़ानिस्तान कहलाता है वह उस समय, और बाद में भी बहुत वर्षों
भारत का एक हिस्सा था। भारत का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा गान्धार कहलाता
सारे उत्तर में, सिन्ध और गंगा के मैदान में, आर्यों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ
बाहर से आये हुए ये आर्य लोग शायद इमारतें बनाने की कला अच्छी तरह जा
थे, क्योंकि इनमें-से बहुत-से ईरान और इराक़ की आर्यों की बस्तियों से आये
होंगे, जहाँ उस समय भी बड़े-बड़े शहर बस गये थे। इन आर्य-बस्तियों के
बहुत-से जंगल थे, ख़ासकर उत्तर और दक्षिण भारत के बीच में तो एक
बड़ा जंगल था। यह सम्भव नहीं मालूम होता कि आर्य लोगों की कोई बड़ी सं
इन जंगलों को पार करके दक्षिण में बसने गई हो। हाँ, बहुत-से व्यक्ति खोज
व्यापार करने तथा आर्य-सभ्यता और संस्कृति को फैलाने के लिए दक्षिण ज
गये होंगे। पौराणिक कथा है कि अगस्त्य ऋषि पहले आर्य थे, जो दक्षिण
और आर्य-धर्म तथा आर्य-संस्कृति का सन्देश दक्षिण तक ले गये।

उस समय भारत और विदेशों के बीच काफ़ी व्यापार चलता था। विदे
व्यापारी दक्षिण की काली मिर्च, मोती और सोने के लालच से समुद्र पार क
यहाँ आते थे। यहाँ से शायद चावल भी बाहर जाता था। बाबुल के पुराने स
महलों में मलाबार का सागवान मिला है।

आर्यों ने भारत में धीरे-धीरे अपनी ग्रामीण प्रणाली का विकास किया।
प्रणाली में कुछ पुरानी द्रविड़-ग्राम-प्रथा का और कुछ आर्य-विचारों का मेल-
था। ये गाँव क़रीब-क़रीब स्वतन्त्र होते थे और चुनी हुई पंचायतें इन पर शा
करती थीं। कई गाँवों या छोटे क़स्बों को मिलाकर उनपर एक राजा या सर
राज करता था, जो कभी तो चुना हुआ होता था और कभी पुश्तैनी। अक
गाँवों के अनेक समुदाय एक-दूसरे से सहयोग करके सड़कें, धर्मशालाएँ, सिं
के लिए नहरें, या इस प्रकार की सामुदायिक चीज़ें, जो सब लोगों के फ़ायदे की हो
थीं, बनाया करते थे। यह भी मालूम होता है कि राजा यद्यपि राज्य का प्र
होता था, लेकिन वह मनमानी नहीं कर सकता था। उसे आर्यों के क़ानूनों
प्रथाओं के अनुसार चलना पड़ता था। उसकी प्रजा उसपर जुर्माना कर सक
थी और उसे गद्दी तक से उतार सकती थी। 'राजा ही राष्ट्र है' यह सिद्धा
जिसका मैंने अपने पहले पत्रों में ज़िक्र किया था, यहाँ नहीं माना जाता था।
तरह आर्य-बस्तियों में एक प्रकार का लोकतन्त्र पाया जाता था, यानी आर्य-
शासन पर कुछ हद तक नियन्त्रण रख सकती थी।

इन भारतीय आर्यों का यूनानी आर्यों से मुक़ाबिला करो। इन दोनों में बहु
से अन्तर थे, लेकिन कितनी ही बातों में समानता भी थी। दोनों देशों में किसी
किसी रूप में लोकतन्त्र था। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि यह लोकत

सिर्फ़ आर्य-वंश के लोगों के लिए ही था। इनके गुलामों या उन लोगों के लिए, जिन्हें उन्होंने नीच जाति का ठहरा दिया था, न लोकतन्त्र था, न आज़ादी। जात-पाँत की प्रणाली और उसके आजकल जैसे अनगिनती भेद उस ज़माने में नहीं थे। उस समय तो भारतीय आर्यों में समाज के चार भेद या वर्ण माने जाते थे। ब्राह्मण, यानी विद्वान्, पुरोहित और ऋषि-मुनि; क्षत्रिय यानी राज करनेवाले; वैश्य, यानी वाणिज्य और व्यापार करनेवाले; और शूद्र, यानी मेहनत-मज़दूरी करनेवाले और कामगर। इस तरह यह जातिभेद पेशे के आधार पर था। सम्भव है, जात-पाँत की प्रणाली एक हद तक इसीलिए रक्खी गई हो कि आर्य लोग विजित जाति से अपने को अलग रखना चाहते थे। आर्य लोग इतने अभिमानी और घमण्डी थे कि दूसरी जातियों को नीची निगाह से देखते थे और यह नहीं चाहते थे कि उनकी जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों से घुल-मिल जायँ। जाति के लिए संस्कृत में वर्ण शब्द आता है, जिसका अर्थ रंग है। इससे यह भी प्रकट होता है कि बाहर से आनेवाले आर्य भारत के मूल निवासियों से गोरे थे।

इस प्रकार हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि एक तरफ़ तो आर्य लोगों ने श्रमिक वर्ग को दबा रक्खा था और उसे अपने लोकतन्त्र में कोई हिस्सा नहीं देते थे; दूसरी तरफ़ उन्होंने अपने लिए बहुत ज़्यादा आज़ादी रक्खी थी। ये लोग इस बात को बिलकुल पसन्द नहीं करते थे कि उनके राजा या शासक अनुचित व्यवहार करें। अगर कोई शासक अनुचित व्यवहार करता था तो हटा दिया जाता था। आमतौर पर राजा क्षत्रिय होते थे, लेकिन कभी-कभी लड़ाइयों या अन्य संकटों के समय शूद्र या नीच-से-नीच जाति का आदमी भी, अगर इतना योग्य होता, तो राजगद्दी पा सकता था। इसके बाद आर्य लोगों का पतन हो गया और उनकी जाति-प्रणाली जड़ हो गई। बहुत-से विभाग हो जाने की वजह से देश कमज़ोर पड़ गया और नीचे गिर गया। ये लोग आज़ादी की पुरानी भावना को भी भूल गये, क्योंकि पुराने ज़माने में यह कहा जाता था कि आर्य कभी भी दास नहीं बनाया जा सकता। आर्य नाम को कलंकित करने के बजाय उसके लिए मर जाना कहीं ज़्यादा अच्छा समझा जाता था।

आर्यों की बस्तियाँ, क़स्बे और गाँव ऊटपटाँग तरीके से नहीं बस गये थे। नक़शों के अनुसार बसाये जाते थे, और तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि इन नक़शों के तैयार करने में रेखागणित से बहुत मदद ली जाती थी। सच तो यह है कि वैदिक पूजाओं में भी रेखागणित की शकलें काम में आती थीं। आज भी अनेक हिन्दू घरों में बहुत-सी पूजाओं में ये शकलें काम आती हैं। बात यह है कि मकानों और शहरों की रचना से रेखागणित का बहुत निकट का सम्बन्ध है?

सम्भव है, शुरू में पुराने आर्यों के गाँव क़िलेबन्द छावनी के समान हुआ

करते थे, क्योंकि उस ज़माने में हमलों का हमेशा डर रहा करता था। जब दुश्म के हमलों का डर नहीं रहा तब भी वही नक़शा जारी रहा। यह नक़शा चतुर्भु आकार का होता था, जिसमें चारों तरफ़ परकोटा होता था और इसमें चार रा फ़ाटक और चार छोटे दरवाज़े रक्खे जाते थे। परकोटे के अन्दर एक ख़ास तरती में सड़कें और मकान बनाये जाते थे। गाँव के बीच में पंचायत-घर होता था, ज गाँव के बड़े-बूढ़े इकट्ठे होते थे। छोटे गाँवों में पंचायत-घर के बजाय कोई ए बड़ा पेड़ ही हुआ करता था। हर साल गाँव के सब नागरिक इकट्ठे होकर अप पंचायत चुनते थे।

बहुत से विद्वान् लोग सादा जीवन बिताने और शान्ति के साथ अध्ययन कार्य करने के लिए क़स्बों या गाँवों के आस-पास के जंगलों में चले जाते थे। इन पास शिष्य इकट्ठे हो जाते थे और धीरे-धीरे इन गुरुओं और विद्यार्थियों की बस्तियाँ बनती गईं। हम इन बस्तियों को आजकल के विश्वविद्यालय कह सक हैं। इन जगहों पर कोई शानदार इमारतें नहीं हुआ करती थीं, लेकिन जिन ज्ञान की तलाश होती थी वे बड़ी-बड़ी दूर से विद्याध्ययन के इन केन्द्रों में आ करते थे।

आनन्द भवन[1] के सामने भारद्वाज आश्रम है। तुम इसे अच्छी तरह जान हो। शायद तुम्हें यह भी मालूम है कि भारद्वाज रामायण के पुराने ज़माने के ब विद्वान् ऋषि माने गये हैं। कहा जाता है कि रामचन्द्र अपने वनवास के समय इनके यहाँ आये थे। यह भी कहा जाता है कि भारद्वाज के आश्रम में हज़ारों शि और विद्यार्थी रहा करते थे। यहाँ एक अच्छा-ख़ासा विश्वविद्यालय रहा हो और भारद्वाज उसके आचार्य रहे होंगे। उस ज़माने में यह आश्रम गंगा के किना था। यह बहुत सम्भव है, हालाँकि अब गंगा यहाँ से क़रीब एक मील दूर च गई हैं। हमारे बग़ीचे की मिट्टी कहीं-कहीं बहुत रेतीली है और सम्भव है यह हिस्सा उस ज़माने में गंगा की तलहटी में रहा हो।

ये प्रारम्भकाल के दिन भारत में आर्यों का एक महान् काल था। दुर्भा से इस काल का हमें कोई इतिहास नहीं मिलता और उस समय की जो बातें ह मालूम हैं, उनके लिए हमें अनैतिहासिक ग्रन्थों पर ही भरोसा करना पड़ता है। ज़माने के राज्य और गणराज्य ये थे—दक्षिण बिहार में मगध; उत्तर बिह में विदेह, काशी, कोशल—जिसकी राजधानी अयोध्या थी; और पांचाल, गंगा और यमुना के बीच में था। पांचालों के देश में मथुरा और कान्यकुब्ज दो मु शहर थे। ये शहर बाद के इतिहास में भी मशहूर रहे हैं और आज भी मौजूद ह कान्यकुब्ज अब कन्नौज कहलाता है और कानपुर के निकट है। उज्जैन भी प्राची

---

[1] प्रयाग में लेखक का मकान।

र है, लेकिन आजकल यह ग्वालियर रियासत का एक छोटा-सा नगर है। लिपुत्र या पटना के निकट वैशाली का नगर था। यह लिच्छवी वंश के लोगों राजधानी थी, जो भारत के शुरू-शुरू के इतिहास का एक मशहूर वंश है। यह त्य गणराज्य था। इसमें प्रमुख व्यक्तियों की एक सभा शासन करती थी। का एक चुना हुआ सभापति होता था, जिसे नायक कहते थे।

ज्यों-ज्यों ज़माना गुज़रा, बड़े-बड़े क़स्बे और शहर बनते गये। व्यापार और कारीगरों की कला और दस्तकारी ने भी उन्नति की। शहर बड़े-बड़े पारिक केन्द्र हो गये। जंगल के आश्रम, जहाँ विद्वान् ब्राह्मण अपने शिष्यों साथ रहा करते थे, बढ़कर वड़े-बड़े विश्वविद्यालय बन गये। विद्या के इन में वे सब विषय पढ़ाये जाते थे, जिनका उस समय तक मनुष्य को ज्ञान ब्राह्मण युद्धकला भी सिखाते थे। तुम्हें याद होगा कि महाभारत में पाण्डवों गुरु द्रोणाचार्य ब्राह्मण थे, जो उन्हें अन्य विषयों के साथ-साथ युद्धकला की शिक्षा देते थे।

: ११ :

चीन के हज़ार वर्ष

१६ जनवरी, १९३१

बाहरी दुनिया से एक ऐसी खबर मिली है, जिससे परेशानी और दुःख होता लेकिन फिर भी ऐसी है कि उससे हृदय गर्व और आनन्द से फूल उठता है। लोगों ने शोलापुरवालों की क़िस्मत का फ़ैसला सुन लिया। इस खेदजनक ाचार के फैलने पर देशभर में जो-कुछ हुआ उसका भी थोड़ा-बहुत हाल हमें लूम हो गया। जबकि हमारे नौजवान अपनी जानों पर खेल रहे हैं और हज़ारों ष और स्त्रियाँ निर्दय लाठी का मुक़ाबला कर रहे हैं, मेरे लिए यहाँ चुपचाप रहना मुश्किल हो गया है। लेकिन इससे हमें अच्छी ट्रेनिंग मिल रही है। मेरा ाल है कि हममें से हरेक स्त्री और पुरुष को अपने-आपको कठिन-से-कठिन क्षा में डालने के बहुत मौक़े मिलेंगे। इस समय तो यह जानकर दिल को खुशी ी है कि हमारे लोग तकलीफ़ों और मुसीबतों का सामना करने के लिए कैसी म्मत से आगे बढ़ रहे हैं और कैसे दुश्मन का हरेक नया हथियार और प्रहार लोगों को ज़्यादा मज़बूत और प्रतिरोध के लिए ज़्यादा दृढ़-संकल्प बना रहा

जब किसी का दिमाग़ इस तरह के ताज़ा समाचारों से भरा हो, तो दूसरी तों का खयाल करना मुश्किल हो जाता है। लेकिन कोरी उधेड़बुन से भी कोई स फ़ायदा नहीं होता, इसलिए अगर कोई ठोस काम करना हो तो हमें अपने

चीनी सभ्यता की शुरुआत

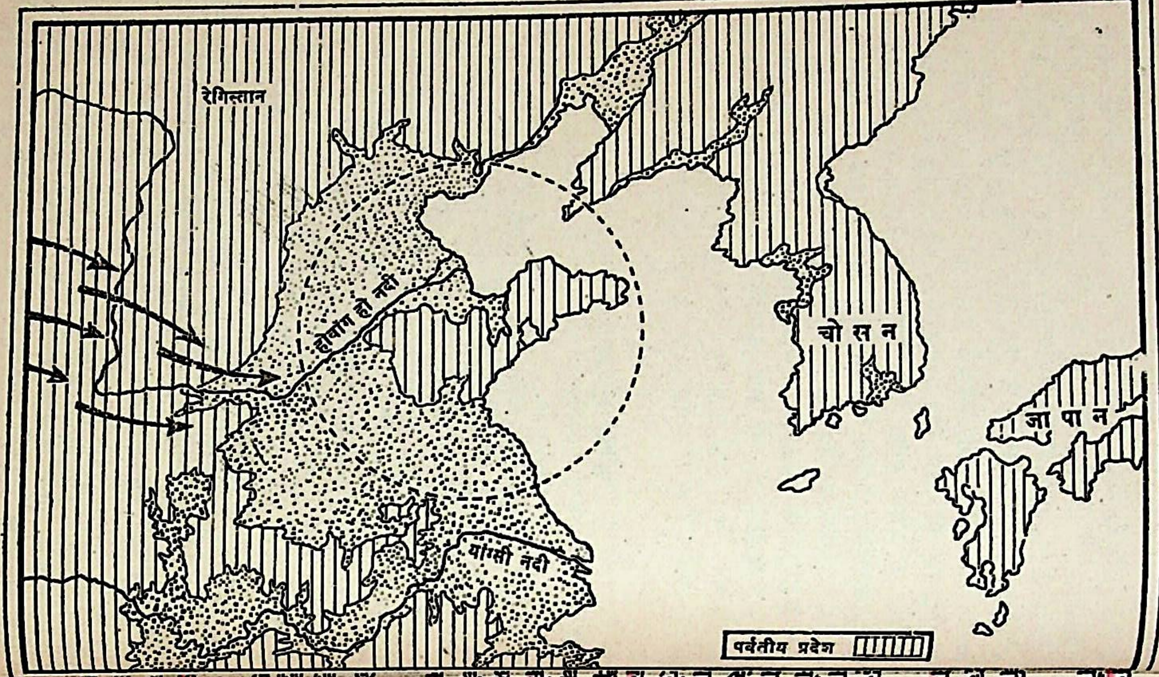
रेगिस्तान
ह्वांग हो नदी
चो स न
जा पा न
यांग्सी नदी
पर्वतीय प्रदेश

न को क़ाबू में रखना चाहिए। इसलिए आओ, हम पुराने ज़माने को लौट चलें, ौर थोड़ी देर के लिए अपनी मौजूदा परेशानियों से बहुत दूर चलकर रहें।

आओ, अब हम प्राचीन इतिहास में भारत के भाई चीन की चर्चा करें। ीन में और पूर्वी एशिया के जापान, कोरिया, हिन्द-चीन, स्याम, बरमा, वग़ैरा शों में आर्य-जाति से हमें काम नहीं पड़ेगा। यहाँ तो उसके बजाय मंगोली नस्लों परिचय करना है।

पाँच हज़ार या कुछ ज़्यादा वर्ष गुज़रे होंगे जब पश्चिम से चीन पर एक हमला आ था। हमला करनेवाली ये जातियाँ भी मध्य-एशिया से आई थीं और अपनी भ्यता में ये अच्छी-ख़ासी आगे बढ़ी हुई थीं। ये लोग खेती करना जानते थे ौर भेड़-बकरियों के बड़े-बड़े रेवड़ और मवेशियों के बड़े-बड़े झुण्ड पाला करते । ये लोग अच्छे-अच्छे मकान बनाना जानते थे और इनका समाज ख़ूब विकसित था। ये लोग ह्वाङहो नदी के पास, जिसे पीली नदी भी कहते हैं, बस गये और हाँ इन्होंने अपने राज्य का संगठन किया। सैकड़ों वर्षों तक ये सारे चीन में फैलते हे और अपने कला-कौशल और कारीगरी की उन्नति करते रहे। चीनी लोग यादातर किसान थे और उनके सरदार असल में उसी तरह के कुलपति थे, जिनका ैं अपने पुराने पत्रों में ज़िक्र कर चुका हूँ। छः या सात सौ वर्ष बाद, यानी अब से ार हज़ार से भी अधिक वर्ष पहले, याओ नामक एक व्यक्ति हुआ, जिसने अपने ो सम्राट् कहना शुरू किया। लेकिन उस उपाधि के बावजूद उसकी स्थिति धिकतर कुलपति की-सी ही थी, मिस्र या इराक़ के सम्राटों की-सी नहीं। ीनी लोग किसानों की तरह ही रहते थे, और वहाँ कोई ख़ास केन्द्रीय सरार नहीं बन पाई।

मैंने तुम्हें बताया है कि पहले किस तरह लोग अपने कुलपति चुना करते े और आगे चलकर किस तरह यह पद मौरूसी अधिकार बन गया। चीन में म इसकी शुरुआत होती हुई देखते हैं। याओ का उत्तराधिकारी उसका पुत्र नहीं ुआ, बल्कि उसने एक दूसरे व्यक्ति को नामज़द कर दिया, जो उस समय देश में बसे ज़्यादा योग्य समझा जाता था।

लेकिन जल्दी ही यह पद मौरूसी हो गया, और कहा जाता है कि चार ौ वर्ष से ज़्यादा तक हिस्या नामक राजवंश ने चीन पर हुकूमत की। हिस्या वंश ा आख़िरी राजा बहुत ज़ालिम था। नतीजा यह हुआ कि एक क्रान्ति हुई, जिसने से उखाड़ फेंका। इसके बाद शौङ या चिङ नामक दूसरे राजवंश के हाथों में त्ता आई और यह क़रीब ६५० वर्षों तक चली।

एक छोटे-से पैरे में, दो या तीन छोटे-छोटे वाक्यों में, मैंने चीन का एक ज़ार वर्षों से ज़्यादा का इतिहास ख़त्म कर दिया। क्या यह ताज्जुब की बात

नहीं है कि इतिहास के इतने विस्तारों को कोई इस तरह निबटा दे? लेकि तुम्हें यह समझ लेना चाहिए कि मेरे छोटे-से पैरे की वजह से इन हज़ार या ग्या सौ वर्षों की लम्बाई कम नहीं होती। हम दिनों, महीनों और सालों के खया के आदी हो गये हैं। तुम्हारे लिए तो सौ साल की भी स्पष्ट कल्पना कर सक मुश्किल है। तुम्हें तो अपने तेरह वर्ष ही बहुत मालूम होते होंगे! है न यह व सच? और हर साल तुम और भी बड़ी होती जाती हो। तब फिर तुम अ दिमाग़ में इतिहास के एक हज़ार वर्षों की कल्पना किस तरह कर सकती हो यह एक बहुत लम्बा ज़माना है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी आती है औ चली जाती है। क़स्बे बढ़कर बड़े-बड़े शहर हो जाते हैं और फिर उजड़कर मि में मिल जाते हैं और उनकी जगह दूसरे शहर बस जाते हैं। इतिहास के पिछ एक हज़ार वर्षों का खयाल करो, तब शायद तुम्हें इस तरह का कुछ बोध सके। पिछले एक हज़ार वर्षों में इस दुनिया में कितने आश्चर्यजनक परिव हो गये हैं!

चीन का इतिहास, उसकी प्राचीन संस्कृति की लम्बी परम्परा और उ एक-एक राजवंश, जो पाँच सौ से लेकर आठ-आठ सौ वर्ष तक राज करते उ कितनी अद्भुत चीज़ें हैं!

इन ग्यारह सौ वर्षों में चीन की धीमी उन्नति और विकास पर, लि मैंने एक पैरे में ही निबटा दिया है, ज़रा ग़ौर तो करो! धीरे-धीरे कुलपति प्रथा टूटती गई और उसकी जगह केन्द्रीय सरकार स्थापित हो गई और ए सुसंगठित राज्य सामने आ गया। उस पुराने ज़माने में भी चीन के लोग लि की कला जानते थे। लेकिन, जैसा कि तुम जानती ही हो, चीनी लिपि हमा नागरी या अंग्रेज़ी या फ्रान्सीसी लिपि से बिलकुल भिन्न है। इस लिपि में अ नहीं हैं। यह संकेतों या चित्रों द्वारा लिखी जाती है।

शैङ राजवंश को, ६४० वर्ष शासन करने के बाद, एक क्रान्ति ने उस फेंका और चाऊ नामक एक नये राजवंश का अधिकार हुआ। इसने शैङों ज़्यादा दिनों तक सत्ता भोगी। यह ८३७ वर्ष तक बना रहा। चाऊ-वंश के ज़मा में ही चीन का राज्य अच्छी तरह से संगठित हुआ, और इसी ज़माने में चीन दो महान् दार्शनिक कनफ़्यूशस और लाओ-त्से पैदा हुए। इनकी कुछ चर्चा ह आगे चलकर करेंगे।

जब शैङ राजवंश निकाल फेंका गया, तब इसके कि-त्से नामक एक उ अधिकारी ने चाऊ लोगों की नौकरी करने की बनिस्बत देश छोड़ कर चले जा अच्छा समझा। इसलिए वह अपने पाँच हज़ार अनुयायियों को साथ लेकर चीं से बाहर कोरिया को कूच कर गया। उसने इस देश का नाम 'चोसन' या

ह की शान्ति का देश' रक्खा। कोरिया या चोसन चीन के पूर्व में है, इसलिए त्से पूर्व दिशा में उगते हुए सूर्य की ओर गया। शायद उसने यह समझा हो वह पूर्व दिशा के अन्तिम छोरवाले देश में पहुँच गया है और इसीलिए ने इसे यह नाम दिया। ईसा से ग्यारह सौ वर्ष पहले से इसी कि-त्से के साथ रया का इतिहास शुरू होता है। कि-त्से के साथ ही इस नये देश में चीनी कला-ाल, मकान बनाने की कला, कृषि और रेशम की कारीगरी आई। कि-त्से ीछे-पीछे और भी बहुत-से चीनी प्रवासी यहाँ आ गये। कि-त्से के वंशजों ने न पर नौ सौ से ज़्यादा वर्षों तक राज किया।

लेकिन चोसन पूर्व दिशा का सबसे आख़िरी देश नहीं था। उसके पूर्व में, ा कि हम जानते हैं, जापान है। लेकिन हमें इस बात का कोई पता नहीं कि कि-त्से चोसन गया तो जापान में क्या हो रहा था। जापान का इतिहास इतना ना नहीं है जितना चीन का या कोरिया यानी चोसन का। जापानी लोगों कहना है कि उनके पहले सम्राट् का नाम जिम्मूतिन्नू था और उसने ईसा से सात सौ वर्ष पहले राज किया। इन लोगों का यह विश्वास है कि वह सूर्यदेवी उत्पन्न हुआ था, क्योंकि सूर्य जापान में देवी माना जाता था। जापान के मौजूदा ाट् जिम्मूतिन्नू के असली वंशज माने जाते हैं। इसीलिए बहुत-से जापानी ं भी सूर्यवंशी मानते हैं।

तुम जानती हो कि हमारे देश में भी राजपूत लोग इसी तरह से सूर्य और से अपना नाता जोड़ते हैं। उनके सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी दो मुख्य राजघराने द्ध हैं। उदयपुर के महाराणा सूर्यवंशियों के प्रमुख हैं और वह अपनी वंशावली न पुराने ज़माने से शुरू करते हैं। हमारे राजपूत लोग भी बहुत तारीफ़ के य हैं! इनकी वीरता की और वीरोचित सुजनता की कहानियों का कोई र नहीं है।

: १२ :

पुरातन की पुकार

१७ जनवरी, १९३१

क़रीब ढाई हज़ार वर्ष पहले तक प्राचीन दुनिया की शायद जो हालत उस पर हम एक सरसरी नज़र डाल चुके। हमारा निरीक्षण बहुत संक्षिप्त र परिमित रहा। हमने सिर्फ़ ऐसे ही देशों की चर्चा की, जो अच्छी उन्नति चुके थे या जिनका थोड़ा-बहुत निश्चित इतिहास पाया जाता है। मिस्र की महान् सभ्यता का हम अभी ज़िक्र कर चुके हैं, जिसने अल-अहराम और ल्क्स बनाये और बहुत-सी दूसरी ऐसी चीज़ें बनाईं, जिनकी चर्चा का यहाँ

अवसर नहीं हैं। जिस शुरू ज़माने की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें भी यह सभ्यता अपने गौरव के दिन देख चुकी थी और पतन की ओर जा रही थी। भी अपनी आख़िरी घड़ियाँ गिन रहा था। चीन के उन लम्बे युगों की हम कर चुके हैं, जिनमें कि वह बढ़ते-बढ़ते एक विशाल केन्द्रीय साम्राज् गया और वहाँ लिखने, रेशम बनाने और बहुत-सी दूसरी सुन्दर-सुन्दर का विकास हुआ। कोरिया और जापान की भी हमने एक झलक देख भारत की उस पुरानी सभ्यता की ओर अभी हमने संकेत किया ही है, जिसे वाले चिह्न सिन्ध नदी की घाटी के मोहेन-जो-दड़ो के खण्डहरों में मिल साथ ही विदेशों से व्यापार करनेवाली द्रविड़ सभ्यता और अन्त में आर्य ओर भी हम संकेत कर चुके हैं। उस ज़माने के आर्यों के रचे हुए वेद और उप और रामायण और महाभारत की वीर-गाथाओं का उल्लेख भी हम कर चुके यह भी हम बता चुके कि आर्य लोग उत्तर भारत में कैसे फैल गये, दक्षिण में प्रवेश कैसे हुआ और पुराने द्रविड़ों के सम्पर्क में आकर किस तरह उन्हों नई सभ्यता और संस्कृति बनाई, जिसमें कुछ तो द्रविड़ बातें मिल गईं जिसका अधिकतर हिस्सा उनका अपना था। ख़ासतौर से हमने इनके ग्राम को लोकतन्त्री आधार पर विकास करते और क़स्बों और शहरों के रूप में देखा और जंगल के आश्रमों को विश्वविद्यालय बनते भी देखा। इराक़ ईरान में हमने संक्षेप में सिर्फ़ यह देखा कि किस तरह एक के बाद एक सा उन्नति करता गया। इनमें सबसे पिछला, दारा का साम्राज्य भारत में नदी तक फैला हुआ था। फ़िलस्तीन में हमने यहूदियों की एक झलक देखी लोग, हालांकि संख्या में बहुत कम थे और दुनिया के एक छोटे-से कोने में थे, फिर भी इन्होंने बहुत काफ़ी ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। देशों के बड़े-बड़े राजाओं के नाम मिट गये, लेकिन इनके राजा दाऊद और मान के नाम आज तक लिये जाते हैं, क्योंकि उनका ज़िक्र बाइबिल में आय फिर हमने यूनान में नोसास की पुरानी सभ्यता की राख पर आर्यों की सभ्यता को फूलते-फलते देखा। नगर-राज्य पैदा हुए और भूमध्यसागर के कि पर यूनानी उपनिवेश बन गये। रोम, जो आगे चलकर महान् होनेवाला था, कार्थेज, जो उसका कट्टर विरोधी था, इस समय इतिहास के क्षिति उदय हो रहे थे।

इन सबकी हमने मामूली-सी झलक देखी है। उत्तरी यूरोप और द पूर्व एशिया के देशों का भी थोड़ा-बहुत हाल मैं तुम्हें बतला सकता था, लेकि उन्हें छोड़ गया हूँ। उस शुरू के ज़माने में भी दक्षिण भारत के मल्लाह बंगा खाड़ी के उस पार मलय प्रायःद्वीप और उसके दक्षिण के टापुओं तक

या-जाया करते थे। लेकिन हमें अपने विषय की कोई सीमा तय कर लेनी हिए वरना, हम कभी आगे नहीं बढ़ सकेंगे।

जिन देशों की हमने चर्चा की है, वे प्राचीन दुनिया के माने जाते हैं। कन याद रहे कि उन दिनों दूर-दूर के देशों में आपस में ज़्यादा आवागमन था। व्यापार या दूसरे मतलब से साहसी मल्लाह समुद्र के ज़रिये और दूसरे ग ज़मीन के रास्ते लम्बे-लम्बे सफ़र किया करते थे। लेकिन ऐसा बहुत कम ता था, क्योंकि उस समय की यात्राओं में ख़तरा बहुत रहता था। लोगों को ल की जानकारी बहुत कम थी। ज़मीन गोल नहीं बल्कि चपटी मानी जाती । मतलब यह कि निकट के देशों के सिवा दूसरे देशों के बारे में लोग बहुत कम नते थे। यूनान के रहनेवाले चीन और भारत से लगभग अपरिचित थे और न और भारतवालों को भूमध्यसागर के देशों का बहुत कम पता था।

अगर तुम्हें प्राचीन दुनिया का नक़्शा मिल सके तो उसे एक नज़र देखो। ने ज़माने के लेखकों ने दुनिया के जो वर्णन लिखे और नक़्शे बनाये उनमें तो बड़े मज़ेदार हैं। उन नक़्शों में कई देशों की अजीब शकलें दी गई हैं। चीन काल के जो नक़्शे आजकल बनाये गए हैं वे कहीं ज़्यादा काम के हैं। लिए उस ज़माने के बारे में पढ़ते समय इन्हें अक्सर देख लिया करना। नक़्शे बहुत मदद मिलती है। बिना इसके इतिहास का असली चित्र हमारी कल्पना नहीं आ सकता। सच तो यह है कि अगर किसी को इतिहास पढ़ना है, तो जितने ज़्यादा-से-ज़्यादा नक़्शे, या पुरानी इमारतों, खण्डहरों और उस ज़माने की री निशानियों के जितने भी चित्र मिल सकें, अपने पास रखने चाहिए। इन त्रों से इतिहास की सूखी ठठरी पर माँस और चमड़ा चढ़ जाता है, और वह रे लिए एक ज़िन्दा चीज़ बन जाता है। इतिहास से अगर हम कुछ सीखना हते हैं तो यह ज़रूरी है कि घटनाओं का एक स्पष्ट और सिलसिलेवार कल्पना-त्र हमारे दिमाग़ में हो जिससे कि उसे पढ़ते समय ऐसा लगे मानो वे घटनाएँ री आँखों के सामने ही हो रही हैं। इतिहास को तो एक चित्ताकर्षक नाटक झना चाहिए जो हमारे दिल को मोह लेता है—ऐसा नाटक, जो कभी-कभी ान्त, लेकिन ज़्यादातर दुःखान्त रहा है और दुनिया जिसका रंगमंच और रे ज़माने के महान् पुरुष और स्त्रियाँ जिसके पात्र हैं।

तसवीरों और नक़्शों की सहायता से इतिहास के इस तमाशे की एक झलक री आँखों के सामने आ जाती है, इसलिए ऐसा इन्तज़ाम होना चाहिए कि क लड़के और लड़की को ये आसानी से मिल सकें। लेकिन तसवीरों और नक़्शों भी ज़्यादा अच्छी चीज़ यह है कि पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले खण्ड-ं और चिह्नों को ख़ुद जाकर देखा जाय। इन सबको जाकर देख सकना सम्भव

नहीं क्योंकि ये सारी दुनिया में फैले हुए हैं। लेकिन अगर हम अपनी आँ
रखें तो प्राचीन समय के कोई-न-कोई चिह्न ऐसे ज़रूर होंगे जिन्हें हम
से देख सकें। बड़े-बड़े अजायबघरों में पुराने ज़माने की ये छोटी-छोटी नि
और यादगारें संग्रह करके रक्खी जाती हैं। भारत में पुराने इतिहास से
रखनेवाली बहुत काफ़ी निशानियाँ पाई जाती हैं, लेकिन बहुत प्राचीन
निशानियाँ बहुत ही कम हैं। मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा[1] ही शायद ऐसे दो
हैं, जो अभी तक मिले हैं। सम्भव है कि पुराने ज़माने की बहुत-सी इमा
जलवायु की वजह से धीरे-धीरे ढह गई हों। लेकिन यह और भी ज्यादा
है कि उनमें से बहुत-सी अब भी ज़मीन के नीचे दबी पड़ी हों, और उ
निकालने की ज़रूरत हो। जैसे-जैसे हम इन्हें खोदते जायँगे, और पुरा
और शिलालेख हमें मिलते जायँगे, वैसे-वैसे हमारे देश के पुराने इति
पृष्ठ धीरे-धीरे हमारे सामने खुलते जायँगे और पत्थर, ईंट और चूने के
में हम अत्यन्त प्राचीन काल के पूर्वजों के कारनामों का हाल पढ़ सकेंगे।

तुम दिल्ली गई हो और मौजूदा शहर के आस-पास कुछ पुरानी
और खण्डहर तुमने देखे हैं। जब कभी फिर तुम्हें इन इमारतों और खण्ड
देखने का मौक़ा मिले, तुम पुराने ज़माने की कल्पना करना तो ये तुम्हें
ज़माने में पहुँचा देंगी और तुम्हें इतना ज्यादा इतिहास बता देंगी कि जित
पुस्तक नहीं बता सकती। महाभारत के ज़माने से लेकर आज तक लोग
शहर में या इसके आस-पास रहते आये हैं। उन्होंने इसके बहुत-से नाम
जैसे इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, तुग़लकाबाद और शाहजहाँनाबाद। मुझे तो स
मालूम भी नहीं। पुराने ज़माने से यह कहावत चली आ रही है कि दिल्
शहर सात बार, सात अलग-अलग जगहों पर आबाद हुआ और जमना
मनमौजी बहाव की वजह से हमेशा अपनी जगह बदलता रहा। और
इस देश के मौजूदा शासकों के हुक्म से रायसीना या नई दिल्ली नामक
शहर तैयार होते देख रहे हैं। दिल्ली में एक के बाद एक साम्राज्य फूले
और खत्म होते रहे हैं।

या फिर तुम एक सबसे प्राचीन शहर बनारस या काशी चली जा
कान लगाकर उसकी गुनगुनाहट सुनो। वह तुम्हें अपने कल्पनातीत युग

---

[1] हड़प्पा—माण्टगोमरी ज़िले (प० पाकिस्तान) का एक बहुत प्राची
है, जो रावी नदी के दक्षिण किनारे पर कोट-कमालिया से १६ मील दक्षिण
है। यहाँ से बहुत पुराने ज़माने के खण्डहर खोदकर निकाले गये हैं, जिन
चलता है कि उस पुराने ज़माने में भी भारत की सभ्यता कितनी बढ़ी-चढ़ी

सुनायेगा और बतायेगा कि किस तरह साम्राज्यों का पतन होता रहा पर वह बना रहा; किस तरह गौतम बुद्ध अपना नया दैवी सन्देश लेकर वहाँ आये और किस तरह युगों से करोड़ों नर-नारी शान्ति और सन्तोष पाने के लिए इसकी शरण में आते रहे! प्राचीन और बूढ़ा, जर्जर, गन्दा, बदबूदार और फिर भी बहुत सजीव और युगों की शक्ति से भरपूर यह बनारस है। काशी की यह नगरी अद्भुत और दिल को लुभानेवाली है, क्योंकि इसकी आँखों में तुम भारत के अतीत को देख सकती हो और इसकी जलधारा की कलकल में सुदूर बीते युगों की आवाज़ें सुन सकती हो।

या इससे भी निकट अपने ही शहर इलाहाबाद या प्रयाग के पुराने अशोक-स्तम्भ को देखने जाओ। अशोक की आज्ञा से उस पर खुदे हुए लेख को देखो तो तुम्हें मानो दो हज़ार वर्षों की दूरी को पार करके आती हुई आवाज़ सुनाई देने लगेगी।

: १३ :

धन कहाँ जाता है ?

१८ जनवरी, १९३१

मैंने जो पत्र तुम्हें मसूरी भेजे थे, उनमें यह बताने की कोशिश की थी कि किस तरह मनुष्य-समाज की उन्नति के साथ-साथ उसमें जुदा-जुदा वर्ग बन गये। शुरू में मनुष्यों को भोजन-सामग्री तक तलाश करने में बड़ी मुसीबत होती थी। वे हररोज़ शिकार करते, गिरीदार और दूसरे फल जमा करते और खाने-पीने की चीज़ों की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह भटकते फिरते थे। धीरे-धीरे इनके क़बीले बनने लगे। असल में ये बड़े-बड़े कुटुम्ब थे, जो साथ रहते और साथ-साथ शिकार करने जाते थे, क्योंकि अकेले रहने से एक साथ रहने में खतरा कम रहता था। इसके बाद एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ—खेती का आविष्कार। इसके कारण मनुष्य जीवन में बड़ा ज़बर्दस्त अन्तर हो गया। लोगों को हमेशा शिकार करते रहने की बनिस्बत ज़मीन पर खेती करके खाने का सामान पैदा कर लेना कहीं ज्यादा आसान मालूम हुआ। जोतने, बोने और फ़सल काटने के लिए एक जगह बने रहना ज़रूरी था, इसलिए पहले की तरह वे इधर-उधर भटकते हुए नहीं रह सकते थे, उन्हें अपने खेतों के पास बसने को मजबूर होना पड़ता था। इस तरह गाँवों और क़स्बों की बुनियाद पड़ी।

खेती की वजह से और भी परिवर्तन हुए। खेती से जो अनाज पैदा होता था, वह तुरन्त की जरूरत से कहीं ज्यादा होता था। इसलिए बचा हुआ या फ़ालतू अनाज जमा किया जाने लगा। पुराने ज़माने की शिकारी ज़िन्दगी की तुलना में लोगों की ज़िन्दगी ज्यादा पेचीदा हो गई। एक वर्ग तो खेतों पर तथा दूसरी जगह

खेती-बाड़ी और मेहनत-मज़दूरी करने लगा, और दूसरे ने प्रबन्ध और संगठ काम अपने जिम्मे ले लिया। प्रबन्ध करनेवाले और संगठनकर्त्ता लोग धीरे अधिक शक्तिशाली हो गये और कुलपति, शासक, राजा और सरदार बन और क्योंकि उनके हाथ में शक्ति आ गई, इसलिए वे बाक़ी बचे हुए या अनाज में से अधिकतर हिस्सा अपने लिए रख लेने लगे। इस तरह ये धनवान् होते गये और खेतों में काम करनेवाले सिर्फ़ गुज़ारे भर के लिए पाने बाद में ऐसा भी समय आया जब प्रबन्धक और संगठनकर्त्ता इतने आलसी अयोग्य हो गये कि संगठन का भी काम नहीं कर सकें। ये लोग कुछ भी काम करते थे, लेकिन इस बात की पूरी सावधानी रखते थे कि काम करनेवाले कुछ अनाज पैदा किया है, उसका बहुत काफ़ी हिस्सा अपने लिए ले इन्होंने यह अपनी धारणा बना ली कि बिना ख़ुद कुछ काम-काज किये इस त से दूसरों की मेहनत पर रहने का इन्हें पूरा-पूरा अधिकार है।

इस प्रकार तुम देखोगी कि खेती के आने से मनुष्य के जीवन में बहुत फ़र्क़ आ गया। भोजन-प्राप्ति के साधनों में तरक़्क़ी करके, और उसका पाना अ बनाकर, खेती ने समाज की सारी बुनियाद ही बदल दी। लोगों को इसकी से फ़ुरसत मिलने लगी। अनेक वर्ग पैदा हो गये। पर चूँकि सभी अन्न उ में नहीं लगे रहते थे, इसलिए कुछ लोग दूसरे काम भी कर सकते थे। इससे प्रकार की दस्तकारियाँ पैदा हो गईं और नये-नये पेशे बन गये। लेकिन फिर भी संगठन करनेवाले वर्ग के हाथों में ही रही।

बाद के ज़मानों के इतिहास में भी तुम्हें यही बात मिलेगी कि खाद्य और दूसरी ज़रूरी चीज़ें पैदा करने के नये तरीक़ों ने कितने बड़े-बड़े परि कर दिये हैं। आदमियों को दूसरी बहुत-सी चीज़ों की भी उतनी ही ज़रूरत लगी जितनी खाने की चीज़ों की। इसलिए जब-जब पैदावार के तरीक़ों में बड़ा परिवर्तन हुआ, समाज में भी उसके फलस्वरूप बड़ा परिवर्तन हुआ। एक उदाहरण देता हूँ। जब कारखानों, रेलों और जहाज़ों को चलाने में भा इस्तेमाल होने लगा तो पैदावार और वितरण के तरीक़ों में भी बहुत बड़ा पड़ गया। भाप के कारखानों में चीज़ें इतनी तेज़ी से बन सकती हैं कि का या दस्तकार अपने हाथों से या सादा औज़ारों से उसकी बराबरी कर ही सकते। बड़ी मशीन को असल में बड़ा-सा औज़ार समझना चाहिए। रेलों भाप के जहाज़ों से अनाज और कारखानों में बनी हुई चीज़ों को दूर देशों तक पहुँचाने में मदद मिलती है। तुम कल्पना कर सकती हो कि इसकी वजह से दुनिया में कितना परिवर्तन हो गया होगा!

खाने की और दूसरी चीज़ें पैदा करने के नये और तेज़ तरीक़े इतिह

मय-समय पर ईजाद होते रहे हैं। इससे तुम ज़रूर यह ख़याल करोगी कि अगर दावार के लिए अच्छे-अच्छे तरीक़े काम में लाये जाते हैं तो माल भी उतना ज़्यादा पैदा होता होगा। दुनिया में धन बढ़ता होगा और हरेक आदमी का स्सा भी बढ़ जाता होगा। तुम्हारा ऐसा ख़याल करना कुछ हद तक ठीक होगा र कुछ हद तक ग़लत। पैदावार के बढ़िया तरीक़ों ने संसार की दौलत ज़रूर ढ़ा दी है, लेकिन सवाल यह है कि दौलत बढ़ी तो संसार के कौन-से हिस्से की बढ़ी ? ह तो बिलकुल स्पष्ट है कि हमारे देश में अभी तक भी काफ़ी ग़रीबी और मुसीबत है, लेकिन इंग्लैण्ड जैसे धनवान् देश में भी यही हाल है। इसकी क्या वजह है ? लत आखिर जाती कहाँ है ? यह अजीब-सी बात है कि दौलत तो दिन-पर-दिन यादा पैदा की जाती रही है, लेकिन ग़रीब लोग ग़रीब ही बने हुए हैं। कुछ देशों में न ग़रीब लोगों ने थोड़ी-सी उन्नति की है, लेकिन जो नई दौलत पैदा हो रही है सके मुक़ाबले में यह न-कुछ के बराबर है। बहरहाल हम आसानी से पता लगा कते हैं कि यह दौलत ज़्यादातर किसके पास जाती है। यह उन लोगों के पास ती है जो आम तौर पर प्रबन्धकर्त्ता या संगठनकर्त्ता होने के नाते इस बात का रा ध्यान रखते हैं कि हरेक अच्छी चीज़ का बड़ा भाग इनके पल्ले पड़ता रहे। र इससे भी ज़्यादा आश्चर्य की बात तो यह है कि समाज में ऐसे वर्ग पैदा हो ये हैं जो दिखावे तक के लिए कोई काम नहीं करते, लेकिन फिर भी दूसरों की हनत के फल का बड़ा भाग हड़प कर जाते हैं! और क्या तुम इसपर विश्वास रोगी कि इज़्ज़त इन्हीं वर्गों की होती है; और कुछ बेवक़ूफ़ लोग समझते हैं कि पनी रोज़ी के लिए मेहनत करना अपमानजनक है! ऐसी उलटी-पलटी दशा हमारी दुनिया की! फिर क्या ताज्जुब है कि खेत में मेहनत करनेवाला किसान र कारख़ाने में मज़दूरी करनेवाला मज़दूर ग़रीब है, हालाँकि दुनिया भर के द्य पदार्थ और सम्पत्ति ये ही लोग पैदा करते हैं! हम अपने देश की आज़ादी ी बातें करते हैं, लेकिन जब तक इस उलटे-पलटेपन का अन्त नहीं होता और हनत करनेवाले को उसकी मेहनत का फल नहीं मिलता, इस आज़ादी की क्या मत हो सकती है ! राजनीति और शासनकला पर, अर्थशास्त्र और राष्ट्रीय म्पत्ति के बँटवारे पर बड़ी मोटी-मोटी पुस्तकें लिखी गई हैं। विद्वान् प्रोफ़ेसर न विषयों पर व्याख्यान देते रहते हैं। लेकिन इधर तो लोग बातचीत और र्चाओं में उलझ रहे हैं और उधर मेहनत करनेवाले तकलीफ़ें पा रहे हैं! दो सौ र्ष हुए वाल्तेयर नाम के एक प्रसिद्ध फ़्रान्सीसी ने राजनीतिकों और इसी तरह के सरे लोगों के बारे में कहा था—"इन लोगों ने अपनी सुन्दर राजनीति में यह ला खोज निकाली है कि जो लोग ज़मीन जोतकर दूसरों को ज़िन्दा रखने के धन पैदा करते हैं, उन्हें भूखों मार दिया जाय।"

फिर भी प्राचीनकाल का मनुष्य उन्नति करता गया और धीरे-धीरे जंगली

प्रकृति पर अपना अधिकार जमाने लगा। उसने जंगल काटे, मकान बना ज़मीन जोती। कहा जाता है कि मनुष्य ने किसी हद तक प्रकृति पर वि है। लोग प्रकृति को वश में करने की बातें करते हैं। यह तो बे-सर-पैर है और सही नहीं है। यह कहना ज्यादा सही है कि आदमी ने प्रकृति को शुरू किया और जितना वह उसे समझता जाता है, उतना ही वह उससे करने के योग्य बन गया है और उसे अपने हित के लिए उपयोग में ला पुराने ज़माने में आदमी प्रकृति से और उसकी विचित्र घटनाओं से डर इसको समझने के बजाय वह उनकी पूजा करता था और शान्ति के लिए चढ़ावा चढ़ाता था; मानो प्रकृति कोई जंगली जानवर है, जिसे सन्तुष्ट क बहलाने की ज़रूरत हो। इसलिए बादल की गरज, बिजली की कड़कड़ा महामारियाँ उन्हें भयभीत कर देती थीं और वे समझते थे कि ये उत्पा पूजा से ही रुक सकते हैं। बहुत-से सीधे-सादे लोग समझते हैं कि चन्द्रमा का ग्रहण कोई भयंकर आफ़त है। यह समझने की कोशिश करने के बजाय एक सीधी-सादी प्राकृतिक घटना है, लोग इसके बारे में फ़िज़ूल परेशान और सूरज या चाँद की रक्षा के लिए उपवास व स्नान करते हैं। लेकिन सू चाँद अपनी रक्षा के लिए काफ़ी समर्थ हैं। हमें उनके बारे में परेशान होने ज़रूरत नहीं।

हमने सभ्यता और संस्कृति की उन्नति की भी कुछ चर्चा की है, है कि इसकी शुरुआत उस समय से हुई, जब लोग गाँवों और क़स्बों में रहने बस गये। खाने का काफ़ी सामान पा जाने की वजह से लोगों को कुछ फ़ुर गई और इस तरह खाने और शिकार करने के अलावा उन्हें दूसरी बातों ध्यान देने का मौक़ा मिल गया। विचार की उन्नति के साथ आमतौर प कौशल और संस्कृति का भी विकास हुआ। जब आबादी बढ़ने लगी पास-पास भी रहने लगे। ये एक-दूसरे से बराबर मिलते-जुलते थे और इनक में व्यापार-व्यवहार चलने लगा। जब लोग आस-पास रहते हैं तो उन्हें ए का लिहाज़ भी रखना पड़ता है। उनके लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि ऐसी न करें जो साथियों या पड़ोसियों को बुरी लगे; वरना सामाजिक ही असम्भव हो जाय। किसी कुटुम्ब का उदाहरण ले लो। कुटुम्ब स छोटा-सा टुकड़ा है। इसके व्यक्ति आनन्द से तभी रह सकते हैं, जब कु सदस्य आपस में एक-दूसरे का लिहाज़ रक्खें। आमतौर पर यह कोई बात नहीं होती, क्योंकि कुटुम्ब के लोगों में प्रेम का बन्धन होता है। कभी-कभी हम एक-दूसरे का लिहाज़ करना भूल जाते हैं और यह प्रकट हैं कि कुछ भी हो हम अभी तक बहुत सुसंस्कृत या सभ्य नहीं हो पाये हैं। से आगे बढ़कर बड़े समुदाय में भी ठीक यही हाल होता है; चाहे हम अपने

लें, या अपने शहर के रहनेवालों को, या देशवासियों को या दूसरे देशों के लोगों। इस तरह आबादी बढ़ जाने से सामाजिक जीवन बढ़ा, और दूसरों का लिहाज़ करने और अपने पर संयम रखने की भावना भी बढ़ी। संस्कृति और सभ्यता की परिभाषा मुश्किल है और मैं इसकी परिभाषा करने की कोशिश भी नहीं करूँगा। लेकिन संस्कृति की परिभाषा के भीतर आनेवाली अनेक बातों में अपने ऊपर संयम, और दूसरों की सुविधा का खयाल भी निस्सन्देह एक बात है। अगर किसी आदमी में संयम नहीं पाया जाता और वह दूसरों की सुविधा का कोई खयाल नहीं करता हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह आदमी असंस्कृत है।

: १४ :

ईसा के पूर्व छठी सदी और मज़हब

२० जनवरी, १९३१

आओ, अब हम इतिहास की लम्बी सड़क पर आगे बढ़ें। आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले, यानी दूसरे शब्दों में, ईसा से क़रीब छः सौ वर्ष पहले तक की एक बड़ी मंज़िल हम तय कर चुके हैं। लेकिन यह न समझना कि यह कोई निश्चित तारीख़ है। मैं तो तुम्हें समय का एक मोटा अन्दाज़ा दे रहा हूँ। हम देखते हैं कि भारत और चीन से लेकर ईरान और यूनान तक भिन्न-भिन्न देशों में अनेक महापुरुष, बड़े-बड़े विचारक और धर्म-प्रवर्तक इसी युग में मिलते हैं। वे सब बिलकुल एक ही समय में नहीं हुए, लेकिन उनका समय एक-दूसरे से इतना निकट था कि ईसा से पहले की छठी सदी का यह ज़माना एक बड़ा रोचक युग बन गया है। ऐसा मालूम होता है कि उस समय सारी दुनिया में विचारों की एक लहर उठ रही थी—लोगों के दिलों में ज़माने की परिस्थिति से असन्तोष और कोई बेहतर चीज़ प्राप्त करने की आशा व लालसा उमड़ रही थी। याद रक्खो कि धर्मों के संस्थापक हमेशा किसी बेहतर चीज़ की खोज में रहते थे और अपने देश की जनता को सुधारने और ऊँचा उठाने और उसकी मुसीबतों को कम करने की कोशिश करते रहते थे। ऐसे लोग हमेशा क्रान्तिकारी रहे हैं और उस समय की बुराइयों पर हमला करने में ज़रा भी नहीं डरे हैं। जहाँ कहीं पुरानी परम्परा ग़लत रास्ते पर जाती हुई दिखाई दी, या उसके कारण आगे की उन्नति रुकती हुई मालूम पड़ी, कि उन्होंने निडर होकर उस पर हमला किया और उसे मिटा दिया। और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने उच्च जीवन का एक नमूना पेश किया, जो असंख्य लोगों के लिए पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक आदर्श और प्रेरणा बन गया।

भारत में, ईसा से पहले की उस छठी सदी में, बुद्ध और महावीर पैदा

हुए; चीन में कनफ़्यूशस और लाओ-त्से; ईरान में ज़रथुस्त या ज़ोर और सामोस के यूनानी टापू में पाइथागोर। तुमने पहले भी ये नाम सुने पर शायद किसी दूसरे सिलसिले में। स्कूल के साधारण लड़के पाइथागोर को एक झंझटी समझते हैं, जिसने रेखागणित का एक प्रमेय किया, जो अब इन बेचारों को सीखना पड़ता है! इस प्रमेय का सम्ब समकोण त्रिभुज की भुजाओं पर के वर्ग-चतुर्भुजों से है। रेखागणित की कि पुस्तक में यह प्रमेय मिल सकता है। लेकिन रेखागणित की खोजें करने के पाइथागोर एक महान् विचारक भी माना जाता है। हमें उसके बारे में बह मालूम है। कुछ लोगों को तो शक है कि इस नाम का कोई व्यक्ति हुआ भी नहीं!

ईरान का ज़रथुस्त ज़ोरास्टर धर्म का संस्थापक कहा जाता है। मुझे यह निश्चय नहीं है कि उसे इस धर्म का संस्थापक कहना कहाँ तक ठी शायद यह कहना ज़्यादा ठीक होगा कि उसने ईरान के पुराने विचारों और को नई दिशा की ओर मोड़ा और उन्हें नया रूप दिया। एक लम्बे अर्से से यह ईरान से बिलकुल उठ-सा गया है। जो पारसी लोग बहुत वर्ष पहले ईरान से चले आये, वे अपने साथ इस मज़हब को भी लेते आये और तब से बराबर मानते आ रहे हैं।

चीन में इसी ज़माने में दो महापुरुष हुए—कनफ़्यूशस और लाओ। कनफ़्यूशस का नाम ज़्यादा सही तरीक़े से कुंग-फ़ू-त्से लिखा जाता है। सा अर्थों में इन दोनों में से किसी को भी धर्म-संस्थापक नहीं कह सकते। इन्होंने और सामाजिक व्यवहार के नियम बनाये और यह बताया कि आदमी को करना चाहिए और क्या नहीं। लेकिन इनकी मृत्यु के बाद चीन में इनकी या में बहुत-से मन्दिर बनाये गए और इनके ग्रन्थों का चीनी लोग वैसा ही आदर हैं, जैसा हिन्दू वेदों का और ईसाई बाइबिल का। कनफ़्यूशस की शिक्षा क परिणाम यह हुआ कि उसने चीनियों को संसार में सबसे ज़्यादा विनयशील शिष्टाचारी और सुसंस्कृत बना दिया।

भारत में महावीर और बुद्ध हुए। महावीर ने आजकल का प्रचलि धर्म चलाया। इनका असली नाम वर्द्धमान था। महावीर तो उन्हें दी गई म की एक पदवी है। जैन लोग ज़्यादातर पश्चिमी भारत और काठियावाड़ में हैं और आजकल इनकी गिनती हिन्दुओं में की जाती है। काठियावाड़ में राजस्थान में आबू पहाड़ पर इनके बड़े सुन्दर मन्दिर पाये जाते हैं। अहि इनकी बड़ी श्रद्धा है और ये ऐसे कामों के बिलकुल विरुद्ध हैं जिनसे किसी को तकलीफ़ पहुँचे। हाँ, इसी सिलसिले में तुमको यह जानकर दिलचस्पी

पाइथागोर कट्टर शाकाहारी था। उसने अपने शिष्यों और चेलों के लिए भी नियम बना दिया था कि कोई माँस न खाय।

अब गौतम बुद्ध का हाल सुनो। जैसा कि तुम जानती हो, गौतम बुद्ध त्रय थे और एक राजवंश के राजकुमार थे। सिद्धार्थ उनका नाम था। उनकी ता का नाम महारानी माया था। प्राचीन जातक-कथा में लिखा है कि महा- वी माया "दूज के चन्द्रमा की तरह उल्लास के साथ पूजनीय, पृथ्वी के समान और स्थिर-निश्चयवाली और कमल के समान पवित्र हृदयवाली थी।"

माता-पिता ने गौतम को हर तरह के सुखों में रक्खा, और यह कोशिश कि दुःख-दर्द और रोग-शोक के दृश्यों से वह बिलकुल दूर रहें। लेकिन यह भव नहीं हो सका, और कहा जाता है कि उन्होंने एक कंगाल, एक रोगी, मुर्दा देखा, जिसका उनके हृदय पर बहुत असर हुआ। इसके बाद राजमहल उन्हें ज़रा भी शान्ति नहीं रही और भोग-विलास के सारे साधन, जिनसे वह रहते थे, यह तक कि उनकी सुन्दर युवा पत्नी, जिसे वह प्यार करते थे, प्त मानवता की ओर से उनका चित्त न हटा सके। उनके हृदय की यह चिन्ता र इन दुःखों को दूर करने के उपाय खोजने की इच्छा दिन-पर-दिन बढ़ती ही । यहाँ तक कि वह इस हालत को सहन न कर सके और अन्त में एक रात वह चाप अपने राजमहल और प्रियजनों को छोड़कर, जिन प्रश्नों ने उन्हें परेशान रक्खा था उनके समाधान की खोज में, इस लम्बी-चौड़ी दुनिया में, अकेले निकल । इस समाधान की खोज उनके लिए बहुत लम्बी और थकानेवाली सिद्ध हुई। खर बहुत वर्षों बाद, गया में एक वट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए उन्हें 'बोध' प्राप्त और वह बुद्ध हो गये। जिस पेड़ के नीचे वह बैठे थे वह 'बोधि-वृक्ष' के नाम से हर हो गया। प्राचीन काशी की छाया में बसे हुए सारनाथ के, जो उस ज़माने इसिपत्तन या ऋषिपत्तन कहलाता था, 'मृगदाव' में बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों प्रचार शुरू किया। उन्होंने 'अष्टांग मार्ग' का उपदेश दिया। देवताओं के नाम सब तरह की बलि की उन्होंने निन्दा की और इस बात पर ज़ोर दिया कि उन दानों के बजाय मनुष्य को अपने क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या और बुरे विचारों की बलि चाहिए।

बुद्ध के जन्म के समय, भारत में पुराना वैदिक धर्म प्रचलित था। लेकिन बहुत बदल गया था और अपने ऊँचे आदर्शों से नीचे गिर चुका था। ब्राह्मण हितों ने तरह-तरह के कर्म-काण्ड, पूजा-पाठ और अन्ध-विश्वास जारी कर दिये योंकि पूजाएँ जितनी ज़्यादा बढ़ें पुरोहितों को उतना ही अधिक फ़ायदा पहुँचता जाति का बन्धन बहुत कड़ा होता जा रहा था और आम लोग शकुन, मन्त्र- , जादू-टोने और धूर्तों से डरते थे। इन तरीक़ों से पुरोहितों ने जनता को

अपनी मुट्ठी में कर रक्खा था और क्षत्रिय राजाओं की सत्ता को चुनौती लगे थे। इस तरह क्षत्रियों और ब्राह्मणों में संघर्ष चल रहा था। उसी समय एक बहुत बड़े लोकप्रिय सुधारक के रूप में प्रकट हुए और उन्होंने पुरोहितों अत्याचारों पर, और पुराने वैदिक धर्म में जो बुराइयाँ घुस आईं थीं उन सब हमला बोल दिया। उन्होंने सदाचारी जीवन बिताने और भले काम करने पर दिया और पूजा-पाठ वग़ैरा का निषेध किया। उन्होंने अपने अनुयायी भिक्षु भिक्षुणियों की संस्था 'बौद्ध-संघ' का भी संगठन किया।

कुछ दिनों तक सम्प्रदाय के रूप में बौद्ध-धर्म का प्रचार भारत में नहीं हुआ। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि यह कैसे फैला और फिर भारत में अलग सम्प्रदाय के रूप में यह क़रीब-क़रीब मिट-सा गया। जहाँ लंका से लेकर तक दूर-दूर के मुल्कों में यह धर्म सर्वोपरि हो गया, वहाँ अपनी जन्मभूमि भा यह फिर ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म में समा गया। लेकिन ब्राह्मण-धर्म पर इ बहुत बड़ा असर पड़ा और इसने हिन्दू-धर्म में से बहुत-से अन्ध-विश्वास पाखण्ड हटा दिये।

आजकल दुनिया में बौद्ध-धर्म के माननेवालों की संख्या सबसे ज्याद ईसाइयत, इस्लाम और हिन्दू-धर्म भी ऐसे मजहब हैं जिनके माननेवाले दुनि दूसरों से ज्यादा हैं। इनके अलावा यहूदी, सिख, पारसी, वग़ैरा दूसरे मजह हैं। तमाम मजहबों और उनके संस्थापकों ने दुनिया के इतिहास में बहुत हिस्सा लिया है, इसलिए इतिहास पर ग़ौर करते समय इनकी उपेक्षा नहीं सकती। लेकिन मजहबों के बारे में लिखने में मुझे कुछ दिक्क़त होती है। इसमें नहीं कि बड़े-बड़े मजहबों के संस्थापक दुनिया के महान्-से-महान् और ऊँ ऊँचे व्यक्ति हुए हैं। लेकिन उनके शिष्य और बाद के अनुयायी न तो महा निकले और न नेक ही। इतिहास में हम अक्सर देखते हैं जिस धर्म का उद्देश्य ऊँचा उठाना और बेहतर और नेक बनाना है, उसी ने लोगों से जानवरों व्यवहार कराया है। लोगों में ज्ञान की रोशनी फैलाने के बजाय धर्म ने अक्सर अँधेरे में रखने की कोशिश की, उदार-हृदय बनाने के बजाय अक्सर को तंग दिल और दूसरों के प्रति असहिष्णु बना दिया। धर्म की खातिर बड़े महान् और शानदार काम किये गए हैं, लेकिन धर्म के ही नाम पर लाखों ह हुई हैं और हर तरह के सम्भव कुकर्म भी किये गए हैं।

ऐसी हालत में यह सवाल उठता है कि धर्म के मामले में कोई क्या अपनाये? कुछ लोगों के लिए धर्म का मतलब है परलोक; फिर उसे स्वर्ग, या बहिश्त चाहे जो कुछ कहा जाय। स्वर्ग में जाने की लालसा से लोग ध पालन करते हैं या कुछ दूसरी बातें करते हैं। यह देखकर मुझे ऐसे बालक का

ा है जो इनाम में जलेबी पाने के लालच से ऊधम नहीं मचाता। अगर कोई ा हमेशा जलेबी की ही बात सोचा करे, तो तुम यह कभी न मानोगी कि की शिक्षा ठीक ढंग से हुई है। और उन लड़कों या लड़कियोंको तो तुम और भी पसन्द करोगी जो जलेबी की ख़ातिर सब कुछ करें। तब फिर हम ऐसे बड़े- के बारे में क्या कहें, जो इस तरह सोचते और काम करते हैं? क्योंकि आख़िर वी और स्वर्ग के ख़याल में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं है। हम सब थोड़े-बहुत स्वार्थी हैं; लेकिन फिर भी हम अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा देने की कोशिश करते हैं वे जह तक हो सके निस्वार्थ बनें। कुछ भी हो, हमारे आदर्श बिलकुल स्वार्थ- होने चाहिए ताकि हम अपने जीवन में उन तक पहुँचने की कोशिश करते ।

हम सब सफलता चाहते हैं और अपने कर्मों का फल देखना चाहते हैं। यह भाविक ही है। लेकिन हमारा लक्ष्य क्या है? क्या हमें सिर्फ़ अपनी ही फ़िक्र ती चाहिए, या सार्वजनिक हित की—यानी देश, समाज और मनुष्य-जाति भलाई की? आख़िर इस सार्वजनिक हित में ही हमारी अपनी भलाई भी मेल है। मेरा ख़याल है कि कुछ दिन हुए मैंने अपने एक पत्र में संस्कृत के एक क का ज़िक्र किया था। इसका मतलब यह था कि व्यक्ति को कुटुम्ब के र, कुटुम्ब को जाति के लिए और जाति को देश के लिए क़ुर्बान कर देना हिए। यहाँ मैं संस्कृत के एक और श्लोक का भी अर्थ तुमको बताना चाहता जो भागवत में आया है। उसका अर्थ यह है—

> "मुझे न तो अष्टसिद्धियों[1] के साथ स्वर्ग की इच्छा है और न जन्म और मृत्यु से छुटकारा पाकर मोक्ष पाने की ही कामना है। मेरी इच्छा तो यह है कि दुःखी जनों के दिलों में पैठ जाऊँ और उनका दुःख-दर्द अपने ऊपर ले लूँ, जिससे वे पीड़ा से मुक्त हो जायँ।"[2]

---

[1] सिद्धियाँ—आठ प्रकार की होती हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

[2] इस सम्बन्ध में भागवत के ये श्लोक ध्यान में रखने योग्य हैं—

कोनु सस्य दुपायोऽत्र येनाहम् दुःखितात्मनाम्
अन्तःप्रविश्य भूतानां भवेयं दुःखभाक् सदा।
अपहृत्यार्त्तिमार्तानाम् सुखं यदुपजायते
तस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा कलां नाऽर्हति षोडशीम्। —च्यवन ऋषि

× × ×

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्ता म् प्राणिनामार्तिनाशनम्। —रन्तिदेव

एक मज़हबवाला एक बात कहता है, दूसरे मज़हबवाला दूसरी। बहुत करके हरेक दूसरे को मूर्ख या धूर्त समझता है। इनमें सच्चा कौन है? ये लोग ऐसी चीज़ों की बात करते हैं, जो न आँख से देखी जा सकती हैं औ सिद्ध की जा सकती हैं, इसलिए दलीलों से ऐसे मामलों को तय करना मु हो जाता है। दोनों के लिए यह हिमाक़त मालूम होती है कि ऐसे मामलों पर बातें करें और उनपर एक-दूसरे का सिर फोड़ें। हममें से ज्यादातर तंग विचा होते हैं और ज्यादा बुद्धिमान् नहीं होते। तब हम यह सोचने का साहस कैसे सकते हैं कि हमें सारे सत्य का ज्ञान है और उसे हम अपने पड़ोसी के गले में दंस्ती उतार सकते हैं? सम्भव है कि हम सचाई पर हों, और यह भी सम्भव है हमारा पड़ोसी भी सचाई पर हो। अगर तुम किसी पेड़ पर एक फूल देखो, तो फूल को तो पेड़ नहीं कहोगी। उसी तरह दूसरे आदमी ने उस दूसरे पेड़ की प ही देखीं और तीसरे ने सिर्फ़ उसका तना ही देखा; तो हरेक ने उस पेड़ का सिर्फ़ एक हिस्सा ही देखा है। लेकिन उनमें से हरेक के लिए यह कितनी बेवक़ूफ़ी की होगी, कि वह यह दावा करने लगे कि सिर्फ़ फूल, पत्ती या तना ही पेड़ है, और बात पर लड़ने लगें!

मुझे तो परलोक में कोई दिलचस्पी नहीं है। मेरा दिमाग़ तो इन बा भरा हुआ है कि मैं इस दुनिया में क्या करूँ। और अगर इसमें मुझे अपना र साफ़ दिखाई दे जाय तो मेरे लिए काफ़ी है। अगर इस लोक में मुझे अपना क साफ़-साफ़ दीख जाता है, तो मुझे किसी दूसरे लोक की बिलकुल चिन्ता नहीं

ज्यों-ज्यों तुम बड़ी होती जाओगी, तुम्हें हर तरह के लोग मिलेंगे; धर्म लोग, धर्म का विरोध करनेवाले लोग और ऐसे लोग जिन्हें न धर्म की प है और न अधर्म की। बड़े-बड़े गिरजे और धार्मिक संस्थाएँ पड़ी हैं, जिनके प बहुत धन और शक्ति है? वे उनका कभी अच्छा उपयोग करते हैं और कभी बु तुम्हें बहुत नेक और उदार व्यक्ति मिलेंगे जो धर्मात्मा हैं और ऐसे धूर्त और माश मिलेंगे जो धर्म की आड़ में लोगों को लूटते हैं और धोखा देते हैं। इन सब बातों पर खुद सोचना होगा और अपने लिए खुद ही निर्णय करना हो आदमी दूसरों से बहुत-कुछ सीख सकता है, लेकिन हर ज़रूरी बात उसे अप खोज और अपने ही अनुभव से प्राप्त करनी पड़ती है। कुछ सवाल ऐसे हैं उत्तर हर स्त्री-पुरुष को खुद अपने ही आप तलाश करने पड़ते हैं।

लेकिन निर्णय करने में जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। किसी भी बड़े महत्वपूर्ण निश्चय पर पहुँचने से पहले तुम्हें अपने-आपको अभ्यास और शिक्षा ज़रिये इस योग्य बनाना होगा। यह ठीक है कि आदमी को खुद ही सोचना चा और निश्चय करना चाहिए; लेकिन इसके लिए उसमें उतनी ही योग्यता

ी चाहिए। तुम किसी दुधमुँहे बच्चे से किसी बात का निर्णय करने के लिए ी नहीं कहोगी ! इसी तरह बहुत-से आदमी ऐसे हैं जो उम्र में तो बड़े हो गये लेकिन जहाँतक उनके मानसिक विकास का सवाल है वे क़रीब-क़रीब दुधमुँहे च्चों के समान हैं।

मेरा पत्र आज साधारण से कुछ ज्यादा लम्बा हो गया। सम्भव है, तुम्हें नीरस लगे। लेकिन इस विषय में मैं कुछ कहना ही चाहता था। अगर आज ई बात तुम्हारी समझ में न आये तो कोई बात नहीं, जल्दी ही तुम सब बातें झने लगोगी।

: १५ :

ईरान और यूनान

२१ जनवरी, १९३१

आज तुम्हारा पत्र आया और यह जानकर ख़ुशी हुई कि मम्मी और तुम च्छी तरह हो। मैं मनाता हूँ कि दादू का बुख़ार उतर जाय और उनकी परे-नियाँ दूर हो जायँ। उन्होंने सारी ज़िन्दगी बहुत कड़ी मेहनत की है और आज उन्हें आराम और शान्ति नहीं मिल पाती है।

मालूम होता है, तुमने पुस्तकालय से लेकर कई पुस्तकें पढ़ डाली हैं और हती हो कि मैं दो-चार नाम और सुझा दूँ। लेकिन तुमने यह नहीं बताया कि ने कौन-कौन-सी पुस्तकें पढ़ी हैं। पढ़ने की आदत बहुत अच्छी है, लेकिन जो ग बहुत-सी पुस्तकें जल्द-जल्द पढ़ डालते हैं उन्हें मैं ज़रा सन्देह की नज़र से खता हूँ। मुझे शक होने लगता है कि ये लोग पुस्तकें ठीक तौर से नहीं पढ़ते। फ़ उन पर सरसरी नज़र डाल जाते हैं और फिर दूसरे दिन सब कुछ भूल जाते । अगर कोई पुस्तक पढ़ने के योग्य है तो उसे सावधानी से और अच्छी तरह ी-पूरी पढ़नी चाहिए। लेकिन बहुत-सी पुस्तकें ऐसी हैं जो पढ़ने के लायक ही ीं हैं। अच्छी पुस्तकों का चुनना कोई आसान काम नहीं है। तुम कह सकती कि तुमने जब हमारी अपनी लाइब्रेरी से पुस्तकें चुनी हैं तो वे ज़रूर अच्छी गी, वरना हम उन्हें मँगाते ही क्यों ? ख़ैर, अभी तो पढ़ती रहो। नैनी-जेल से कुछ मदद मैं कर सकता हूँ, करता रहूँगा। कभी-कभी मैं यह सोचता हूँ कि हारा शारीरिक और मानसिक विकास कितनी तेज़ी के साथ हो रहा है। मेरी तनी इच्छा है कि मैं तुम्हारे पास होता ! शायद जबतक ये चिट्ठियाँ तुम्हारे प तक पहुँचेंगी, तुम इतनी आगे बढ़ जाओगी कि तुम्हें इनकी ज़रूरत ही न रहे। समझता हूँ कि उस वक़्त तक चाँद[1] इनको पढ़ने के योग्य हो जायगी और इस

---

[1] इन्दिरा की छोटी फुफेरी बहन चन्द्रलेखा पण्डित।

ईरानी और यूनानी राज्य

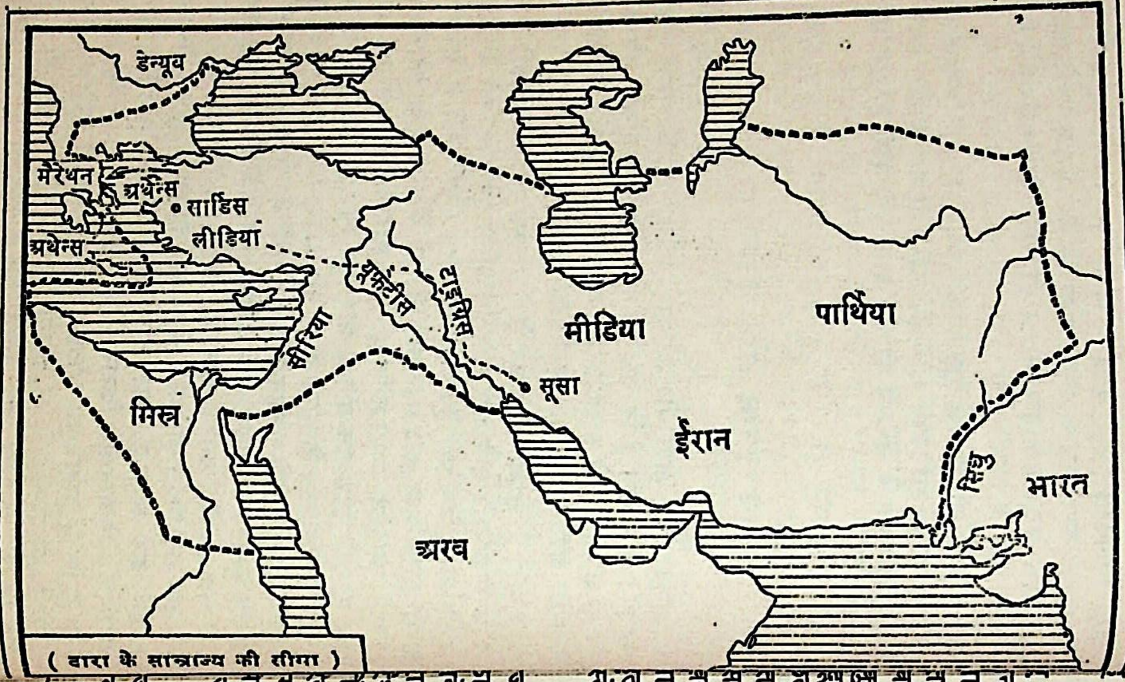
डेन्यूब
मैरेथन
अथेन्स
सार्डिस
लीडिया
अथेन्स
यूफ्रेटीस
टाइग्रिस
सीरिया
मीडिया
पार्थिया
सूसा
मिस्र
ईरान
सिंधु
भारत
अरब
(दारा के साम्राज्य की सीमा)

कोई-न-कोई तो ऐसा रहेगा ही जो इनकी क़द्र करे।

आओ, अब हम प्राचीन ईरान और यूनान को लौट चलें और थोड़ी देर के उनकी आपस की लड़ाइयों पर विचार करें। अपने पिछले एक पत्र में हमने न के नगर-राज्यों और ईरान के उस बड़े साम्राज्य का ज़िक्र किया था, जिसके ाट् दारा को यूनानी लोग दारयवहु (डेरियस) कहते हैं। दारा का यह साम्राज्य न बड़ा था—ख़ाली विस्तार में ही नहीं बल्कि संगठन में भी। ठेठ एशिया चक से लगाकर सिन्ध नदी तक यह फैला हुआ था। मिस्र और एशिया कोचक कुछ यूनानी शहर भी इसमें शामिल थे। इस लम्बे-चौड़े साम्राज्य में एक छोर दूसरे छोर तक अच्छी-अच्छी सड़कें बनी हुई थीं, जिनपर शाही डाक बराबर ती रहती थी। दारा ने किसी-न-किसी वजह से यूनान के नगर-राज्यों को तने का निश्चय किया और इस महायुद्ध की कई लड़ाइयाँ इतिहास में बहुत सिद्ध हैं। इन लड़ाइयों का जो कुछ वर्णन हमें मिलता है, वह यूनान के इतिहास-खक हिरोदोत का लिखा हुआ है। वह इन घटनाओं के थोड़े ही दिन बाद पैदा ा था। उसने यूनानियों के साथ पक्षपात ज़रूर किया है, लेकिन उसका विवरण त दिलचस्प है और इन पत्रों में मैं तुम्हारे लिए उसके लिखे इतिहास के कुछ स्से ज़रूर देना चाहूँगा।

यूनान पर ईरानियों का पहला हमला असफल रहा, क्योंकि ईरानियों की ज को, कूच के रास्ते में बीमारी और रसद की कमी की वजह से बहुत-सी मुसीबतें ानी पड़ीं। वह यूनान तक पहुँच भी न सकी और उसे वापस लौट आना पड़ा। के बाद ईसा से ४९० वर्ष पहले ईरानियों का दूसरा हमला हुआ। इस बार ानी सेना ख़ुश्की का रास्ता छोड़कर समुद्री रास्ते से आई और एथेन्स के नज़दीक थन पर उसने अपना लंगर डाल दिया। एथेन्स के निवासी इससे बहुत घबरा गये, ोंकि ईरानी साम्राज्य की ताक़त उन दिनों बहुत ज़्यादा बढ़ी-चढ़ी थी। उन्होंने कर अपने पुराने दुश्मन स्पार्तावालों से सुलह करनी चाही और दोनों के मन के विरुद्ध उनसे मदद माँगी। लेकिन स्पार्तावालों के पहुँचने के पहले ही न्सवालों ने ईरानी सेना को मार भगाया। यही मैरैथन की प्रसिद्ध लड़ाई जो कि ईसा से ४९० वर्ष पहले हुई थी।

यह एक अजीब-सी बात मालूम होती है कि एक छोटा-सा यूनानी नगर-ज्य एक बड़े साम्राज्य की सेना को हरा दे। लेकिन यह जितनी आश्चर्यजनक लूम पड़ती है उतनी है नहीं। यूनानी लोग जहाँ अपने घर के निकट अपने वतन लिए लड़ रहे थे, वहाँ ईरानी सेना अपने वतन से बहुत दूर थी और फिर वह म्राज्य-भर के दूर-दूर के हिस्सों के सैनिकों से बनी हुई थी। वे लोग लड़ते ज़रूर लेकिन इसलिए कि उन्हें तनख़्वाहें मिलती थीं। यूनान को जीतने में उनको

कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं थी। दूसरी तरफ़ एथेन्सवाले अपनी आज़ादी के लड़ रहे थे। उन्हें अपनी आज़ादी खो देने से मर जाना कहीं ज्यादा पसन्द था। जो लोग किसी उद्देश्य के लिए मरने को तैयार रहते हैं, वे शायद ही कभी जा सकते हैं।

इस तरह दारा मैरैथन में हार गया। इसके बाद ईरान पहुँचने पर व गया और उसकी जगह अहस्युर तख़्त पर बैठा। उसे भी यूनान फ़तह कर धुन सवार थी और उसने वह भेजने के लिए एक सेना तैयार की। यहां मैं हिरोदोत का बयान किया हुआ दिलचस्प हाल सुनाऊँगा।

अर्तबानुस अहस्युर का चाचा था। उसका ख़याल था कि ईरानी सेन यूनान ले जाने में ख़तरा है, इसलिए उसने अपने भतीजे अहस्युर को यह सम की कोशिश की कि वह यूनान से लड़ाई न छेड़े। हिरोदोत का कहना है अहस्युर ने उसे नीचे लिखा जवाब दिया—

"जो कुछ आप कहते हैं उसमें कुछ सचाई तो है, लेकिन आपको हर ख़तरे का डर न करना चाहिए और न हरेक जोखिम का ख़याल ही करना चा अगर हर हालत में आप हरेक बात को एक ही तराज़ू से तौलेंगे तो कुछ भी न पावेंगे। भावी आशंकाओं में डूबे रहने और कभी कोई तकलीफ़ न उठाने बजाय आशावादी होकर आधी आपदाओं को सह लेना कहीं अच्छा है। पेश की गई हर तजवीज़ पर एतराज़ तो करेंगे, लेकिन यह न बतलायेंगे कि सा रास्ता अपनाना चाहिए, तो आपको उतना ही ज्यादा नुकसान उ होगा, जितना कि उन लोगों को, जिनका आप विरोध कर रहे हैं। तराज़ू के पलड़े बराबर हैं। कोई मानव निश्चयपूर्वक यह कैसे जान सकता है कि कौन पलड़ा झुकेगा? वह नहीं जान सकता। लेकिन सफलता आमतौर पर लोगों के साथ रहती है जो कुछ कर दिखाना चाहते हैं; उनके साथ नहीं जो डर होते हैं और हर बात को तौलते हैं। ईरान की सल्तनत कितनी बड़ी और ताक़ हो गई है यह आप देखते हैं। अगर राजगद्दी पर मेरे पूर्वाधिकारी आप ही राय के होते या उस राय को न मानते हुए भी आप जैसे उनके सलाहकार होते आज हमारी सल्तनत को आप इतनी बढ़ी-चढ़ी कभी न देख पाते। जोख़िम में उठ ही उन लोगों ने हम लोगों की आज यह शान बना दी है। बड़ी चीज़ बड़े उठाकर ही हासिल की जा सकती है।"

मैंने यह लम्बा उद्धरण इसलिए दिया है कि उससे इस ईरानी बाद का चरित्र जितना स्पष्ट हमारे सामने आ जाता है, उतना किसी दूसरे वर्णन से न लेकिन बाद की घटनाओं ने अर्तबानुस की सलाह ठीक सिद्ध कर दी और ई सेना यूनान में हार गई। अहस्युर हार ज़रूर गया, लेकिन उसके शब्दों में

ाई थी उसकी गूंज अभी तक सुनाई देती है और उससे हम सबको शिक्षा लती है। आज जब हम बड़ी-बड़ी चीज़ें प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं तो ं यह याद रखना चाहिए कि अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए हमको भी बड़े-ड़े खतरों के बीच से गुज़रना पड़ेगा।

शहंशाह अहस्युर अपनी बड़ी सेना लेकर एशिया-कोचक पार कर गया और ें-दानियाल से, जो उस वक़्त हैलैस्पोण्ट कहलाता था, उतरकर यूरोप पहुँचा। हते हैं, रास्ते में अहस्युर त्राय नगर के उन खण्डहरों को देखने गया था, जहाँ यूनान शूरवीरों ने पुराने ज़माने में हेलन के लिए लड़ाई लड़ी थी। फ़ौज को स पार भेजने के लिए दर्रे-दानियाल के ऊपर एक बड़ा पुल बनाया गया और ब ईरान की सेना पार उतर रही थी तो पास की एक पहाड़ी की चोटी पर मरमर के तख़्त पर बैठकर अहस्युर ने उसपर नज़र डाली।

"और", हिरोदोत ने लिखा है, "सारे दर्रे को जहाज़ों से भरा हुआ देखकर र एबीदोस के समुद्री किनारों और मैदानों को आदमियों से खचाखच भरा कर पहले तो अहस्युर ने अपने को धन्य माना और फिर वह रोने लगा। उसके चा अर्तबानुस ने, जिसने कि पहले यूनानियों पर चढ़ाई करने का खुला विरोध या था, जब अहस्युर को रोता हुआ देखा तो उसने पूछा, 'बादशाह, तू जो कुछ भी कर रहा है और जो कुछ कर चुका, इन दोनों में कितना फ़र्क़ है! अभी तो ने अपने को धन्य माना था और अब तू आंसू गिरा रहा है।' अहस्युर ने जवाब या, 'तुम्हारा कहना ठीक है, लेकिन जब मैं हिसाब लगा चुका तो, यह देखकर इस भारी भीड़ में से सौ साल के बाद एक भी ज़िन्दा न रहेगा, मेरा हृदय इस चार पर करुणा से भर गया कि इन्सान की ज़िन्दगी कितनी थोड़े दिनों की ती है'।"

इस तरह यह बड़ी सेना खुश्की के रास्ते आगे बढ़ी और जहाज़ी बेड़ा समुद्र रास्ते इसके साथ-साथ चला। लेकिन समुद्र ने यूनानियों का साथ दिया और क बड़े तूफ़ान ने ईरानियों के बहुत-से जहाज़ नष्ट कर दिये। यूनानी लोग ईरान बड़ी भारी फ़ौज देखकर डर गये थे; इसलिए उन्होंने फ़ौरन अपने आपसी गड़ों को भुला दिया और हमला करनेवालों के विरुद्ध एक हो गये। यूनानी ग पीछे हटते गये और थर्मापोली नामक जगह पर उन्होंने ईरानियों को रोकने कोशिश की। थर्मापोली एक बहुत तंग रास्ता था, उसके एक तरफ़ पहाड़ था र दूसरी तरफ़ समुद्र, जिससे यहाँ थोड़े-से आदमी भी दुश्मन की बड़ी फ़ौज मोरचा ले सकते थे। तीन सौ स्पार्ता-निवासियों के साथ लियोनीद को मरते दम क इस दर्रे की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया। मैरैथन की लड़ाई से ठीक वर्ष बाद, भाग्य-निर्णय के इस दिन, इन वीरों ने अपने देश की बड़ी खूबी से

सेवा की। उन्होंने ईरानियों की फ़ौज को रोक दिया और यूनान की वाक़ी से हटती गई। इस तंग घाटी में एक के बाद दूसरा योद्धा काम आता था, लेकि ही एक मरता कि दूसरा उसकी जगह ले लेता था। इस तरह ईरानी से नहीं वढ़ सकी। लियोनीद और उसके तीन सौ साथी जब एक-एक थर्मापोली में काम आ चुके तब कहीं ईरानी सेना आगे वढ़ पाई। यह वात ४८० वर्ष पूर्व की है। यानी आज से २४१० वर्ष पहले की। मगर आज लोगों के अदम्य साहस की याद से हृदय में बिजली की-सी लहर दौड़ जा आज भी थर्मापोली की यात्रा करनेवाले डबडवाती हुई आँखों से लि और उसके साथियों के सन्देश को पत्थर पर खुदा हुआ पढ़ सकते हैं। सन्दे है—

> "ओ राहगीर! स्पार्ता को जाकर वताना कि उसकी आ का पालन करनेवाले हम लोगों ने यहाँ अपने प्राण दे दिये।"[1]

मौत पर विजय पानेवाली हिम्मत अद्भुत होती है! लियोनी थर्मापोली अमर हो गये, और उससे दूर भारत में भी जब हम लोग इन करते हैं तो रोमांच हो आता है। तब फिर यह कहना कठिन है कि हमार नाएँ अपने उन देशवासियों, अपने पूर्वजों यानी भारत के उन नर-नारि प्रति क्या हैं जिनसे हमारा लम्वा इतिहास भरा पड़ा है कि जिन्होंने मु हुए मौत का सामना किया और उसकी खिल्ली उड़ाई; मौत को अपमा गुलामी से ज्यादा अच्छा समझा और ज़ुल्म के सामने सिर झुकाने के वजाय मिटाने के प्रयत्न में मर जाना ज्यादा अच्छा माना। चित्तौड़ और उसकी कहानी का, राजपूत वीरों और वीरांगनाओं की आश्चर्यजनक बहादुरी क विचार तो करो! फिर आजकल के ज़माने पर भी नज़र डालो और ह साथियों का विचार करो जिनका खून हमारे खून की ही तरह गर्म है और भारत की आज़ादी के लिए मौत का सामना करने से भी मुँह नहीं मोड़ा है

थर्मापोली ने ईरानी सेना को थोड़ी देर के लिए रोक ज़रूर लिया, बहुत दिन तक नहीं। यूनानी लोग ईरानी सेना के मुक़ाबले में पीछे हटते कुछ यूनानी शहरों ने उनके आगे हथियार भी डाल दिये? लेकिन गर्वीले वासियों ने आत्म-समर्पण के वजाय यह ठीक समझा कि अपने प्यारे श बरवाद होने के लिए छोड़कर वहाँ से चले जायँ। इसलिए सारी जनता श खाली करके चली गई और ज्यादातर लोग जहाज़ों में बैठकर गये। ईरानि ने इस उजड़े हुए नगर में घुस कर उसे आग लगा दी। मगर यूनानी

---

[1] "Go tell to Sparta thou that passest by,
That here obedient to their words we lie"

मी तक हारी नहीं थी। इसलिए 'सैलेमिस'[1] टापू के पास वहुत वड़ी लड़ाई हुई। रानी जहाज़ नष्ट कर दिये गए और इस तवाही से विलकुल हिम्मत हारकर हस्युर ईरान वापस लौट गया।

ईरान इसके वाद भी कुछ दिनों तक एक वड़ा साम्राज्य वना रहा। लेकिन रैथन और सैलेमिस की लड़ाई के वाद उसके पतन की शुरूआत हो गई थी। ह कैसे नष्ट हुआ, इस पर हम फिर विचार करेंगे। उस ज़माने में जो लोग रहे ोंगे, उन्हें इस वड़े साम्राज्य को लड़खड़ाकर गिरते देखकर ज़रूर ताज्जुब हुआ ोगा। हिरोदोत ने इस पर विचार किया और उससे एक नसीहत निकाली। सका कहना है कि किसी भी राष्ट्र के इतिहास की तीन मंज़िलें होती हैं: पहले फलता; फिर उस सफलता के फलस्वरूप अन्याय और उद्दण्डता; और अन्त में न वुराइयों के फलस्वरूप पतन।

: १६ :

यूनान का वैभव

२३ जनवरी, १९३१

ईरानियों पर यूनानियों की विजय के दो परिणाम हुए। ईरानी साम्राज्य धीरे-धीरे गिरने लगा और कमज़ोर होता गया। दूसरी तरफ़ यूनानी लोगों ने अपने इतिहास के शानदार युग में क़दम रक्खा। राष्ट्र के जीवन में यह शान वहुत थोड़े दिन तक ही रही। कुल मिलाकर २०० वर्ष से ज्यादा नहीं ठहरी। उसका यह वैभव ईरान के या उसके पहले के दूसरे विशाल साम्राज्यों के जैसी नहीं था। वाद में महान् सिकन्दर पैदा हुआ और उसने कुछ दिनों के लिए अपनी देश-विजयों से दुनिया को आश्चर्य में डाल दिया। लेकिन इस समय हम उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं। हम तो ईरान की लड़ाइयों और सिकन्दर के आगमन के वीच के ज़माने का ज़िक्र कर रहे हैं—उस ज़माने का, जो थर्मापोली और सैलेमिस के वाद १५० वर्ष तक रहा।

ईरान के खतरे ने सारे यूनानियों को एक कर दिया था। लेकिन जव यह खतरा हट गया तो उनमें फिर फूट पैदा हो गई और वे कुछ ही दिनों वाद आपस में झगड़ने लगे। खासकर एथेन्स और स्पार्टा के नगर-राज्य एक-दूसरे के घोर प्रतिद्वन्द्वी थे। लेकिन हम उनके झगड़ों की चर्चा की झंझट में नहीं पड़ेंगे। उनका

---

[1] सैलेमिस—यूनान का प्रसिद्ध टापू। ५८० ई० पूर्व में इसके पास यूनानी और ईरानी जल-सेना की प्रसिद्ध लड़ाई हुई थी।

कोई महत्व नहीं है। हम सिर्फ़ इसलिए उनकी याद करते हैं कि उन दिनों बातों में यूनान की महानता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी।

यूनान के उस ज़माने से सम्बन्ध रखनेवाली सिर्फ़ थोड़ी-सी पुस्त मूर्तियाँ और कुछ खण्डहर ही अब हमें मिलते हैं। लेकिन ये थोड़ी-सी चीज़ें हैं कि उन्हें देखकर हमारा दिल प्रशंसा से भर जाता है और यूनानी अनेकांगी महानता पर हम ताज्जुब करने लगते हैं। इन सुन्दर मूर्ति इमारतों को बनानेवाले इनके दिमाग़ कितने धनी और हाथ कितने रहे होंगे। फीदियास उस ज़माने का मशहूर मूर्त्तिकार था, लेकिन और भी बहुत-से थे। इनके दुःखान्त और सुखान्त नाटक, अभी ढंग के सबसे उत्तम नाटकों में गिने जाते हैं। इस वक़्त तो तुम्हारे सोफोक्ले,[1] एस्किल,[2] यूरिपिदे,[3] एरिस्तोफ़ेन,[4] मैनेन्दर,[5]

---

[1] सोफ़ोक्ले—यूनान का प्रसिद्ध दुःखान्त नाटककार और कवि। समय ४९५ से ४०५ ई० पू० है। ४६८ ई० पू० में इसने अपने प्रतिद्वन्द्वी को हराकर इनाम पाया। तब से ४९१ ई० पू० तक वह यूनान का सम्राट् रहा।

[2] एस्किल—एक प्रसिद्ध यूनानी नाटककार। इसका जन्म ईसा से साल पहले हुआ था। मैरैथन, सैलेमिस और लिटिपो की लड़ाइयों में इसने लिया और दो बार इसे अपने दो नाटकों पर, दुःखान्त नाटक पर दिया सर्वोत्तम पुरस्कार मिला। कहा जाता है कि इसने कुल ७० दुःखान्त नाटक जिनमें ७ अब भी मौजूद हैं। क़रीब ७० बरस की उम्र में उसकी मृत्यु

[3] यूरिपिदे—यूनान का प्रसिद्ध दुःखान्त नाटककार और कवि। इस ईसा से ४८० वर्ष पूर्व हुआ था। यह नाटकों में आदर्श के बजाय वास्तवि वर्णन पर ज़ोर देता था। इसे अपने नाटकों पर इनाम मिला था। इसकी बड़ी अच्छी है। यह उस समय के धर्म का मज़ाक उड़ाया करता था।

[4] एरिस्तोफ़ेन—यह एथेन्स का प्रसिद्ध हँसोड़ कवि और नाटकका इसका समय क़रीब ४४५ से ३८० ईसा से पहले तक का है। इसके सुखान्त से उस ज़माने की बहुत-सी बातों का पता चलता है और इसके शाब्दिक व्यं से उस समय के प्रधान व्यक्तियों का व्यक्तित्व आँखों के सामने खिंच जात

[5] मैनेन्दर—यूनान के एथेन्स नगर-राज्य का सुखान्त नाटकों का नाटककार और कवि। ई० पू० ३४२ में इसका जन्म हुआ और २९१ में पाइरियस के बन्दरगाह के पास के समुद्र में तैरता हुआ डूब गया।

[6] पिन्दार—यूनान के गीत-काव्य का सर्वोत्तम कवि। क़रीब ई० पू०

ो,[1] और कुछ दूसरों के सिर्फ़ नाम ही दिये जा सकते हैं। लेकिन बड़ी पर तुम उनकी रचनाएँ पढ़ोगी और मुझे आशा है कि तब तुम उस वैभव जो उस समय यूनान का था, कुछ अन्दाज़ लगा सकोगी।

यूनानी इतिहास का यह काल हमें यह चेतावनी देता है कि किसी देश के हास को हमें किस तरह पढ़ना चाहिए। अगर हम यूनानी राज्यों में होनेवाली ची लड़ाइयों और ओछेपन की दूसरी बातों पर ही ध्यान देते रहें तो हमें यूनानियों बारे में क्या मालूम हो सकता है? अगर हम उनको समझना चाहते हैं, तो हमें के विचारों की तह तक पहुँचना पड़ेगा और समझना होगा कि वे क्या महसूस ते थे और उन्होंने क्या-क्या किया है? असली महत्व की चीज़ तो किसी देश आन्तरिक इतिहास होता है और यही वह चीज़ है, जिसने मौजूदा यूरोप को त-सी बातों में पुरानी यूनानी संस्कृति की सन्तान बना दिया है।

यह बात भी अजीब और दिल को लुभानेवाली है कि किस तरह ट्रों की ज़िन्दगी में ऐसे शानदार युग आते हैं और चले जाते हैं। थोड़ी देर के ए वे हरेक चीज़ को चमका देते हैं और उस ज़माने और उस देश के पुरुषों और यों में कलापूर्ण वस्तुएँ रचने की योग्यता पैदा कर देते हैं। लोगों में नई प्रेरणा- दिखाई देने लगती है। हमारे देश में भी ऐसे युग हुए हैं। हमारे यहाँ इस तरह सबसे पुराना युग, हमारी जानकारी में वह था, जब वेदों, उपनिषदों और दूसरे थों की रचना हुई। दुर्भाग्य से हमारे पास उस प्राचीन काल का कोई लिखित हास नहीं है। सम्भव है, बहुत-सी सुन्दर और महान् रचनाएँ नष्ट हो गई या खोजकर निकाले जाने की राह देख रही हों। लेकिन फिर भी हमारे पास बतलाने-योग्य काफ़ी सामग्री है, कि उस पुराने ज़माने के भारतवासी बुद्धि र विचार के कितने धनी थे। बाद के भारतीय इतिहास में भी ऐसे ही शान- युग पाये जाते हैं और सम्भव है युग-युगान्तर में घूमते-घामते हमारी से भी भेंट हो जाय।

एथेन्स उस ज़माने में ख़ास तौर से मशहूर हो गया था। उसका नेता एक न् राजनीतिज्ञ था। इसका नाम पैरिक्ले था और यह ३० वर्ष तक एथेन्स में मत करता रहा। उस ज़माने में एथेन्स बहुत शानदार शहर बन गया था। र-सुन्दर इमारतों से वह भरपूर था और बड़े-बड़े कलाकार और विचारक

इसका जन्म हुआ था। यूनानी राष्ट्रों और राजाओं में इसकी कविता की बड़ी ा रहती थी। इसकी इपिस्सिया नामक कविता ही अब बाक़ी बची है, जो चार दों में है।

[1] सैफ़ो—यूनान की प्रसिद्ध कवियित्री। यह ई० पू० ५८० में हुई। कविता, न और प्रेम की यह अपने समय की रानी थी।

वहाँ रहते थे। आज भी वह पैरिक्ले का एथेन्स कहा जाता है और हम
युग की बात किया करते हैं।

हमारे इतिहासकार मित्र हिरोदोत ने, जो इन्हीं दिनों एथेन्स में
एथेन्स की इस उन्नति पर ग़ौर किया था और चूँकि उसे नसीहत देने
था, इसलिए उसने इसमें से एक नसीहत निकाली। अपने इतिहास
लिखता है—

“एथेन्स की शक्ति बढ़ी और यह इस बात का प्रमाण है—और ऐसे
सब जगह मिल सकते हैं—कि स्वतन्त्रता एक अच्छी चीज है। जबतक
वासियों पर निरंकुश शासन होता था, वे युद्ध में अपने किसी भी पड़ौसी
नहीं दे सके। लेकिन जब उन्होंने अपने यहाँ के निरंकुश शासक को
डाला, तब उन्होंने अपने पड़ौसियों को मात दे दी। इससे जाहिर होता
अधीनता में वे मन लगाकर कोशिश नहीं करते थे, बल्कि मालिक
करते थे। लेकिन जब वे आज़ाद हो गये तो हरेक व्यक्ति अपने-आप बड़ी
के साथ भरसक काम करने लगा।”

मैंने उस समय के कुछ महान् व्यक्तियों के नाम गिनाये हैं। लेकिन
अभी तक वह नाम नहीं बताया, जो उस युग के ही नहीं, बल्कि किसी भी
सबसे महान् व्यक्तियों की गिनती में आता है। उसका नाम है सुकरात[1]
तत्वज्ञानी था और हमेशा सत्य की खोज में लगा रहता था। उसके लिए
ज्ञान ही ऐसी चीज़ थी, जिसे वह प्राप्त करने योग्य समझता था। वह अपने
और जान-पहचान के लोगों से अक्सर कठिन समस्याओं पर चर्चाएँ किया
था, ताकि वाद-विवाद में शायद कोई सचाई निकल आये। उसके कई
थे, जिनमें सबसे बड़ा अफ़लातून[2] था। अफ़लातून ने कई ग्रन्थ लिखे हैं,

---

[1] सुकरात—इसे सॉक्रेटीज भी कहते हैं। यह यूनान देश के एथेन्स
राज्य का मशहूर वेदान्ती था। इसका जन्म ई० पू० ४७९ में हुआ था।
३९९ में उसपर नौजवानों को बिगाड़ने और दूसरे देवताओं में विश्वास
जुर्म लगाया गया। लेकिन यह तो बहाना था, असली कारण तो राजनीति
उसे मौत की सज़ा दी गई, और जहर का प्याला उसके पास भेजा गया,
खुशी से पी गया। आखिरी दम तक वह अफ़लातून और अपने दूसरे
आत्मा की अमरता की चर्चा करता रहा। वह बड़ा विद्वान् था।

[2] अफ़लातून या प्लेटो—सुकरात का भक्त और शिष्य था।
पू० ४२७ में पैदा हुआ था और ई० पू० ३४७ में मर गया। उसने एथेन्स
विद्यालय स्थापित किया था जहाँ दर्शन और अध्यात्म की शिक्षा दी
उसने राजनीति पर कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें ‘रिपब्लिक’ बहुत

मिलते हैं। इन्हीं ग्रन्थों से हमें उसके गुरु सुकरात का बहुत-कुछ हाल मालूम ता है। यह तो साफ़ है कि सरकारें ऐसे आदमियों को पसन्द नहीं किया करतीं, हमेशा नई-नई खोजों में लगे रहते हों—वे सत्य की तलाश पसन्द नहीं करतीं। थेन्स की सरकार को—यह पेरिक्ले के जमाने में थोड़े दिन बाद की बात है—क़रात का रंग-ढंग पसन्द नहीं आया। उसने सुकरात पर मुक़दमा चलाया र उसे मौत की सज़ा दे दी गई। सरकार ने उससे कहा कि अगर वह लोगों से द-विवाद करना छोड़ दे और अपना तरीक़ा बदल दे तो उसे छोड़ दिया यगा। लेकिन सुकरात ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और जिस बात को ना कर्त्तव्य समझता था, उसे छोड़ने के बजाय उसने ज़हर के प्याले को अच्छा झा, जिसे पीकर वह मर गया। मरते समय उसने अपने ऊपर अभियोग लगाने-लों, न्यायाधीशों और एथेन्सवासियों को सम्बोधित करते हुए कहा—

"अगर आप लोग मुझे इस शर्त पर रिहा करना चाहते हों कि मैं सत्य की नी खोज को छोड़ दूं, तो मैं कहूँगा कि ऐ एथेन्सवासियों! मैं आप लोगों को यवाद देता हूँ, पर मैं आपकी बात मानने के बजाय ईश्वर का हुक्म मानूंगा, सने, जैसा कि मेरा विश्वास है, मुझे यह काम सौंपा है, और जबतक मेरे दम-दम है, मैं अपनी दार्शनिक लगन को नहीं छोड़ूंगा। मैं अपना यह व्यवहार बराबर री रक्खूंगा कि जो कोई मुझे मिलेगा, उसे रोककर मैं यही पूछूंगा—'क्या हें इस बात में शर्म नहीं लगती कि तुमने अपना मन धन और प्रतिष्ठा के पीछे गा रक्खा है और ज्ञान या सत्य की या अपनी आत्मा को सुधारने की तुम्हें कोई न्ता नहीं है?' मैं नहीं जानता कि मौत क्या चीज़ है। वह अच्छी चीज़ हो सकती पर मैं उससे नहीं डरता। लेकिन मैं यह अच्छी तरह जानता हूं कि अपनी ज़िम्मे-री की जगह छोड़कर भाग जाना बुरा काम है। और इसलिए मैं जिस चीज़ को मानता हूं, उससे उस चीज़ को ज्यादा पसन्द करता हूं, जो अच्छी हो।"

अपने जीवन में सुकरात ने सत्य और ज्ञान के पक्ष का समर्थन किया। लेकिन नी मौत के द्वारा उसने और भी अच्छी तरह यह काम कर दिखाया।

आजकल तुम अक्सर समाजवाद और पूंजीवाद और अनेक दूसरी समस्याओं बारे में होनेवाली चर्चाओं और विवादों को पढ़ा या सुना करती होगी। दुनिया बहुत मुसीबतें और अन्याय पाये जाते हैं। बहुत-से लोग इस दशा से पूरी तरह तुष्ट हैं और इसे बदलना चाहते हैं। अफ़लातून ने भी शासन-सम्बन्धी सम-ओं पर विचार किया था और इस विषय पर उसने लिखा भी है। इस प्रकार ज़माने में भी लोग विचार किया करते थे कि किसी देश के समाज को या सर-को कैसे ढाला जाय जिससे चारों ओर ज्यादा सुख-शान्ति हो।

जब अफ़लातून बूढ़ा होने लगा, तो एक दूसरा यूनानी, जो बाद में बहुत

मशहूर हो गया, आगे आया। उसका नाम था अरस्तू[1]। वह महान् का निजी शिक्षक रह चुका था और सिकन्दर ने उसके काम में बहुत मदद सुकरात और अफ़लातून की तरह अरस्तू तत्वज्ञान की समस्याओं में नहीं था। वह ज्यादातर प्रकृति की चीज़ों के निरीक्षण और उसके तौर-तरी समझने में लगा रहता था। इसको प्रकृति-दर्शन या आजकल ज्यादातर विज्ञा हैं। इस तरह अरस्तू को शुरू का एक वैज्ञानिक मान सकते हैं।

अब हमें अरस्तू के शिष्य महान् सिकन्दर पर आ जाना चाहिए और तेज़ी से दौड़नेवाले जीवन पर नज़र डालनी चाहिए। लेकिन यह कल आज मैंने बहुत काफ़ी लिख डाला है।

आज बसन्त पंचमी है—वसन्त की शुरुआत है। सर्दी का बहुत थो वाला मौसम बीत चुका है और हवा का तीखापन जाता रहा है। चिड़ि ज्यादा संख्या में आने लगी हैं और अपने गीतों से सारे दिन को गुंजान रख और आज से ठीक पन्द्रह वर्ष पहले, आज ही के दिन, दिल्ली शहर में, मम्मी के साथ मेरी शादी हुई थी।

: १७ :

मशहूर विजेता : लेकिन घमण्डी युवक

२४ जनवरी,

अपने पिछले पत्र में, और उसके पहले भी मैंने तुम्हें अलक्सां सिकन्दर महान् के बारे में कुछ लिखा था। मेरा खयाल है कि मैंने उसे बताया है। लेकिन ऐसा कहना एकदम सही न होगा। असल में वह मक़ का रहनेवाला था, जो यूनान के ठीक उत्तर में है। मक़दूनियावाले कई यूनानियों जैसे थे। उन्हें तुम यूनानियों के चचेरे भाई कह सकती हो। का पिता फ़िलिप मक़दूनिया का बादशाह था। वह बहुत क़ाबिल था। उस छोटे-से राज्य को बहुत मज़बूत बना लिया था और एक बहुत होशियार संगठित कर ली थी। सिकन्दर 'महान्' कहलाता है और इतिहास

---

[1] अरस्तू—यह अरिस्टाटल भी कहलाता है। यह एक प्रसिद्ध यूनानी वेत्ता था। इसका जन्म ईसा से ३८४ साल पहले हुआ था। यह प्रसिद्ध अफ़लातून का शिष्य और सिकन्दर महान् का गुरु था। इसमें असाधारण और विद्वत्ता थी और पश्चिमी राजनीति, दर्शन और तर्क के विद्यार्थी को ग्रन्थ अब भी लाज़मी तौर पर पढ़ने पड़ते हैं। उसका 'पॉलिटिक्स' नाम बड़ा प्रसिद्ध है।

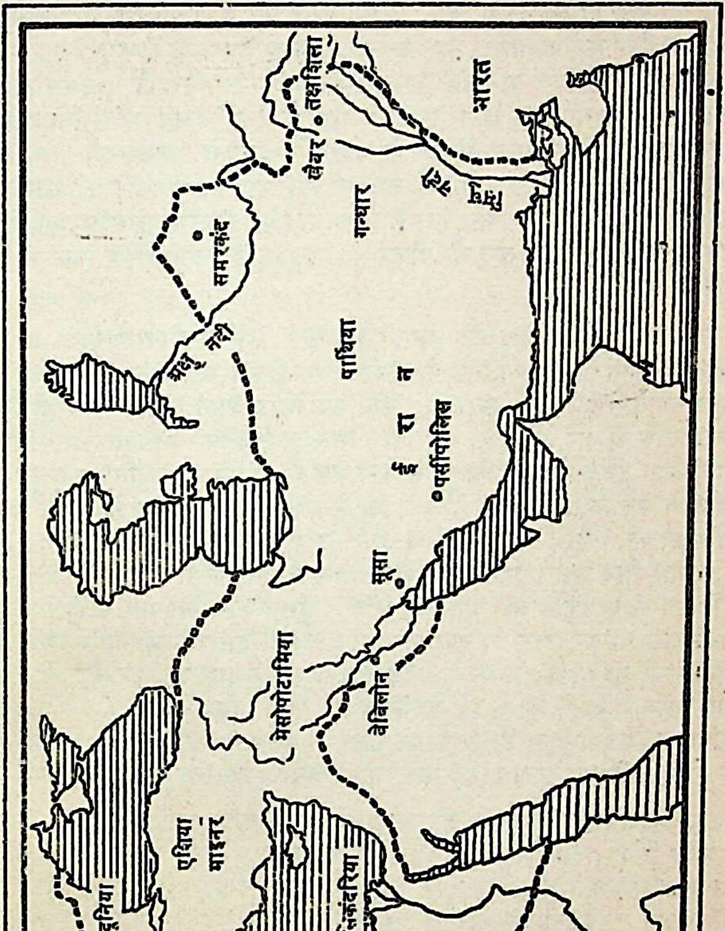
मकदूनिया
एथेन्स
एशिया माइनर
मेसोपोटामिया
सिकंदरिया
मिस्र
वेबिलोन
सूसा
ईरान
पर्सीपोलिस
पार्थिया
अमू नदी
समरकंद
गन्धार
खैबर
तक्षशिला
सिंधु नदी
भारत

मशहूर है। लेकिन उसने जो किया वह बहुत-कुछ इसलिए सम्भव हुआ कि
पिता ने पहले ही से उसके लिए ज़मीन तैयार कर दी थी। सिकन्दर
महान् व्यक्ति था या नहीं, यह कहना मुश्किल है। कम-से-कम मेरे
अनुकरण करने लायक़ वीर नहीं है। लेकिन थोड़ी-सी ज़िन्दगी में उसने
द्वीपों पर अपने नाम की छाप डाल दी और इतिहास में वह पहला
माना जाता है। दूर मध्य-एशिया के भीतर के देशों में सिकन्दर के नाम
अभी तक मशहूर है। असल में वह चाहे जो कुछ रहा हो, पर इतिहास
को चमकदार बनाने में सफल रहा है। बीसियों शहर उसके नाम पर
जिनमें से बहुत-से आज तक भी मौजूद हैं। इनमें सबसे बड़ा शहर मिस्र
न्दरिया है।

जब सिकन्दर बादशाह हुआ तब उसकी उम्र सिर्फ़ बीस साल
महानता प्राप्त करने के हौसले से उसका दिल इतना भरा हुआ था कि
पिता की तैयार की हुई सुसंगठित सेना को लेकर अपने पुराने दुश्मन
धावा करने के लिए बेताब था। यूनानी लोग न तो फ़िलिप को चाहते थे, न
को, लेकिन उनके बल को देखकर वे लोग कुछ दब-से गये थे। इसलिए सब
ने ईरान पर धावा करनेवाली सेना का सेनापति पहले फ़िलिप को, और
सिकन्दर को, मान लिया था। इस तरह उन्होंने उदय होनेवाली इस
के सामने सिर झुका दिया था। थीब्स नाम के एक यूनानी शहर ने
खिलाफ़ विद्रोह किया और सिकन्दर ने बड़ी क्रूरता और निर्दयता के साथ
करके उस मशहूर शहर को नष्ट कर दिया, उसकी इमारतें ढहा दीं, बहु
निवासियों की हत्या कर डाली और हज़ारों को गुलाम बनाकर बेंच
क्रूर वर्ताव से उसने यूनान को आतंकित कर दिया। सिकन्दर के जीवन में
की यह और इसी तरह की दूसरी घटनाओं की वजह से वह हमारी नज़रों में
के योग्य नहीं रह जाता। इन घटनाओं से हमको विरक्ति और घृणा हो

सिकन्दर ने मिस्र को, जो उस वक़्त ईरानी बादशाह के अधीन था,
से जीत लिया। इसके पहले ही वह ईरान के बादशाह तीसरे दारा को, जो
का उत्तराधिकारी था, हरा चुका था। बाद में उसने ईरान पर फिर
और दारा को दूसरी बार हराया। शहंशाह दारा के विशाल महल को
कहकर तहस-नहस कर दिया कि अहस्युर ने एथेन्स को जलाया था, उसी
बदला है।

फ़ारसी भाषा की एक पुरानी किताब है जो फ़िरदौसी नामक कवि ने
एक हज़ार वर्ष हुए लिखी थी। इसे 'शाहनामा' कहते हैं और यह ईरान के
का एक सिलसिलेवार इतिहास है। इसमें दारा और सिकन्दर की

न काल्पनिक ढंग से वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि सिकन्दर से हार े पर दारा ने भारत से मदद माँगी। 'हवा जैसी तेज़ गति से चलनेवाला एक -सवार' उसने फ़ूर या पुरु के पास भेजा, जो उस समय भारत के उत्तर-पश्चिम क राजा था। लेकिन पुरु उसकी ज़रा भी मदद न कर सका। थोड़े दिनों बाद को ही सिकन्दर के हमले का सामना करना पड़ा। फ़िरदौसी के इस शाहनामे दिलचस्प बात यह है कि उसमें भारत की तलवारों और कटारों का ईरान के शाह और सरदारों द्वारा इस्तेमाल किये जाने के बहुत प्रसंग पाये जाते हैं। से पता चलता है कि सिकन्दर के ज़माने में भी भारत में बढ़िया फ़ौलाद की वारें बनती थीं, जिनकी विदेशों में बड़ी माँग थी।

सिकन्दर ईरान से आगे चलता गया। उस इलाके को, जहाँ आज हिरात, बुल और समरक़न्द हैं, पार करता हुआ वह सिन्ध नदी के उत्तरी काँठे तक च गया। वहीं पर उसकी उस भारतीय राजा से मुठभेड़ हुई, जिसने सबसे पहले का मुक़ाबला किया। यूनान के इतिहास-लेखक उसका नाम यूनानी ढंग से रस बताते हैं। उसका असली नाम भी कुछ इसी तरह का रहा होगा, लेकिन हम हीं जानते कि वह क्या था।[1] कहते हैं कि पुरु ने बड़ी बहादुरी से मुक़ाबला या और उसे जीतना सिकन्दर के लिए आसान नहीं हुआ। कहते हैं कि वह बहुत बा और बड़ा शूरवीर था। सिकन्दर पर उसकी हिम्मत और बहादुरी का ना असर पड़ा कि उसे हराने के बाद भी उसने पुरु को अपनी रियासत का धकारी बना रहने दिया। लेकिन अब वह राजा पुरु के बजाय यूनानियों के ीन एक क्षत्रप यानी गवर्नर रह गया।

सिकन्दर उत्तर-पश्चिम में ख़ैबर दर्रे को पार करके रावलपिण्डी से कुछ उत्तर में तक्षशिला[2] होकर भारत में घुसा। आज भी तुम्हें इस प्राचीन शहर खण्डहर देखने को मिल सकते हैं। पुरु को हराने के बाद सिकन्दर ने दक्षिण की र गंगा की तरफ़ बढ़ने का इरादा किया था। लेकिन बाद में उसने ऐसा नहीं

---

[1] इतिहासवेत्ताओं का मत है कि इस राजा का नाम पुरु था। पोरस उसका ानी रूपान्तर है।

[2] तक्षशिला—ज़िला रावलपिण्डी का एक अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध र। रामायण के ज़माने में यह गन्धर्वों की राजधानी थी और महाभारत के ुसार यहीं जनमेजय ने अपना सर्पयज्ञ किया था। पहली सदी में यह नगर अमन्द्र म से भी मशहूर था। इस शहर के खण्डहर छः वर्गमील में फैले हुए हैं और उनमें त-से बौद्ध मन्दिर और स्तूप देखने में आते हैं। वहाँ का विश्वविद्यालय प्राचीन तिहास में बड़ा मशहूर रहा है। उसमें शिक्षा पाने के लिए मध्य-एशिया और न तक से विद्यार्थी आया करते थे। अब यह पश्चिमी पाकिस्तान में है।

किया, और सिन्ध नदी के काँठे में होकर वह वापस चला गया। वह एक
विचार है कि अगर सिकन्दर भारत के भीतरी भाग की तरफ़ बढ़ा होता
हुआ होता। क्या वह जीतता चला जाता? या भारतीय सेनाओं ने उसे हरा
होता? पुरु जैसे एक सरहदी राजा ने जब उसे इतना परेशान किया तो य
सम्भव था कि मध्य भारत के बड़े-बड़े राज्य सिकन्दर को रोकने के लिए
बलवान साबित होते। लेकिन सिकन्दर की इच्छा कुछ भी क्यों न रही हो,
सेना ने उसे एक निश्चय पर पहुँचने को मजबूर कर दिया। वर्षों से घूमते
उसके सिपाही बहुत थक गये थे और उकता गये थे। शायद भारतीय सि
के रणकौशल का भी उन पर असर पड़ा और वे हार की जोखिम नहीं
चाहते थे। वजह चाहे जो रही हो, सेना ने वापस लौटने की हठ की और सि
को राज़ी होना पड़ा। लेकिन वापसी का सफ़र बहुत विनाशकारी साबित
भोजन और पानी की कमी से फ़ौज को बहुत तकलीफ़ उठानी पड़ी। इस
ही, ईसा से २३२ वर्ष पूर्व सिकन्दर बाबुल पहुँचकर मर गया। ईरान पर
के लिए रवाना होने के बाद वह अपनी मातृभूमि मक़दूनिया को फिर नहीं देख

इस तरह सिकन्दर तेंतीस साल की उम्र में मर गया। इस 'महान्'
ने अपनी थोड़ी-सी ज़िन्दगी में क्या किया? इसने कुछ शानदार लड़ाइयाँ
निस्सन्देह वह बहुत बड़ा सेनापति था। लेकिन साथ ही वह अभिमानी और
भी था, और कभी-कभी बहुत निर्दयी और उग्र हो जाता था। अपने को वह
के समान समझता था। क्रोध के आवेश में या क्षणिक उन्माद में उसने अ
सच्चे दोस्तों को मरवा डाला और बड़े-बड़े शहरों को, उनके निवासियों
नष्ट कर डाला। अपने बनाये साम्राज्य में वह अपने पीछे कोई भी ठोस च
यहाँ तक कि अच्छी सड़कें भी—नहीं छोड़ गया। आकाश के टूटनेवाले
की तरह वह एकदम चमका और ग़ायब हो गया और अपने पीछे अपनी
के अलावा और कुछ भी नहीं छोड़ गया। उसकी मौत के बाद, उसके कु
लोगों ने एक-दूसरे को मार डाला और उसका महान् साम्राज्य टुकड़े-टु
गया। सिकन्दर को संसार-विजयी कहा जाता है और कहते हैं कि एक बा
बैठा-बैठा इसलिए रो उठा कि उसके जीतने के लिए दुनिया में कुछ बाक़
बचा था। लेकिन सच तो यह है कि उत्तर-पश्चिम के कुछ हिस्से को छोड़
भारत को ही नहीं जीत सका था। चीन उस समय भी बहुत बड़ा राज्य थ
सिकन्दर उसके पास तक भी नहीं पहुँच पाया था।

उसकी मृत्यु के बाद, उसके सेनापतियों ने उसकी सल्तनत को आ
बाँट लिया। मिस्र तालमी[1] के हिस्से में पड़ा। उसने वहाँ एक मज़बूत रा

---

[1] तालमी—सिकन्दर का एक सेनापति था, जो उसकी मृत्यु के

डाली और एक राज-वंश चलाया। इसकी हुकूमत में मिस्र, जिसकी राजधानी न्दरिया थी, बहुत शक्तिशाली राज्य बन गया। इस्कन्दरिया बहुत बड़ा र था और अपने विज्ञान, दर्शन और विद्या के लिए मशहूर था।

ईरान, इराक़ और एशिया-कोचक[1] का एक हिस्सा दूसरे सेनापति सेलेउक ल्युकस) के हिस्से में आया। भारत का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा भी, जिसे सिकन्दर ीता था, इसीको मिला। लेकिन वह भारत के हिस्से पर अपना अधिकार क़ायम रख सका और सिकन्दर की मौत के बाद यूनानी सेना यहाँ से भगा दी गई।

सिकन्दर भारत में ईसा से पहले ३२६वें साल में आया था। इसका आना था, एक तरह का धावा था जिसका भारत पर कोई असर नहीं पड़ा। कुछ ों का विचार है कि इस धावे ने भारतीयों और यूनानियों में रब्त-ज़ब्त शुरू ने में मदद दी। लेकिन सच तो यह है कि सिकन्दर से पहले भी पूर्व और पश्चिम शों में आपसी आवागमन था और भारत का ईरान और यूनान तक से बराबर र्क जारी था। सिकन्दर के आने से यह सम्पर्क कुछ और बढ़ा ज़रूर होगा और तीय और यूनानी दोनों सभ्यताएँ कुछ ज्यादा हद तक एक-दूसरे से मिल-जुल होंगी। 'इण्डिया' शब्द ही यूनानी 'इण्डास' से बना है, और 'इण्डास' की त्ति 'इण्डस' अर्थात् 'सिन्ध नदी' से हुई है।

सिकन्दर के धावे और उसकी मृत्यु से भारत में एक बहुत बड़े साम्राज्य—र्य साम्राज्य—की नींव पड़ी। भारत के इतिहास का यह एक बहुत शानदार है और इसके लिए हमें कुछ समय देना चाहिए।

: १८ :

चन्द्रगुप्त मौर्य्य और कौटिल्य का अर्थशास्त्र

२५ जनवरी, १९३१

अपने एक पत्र में मैंने मगध का ज़िक्र किया था। यह एक बहुत पुराना राज्य और उस जगह बसा हुआ था, जहाँ आजकल बिहार का प्रान्त है। इस राज्य राजधानी पाटलिपुत्र थी, जो आजकल पटना है। जिस समय का हम वर्णन रहे हैं, उस समय मगध-देश पर नन्दवंश राज करता था। जब सिकन्दर ने र-पश्चिम भारत पर धावा किया था उस समय पाटलिपुत्र में नन्दवंश का एक

पू० ३०५ में मिस्र का सम्राट् बन बैठा। इसीने ताल्मी राजवंश चलाया, जो पू० ३० तक राज्य करता रहा। इस सम्राट् का काल ई० पू० ३८३ से पू० ३६७ तक है। इसने उत्तरी मिस्र में टालेमाय नामक एक प्रसिद्ध और नदार शहर बसाया और एक पुस्तकालय और अजायबघर की योजना की।

[1] एशिया कोचक—आजकल यह तुर्की का एशियाई भाग है।

राजा राज करता था। उसी समय वहाँ चन्द्रगुप्त नामक एक नवयुवक
जो शायद इस राजा का रिश्तेदार था। मालूम होता है, वह बड़ा चतुर,
और महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। नन्द राजा ने उसे बहुत ज्यादा चालाक
या उसके किसी काम से नाराज़ होकर, उसे अपने राज्य से निर्वासित कर
शायद सिकन्दर और यूनानियों की कहानियों से आकर्षित होकर चन्द्रगु
की ओर तक्षशिला चला गया। उसके साथ विष्णुगुप्त नाम का एक विद्वान
था, जिसे चाणक्य भी कहते हैं। चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही नर्म
न थे, जो भाग्य और होनहार के सामने सिर झुका देते। उनके दिमागों
बड़ी और हौसले-भरी योजनाएँ थीं, और वे आगे बढ़ना और सफलता प्राप्
चाहते थे। चन्द्रगुप्त शायद सिकन्दर के वैभव से चकित और आकर्षित
था और उसके उदाहरण के पीछे चलना चाहता था। अपना उद्देश्य पू
के लिए चाणक्य के रूप में उसे एक आदर्श मित्र और सलाहकार मिल ग
ये दोनों ही सजग रहते थे और ग़ौर से देखते रहते थे कि तक्षशिला में
रहा है। वे अपने अवसर की तलाश में थे।

जल्दी ही उनको अवसर मिल गया। ज्योंही सिकन्दर के मरने
तक्षशिला पहुँची, चन्द्रगुप्त ने समझ लिया कि काम करने का समय आ
उसने आसपास के लोगों को उभाड़ा और उनकी मदद से यूनानियों की
जिसे सिकन्दर छोड़ गया था, आक्रमण कर दिया और उसे भगा दिया।
पर क़ब्ज़ा करने के बाद चन्द्रगुप्त और उसके सहायकों ने पाटलिपुत्र पर
किया और राजा नन्द को हरा दिया। यह ३२१ ई० पूर्व यानी सिकन्दर
के सिर्फ़ पाँच वर्ष बाद की बात है। इसी समय से मौर्य्यवंश का शासन
है। यह साफ़-साफ़ पता नहीं चलता कि चन्द्रगुप्त 'मौर्य्य' क्यों कहलाया
लोगों का कहना है कि उसकी माँ का नाम मुरा था, इसलिए वह मौर्य्य क
और कुछ का यह कहना है कि उसका नाना राजा के मोरों का रखवाला
मोर को संस्कृत में मयूर कहते हैं। इस शब्द का मूल चाहे जो हो, यह
मौर्य्य के नाम से ही प्रसिद्ध है, ताकि एक दूसरे मशहूर चन्द्रगुप्त से, जो
वर्ष बाद भारत का बहुत बड़ा राजा हुआ, इसे अलग समझा जा सके।

महाभारत और दूसरी पुरानी पुस्तकों और कथाओं में चक्रवर्ती
का वर्णन मिलता है, जिन्होंने सारे भारत पर राज किया। लेकिन हमें उस
का ठीक हाल मालूम नहीं और न हम यही जानते हैं कि भारत या भारत
विस्तार उस समय कितना था। यह सम्भव है कि उस समय की जो क
चली आती हैं, उनमें पुराने राजाओं के बल को बढ़ा-चढ़ाकर बताया ग
जो कुछ भी हो, चन्द्रगुप्त मौर्य्य का साम्राज्य इतिहास में भारत के मज़

चौड़े साम्राज्य की पहली मिसाल है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह बहुत शक्तिशाली और उन्नत शासन था। यह भी साफ़ है कि ऐसा शासन राज्य एकदम से पैदा नहीं हो गया होगा। बहुत दिनों से कई तरह की प्रक्रियाएँ चली आई होंगी, छोटे-छोटे राज्य मिलते रहे होंगे और शासन-कला में जारी रही होगी।

चन्द्रगुप्त के शासन-काल में, सिकन्दर के सेनापति सेलेउक ने, जिसे उत्तरा- र में एशिया-कोचक से लेकर भारत तक के देशों का राज्य मिला था, अपनी के साथ सिन्ध नदी पार कर भारत पर हमला किया। पर अपनी इस जल्द- के लिए उसे बहुत जल्दी पछताना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने उसे बुरी तरह हरा और जिस रास्ते से वह आया था उसी रास्ते उसे अपना-सा मुँह लेकर लौट पड़ा। यहाँ से कुछ हासिल करने के बजाय उलटा उसे काबुल और हिरात गान्धार या अफ़ग़ानिस्तान का एक बहुत बड़ा हिस्सा चन्द्रगुप्त को दे देना । चन्द्रगुप्त ने सेलेउक की पुत्री से शादी भी कर ली। उसका साम्राज्य अब उत्तरी भारत में, अफ़ग़ानिस्तान के एक हिस्से में, काबुल से बंगाल तक और सागर से बंगाल की खाड़ी तक फैल गया। सिर्फ़ दक्षिण भारत उसके अधीन था। इस बड़े साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी।

सेलेउक ने चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थेने को अपना राजदूत बनाकर भेजा मेगस्थेने हमारे लिए उस ज़माने का एक बड़ा दिलचस्प वर्णन छोड़ गया लेकिन इससे ज़्यादा दिलचस्प एक दूसरा वर्णन भी हमें मिलता है, जिसमें गुप्त के शासन का पूरा तफ़सीलवार हाल मिलता है। इस ग्रन्थ का नाम है टिलीय अर्थशास्त्र' यानी कौटिल्य का अर्थशास्त्र। यह कौटिल्य और कोई नहीं, रा वही पुराना दोस्त चाणक्य या विष्णुगुप्त है और अर्थशास्त्र का मतलब है पत्ति का शास्त्र'।

इस अर्थशास्त्र में इतने विषय हैं, और इतनी विभिन्न बातों पर इसमें चर्चा गई है कि तुमको उसके बारे में ज़्यादा बता सकना मेरे लिए सम्भव नहीं है। में राजा के धर्म का, उसके मन्त्रियों और सलाहकारों के कर्त्तव्यों का, राज- षद् का, शासन-विभागों का, वाणिज्य और व्यापार का, गाँवों और क़स्बों शासन का, क़ानून और अदालत का, 'सामाजिक रीति-रिवाजों का, स्त्रियों के धिकार का, बूढ़े और असहाय लोगों के पोषण का, विवाह और तलाक़ का, सों का, थलसेना और जलसेना का, युद्ध और सन्धि का, कूटनीति का, खेती- ड़ी का, कातने और बुनने का, कारीगरों का, पासपोर्टों का, और जेलों तक का क है! मैं इस सूची को और भी बढ़ा सकता हूँ, लेकिन इस पत्र को कौटिल्य अध्यायों के शीर्षकों से नहीं भरना चाहता।

जब राजा राजतिलक के समय जनता के हाथों से राज्यसत्ता तो उसे जनता की सेवा की शपथ लेनी पड़ती थी। उसे प्रतिज्ञा करनी "अगर मैं तुम्हें सताऊँ तो स्वर्ग से, जीवन से और सन्तान से वंचित रहूँ।" में राजा की दिनचर्या दी हुई है। उसके अनुसार राजा को ज़रूरी काम हमेशा तैयार रहना चाहिए, क्योंकि जनता का काम न तो रुक सकता है की सुविधा का इन्तज़ार कर सकता है। "अगर राजा मुस्तैद होगा तो प्रजा भी उतनी ही मुस्तैद होगी।" "अपनी प्रजा की खुशी में उसकी खुशी के कल्याण में ही उसका कल्याण है; जो बात उसे अच्छी लगे उसीको न समझे, बल्कि प्रजा को जो अच्छी लगे उसीको वह भी अच्छी समझे

हमारी इस दुनिया से अब राजा-महाराजा उठते जा रहे हैं। जो बच गये हैं वे भी बहुत जल्द ग़ायब हो जायँगे। लेकिन यह ध्यान देने है कि प्राचीन भारत में राजपद का मतलब जनता की सेवा था। उस समय का न तो कोई ईश्वरीय अधिकार माना जाता था और न उनके हाथों निरंकुश सत्ता थी। अगर कोई राजा अनुचित व्यवहार करता था तो अधिकार था कि उसे हटा दे और उसकी जगह दूसरा राजा नियुक्त कर दिनों यही विचार और सिद्धान्त था। फिर भी उस समय बहुत-से राजा जो इस आदर्श से नीचे गिरे और जिन्होंने अपनी बेवक़ूफ़ी से अपने देश को मुसीबतों में फँसाया।

अर्थशास्त्र में इस पुराने मत पर भी ज़ोर दिया गया है कि 'आर्य दास नहीं बनाया जा सकेगा।'[1] इससे प्रकट होता है कि उस ज़माने में किसी तरह के ग़ुलाम होते थे जो या तो देश के बाहर से लाये जाते होंगे, के रहनेवाले होंगे।[2] लेकिन जहाँ तक आर्यों का सम्बन्ध था, इस बात ध्यान रक्खा जाता था कि वे किसी भी हालत में ग़ुलाम न बनाये जायँ।

मौर्य्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। यह बड़ा शानदार था और गंगा के किनारे-किनारे नौ मील तक फैला हुआ था। इसकी चार में चौंसठ मुख्य फाटक थे और सैकड़ों छोटे दरवाज़े थे। मकान ज़्यादातर के बने हुए थे, और चूँकि आग लगने का डर रहता था, इसलिए आग लिए पूरी सावधानी से इन्तज़ाम किया जाता था। खास-खास सड़कों पर भरे हज़ारों घड़े हमेशा रक्खे रहते थे। हरेक गृहस्थ को भी अपने घर से भरे घड़े, सीढ़ी, काँटा और दूसरी ज़रूरी चीज़ें तैयार रखनी पड़ती थीं ता लगने पर उनका उपयोग किया जा सके।

---

[1] 'न त्वेवाऽर्यस्य दास भावः।'—कौटिल्य

[2] 'म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुंवा'—कौटिल्य

कौटिल्य ने शहरों के बारे में एक नियम का ज़िक्र किया है जो तुम्हें बहुत चस्प मालूम होगा। अगर कोई आदमी सड़क पर कूड़ा फेंकता था तो उसपर ना होता था। इसी तरह अगर कोई रास्ते में कीचड़ या पानी इकट्ठा होने था तो उसपर भी जुर्माना किया जाता था। अगर इन नियमों पर अमल ा रहा होगा तो पाटलिपुत्र या दूसरे और शहर बहुत सुन्दर और साफ़-सुथरे होंगे। मैं चाहता हूँ कि हमारी म्युनिसिपैलिटियों में भी इसी तरह के कुछ म जारी कर दिये जायँ!

पाटलिपुत्र में व्यवस्था के लिए एक नगर-परिषद् थी। जनता इसका चुनाव ती थी। इसमें तीस सदस्य होते थे और पाँच-पाँच सदस्यों की छः समितियाँ ई जाती थीं। शहरी उद्योगों और दस्तकारियों का, यात्रियों और तीर्थ-यात्रियों टैक्स के लिए मौतों और पैदायशों का, माल तैयार करने का और दूसरी तों का प्रबन्ध इन्हीं समितियों के हाथ में रहता था। पूरी परिषद सफ़ाई, आय-, पानी की व्यवस्था, बाग़-बग़ीचों और सार्वजनिक इमारतों का प्रबन्ध देखती

न्याय के लिए पंचायतें और अपीलों के लिए अदालतें थीं। अकाल-पीड़ितों सहायता के लिए ख़ास उपाय किये जाते थे। राज्य के सारे भण्डारों का आधा ज अकाल के समय के लिए हमेशा जमा रक्खा जाता था।

ऐसा था वह मौर्य्य-साम्राज्य, जिसे बाईस सौ वर्ष पहले चाणक्य और चन्द्र- ने संगठित किया था। मैंने अभी कौटिल्य और मेगस्थेने की बयान की हुई बातों का ज़िक्र यहाँ किया है। इनसे ही तुम्हें मोटे तौर पर यह पता लग जायगा उत्तरी भारत की उस समय क्या हालत थी। पाटलिपुत्र की राजधानी से लेकर म्राज्य के बहुत-से बड़े-बड़े शहरों और हज़ारों क़स्बों और गाँवों तक सारे देश ज़िन्दगी की चहल-पहल थी। साम्राज्य के एक भाग से दूसरे भाग तक बड़ी-ी सड़कें थीं। मुख्य राजपथ पाटलिपुत्र से उत्तर-पश्चिम की सीमा तक चला था। बहुत-सी नहरें थीं और उनकी देखभाल के लिए एक ख़ास विभाग भी। इसके अलावा एक नौका-विभाग भी था, जो बन्दरगाहों, घाटों, पुलों और एक ह से दूसरी जगह तक आने-जानेवाले बहुत-से जहाज़ों और नौकाओं की देख- किया करता था। जहाज़ समुद्र-पार चीन और बर्मा तक जाते थे।

इस साम्राज्य पर चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष राज किया। ईसा पूर्व २९६वें वर्ष उसकी मृत्यु हुई। अपने अगले पत्र में हम मौर्य्य-साम्राज्य की कहानी जारी खेंगे।

१९

तीन महीने !

क्रेकोविया जहा
२१ अप्रैल,

तुम्हें पत्र लिखे बहुत दिन हो गये। क़रीब तीन महीने—दुःख, और मुसीबत के तीन महीने—गुज़र गये। भारत के, और सबसे बढ़क कुटुम्ब के परिवर्तन के ये तीन महीने! भारत ने फ़िलहाल सत्याग्रह या अवज्ञा आन्दोलन रोक दिया है, लेकिन जो सवाल हमारे सामने हैं उनके में कोई आसानी पैदा नहीं हुई। और हमारे कुटुम्ब ने अपना प्यारा बुज़ुर्ग जिसने हमें बल और प्रेरणा दी थी, और जिसकी आश्रय देनेवाली में हम सब बड़े हुए और अपनी सबकी माता भारत के लिए अपना कर्त करना सीखा।

नैनी-जेल का वह दिन मुझे कितनी अच्छी तरह याद है! वह २६ का दिन था और मैं हमेशा की तरह पुरानी बातों के बारे में तुम्हें पत्र लिख था। उसके एक दिन पहले मैं तुम्हें चन्द्रगुप्त और उसके स्थापित किये हुए साम्राज्य के बारे में लिख चुका था। मैंने वादा किया था कि इस वर्णन को रक्खूंगा और उन लोगों का जो चन्द्रगुप्त के बाद हुए, और 'देवानां प्रिय महान् का, जो भारतीय आकाश में एक चमकदार सितारे की तरह चम अपना नाम अमर करके गुज़र गया, हाल बताऊँगा। और जब मैं अशोक कर रहा था, मेरा मन घूम-फिरकर वर्तमान की ओर—२६ जनवरी पहुँचा, जिस दिन मैं कलम-दवात लेकर तुम्हें लिखने बैठा था। हम लोगों यह एक बहुत बड़ा दिन था, क्योंकि एक साल पहले इसी दिन हमने सारे में, शहरों और गाँवों में, आज़ादी का दिन—पूर्ण स्वराज्य का दिन— था और हमारे देश के करोड़ों लोगों ने स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा ली थी। तब साल बीत गया—संघर्ष का, तकलीफ़ों का और विजय का एक साल एक बार फिर भारत उसी महान् दिन को मनाने जा रहा था। जब मैं की ६ नम्बर की बैरक में बैठा हुआ था, मुझे उस दिन सारे देश में होनेवाली जलूसों, लाठी-प्रहारों और गिरफ़्तारियों का खयाल हो आया था। गर्व और दर्द के साथ मैं इन सब बातों का विचार कर ही रहा था कि मेरी की धारा एकदम रुक गई। बाहर से खबर मिली कि दादू बहुत बीमार उनके पास जाने के लिए मैं फ़ौरन ही छोड़ दिया जाऊँगा। चिन्ता से भरी

टूट गई और तुम्हें जो पत्र लिखना शुरू किया था उसे एक ओर रखकर नैनी-से आनन्द-भवन के लिए रवाना हो गया।

दादू की मृत्यु से पहले दस दिन मैं उनके साथ रहा। दस दिन तक हम उनके और यातना को और मौत के दूत से उनकी बहादुराना लड़ाई को देखा किये। जीवन में उन्होंने बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं और बहुत-सी विजय हासिल कीं। मानना तो वह जानते ही न थे, और मौत को अपने सामने खड़ा हुआ देखकर वह उसके सामने डटे रहे। जब मैं उनकी इस आख़िरी लड़ाई को देख रहा और जिन्हें मैं इतना प्यार करता था उन्हें मदद पहुँचाने में अपनी बेबसी पर कुल हो रहा था, तो मुझे कुछ पंक्तियाँ, जो मैंने बहुत दिन हुए एडगर एलन की किसी कहानी में पढ़ी थीं, याद आ गईं, जिनका अर्थ यह है—

> “मनुष्य खुद देवदूतों के सामने हार नहीं मानता और न वह मौत के सामने ही पूरी तरह सिर झुकाता है; अगर वह हार मानता है तो, अपनी इच्छा-शक्ति की कमजोरी की वजह से ही मानता है।”

६ फ़रवरी को सुबह वह हमें छोड़कर चले गए। जिस झण्डे को वह इतना र करते थे उसी में उनका शरीर लपेटकर हम उन्हें लखनऊ से आनन्द-भवन आये। थोड़ी ही देर में वह जलकर मुट्ठी भर राख हो गया और गंगा इस मोल विभूति को समुद्र की ओर बहा ले गई।

लाखों आदमियों ने उनके लिए शोक मनाया, लेकिन हम सबपर, जो उनके र हैं और जो उनके माँस और उनकी हड्डियों से बने हैं, कैसी बीती! और नये आनन्द-भवन का, जो हम लोगों के समान ही उनका बच्चा है, और जिसे होंने इतने प्यार से और इतनी सावधानी से तैयार करवाया था, क्या हुआ? अब सुनसान और वीरान हो गया, मानो उसकी जान ही निकल गई। और उसके बरामदों में, उन्हींका बराबर खयाल करते हुए, जिन्होंने इसे बनाया दबे पाँव चलते हैं कि कहीं उनकी शान्ति भंग न हो जाय।

हम उनके लिए शोक करते हैं और क़दम-क़दम पर उनकी कमी को महसूस ते हैं। दिन गुजरते जाते हैं, लेकिन न तो दुःख कम होता दीखता है और न उनका ोह सहना आसान होता दीखता है। लेकिन फिर मैं सोचता हूँ कि यह चीज़ कभी पसन्द न आयेगी। उन्हें यह कभी पसन्द न होगा कि हम रंज से हार लें। वह तो यही चाहेंगे कि जैसे उन्होंने अपनी तकलीफ़ों का मुक़ाबला किया ही हम अपने रंज का मुक़ाबला करें और उसपर विजय पायें। वह चाहेंगे जो काम उन्होंने अधूरा छोड़ा है, उसे हम जारी रक्खें। फिर, जब काम हमें रहा है और भारत की आज़ादी का उद्देश्य हमारी सेवाओं की माँग कर

रहा है, तब हम चुप कैसे बैठ सकते हैं, और व्यर्थ के शोक के सामने कैसे
सकते हैं? इसी उद्देश्य के लिए उन्होंने जान दी। इसीके लिए हम फि
कोशिश करेंगे और अगर ज़रूरत हुई तो जान भी देंगे। आखिर हम उनके
हैं और हममें उनकी आग, ताक़त और पक्के इरादों का कुछ-न-कुछ अंश

इस समय, जब मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, नीले रंग का गहरा अर
मेरे सामने दूर तक फैला हुआ है और दूसरी तरफ़ बहुत दूर के फ़ासले प
का किनारा है, जो हमसे छूटता जा रहा है। मैं इस लम्बे-चौड़े और लगभ
मित विस्तार का ख़याल करता हूँ और उसकी तुलना नैनी-जेल की ऊँची
वाली छोटी-सी बैरक से करता हूँ, जहाँ से मैंने तुम्हें पिछले पत्र लिखे थे।
समुद्र आकाश से मिलता-सा मालूम होता है, वहाँ क्षितिज की रेखा
मेरे सामने नज़र आ रही है। लेकिन जेल में क़ैदी का क्षितिज तो उस
चोटी है जिससे वह घिरा रहता है। हममें से बहुत-से, जो कल जेलों में
बाहर हैं और बाहर की आज़ाद हवा में साँस ले सकते हैं। लेकिन हमारे
साथी अभी तक अपनी तंग कोठरियों में बन्द हैं और समुद्र, ज़मीन या
के दर्शन से वंचित हैं। खुद भारत अभी तक जेल में है और उसे अभी
मिलनी बाक़ी है। और अगर भारत आज़ाद नहीं है तो हमारी आज़ादी
क़ीमत है?

: २० :

अरब सागर

क्रेकोविया मे
२२ अप्रैल,

यह कैसे संयोग की बात है कि हम इस क्रेकोविया जहाज़ पर बम्बई
जा रहे हैं! मुझे अच्छी तरह याद है कि क़रीब चार वर्ष पहले मैं किस तर
में इसके आने का इन्तज़ार कर रहा था। दादू इसी जहाज़ से आ रहे थे
स्वीज़रलैण्ड के बेक्स स्कूल में तुम्हें छोड़कर उनसे मिलने के लिए वेनि
था। फिर कुछ महीने बाद इसी क्रेकोविया जहाज़ से दादू यूरोप से भार
लौटे थे और मैं उनसे बम्बई में मिला था। उस यात्रा के उनके कुछ साथी
हमारे साथ हैं और ये सब दादू के बारे में अपने बहुत-से अनुभव सुनाते

मैंने तुम्हें कल के पत्र में पिछले तीन महीनों की बदलती हुई
का हाल लिखा था। पिछले कुछ हफ़्तों में एक बात ऐसी हुई है, जिसे मैं
हूँ कि तुम याद रक्खो; क्योंकि भारत उसे बहुत वर्षों तक याद रक्खेगा
महीने से कम हुआ कानपुर शहर में भारत के एक बहादुर सिपाही, ग

र्थी, चल बसे। वह उस समय मारे गये, जब वह दूसरों को बचाने की कोशिश रहे थे।

गणेशजी मेरे प्यारे दोस्त थे। एक बहुत नेक और निःस्वार्थ साथी थे, जिनके काम करना सौभाग्य की बात थी। पिछले महीने जब कानपुर में लोगों के पर पागलपन सवार हुआ, और एक भारतीय दूसरे भारतीय को क़त्ल करने, तो गणेशजी आग में कूद पड़े—अपने किसी देश-भाई से लड़ने के लिए —बल्कि उन्हें बचाने के लिए। उन्होंने सैकड़ों को बचाया; सिर्फ अपने को नहीं बचा सके। अपने बचाव की उन्होंने परवाह भी नहीं की और उनकी उन लोगों के हाथों हुई, जिन्हें वह बचाना चाहते थे। कानपुर का और हमारे का एक हीरा लुट गया और हममें से बहुतेरे अपने एक प्यारे और बुद्धिमान् से हाथ धो बैठे। लेकिन कितनी शानदार थी उनकी मौत! उन्होंने शान्त और निर्भीकता के साथ गुण्डों के पागलपन का मुक़ाबला किया और खतरे मौत के बीच भी उन्हें ध्यान था तो सिर्फ़ दूसरों का और उन्हें बचाने !

परिवर्तनों के ये तीन महीने! समय के सागर में एक बूंद के समान और की ज़िन्दगी में एक पल के समान! सिर्फ़ तीन हफ़्ते पहले मैं मोहेन-जो-दड़ो ण्डहर देखने गया था, जो सिन्ध में, सिन्ध नदी के काँठे में हैं। उस समय तुम साथ नहीं थी। मैंने वहाँ एक बहुत बड़ा शहर ज़मीन के अन्दर से निकला देखा—ऐसा शहर जिसमें मज़बूत ईंटों के मकान और लम्बी-चौड़ी सड़कें और कहा जाता है कि जिसे बने पाँच हज़ार वर्ष हो गये। मैंने इस प्राचीन शहर मले हुए सुन्दर-सुन्दर ज़ेवर और मिट्टी के बरतन देखे। इन सबको देखते-देखते ऐसा मालूम होने लगा मानो चटकीले-भड़कीले कपड़े पहने हुए पुरुष और याँ इसकी सड़कों और गली-कूचों में आ-जा रहे हैं, बच्चे बच्चों के-से खेल खेल हैं, माल से भरे बाज़ार गुलज़ार हो रहे हैं, लोग सौदा ले-दे रहे हैं और मन्दिरों घण्टियाँ बज रही हैं।

इन पाँच हज़ार वर्षों से भारत अपना जीवन क़ायम रखता आ रहा है और ने बहुत-से परिवर्तन देखे हैं। मैं कभी-कभी सोचने लगता हूँ कि क्या हमारी यह भारतमाता, जो इतनी प्राचीन और फिर भी इतनी नौजवान और सुन्दर है, बच्चों के उतावलेपन पर, उनकी छोटी-मोटी परेशानियों पर, उनके हर्ष और पर, जो दिन भर रहते हैं और फिर खतम हो जाते हैं, मुस्कराती न !

: २१ :

छुट्टी के दिन और स्वप्न-यात्रा

२६ मार्च,

चौदह महीने हो चुके, जब मैंने तुम्हें नैनी-जेल से प्राचीन इतिहास में पत्र लिखे थे। इसके तीन महीने बाद पत्रों के उसी सिलसिले में मैंने अर से तुम्हें दो छोटे-छोटे पत्र और लिखे थे। उस समय मैं क्रेकोविया जहाज की यात्रा पर जा रहा था। जैसा कि मैंने लिखा था, विशाल समुद्र मेरे सा तक पसरा हुआ था। मेरी भूखी आँखें उसे निहार रही थीं और अघाती इसके बाद हम लंका पहुँचे और महीने भर तक बड़े आनन्द से छुट्टियाँ म अपनी मुसीबतें और परेशानियाँ भूल जाने की कोशिश की। उस अत्यन्त सु में हम खूब घूमे और उसका अतुलित सौन्दर्य और वहाँ की प्रकृति की प्र चकित हो गये। कैंडी, नुवारा-ईलिया, और प्राचीन वैभव के चिह्नों और से भरपूर अनुरुद्धपुर—इन सारी जगहों की, जहाँ हम गये, याद करके आनन्द आता है! लेकिन मुझे सबसे ज्यादा आनन्द तो आता है, भूमध्य-प्रदे ठण्डे जंगलों की याद करके जिनमें जीवन बिखरा पड़ता है, जिनकी हवा हमें देखती हैं; या पतले और बिलकुल सीधे सुपारी के सुन्दर वृक्षों, ना अनगिनती पेड़ों और ताल-वृक्षों के किनारोंवाले उस तट की या जहाँ इस टापू की पन्ने जैसी हरियाली समुद्र और आकाश की नीलि मिलती है और सागर-जल किनारे पर छलकता और हिलोरों से अ करता है और हवा ताल-वृक्षों के पत्तों में होकर मर्मर आवाज़ करती हु जाती है।

बहुत दिन हुए तब इस भूमध्य-प्रदेशों में तुमने और मैंने पहली बार या थी, जिसकी याद क़रीब-क़रीब जाती रही है, लेकिन वह एक नया अनु मुझे वहाँ जाने का आकर्षण नहीं था क्योंकि मैं वहाँ की गर्मी से घबराता तो समुद्र, पहाड़ और सबसे ज्यादा बर्फ़ से ढकी हुई ऊँची चोटियाँ और हि मोहती हैं। लेकिन लंका के इस कुछ दिनों के निवास से मुझे भूमध्य-प्रदेश हरता और जादू जैसी मोहकता का भी कुछ अनुभव हुआ। और मैं यह लिये हुए वापस आया कि मौक़ा मिला तो इनसे फिर मिलूँगा।

लंका में छुट्टी का हमारा एक महीना देखते-देखते बीत गया समुद्र का सँकरा भाग पार करके भारत के दक्षिणी नाके पर पहुँचे। क्या तुम्हें कन्याकुमारी की यात्रा की याद है? कहते हैं कि यहाँ कुमारिका देवी निवास हैं और अपने देश की रक्षा करती है, और जिसे, हमारे नामों को तोड़-म भ्रष्ट करने में कुशल पश्चिम-निवासी 'केप कोमोरिन' कहते हैं। उस स

र सचमुच भारतमाता के चरणों में ही बैठे थे, और वहीं हमने अरब सागर और ाल की खाड़ी के समुद्रजलों का संगम देखा था और हमारे मन में यह कल्पना ा हुई थी मानो कि ये दोनों भारत की पूजा कर रहे हैं! उस जगह पर अद्भुत न्ति थी और मेरा मन भारत के दूसरे छोर पर कई हजार मील दूर दौड़ गया था, हाँ हिमालय की चोटियाँ कभी न गलनेवाली बर्फ़ का ताज पहने रहती हैं और हाँ ऐसी ही शान्ति रहती है। लेकिन इन दोनों के बीच में तो काफ़ी रगड़े-झगड़े ग़रीबी है, और मुसीबतें हैं!

हम कन्याकुमारी से बिदा हुए और उत्तर की तरफ़ चले और तिरुवांकुर र कोचीन होते हुए और मलाबार की समुद्री झीलों को पार करते हुए आगे बढ़े। सब स्थान कितने सुन्दर थे और हमारी नाव चाँदनी रात में पेड़ों से छाये हुए नारों के बीच में होकर कैसी फिसलती चली जाती थी, मानो हम स्वप्न-लोक में चर रहे हों। इसके बाद हम मैसूर, हैदराबाद और बम्बई होते हुए आख़ीर में ाहाबाद आ पहुंचे। यह नौ महीने पहले की यानी जून के महीने की बात है।

लेकिन आजकल तो भारत में जितने रास्ते हैं, वे सब हमें, देर-सबेर एक जगह पहुंचा देते हैं। सारी यात्राएँ, चाहे वह स्वप्न की हों या असली, जेलख़ाने ही जाकर ख़त्म होती हैं! और इसलिए मैं फिर अपनी पुरानी परिचित दीवारों अन्दर पहुँच गया, जहाँ सोचने के लिए और तुम्हें पत्र लिखने के लिए—चाहे तुम्हारे पास पहुँचें न या न पहुँचें—बहुत समय मिलता है। लड़ाई फिर शुरू ाई है और हमारे देशवासी, स्त्री और पुरुष, लड़के और लड़कियाँ, स्वतन्त्रता लड़ाई के लिए और इस देश को ग़रीबी की लानत से छुड़ाने के लिए, निकल पड़े लेकिन स्वतन्त्रता की देवी मुश्किल से ख़ुश होती है; पुराने ज़माने की तरह भी यह अपने भक्तों से, नर-बलि चाहती है।

आज मुझे जेल में आये पूरे तीन महीने हो गये। तीन महीने पहले, आज के दिन, यानी २६ दिसम्बर को, मैं छठी बार गिरफ़्तार किया गया था। पत्रों स सिलसिले को फिर से शुरू करने में मैंने बहुत देर कर दी। लेकिन तुम नती हो कि जब दिमाग़ वर्तमान से भरा हुआ हो तो सुदूर अतीत के बारे में ना कितना मुश्किल हो जाता है। जेल में पहुँचने के बाद जमने-जमाने और र की घटनाओं की चिन्ता से पीछा छुड़ाने में कुछ समय लग जाता है। अब म्हें बराबर पत्र लिखने की कोशिश करूँगा। लेकिन अब मैं एक दूसरी जेल में र यह बदली मेरे पसन्द की नहीं है। इससे मेरे काम में कुछ रुकावट पड़ती इस जेल में मेरा क्षितिज इतना ऊँचा हो गया है जितना पहले कभी नहीं रहा। मेरे सामने जो दीवार है उसकी तुलना, कम-से-कम ऊँचाई में तो, चीन की र से होनी चाहिए! यह क़रीब २५ फुट ऊँची लगती है और हर रोज़ सुबह

सूरज की किरणों को इसे पार करके हमारे पास तक पहुँचने में डेढ़ घण्टा लग जाता है।

हमारा क्षितिज थोड़ी देर के लिए सीमित भले ही हो; लेकिन विशाल समुद्र और पहाड़ों और रेगिस्तानों, और दस महीने पहले तुमने, तुम्हारी ने और मैंने जो स्वप्नयात्रा की, इन सबकी याद, जो आज कल्पना की-सी गई है, बहुत भली मालूम होती है।

: २२ :

जीविका के लिए मनुष्य का संघर्ष

२८ मार्च,

आओ, अब हम दुनिया के इतिहास के सिलसिले को, जहाँ से हम छोड़ा था, फिर शुरू करें और अतीत की कुछ झांकियाँ देखने की कोशि यह एक उलझा हुआ जाल है जिसका सुलझाना मुश्किल है और इसके सारे पर एक साथ नज़र डाल सकना और भी ज्यादा मुश्किल है। कभी-क उसके किसी खास टुकड़े में उलझने लगते हैं और उसे जरूरत से ज्याद देने लगते हैं। क़रीब-क़रीब सभीकी यह भावना होती है कि अपने देश क वह कोई-सा देश हो, इतिहास दूसरे देशों के इतिहास से ज्यादा शानदार अध्ययन के ज्यादा योग्य है। इस चीज़ के खिलाफ़ मैं एक बार पहले भी तुम् वनी दे चुका हूँ, और आज फिर वह देना चाहता हूँ। इस जाल में फं बहुत ही आसान है। सच तो यह है कि इसीसे बचाने के लिए मैंने तु पत्रों का लिखना शुरू किया था। लेकिन इसके बावजूद कभी-कभी मैं करता हूँ कि मैं खुद वही ग़लती कर बैठता हूँ। लेकिन अगर खुद मेरी ही में कसर है और जो इतिहास मुझे पढ़ाया गया, वही ऊट-पटाँग है तो इस क्या क़सूर? इस कमी को पूरा करने के लिए मैंने जेल के एकान्त में आगे करने की कोशिश की और उसमें मुझे शायद कुछ हद तक कामयाबी भी मि लेकिन अपने मन की चित्रशाला में घटनाओं और व्यक्तियों की जिन को मैंने अपने बचपन और जवानी के दिनों में लटकाया था, उन्हें वहाँ से ह सकता। इतिहास के बारे में मेरे दृष्टिकोण पर, जो अधूरे ज्ञान की से वैसे ही काफ़ी सीमित है, इन तसवीरों का भी असर पड़ता है। इसलिए मैं लिखूंगा उसमें मुझसे ग़लतियाँ होंगी; बहुत-सी बेमतलब बातें लिख और कई बार बहुत-सी महत्वपूर्ण बातों का जिक्र तक करना भूल लेकिन ये पत्र इसलिए लिखे भी नहीं गये हैं कि वे इतिहास की पुस्तकों ले लें। ये तो उस आपसी छोटी-छोटी बातचीत की तरह हैं—कम-से-कम

हें ऐसा ही समझकर खुश होता हूँ—जो हम दोनों में होतीं, अगर एक हज़ार ल का फ़ासला और कई ठोस दीवारें हम दोनों को जुदा न किये होतीं।

मैं उन मशहूर आदमियों के बारे में तुम्हें लिखे बिना नहीं रह सकता जिनके नदार कारनामों से इतिहास के पृष्ठ भरे हुए हैं। अपने ढंग पर उनके खुद के ल भी दिलचस्प हैं और उनसे हमें उस ज़माने को समझने में मदद मिलती है समें वे हुए थे। लेकिन इतिहास सिर्फ़ बड़े-बड़े आदमियों, बादशाहों, सम्राटों इसी तरह के दूसरे व्यक्तियों के कारनामों का लेखा ही तो नहीं है। अगर ऐसा ता तो इतिहास का काम अभी तक खत्म हो जाना चाहिए था, क्योंकि बादशाह र शहंशाह दुनिया के रंगमंच पर अब अकड़कर चलते हुए दिखाई नहीं देते। किन वास्तव में महान् स्त्रियों और पुरुषों को अपने प्रदर्शन के लिए किसी ताज तख्त या हीरे जवाहरात या खिताबों की ज़रूरत नहीं है। सिर्फ़ राजाओं और वाबों को, जिनके अन्दर सिवाय राजापन या नवाबी के और कुछ भी नहीं होता, पना नंगापन छिपाने के लिए तरह-तरह की वर्दियाँ और राजसी पोशाकें पह-नी पड़ती हैं। बदक़िस्मती से इस ऊपरी दिखावे से हममें से बहुत-से इस असर आ जाते हैं और लोग धोखे में फँस जाते हैं और सिर पर ताज रखनेवाले म-मात्र के राजा को राजा कहने की ग़लती कर लेते हैं।

असली इतिहास में इधर-उधर के कुछ इने-गिने व्यक्तियों का वर्णन नहीं ना चाहिए, बल्कि जनता के लोगों का होना चाहिए, जिनसे राष्ट्र बनता है, मेहनत करते हैं और अपने श्रम से जीवन की ज़रूरतों और सुख-सुविधा चीज़ें पैदा करते हैं, और जो हज़ारों ढंग से एक दूसरे पर असर डालते हैं। नुष्य-जाति का ऐसा इतिहास सचमुच एक चित्ताकर्षक कहानी होगी। यह कहानी गी युगों से चले आते हुए मनुष्य के प्रकृति और उसके तत्वों वगैरा से, जंगली नवरों और जंगलों से, संघर्ष की; और अन्त में उस कठिन संघर्ष की जो उसे पनी ही जाति के कुछ ऐसे लोगों के खिलाफ़ करना पड़ा, जिन्होंने अपने स्वार्थ लिए उसे दबाये रखने की और उसका शोषण करने की कोशिश की। इतिहास जीविका के लिए मनुष्य के संघर्ष की कहानी है, और चूंकि जिन्दा रहने के ए कुछ चीजें, जैसे भोजन, रहने की जगह, और ठण्डे मुल्कों में कपड़े, ज़रूरी हैं, सलिए जिन लोगों का ज़रूरत के इन सामानों पर नियन्त्रण रहा, उन्होंने अपनी मत जमा ली। राजाओं और हाकिमों के हाथ में सत्ता इसी वजह से रही है, जीविका के कुछ आवश्यक साधनों पर उनका अधिकार या नियन्त्रण था और नियन्त्रण ने उन्हें जनता को भूखों मारकर अपने वश में कर लेने की ताक़त दी। इसी वजह से हमें यह अजीब दृश्य देखने को मिलता है कि मुट्ठी भर दमी बहुत बड़े जन-समुदाय को चूस रहे हैं; बहुत-से आदमी बिना कुछ मेहनत

किये ही रुपया कमा रहे हैं और बहुत बड़ी संख्या में ऐसे लोग हैं, जो मेहनत हैं, लेकिन कमाते बहुत कम हैं।

शुरू में अकेले शिकार करनेवाला जंगली आदमी धीरे-धीरे अपना बना लेता है और फिर सारा कुनबा मिलकर और एक दूसरे के फ़ायदे मेहनत करता है। बहुत-से कुनबे आपस में मिलकर गाँव बना लेते हैं; औ में कई गाँवों के मज़दूर, व्यापारी और दस्तकार मिलकर कारीगरों के सं लेते हैं। इस तरह धीरे-धीरे सामाजिक इकाई बढ़ती दीखती है। शुरू में था जो जंगली था। उस समय किसी तरह का कोई समाज नहीं था। उसं कुटुम्ब उससे बड़ी इकाई बनी, और उसके बाद गाँव और फिर गाँवों का समूह इस सामाजिक इकाई का विकास क्यों हुआ? इसलिए कि जीविका के लि ने मनुष्य को उन्नति और सहयोग करने पर मजबूर कर दिया, क्योंकि के साथ समान शत्रु से बचाव करना या उस पर हमला करना ज्यादा कारगर है, बनिस्वत इसके कि सब अलग-अलग अपना बचाव करें या हमला करें। करने में सहयोग इससे भी ज्यादा मददगार साबित हुआ। अकेले काम क बनिस्वत मिल-जुलकर काम करने से वे भोजन और दूसरी आवश्यक चीज़ें ज्यादा पैदा कर सकते थे। काम में इस सहयोग के फलस्वरूप आर्थिक इ भी विकास होने लगा—जहाँ पहले अकेला जंगली आदमी अपने लिए ही करता था, वहाँ अब बड़े-बड़े समुदाय बन गये। बहुत मुमकिन है कि म आजीविका के इस संघर्ष की वजह से आर्थिक इकाई का जो विकास हुआ समाज और सामाजिक इकाई का विकास हुआ हो। इतिहास के लम्बे में हम लगातार संघर्ष और मुसीबतों के बीच भी यह विकास बराबर देख हैं, और कभी-कभी उलटी धारा भी बही है। लेकिन तुम यह न समझ बै इस विकास का यह मतलब है कि दुनिया बहुत आगे बढ़ गई है, या पहले से सुखी हो गई है। सम्भव है, पहले से आज उसकी हालत बेहतर हो, लेकिन से अभी वह बहुत दूर है और हर जगह काफ़ी दुःख और दरिद्रता है।

जैसे-जैसे आर्थिक और सामाजिक इकाइयाँ विकास करती गईं, जिन्द और ज्यादा पेचीदा होती गई। वाणिज्य और व्यापार ने तरक्क़ी की। की जगह चीज़ों की अदला-बदली शुरू हुई। और फिर सिक्के का चलन हुआ, लेन-देन के सब व्यवहारों में ज़बर्दस्त अन्तर पैदा कर दिया। इससे व्या एकदम तरक्क़ी हुई, क्योंकि सोने और चाँदी के सिक्कों में दाम दिये जा वजह से खरीद-बिक्री आसान हो गई। इसके बाद सिक्कों का इस्तेमाल भी ज़रूरी नहीं रहा और लोगों ने उनकी जगह प्रतीक इस्तेमाल करने शुरू कर काग़ज़ का टुकड़ा, जिसपर अदायगी का वादा लिखा हुआ हो, काफ़ी

ने लगा। इस प्रकार बैंक-नोटों और चैकों का चलन शुरू हुआ। इसका मतलब हुआ कि व्यापार उधार या साख पर चलने लगा। साख या उधार के तरीक़े से पार और वाणिज्य में और भी ज्यादा मदद मिलती है! तुम जानती ही हो कि जकल चैक और बैंक-नोटों का काफ़ी इस्तेमाल होता है और समझदार आदमी अपने साथ सोने और चाँदी की थैलियाँ लिये नहीं फिरते।

इस तरह हम यह देखते हैं कि ज्यों-ज्यों धुँधले अतीत में से इतिहास आगे ता है, लोग माल की उपज बढ़ाते जाते हैं और ख़ास-ख़ास धन्धे अपनाते जाते आपस में माल की अदला-बदली करते हैं और इस तरह व्यापार की उन्नति रते हैं। हम यह भी देखते हैं कि आवागमन के नये और बेहतर साधनों का कास हुआ; ख़ासकर पिछले सौ वर्षों में, भाप के इंजन की ईजाद के बाद। ों-ज्यों पैदावार बढ़ी, दुनिया की सम्पत्ति बढ़ी और कम-से-कम कुछ आदमियों ज्यादा फ़ुरसत मिल गई। और इस तरह जिसे हम सभ्यता कहते हैं, उसका कास होता है।

यह सब होता है और लोग आजकल के प्रबुद्ध और प्रगतिशील युग की, पनी आधुनिक सभ्यता, महान् संस्कृति और विज्ञान के चमत्कारों की डींगें मारते । लेकिन ग़रीब लोग अभी भी ग़रीब और दुखी बने हुए हैं; बड़े-बड़े राष्ट्र एक सरे से लड़ते हैं और लाखों आदमियों की हत्या करते हैं; और हमारे देश-जैसे ड़े-बड़े देशों पर विदेशी लोग हुकूमत करते हैं। ऐसी सभ्यता से क्या लाभ अगर में अपने ही घर में आज़ादी नसीब नहीं है? लेकिन अब हम जाग चुके हैं, और आगे ढ़ने की कोशिश कर रहे हैं।

कितने सौभाग्य की बात है कि हम आज के इस हलचल के ज़माने में रह हे हैं, जबकि हरेक आदमी महान् साहसिक कार्यों में हिस्सा ले सकता है और र्फ़ भारत को ही नहीं बल्कि सारी दुनिया को बदलती हुई देख सकता है! तुम ड़ी ख़ुशक़िस्मत लड़की हो, कि तुम उसी साल और महीने में पैदा हुई जिसमें एक हान् क्रान्ति ने रूस में नया युग शुरू किया। और आज तुम अपने ही देश में एक ान्ति देख रही हो और बहुत सम्भव है कि जल्दी ही तुम इसमें हिस्सा भी लो। ारी दुनिया में मुसीबत फैली हुई है और परिवर्तन हो रहा है। सुदूर-पूर्व में जापान चीन का गला घोंट रहा है। पश्चिम में ही नहीं बल्कि सारी दुनिया में पुरानी णाली लड़खड़ा रही है और धड़ाम से गिरने ही वाली है। संसार के राष्ट्र बातें तो निरस्त्रीकरण की करते हैं, लेकिन एक-दूसरे से सन्देह को नज़र से देखते हैं और अपने को पूरी तरह हथियार-बन्द करते रहते हैं। पूँजीवाद की, जो इतने ज़्यादा अर्से से दुनिया के ऊपर हावी रहा है, अब शाम होने आई है। जिस दिन यह ख़त्म होगा, और ख़त्म तो उसे ज़रूर ही होना पड़ेगा, वह अपने साथ बहुत-सी बुराइयों को भी लेता जायगा।

: २३ :

सिंहावलोकन

२९ मार्च,

युगों की अपनी यात्रा में हम कहाँ तक आ पहुँचे हैं ? हम मिस्र, मा और नोसास के गुज़रे दिनों की कुछ चर्चा पहले ही कर चुके हैं। हमने यह मिस्र की प्राचीन और अद्भुत सभ्यता, जिसने पिरेमिड बनाये, धीरे-धी हो गई और एक छायामात्र रह गई, जिसमें सिवाय ऊपरी बातों और के जीवन-तत्व कुछ भी न बचा। हमने यह भी देखा कि नोसास को यूनान भूमि के निवासी उसी के जाति-भाइयों ने नष्ट कर दिया। भारत औ के धुंधले और प्राचीन प्रारम्भिक काल पर भी हमने एक नज़र डाली, जानकारी की काफ़ी सामग्री न मिलने की वजह से हम ज़्यादा न सके, लेकिन इतना हमने ज़रूर पहचाना कि उस ज़माने में भी इनकी कितनी सम्पन्न थी। हमने ताज्जुब के साथ यह भी देखा कि ये दो सांस्कृतिक लिहाज़ से अपने हज़ारों वर्ष पुराने अतीत के साथ अटूट जुड़े हुए हैं। इराक़ में हमें उन साम्राज्यों की ज़रा-सी झलक मिली, जो बाद एक थोड़े दिनों के लिए फूले-फले और बाद में उनका वही हाल साम्राज्यों का हुआ करता है।

हमने जुदा-जुदा देशों के कई महान् विचारकों का भी कुछ ज़ि है, जो ईसा से पाँच-छः सौ वर्ष पहले हुए थे—भारत में बुद्ध और महावी में कनफ़्यूशस और लाओ-त्से, ईरान में ज़रथुस्त और यूनान में पाइ हमने देखा कि बुद्ध ने भारत के प्राचीन वैदिक धर्म के प्रचलित रूपों प पुरोहिताई पर वार किया था, क्योंकि उन्होंने देखा कि तरह-तरह के अन्ध और पूजा-पाठ से साधारण जनता को ठगा और मूँड़ा जा रहा था। उन्होंने प्रथा के खिलाफ़ आवाज़ उठाई और समानता का उपदेश दिया।

इसके बाद फिर हम पश्चिम की ओर चले गए, जहाँ एशिया और एक-दूसरे से मिलते हैं। ईरान और यूनान के उतार-चढ़ावों पर नज़र हुए हमने देखा कि ईरान में कैसे एक बड़ा साम्राज्य क़ायम हुआ और कि 'शहंशाह' दारा ने, उसे ठेठ भारत में सिन्ध तक बढ़ा दिया; किस त साम्राज्य ने छोटे-से यूनान को निगल जाने की कोशिश की, लेकिन बड़ी से देखा कि इस छोटे-से देश ने उलटकर टक्कर मारी और डटकर अप की। इसके बाद यूनान के इतिहास का वह थोड़े दिन का लेकिन शानदार आया, जिसके बारे में मैं तुम्हें कुछ बता चुका हूँ और जब वहाँ ढेरों प्रति

र महान् पुरुष हुए, जिन्होंने साहित्य और कला की उच्चतम सौन्दर्यमयी नाएँ रचीं।

यूनान का यह स्वर्ण युग बहुत दिनों तक टिका नहीं रहा। मक़दूनिया के कन्दर ने अपनी देश-विजयों से यूनान का नाम दूर-दूर मशहूर कर दिया; लेकिन के साथ ही यूनान की ऊँची संस्कृति धीरे-धीरे मुरझाने लगी। सिक़न्दर ने ानी साम्राज्य को नष्ट कर दिया और विजेता बनकर भारत की सीमा को पार किया। इसमें शक नहीं कि वह बहुत बड़ा सेनापति था, लेकिन पुरानी म्परा ने उसके नाम के साथ बेशुमार दन्तकथाएँ गूँथ दी हैं और उससे उसे इतनी हरत मिल गई है जितनी का कि वह किसी तरह पात्र नहीं था। सिर्फ़ अच्छे -लिखे लोग ही सुकरात या अफ़लातून या फ़ीदियस[1] या सोफ़ोक्ले या यूनान दूसरे महापुरुषों के बारे में कुछ जानते हैं। लेकिन सिकन्दर का नाम किसने हीं सुना?

सिकन्दर ने दूसरों के मुक़ाबले में ज़्यादा कुछ नहीं किया। ईरानी साम्राज्य राना हो गया था और डगमगा रहा था और उसके बहुत दिनों तक टिके रहने ी कोई सम्भावना नहीं थी। भारत में सिकन्दर का क़दम रखना एक मामूली ापा था, जिसका कोई महत्व नहीं था। अगर सिकन्दर ज़्यादा दिन ज़िन्दा रहता ो सम्भव है, कुछ अधिक ठोस काम कर जाता। लेकिन वह जवानी में ही मर गया ौर तुरन्त ही उसका साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। लेकिन उसका साम्राज्य ले ही क़ायम न रहा, उसका नाम अभी तक चला आता है।

सिकन्दर के पूर्वी धावे का एक बड़ा असर यह हुआ कि पूर्व और पश्चिम बीच नये सम्पर्क क़ायम हो गये। बहुत-से यूनानी पूर्व की तरफ़ आये और पुराने हरों में या अपने बसाये हुए नये उपनिवेशों में बस गये। सिकन्दर से पहले भी ूर्व और पश्चिम के बीच आपसी सम्पर्क और व्यापार चलता था। लेकिन उसके ाद यह और भी ज़्यादा बढ़ गया।

सिकन्दर के हमलों का शायद दूसरा असर, अगर यह ख़याल सही हो, तो ूनानियों के लिए बड़ी कम्बख़्ती का हुआ। कुछ लोगों का मत है कि उसके सैनिक अपने साथ इराक़ के दलदलों से मलेरिया के मच्छर यूनान के निचले प्रान्तों में ले गये। इससे मलेरिया फैला और उसने यूनानी क़ौम को कमज़ोर और क्षीण

---

[1] फ़ीदियस—यूनान देश का एक मशहूर शिल्पकार। इसका समय ईसा से ५ सौ वर्ष पहले बताया जाता है। ओलिम्पस पहाड़ पर इसने यूनानी देवता जुपिटर की एक मूर्ति बनाई थी। यह मूर्ति सोने और हाथी दाँत की थी और उसकी गिनती दुनिया की सात अद्भुत चीज़ों में की जाती थी।

बना दिया। यूनानियों के पतन के कारणों में एक कारण यह भी बता
है। लेकिन यह सिर्फ़ कल्पना है और कोई नहीं जानता कि इसमें
कितनी है।

सिकन्दर का थोड़े दिन की ज़िन्दगीवाला साम्राज्य ख़त्म हो गया। उसकी जगह कई छोटे-छोटे साम्राज्य पैदा हो गये। उनमें से एक मिस्र का था, जो ताल्मी के अधीन था और दूसरा पश्चिमी एशिया का सेलेउक के था। ताल्मी और सेलेउक दोनों सिकन्दर के सेनापति थे। सेलेउक ने भा क़ब्ज़ा करना चाहा लेकिन वह यह देखकर पछताया कि भारत भी ज़ोरदार टक्कर दे सकता है। चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने सारे उत्तरी और मध्य भारत पर शक्तिशाली राज्य क़ायम कर लिया था। चन्द्रगुप्त, उसके प्रसिद्ध ब्राह्म चाणक्य, और उसकी लिखी हुई पुस्तक अर्थशास्त्र के बारे में मैं अपने पत्रों में कुछ हाल लिख चुका हूँ। सौभाग्य की बात है कि यह ग्रन्थ आज हज़ार वर्ष पहले के भारत की अच्छी तसवीर हमारे सामने रख देता है।

हमारा सिंहावलोकन पूरा हो गया और अब अगले पत्र में मौर्य्य-स और अशोक के बारे में आगे लिखा जायगा। चौदह महीने से ऊ २५ जनवरी, सन् १९३१ ई० को, नैनी-जेल से मैंने यह वादा किया था। उ को मुझे अभी पूरा करना बाक़ी है।

: २४ :

'देवानां प्रिय' अशोक

३० मार्च,

मुझे लगता है कि शायद मैं राजा-महाराजाओं की बुराई करने का से ज़्यादा शौक़ीन हो गया हूँ। मुझे इस वर्ग में कोई ऐसा कुछ नहीं दिखा जिसकी तारीफ़ या इज़्ज़त करूँ। लेकिन अब हम एक ऐसे व्यक्ति का ज़िक्र वाले हैं जो बादशाह और सम्राट् होते हुए भी महान् था और मानव-प्र लायक था। वह था चन्द्रगुप्त मौर्य्य का पोता अशोक। एच० जी० वेल्स ने (कुछ रोमानी रचनाएँ तुमने पढ़ी होंगी) अपनी 'इतिहास की रूप-रेखा'[1] में बारे में लिखा है—"इतिहास के पृष्ठों में संसार के जिन तरह-तरह की उपा वाले लाखों राजाओं के नाम भरे पड़े हैं, उनमें अकेले अशोक का नाम ही सि तरह चमकता है। वोल्गा नदी से जापान तक आज भी उसका नाम आदर लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत ने भी—हालाँकि उसने उस

---

[1] Outline of History—H. G. Wells

न्तों को छोड़ दिया है—उसकी महानता की परम्परा को क़ायम रक्खा है। अशोक का नाम श्रद्धा के साथ याद करनेवालों की संख्या उनसे कहीं ज्यादा न्होंने कॉन्स्तेन्तीन[1] या शार्लमेन[2] के नाम कभी सुने हों।"

यह वास्तव में बहुत ऊँचे दर्जे की प्रशंसा है। लेकिन अशोक इसका पात्र और एक भारतवासी का हृदय तो भारत के इतिहास के इस काल का विचार ने में आनन्द से भर जाता है।

चन्द्रगुप्त की मृत्यु ईसाई सन् के शुरू होने के क़रीब ३०० वर्ष पहले हुई। के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार गद्दी पर बैठा जिसने पच्चीस वर्ष तक शान्ति के शासन किया। यूनानी जगत् से उसने अपना सम्पर्क बनाये रक्खा। उसके ार में पश्चिम एशिया के सेलेउक के पुत्र अन्तीओक और मिस्र के तालमी ओर से राजदूत आते थे। बाहरी दुनिया से व्यापार बराबर जारी था और जाता है कि मिस्रवाले अपने कपड़े भारत के नील से रँगा करते थे। कहते हैं ये लोग अपनी मोमियाईयाँ भारत की मलमल में लपेटते थे। बिहार में कुछ ने अवशेष मिले हैं, जिनसे मालूम होता है कि मौर्य्य-युग के पहले भी वहाँ तरह का काँच बनाया जाता था।

तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि मैगस्थेने ने, जो चन्द्रगुप्त के रबार में राजदूत होकर आया था, लिखा है कि भारतीय लोग सिंगार और न्दर्य के बड़े प्रेमी थे। उसने इस बात का खासतौर से ज़िक्र किया है कि लोग पना क़द ऊँचा करने के लिए जूते पहनते थे! इससे मालूम होता है कि ऊँची डी का जूता कोई हाल की ईजाद नहीं है।

बिन्दुसार की मृत्यु होने पर ईसा से २६८ वर्ष पूर्व अशोक उस विशाल म्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, जिसमें सारा उत्तर और मध्य भारत शामिल ा और जो ठेठ मध्य एशिया तक फैला हुआ था। शायद भारत के बाक़ी दक्षिण-र्वी और दक्षिणी हिस्से को अपने साम्राज्य में मिलाने की इच्छा से उसने अपने ाज्य के नवें वर्ष में कलिंग पर चढ़ाई की। कलिंग भारत के पूर्वी समुद्रतट पर हानदी, गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच का देश था। कलिंगवाले बड़ी

---

[1] कॉन्स्तेन्तीन या कॉन्स्टेन्टाइन—बिज़ैन्तीन साम्राज्य का पहला बादाह जो 'महान्' कहलाता है। इसका समय २७३-२३७ ई० है। तुर्की का स्तुन्तुनिया नगर इसीका बसाया हुआ है। अब इस शहर का नाम इस्तम्बूल और यह तुर्की की राजधानी है।

[2] शार्लमेन—पवित्र रोमन-सम्राट् और फ्रान्सीसी जाति का राजा था। इसका जन्म सन् ७४२ में हुआ था। इसके साम्राज्य में क़रीब सारा पश्चिमी यूरोप था। ८१४ ई० में इसकी मृत्यु हुई।

बहादुरी से लड़े, लेकिन आखिर में बहुत भयंकर मार-काट के बाद दिये गए। इस युद्ध और मार-काट का अशोक के दिल पर इतना गहरा कि उसे युद्ध और युद्ध की सब कार्रवाइयों से घृणा हो गई। उसने यह तय कि आगे वह कोई युद्ध नहीं करेगा। दक्षिण के एक छोटे-से सिरे को छोड़ क़रीब सारा भारत उसके क़ब्ज़े में था। इस छोटे-से सिरे को जीतकर अप पूर्ण कर लेना उसके लिए बहुत आसान बात थी, लेकिन उसने ऐसा नहीं एच० जी० वेल्स के अनुसार इतिहास भर में अशोक ही एक ऐसा सैनि हुआ है, जिसने विजय के बाद युद्ध करना त्याग दिया हो।

सौभाग्य से हमारे पास खुद अशोक के ही शब्द हैं, जिनसे पता लग उसके क्या विचार थे और उसने क्या-क्या काम किये। पत्थरों या पर खुदवाये हुए अनेक धर्मलेखों में अपनी प्रजा और भावी सन्तति के ना सन्देश आज भी मिलते हैं। तुम जानती ही हो कि इलाहाबाद के क़िले का एक ऐसा ही स्तम्भ है। हमारे प्रान्त में इस तरह के और भी कई स्तम्

इन धर्मलेखों में अशोक ने बताया है कि युद्ध और देश-विजय से हत्याओं से उसके दिल में कितनी घृणा और कितना अनुताप हुआ। उस है कि धर्म से अपने और मानव-हृदय के ऊपर विजय हासिल करना ही सच्ची विजय है। मैं तुम्हारे लिए इन धर्मलेखों में से दो-एक यहाँ देता हूँ। कर मन मोहित हो जाता है। उनसे तुम्हें अशोक को समझने में मदद

एक धर्मलेख में कहा गया है—

> “देवानां प्रिय प्रियदर्शी महाराज ने अपने अभिषेक के वर्ष बाद कलिंग को जीता। डेढ़ लाख आदमी वहाँ से क़ैद करके गए, एक लाख वहाँ मारे गए और इससे कई गुना अधिक मर गये।
>
> “कलिंग-विजय के ठीक बाद ही देवानां प्रिय बड़े उत्साह धर्म की रक्षा, धर्म के पालन और धर्म के प्रचार में जुट गये। उन हृदय में कलिंग-विजय के लिए पश्चात्ताप शुरू हुआ, क्योंकि कि अपराजित देश पर विजय प्राप्त करने में लोगों की हत्या, मृत्यु और देश-निष्कासन ज़रूरी हो जाता है। देवानां प्रिय को इस बात प बहुत गहरा दुःख और खेद होता है।”

आगे चलकर इसी धर्मलेख में लिखा है कि कलिंग में जितने आद गए, या क़ैद हुए उसके सौवें या हज़ारवें हिस्से का भी मारा जाना या क़ैद जाना अब अशोक को सहन नहीं होगा।

> “इसके सिवा अगर कोई देवानां प्रिय का अपकार भी कर तो वह उसे, यदि वह क्षमा के योग्य है तो क्षमा कर देंगे। अपने साम्रा

अशोक का साम्राज्य

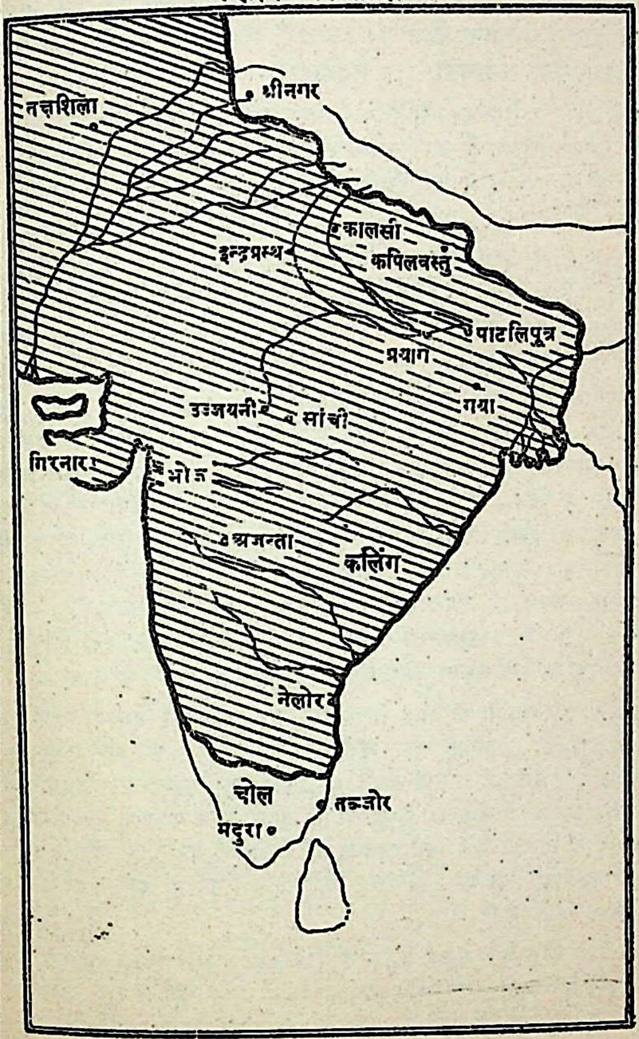
श्रीनगर
तक्षशिला
कालसी
इन्द्रप्रस्थ
कपिलवस्तु
पाटलिपुत्र
प्रयाग
गया
उज्जयनी
सांची
गिरनार
भोज
अजन्ता
कलिंग
नेलोर
चोल
तञ्जोर
मदुरा

के वनवासियों को भी देवानां प्रिय सन्तुष्ट रखते हैं और उन्हें लाने का यत्न करते हैं, क्योंकि अगर वह ऐसा न करें तो उन्हें ताप होता है। देवानां प्रिय की इच्छा है कि समस्त प्राणियों के अहिंसा, संयम, समानता और मृदुता का व्यवहार किया जाय।'

इसके आगे अशोक बताता है कि 'उपासना' और 'शील' से मनुष्यों जीतना ही सच्ची विजय है और उसने हमें बताया है कि उसे ऐसी सच्ची केवल अपने ही साम्राज्य में नहीं, बल्कि दूर-दूर के राज्यों में भी प्राप्त

जिस धर्म का इन धर्मलेखों में बार-बार ज़िक्र आया है वह बौद्ध अशोक बड़ा उत्साही बौद्ध हो गया था और उसने इस धर्म के प्रचार कोशिश की। लेकिन उसमें किसी तरह की जबर्दस्ती या दबाव का नाम नहीं था। वह लोगों के दिलों को जीतकर ही उन्हें बौद्ध-धर्म का अनुया चाहता था। धर्म-प्रचारकों में ऐसे बहुत कम क्या, बिलकुल ही कम हुए हैं की तरह दूसरे धर्मों के प्रति इतने उदार रहे हों। लोगों को अपने धर्म में लिए धर्म-प्रचारकों ने बल, आतंक और धोखेबाज़ी काम में लाने में नहीं की है। सारा इतिहास मज़हबी अत्याचारों और मज़हबी युद्धों से है और मज़हब व ईश्वर के नाम पर जितना खून बहा है उतना शायद दूसरे नाम पर बहा होगा। इसलिए यह याद करके खुशी होती है कि भा महान् सपूत ने, जो बहुत ही गहरा धार्मिक था और एक शक्तिशाली सा अध्यक्ष भी था, लोगों को अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए कैसा नाया। ताज्जुब है कि कोई इतना बेवकूफ़ हो कि यह ख़याल करे कि विश्वास तलवार या संगीन की नोक पर लोगों के गले उतारे जा सकते

इस प्रकार देवताओं के प्रिय, या धर्मलेखों के शब्दों में 'देवानां प्रिय ने पश्चिम में एशिया, अफ्रीका और यूरोप के राज्यों में अपने सन्देश-वा राजदूत भेजे। तुम्हें याद होगा कि उसने अपने सगे भाई महेन्द्र और बहन को लंका भेजा था और कहा जाता है कि ये अपने साथ गया से पवित्र की एक टहनी भी ले गये थे। तुम्हें याद है न कि अनुरुद्धपुर के मन्दिर में ने एक पीपल का पेड़ देखा था? कहते हैं कि यह वही पेड़ है, जो उस प्राची से उगकर बड़ा हुआ है।

भारत में बौद्ध-धर्म बहुत तेज़ी से फैल गया। और चूंकि अशोक कोरी प्रार्थनाओं और पूजा-पाठ और कर्मकाण्ड का नाम धर्म न था, बल्कि अर्थ था नेक काम करना और समाज को ऊँचा उठाना, इसलिए सारे देश जनिक बाग़-बगीचे, अस्पताल, कुएँ ओर सड़कें बनाये जाने लगे। स्त्रियों के लिए खास इन्तज़ाम किया गया था। चार बड़े विश्वविद्यालयवाले नगर

में पेशावर के पास तक्षशिला, मथुरा, मध्यभारत में उज्जैन, और पटना के पास दा। यहाँ सिर्फ़ भारत के ही नहीं बल्कि चीन से लेकर पश्चिमी एशिया तक के र के देशों से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे और लौटकर अपने देशों को बुद्ध पदेशों का सन्देश अपने साथ ले जाते थे। सारे देश में बड़े-बड़े मठ बन गये थे, विहार कहलाते थे। मालूम होता है, पाटलिपुत्र या पटना के आसपास इतने विहार थे कि सारा प्रान्त ही विहार, या जैसा कि आजकल पुकारा जाता है, र कहलाने लगा। लेकिन जैसा कि अक्सर होता है, ये विहार अध्ययन और र की साधना थोड़े ही दिनों में खो बैठे, और सिर्फ़ ऐसे स्थान बन गये जहाँ एक ढर्रे पर चलते थे और पूजा-पाठ करते रहते थे।

जीव-रक्षा के लिए अशोक की लगन जानवरों तक के लिए बढ़ गई थी। वरों के लिए खासतौर से अस्पताल खोले गये थे, और पशु-बलि बन्द कर दी थी। इन दोनों बातों में अशोक हमारे ज़माने से भी कुछ आगे था। अफ़सोस बात है कि पशुओं का बलिदान कुछ हद तक अभी भी जारी है और धर्म का ज़रूरी अंग माना जाता है; और जानवरों के इलाज का कोई इन्तज़ाम है।

अशोक के उदाहरण से और बौद्ध-धर्म के प्रचार से माँस न खाना बहुत अच्छा ा जाने लगा। उस समय तक भारत के ब्राह्मण और क्षत्रिय आमतौर पर माँस थे और शराब पीते थे। अशोक के ज़माने में माँस खाना और मदिरा पीना ही बहुत कम हो गये।

इस तरह अशोक ने ३८ वर्ष राज किया और उसने शान्तिपूर्वक जनता भलाई करने की भरसक कोशिश की। सार्वजनिक काम के लिए वह हमेशा र रहता था:

> "हर समय और हर जगह पर—चाहे मैं खाता होऊँ या रनिवास में होऊँ, अपने सोने के कमरे में होऊँ या टहलता होऊँ, या सवारी पर होऊँ या कूच कर रहा होऊँ, प्रतिवेदकों को चाहिए कि वे प्रजा के हाल-चाल की मुझे बराबर सूचना देते रहें।" अगर कोई कठिनाई उठ खड़ी होती तो "चाहे जो समय या चाहे जो जगह हो" उसकी सूचना तुरन्त उसे दी जानी ज़रूरी थी, क्योंकि उसका कहना था कि "मैं प्रजा का काम सब जगह करता हूँ" और "सब लोगों का हित करना मैं अपना प्रधान कर्त्तव्य समझता हूँ।"

ईसा से २२६ वर्ष पूर्व अशोक की मृत्यु हो गई। मृत्यु के कुछ दिन पहले वह -पाट छोड़कर बौद्ध-भिक्षु हो गया था।

मौर्य्य-युग के बहुत कम अवशेष पाये जाते हैं। लेकिन जो मिलते हैं, वे ही,

अभी तक की खोज के अनुसार, भारत में आर्य-सभ्यता के लगभग सब अवशेष हैं। अभी हम मोहेन-जो-दड़ो के खण्डहरों का जिक्र नहीं कर रहे हैं। के पास सारनाथ में तुम अशोक का सुन्दर स्तम्भ देख सकती हो, जिस पर शेर बने हुए हैं।

अशोक की राजधानी पाटलिपुत्र के विशाल नगर का अब कोई बाक़ी नहीं है। पन्द्रह सौ वर्ष पहले, यानी अशोक के छः सौ वर्ष बाद, फ़ा नामक एक चीनी यात्री ने पाटलिपुत्र वास्तव में देखा था। उस समय गुलज़ार था और मालदार और ख़ुशहाल था, लेकिन तबतक अशोक का का राजमहल खण्डहर हो चुका था। इन खण्डहरों ने ही फ़ाहियान को वह वित किया और उसने अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है कि राजमहल का बनाया हुआ नहीं मालूम होता था!

बड़े भारी-भारी पत्थरों से बना हुआ राजमहल नष्ट हो गया और कोई निशानी नहीं छोड़ गया, लेकिन अशोक की कीर्ति एशिया के सारे में आज भी जीवित है और उसके धर्मलेख आज भी ऐसी भाषा बोलते हम समझ सकते हैं और जिसकी क़ीमत हम पहचान सकते हैं। आज भी ह बहुत-कुछ सीख सकते हैं। यह पत्र बहुत लम्बा हो गया है और मुमकिन इससे उकता जाओ। अशोक के एक धर्मलेख से एक उद्धरण देकर मैं करता हूँ—

> "हर अवस्था में दूसरे सम्प्रदायों का आदर करना लो का कर्त्तव्य है। ऐसा करने से मनुष्य अपने सम्प्रदाय की अधिक उन्न और दूसरे सम्प्रदायों का उपकार करता है।"

: २५ :

अशोक के ज़माने की दुनिया

३१ मार्च,

हम देख चुके हैं कि अशोक ने दूर-दूर के देशों में धर्म-प्रचारक और भेजे थे और इन देशों से भारत का सम्पर्क और व्यापार बराबर जारी था जब मैं उस ज़माने के सम्पर्क का या व्यापार का ज़िक्र करता हूँ तो तुम्हें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वह आजकल जैसा बिलकुल नहीं था। अब तो

फ़ाहियान—एक चीनी बौद्ध यात्री था। मगध-सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में भारत में आया था और ६ बरस तक यहाँ घूमता रहा। इस ज़माने के भारतवर्ष का बहुत अच्छा वर्णन लिखा है। इसका समय ३७५

ाज़ और हवाई-जहाज़ से माल और मुसाफ़िरों का एक जगह से दूसरी जगह ना-जाना बहुत आसान हो गया है। लेकिन दूर अतीत के उस ज़माने में हर र में ख़तरा रहता था और दिन भी बहुत लग जाते थे। इसलिए सिर्फ़ साहसी र तगड़े लोग ही सफ़र किया करते थे। इसलिए उस वक़्त के और आज के पार की किसी भी तरह तुलना नहीं हो सकती।

वे कौन-से 'दूर के देश' थे जिनका ज़िक्र अशोक ने किया? उसके समय दुनिया कैसी थी? मिस्र और भूमध्यसागर के किनारे के देशों के सिवा हम वक़्त के अफ़्रीका के बारे में कुछ नहीं जानते। हमें उत्तरी, मध्य और पूर्वी प, या उत्तरी और मध्य एशिया के बारे में भी बहुत कम मालूम है। अमेरिका ारे में भी हम कुछ नहीं जानते; लेकिन बहुत-से लोग ऐसा समझते हैं कि अमे- ा के महाद्वीपों में बहुत प्राचीन काल से काफी ऊँची सभ्यता पाई जाती थी। त दिनों बाद, ईसा की १५वीं सदी में, कहते हैं कोलम्बस ने अमेरिका को 'खोज ाला'। लेकिन हमें पता चलता है कि उस समय भी दक्षिण अमेरिका के पेरू ौर आस-पास के देशों में बहुत ऊँचे दर्जे की सभ्यता मौजूद थी। इसलिए यह सम्भव है कि ईसा के तीन सौ वर्ष पहले, जब भारत में अशोक हुआ, अमेरिका ुसंस्कृत लोग रहते हों और उन्होंने अपने सुसंगठित समाज बनाये हों। लेकिन बारे में कोई तथ्य की बात नहीं मिलती, और अन्दाज़ा लगाने से कोई ख़ास दा नहीं। मैं तो उनका ज़िक्र इसलिए कर रहा हूँ कि हम लोग अक्सर यही झते हैं कि सभ्य लोग दुनिया के सिर्फ़ उन्हीं हिस्सों में रहते थे जिनके बारे में सुन चुके हैं या पढ़ चुके हैं। बहुत दिनों तक यूरोपवालों का यह ख़याल बना कि प्राचीन इतिहास का मतलब है सिर्फ़ यूनान, रोम और यहूदियों का हास। इनके पुराने ढंग के ख़यालों के अनुसार बाक़ी की सारी दुनिया उस वीरान रही होगी। बाद में जब उन्हीं के विद्वानों और पुरातत्त्ववेत्ताओं ने चीन, भारत और दूसरे देशों का हाल बताया, तब उन्हें पता चला कि उनका कितना सीमित था। इसलिए हमें सावधान रहना चाहिए और यह न समझ ा चाहिए कि जो कुछ हमारी इस दुनिया में हुआ है, वह सब कुछ हमारे मत ज्ञान के दायरे में आ जाता है।

इस समय तो हम इतना ही कह सकते हैं कि अशोक के ज़माने के, यानी पूर्व तीसरी सदी के प्राचीन सभ्य संसार में मुख्यतया यूरोप और अफ़्रीका के ध्यसागर के तटवर्ती देश, पश्चिमी एशिया, चीन और भारत ही माने जाते शायद पश्चिमी देशों और पश्चिमी एशिया तक से उस समय चीन का कोई सम्पर्क नहीं था और पश्चिम में चीन या कैथे के बारे में बे-सिर पैर की धारणाएँ हुई थीं। मालूम होता है चीन और पश्चिम को मिलानेवाली कड़ी का काम ा करता था।

हम देख चुके हैं कि सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य को सेनापतियों ने आपस में बाँट लिया था। उसके तीन बड़े-बड़े हिस्से हुए सेलेउक के अधीन पश्चिम एशिया, ईरान और इराक़; (२) तालमी के मिस्र; और (३) अन्तीगोने के अधीन मक़दूनिया। पहले दो राज्य बहुत तक क़ायम रहे। तुम्हें याद होगा कि सेलेउक भारत का पड़ौसी था और लालच में पड़कर भारत का कुछ हिस्सा अपने साम्राज्य में शामिल करना था। लेकिन उसका पाला चन्द्रगुप्त जैसे सवा-सेर से पड़ा, जिसने उसे पीछे कर उससे वह हिस्सा भी छीन लिया जो आजकल अफ़ग़ानिस्तान कहलाता

मक़दूनिया का भाग्य इनसे कुछ बुरा रहा। गॉल और दूसरी क़ौमों पर उत्तर से बार-बार हमला किया। उसका सिर्फ़ एक ही हिस्सा ऐसा इन गॉल लोगों का मुक़ाबला कर सका और आज़ाद रह सका। यह हिस्सा ए कोचक में परगेमम था, जहाँ आज तुर्की है। यह छोटा-सा यूनानी राज्य था; सौ वर्ष से ज़्यादा तक वह यूनानी संस्कृति और कलाओं का केन्द्र बना र सुन्दर-सुन्दर इमारतें, पुस्तकालय और अजायबघर बने। कुछ हद त समुद्र के उस पार इस्कन्दरिया से होड़ करने लगा था।

इस्कन्दरिया मिस्र में तालमी-वंश की राजधानी था। यह एक ब हो गया था और प्राचीन दुनिया में मशहूर था। एथेन्स का गौरव बहुत घ था और इस्कन्दरिया ने धीरे-धीरे यूनानियों के संस्कृति-केन्द्र की जगह ले इसके विशाल पुस्तकालय और अजायबघर से आकर्षित होकर दूर बहुत-से विद्यार्थी यहाँ आते थे और दर्शन, गणित, धर्म और दूसरी स पर, जिनमें प्राचीन दुनिया के विद्वानों की बहुत रुचि थी, चर्चाएँ करते उकलेदस[1], जिसका नाम तुमको और स्कूल में पढ़नेवाले हरेक लड़के को मालूम है, इस्कन्दरिया का रहनेवाला था और अशोक का समकालीन

तालमी-वंश के लोग, जैसा कि तुम जानती हो, यूनानी थे। लेकिन मिस्र के बहुत-से रस्म-रिवाजों को अपना लिया था, यहाँतक कि मिस्र पुराने देवताओं तक को वे पूजने लगे थे। पुराने यूनानियों के जुपिटर, और दूसरे देवी-देवता, जिनका होमर की वीरगाथाओं में बार-बार वैसा ही है जैसा महाभारत में वैदिक देवी-देवताओं का, या तो छोड़ दिये गए या उन बदलकर उन्हें दूसरे जामे पहना दिये गए। आइसिस, ओसिरिस, होर पुराने मिस्र के देवी-देवताओं और पुराने यूनान के देवी-देवताओं को मि

---

[1] उकलेदस या यूक्लिद—इसने रेखागणित के बहुत-से नियम सिद्धान्त निकाले और उनपर एक ग्रन्थ लिखा। इसका समय ईसा से ३ पूर्व है।

और एक कर दिया गया और जनता के सामने पूजा के लिए नये-नये देवी- ा रख दिये गए। जबतक लोगों को कोई-न-कोई देवता पूजने के लिए मिल ा था, तबतक इस बात से उन्हें क्या मतलब था कि वे किसके सामने सिर ते हैं, किसकी पूजा करते हैं और जिसकी पूजा करते हैं उसका नाम क्या है! नये देवताओं में सबसे मशहूर सिरेपिस कहलाता था।

इस्कन्दरिया तिजारत का भी बहुत बड़ा केन्द्र था और सभ्य संसार के दूसरे के व्यापारी वहाँ आते रहते थे। कहते हैं कि इस्कन्दरिया में भारतीय व्यापा- की भी एक बस्ती थी। हमें यह भी मालूम है कि इस्कन्दरिया के व्यापारियों एक बस्ती दक्षिण भारत में मलाबार के समुद्री किनारे पर थी।

भूमध्यसागर के उस पार, मिस्र से कुछ ही दूर रोम था जो बहुत महानता हुँच चुका था और जो आगे जाकर इससे भी ज्यादा महान् और शक्तिशाली ाला था। उसके बिलकुल सामने अफ्रीका के किनारे पर कार्थेज था जो रोम तिद्वन्द्वी और दुश्मन था। अगर हम प्राचीन दुनिया के बारे में कुछ जानना ते हैं तो हमें इनके इतिहास पर कुछ ज्यादा ग़ौर करना पड़ेगा।

पूर्व में चीन महानता के उसी दर्जे को पहुँच रहा था, जैसा पश्चिम में रोम, अशोक के ज़माने की दुनिया की सही तसवीर खींचने के लिए हमें इस देश ी नज़र डालनी होगी।

: २६ :

चिन् और हन्

३ अप्रैल, १९३२

पिछले साल मैंने नैनी-जेल से जो पत्र तुम्हें लिखे थे, उनमें मैंने तुमको चीन रम्भ काल का, ह्वाङ्-हो नदी के किनारेवाली बस्तियों का, और हिस्या, शैङ्ग न और चाऊ नामक शुरू के राजवंशों का कुछ हाल लिखा था कि उस समय में चीन राज्य धीरे-धीरे कैसे बढ़ा और कैसे वहाँ एक केन्द्रीय शासन वकास हुआ। उसके बाद एक ऐसा लम्बा ज़माना आया, जिसमें नाम के लिए ाऊ राजवंश का ही राज रहा, पर केन्द्रीकरण की यह प्रक्रिया रुक गई और ाहट शुरू हो गई। देश के मुकामी क्षेत्रों के छोटे-छोटे हाकिम एक तरह से त्र बन बैठे और आपस में लड़ने लगे। यह बदक़िस्मती की हालत कई सौ वर्ष ारी रही। मालूम होता है कि चीन की हरेक बात सैकड़ों या हज़ारों वर्षों ला करती है। आख़िर में एक स्थानीय हाकिम चिन् के सरदार ने प्राचीन निकम्मे चाऊ-राजवंश को निकाल बाहर किया। चिन् की सन्तान चिन्-

राजवंश कहलाती है और यह एक दिलचस्प बात है कि चीन का नाम शब्द से ही निकला है।

इस तरह चीन में चिन् लोगों का इतिहास, ईसा से २५५ वर्ष हुआ। इससे १३ वर्ष पहले भारत में अशोक का राज्य शुरू हो चुका था हम अब चीन में अशोक के समकालीन लोगों का ज़िक्र कर रहे हैं। राजवंश के पहले तीन सम्राटों ने बहुत थोड़े-थोड़े दिन राज किया। ईसा से २४६ वर्ष पूर्व चौथा सम्राट् हुआ, जो अपने ढंग का एक निराला था। उसका नाम वांङ-चैङ था, लेकिन बाद में इसने अपना नाम शी टी रख लिया और आमतौर पर वह इसी दूसरे नाम से मशहूर है। इस है 'पहला सम्राट्'। ज़ाहिर है कि उसे अपने ऊपर और अपने ज़माने पर व था और उसके दिल में पुराने ज़माने की ज़रा भी इज्ज़त न थी। असल यह चाहता था कि लोग पुराने ज़माने को भूल जायँ और यह समझने लगें हास उसी से शुरू होता है और वही महान् 'पहला सम्राट्' है! उसे इस कुछ मतलब न था कि उससे पहले दो हज़ार वर्ष से ज़्यादा समय में चीन बाद एक सम्राट् होते चले आये थे। वह तो देश से इन लोगों की याद देना चाहता था। सिर्फ़ पुराने सम्राटों के ही नहीं बल्कि पुराने ज़माने सभी प्रसिद्ध पुरुषों तक के नाम वह भुलवा देना चाहता था। इसलिए निकाला गया कि तमाम ऐसी पुस्तकें, जिनमें पुराने ज़माने का हाल हो, इतिहास की पुस्तकें और कनफ़्यूशस की महान् रचनाएँ, जलाकर नष्ट कर दी जायँ। सिर्फ़ वैद्यक की और विज्ञान की कुछ पुस्तकों पर लागू नहीं था। उसने अपने फ़रमान में यह कहा—

> "जो लोग प्राचीनता का उपयोग करके वर्तमान काल नीचे दरजे का बतायेंगे वे अपने रिश्तेदारों समेत क़त्ल कर दिये जायेंगे

उसने अपने इस इरादे पर अमल भी किया। सैकड़ों विद्वान्, जिन् प्रिय ग्रन्थों को छिपाने की कोशिश की, ज़िन्दा गाड़ दिये गए। यह 'प्रथम कितना नेक, दयालु और खुश-मिज़ाज आदमी रहा होगा! जब मैं भारत की ज़रूरत से ज़्यादा तारीफ़ सुनता हूँ तो मुझे हमेशा उस सम्राट् की जाती है और वह भी कुछ हमदर्दी के साथ। हमारे देश के कुछ लोग हमें मुड़कर अतीत को ही देखा करते हैं, उसीकी महिमा गाते रहते हैं और प्रेरणा पाने की उम्मीद करते रहते हैं। अगर अतीत हमें बड़े-बड़े कारनामों प्रेरणा देता है, तो हम ज़रूर उससे प्रेरणा लें। लेकिन मैं समझता हूँ कि अ आदमी या कोई राष्ट्र हमेशा पीछे की तरफ़ ही देखा करे तो मुझे यह बा ए लाभकारी नहीं मालूम देती। किसी ने सच कहा है कि अगर आद

ने या हमेशा पीछे देखने के लिए बनाया गया होता तो उसकी आँखें उसके के पीछे होतीं। हम अपने अतीत पर ज़रूर ग़ौर करें और उसमें जो कुछ फ़ के लायक हो उसकी तारीफ़ भी करें, लेकिन हमारी निगाह हमेशा सामने ी चाहिए और हमारे क़दम हमेशा आगे बढ़ने चाहिए।

इसमें कोई शक नहीं कि शीह ह्वांङ टी ने पुराने ग्रन्थों को और उनके वालों को जलाकर या गड़वाकर बर्बरता का काम किया। इसका यह जा हुआ कि उसने जो कुछ किया था, वह सब उसीके साथ खत्म हो गया। का इरादा था कि वह सबसे 'पहला सम्राट्' माना जाय और उसके बाद उसका रा उत्तराधिकारी हो, फिर तीसरा और इस तरह हमेशा तक उसके वंश का सिला बना रहे। लेकिन हुआ यह कि चीन के सब राजवंशों में चिन् का वंश सबसे कम दिन क़ायम रहा। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, इन राजवंशों में हुतों ने सैकड़ों वर्षों तक राज किया और इनमें से एक, जो चिन् के पहले हुआ, ७ साल तक क़ायम रहा। लेकिन चिन् का महान् राजवंश बढ़कर, सफलता ल करके और शक्तिशाली साम्राज्य पर शासन करके गिरा और नष्ट हो और ये सारी बातें पचास वर्ष के थोड़े-से समय में हो गईं। शीह ह्वांङ टी तशाली सम्राटों की परम्परा में सबसे 'पहला सम्राट्' होना चाहता था। लेकिन से २०९ वर्ष पूर्व, उसकी मृत्यु के तीन वर्ष बाद ही, उसके वंश का अन्त हो और इसके बाद तुरन्त ही कनफ़्यूशस के ग्रन्थ जो छिपाकर रक्खे गये थे, खोद-निकाल लिये गए और उनका फिर पहले की तरह आदर होने लगा।

शासन की हैसियत से शीह ह्वांङ टी चीन के सबसे शक्तिशाली शासकों हुआ। उसने तमाम स्थानीय राजाओं की हेकड़ी को ख़त्म कर दिया, सामन्त-ही का अन्त कर डाला और एक मज़बूत केन्द्रीय शासन का निर्माण किया। ने सारे चीन और अनाम को जीत लिया। इसीने चीन की मशहूर दीवार का ाण शुरू किया। यह एक बड़ा खर्चीला काम था। लेकिन मालूम होता है कि नियों ने अपनी हिफ़ाज़त के लिए एक बड़ी सेना बराबर क़ायम रखने के बजाय बड़ी दीवार पर, जो बाहर के दुश्मनों से उसकी सुरक्षा के लिए बनाई जा रही रुपया लगाना ज़्यादा पसन्द किया। यह दीवार किसी बड़े हमले को मुश्किल रोक सकती थी; इसने सिर्फ़ इतना ही काम किया कि छोटे-छोटे छापों को रोक ा। लेकिन इससे यह ज़ाहिर होता है कि चीनी लोग शान्ति चाहते थे और शाली होते हुए भी सैनिक कीर्ति के लोलुप नहीं थे।

'पहला सम्राट्' शीह ह्वांङ टी मर गया और उस राजवंश में कोई दूसरा नहीं निकला जो उसकी जगह लेता। लेकिन उसके ज़माने से चीन में हमेशा लिए एकता की परम्परा बन गई।

इसके बाद एक दूसरा राजवंश, हन्-वंश, सामने आया। यह वंश वर्ष से ज़्यादा बना रहा और इस वंश के शुरू के शासकों में एक सम्राज्ञी इसी वंश का छठा सम्राट् वू-ती था, जो कि चीन के बड़े शक्तिशाली औ शासकों में गिना जाता है। इसने पचास वर्ष से ज़्यादा राज किया। इस रियों को हराया, जो उत्तर में बराबर छापे मारा करते थे। पूर्व में को पश्चिम में कैस्पियन सागर तक चीनी सम्राट् का बोलबाला था और मध्य की सब जातियाँ उसे अपना अधिपति मानती थीं। अगर तुम एशिया का देखो तो उसके प्रभाव के ज़बर्दस्त विस्तार का और ईसा पूर्व पहली और दू में चीन की शक्ति का कुछ अन्दाज़ा लगा सकोगी। हम उस ज़माने के महानता के बारे में बहुत-कुछ पढ़ते-सुनते हैं और यह समझ बैठे हैं कि ज़ के रोम ने सारी दुनिया को मात कर दिया था। रोम को 'संसार की कहा गया है। लेकिन, हालाँकि तब रोम महान् था और ज़्यादा महान् हो रहा था, फिर भी चीन का साम्राज्य उससे कहीं ज़्यादा फैला हुआ और शाली था।

शायद वू-ती के ज़माने में ही चीन और रोम का आपसी सम्पर्क हुआ। पार्थव लोगों के ज़रिये इन दोनों देशों में व्यापार हुआ करता था। जिस प्रदेश में रहा करते थे वह आज ईरान और इराक़ कहलाता है। लेकि रोम और पार्थव में लड़ाई छिड़ी तो यह व्यापार अटक गया। रोम ने के रास्ते से चीन से सीधे व्यापार करने की कोशिश की और एक रोमन जहा पहुँच भी गया। लेकिन यह ईसा के बाद दूसरी सदी की बात है और अभी ईसा से पहले के ही ज़माने की बात कर रहे हैं।

हन्-वंश के शासनकाल में ही चीन में बौद्ध-धर्म आया। ईसाई होने से पहले भी चीन में उसकी कुछ चर्चा होने लगी थी। लेकिन यह दिन बाद, जब उस समय के चीनी सम्राट् ने, कहते हैं, एक अद्भुत स्वप्न सोलह फुट लम्बा आदमी देखा, जिसके सिर के चारों ओर चमकदार प्र था। चूँकि उसे स्वप्न में यह दृश्य पश्चिम की ओर दिखाई पड़ा था, उसने उसी तरफ़ दूत भेजे। ये दूत बुद्ध की मूर्ति और बौद्ध ग्रन्थ लेकर वाप बौद्ध-धर्म के साथ-साथ भारतीय कला का प्रभाव भी चीन में पहुँचा; वहाँ कोरिया में और कोरिया से जापान में फैल गया।

हन्-काल में दो महत्वपूर्ण बातें ऐसी हुईं जिनका ज़िक्र ज़रूरी है। लकड़ी के ठप्पों से छपाई की कला का आविष्कार हुआ। लेकिन क़रीब ए वर्ष तक उसका ज़्यादा उपयोग नहीं हुआ। फिर भी इस बात में चीन पाँच सौ बरस आगे था।

दूसरी महत्व की बात यह हुई कि इसी ज़माने में चीन में सरकारी नौक-
यों के लिए इम्तिहानों की प्रणाली शुरू हुई। लड़के और लड़कियाँ इम्तिहानों
घबराते हैं और मैं उनकी इस बात से हमदर्दी भी रखता हूँ। लेकिन उस ज़माने
सरकारी अफ़सरों की नियुक्ति का यह तरीक़ा एक मार्के की बात थी। दूसरे
शों में अभी तक यह तरीक़ा रहा है कि सरकारी अफ़सर या तो ज़्यादातर सिफ़ा-
श से नियुक्त किये जाते थे या किसी ख़ास वर्ग या जाति के लोगों में से। चीन
जो कोई इम्तिहान पास करता वही नियुक्त किया जा सकता था। यह प्रणाली
दर्श नहीं कही जा सकती; क्योंकि हो सकता है कि कोई कनफ़्यूशयन शास्त्रों
इम्तिहान में पास हो जाय, मगर फिर भी उसमें सरकारी अफ़सर बनने की
ग्यता न हो। लेकिन रिआयती और सिफ़ारिशी नियुक्ति से यह तरीक़ा कहीं
हतर था, और यह चीन में दो हज़ार वर्ष तक जारी रहा। अभी हाल ही में
सका अन्त हुआ है।

: २७ :

रोम बनाम कार्थेज

५ अप्रैल, १९३२

अब हम सुदूर पूर्व से पश्चिम की ओर चलें और रोम की तरक्क़ी के सिल-
सले पर नज़र डालें। कहा जाता है कि रोम की बुनियाद ईसा पूर्व आठवीं सदी में
ड़ी थी। शुरू ज़माने के रोमन लोग, जो शायद आर्यों के वंशज थे, तबरेज़ नदी
के पास की सात पहाड़ियों पर कुछ बस्तियाँ बसाये हुए थे। ये बस्तियाँ धीरे-
धीरे बढ़कर शहर बन गईं और यह नगर-राज्य बढ़ते-बढ़ते इटली भर में फैल
गया। यहाँतक कि यह सिसली के सामनेवाले दक्षिणी सिरे पर मेसीना तक पहुँच
गया।

तुम शायद यूनान के नगर-राज्यों को न भूली होगी। जहाँ-जहाँ यूनानी गये, वहाँ-वहाँ वे नगर-राज्य का अपना यह ख़याल भी साथ लेते गये और भूमध्यसागर के किनारों पर जगह-जगह यूनानी उपनिवेश और नगर-राज्य बस गये। लेकिन इस समय हम रोम की इससे बिलकुल जुदी चीज़ का ज़िक्र कर रहे हैं। शुरू में शायद रोम भी यूनान के नगर-राज्य की तरह का ही रहा हो; लेकिन बहुत जल्द वह अपने पड़ोसी क़बीलों को हराकर फैल गया। इस तरह रोमन राज्य का क्षेत्र बढ़ने लगा और इटली का ज़्यादातर हिस्सा उसमें आ गया। इतना बड़ा क्षेत्र एक नगर-राज्य नहीं रह सकता था। इसका शासन रोम से होता था और ख़ुद रोम में एक अजीब क़िस्म की सरकार थी। वहाँ न तो कोई बड़ा सम्राट् या राजा था और न आजकल की तरह गणराज्य था। फिर भी वहाँ की सरकार एक तरह

का गणराज्य था, जिसपर ज़मींदार-वर्ग के कुछ अमीर कुटुम्बों का प्रभु शासन का अधिकार सिनेट का माना जाता था—और इस सिनेट को दो आदमी नामज़द करते थे, जो 'कौन्सल' कहलाते थे। बहुत दिनों तक अमीर लोग ही सिनेटर हो सकते थे। रोम की जनता दो वर्गों में बँटी हु एक तो 'कुलपति' यानी मालदार अमीर, जो आमतौर पर ज़मींदार हुआ थे, दूसरे 'जन-वर्ग' जो मामूली नागरिक थे। रोमन राष्ट्र या ग के कई-सौ वर्षों का इतिहास इन दो वर्गों के आपसी संघर्ष का इतिहास है। पतियों के हाथ में सारी हुकूमत थी और जहाँ हुकूमत रहती है वहीं रुपया भी है। जन-वर्ग नीचे दबा हुआ वर्ग था, जिसके पास न ताक़त थी, न पैसा। ज के लोग हुकूमत हासिल करने के लिए लड़ते और संघर्ष करते रहे, और धी कुछ टुकड़े उन्हें मिले भी। एक दिलचस्प बात यह है कि इस लम्बे संघर्ष में वर्ग के लोगों ने एक क़िस्म के असहयोग का कामयाबी के साथ प्रयोग कि लोग दल बनाकर रोम शहर को छोड़कर निकल गये और एक नया शहर ब वहाँ रहने लगे। इससे कुलपति लोग डर गये, क्योंकि जन-वर्ग के बिना उनका ही नहीं चल सकता था। इसलिए उन्होंने उनके साथ समझौता कर लिया उन्हें कुछ मामूली रिआयतें दे दीं। धीरे-धीरे वे लोग ऊँचे ओहदों के भी हो समझे जाने लगे और सिनेट के मेम्बर तक होने लगे।

हम कुलपति-वर्ग और जन-वर्ग के संघर्ष की चर्चा करते हैं और यह सम हैं कि इनके सिवा रोम में किसी दूसरे वर्ग की कोई गिनती ही नहीं थी। इन दोनों वर्गों के अलावा वहाँ गुलामों की भी बहुत बड़ी संख्या थी, जिनको तरह के अधिकार नहीं थे। ये लोग नागरिक नहीं माने जाते थे और इन्हें वो का हक़ नहीं था। ये लोग तो गायों और कुत्तों की तरह अपने मालिकों की ब गत और निजी सम्पत्ति समझे जाते थे। मालिक अपनी मरज़ी से इनको बेच था और सज़ा दे सकता था। कुछ हालतों में इन्हें मुक्त भी कर दिया जा सकता मुक्त हुए गुलामों ने अपना एक अलग वर्ग बना लिया, जो मुक्त लोगों का कहलाता था। प्राचीन काल में, पश्चिम में, गुलामों की हमेशा बड़ी भारी रहती थी और इस मांग को पूरा करने के लिए गुलामों की बड़ी-बड़ी मण्डियाँ गई थीं। मर्दों, औरतों और बच्चों तक को पकड़ने और उन्हें गुलाम बनाकर के लिए लोग दूर-दूर के देशों में धावे मारा करते थे। प्राचीन मिस्र की तरह यूनान और रोम के वैभव और बादशाही शान की बुनियाद चारों ओर हुई इस गुलामी की प्रथा पर क़ायम थी।

क्या गुलामी की यह प्रथा उस समय भारत में भी इसी तरह प्रच थी? बहुत करके नहीं थी। चीन में भी यह प्रथा नहीं थी। इसका यह मतल

कि प्राचीन भारत या चीन में गुलामी थी ही नहीं। यहाँ जो कुछ गुलामी थी बहुत-कुछ घरेलू क़िस्म की थी। कुछ घरेलू नौकर गुलाम समझे जाते थे। म होता है, भारत और चीन में गुलाम मज़दूर नहीं हुआ करते थे, यानी ऐसे म नहीं होते थे जिनके झुण्ड-के-झुण्ड खेतों में या दूसरी जगहों में काम पर लगाये हों। इस तरह ये दोनों मुल्क गुलामी के, आदमी को सबसे ज्यादा नीचा नेवाले पहलू से बचे रहे।

इस तरह रोम बढ़ा। कुलपतियों ने उससे फ़ायदा उठाया और वे अधिका- धनवान और सम्पन्न होते गये। साथ ही जन-वर्ग के लोग ग़रीब बने रहे कुलपति इनकी छाती पर सवार रहे; और ये दोनों कुलपति-वर्ग और जन- मिलकर ग़रीब गुलामों की छाती पर सवार रहे।

जब रोम की तरक्क़ी हुई तब उसके शासन का ढंग कैसा था? मैं बता चुका क हुकूमत सिनेट के हाथ में थी, और दो चुने हुए कौन्सल सिनेट को नामज़द ा करते थे। कौन्सलों को कौन चुनता था? उन्हें नागरिक वोटर चुनते थे। में रोम जब छोटा-सा नगर-राज्य था, सब नागरिक रोम में या उसके आसपास थे। तब लोगों का एक जगह इकट्ठा होना और वोट देना कोई मुश्किल बात थी। लेकिन रोम के बढ़ने पर बहुत-से नागरिक ऐसे भी थे जो रोम से दूर ने लगे और उनके लिए वोट देने आना आसान काम नहीं था। उस वक़्त आज- जैसे 'प्रतिनिधि शासन' का विकास या उस पर अमल नहीं हुआ था। तुम नती हो कि आजकल हरेक हल्का या निर्वाचन-क्षेत्र राष्ट्रीय असेम्बली या पार्ल- ट या कांग्रेस के लिए अपना प्रतिनिधि चुनता है और इस तरह से एक छोटी- जमात के ज़रिये सारे राष्ट्र की नुमाइन्दगी हो जाती है। यह बात पुराने रोमन गों को नहीं सूझी थी, इसलिए वे लोग रोम में ही वोटें डलवाते रहे; हालाँकि के वोटरों के लिए वहाँ आकर वोट देना क़रीब-क़रीब असम्भव था। सच तो है कि दूर के वोटरों को पता ही नहीं रहता था कि कहाँ क्या हो रहा है। उस ने में न अखबार थे, न और छपी हुई पुस्तकें थीं, और बहुत कम लोग पढ़- सकते थे। इसलिए जो लोग रोम से दूर रहते थे, उनके लिए वोट देने का कार व्यवहार में किसी काम का न था। उनको वोट देने का अधिकार ज़रूर लेकिन दूरी ने इस अधिकार को बेकार बना दिया था।

इसलिए तुम देखोगी कि चुनाव का और ख़ास-ख़ास बातों का फ़ैसला ने का असली अधिकार वास्तव में रोम के ही वोटरों के हिस्से में था। वे लोग ा-छाये बाड़ों में जाकर वोट देते थे। इन वोटरों में बहुत-से ग़रीब जन-वर्ग लोग होते थे। धनवान कुलपति जो ऊँचा ओहदा और हुकूमत चाहता था, इन ब लोगों को रिश्वत देकर उनके वोट खरीद लेता था। इस तरह रोम के चुनावों

में उतनी ही रिश्वत और तिकड़म चला करती थीं, जितनी कि कभी-कभी के चुनावों में चलती है।

, जब इधर रोम इटली में बढ़ रहा था, तब उधर उत्तरी अफ्रीका की ताक़त बढ़ रही थी। कार्थेज निवासी फ़िनीशियन लोगों के वंशज उनमें जहाज़ चलाने और व्यापार करने की पुश्तैनी परम्परा थी। उनके गणराज्य था, लेकिन वह रोम से भी ज़्यादा हद तक अमीरों का गणरा यह नगर-गणराज्य था, जिसमें ग़ुलामों की आबादी बहुत अधिक थी।

शुरू के दिनों में, रोम और कार्थेज के बीच, दक्षिण इटली और में यूनानी उपनिवेश थे। लेकिन रोम और कार्थेज यूनानियों को निकाल एक हो गये, और इस काम में सफल होने पर कार्थेज ने सिसली ले लिया। बूट की शकलवाले इटली की दक्षिणी नोक तक पहुँच गया। रोम और की दोस्ती और मेल बहुत दिनों तक क़ायम न रह सके। जल्दी ही इन टक्करें होने लगीं और कट्टर प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने लगी। तंग समुद्र के आमने-सामने डटी हुई दो मज़बूत शक्तियों के लिए भूमध्यसागर काफ़ी ब दोनों ही के हौसले बढ़े हुए थे। इधर रोम बढ़ रहा था, और उसमें नौजवा हौंसला और भरोसा था; उधर कार्थेज शुरू में शायद कल के छोकरे रोम हिक़ारत की नज़र से देखता था और अपनी समुद्री ताक़त पर पूरा भरोसा था। सौ वर्ष से ज़्यादा तक ये दोनों आपस में लड़ते रहे, हालाँकि बीच-बीच दिनों के लिए शान्ति भी हो जाती थी। लेकिन दोनों ही जंगली जानवरों लड़े, जिससे दोनों के बेशुमार निवासी तबाह हो गये। इनमें तीन युद्ध हुए जो युद्ध' कहलाते हैं। पहला प्यूनिक युद्ध तेईस वर्ष तक यानी २६४ ई० पूर्व ई० पूर्व तक चला और इस युद्ध में रोम की जीत हुई। बाईस वर्ष बाद दूसरा युद्ध हुआ और कार्थेज ने हैनिबाल नामक एक सेनापति भेजा, जो इतिहास मशहूर है। पन्द्रह वर्ष तक हैनिबाल ने रोम को सताया और रोमन लोगों कित किया। उसने भयंकर मारकाट करके रोमन सेनाओं को हराया— कैनी की लड़ाई में जो २१६ ई० पूर्व में हुई। यह सब उसने कार्थेज की बिना ही कर दिखाया, क्योंकि समुद्र पर रोमन लोगों का क़ब्ज़ा होने की कार्थेज से उसका सम्बन्ध टूट-सा गया था। लेकिन हार और बर्बादी को और हैनिबाल का ख़तरा हमेशा सिर पर रहते हुए भी, रोमन क़ौम ने हिम्मत हारी और अपने अदावती दुश्मन से बराबर लोहा लेते रहे। वे हैनिबाल मैदान में लड़ने से डरते थे, इसलिए वे खुली लड़ाइयों से बचते थे और तंग करने और कार्थेज से आने-जाने का मार्ग काटने की कोशिश में ही फ़ेबी (फ़ेबियस) नामक रोमन सेनापति ख़ासतौर से खुली लड़ाइयों

द करता था। दस वर्ष तक वह इसी तरह खुली लड़ाइयों को टालता रहा। उसका ज़िक्र इसलिए नहीं किया है कि वह कोई बड़ा आदमी था और उसका याद रखने के लायक़ है, बल्कि इसलिए कि अंग्रेज़ी भाषा में उसके नाम पर एक 'फ़ेबियन' बन गया है। 'फ़ेबियन' चालें वे होती हैं, जिनमें किसी मामले का टूक फ़ैसला टाला जाता है। इस नीति पर चलनेवाले लड़ाई या संकट को टालते हैं और धीरे-धीरे घुला-घुलाकर अपना उद्देश्य हासिल करने की उम्मीद ये रहते हैं। इंग्लैण्ड में एक फ़ेबियन सोसाइटी है, जो समाजवाद में तो विश्वास ती है, लेकिन जल्दबाज़ी और एकदम परिवर्तन में विश्वास नहीं रखती।

हैनिबाल ने इटली के बहुत बड़े हिस्से को वीरान कर दिया, लेकिन रोम अटल कोशिश और अडिग हठ ने अन्त में विजय पाई। ई० पू० २०२ में जामा लड़ाई में हैनिबाल हार गया। वह जगह-जगह भागता फिरा, लेकिन जहाँ वह वहीं रोम की न बुझनेवाली नफ़रत उसका पीछा करती रही और अन्त में वह र खाकर मर गया।

रोम और कार्थेज में पचास वर्ष तक सुलह रही। कार्थेज को काफ़ी नीचा खा दिया गया था और रोम को चुनौती देने की अब उसमें बिलकुल हिम्मत हीं रही थी। फिर भी रोम को सन्तोष नहीं हुआ और उसने कार्थेज को तीसरे निक युद्ध के लिए मजबूर कर दिया। इस लड़ाई में बहुत भारी मारकाट हुई र कार्थेज बिलकुल नष्ट हो गया। सचमुच, जिस ज़माने पर किसी समय कार्थेज अभिमानिनी नगरी—भूमध्यसागर की रानी—खड़ी थी, उसपर हल चलवा ये गए।

: २८ :

रोमन गणराज्य साम्राज्य बन गया

९ अप्रैल, १९३२

कार्थेज की आख़िरी हार और बर्बादी के बाद रोम पश्चिमी दुनिया में र्वोपरि हो गया और उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा। इससे पहले वह यूनानी ज्यों को जीत ही चुका था; अब उसने कार्थेज के प्रदेशों पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। स तरह दूसरे प्यूनिक युद्ध के बाद स्पेन रोम की अधीनता में आ गया। फिर रोमन राज्य में अभी तक सिर्फ़ भूमध्यसागर के तटवर्ती देश ही शामिल थे। रा उत्तरी और मध्य-यूरोप रोम के अधीन नहीं था।

दूसरे देशों पर जीत का और लड़ाइयों में विजय का नतीजा यह हुआ कि रोम धन और विलासिता बढ़ गई। जीते हुए प्रदेशों से सोने और ग़ुलामों के ढेर-के-

रोम एक साम्राज्य बन जाता है

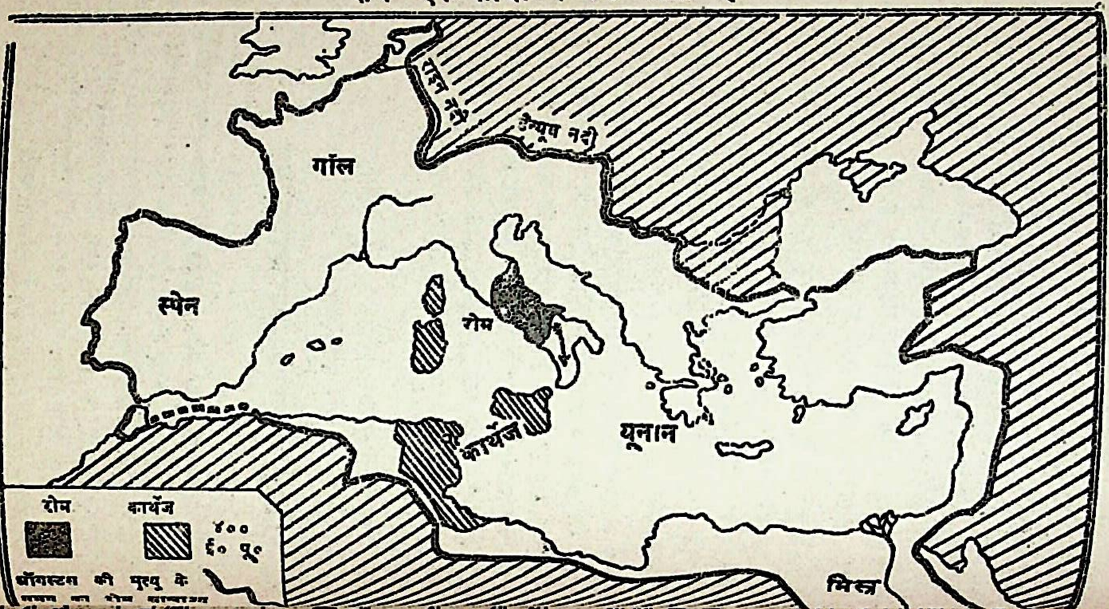
राइन नदी
डैन्यूब नदी
गॉल
स्पेन
रोम
कार्थेज
यूनान
मिस्र
रोम ▩
कार्थेज ▨
४०० ई० पू०
ऑगस्टस की मृत्यु के समय का रोम साम्राज्य

आने लगे। लेकिन ये चीज़ें जाती कहाँ थीं ? मैं तुम्हें बतला चुका हूँ कि रोम शासन सिनेट के हाथ में था और उसमें धनी अमीर कुटुम्बों के लोग हुआ करते धनवान लोगों की इस जमात के हाथ में रोमन गणराज्य और उसके जीवन की ाडोर थी और रोम की शक्ति और विस्तार में बढ़ोतरी के साथ-साथ इन लोगों दौलत भी बढ़ती गई; इसलिए जो धनवान थे, वे और भी ज्यादा धनवान े गये और ग़रीब लोग ग़रीब ही बने रहे, बल्कि वास्तव में और भी ज्यादा ीब हो गये। ग़ुलामों की आबादी बढ़ गई और विलासिता और मुसीबत साथ-थ बढ़ने लगीं। जब ऐसा होता है, तभी अक्सर गड़बड़ हो जाया करती है। ानी की बात है कि इन्सान कहाँतक बर्दाश्त कर लेता है, लेकिन इन्सानी बर्दाश्त भी हद होती है, और जब हद हो जाती है, तब भड़ाके हो जाते हैं।

धनवान लोगों ने ग़रीबों को खेल-तमाशों और सरकसों के दंगलों से बह- ने की कोशिश की। इनमें ग्लेडियेटर[1] लोग, सिर्फ़ दर्शकों के मनोरंजन के लिए क-दूसरे से लड़ने और मरने-मारने के लिए मजबूर किये जाते थे। ग़ुलामों और -बन्दियों की बहुत बड़ी संख्या इस तरह मौत के घाट उतारी जाती थी और, े ख़याल से, इसे खेल कहा जाता था!

धीरे-धीरे रोम के राज्य में उपद्रव बढ़ने लगे। बलवे और हत्याकाण्ड होने ो और चुनावों में रिश्वतख़ोरी और भ्रष्टाचार होने लगे। ग़रीब और पद्दलित ुलामों तक ने स्पार्तक नामक एक ग्लेडियेटर के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। लेकिन लोग बेरहमी के साथ कुचल दिये गए। कहा जाता है कि रोम में ऐपियन सड़क र छः हज़ार ग़ुलाम सूली पर चढ़ा दिये गए।

धीरे-धीरे अवसरवादी और सेनापति लोग अधिक प्रभावशाली होते गये ार सिनेट पर हावी होने लगे। घरेलू युद्ध छिड़ गया, तबाही होने लगी और तिद्वन्द्वी सेनापति आपस में लड़ने लगे। पूर्व में, पार्थव (इराक़) में ई० पू० ५३ कैरे की लड़ाई में, रोम के सेना-दलों ने बहुत बुरी हार खाई। पार्थवों से लड़ने लिए भेजी गई रोमन सेना को उन्होंने नष्ट कर दिया।

रोमन-सेनापतियों की इस भीड़ में दो नाम पाम्पी और जूलियस सीज़र, हुत मशहूर हैं। तुम जानती हो कि सीज़र ने फ्रान्स को, जो उस समय गॉल कहलाता ा, और ब्रिटेन को, जीत लिया था। पाम्पी पूर्व की तरफ़ गया और वहाँ उसे

---

[1] ग्लेडियेटर—प्राचीन रोम के उन पहलवानों का नाम, जो दूसरे योद्धाओं ा जंगली जानवरों से अखाड़ों में लड़ते थे और सारा रोम तमाशा देखता था। सरों का ख़ून बहते हुए देखने के इच्छुक रोम-निवासियों को ये खेल बड़े य थे।

थोड़ी-बहुत कामयाबी भी मिली। लेकिन इन दोनों की आपस में बड़ी गह द्वन्द्विता थी। दोनों ही महत्वाकांक्षी थे और किसी दूसरे प्रतिद्वन्द्वी को बर्दा कर सकते थे। बेचारे सिनेट की कोई पूछ नहीं रही, हालाँकि दोनों ज़बानी उसकी अधीनता स्वीकारते थे। सीज़र ने पाम्पी को हरा दिया और इ वह रोमन संसार का प्रमुख नेता बन गया। लेकिन रोम गणराज्य था, सरकारी तौर पर सीज़र हर मामले में अपनी मनमानी नहीं कर सकता था लिए यह कोशिश की गई कि उसको ताज पहनाकर बादशाह या सम्रा दिया जाय। सीज़र इसके लिए बहुत-कुछ राज़ी था। लेकिन रोम की गणराज्य-परम्परा के कारण उसे कुछ झिझक हुई। सचमुच, यह परम्परा लिए इतनी ज़ोरदार साबित हुई कि ब्रूत (ब्रूटस) और दूसरे लोगों ने उसे की सीढ़ियों पर ही छुरे भोंककर मार डाला। तुमने शेक्सपियर का सीज़र' नाटक पढ़ा होगा, जिसमें यह दृश्य दिया हुआ है।

जूलियस सीज़र ई० पू० ४४ में मारा गया, लेकिन उसकी मौत गणराज्य को न बचा सकी। सीज़र के दत्तक-पुत्र और भाई के पोते आक् ने, और मित्र मार्क एन्थनी ने, सीज़र की हत्या का बदला चुका लिया। इस बादशाहत वापस आई और आक्तेवियन प्रिन्सेप्स यानी राज्य का प्रमु और गणराज्य खत्म हो गया। सिनेट क़ायम रहा, लेकिन उसके हाथ में कोई ताक़त नहीं रह गई।

आक्तेवियन जब प्रिन्सेप्स या प्रमुख बना, तो उसने अपना नाम औ आगस्त सीज़र रक्खा। उसके बाद उसके सब उत्तराधिकारी सीज़र रहे। सीज़र शब्द का अर्थ ही वास्तव में सम्राट् हो गया है। क़ैसर और ज़ार इसी 'सीज़र' शब्द से निकले हैं। बहुत दिनों से हिन्दुस्तानी भाषा में भी शब्द इसी अर्थ में चालू हो गया है, जैसे 'क़ैसरे-रूम', 'क़ैसरे-हिन्द'। इंग्लै बादशाह जार्ज को 'क़ैसरे-हिन्द' की उपाधि पर नाज़ है।[2] जर्मन-क़ैसर उ गया, इसी तरह आस्ट्रियन-क़ैसर, तुर्की-क़ैसर और रूसी-ज़ार भी। और यह चस्प और अजीब बात है कि आज अकेला इंग्लैण्ड का बादशाह ही रह गया उस जूलियस सीज़र की उपाधि धारण कर रहा है, जिसने रोम के लिए को जीता था।

इस तरह जूलियस सीज़र का नाम बादशाही शान-शौक़त का सूचक बन गया। अगर पाम्पी ने यूनान में फ़ारसैल की लड़ाई में सीज़र को हरा

---

[1] फ़ोरम—वह इमारत जिसमें सिनेट की बैठकें हुआ करती थीं।

[2] अब इंग्लैण्ड के बादशाह की भी 'क़ैसरे-हिन्द' की उपाधि हटा दी ग

तो क्या हुआ होता ? शायद पाम्पी प्रिन्सेप्स या सम्राट् बना होता और पाम्पी मतलब सम्राट् हो गया होता। तब विलियम द्वितीय अपनेको जर्मन पाम्पी और किंग जार्ज भी शायद पाम्पी-ए-हिन्द कहलाते।

रोमन राज्य के इस परिवर्तन-काल में, जब गणराज्य साम्राज्य बन रहा मिस्र में एक ऐसी स्त्री हुई जो अपने सौन्दर्य के लिए इतिहास में मशहूर होने- थी। उसका नाम क्लियोपेत्रा था। उसका चरित्र कुछ ज्यादा पसन्द करने क नहीं है, लेकिन वह उन इनी-गिनी स्त्रियों में से है, जिनके बारे में कहा जाता उन्होंने अपनी खूबसूरती से इतिहास का रुख बदल दिया। जब जूलियस र मिस्र गया था, तब यह निरी लड़की ही थी। बाद में मार्क एन्थनी से इसकी दोस्ती हो गई, जिसका नतीजा अच्छा नहीं निकला। वास्तव में क्लियोपेत्रा सके साथ दग़ा किया और एक बड़ी समुद्री लड़ाई के दौरान में वह उसे छोड़कर जहाज़ों को लेकर भाग गई। एक मशहूर फ़्रान्सीसी लेखक पैस्कल ने बहुत हुए लिखा था:

> “अगर क्लियोपेत्रा की नाक ज़रा छोटी होती तो दुनिया की सूरत बिलकुल बदल गई होती।”

इस बात में कुछ अतिशयोक्ति है। क्लियोपेत्रा की नाक दूसरी तरह की होती भी उससे दुनिया की हालत में बहुत ज्यादा फ़र्क़ न पड़ा होता। लेकिन यह भव है कि मिस्र पहुँचने के बाद सीज़र अपनेको बादशाह या सम्राट् या एक ता जैसा समझने लगा हो। मिस्र में गणराज्य नहीं था, बल्कि एकतन्त्री न था और राजा को सिर्फ़ सर्वोपरि ही नहीं बल्कि देवता की तरह माना जाता पुराने मिस्रियों की यही धारणा थी और यूनान के तालमी लोगों ने, जो न्दर की मौत के बाद मिस्र के शासक हुए, मिस्र के बहुत-से आचार-विचारों अपना लिया था। क्लियोपेत्रा इसी तालमी-वंश की थी और इसलिए यूनानी, यों कहिये कि मक़दूनिया की, राजकुमारी थी।

क्लियोपेत्रा का इस प्रक्रिया में कोई हाथ हो या न हो, लेकिन मिस्रियों यह धारणा कि राजा देवता है, रोम तक पहुँच गई, और वहाँ घर कर गई। लियस सीज़र की ज़िन्दगी में ही, जबकि गणराज्य अपनी तरक़्क़ी पर था, उसकी तियाँ बनने और पुजने लगी थीं। आगे चलकर हम देखेंगे कि रोम सम्राटों ने अपनी ा बाक़ायदा कैसे चालू करवा दी।

अब हम रोम के इतिहास में एक महत्व के मोड़ पर, गणराज्य के अन्त तक, ँच गये हैं। सन् २७ ई० में आक्टेवियन, आगस्त सीज़र की पदवी धारण कर न्सेप्स बना। रोम और उसके सम्राटों की इस कहानी की चर्चा हम आगे फिर

करेंगे। तबतक हम गणराज्य के आख़िरी दिनों में रोम के अधीन राज्यों नज़र दौड़ा लें।

रोम इटली पर तो राज करता ही था; पश्चिम में स्पेन और गॉल पर भी उसका क़ब्ज़ा था। पूर्व में यूनान और एशिया-कोचक, जहाँ होगा कि परगैमम का यूनानी राज्य था, उसके क़ब्ज़े में थे। उत्तरी मिस्र रोम का मेलवाला और रक्षित राज्य समझा जाता था। कार्थेज और सागर के तटवर्ती देशों के कुछ दूसरे हिस्से भी रोम के अधीन थे। इस त में राइन नदी के सहारे-सहारे रोमन साम्राज्य की सीमा थी। जर्मनी और और उत्तरी और मध्य-यूरोप की सारी क़ौमें, रोमन साम्राज्य से बाहर थीं के पूर्व की भी सारी क़ौमें उसके अधीन नहीं थीं।

उस ज़माने में रोम बहुत महान् था। लेकिन यूरोप के बहुत-से लोग, देशों का इतिहास नहीं जानते थे, यह समझते हैं कि रोम ही सारी दुनिया ताज था। यह बात असलियत से बहुत दूर थी। तुम्हें याद होगा कि इस में चीन में महान् हन् वंश राज करता था और वह एशिया के तट से कैस्पियन सागर तक फैले हुए क्षेत्र का सर्वाधिपति था। इराक़ में कैरे में, जिसमें रोमन लोग बुरी तरह हारे थे, मुमकिन है पार्थवों को चीन के ने मदद दी हो।

लेकिन रोमन इतिहास, ख़ासकर रोमन गणराज्य का इतिहास, निवासी को बहुत प्यारा है, क्योंकि वह रोम के पुराने राज्य को यूरोप के राष्ट्रों का पूर्वज जैसा मानता है और यह बात किसी हद तक सही भी है। इंग्लैण्ड में स्कूलों के विद्यार्थियों को, चाहे वे आधुनिक इतिहास जानें या न यूनान और रोम का इतिहास ज़रूर पढ़ाया जाता था। मुझे अच्छी तरह कि जूलियस सीज़र का लिखा हुआ, उसकी गॉल की चढ़ाई का हाल, मूल भाषा में मुझे पढ़ाया गया था। सीज़र सिर्फ़ योद्धा ही नहीं था, बल्कि एक सुन्द प्रभावशाली लेखक भी था और उसका लिखा हुआ गॉल के युद्ध का वर्णन भी यूरोप के हज़ारों स्कूलों में पढ़ाया जाता है।

कुछ दिन हुए हमने अशोक के समय की दुनिया पर नज़र डाली थी। हम इस सिंहावलोकन को ख़त्म करके उससे बाहर चीन और यूरोप गये। अब हम क़रीब-क़रीब ईसाई सन् की शुरुआत तक पहुँच गये हैं। अब हमें फिर भारत लौटना पड़ेगा ताकि यहाँ के निवासियों के बारे में अब जानकारी पूरी हो जाय। क्योंकि अशोक की मृत्यु के बाद वहाँ बड़ी-बड़ी त हुईं और उत्तर और दक्षिण में नये-नये साम्राज्य पैदा हो गये।

---

[१] De Bello Gallico

मैंने कोशिश की है कि तुम सारी दुनिया के इतिहास को एक पूरी सिल-
लेवार चीज़ समझो। लेकिन मुझे उम्मीद है, तुम्हें यह भी याद होगा कि शुरू
ज़माने में दूर-दूर के देशों का आपसी सम्पर्क बहुत ही सीमित ढंग पर था। रोम,
कि कई बातों में बहुत आगे बढ़ा हुआ था, भूगोल और नक़शों के बारे में कुछ
नहीं जानता था, और न इन विषयों को जानने की उसने कोई ख़ास कोशिश
की। आजकल के स्कूलों के लड़कों और लड़कियों को भूगोल का जितना ज्ञान
उतना रोम के बड़े-बड़े सेनापतियों और सिनेट के बुद्धिमान् आदमियों को भी
हीं था, हालाँकि वे लोग अपने को दुनिया का स्वामी समझते थे। और जिस तरह
लोग अपने को दुनिया का स्वामी समझते थे, उसी तरह उनसे कई हज़ार मील
र, एशिया के विशाल महाद्वीप के दूसरे सिरे पर, चीन के शासक भी अपने को
सार का स्वामी समझते थे।

: २९ :

दक्षिण भारत का उत्तर भारत पर छा जाना

१० अप्रैल, १९३२

सुदूर पूर्व में चीन और पश्चिम में रोम की लम्बी यात्रा के बाद हम फिर
रत वापस आते हैं।

अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य्य-साम्राज्य बहुत दिनों तक नहीं टिका। थोड़े
वर्षों में वह मुरझा गया। उत्तर के प्रान्त उससे अलग हो गये और दक्षिण में
न्ध्र की एक नई शक्ति पैदा हुई। अशोक के वंशज क़रीब पचास वर्ष तक अपने
स्त होते हुए साम्राज्य पर शासन करते रहे। आखिर में पुष्यमित्र नामक उनके
क ब्राह्मण सेनापति ने बल से उनकी गद्दी छीन ली। यह व्यक्ति खुद सम्राट् बन
ठा और कहते हैं, उसके ज़माने में ब्राह्मण-धर्म[1] में फिर जान पड़ गई। किसी हद
क बौद्ध भिक्षुओं पर अत्याचार भी हुए। लेकिन भारत का इतिहास पढ़ने पर तुम
खोगी कि ब्राह्मण-धर्म ने बौद्ध-धर्म पर जिस ढंग से आक्रमण किया वह बड़ा
तुराई भरा था। उसने बौद्ध-धर्म पर ज्यादा अत्याचार करने की कोई भोंड़ी
रवाई नहीं की। बौद्धों पर कुछ अत्याचार ज़रूर हुआ, लेकिन वह बहुत करके
जनीतिक था, धार्मिक नहीं। बड़े-बड़े बौद्ध-संघ शक्तिशाली संगठन थे और
हुत-से शासक उनकी राजनीतिक शक्ति से डरते थे। इसलिए उन्होंने उनको कम-
र करने की कोशिश की। बौद्ध-धर्म को उसकी जन्मभूमि से निकाल बाहर
रने में ब्राह्मण-धर्म आखिर में क़ामयाब रहा, क्योंकि उसने कुछ हद तक बौद्ध-धर्म

---

[1] ब्राह्मण-धर्म से मतलब हिन्दू-धर्म से है।

को पचा लिया, अपने में मिला लिया, और उसे अपने घर में जगह दें
कोशिश भी की।

इस तरह नये ब्राह्मण-धर्म ने, न तो सिर्फ़ पुरानी हालतों को ही फि
लाने की कोशिश की और न जो कुछ बौद्ध-धर्म ने किया था उसको बिलकुल म
मेट ही किया। ब्राह्मण-धर्म के पुराने नेता बहुत चतुर थे। बहुत पुराने ज
उनका यह तरीक़ा चला आया था कि वे दूसरे धर्मों को अपने में मिला ले
उसे पचा लेते थे। आर्य लोग जब पहले-पहल भारत में आये, तब उन्होंने द्रविड़
संस्कृति और रस्म-रिवाजों को बहुत-कुछ पचा लिया और अपने सारे इतिह
वे जान-बूझकर या बेजाने लगातार इसी नीति का पालन करते आये हैं। ब
धर्म के साथ भी उन्होंने यही किया और बुद्ध को अवतार[1] और देवता बना दि
बहुत-से हिन्दू देवताओं में उन्हें भी एक स्थान दे दिया। इस तरह बुद्ध तो क़ायम
लोग उनकी पूजा और उपासना करते रहे; लेकिन उनके विशेष सन्देश को चु
हटा दिया गया और ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म कुछ छोटी-मोटी तब्दीलियों के
अपने मामूली ढर्रे पर फिर चलने लगा। लेकिन बुद्ध को हिन्दू-धर्म का जामा प
की क्रिया बहुत काल तक चलती रही। मगर अभी हम आगे की बातें कर
हैं, क्योंकि अशोक की मृत्यु के बाद कई सौ वर्ष तक बौद्ध-धर्म भारत में ज़
रहा।

हमें इस बात पर ध्यान देने की ज़रूरत नहीं कि मगध में एक के बाद
कौन-कौन से राजा और राजवंश आये और गये। अशोक के मरने के दो सं
बाद तो मगध भारत का सर्वोपरि राज्य भी नहीं रहा। लेकिन तब भी वह
संस्कृति का बहुत बड़ा केन्द्र बना रहा।

इसी बीच उत्तर और दक्षिण दोनों में महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हो रही थीं। उ
में मध्य-एशिया की कई क़ौमें, जैसे बाख़्त्री, शक, तुर्क और कुषाण, द
हमले कर रही थीं। मेरा खयाल है मैंने तुम्हें एक बार लिखा था कि कैसे म
एशिया कई घुमक्कड़ क़ौमों के पैदा होने और पनपने की भूमि रहा है और इ
हास में ये लोग बार-बार बाहर निकलकर सारे एशिया में और यूरोप त
कैसे फैल गये। ईसा के पूर्व २०० वर्ष के समय में भारत पर भी इस तरह के
हमले हुए। लेकिन तुम्हें यह याद रखना चाहिए कि ये हमले कोरी देश-विजय
लूटमार के लिए नहीं हुआ करते थे, बल्कि बसने के लिए भूमि की तलाश में ह

---

[1] निन्दसि यज्ञ विधे रह रह श्रुतिजातम्
सदय हृदय दर्शित पशुघातम्
केशव धृत बुद्ध शरीर
जय जयदेव हरे —गीतगोविन्द

करते थे। मध्य-एशिया के इन क़बीलों में बहुत-से घुमक्कड़ थे और जब उनकी संख्या बढ़ जाती थी, तो जिस भूमि पर वे बसे होते थे, वह उनके गुज़ारे के लिए नाकाफ़ी हो जाती थी। इसलिये उन्हें नई भूमि की तलाश में बाहर निकलना पड़ता था। इनके वहाँ से निकलने का इससे भी ज्यादा ज़बर्दस्त एक कारण यह था कि उन्हें पीछे से ढकेला जाता था। एक बड़ा क़बीला या फ़िरक़ा दूसरों पर हमला करके उन्हें वहाँ से निकाल बाहर करता था और इन निकाले हुओं को दूसरे देशों पर हमला करने के लिए मजबूर होना पड़ता था। इस तरह भारत में जो लोग हमलावर बनकर आये, वे खुद अक्सर अपनी चरागाहों से भगाये हुए शरणार्थी थे। जब कभी चीनी साम्राज्य में काफ़ी ताक़त हो जाती थी, जैसा कि हन्-वंश के दिनों में हुआ, तब वह भी इन घुमक्कड़ों को निकाल बाहर करता था और उन्हें नये घर तलाश करने के लिये मजबूर कर देता था।

तुम्हें यह भी याद रखना चाहिए कि मध्य-एशिया के घुमक्कड़ क़बीले भारत को बिलकुल ही शत्रु देश नहीं समझते थे। उन्हें 'म्लेच्छ' ज़रूर कहा गया है, और सचमुच उस समय के भारत के मुक़ाबले में वे उतने सभ्य थे भी नहीं। लेकिन उनमें ज्यादातर कट्टर बौद्ध थे, जो भारत को, जहाँ उनके 'धर्म' का जन्म हुआ था, इज़्ज़त की नजर से देखते थे।

पुष्यमित्र के ज़माने में भी उत्तर-पश्चिम भारत पर बाख़्त्रिया के मेनेन्द्र ने हमला किया था। मेनेन्द्र बौद्ध-धर्म का भक्त था। भारत की सीमा के ठीक उस पार बाख़्त्रिया का देश था। यह सेलेउक के साम्राज्य का एक हिस्सा था, लेकिन बाद में स्वाधीन हो गया था। मेनेन्द्र का हमला असफल कर दिया गया, लेकिन काबुल और सिन्ध पर उसने क़ब्ज़ा कर ही लिया।

इसके बाद शकों का हमला हुआ, जो इस देश में बहुत बड़ी संख्या में आये और सारे उत्तर और पश्चिम भारत में फैल गये। यह तुर्की घुमक्कड़ों का एक बड़ा क़बीला था। एक दूसरे बड़े क़बीले कुषाण ने उन्हें अपनी चरागाहों से मार भगाया था। वहाँ से वे लोग बाख़्त्रिया और पार्थव को रौंदते हुए धीरे-धीरे उत्तरी भारत में, खासकर पंजाब, राजपूताना और काठियावाड़ में जम गये। भारत ने उन्हें सभ्य बनाया और उन लोगों ने अपनी घुमक्कड़पन की आदतें छोड़ दीं।

यह एक दिलचस्प बात है कि भारत के कुछ भागों के इन बाख़्त्री और तुर्की शासकों का भारतीय-आर्य समाज पर कुछ खास असर नहीं पड़ा। खुद बौद्ध होने के कारण इन शासकों ने बौद्ध-संघ के संगठन का अनुकरण किया, जिसका आधार लोकतन्त्री ग्राम-समुदायों का पुराना भारतीय-आर्य नक़शा था। इस तरह इन शासकों के अधीन होते हुए भी भारत केन्द्रीय शक्ति के अधीन ग्रामीण गणराज्यों का एक

समूह-सा बना रहा। इस ज़माने में भी तक्षशिला और मथुरा बौद्ध-शिक्षा के रहे, जहाँ चीन और पश्चिम-एशिया से विद्यार्थी आते रहते थे।

लेकिन उत्तर-पश्चिम से लगातार हमलों का, और मौर्य्य-राज्य संगठ धीरे-धीरे टूट जाने का एक असर ज़रूर हुआ। दक्षिण-भारत के राज्य पुरानी तीय आर्य-प्रणाली के ज्यादा सही प्रतिनिधि बन गये। इस तरह भारतीय-आर्य का केन्द्र उत्तर से हटकर दक्षिण पहुँच गया। इन हमलों के कारण शायद के बहुत-से क़ाबिल आदमी दक्षिण में जा बसे। आगे चलकर तुम देखोगे कि हज़ार वर्ष बाद जब मुसलमानों ने भारत पर हमला किया उस समय फिर प्रक्रिया हुई। आज भी दक्षिण भारत पर विदेशी हमलों और सम्पर्कों उत्तर भारत के मुक़ाबले बहुत कम असर पड़ा है। उत्तर भारत के ज्यादातर नि एक ऐसी मिली-जुली संस्कृति में पले हैं जो हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का है और जिसमें पश्चिम का भी कुछ पुट है। हमारी भाषा भी, जिसे तुम हि उर्दू या हिन्दुस्तानी, चाहे जो कहो, एक मिली-जुली भाषा है। लेकिन जैसा तुमने खुद देखा है, दक्षिण के ज्यादातर निवासी आज भी कट्टर हिन्दू हैं।

दक्षिण भारत सैकड़ों वर्षों से पुरानी आर्य-परम्परा को बचाने और रखने की कोशिश करता रहा है और इस कोशिश में उसने अपना इतना पन्थी समाज बना लिया है कि आज भी उसकी असहिष्णुता पर हैरत होती दीवारों का साथ खतरनाक हुआ करता है। कभी-कभी वे बाहरी मुसीब भले ही बचा लें और उत्पाती लोगों को अन्दर आने से रोक दें; लेकिन वे आ को क़ैदी और ग़ुलाम बना देती हैं और उसे नामधारी निर्मलता और हिफ़ा की क़ीमत आज़ादी को बेचकर चुकानी पड़ती है। और सबसे भयंकर वे हैं, जो आदमी के दिमाग़ में पैदा हो जाती हैं, और जो हमें किसी बुरी पर को सिर्फ़ इसलिए नहीं छोड़ने देतीं कि वह पुरानी है, और किसी नये विचार इसलिये नहीं स्वीकारने देतीं कि वह नवीन है।

लेकिन दक्षिण भारत ने यह सेवा सचमुच की कि एक हज़ार वर्ष से ज्यादा समय तक भारतीय आर्यों की सिर्फ़ धार्मिक परम्परा को ही नहीं कला और राजनीति की परम्पराओं को भी क़ायम रखा। अगर तुम्हें भारतीय कला के नमूने देखने हों तो दक्षिण भारत जाना होगा। राजनीति बारे में यूनानी मेगस्थेने ने लिखा है कि दक्षिण में राजाओं के अधिकारों पर सभाओं का अंकुश रहता था।

जब मगध-देश का पतन हुआ तो सिर्फ़ विद्वान् लोग ही नहीं बल्कि कला शिल्पकार, कारीगर और दस्तकार लोग भी दक्षिण चले गए। यूरोप और भारत के बीच काफ़ी व्यापार चलता था। मोती, हाथीदाँत, सोना, चावल,

मिर्च, मोर और बन्दर तक भी बाबुल, मिस्र और यूनान को, और बाद में रोम को भेजे जाया करते थे। इसके भी बहुत पहले सागवान की लकड़ी मलाबार के किनारे से खाल्दिया और बाबुल जाती थी। और यह सब व्यापार, या उसका ज़्यादातर हिस्सा, भारतीय जहाज़ों के ज़रिये, जिन्हें द्रविड़ लोग खेते थे, हुआ करता था। इससे तुम्हें पता चल सकता है कि प्राचीन दुनिया में दक्षिण भारत कितनी उन्नत स्थिति पर पहुँचा हुआ था। दक्षिण में रोमन सिक्के काफ़ी संख्या में मिले हैं, और जैसा कि मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ, मलाबार के समुद्र-तट पर इस्कन्दरिया निवासियों की बस्तियाँ थीं, और इस्कन्दरिया में भारतीयों की।

अशोक की मृत्यु के बाद ही दक्षिण का आन्ध्र-राज्य स्वाधीन हो गया। जैसा कि शायद तुम जानती हो, आन्ध्र आजकल काँग्रेस का एक प्रान्त है, जो भारत के पूर्वी समुद्र-तट पर मद्रास के उत्तर में है। आन्ध्र-देश की भाषा तेलगू है। आन्ध्र की शक्ति अशोक के बाद तेज़ी से बढ़ती गई और दक्षिण में समुद्र के एक तट से दूसरे तट तक फैल गई।

दक्षिण के लोगों ने नई बस्तियाँ बसाने के बड़े-बड़े प्रयत्न किये। लेकिन इनकी चर्चा बाद में करेंगे।

मैं ऊपर शकों और दूसरी जातियों का ज़िक्र कर आया हूँ, जिन्होंने भारत पर हमले किये और जो उत्तर में बस गईं। ये लोग भारत के अंग बन गये, और उत्तरी भारत में रहनेवाले हम लोग उनके भी उतने ही वंशज हैं, जितने कि आर्यों के। खासकर बहादुर और सुडौल राजपूत और काठियावाड़ के तगड़े लोग तो उन्हीं के वंशज हैं।

: ३० :

कुषाणों का सीमावर्ती साम्राज्य

११ अप्रैल, १९३२

मैंने पिछले पत्र में भारत पर शकों और तुर्कों के बार-बार के हमलों का ज़िक्र किया है। मैंने तुम्हें दक्षिण में शक्तिशाली आन्ध्र-राज्य की बढ़ोतरी का भी हाल बताया है, जो बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक फैला हुआ था। शकों को कुषाणों ने आगे खदेड़ दिया था और कुछ दिन बाद कुषाण खुद ही सामने आ गये। ईसा के एक सदी पहले इन लोगों ने भारत की सीमा पर एक राज्य क़ायम किया और यही राज्य बढ़ते-बढ़ते एक बड़ा साम्राज्य हो गया। यह कुषाण साम्राज्य दक्षिण में बनारस और विन्ध्याचल तक, उत्तर में काशगर, यारक़न्द और खुतन तक, और पश्चिम में पार्थव और ईरान की सरहद तक फैला हुआ था। इस तरह उत्तर प्रदेश, पंजाब और कश्मीर समेत सारा उत्तर भारत, मध्य-एशिया का काफ़ी

कुषाण-साम्राज्य के समय का भारत

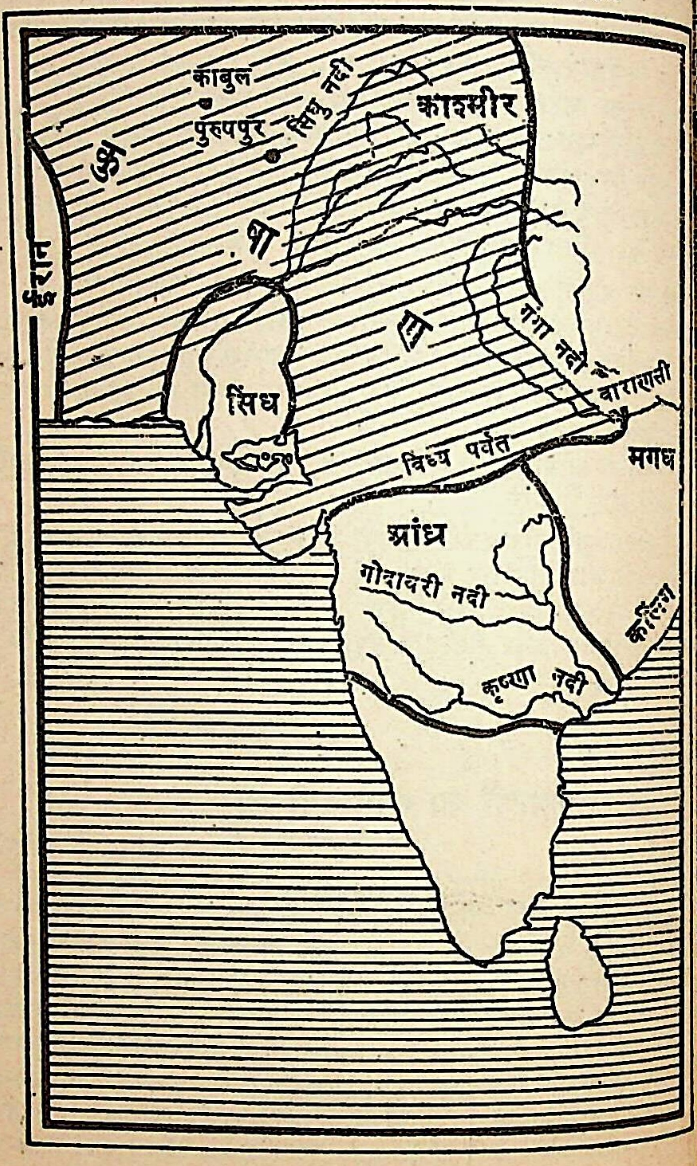
काबुल
पुरुषपुर
सिंधु नदी
काश्मीर
कु
षा
ण
पर्शिया
सिंध
गंगा नदी
वाराणसी
विंध्य पर्वत
मगध
आंध्र
गोदावरी नदी
कृष्णा नदी
कलिंग

ा हिस्सा कुषाण राजाओं के अधीन था। क़रीब तीन सौ वर्ष तक, ठीक उन्हीं नों जब कि आन्ध्र-राज्य दक्षिण भारत में फूल-फल रहा था, यह साम्राज्य क़ायम ा। मालूम होता है कि पहले तो कुषाणों की राजधानी काबुल थी, लेकिन बाद पेशावर ले जायी गई थी, जो उस वक़्त पुरुषपुर कहाता था, और फिर वहीं ी रही।

इस कुषाण साम्राज्य की कई बातें बड़ी दिलचस्प हैं। यह बौद्ध-साम्राज्य था र उसके मशहूर शासकों में से एक शासक—सम्राट् कनिष्क बौद्ध-धर्म का र भक्त था। राजधानी पेशावर के पास तक्षशिला थी, जो बहुत समय पहले से द्ध-संस्कृति का केन्द्र थी। मैं शायद तुम्हें बता चुका हूँ कि कुषाण लोग मंगोली या मंगोलियों से मिलते-जुलते थे। कुषाण राजधानी से अपने वतन मंगोलिया लोगों का आना-जाना बराबर होता रहा होगा और बौद्ध-शिक्षा और बौद्ध-कृति चीन और मंगोलिया पहुँची होगी। इसी तरह पश्चिमी एशिया का भी बौद्ध चारों से गहरा सम्पर्क हुआ होगा। सिकन्दर के ज़माने से ही पश्चिमी एशिया ानियों की हुक़ूमत में था और बहुत-से यूनानी अपने साथ अपनी संस्कृति यहाँ ये थे। यह यूनानी-एशियाई संस्कृति अब भारतीय-बौद्ध संस्कृति से मिल-जुल ई।

इस तरह चीन और पश्चिमी एशिया पर भारत का असर पड़ा। लेकिन ी तरह भारत पर भी इन देशों का असर पड़ा। पश्चिम में यूनानी-रोमन दुनिया, ं में चीनी दुनिया और दक्षिण में भारतीय दुनिया से घिरा हुआ कुषाण-साम्राज्य शिया की पीठ पर एक देव की तरह सवारी गाँठे बैठा था। भारत और रोम, ा भारत और चीन, दोनों के बीच यह अधबर की मंज़िल बना हुआ था।

जैसी कि सम्भावना थी, इस बीच की स्थिति ने भारत और रोम के बीच हरा आपसी सम्बन्ध पैदा करने में बहुत मदद पहुँचाई। कुषाण-काल रोमन गण-ज्य के आखिरी दिनों के साथ-साथ, जब जूलियस सीज़र ज़िन्दा था, और रोमन ाम्राज्य के शुरू के दो सौ साल के साथ-साथ चलता है। कहा जाता है कि षाण सम्राट् ने आगस्त सीज़र के यहाँ बड़ा राजदूत-मण्डल भेजा था। इन दोनों शों में खुश्की और समुद्री रास्ते खूब व्यापार होता था। भारत से रोम को इत्र, साले, रेशम, कमख्वाब, मलमल, ज़री के कपड़े और जवाहरात भेजे जाते थे। ीनी नामक रोमन लेखक ने सचमुच कड़ी शिकायत की थी कि रोम से भारत को ोना खिंचा चला जाता था। उसने कहा था कि विलास की इन चीज़ों पर हर साल ोमन साम्राज्य के दस करोड़ सीस्तरसी[1] ख़र्च हो जाते हैं। यह रक़म क़रीब ढ़ करोड़ रुपयों के बराबर होगी।

---

[1] सीस्तरसी—एक रोमन सिक्का।

इस काल में बौद्ध-विहारों में और बौद्ध-संघों की संगीतियों में बड़े-बड़े विवाद और शास्त्रार्थ हुआ करते थे। दक्षिण और पश्चिम से नये विचार जामे में पुराने विचार आते रहते थे। और बौद्ध विचारों की सादगी के ऊपर धीरे-धीरे असर पड़ रहा था। परिवर्तन का यह सिलसिला यहाँ तक पहुँ इसके फलस्वरूप बौद्ध-धर्म दो सम्प्रदायों——महायान और हीनयान में बँट नई-नई व्याख्याओं और विचारों के साथ जब जीवन और धर्म से सम्बन्ध वाले नज़रिये में परिवर्तन हुआ, तब कला और शिल्प में इन विचारों का भी बदल गया। यह कहना आसान नहीं है कि ये परिवर्तन कैसे आये। बौद्ध वि धारा को एक ही दिशा में मोड़नेवाले प्रभावों में शायद दो मुख्य थे, एक धर्म का और दूसरा यूनानी।

जैसा कि मैंने कई बार तुम्हें बताया है, बौद्ध-धर्म जात-पाँत, पुरो और कर्मकाण्ड के ख़िलाफ़ एक विद्रोह था। गौतम बुद्ध मूर्तिपूजा को अच्छा मानते थे। वह यह दावा नहीं करते थे कि वह ईश्वर हैं और उनकी पूजा की वह तो केवल बुद्ध[1] थे। इस विचारधारा के मुताबिक उस ज़माने में बुद्ध की नहीं होती थीं, और उस समय की इमारतों में किसी तरह की मूर्तियाँ नहीं जाती थीं। लेकिन ब्राह्मण लोग हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म के बीच का मिटाना चाहते थे, और बौद्ध विचारों में हिन्दू विचार और प्रतीकवाद करने की बराबर कोशिश करते रहते थे। उधर यूनानी-रोमी दुनिया के भी देवताओं की मूर्तियाँ बनाने के आदी थे। इसलिए धीरे-धीरे बौद्ध मन्दि मूर्तियों का दख़ल हो गया। शुरू की मूर्तियाँ बुद्ध की नहीं बल्कि बोधि-सत्व थीं, जो बौद्ध जातक-कथाओं के अनुसार बुद्ध के पूर्व-जन्म माने जाते हैं। यह सिला जारी रहा, यहाँतक कि अन्त में बुद्ध की मूर्तियाँ भी बना ली गईं और पूजा होने लगी।

बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय ने इन परिवर्तनों का स्वागत किया। विचार-धारा के वह बहुत-कुछ निकट था। कुषाण सम्राटों ने महायान मत कर लिया और उसके प्रचार में मदद की। लेकिन उन्हें हीनयान मत या दूसरे से भी कोई द्वेष न था। कहते हैं कि कनिष्क ने ज़रथुस्त मज़हब को भी दिया था।

महायान और हीनयान में कौन-सा अच्छा है, इस विषय पर बड़े-बड़े वि में जो शास्त्रार्थ हुआ करते थे, उनके बारे में पढ़ने से बड़ा मनोरंजन होता है। लिए संघ की बड़ी-बड़ी संगीतियाँ हुआ करती थीं। कनिष्क ने कश्मीर में एक बहुत बड़ी संगीति बुलाई थी। कई सौ वर्ष तक इस सवाल पर शास्त्रार्थ

---

[1] बुद्ध का अर्थ है जागा हुआ, यानी जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया हो।

द चलते रहे। महायान उत्तर भारत में जीता और हीनयान दक्षिण में, और खर में इन दोनों ही को हिन्दू-धर्म ने हज़म कर लिया। आजकल चीन, जापान तिब्बत में बौद्धधर्म का महायान मत पाया जाता है, और लंका और बर्मा में यान।

किसी क़ौम की कला उसके भावों का सच्चा दर्पण हुआ करती है। इसलिए शुरू के बौद्ध विचारों की सरलता की जगह जटिल प्रतीकों ने ले ली, तब भार- कला भी ज्यादा जटिल और अलंकारपूर्ण होती गई। खासतौर से उत्तर- चम में गान्धार की महायान मूर्तिकला में मूर्तियों और अलंकारों की भरमार गई। हीनयान शिल्प भी इस नई हवा से बिलकुल अछूता न रहा। वह भी धीरे- अपनी पुरानी शैली की सादगी और संयम खो बैठा और उसने अलंकारपूर्ण ई और प्रतीकवाद अपना लिया।

उस काल की कुछ यादगारें आज भी हमारे पास हैं। अजन्ता की गुफ़ाओं दीवारों पर बने हुए सुन्दर चित्र इनमें सबसे ज्यादा दिलचस्प हैं।

अब हम कुषाणों से विदा लेते हैं। लेकिन एक बात याद रखना। शकों और री तुर्की क़ौमों की तरह कुषाणों का भारत में आना या उसपर शासन करना ा नहीं था जैसे कोई विदेशी एक हारे हुए देश पर हुकूमत कर रहे हों। ये लोग रत से और भारत के निवासियों से धर्म के बन्धन में बँधे हुए थे। इसके अलावा होंने भारत के आर्यों की शासन-प्रणाली को भी अपना लिया था। और चूँकि लोगों ने अपने को बहुत हद तक आर्य-प्रणाली के अनुकूल बना लिया था, लिए वे तीन सौ वर्षों तक उत्तर भारत पर राज करने में सफल हुए।

: ३१ :

ईसा और ईसाइयत

१२ अप्रैल, १९३२

उत्तर-पश्चिम भारत के कुषाण-साम्राज्य और चीन के हन्-वंश की चर्चा रते-करते हम इतिहास की एक महत्वपूर्ण मंज़िल से आगे बढ़ आये। इसलिए सपर वापस लौट चलना चाहिए। अभी तक हम जो तारीखें देते थे, वे ईसा के वं की थीं। अब हम ईसवी सन् में पहुँच गये हैं। यह सन्, जैसा कि इसके नाम से ाहिर है, ईसा के जन्म से या ईसा के माने हुए जन्मदिन से, शुरू होता है। वास्तव ईसा का जन्म शायद इससे चार वर्ष पहले हुआ था, लेकिन उससे कोई ज्यादा र्क नहीं पड़ता। ईसा के बाद होनेवाली घटनाओं की तारीख़ों के आगे ईसवी सन् खने का रिवाज हो गया है।[1] मैं भी ऐसा ही करूँगा।

---

[1] अंग्रेजी में ईसवी सन् के लिए A. D. या A. C. लिखा जाता है। A.D. का

ईसा, या जैसा कि उनका नाम था यीशु, की कथा बाइबिल के नये में दी हुई है और तुम्हें उसके बारे में कुछ मालूम भी है। ईसा की जीवन के विवरणों में उनकी जवानी के दिनों का कोई हाल नहीं दिया गया है। वह में पैदा हुए; गैलिली में उन्होंने प्रचार किया और तीस वर्ष से ऊपर की उम्र यरूशलम आये। इसके थोड़े ही दिन बाद रोमन गवर्नर पॉन्तियस पा अदालत में उनपर मुक़दमा चला और उसने इनको सज़ा दी। यह सा मालूम होता कि अपना प्रचार शुरू करने से पहले ईसा क्या करते थे गये थे। मध्य एशिया भर में, कश्मीर में, लद्दाख में और तिब्बत में औ और भी उत्तर के देशों में अभी तक लोगों का यह पक्का विश्वास है कि यीशु इन देशों में घूमे थे। कुछ लोगों का यह विश्वास है कि वह भारत भी पक्के तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता, लेकिन जिन विद्वानों ने ईसा की का अध्ययन किया है, वे यह नहीं मानते कि ईसा भारत या मध्य एशिया थे। लेकिन अगर आये हों तो यह कोई असम्भव बात भी नहीं कही जा स उस ज़माने में भारत के बड़े-बड़े विश्वविद्यालय, ख़ासकर उत्तर-पश्चिम शिला का विश्वविद्यालय, दूर-दूर देशों के लगनवाले विद्यार्थियों को करते थे और मुमकिन है कि ईसा भी ज्ञान की तलाश में यहाँ आये हों। बातों में ईसा के सिद्धान्त गौतम के सिद्धान्तों से इतने ज्यादा मिलते-जुलते यह बहुत सम्भव मालूम होता है कि ईसा को गौतम के विचारों की पूरी-पूरी कारी थी। लेकिन बौद्ध-धर्म दूसरे देशों में काफ़ी प्रचलित था, और इसलि भारत आये बिना भी उसके बारे में अच्छी तरह से जान सकते थे।

स्कूल का हरेक बच्चा जानता है कि मज़हबों के नाम पर लड़ा और कड़वे संघर्ष हुए हैं। लेकिन संसार के मज़हबों की शुरूआत पर ग़ौर और उनकी तुलना करना बहुत दिलचस्प है। सब मज़हबों के नज़रियों और देशों में इतनी समानता है कि यह देखकर हैरत होती है कि लोग छोटे और ग़ैर-ज़रूरी बातों के बारे में झगड़ा करने की बेवक़ूफ़ी क्यों करते हैं। पुराने उपदेशों में नई-नई बातें जोड़ दी जाती हैं, और उनको इस तरह तोड़ दिया जाता है कि उनका पहचानना मुश्किल हो जाता है। सच्चे धर्म-प्र की जगह तंगदिल और कट्टर हठ-धर्मी लोग आ बैठते हैं। बहुत बार मज़

अर्थ है Anno Domini यानी ईश्वर का वर्ष, और A. C. का After Christ यानी ईसा के बाद। पुस्तक के लेखक A. C. लिखना करते हैं। हिन्दी में सिर्फ़ ई० लिखा जाता है।

[1] New Testament

[2] Gospels

ति और साम्राज्यवाद की दासी-जैसा काम किया है। पुराने रोमन लोगों यह नीति थी कि जनता की भलाई के लिए, या यों कहो कि उसे लूटने के उसमें अन्ध-विश्वास पैदा किया जाय; क्योंकि अन्ध-विश्वासी लोगों को रखना ज़्यादा आसान होता है। अमीर-वर्ग के रोमन लोग वैसे तो बड़ी ऊँची फ़िलॉसफ़ी बघारते थे, लेकिन व्यवहार में जिस चीज़ को वे अपने लिए समझते थे, उसे जनता के लिए ठीक और हितकर नहीं मानते थे। बाद के के एक मशहूर इतालवी लेखक मेकियावेली ने राजनीति पर एक पुस्तक है। उसका कहना है कि शासन के लिए मज़हब ज़रूरी चीज़ है, और कभी-शासक का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसे मज़हब की हिमायत करे जिसे ख़ुद झूठा समझता हो। इस ज़माने में भी हमारे सामने ऐसी बहुत-सी लें हैं कि साम्राज्यवाद ने मज़हब की आड़ में शिकार खेला है। इसलिए मार्क्स का यह लिखना ताज्जुब की बात नहीं है कि "मज़हब जनता की म है"।

ईसा यहूदी थे। यहूदी एक निराली और अजीब-तौर पर उद्यमी क़ौम थी, अब भी है। दाऊद और सुलेमान के ज़माने में कुछ समय के वैभव के बाद उनके दिन आये। यह वैभव भी था तो बहुत थोड़ा, लेकिन अपनी कल्पना में उन्होंने यहांतक बढ़ा-चढ़ा दिया कि उनके लिए वह अतीत का एक स्वर्णयुग बन और वे विश्वास करने लगे कि वह युग एक निश्चित समय पर फिर लौटेगा उस समय यहूदी क़ौम फिर महान् और शक्तिशाली हो जायगी। वे लोग रोमन साम्राज्य में और दूसरे देशों में फैल गये, लेकिन अपने इस पक्के ास के कारण वे आपस में मज़बूती से बँधे रहे कि उनके वैभव का दिन वाला है और एक मसीहा वह दिन दिखायेगा। बेघर और आश्रयहीन परेशानियों और अत्याचारों के शिकार और अक्सर मौत के घाट उतारे वाले यहूदियों ने दो हज़ार वर्ष से ज़्यादा तक अपनी हस्ती किस तरह ये रक्खी और किस तरह आपस में बँधे रहे, यह इतिहास की एक अद्भुत ा है।

यहूदी एक मसीहा का इन्तज़ार कर रहे थे, और शायद यीशु से उन्हें इसी ह की उम्मीदें थीं। लेकिन बहुत जल्द इनकी उम्मीदों पर पानी फिर गया, कि ईसा चालू तरीक़ों और सामाजिक व्यवस्था के ख़िलाफ़ विद्रोह की बिलकुल बातें करते थे। ख़ास तौर से वह अमीरों और उन पाखण्डियों के ख़िलाफ़ थे, होंने धर्म को कुछ व्रत-उपवासों और कर्म-काण्डों का मामला बना दिया था। -दौलत और कीर्ति की आशा दिलाने के बजाय, वह एक अस्पष्ट और काल्प-क स्वर्गीय राज्य की ख़ातिर लोगों से अपना सब कुछ त्याग देने को कहते

थे। उनकी बातें रूपकों और कहानियों के रूप में होती थीं, लेकिन स्पष्ट है कि वह जन्म से ही विद्रोही थे, और ज़माने की हालत को सह थे, और उसे बदलने पर तुले हुए थे। यह वह बात न थी जो यहूदी इसलिए बहुत-से यहूदी उनके खिलाफ़ हो गये और उन्होंने ईसा रोमन अधिकारियों के सुपुर्द कर दिया।

मज़हबी मामलों में रोमन लोग असहिष्णु नहीं थे, क्योंकि सब मज़हबों को बर्दाश्त किया जाता था; यहाँ तक कि अगर कोई देवता को बुरा कहता या गाली देता तो उसे सज़ा नहीं दी जाती नामक एक रोमन सम्राट् ने कहा था, "अगर देवताओं का अपमान कि तो उन्हें खुद ही निबट लेने दो"। इसलिए जब रोमन गवर्नर पॉन्तिय के सामने यीशु पेश किये गए तो इस मामले के मज़हबी पहलू की उसे चिन्ता न हुई होगी। यीशु को लोग एक राजनीतिक विद्रोही, और सामाजिक विद्रोही समझते थे, और यही जुर्म लगाकर उनपर मुक़दमा गया, सज़ा दी गई, और गोलगोथा में उन्हें सूली पर लटका दि यातना की इस घड़ी में उनके चुने हुए शिष्यों तक ने उनका साथ छोड़ दि उन्हें मानने से भी इन्कार कर दिया। इस विश्वासघात से उन्होंने ईसा को इतना असह्य बना दिया कि मरने से पहले उनके मुँह से दिल को वाले ये शब्द निकल पड़े—"मेरे ईश्वर! मेरें ईश्वर! तूने मुझे दिया है?"

मृत्यु के समय यीशु जवान ही थे; उनकी उम्र तीस वर्ष से कुछ ही थी। जब हम बाइबिल की सुन्दर भाषा में उनकी मौत की करुण कहानी तो हमारा दिल पसीज जाता है। बाद के युगों में ईसाई धर्म की जो त उसने करोड़ों के मन में यीशु के नाम के लिए श्रद्धा पैदा कर दी; हालांकि ने उनके उपदेशों पर अमल बहुत कम किया है। लेकिन यह याद रखना कि जब वह सूली पर चढ़ाये गए थे तब उनका नाम फ़िलस्तीन से बाहर ज्यादा नहीं जानते थे। रोम के लोग तो उनके बारे में कुछ भी नहीं और पॉन्तियस पाइलेत ने इस घटना को बिलकुल ही महत्व नहीं दिया

यीशु के नज़दीकी अनुयायियों और शिष्यों ने डर के मारे उन्हें अ से भी इन्कार कर दिया था। लेकिन यीशु की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद पॉ एक नये अनुयायी ने, जिसने यीशु को खुद नहीं देखा था, अपनी समझ के ईसाई मत का प्रचार शुरू कर दिया। बहुत-से लोगों का खयाल है कि जिस का पॉल ने प्रचार किया, वह यीशु के उपदेशों से बहुत भिन्न है। पॉल ए और विद्वान् आदमी था, लेकिन वह यीशु की तरह सामाजिक विद्रोही

ल पॉल कामयाब हुआ और ईसाई मत धीरे-धीरे फैलने लगा। रोमन लोगों में इसे कोई महत्व नहीं दिया। उन्होंने समझा कि ईसाई भी यहूदियों का ही सम्प्रदाय होगा। लेकिन ईसाइयों का साहस बढ़ने लगा। वे दूसरे तमाम मतों र विरोधी बन गये और उन्होंने सम्राट् की मूर्ति की पूजा करने से बिलकुल र कर दिया। रोमन लोग उनकी इस मनोवृत्ति को, और उनकी निगाह में यों की इस तंग-खयाली को, समझ नहीं सके। इसलिए वे ईसाइयों को , लड़ाकू, असभ्य और मानव-प्रगति का विरोधी समझने लगे। ईसाइयत लोग शायद एक मज़हब की हैसियत से बर्दाश्त करने को तैयार हो जाते, सम्राट् की मूर्ति के सामने सर झुकाने से उनका इन्कार करना, राजद्रोह गया, और उसकी सज़ा मौत क़रार दी गई। ईसाई लोग आदमी और र की कुश्तियों की भी बड़ी आलोचना करते थे। इसका नतीजा यह हुआ साई सताये जाने लगे। उनकी जायदादें ज़ब्त की जाने लगीं और उन्हें शेरों जन बनाया जाने लगा। तुमने इन ईसाई शहीदों के क़िस्से पढ़े होंगे और तुमने इनके सिनेमा-फिल्म भी देखे होंगे। लेकिन जब कोई व्यक्ति किसी के लिए मरने को तैयार हो जाता है और ऐसी मौत को वास्तव में गौरव ने लगता है, तो उसे या उसके उसूल को दबाना असम्भव होता है। इसलिए साम्राज्य ईसाइयों को दबाने में बिलकुल असफल रहा। उलटे इस लड़ाई में इयत की जीत हुई और ईसा की चौथी सदी के शुरू में एक रोमन सम्राट् खुद ई हो गया और ईसाई मत रोमन-साम्राज्य का राज्य-धर्म बन गया। इस ट् का नाम कॉन्स्तेन्तीन था, जिसने कुंस्तुन्तुनिया नगर बसाया। इसका ज़िक्र आगे करेंगे।

ज्यों-ज्यों ईसाई मज़हब फैला, त्यों-त्यों ईसा के देवत्व के बारे में ज़बर्दस्त ई-झगड़े पैदा हो गये। तुम्हें याद होगा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि गौतम बुद्ध भी देवत्व का दावा नहीं किया था, लेकिन फिर भी वह एक देवता और अवतार तरह पूजे जाने लगे। इसी तरह यीशु ने भी ख़ुदाई का कोई दावा नहीं किया यीशु ने जो बार-बार कहा है कि वह ईश्वर के पुत्र और मनुष्य के पुत्र हैं, का अर्थ यह कभी नहीं है कि उन्होंने ख़ुदाई का या मनुष्यों से ऊपर होने का किया था। लेकिन अपने महान् पुरुषों को देवता का रूप दे देना और देवता आसन पर बिठाने के बाद उनके उपदेशों को छोड़ देना, मनुष्य-जाति को ज़्यादा है। छः सौ साल बाद पैग़म्बर मुहम्मद ने एक और बड़ा मज़हब चलाया, शायद इन उदाहरणों से फ़ायदा उठाकर उन्होंने साफ़-साफ़ और बार-यह कहा कि वह इन्सान हैं, ख़ुदा नहीं।

इस तरह यीशु के उपदेशों को समझने और उनपर अमल करने के बजाय,

ईसाई लोग यीशु के देवत्व और ईसाई त्रिपुटी[1] के रूप के बारे में
और झगड़े करने लगे। वे एक-दूसरे को काफ़िर कहने लगे, एक-दूसरे पर
करने लगे और एक-दूसरे का गला काटने लगे। एक बार ईसाइयों के
सम्प्रदायों में एक संयुक्त शब्द के ऊपर बहुत ज़ोरदार और भयंकर म
एक दल कहता था कि प्रार्थना में होमो-आउज़न[2] शब्द इस्तेमाल
चाहिए; दूसरा होमोइ-आउज़न[3] इस्तेमाल करना चाहता था। इस
यीशु के देवत्व से सम्बन्ध था। इस संयुक्त शब्द के पीछे भयंकर युद्ध
बहुत-से आदमी मारे गये।

ज्यों-ज्यों ईसाई-संघ की ताक़त बढ़ती गई, त्यों-त्यों ये घरेलू झ
गये। ईसाई मज़हब के विभिन्न सम्प्रदायों में इसी तरह के झगड़े पश्चि
में कुछ अर्से पहले तक होते रहे हैं।

तुम्हें यह जानकर ताज्जुब होगा कि इंग्लैण्ड में या पश्चिमी यूरोप
के बहुत पहले, और उस समय जबकि रोम तक में उसे नफ़रत से देखा
और उसपर पाबन्दी लगी हुई थी, ईसाई मज़हब भारत में आ पहुँचा
के मरने के बाद क़रीब सौ साल के अन्दर ही ईसाई धर्म-प्रचारक समु
दक्षिण भारत आये थे। उनके साथ शिष्ट बर्त्ताव किया गया, और उन्हें
मज़हब के प्रचार करने की छूट दे दी गई। उन्होंने बहुत-से लोगों को अप
अनुयायी बनाया और ये लोग तबसे आज तक दक्षिण भारत में उतार-
दिन देखते हुए रहते आये हैं। उनमें से बहुत लोग ईसाई मजहब के पु
दायों के अनुयायी हैं, जिनकी अब यूरोप में हस्ती तक नहीं है। आजकल
कुछ के मुख्य स्थान एशिया-कोचक में है।

राजनीतिक दृष्टि से, आजकल ईसाइयत का बोलबाला है, क्यों
यूरोप की प्रमुख क़ौमों का मज़हब है। लेकिन जब हम अहिंसा और
व्यवस्था के खिलाफ़ विद्रोह का प्रचार करनेवाले विद्रोही यीशु की तुल
आजकल के बकवादी अनुयायियों से करते हैं, जो साम्राज्यवाद, शस्त्रास्
और धन की पूजा में विश्वास करते हैं, तो यह ख़याल हमें हैरत में डाल
यीशु का 'पर्वत का उपदेश'[4] और आजकल की यूरोप व अमेरिका की ई
इन दोनों में कितनी हैरतभरी असमानता है! इसलिए कोई ताज्जुब

---

[1] ईसाई त्रिपुटी (Christian Trinity)—पिता, पुत्र और पवि
(Father, Son and Holy Ghost)

[2] Homo-ousian

[3] Homoi-ousian

[4] Sermon on the Mount

अगर बहुत-से लोग यह सोचने लगें कि आजकल पश्चिम में अपनेको ईसा नुयायी कहनेवाले ज़्यादातर लोगों के मुक़ाबले में बापू ईसा के उपदेशों के ज़्यादा निकट हैं।

: ३२ :

रोमन साम्राज्य

२३ अप्रैल, १९३२

प्यारी बेटी, मैंने बहुत दिनों से तुम्हें पत्र नहीं लिखा। इलाहाबाद से आने- खबरों ने मुझे बेचैन और रोमांचित कर दिया है। खासतौर से तुम्हारी दादी-अम्मा की खबर ने। जब दुबली और कमज़ोर माँ को पुलिस की यों का सामना करना पड़ रहा है और उनकी चोट सहनी पड़ रही है तो की अपनी इस कम तकलीफ़ की ज़िन्दगी पर झुंझलाहट होती है। लेकिन मैं चाहता कि मेरे विचार भावना के साथ बह जायँ और मेरी कहानी के सिलसिले धा डालें।

अब हमें फिर रोम लौट चलना चाहिए, जिसे पुराने संस्कृत ग्रन्थों में रोमक गया है। तुम्हें याद होगा कि हम रोमन गणराज्य के अन्त की और रोमन ाज्य के बनने की चर्चा कर रहे थे। जूलियस सीज़र का गोद लिया हुआ पुत्र ेवियन, आगस्त सीज़र के नाम से पहला राजा बन चुका था। वह अपने बादशाह नहीं कहता था। इसकी वजह कुछ तो यह थी कि वह बादशाह की धि को अपने रुतबे की शान के क़ाबिल नहीं समझता था, और दूसरे वह राज्य के ऊपरी रूपों को जारी रखना चाहता था। इसलिए उसने अपनी धि 'इम्परेटर', यानी हुक्म देनेवाला रक्खी थी। इस तरह 'इम्परेटर' की धि सबसे ऊँची समझी जाने लगी, और तुम शायद जानती हो कि अंग्रेजी का रर' शब्द इसीसे निकला है। इस तरह रोम के पुराने साम्राज्य ने दो शब्द दिये जिनकी लालसा और जिनका उपयोग क़रीब-क़रीब सारी दुनिया के शाह बहुत दिनों तक करते रहे। ये दो शब्द हैं—'एम्परर' और 'सीज़र' या र' या 'ज़ार'। पहले यह समझा जाता था कि एक वक़्त में एक ही सम्राट् हो ता है, जो कि एक तरह से सारी दुनिया का मालिक हो। रोम 'संसार की मिनी' कहलाता था और पश्चिन के लोग समझते थे कि सारी दुनिया रोम की या में बसती है। यह बात वास्तव में ग़लत थी और भूगोल और इतिहास के बारे ज्ञान ही ज़ाहिर करती थी। रोमन साम्राज्य ज़्यादातर भूमध्यसागर के किनारों देशों का साम्राज्य था, और इसकी सीमा पूर्व में इराक़ से आगे कभी नहीं बढ़ी। य-समय पर चीन और भारत में इससे कहीं ज़्यादा शक्तिशाली, बड़े और सुसंस्कृत

राज्य हुए हैं। फिर भी जहाँतक पश्चिमी दुनिया से ताल्लुक़ था, उनके ही अकेला साम्राज्य था, और इसी ख़याल से प्राचीन काल के लोगों की वह सार्वभौम साम्राज्य था। उस समय उसका ज़बर्दस्त दबदबा था।

रोम के बारे में सबसे ज़्यादा दिलचस्प बात यह है कि उसके पीछे ऊपर राज्य करने और दुनिया का सिरताज बनने का भाव था। जब पतन हुआ तब भी इसी ख़याल ने उसकी रक्षा की और उसे बल दिया। भाव तब भी क़ायम रहा जब रोम से उसका सम्बन्ध बिलकुल टूट गया। कि ख़ुद साम्राज्य भी विलीन हो गया और उसकी छाया भर रह गई; भाव तब भी बना ही रहा।

मुझे रोम के बारे में या उसके उत्तराधिकारियों के बारे में लि कुछ दिक़्क़त मालूम होती है। क्या-क्या बातें तुम्हें बतलाई जायँ, उनका और पसन्द करना आसान नहीं है। मुझे डर है कि इस बारे में जो पुरानी मैंने ज़्यादातर जेल में पढ़ी हैं, उनसे मेरे दिमाग़ में इधर-उधर की तसवीरों बेतरतीब ढेर बन गया है। सच तो यह है कि अगर मैं जेल न आया होता के इतिहास की एक मशहूर पुस्तक शायद कभी न पढ़ पाता। यह पुस्तक इ है कि दूसरे कामों के होते हुए इसे पूरी पढ़ जाने के लिए वक़्त निकाल सकना, है। इस पुस्तक का नाम 'डिक्लाइन एण्ड फॉल ऑफ दि रोमन ऐम्पायर' रोमन साम्राज्य का पतन और अन्त है, और इसका लेखक गिबन नामक है। यह पुस्तक क़रीब डेढ़ सौ वर्ष हुए स्वीज़रलैण्ड में लेमन झील के किनारे लिखी गई थी। लेकिन आज भी इसके पढ़ने में रस आता है और मुझे तो वर्णन, जो बड़ी लच्छेदार पर सुरीली भाषा में लिखा हुआ है, उपन्यास से मनोरंजक लगा। क़रीब दस वर्ष हुए मैंने इसे लखनऊ ज़िला-जेल में पढ़ा क़रीब एक महीने तक गिबन मेरा बड़ा नज़दीकी साथी रहा, और उस ने पुराने ज़माने की जो तसवीरें मेरे सामने खींची, उनमें मैं लीन हो गया पुस्तक ख़त्म होने के कुछ ही दिन पहले मुझे अचानक रिहा कर दिया गया टूट गया और फिर बचे हुए सौ पृष्ठों को पढ़ने और प्राचीन रोम और कुस्तु को लौटने का समय निकालने और दुबारा चित्त लगाने में मुझे कुछ दिक्

लेकिन यह बात दस वर्ष पुरानी है और वास्तव में मैंने जो कुछ उसका बहुत कुछ हिस्सा मैं भूल गया हूँ। फिर भी दिमाग़ को भरने और के लिए बहुत-कुछ मौजूद है और इस उलझन को तुम्हारे ऊपर नहीं चाहता।

पहले हम युग-युगों के रोमन साम्राज्य या साम्राज्यों पर एक न कें। बाद में शायद इन तसवीरों में कुछ रंग भरने की कोशिश की जाय

ईसाई सन् की शुरुआत में आगस्त सीज़र के साथ साम्राज्य शुरू होता है। दिनों तक सम्राट् लोग सिनेट की इज़्ज़त करते रहे; लेकिन बहुत जल्द ही ाज्य के लगभग आखिरी निशान भी मिट गये। सम्राट् ने सारी शक्ति अपने में ले ली और वह पूरी तरह एक निरंकुश राजा बन गया, बल्कि देवता जैसा गया। ज़िन्दगी में तो वह आधे-देवता की तरह पूजा जाता था और मरने द वह पूरा देवता बना दिया जाता था। उस ज़माने के सभी लेखकों ने शुरू धिकतर सम्राटों में, ख़ासकर आगस्त में, सारे गुणों का आरोप कर दिया है। ग आगस्त के युग को स्वर्ण-युग कहते हैं, जब कि सारी नेकियाँ फूल-फल रही थीं भलों को इनाम व बुरों को सज़ा मिलती थी। ज़ुल्मी शासकों के मुल्कों में कों का यही रवैय्या रहता है, क्योंकि ज़ाहिर है कि शासक की तारीफ़ करने में ा रहता है। वर्जिल, ओविद, होरेस जैसे कुछ मशहूर लातीनी लेखक, जिनकी एँ हमें स्कूल में पढ़नी पड़ी थीं, इसी ज़माने में हुए थे। सम्भव है कि द्धों और उन फ़िसादों के बाद, जो कि गणराज्य के आखिरी दिनों में बराबर रहे, शान्ति और राहत का ऐसा ज़माना आने से लोगों को तसल्ली मिली जिसमें व्यापार को और कुछ हद तक सभ्यता को फूलने-फलने का मौक़ा सकता था।

लेकिन यह सभ्यता कैसी थी? यह धनवानों की सभ्यता थी। लेकिन ये न लोग प्राचीन यूनान के धनवानों की तरह कला-प्रिय और कुशाग्र-बुद्धि हीं थे; बल्कि बहुत मामूली और मन्द-बुद्धि लोगों का एक जमघट थे, का ख़ास काम मौज की ज़िन्दगी बिताना था। सारी दुनिया से भोग-विलास खाने-पीने की चीज़ें इनके लिए आती थीं, और बड़ी शान-शौक़त और -भड़क दिखाई देती थी। ऐसे लोगों की बिरादरी अभी ख़त्म नहीं हुई है। तरफ़ तो शान-शौक़त और आडम्बर थे और तड़क-भड़कवाले जुलूसों, स के खेलों और ग्लेडियेटरों के मारे जाने का सिलसिला था तो दूसरी तरफ़ शान-शौक़त के पीछे जनता की तबाही छिपी थी। टैक्स बहुत बढ़े हुए थे, का बोझ ख़ास करके मामूली आदमियों पर पड़ता था और काम का बोझ नती गुलामों की पीठ पर था। रोम के इन बड़े लोगों ने चिकित्सा, दार्शनिक-और चिन्तन तक के काम भी ज़्यादातर यूनानी गुलामों के हवाले कर रक्खे ये लोग अपनेको जिस दुनिया का मालिक मानते थे उसके बारे में ठीक बातें ों की या शिक्षा का प्रचार करने की वे ज़रा भी कोशिश नहीं करते थे।

एक के बाद दूसरा सम्राट् गद्दी पर बैठता गया। इनमें कोई बुरा था तो बहुत ही बुरा। धीरे-धीरे सारी ताक़त फ़ौज के हाथ में आ गई और वह अपने टों को बना-बिगाड़ सकती थी। हालत यहाँतक बिगड़ी कि फ़ौज की कृपा

प्राप्त करने के लिए होड़ होने लगी और उसे रिश्वत देने के लिए जनता से
हुए देशों से ज़बर्दस्ती रुपया वसूल किया जाने लगा। आमदनी का
बड़ा साधन ग़ुलामों का व्यापार था और रोम की फ़ौजें पूर्व में बाक़ायद
को पकड़ने जाया करती थीं। फ़ौज के साथ ग़ुलामों के व्यापारी भी जाते
मौक़े पर ग़ुलामों को ख़रीद सकें। देलोस का टापू, जिसे प्राचीन यूनानी
मानते थे, ग़ुलामों की एक बड़ी मण्डी बन गया था, जहाँ कभी-कभी दस-द
ग़ुलाम एक दिन में बिक जाते थे! रोम के विशाल कोलोज़ियम[1] में एक
सम्राट् बारह-बारह सौ ग्लेडियेटरों का एक साथ प्रदर्शन किया करता
अभागे ग़ुलामों का काम था सम्राट् और उसकी प्रजा के मनोरंजन के लिए

साम्राज्य के दिनों में रोमन सभ्यता इस तरह की थी। फिर भी
गिबन ने लिखा है—"अगर किसीसे कहा जाय कि तुम दुनिया के इति
वह काल बताओ जब मनुष्य-समाज सबसे ज्यादा सुखी और ख़ुशहाल
तो बिना संकोच के वह उस काल का नाम लेगा जो दोमिशियन की मृत्यु
के गद्दी पर बैठने तक गुज़रा था"—यानी सन् ९६ ई० से १८० ई० तक
वर्ष का ज़माना। गिबन कितना ही बड़ा विद्वान् रहा हो, पर मेरा ख़्या
जो कुछ उसने कहा है, उससे सहमत होने में बहुत लोग ज़रूर संकोच करें
जब मनुष्य-जाति की बात करता है, तब उसका मतलब भूमध्यसागर के
बसी दुनिया से ही है, क्योंकि भारत या चीन या प्राचीन मिस्र के बारे
जानकारी नहीं के बराबर थी।

लेकिन शायद मैं रोम के साथ कुछ ज्यादती कर रहा हूँ। रोम राज्यों
बहुत अन्दरूनी अमन-चैन होने की वजह से ज़रूर एक सुखदायी परि
होगा। सरहदों पर अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। लेकिन कम-से-कम
दिनों में साम्राज्य के भीतर 'रोमन शान्ति'[2] विराजती थी। जानमाल
तक सुरक्षित थे, इसलिए व्यापार में तरक्क़ी हुई। रोमन नागरिकता के
सारी रोमन दुनिया को दे दिये गए थे, लेकिन यह याद रक्खो कि बेचारे
को इस अधिकार से कोई सरोकार नहीं था। यह भी याद रखने की बात है
शक्ति सम्राट् के हाथों में थी और नागरिकों को कोई अधिकार नहीं थे।
पर किसी तरह की चर्चा सम्राट् के ख़िलाफ़ ग़द्दारी समझी जाती थी।
के लोगों के लिए किसी हद तक एक-सी सरकार थी और एक क़ानून था।

---

[1] कोलोज़ियम—रोम का बहुत बड़ा अखाड़ा, जो उस समय
सबसे बड़ा माना जाता था। इसके खण्डहर अब तक मौजूद हैं।

[2] Pax Romana

लोगों के लिए बहुत बड़े फ़ायदे की रही होगी, जो पहले इससे भी ज़्यादा ज़ुल्मी मतों के मातहत मुसीबतें झेल चुके थे।

धीरे-धीरे रोमन लोग इतने आलसी या दूसरी तरह से इतने अयोग्य हो गये खुद अपनी फ़ौजों में लड़ने लायक़ भी न रहे। गाँव के किसान अपने ऊपर लदे बोझों की वजह से ज़्यादा ग़रीब होते गये और यही हाल शहर के लोगों का हुआ। लेकिन सम्राट् शहर के लोगों को राज़ी रखना चाहते थे, जिससे कि कोई झगड़ा-बखेड़ा खड़ा न करें। इसके लिए रोम के लोगों को मुफ़्त रोटियाँ जाती थीं, और उनके मनोरंजन के लिए सरकसों में खेल-तमाशे भी मुफ़्त में ाये जाते थे। इस तरह उनका मिज़ाज खुश रक्खा जाता था। लेकिन ये मुफ़्त रोटियाँ सिर्फ़ कुछ ही जगहों में बाँटी जा सकती थीं, और इसके लिए भी र वग़ैरा दूसरे मुल्कों में ग़ुलामों को तबाही और मुसीबत उठानी पड़ती थी; कि उनसे मुफ़्त का आटा वसूल किया जाता था।

चूंकि रोमन लोग आसानी से फ़ौज में भरती नहीं होते थे, इसलिए साम्राज्य ाहर के लोग, जिन्हें 'बर्बर' कहा जाता था, सेना में भरती किये जाते थे। इस ह रोम की सेनाओं में ज़्यादातर वे लोग भर गये जो रोम के 'बर्बर' दुश्मनों के ी या रिश्तेदार थे। सरहदों पर ये 'बर्बर' जातियाँ बराबर रोमनों को दबाती र घेरती जाती थीं। ज्यों-ज्यों रोम कमज़ोर होता गया, 'बर्बर' लोग ज़्यादा क्तवर और साहसी होते नज़र आने लगे। पूर्व की तरफ़ से ख़ास ख़तरा था। र चूंकि यह सरहद रोम से दूर थी, इसलिए इसकी रक्षा करना आसान नहीं था। ास्त सीज़र के तीन सौ वर्ष बाद, कॉन्स्तेन्तीन नामक सम्राट् ने ऐसा महत्वपूर्ण म उठाया, जिसका आगे चलकर बहुत ही दूरवर्ती नतीजा निकलनेवाला था। साम्राज्य की राजधानी रोम से हटाकर पूर्व को ले गया। काला साग़र और ध्यसागर के बीच, दर्रे-दानियाल के किनारे पर बसे हुए विज़ैन्तिया नामक ने शहर के पास, उसने एक नया शहर बसाया, जिसका नाम उसने अपने नाम क़ुस्तुन्तुनिया'[1] रक्खा। क़ुस्तुन्तुनिया, जिसे नया रोम भी कहते थे, रोमन म्राज्य की राजधानी बन गया। आज भी एशिया के कई हिस्सों में क़ुस्तुन्तुनिया स्म कहते हैं।

: ३३ :

मन साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर छायामात्र रह जाता है

२४ अप्रैल, १९३२

आज भी हम रोमन साम्राज्य का सिंहावलोकन जारी रक्खेंगे। ईसवी

---

[1] अंग्रेज़ी में यह कॉन्स्टेन्टिनोपल कहलाता है।

सन् की चौथी सदी के शुरू में, यानी ३२६ ई० में, कॉन्स्तेन्तीन ने पुराने बि के नज़दीक क़ुस्तुन्तुनिया[1] शहर बसाया। और वह अपने साम्राज्य की रा को पुराने रोम से बहुत दूर दर्रे-दानियाल के किनारे पर बसे हुए इस नये ले आया। नक़्शे पर एक नज़र डालो। तुम देखोगी कि क़ुस्तुन्तुनिया का शहर यूरोप के किनारे खड़ा महान् शक्तिशाली एशिया की ओर झांक यह दो महाद्वीपों को जोड़नेवाली एक कड़ी के समान है। खुश्की के और बहुत-से बड़े-बड़े तिजारती रास्ते इसीसे होकर गुज़रते थे। राजधानी के लिए यह बहुत अच्छे मौक़े की जगह है। कॉन्स्तेन्तीन ने चुनाव तो अच्छा लेकिन इस राजधानी के परिवर्तन की उसे या उसके वारिसों को काफ़ी चुकानी पड़ी। जिस तरह पुराना रोम एशिया-कोचक और पूर्वी हिस्सों से दूर पड़ता था, उसी तरह यह नई पूर्वी राजधानी भी ब्रिटेन और गॉल जैसे प देशों से बहुत दूर पड़ती थी।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ समय तक तो दो संयुक्त हुआ करते थे; एक रोम में रहता था और दूसरा क़ुस्तुन्तुनिया में। इसका न यह हुआ कि साम्राज्य के दो हिस्से हो गये—एक पश्चिमी, दूसरा पूर्वी। पश्चिमी साम्राज्य, जिसकी राजधानी रोम थी, बहुत दिनों तक इस ध बर्दाश्त न कर सका। जिन लोगों को वह 'बर्बर' कहता था, उनसे वह अप न कर सका। गोथ नाम का एक जर्मन क़बीला आया और उसने रोम लिया। इसके बाद वाण्डाल और हूण आये और पश्चिमी साम्राज्य ढह तुमने हूण शब्द का प्रयोग सुना होगा। यह बतलाने के लिए कि जर्मन लो ज़ालिम और जंगली हैं, पिछले महायुद्ध में अंग्रेज़ लोग जर्मनों के लिए इ का आमतौर पर इस्तेमाल करते थे। पर सच्ची बात तो यह है कि लड़ाई के में हर आदमी का, या कुछके सिवा हर आदमी का, दिमाग़ फिर जाता है। और शराफ़त के बारे में उसने जो कुछ सीखा होता है, वह सब भूल जाता निर्दयता व जंगलीपन का व्यवहार करने लगता है। जर्मनों ने इसी तरह का किया और अंग्रेज़ों व फ़्रान्सीसियों ने भी। इस मामले में दोनों में कोई फ़र्क़ न

हूण शब्द लानत का एक भयंकर शब्द बन गया है। यही हाल शब्द का भी है। शायद ये हूण और वाण्डाल बहुत असभ्य और निर्दयी इन्होंने बहुत नुक़सान पहुँचाया। लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि बारे में जो-कुछ हाल हमें मालूम होते हैं, वह इनके दुश्मन रोमन लोगों के हैं और उनसे निष्पक्षता की उम्मीद नहीं की जा सकती। कुछ भी हो, गोथ, और हूण लोगों ने पश्चिमी रोमन साम्राज्य को बालू की दीवार की तरह ढहा

---

[1] अब इसका नाम इस्तम्बूल है और यह तुर्की की राजधानी है।

न लोगों के इतनी आसानी से कामयाब हो जाने की एक वजह शायद यह थी कि मन साम्राज्य का किसान-वर्ग उसकी मातहती में इतना ज्यादा तबाह था और स पर टैक्सों व क़र्ज़ों का इतना भारी बोझ था, कि वह किसी भी परिवर्तन का स्वागत करने को तैयार था। जैसे आज का ग़रीब भारतीय किसान अपनी यंकर ग़रीबी और तबाही में होनेवाला कोई भी परिवर्तन खुशी से क़बूल कर लेगा।

इस तरह रोम का पश्चिमी साम्राज्य ढह गया पर कुछ सदियों के बाद यह र दूसरी शक्ल में उठा। पूर्वी साम्राज्य किसी तरह क़ायम रहा; हालांकि हूण र दूसरी क़ौमों के हमलों का मुक़ाबला करने में इसे बहुत मुश्किलें उठानी पड़ीं। न हमलों से अपनी रक्षा करने के अलावा, अरबों और बाद को तुर्कों से बराबर डाइयाँ लड़ते हुए भी यह साम्राज्य सदियों तक चलता रहा। ग्यारह सौ वर्षों आश्चर्यजनक काल तक यह बचा रहा। आखिरकार १४५३ ई० में इसका पतन गया और क़ुस्तुन्तुनिया पर उस्मानिया तुर्कों ने क़ब्ज़ा कर लिया। उस वक़्त से ज तक क़रीब पाँच सौ वर्षों से क़ुस्तुन्तुनिया या इस्तम्बूल तुर्कों के क़ब्ज़े में है। हाँ से तुर्कों ने यूरोप पर बार-बार धावे किये और वे ठेठ वियेना की दीवारों तक जा चे। बाद की सदियों में ये लोग धीरे-धीरे पीछे हटा दिये गए, और बारह वर्ष हुए, हायुद्ध में हारने के बाद, क़ुस्तुन्तुनिया का शहर भी क़रीब-क़रीब तुर्कों के हाथ निकल गया था। इस शहर पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा था और तुर्की सुलतान उनके थ की कठपुतली बन गया था। लेकिन एक महान् नेता, मुस्तफ़ा कमालपाशा पनी क़ौम को बचाने के लिए आगे आया और एक बहादुराना संघर्ष के बाद वह फल हुआ। आज तुर्की एक गणराज्य है और सुलतान का पद हमेशा के लिए त्म हो गया है। कमालपाशा इस गणराज्य का राष्ट्रपति है।[1] क़ुस्तुन्तुनिया, ो पन्द्रह सौ वर्षों तक पूर्वी रोमन साम्राज्य की और बाद में तुर्की साम्राज्य की ाजधानी रहा है, अब भी तुर्की राज्य का एक हिस्सा है, लेकिन उसकी राजधानी हीं है। तुर्कों ने इस शहर की साम्राज्य-सम्बन्धी यादगारों से दूर रहना और यहाँ बहुत दूर एशिया-कोचक में अंगोरा या अंकारा को अपनी राजधानी बनाना यादा मुनासिब समझा।

हमने क़रीब दो हज़ार वर्षों का ज़माना तेज़ी के साथ पार कर लिया है और स्तुन्तुनिया की स्थापना, इस नये शहर में रोमन साम्राज्य की राजधानी का ाना, वग़ैरा, एक के बाद एक होनेवाले परिवर्तनों पर सरसरी नज़र डाली है। किन क.न्स्तेन्तीन ने एक नई बात और भी की। वह ईसाई हो गया, और चूँकि ह सम्राट् था, इसलिए इसका मतलब यह हुआ कि ईसाई मज़हब साम्राज्य ा राज-धर्म बन गया। ईसाइयत की हैसियत में यह अचानक परिवर्तन होना और

---

[1] कमालपाशा की मृत्यु १९३९ ई० में हो गई।

एक त्रस्त सम्प्रदाय का साम्राज्य का धर्म बन जाना, अजीब बात हुई होगी। इस परिवर्तन से ईसाइयत को उस समय ज़्यादा फ़ायदा नहीं हुआ। के जुदा-जुदा सम्प्रदायों में आपसी झगड़े शुरू हो गये। आख़िर में लातीनी यूनानी दो सम्प्रदाय टूट कर अलग हो गये। लातीनी सम्प्रदाय का केन्द्र और रोम का बिशप इसका प्रमुख समझा जाता था। बाद में यही रोम का गया। यूनानी सम्प्रदाय का केन्द्र क़ुस्तुन्तुनिया था। लातीनी चर्च उत्तर और यूरोप में फैल गया और रोमन कैथोलिक चर्च के नाम से मशहूर हुआ। चर्च का नाम कट्टर चर्च[1] पड़ गया। पूर्वी रोमन साम्राज्य के नष्ट होने रूस ही ऐसा मुल्क था, जिसमें कट्टर चर्च ख़ासतौर पर फूला-फला। अब बोलशेविज़्म के कारण इस चर्च की, या किसी भी चर्च की, कोई सरकारी नहीं है।

मैंने पूर्वी रोमन साम्राज्य का ज़िक्र किया है, लेकिन इसका रोम सम्बन्ध नहीं था। इस साम्राज्य की भाषा भी लातीनी नहीं बल्कि यूनानी एक अर्थ में इसे बहुत-कुछ सिकन्दर के यूनानी साम्राज्य का सिलसिला समझ हैं। इस साम्राज्य का पश्चिमी यूरोप से भी कोई सम्पर्क नहीं था; हालांकि दिनों तक इसने पश्चिमी देशों के इस हक़ को मंजूर नहीं किया कि वे इससे रहे। फिर भी पूर्वी साम्राज्य ने रोमन शब्द को नहीं छोड़ा, और यहां के रोमन कहलाते रहे, मानो इस शब्द में कोई जादू हो। इससे ज्यादा ताज्जुब यह हुई कि रोम नगर ने, साम्राज्य की राजधानी के पद से गिर जाने पर भी, रौब नहीं खोया; यहां तक कि जो बर्बर लोग इसे जीतने के लिए आये, उन्हें पर हाथ उठाने में झिझक-सी हुई और उन्होंने इसके साथ सम्मान का किया। वास्तव में बड़े नाम में और भावनाओं में ऐसी ही शक्ति होती है।

साम्राज्य खोकर रोम ने एक नया साम्राज्य बनाना शुरू किया; यह बिलकुल दूसरी ही क़िस्म का था। कहा जाता था कि यीशु के शिष्य पीटर आये थे और वह यहाँ के पहले बिशप हुए। इससे बहुत-से ईसाइयों की यह शहर पवित्र बन गया और रोम के बिशप का पद ख़ास महत्व का हो शुरू में रोम का बिशप दूसरे बिशपों की तरह ही होता था, लेकिन क़ुस्तुन्तुनिया चले जाने के बाद इस पद का महत्व बढ़ता गया। अब रोम में के ऊपर कोई न रहा और पीटर की गद्दी पर बैठनेवाले की हैसियत से रोम के का ओहदा सबसे ऊँचा माना जाने लगा। बाद को ये पोप कहलाने लगे, और जानती हो कि पोप आज भी बने हुए हैं और रोमन कैथोलिक चर्च के प्रमुख होते

यह अजीब बात है कि रोमन चर्च और यूनानी कट्टर चर्च के अलग

---

[1] Orthodox Church

एक वजह मूर्ति-पूजा थी। रोमन चर्च ईसाई सन्तों की और ख़ासकर ईसा की मेरी की मूर्तियों की पूजा को बढ़ावा देता था, लेकिन कट्टर चर्च इसका विरोधी था।

रोम पर उत्तरी क़बीलों के सरदारों का कई पीढ़ियों तक क़ब्ज़ा और शासन लेकिन वे भी अक्सर क़ुंस्तुन्तुनिया के सम्राट् को अपना स्वामी मानते रहे। बीच रोम के बिशप की ताक़त धर्माध्यक्ष के रूप में बढ़ती गई। यहाँतक कि अपनेको इतना ताक़तवर महसूस करने लगा कि क़ुंस्तुन्तुनिया के सम्राट् को ती देने लगा। जब मूर्ति-पूजा के सवाल पर झगड़ा हुआ तब पोप ने रोम को पूर्व लकुल अलग कर लिया। इस अर्से में बहुत-सी ऐसी बातें हो गई थीं, जिनका आगे ज़िक्र करेंगे। अरब में एक नया मज़हब इस्लाम पैदा हो गया था और लोग सारे उत्तरी अफ्रीका और स्पेन को रौंदकर यूरोप के बीच के भाग हमला कर रहे थे। उत्तर-पश्चिमी यूरोप में नये राज्य क़ायम हो रहे थे और रोमन साम्राज्य पर अरबों के भयंकर आक्रमण हो रहे थे।

पोप ने फ्रैंक लोगों के एक बड़े नेता से मदद माँगी। फ्रैंक उत्तर का एक जर्मन ला था। बाद को फ्रैंकों के सरदार कार्ल या चार्ल्स को रोम में सम्राट् की गद्दी बैठाया गया। यह एक बिलकुल ही नया साम्राज्य या राज्य था, लेकिन उन लोगों से रोमन साम्राज्य और बाद में 'पवित्र रोमन साम्राज्य' के नाम से पुकारा। मन के सिवाय किसी साम्राज्य की कल्पना ही नहीं कर सकते थे, और हालाँकि मेन या महान् चार्ल्स का रोम से कोई सम्बन्ध नहीं था, फिर भी वह इम्परेटर, र और आगस्त बन गया। इस नये साम्राज्य को पुराने साम्राज्य का एक सिला समझा गया, लेकिन उसके नाम में एक शब्द और जुड़ गया। अब वह त्र' हो गया। यह पवित्र इसलिए माना गया कि यह ख़ासतौर से एक ईसाई म्राज्य था और पोप इसका धर्म-पिता था।

इस जगह भावनाओं की अद्भुत शक्ति का एक और सबूत मिलता है। य-यूरोप का रहनेवाला एक फ्रैंक या जर्मन, रोमन सम्राट् बन जाता है! इस त्र' साम्राज्य का अगला इतिहास और भी आश्चर्यजनक है। साम्राज्य की यत से यह बिलकुल छाया जैसा रह गया था। पूर्व का रोमन साम्राज्य, जिसकी धानी क़ुंस्तुन्तुनिया थी, राज्य की तरह चलता रहा; पर पश्चिमी साम्राज्य य-समय पर बदलता रहा, ग़ायब होता रहा और फिर प्रकट होता रहा। दरअसल साम्राज्य छाया और भूत की तरह था, जो सिर्फ़ ईसाई-चर्च और रोमन नाम की ष्ठा के बल पर ख़याली दुनिया में चल रहा था। अब यह कल्पना का साम्राज्य गया था जिसमें असलियत कुछ नहीं थी। किसीने—मेरा ख़याल है शायद ल्तेयर ने—इस 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की परिभाषा करते हुए कहा था कि

यह ऐसी चीज़ थी, जो न तो पवित्र थी, न रोमन थी और न साम्राज्य थी। ने एक बार इण्डियन सिविल सर्विस के बारे में, जिससे हम लोग इस देश से अभी तक परेशान हैं, कहा था कि न तो यह इण्डियन (भारतीय) है, (शिष्ट) है और न सर्विस (सेवा) है !

जो कुछ भी हो, पवित्र रोमन साम्राज्य का यह ढकोसला क़रीब वर्ष तक नाम को चलता रहा और आज से क़रीब सौ वर्ष से कुछ ही नेपोलियन के ज़माने में, इसका हमेशा के लिए अन्त हो गया। यह अन्त मार्के का या नाटकीय नहीं हुआ। इसके अन्त पर किसीका ध्यान ही नहीं क्योंकि वास्तव में बहुत दिनों से इसकी हस्ती ही नहीं थी। अन्त में इस दफ़न कर दिया गया। लेकिन हमेशा के लिए नहीं, क्योंकि क़ैसर वग़ैरा के रूपों से यह बार-बार प्रकट होता रहा। ये सब भी चौदह वर्ष हुए महायुद्ध में दफ़ना दिये गए।

: ३४ :

विश्व-राज्य की भावना

२५ अप्रैल,

मुझे लगता है कि मेरी इन चिट्ठियों से तुम बहुत बार उकता जा और उलझन में पड़ जाती होगी। ख़ासकर रोमन-साम्राज्य सम्बन्धी पत्रों ने तो तुम्हारा इम्तिहान ले डाला होगा। हज़ारों वर्षों और हज़ा को पार करते हुए कभी मैं पीछे चला गया हूँ और कभी आगे बढ़ गया इससे अगर तुम्हारे दिमाग़ में कुछ उलझन पैदा हो गई हो तो क़सूर मेरा पर हिम्मत मत हारो और आगे बढ़ती चलो। अगर कहीं मेरी कोई बात समझ में न आये तो तुम परेशान न होना बल्कि आगे बढ़ती चलना। इन उद्देश्य तुम्हें इतिहास पढ़ाना नहीं है बल्कि सिर्फ़ यह है कि तुम्हें उसकी मिलती रहें और कुतूहल पैदा हो।

रोमन साम्राज्यों की चर्चा से तुम ज़रूर ऊब गई होगी। मैं मंज़ूर कि मैं भी थक तो गया हूँ, लेकिन आज थोड़ी देर के लिए हम उन्हें और बढ़ लें, और फिर कुछ दिन के लिए इनसे छुट्टी ले लेंगे।

तुम जानती हो कि आजकल राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की बहुत होती रहती है। भारत में आजकल हममें से क़रीब-क़रीब सभी गहरे राष्ट्र इतिहास में यह राष्ट्रीयता एक बिलकुल नई चीज़ है और इन पत्रों में राष्ट्रीयता के ज़न्म और विकास का शायद कुछ अध्ययन कर सकें। रोमन सा

ज़माने में इस क़िस्म की कोई भावना नहीं पाई जाती थी। रोमन साम्राज्य ी दुनिया पर हुकूमत करनेवाला एक महान् राज्य माना जाता था। आज तक साम्राज्य या राज्य ऐसा नहीं हुआ, जिसने सारी दुनिया पर हुकूमत की हो, न भूगोल के अज्ञान और दूर देशों के लिए सवारी के साधनों में और यात्रा भारी कठिनाइयाँ होने की वजह से लोग पुराने ज़माने में अक्सर यह समझते थे कि ऐसा राज्य है। इसलिए रोमन राज्य के साम्राज्य बनने के पहले से ही प में और भूमध्यसागर के आसपास के देशों में, वह इसके सारे राज्यों पर मत करनेवाला एक सर्वोपरि राज्य माना जाता था। इसका रौब इतना ज्यादा कि एशिया-कोचक, यूनानी राज्य के परगैमम और मिस्र को इन दोनों देशों के सकों ने खुद ही रोमन क़ौम को भेंट कर दिया। ये समझते थे कि रोम सबसे दा शक्तिशाली है और कोई उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता। लेकिन जैसा मैं लिख चुका हूं, चाहे गणराज्य की तरह या साम्राज्य की तरह, रोम का भूमध्यसागर के तटवर्ती देशों के अलावा और कहीं नहीं था। उत्तरी यूरोप 'बर्बर' लोगों ने इसके आगे सिर नहीं झुकाया, और रोम भी इनकी ज्यादा परवाह करता था। लेकिन रोम की सत्ता की हद जो भी रही हो, इसके पीछे एक व-राज्य की भावना थी, और इस भावना को पश्चिम में उस ज़माने के अधिकांश गों ने स्वीकार कर लिया था। रोमन साम्राज्यों का इतने दिन ज़िन्दा रहने का ी कारण है। यहाँतक कि उसकी असलियत निकल जाने पर भी उसका नाम र प्रताप बहुत बढ़ा हुआ था।

एक बड़े राज्य का सारी दुनिया पर हुकूमत करने का विचार रोम की ही सियत नहीं थी। यह विचार पुराने ज़माने में चीन और भारत में भी पाया ता था। जैसा कि तुम्हें मालूम है, कैस्पियन समुद्र तक फैला हुआ चीनी राज्य त बार रोमन साम्राज्य से ज्यादा लम्बा-चौड़ा रहा है। चीन का सम्राट 'स्वर्ग-' कहलाता था और चीनी लोग उसे 'विश्व-सम्राट्' समझते थे। यह सही है कुछ जंगली क़ौमें और क़बीले ऐसे थे, जो उत्पात करते रहते थे और सम्राट् का म नहीं मानते थे। लेकिन वे 'बर्बर' समझे जाते थे, जिस तरह कि रोमन लोग तर यूरोप के रहनेवालों को 'बर्बर' कहते थे।

इसी तरह भारत में भी शुरू के ज़माने से ही 'चक्रवर्ती' कहलानेवाले विश्व-म्राटों का ज़िक्र मिलता है। दुनिया के बारे में उनकी-कल्पना वास्तव में बहुत ीमित थी। खुद भारत ही इतना बड़ा था कि वे सारी दुनिया इसीको समझते और यह खयाल करते थे कि भारत पर हुकूमत करनेवाला सारी दुनिया का ामी है। बाहर के दूसरे लोगों को वे म्लेच्छ कहते थे। पुराने ज़माने से चली ानेवाली कथाओं के अनुसार पौराणिक राजा भरत, जिसके नाम पर हमारा देश

भारतवर्ष कहलाता है, ऐसा ही एक चक्रवर्ती राजा माना गया है। महा अनुसार युधिष्ठिर और उसके भाइयों में इसी चक्रवर्ती-पद के लिए था। अश्वमेध-यज्ञ संसार के प्रभुत्व के लिए एक चुनौती थी और उसका था। अशोक भी शायद शुरू में चक्रवर्ती राजा बनना चाहता था। लेकि दिल पश्चात्ताप से इतना भर गया कि उसने युद्ध करना ही छोड़ दिया। भी तुम्हें भारत में गुप्तवंश के राजाओं की तरह कई ऐसे साम्राज्यवा मिलेंगे जिनकी इच्छा चक्रवर्ती बनने की थी।

तुम देखोगी कि पुराने ज़माने में लोग विश्व-सम्राट् और विश्व- बात अक्सर सोचा करते थे। इसके बहुत दिनों बाद राष्ट्रीयता आई और क़िस्म का साम्राज्यवाद पैदा हुआ और इन दोनों ने दुनिया में काफ़ी तबा दी है। आजकल भी विश्व-राज्य की चर्चा होने लगी है। यह चर्चा किसी साम्राज्य या चक्रवर्ती सम्राट् के बारे में नहीं है, बल्कि एक तरह के ऐसे वि राज्य की है जिसमें कोई राष्ट्र या क़ौम या वर्ग किसी दूसरे राष्ट्र या क़ौम का शोषण न कर सके। यह कहना मुश्किल है कि निकट भविष्य में इस क़ि कोई चीज़ बनेगी या नहीं, लेकिन दुनिया की हालत बुरी है और इसकी को मिटाने का कोई दूसरा तरीक़ा दिखाई नहीं देता।

मैंने उत्तर यूरोप के 'बर्बरों' का बार-बार ज़िक्र किया है। यह इसलिए इस्तेमाल किया है कि रोमन लोगों ने इनका ज़िक्र इसी नाम है। मध्य-एशिया के घुमक्कड़ों और दूसरे क़बीलों की तरह ये लोग रोम में रहनेवाले अपने पड़ोसियों से अवश्य ही कम सभ्य थे। लेकिन ताक़त इन लोगों में ज्यादा था, क्योंकि ये खुली हवा में रहनेवाले थे। बाद में हो गये और जब इन्होंने रोम को जीत लिया तब भी ये वहाँ औरों की तरह दुश्मन बनकर नहीं आये। उत्तरी यूरोप के आजकल के राष्ट्र—गो वग़ैरा, इन्हीं 'बर्बर' जातियों की सन्तानें हैं।

मैंने तुम्हें रोमन सम्राटों के नाम नहीं बताये। वहाँ ढेरों सम्राट कुछको छोड़कर बाक़ी सब बहुत बुरे थे। कुछ तो निरे राक्षस ही थे। तुमने का नाम तो सुना ही होगा। लेकिन बहुत-से तो नीरो से भी बहुत ज्यादा हैं। आइरीन नाम की एक स्त्री ने सम्राज्ञी बनने के लिए खुद अपने पुत्र कि सम्राट् था, क़त्ल कर दिया था। यह क़ुस्तुन्तुनिया की बात है।

रोम का एक सम्राट् दूसरों के मुक़ाबले बहुत ऊँचा था। उसका ना अरेली एन्तोनिन था। कहा जाता है कि यह दार्शनिक था और उसकी एक

---

[1] श्री च० राजगोपालाचार्य द्वारा किया गया इसका रूपान्तर 'आत्म के नाम से सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली से प्राप्य है।

उसके विचार और मनन दिये हुए हैं, पढ़ने लायक है। पर मार्क ऑरेली के जो उसके बाद गद्दी पर बैठा, अपने पिता का हिसाब बराबर कर दिया। म के सबसे बदमाश गुण्डों में गिना जाता है।

रोमन साम्राज्य के शुरू के तीन सौ वर्षों तक रोम पश्चिमी दुनिया का केन्द्र जरूर ही यह आलीशान इमारतोंवाला बहुत बड़ा शहर रहा होगा, जहाँ ज्य के कोने-कोने से, और बाहर से भी, लोग आते रहे होंगे। बहुत-से जहाज़ र के देशों से बढ़िया चीज़ें—खाने की दुर्लभ वस्तुएँ और क़ीमती माल यहाँ थे। कहते हैं, हर साल एक सौ बीस जहाज़ों का बेड़ा लाल समुद्र के एक मिस्री गाह से भारत जाता था। ये लोग ठीक उसी वक़्त चलते थे जब बरसात की ा हवाएँ चलती थीं, क्योंकि इनसे इनको बहुत सहारा मिलता था। ये तर दक्षिण भारत जाते थे और क़ीमती माल लादकर फिर मौसमी हवाओं रे मिस्र वापस आ जाते थे। मिस्र से यह माल ख़ुश्की और समुद्र के रास्ते भेज दिया जाता था।

लेकिन यह सारा व्यापार ज़्यादातर अमीरों के फ़ायदे के लिए ही था। थोड़े-दमियों के ऐश-आराम के पीछे बहुतों की तबाही थी। तीन सौ से ज़्यादा क रोम पश्चिम में सब शहरों का सरताज बना रहा, और बाद में जब दुनिया बसा, तो वह भी इसका साझीदार बन गया। अजीब बात यह है कि म्बे काल में भी, रोम ने विचार-जगत् में कोई ऐसी महान् बात पैदा न की यूनान ने बहुत कम समय में ही कर दिखाई थी। वास्तव में बहुत-सी बातों में सभ्यता यूनानी सभ्यता की एक हलकी छाया मालूम होती है। कहा जाता एक बात में रोमन लोगों ने बहुत बड़ी पहल की और वह है क़ानून। आज श्चिम देशों में वकीलों को रोमन क़ानून पढ़ना पड़ता है, क्योंकि यह यूरोप में के बहुत बड़े हिस्से की बुनियाद माना जाता है।

ब्रिटिश साम्राज्य की रोमन साम्राज्य से अक्सर तुलना की जाती है। तौर पर अंग्रेज़ लोग ऐसा करते हैं, और अपने मन में ख़ुश होते हैं। सारे ज्य, थोड़े या बहुत, एक ही तरह के होते हैं। ये जनता को चूसकर पनपते किन रोमनों और अंग्रेज़ों में एक बात में बहुत ज़्यादा समानता पाई जाती र वह यह कि दोनों में सूझ-बूझ की बिलकुल कमी है! बन-ठनकर और आपमें मस्त होकर, और यह पक्का विश्वास करते हुए कि सारी दुनिया ौर से इन्हींके फ़ायदे के लिए बनाई गई है, ये लोग शंकाओं और कठिनाइयों शान न होते हुए भी ज़िन्दगी गुज़ारते हैं।

: ३५ :

पार्थव और सासानी

२६

अब हमें रोमन साम्राज्य और यूरोप को छोड़कर दुनिया के को चलकर देखना चाहिए। हमें यह देखना है कि इस बीच एशिया में क्या फिर भारत और चीन की कहानी का सिलसिला जारी रखना है। भी जाने हुए इतिहास के क्षितिज पर नज़र आने लगे हैं। उनके बारे में कुछ कहना होगा। सच तो यह है कि जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, वैसे ज़्यादा जगहों के बारे में इतना ज़्यादा कहना ज़रूरी होगा कि मैं कहीं यह काम ही न छोड़ बैठूं।

मैंने अपने एक पत्र में रोमन गणराज्य की सेनाओं की पार्थव लड़ाई में करारी हार का ज़िक्र किया था। उस वक़्त मैं यह बताने के लि था कि पार्थव लोग कौन थे और उन्होंने वहाँ, जहाँ आज ईरान और हुए हैं, कैसे एक राज्य क़ायम कर लिया था। तुम्हें याद होगा कि सिकन्द उसके सेनापति सेलेउक और उसके वंशज एक साम्राज्य पर हुकूमत जो भारत से पश्चिम में एशिया-कोचक तक फैला हुआ था। क़रीब तीन इनका बोलबाला रहा, जिसके बाद मध्य-एशिया के पार्थव नाम के एक इन्हें मार भगाया। फ़ारस या पार्थव कहलानेवाले देश के इन्हीं पार्थवों ने के आखिरी दिनों में रोमनों को हराया था और गणराज्य के बाद क़ायम रोमन साम्राज्य इन पार्थवों को पूरी तरह कभी नहीं हरा सका। ये लोग वर्षों तक पार्थव पर हुकूमत करते रहे, और फिर एक अन्दरूनी क्रान्ति वहाँ से भगा दिया। ईरानी लोग खुद इन विदेशी शासकों के खिलाफ़ कर बैठे और उनकी जगह पर अपनी क़ौम और मज़हब के एक बादशाह दिया। इस बादशाह का नाम आर्दशेर प्रथम था और इसके वंश को सा कहते हैं। आर्दशेर ज़रथुस्त धर्म का कट्टर अनुयायी था और दूसरे म ज़्यादा बर्दाश्त नहीं करता था। तुम्हें याद होगा कि ज़रथुस्त मत पार मज़हब है। रोमन साम्राज्य और सासानियों में हमेशा युद्ध चलता सासानियों ने एक रोमन सम्राट् को गिरफ़्तार भी कर लिया था। कई फ़ौजें क़ुस्तुन्तुनिया के पास तक पहुँच गई थीं, और एक दफ़ा उन्होंने मि जीत लिया था। सासानी साम्राज्य पारसी धर्म के पक्ष में धार्मिक जो ख़ासतौर पर मशहूर है। जब सातवीं सदी में इस्लाम आया, तब उसने साम्राज्य और उसके राज-धर्म दोनों को खत्म कर दिया। ज़रथुस्त मत

हुत-से लोग इस परिवर्तन की वजह से और सताये जाने के डर से, अपना ड़कर भारत आ गये। भारत ने इनका स्वागत किया, क्योंकि वह आश्रय ाश में आनेवाले सब लोगों का इसी तरह स्वागत करता रहा है। भारत के इन्हीं ज़रथुस्तियों के वंशज हैं।

जुदे-जुदे धर्मों के साथ बर्ताव करने के मामले में अगर हम भारत की दूसरे तुलना करते हैं तो एक निराली और अद्भुत बात नज़र आती है। तुम कि पुराने ज़माने में बहुत-सी जगहों पर, और ख़ासकर यूरोप में, जो लोग र्म को नहीं मानते थे, उन्हें बर्दाश्त नहीं किया जाता था और सताया जाता रीब-क़रीब हर जगह ज़ोर-ज़बर्दस्ती हुआ करती थी। तुम यूरोप की भयं-नक्विज़िशन"[1] का और डायनें समझी जानेवाली स्त्रियों के जलाये जाने ल पढ़ोगी। लेकिन भारत में पुराने ज़माने में पूरी सहिष्णुता थी। हिन्दू-ीर बौद्ध-धर्म का मामूली झगड़ा पश्चिमी देशों के धार्मिक मत-मतान्तरों के गड़ों के मुक़ाबले में कुछ भी नहीं है। यह बात याद रखने लायक़ है, क्योंकि स्मती से हाल ही में हमारे यहां मज़हबी और साम्प्रदायिक दंगे हो चुके हैं, छ लोग, जिन्हें इतिहास का ठीक ज्ञान नहीं है, समझते हैं कि भारत में यह गों से चली आ रही है। यह बात बिलकुल ग़लत है। ये दंगे तो हाल के की उपज हैं। तुम्हें पता लगेगा कि इस्लाम शुरू होने के बाद सैकड़ों वर्षों सलमान लोग भारत के सभी हिस्सों में अपने पड़ौसियों के साथ बिलकुल के साथ मिल-जुलकर रहते थे। जब वे व्यापार के लिए आये तो इनका किया गया और इनको यहाँ बसने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। लेकिन मैं आगे की बात कहने लगा।

इस तरह भारत ने पारसियों का स्वागत किया, जैसे कि कई सौ वर्ष पहले से यहूदियों का भी स्वागत किया था जो सताये जाने की वजह से ईसाई सन् हली सदी में, रोम से भाग कर यहाँ आये थे।

ईरान में सासानी राज के ज़माने में शाम[2] के पामीर में एक छोटा-सा

---

[1] इनक्विज़िशन—ईसाई धर्म के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के संरक्षण में त धार्मिक अदालत। इसका काम धार्मिक अविश्वास को रोकना और धर्म न्ध में नये विचार फैलानेवालों को दण्ड देना था। पहले यह फ्रान्स में त हुई और बाद को इटली, स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी इत्यादि में भी फैल गई। ी-से-मामूली स्वतन्त्र विचारों के लिए यह लोगों को ज़िन्दा जलवा देती थी। रोमांचकारी कथा 'सस्ता-साहित्य मण्डल' द्वारा प्रकाशित 'नर-मेध' नामक में पढ़िए। उन्नीसवीं सदी में इस प्रथा का अन्त हुआ।

[2] शाम—सीरिया का पुराना नाम।

रेगिस्तानी राज्य भी फूला-फला और कुछ दिन के लिए इसकी शान शाम के रेगिस्तान के बीच में पामीर व्यापार की एक मण्डी था। इ खण्डहर, जो आज भी दिखाई देते हैं, इसकी आलीशान इमारतों की हैं। एक बार ज़ेनब नाम की एक स्त्री भी इस राज्य की रानी हुई। ले लोगों ने इसे हरा दिया और उसके साथ ऐसा सलूक किया जो वीरोचि वे उसे ज़ंजीरों में बाँधकर रोम ले गये।

ईसाई सन् के शुरू में शाम एक हरा-भरा देश था। बाइबिल के नये से हमें इसके बारे में कुछ बातें मालूम होती हैं। वुरा शासन और ज़ुल्म हो यहाँ वड़े-वड़े शहर थे और बहुत घनी आवादी थी; वड़ी-वड़ी नहरें व्यापार भी ख़ूब फैला हुआ था। लेकिन लगातार लड़ाइयों ने और बुरे छः सौ वर्षों के अन्दर ही इसे क़रीब-क़रीब वीरान कर दिया; बड़े शहर और पुरानी इमारतें खण्डहर हो गईं।

अगर तुम हवाई जहाज़ में बैठकर भारत से यूरोप जाओ तो पा बालबक के खण्डहर तुम्हें रास्ते में पड़ेंगे। तुम्हें वह जगह भी दिखाई बाबुल बसा हुआ था, और बहुत-सी दूसरी वे जगहें भी देखोगी, जो मशहूर हैं लेकिन जिनका नामोनिशान भी अब नहीं पाया जाता।

: ३६ :

दक्षिण भारत के उपनिवेश

२८ अप्रैल,

हम लोग दूर भटक गये। हमें अब फिर भारत की तरफ़ लौट चल और यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि उस समय इस मुल्क में हम क्या कर रहे थे। कुषाणों के सरहदी साम्राज्य की तुम्हें याद होगी। यह वड़ा वौद्ध साम्राज्य था, जिसमें पूरा उत्तरी भारत और मध्य एशिया का वड़ा हिस्सा भी शामिल था। इसकी राजधानी पुरुषपुर या पेशावर शायद यह भी याद होगा कि उस समय भारत के दक्षिण में एक बहुत ब और था जो समुद्र के एक तट से दूसरे तट तक फैला हुआ था। यह आन्ध्र-रा क़रीब तीन सौ साल तक कुषाण और आन्ध्र-राज्य ख़ूब फूले-फले। लेकि की तीसरी सदी के बीच में ये दोनों साम्राज्य ख़त्म हो गये और कुछ समय भारत छोटे-छोटे राज्यों में वँट गया। लेकिन सौ साल के अन्दर ही पा में एक दूसरा चन्द्रगुप्त पैदा हुआ, जिसने उग्र हिन्दू साम्राज्यवाद के वुनियाद डाली। पर इन गुप्तों की चर्चा करने के पहले यह उचित मालूम कि हम दक्षिण भारत के उन महान् साहसपूर्ण कारनामों के आरम्भ पर नज़

की बदौलत पूर्वी दुनिया के सुदूर टापुओं में भारत की कला और सभ्यता हुँची।

हिमालय और दो समुद्रों के बीच में फैले हुए भारत की शक्ल तुम अच्छी जानती हो। इसका उत्तरी हिस्सा समुद्र से बहुत दूर है। पुराने ज़माने में भारत ोगों को सबसे ज़्यादा चिन्ता अपनी उत्तरी सरहद की रही है, क्योंकि इधर र दुश्मन और हमला करनेवाले यहाँ आया करते थे। लेकिन भारत के पूर्व, म और दक्षिण में समुद्र का बहुत लम्बा किनारा है। दक्षिण की ओर भारत ा होता गया है, यहाँतक कि कन्याकुमारी पर जाकर पूर्व और पश्चिम के किनारे मिल जाते हैं। समुद्र के पास रहनेवाले ये लोग क़ुदरती तौर प से लगाव रखते थे और यह उम्मीद की जा सकती है कि उनमें से बहुत-से यात्रा के अभ्यासी रहे होंगे। मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि बहुत ही न ज़माने से दक्षिण भारत का पश्चिमी दुनिया से बड़ा भारी व्यापार होता आया था। इसलिए यह जानकर कोई ताज्जुब नहीं होना चाहिए कि त में शुरू से ही जहाज़ तैयार होते थे और यहाँ के रहनेवाले व्यापार के लिए, ायद साहसिक खोजों के लिए, समुद्र पार जाया करते थे। ख़याल किया जाता क गौतम बुद्ध के ज़माने में विजय ने भारत से लंका जाकर उसे जीत लिया। ख़याल है कि अजन्ता की गुफ़ाओं में एक तसवीर है जिसमें विजय समुद्र पार क लंका जा रहा है और घोड़े और हाथी जहाज़ों में उस पार पहुँचाये जा रहे विजय ने लंका को सिंहल-द्वीप का नाम दिया था। सिंहल शब्द सिंह से ला है और लंका में सिंह की एक पुरानी कहानी भी प्रचलित है, लेकिन मैं उसे गया हूँ। मेरा ख़याल है कि सीलोन नाम सिंहल से बिगड़कर बना है।

दक्षिण भारत से लंका जाने में समुद्र का जो छोटा-सा टुकड़ा पड़ता है, उसे करना कोई बहुत जीवट का काम नहीं था। लेकिन हमें इस बात के बहुत ी सबूत मिलते हैं कि भारत में जहाज़ बनते थे, और बहुत लोग बंगाल से ात तक के समुद्रतट पर छिटके हुए भारतीय बन्दरगाहों से समुद्र पार जाया े थे। नैनी-जेल से मैंने चन्द्रगुप्त मौर्य्य के मशहूर मन्त्री चाणक्य के अर्थशास्त्र ारे में तुम्हें लिखा था। इस अर्थशास्त्र में समुद्री सेना का कुछ वर्णन है। चन्द्र- के दरबार में यूनानी राजदूत मेगस्थेने ने भी इसका ज़िक्र किया है। इससे पता ता है कि मौर्य्य-काल के शुरू में भारत में जहाज़ बनाने का उद्योग बहुत बढ़ा- था, और ज़ाहिर है कि जहाज़ इस्तेमाल किये जाने के लिए ही बनाये जाते इसलिए बहुत लोग उनपर बैठकर समुद्रों को पार किया करते होंगे। इन बातों ोचकर और फिर यह सोचकर कि हमारे मुल्क में आज भी कुछ लोग ऐसे हैं मुद्र-यात्रा से डरते हैं और उसे धर्म के विरुद्ध समझते हैं, तो आश्चर्य होता है।

ऐसे लोगों को हम प्राचीन के प्रतीक भी नहीं कह सकते, क्योंकि तुम दे पुराने ज़माने के लोग कहीं ज्यादा समझदार थे। खुशक़िस्मती से अजीब भावनाएँ बहुत-कुछ दूर हो गई हैं और इने-गिने लोगों पर ही अ असर है।

दक्षिण भारत क़ुदरती तौर पर उत्तर भारत की बनिस्वत समुद्र पर निर्भर था। विदेशी व्यापार ज्यादातर दक्षिण के साथ ही होता था और तमि की कविताओं में यवन देश के सुरा, कलशों और दीपकों के प्रसंग भरे पड़े हैं शब्द ख़ासतौर पर यूनान के रहनेवालों के लिए इस्तेमाल होता था, लेकि तौर पर शायद यह सब विदेशियों पर लागू था। दूसरी और तीसरी स आन्ध्र देश के सिक्कों पर दो मस्तूलवाले बड़े जहाज़ की शक्ल है। इससे चलता है कि पुराने ज़माने के आन्ध्र लोग जहाज़ बनाने और समुद्री व्या कितनी दिलचस्पी रखते थे।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत ही ने उन साहसि नामों में सबसे आगे क़दम बढ़ाया, जिनके फलस्वरूप पूर्व के तमाम टापुओं तीय नई बस्तियाँ या उपनिवेश क़ायम हुए। इन उपनिवेशी यात्राओं की ईसवी सन् की पहली सदी में हुई और कई सौ वर्षों तक उनका सिलसिल रहा। मलय, जावा, सुमात्रा, कम्बोदिया, बोर्नियो, वग़ैरा सब जगह दक्षिण जाकर बस गये और अपने साथ भारतीय-कला और संस्कृति ले गये। बरमा और हिन्द-चीन में भी भारतीयों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ थीं। इन नई बस्ति नगरों के बहुत से नाम भी भारत से लिये गए थे, जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर शिला और गान्धार। अजीब बात है कि इतिहास अपनेको किस तरह दो है! अमेरिका में जाकर बसनेवाले एँग्लो-सैक्सन लोगों ने भी ऐसा ही कि और संयुक्त राज्य अमेरिका में आज भी इंग्लैण्ड के पुराने शहरों के ना शहर हैं।

इसमें शक नहीं कि ये भारतीय उपनिवेशी जहाँ-जहाँ गये, वहाँ निवासियों के साथ इन्होंने बुरा बर्ताव किया, जैसा कि सभी उपनिवेशी कि हैं। उन्होंने इन टापुओं के निवासियों को ज़रूर चूसा होगा और उनपर जमाया होगा। लेकिन कुछ दिनों बाद उपनिवेशी और पुराने निवासी आपस जुल गये होंगे, क्योंकि भारत के साथ बराबर सम्पर्क रखना मुश्किल के इन टापुओं में हिन्दू राज्य और साम्राज्य क़ायम हुए। बाद में वहाँ बौ पहुँचे और हिन्दुओं और बौद्धों में प्रभुता के लिए रस्साकशी हुई। विशाल या भारत के इतिहास की यह एक लम्बी और आकर्षक कहानी है। बड़े-बड़े हमें अभी तक उन आलीशान इमारतों और मन्दिरों की याद दिलाते हैं, जो

उपनिवेशों के भूषण थे। काम्बोज, श्रीविजय, अंकोर और मज्जापहित बड़े-बड़े नगर भारतीय शिल्पियों और कारीगरों ने वहाँ बनाये।

ये हिन्दू और बौद्ध राज्य इन टापुओं में क़रीब चौदह सौ वर्षों तक क़ायम रहे प्रभुता के लिए आपस में लड़ते रहे। कभी एक का अधिकार हो जाता तो दूसरे का, और कभी-कभी वे एक दूसरे को नष्ट भी कर देते थे। पन्द्रहवीं में मुसलमानों ने इन टापुओं पर क़ब्ज़ा जमा लिया और उनके थोड़े दिन बाद तुंगालवासी, स्पेनवासी, हालैण्डवासी और अंग्रेज़ आये। सबके आख़िर में रिकावासी पहुँचे। चीनवासी तो इन टापुओं के हमेशा से ही नज़दीकी पड़ौसी थे कभी-कभी इनके मामलों में दख़ल देकर इन्हें जीत लेते; अक्सर उनके साथ ों की तरह रहते और भेंटों की अदला-बदली करते; साथ ही अपनी महान् ति और सभ्यता का असर भी उनपर बराबर डालते रहते।

पूर्व के इन हिन्दू उपनिवेशों में हमारी दिलचस्पी की कितनी ही बातें हैं। ज़्यादा मार्के की बात यह है कि ज़ाहिरा तौर पर इन उपनिवेशों को बसाने संगठित कोशिश उस ज़माने की दक्षिण भारत की एक प्रमुख सरकार ने की थी। में बहुत-से खोज करनेवाले अलग-अलग वहाँ गये होंगे; फिर जब व्यापार होगा, तब कुटुम्ब-के-कुटुम्ब और लोगों के जत्थे अपने-अपने कामों से वहाँ गये । कहा जाता है कि शुरू-शुरू में जो लोग जाकर बसे वे कलिंग (उड़ीसा) पूर्वी समुद्र-तट से गये थे। शायद कुछ लोग बंगाल से भी गये होंगे। एक कहावत चली आती है कि कुछ गुजराती अपने घर-बार से निकाले जाने पर इन ओं में जाकर बस गये। मगर यह सब अन्दाज़ा है। उपनिवेशियों की मुख्य धारा भूमि के दक्षिणी हिस्से पल्लव-प्रदेश से, जहाँ एक बड़े पल्लव वंश का शासन इन टापुओं में पहुँची। मालूम होता है, इसी पल्लव सरकार ने मलय में उपनिवेश ने की संगठित कोशिश की। शायद उत्तर भारत से लोगों के दक्षिण में घुस से यहां की आबादी पर दबाव पड़ा होगा। वजह कुछ भी हुई हो, भारत से दूर अलग-अलग बिखरे हुए टापुओं में बस्तियां बसाने की योजना समझ-कर बनाई गई थी, और इन सब जगहों में एक साथ उपनिवेश बसने शुरू थे। ये उपनिवेश हिन्द-चीन, मलय प्रायद्वीप, बोर्नियो, सुमात्रा, जावा, वग़ैरा । ये सब भारतीय नामवाले पल्लव उपनिवेश थे। हिन्द-चीनवाली बस्ती का काम्बोज (जो आजकल कम्बोदिया कहलाता है) था। यह नाम काबुल-में गान्धार के काम्बोज से चलकर, इतनी दूर पहुँचा था।

चार या पाँच सौ साल तक ये बस्तियां हिन्दू-धर्म को मानती रहीं, पर बाद रे-धीरे सब जगह बौद्ध-धर्म फैल गया। बहुत दिन बाद इस्लाम पहुँचा और के एक हिस्से में फैल गया; बाक़ी हिस्सा बौद्ध ही बना रहा।

मलय में साम्राज्य और राज्य बनते-बिगड़ते रहे। लेकिन द के उपनिवेश बसाने के इन हौसलों का असली नतीजा यह हुआ कि दु इस हिस्से में भारतीय आर्य-सभ्यता की नींव पड़ गई और कुछ हद त के निवासी आज भी हम लोगों की तरह इसी सभ्यता में पले हुए हैं। उ असर भी पड़े, जिनमें से चीन का असर उल्लेखनीय है। मलेशिया[1] के देशों पर भारत और चीन के दो शक्तिशाली प्रभावों की मिलावट पर ग़ौ बड़ा दिलचस्प है। कुछ पर तो भारतीय सभ्यता का ज़्यादा असर है औ चीनी असर ज़्यादा दिखाई देता है। मुख्य भूमि पर, जिसमें बरमा, स्या चीन वग़ैरा हैं, चीनी असर बहुत ज़्यादा है, लेकिन मलय में नहीं है। सुमात्रा और दूसरे टापुओं में भारतीय असर ज़्यादा दिखाई देता है, इस्लाम की नई क़लई चढ़ी हुई है।

लेकिन चीनी और भारतीय प्रभावों में कोई टक्कर नहीं थी। मेें बहुत फ़र्क़ था, फिर भी दोनों ही बिना किसी दिक्क़त के बराबर-बरा काम करते रहे। हाँ, धर्म के मामले में तो भारत हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म ही स्रोत था। धर्म के लिए चीन भी भारत का क़र्ज़दार था। मलेशिया भी भारत का असर सबसे ज़्यादा था। हिन्द-चीन में भी, जहाँ चीनी अस था, इमारतें बनाने की कला बिलकुल भारतीय ही थी। चीन ने बरमा देशों की शासन-प्रणाली पर और लोगों के साधारण जीवन-दर्शन पर ज़्या डाला। इसीलिए इण्डो-चीन, बरमा, और स्याम के निवासी आज भा बनिस्बत चीनियों के ज़्यादा नज़दीकी रिश्तेदार मालूम देते हैं। इसमें कि नस्ल के लिहाज़ से इनमें मंगोली ख़ून ज़्यादा है और इसी वजह हद तक, वे चीनियों से अधिक मिलते हैं।

जावा के बोरोबुदुर में भारतीय कारीगरों के बनाये हुए बड़े-ब मन्दिरों के खण्डहर अब भी पाये जाते हैं। इन मन्दिरों की दीवारों पर जीवन की पूरी कहानी खुदी हुई है और ये सिर्फ़ बुद्ध की ही नहीं, ज़माने की भारतीय कला की अनोखी यादगारें हैं।

भारतीय प्रभाव इससे भी और आगे फैला। वह फ़िलीपाइन और तक जा पहुँचा। ये दोनों कुछ समय तक श्रीविजय के हिन्दू-राज्य सुमात्रा के बहुत समय बाद फ़िलीपाइन पर स्पेन-वासियों की हुकूमत रही, और अमेरिका के क़ब्ज़े में हैं।[2] फ़िलीपाइन की राजधानी मनीला है। कुछ

---

[1] मलेशिया—एशिया के दक्षिण-पूर्व भाग से आस्ट्रेलिया तक फै द्वीप-समूह जिसे ईस्ट इण्डीज या मलय-द्वीप-समूह कहते हैं।

[2] १९४६ ई० में अमेरिका ने फ़िलीपाइन द्वीपों को आज़ाद कर

हाँ विधान मण्डल की एक नई इमारत बनी थी। इसके मुखड़े पर चार शक्लें दी हैं, जो फ़िलीपाइन की संस्कृति के चार स्रोतों को दरसाती हैं। दो तियाँ प्राचीन भारत के महान् नीतिकार मनु और चीन के फ़िलॉसफ़र ओ-त्से की हैं, और दो मूर्त्तियाँ ऐंग्लो-सैक्सन क़ानून व न्याय को और स्पेन का कित करती हैं।

: ३७ :

गुप्त सम्राटों का हिन्दू साम्राज्यवाद

२९ अप्रैल, १९३२

इधर जब दक्षिण भारत के लोग विशाल समुद्रों को पार करके दूर-दूर हों पर बस्तियाँ और शहर बसा रहे थे, तब उधर उत्तर भारत में अजीब हल-हो रही थी। कुषाण साम्राज्य अपनी शक्ति और महानता खो चुका था और -दिन छोटा होते-होते मिटता जा रहा था। सारे उत्तर में छोटे-छोटे राज्य बन थे, जिनमें अक़्सर शक या तुर्की वंश के लोग राज करते थे। ये लोग भारत उत्तर-पश्चिमी सरहद पार करके यहाँ आये थे। मैंने तुम्हें बताया है कि ये लोग थे और भारत में शत्रु के रूप में हमला करने नहीं बल्कि बसने आये थे। मध्य-या के दूसरे क़बीले, जिन्हें चीनी राज्य आगे धकेल रहा था, पीछे से इनको स्ती खदेड़ रहे थे। भारत आकर इन लोगों ने भारतीय आर्यों के आचार-र और रंग-ढंग को बहुत-कुछ अपना लिया। ये लोग भारत को अपनी सभ्यता, ति और धर्म की जननी मानते थे। कुषाणों ने भी बहुत हद तक भारतीय--परम्परा का अनुसरण किया था। यही वजह थी कि वे बहुत दिनों तक भारत हर सके और उसके बड़े-बड़े हिस्सों पर शासन कर सके। वे भारतीय-आर्यों रह व्यवहार करने की कोशिश करते थे और चाहते थे कि इस देश के निवासी ल जायें कि वे विदेशी हैं। कुछ हद तक उनको इसमें कामयाबी भी हुई, लेकिन र पर नहीं; क्योंकि क्षत्रियों के दिल में यह बात ख़ासतौर पर खटकती थी विदेशी लोग उनके ऊपर हुकूमत कर रहे हैं। वे इस विदेशी राज्य की मातहती लमिलाते थे, जिससे असन्तोष बढ़ता गया और लोगों के मन में क्षोभ पैदा गा। अन्त में इन असन्तुष्ट लोगों को एक सुयोग्य नेता मिल गया और उसके के नीचे इन्होंने आर्यावर्त को आज़ाद करने के लिए एक 'धर्मयुद्ध' शुरू कर ।

इस नेता का नाम चन्द्रगुप्त था। इस चन्द्रगुप्त को वह पहला चन्द्रगुप्त झना, जो अशोक का दादा था। इस व्यक्ति का मौर्य्य वंश से कोई ताल्लुक़ था। यह पाटलिपुत्र का एक छोटा राजा था, लेकिन उस समय तक अशोक के

वंश का नाम मिट चुका था। याद रक्खो कि इस समय हम ईसा के बा सदी की शुरुआत में, यानी ३०८ ई० में, पहुँच गये हैं। यह अशोक के के ५३४ वर्ष बाद की बात है।

चन्द्रगुप्त एक महत्वाकांक्षी और सुयोग्य व्यक्ति था। वह उत्तर के आर्य राजाओं को अपनी तरफ़ मिलाने में और उन सबका एक संघ क़ायम में लग गया। उसने मशहूर और शक्तिशाली लिच्छवी वंश की कुमारदेवी से किया, और इस प्रकार इस जाति की सहायता हासिल कर ली। इस तरह हो के साथ ज़मीन तैयार कर लेने के बाद चन्द्रगुप्त ने भारत के सारे विदेशी के खिलाफ़ 'धर्मयुद्ध' की घोषणा कर दी। क्षत्रिय और आर्य-जाति के ऊँचे लोग, जिनके अधिकार और पद विदेशियों ने छीन लिये थे, इस लड़ाई के सम बारह वर्ष की लड़ाई के बाद चन्द्रगुप्त उत्तर भारत के कुछ हिस्से पर क़ब्ज़ा कामयाब हुआ, जिसमें वह हिस्सा भी शामिल था, जो आजकल उत्तरप्रदेश क है। इसके बाद वह राजराजेश्वर की पदवी धारण करके सिंहासन पर बैठा

इस तरह गुप्त-राजवंश की शुरुआत हुई। यह वंश क़रीब वर्षों तक चलता रहा, जबकि हूणों ने आकर इसे परेशान करना शुरू कि हद तक यह ज़माना ज़बर्दस्त हिन्दुत्व और राष्ट्रवाद का था। तुर्की, पार्थव अनार्य विदेशी शासक जड़ से उखाड़ फेंके गये और ज़बर्दस्ती निकाल बा गए। इस प्रकार यहाँ हम जातीय विद्वेष को काम करता हुआ देखते हैं। के भारतीय-आर्य लोग अपनी क़ौम पर अभिमान करते थे और इन बर्ब म्लेच्छों को नफ़रत की निगाह से देखते थे। गुप्तों ने जिन भारतीय आर्य और राजाओं को जीता, उनके साथ नरमी का बर्ताव किया; लेकिन के साथ कोई रिआयत नहीं की गई।

चन्द्रगुप्त का पुत्र समुद्रगुप्त अपने पिता से भी ज्यादा ज़बर्दस्त था। वह बहुत बड़ा सेनापति था, और जब वह सम्राट् हुआ तो उसने सारे यहाँतक कि दक्षिण में भी, सबको जीतकर अपनी विजय-पताका फहराई गुप्त साम्राज्य को इतना बढ़ाया कि वह भारत के बहुत बड़े हिस्से में फै लेकिन दक्षिण में इसकी हुकूमत नाम-मात्र की थी। उत्तर में उसने हू हटाकर सिन्ध नदी के उस पार खदेड़ दिया था।

समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय भी एक योद्धा राजा था। उसने वाड़ और गुजरात को जीत लिया, जो बहुत दिनों से एक शक या तुर्की के शासन में चले आ रहे थे। इसने अपना नाम विक्रमादित्य रक्खा नाम से वह मशहूर है। लेकिन यह नाम भी, सीज़र की तरह, बहुत-से की उपाधि बन गया, इसलिए बहुत भ्रम पैदा करता है।

दिल्ली में क़ुतुबमीनार के पास एक बहुत भारी लोहे की लाट तुमने देखी । क्या उसकी तुम्हें याद है ? कहते हैं कि विक्रमादित्य ने यह लाट विजय-स्तम्भ रूप में बनवाई थी। यह लाट कारीगरी का एक बढ़िया नमूना है। इसकी चोटी र कमल का फूल है, जो गुप्त साम्राज्य का चिह्न था।

गुप्त-काल भारत में हिन्दू साम्राज्यवाद का ज़माना था। इस काल में ानी आर्य-संस्कृति और संस्कृत विद्या का ख़ूब पुनरुत्थान हुआ। यूनानी और मंगो-यन संस्कारों को, जो भारतीय जीवन और संस्कृति में यूनानियों, कुषाणों, ैरा के ज़रिये आ गये थे, प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। बल्कि, असलियत यह है कि भारतीय आर्य परम्पराओं पर ज़ोर देकर इन्हें हर तरह नीचे गिराया ता था। संस्कृत राज-भाषा थी; लेकिन उन दिनों भी वह जनता की आम भाषा हीं थी। बोलने की भाषा प्राकृत का एक रूप थी, जो संस्कृत से बहुत-कुछ मिलती-लती थी। मगर हालाँकि संस्कृत उस ज़माने की लोकभाषा नहीं थी, फिर भी ाफ़ी प्रचलित थी। इस काल में संस्कृत कविता, नाटक और भारतीय आर्य लाएँ ख़ूब खिलीं। जिस महान् युग में वेद और महाकाव्य लिखे गये, उसके द, संस्कृत साहित्य के इतिहास में, शायद इसी ज़माने में सबसे ज़्यादा और सबसे न्दर साहित्य लिखा गया। संस्कृत का अद्‌भुत कवि कालिदास इसी ज़माने हुआ। कहते हैं, विक्रमादित्य का दरबार बड़ी चमक-दमकवाला था, जिसमें सने उस समय के सबसे श्रेष्ठ लेखकों और कलाकारों को जमा किया था। या तुमने उसके दरबार के नवरत्नों के बारे में नहीं सुना है? कालिदास उन वरत्नों में से एक था।

समुद्रगुप्त अपने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से अयोध्या ले गया। ायद उसका यह ख़याल था कि उसके कट्टर भारतीय आर्य दृष्टिकोण के लिए योध्या, जिसे महाकवि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में रामचन्द्र की कथा के ाथ अमर बना दिया है, ज़्यादा उपयुक्त जगह बन सकती है।

गुप्त सम्राटों ने आर्य-सभ्यता और हिन्दू-धर्म का जो पुनरुत्थान किया उसका व क़ुदरती तौर पर बौद्ध-धर्म के लिए बहुत अच्छा नहीं था। इसकी कुछ वजह ा यह थी कि यह आन्दोलन अमीर वर्ग का था और उसकी पीठ पर क्षत्रिय सरदार , और बौद्ध-धर्म में लोकतन्त्र की भावना ज़्यादा थी। कुछ वजह यह थी कि ौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय का कुषाणों और उत्तर भारत के दूसरे विदेशी ाजाओं से गहरा सम्बन्ध था। लेकिन फिर भी बौद्ध-धर्म पर कोई ज़ुल्म किया या हो ऐसा नहीं मालूम होता। बौद्ध विहार क़ायम थे और तब भी बड़ी-बड़ी क्षा-संस्थाएँ थीं। गुप्त सम्राटों का लंका के राजाओं के साथ मित्रता का सम्बन्ध ा और लंका में बौद्ध-धर्म ख़ूब फैला हुआ था। लंका के राजा मेघवर्ण ने समुद्र-

गुप्त के पास क़ीमती उपहार भेजे थे और उसने सिंहली विद्यार्थियों के लिए एक विहार भी बनवाया था।

लेकिन भारत में बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे गिरने लगा। जैसा कि मैं तुम् बता चुका हूं, यह हालत इसलिए नहीं पैदा हुई कि ब्राह्मणों ने या उस सरकार ने उसके ऊपर कोई बाहरी दबाव डाला, बल्कि इसलिए कि हि में उसे धीरे-धीरे हज़म कर लेने की ताक़त थी।

इसी ज़माने में चीन का एक मशहूर यात्री भारत में आया। यह ह्यू नहीं था, जिसके बारे में मैं तुम्हें लिख चुका हूं, बल्कि फ़ा-ह्यान था। बौद्ध नाते यह बौद्ध-धर्म के पवित्र ग्रन्थों की तलाश में यहाँ आया था। उसने लि कि मगध के लोग खुशहाल और सुखी थे; न्याय का पालन उदारता से जाता था और मौत की सज़ा नहीं थी। गया वीरान और उजड़ा हुआ कपिलवस्तु जंगल हो चुका था; लेकिन पाटलिपुत्र के लोग "धनवान, हाल और सदाचारी" थे। सम्पन्न और शानदार बौद्ध विहार बहुत थे। सड़कों पर धर्मशालाएँ थीं, जहाँ मुसाफ़िर ठहर सकते थे और जहाँ सरकार से खाना दिया जाता था। बड़े-बड़े नगरों में खैराती अस्पताल थे।

भारत में घूमने के बाद फ़ा-ह्यान लंका गया और वहाँ उसने दो वर्ष लि लेकिन उसके एक साथी ताओ-चिंग को भारत इतना पसन्द आया और भिक्खुओं की धर्म-परायणता का उसपर इतना असर पड़ा कि उसने यहीं का निश्चय कर लिया। फ़ा-ह्यान समुद्री रास्ते लंका से चीन चला गया और रा में बहुत-से खतरे उठाकर वर्षों बाद अपने घर पहुँचा।

चन्द्रगुप्त द्वितीय या विक्रमादित्य ने तेईस वर्ष राज किया। उसके उसके पुत्र कुमारगुप्त ने चालीस वर्ष तक राज किया। फिर ४५३ ई० में स्क गुप्त गद्दी पर बैठा। इसे एक नये खतरे का सामना करना पड़ा, जिसने महान् गुप्त साम्राज्य की कमर ही तोड़ दी। लेकिन इसके बारे में मैं अगले पत्र में लिखूंगा।

अजन्ता की गुफ़ाओं की दीवारों पर बने हुए कई सबसे बढ़िया चित्र उनके बड़े-बड़े कमरे व उपासना-गृह गुप्त-काल की कला के नमूने हैं। जब उन्हें देखोगी तो तुम्हें पता चलेगा कि ये कितने अद्भुत हैं। बदक़िस्मती से चित्र धीरे-धीरे मिटते जा रहे हैं, क्योंकि मौसमों के असर से वे बहुत वर्षों तक टिक सकते।

अब हमें यह देखना है कि जिस समय भारत में गुप्त सम्राटों का रा उस वक़्त दुनिया के दूसरे हिस्सों में क्या हो रहा था। चन्द्रगुप्त प्रथम कुस्तुन् को बसानेवाले रोमन सम्राट् कॉन्स्तेन्तीन महान् का समकालीन था। बाद के

टों के समय में रोमन साम्राज्य पूर्वी और पश्चिमी दो हिस्सों में बँट चुका था पश्चिमी साम्राज्य को अन्त में उत्तर के 'बर्बरों' ने उखाड़ फेंका था। यानी वक़्त रोमन साम्राज्य कमज़ोर पड़ रहा था, तभी भारत में एक बहुत शक्ति- राज्य था, जिसमें बड़े-बड़े सेनापति और ज़बर्दस्त सेनाएँ थीं। समुद्रगुप्त कुछ लोग भारत का 'नेपोलियन' कहते हैं। लेकिन महत्वाकांक्षी होते हुए भी भारत की सीमाओं के बाहर के देशों को जीतने का विचार नहीं किया था।

गुप्त-काल हमला करनेवाले साम्राज्यवाद और देश-विजयों का ज़माना था। न हरेक मुल्क के इतिहास में इस तरह के साम्राज्यी काल बहुत बार आते हैं, अन्त में जाकर इनका कुछ महत्व नहीं रहता। फिर भी गुप्त-काल की विशे- जिसकी वजह से वह भारत में कुछ गौरव के साथ याद किया जाता है, इस में है कि उसमें कला और साहित्य का चमत्कारी पुनर्जागरण हुआ।

: ३८ :

हूणों का भारत में आना

४ मई, १९३२

उत्तर-पश्चिम के पहाड़ों के उस पार से भारत पर आनेवाला नया आतंक का था। मैंने अपने पिछले पत्र में रोमन साम्राज्य का ज़िक्र करते हुए हूणों रे में लिखा था। यूरोप में उनका सबसे बड़ा नेता अतिला था, जो बहुत वर्षों रोम और क़ुस्तुन्तुनिया को आतंकित करता रहा। इन्हीं क़बीलों के सजातीय जो सफ़ेद हूण के नाम से मशहूर थे, क़रीब-क़रीब उसी समय भारत में आये ये लोग भी मध्य-एशिया के घुमक्कड़ थे। बहुत दिनों से वे भारत की सरहदों मँडरा रहे थे और वहाँ के लोगों को बुरी तरह परेशान कर रहे थे। जैसे-उनकी संख्या बढ़ती गई, और शायद इसलिए भी कि पीछे से दूसरे क़बीले खदेड़ रहे थे, उन्होंने बाक़ायदा धावा शुरू कर दिया।

स्कन्दगुप्त को, जो गुप्त-वंश का पाँचवाँ राजा था, हूणों के इस धावे का ना करना पड़ा। उसने उन्हें हराकर पीछे धकेल दिया। लेकिन बारह वर्ष वे फिर आ धमके। धीरे-धीरे वे गान्धार और उत्तर भारत में फैल गये। उन्होंने पर बड़े अत्याचार किये और हर तरह का आतंक फैलाया।

उनके खिलाफ़ लगातार लड़ाइयाँ होती रही होंगी, लेकिन गुप्त-राजा उन्हें निकाल न सके। हूणों के दल-के-दल भारत में आते रहे और वे मध्य भारत फैल गये। उनका मुखिया तोरमाण राजा बन बैठा। यह तो काफ़ी बुरा था ही, न उसका उत्तराधिकारी, उसका पुत्र मिहिरगुल, तो बिलकुल ही जंगली

और शैतान की तरह बेरहम था। कल्हण ने अपने कश्मीर के इतिहास 'रा में लिखा है कि मिहिरगुल का एक दिल-बहलाव यह था कि वह ऊँ हाथियों को खड्ड में ढकेलवाया करता था। अन्त में उसके अत्याचारों भड़क उठा। गुप्त-वंश के बालादित्य और मध्य भारत के राजा यशोधर्मन में आर्यों ने हूणों को हरा दिया और मिहिरगुल को गिरफ़्तार कर लि बालादित्य हूणों की तरह निर्दयी नहीं था, बल्कि वीर था। उसने दया क गुल की जान बख़्श दी और उसे देश से निकल जाने का आदेश दिया। जाकर कश्मीर में छिपा रहा और कुछ दिन बाद उसने दग़ाबाज़ी क दित्य पर, जिसने उसके साथ इतनी उदारता दिखाई थी, हमला कर

लेकिन भारत में हूणों की शक्ति बहुत जल्द कमज़ोर हो गई। फि की बहुत-सी सन्तति भारत में रह गई और धीरे-धीरे आर्यों की आबा मिल गई। यह मुमकिन है कि मध्य भारत और राजस्थान की कुछ राजपू में इन सफ़ेद हूणों के ख़ून का कुछ अंश हो।

हूणों ने उत्तर भारत में बहुत थोड़े समय, यानी पचास साल से राज किया। इसके बाद वे शान्ति के साथ बस गये। लेकिन हूण-युद्धों भयंकरता का भारत के आर्यों पर बहुत असर पड़ा। हूणों की ज़िन्दगी के तरीक़े आर्यों से बिलकुल जुदे थे। आर्य-जाति उस समय तक भी स्वतन्त्रता-प्रेमी थी। उनके राजाओं तक को लोकमत के सामने झुकना और उनकी ग्राम-पंचायतों के हाथों में बड़ी शक्ति थी। लेकिन हूणों के और यहाँ बसकर भारतीयों के साथ घुल-मिल जाने से, आर्य-आदर्शों में आ गया और वे नीचे गिर गये।

महान् गुप्तवंश के अन्तिम सम्राट् बालादित्य की ५३० ई० में यह एक दिलचस्प बात है कि शुद्ध हिन्दू-वंश का यह सम्राट् ख़ुद बौद्ध-धर्म आकर्षित हुआ और उसने एक बौद्ध भिक्खु को अपना गुरु बनाया। कृष्ण-भक्ति के फिर से प्रचलित होने के लिए ख़ासतौर पर मशहूर है इतने पर भी बौद्ध-धर्म के साथ हिन्दुओं का कोई ख़ास झगड़ा नहीं था।

हम फिर देखते हैं कि गुप्त-राज्य के २०० वर्षों बाद उत्तर भार राज्य बन गये, जो किसी एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन न थे। हाँ, दक्षिण एक बहुत बड़े राज्य का विकास होने लगा। पुलिकेशी नामक एक राज रामचन्द्र का वंशज होने का दावा करता था, दक्षिण में एक साम्राज्य का जो चालुक्य साम्राज्य के नाम से मशहूर है। दक्षिण के इन लोगों का पूर्वी के भारतीय उपनिवेशों के साथ ज़रूर ही गहरा सम्बन्ध रहा होगा और और इन टापुओं के बीच बराबर आवागमन होता रहा होगा। हमें यह

है कि भारतीय जहाज़ अक्सर माल भरकर ईरान ले जाया करते थे। क्य राज्य ईरान के सासानी राज्य को राजदूत भेजा करते थे और वहाँ के राज- यहाँ आते थे। राजदूतों का इस तरह आना-जाना ईरान के मशहूर बादशाह द्वितीय के ज़माने में ख़ासतौर पर हुआ।

: ३९ :

विदेशी मण्डियों पर भारत का क़ब्ज़ा

५ मई, १९३२

हम देखते हैं कि इतिहास के जिस पुराने काल की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें हज़ार से भी ज़्यादा वर्षों तक, पश्चिम में यूरोप और पश्चिमी एशिया तक, पूर्व में ठेठ चीन तक, भारत का व्यापार बराबर ज़ोरों के साथ चलता रहा। क्या कारण थे? सिर्फ़ यह नहीं कि उस ज़माने के भारतीय बड़े अच्छे जहाज़ी व्यापारी थे, जिसमें कि कोई शक नहीं; न यह कि वे बड़े कुशल कारीगर ौर उनकी कारीगरी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इन सब कारणों ने मदद ज़रूर दी, न मालूम होता है कि भारत ने दूर-दूर की मण्डियों पर जो क़ब्ज़ा जमाया था, की ख़ास वजह यह थी कि उसने रसायन में, ख़ासकर रंगसाज़ी में, बड़ी तरक़्क़ी ली थी। मालूम होता है, उस ज़माने के भारतवासियों ने कपड़ा रँगने के पक्के तैयार करने के विशेष तरीक़े खोज निकाले थे। वे नील के पौधे से नीला रंग ने का विशेष तरीक़ा भी जानते थे। तुम देखोगी कि नील का 'इण्डिगो' नाम ही ड्या' से निकला है। यह भी मुमकिन है कि फ़ौलाद पर अच्छा पानी चढ़ाने फ़ौलाद के बढ़िया औज़ार बनाने का तरीक़ा भी पुराने भारतवासियों को मालूम तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें बताया था कि सिकन्दर के हमलों की पुरानी नी कहानियों में जहाँ-कहीं अच्छी तलवार या कटार का ज़िक्र आया है, यह भी कहा गया है कि वह भारत से आई थी।

चूँकि भारत दूसरे देशों के मुक़ाबले में इन रंगों और दूसरी चीज़ों को ज़्यादा छी तरह बना सकता था, इसलिए यह क़ुदरती बात थी कि वह दुनिया की मण्डियों क़ब्ज़ा कर ले। जिस आदमी या मुल्क़ को दूसरे आदमी या मुल्क़ की बनिस्बत ढ़िया औज़ार या किसी चीज़ को बनाने का अच्छा और सस्ता तरीक़ा मालूम है, आख़िर में दूसरे आदमी या मुल्क़ का धन्धा छीन लेगा, जिसके पास न उतने छे औज़ार हैं, और न उतना अच्छा तरीक़ा। और यही वजह है कि पिछले दो वर्षों में यूरोप एशिया के मुक़ाबले में इतना आगे बढ़ गया है। नई खोजों और विष्कारों ने यूरोप को नये-नये और बलशाली औज़ार दिये और चीज़ों के बनाने नये-नये तरीक़े बतलाये। इनकी मदद से उसने दुनिया की मण्डियों पर क़ब्ज़ा

कर लिया और मालदार व बलशाली हो गया। और भी दूसरे कारण उसे मदद पहुँचाई। लेकिन फ़िलहाल तो मैं इतना ही चाहता हूँ कि तुम करो कि औज़ार कितने महत्व की चीज़ है। एक बार एक बड़े आदमी कि मनुष्य औज़ार बनानेवाला प्राणी है। और शुरू के ज़माने से आज तक जाति का इतिहास ज्यादा-से-ज्यादा कारगर औज़ार बनाने का इतिहास है युग के प्राचीन पत्थर के तीरों और हथौड़ों से लेकर आज की रेलें, और भारी मशीनें यही बतलाती हैं। सच तो यह है कि हमारे लगभग में औज़ारों की ज़रूरत पड़ती है। औज़ारों के बिना हमारी हालत क्या है

औज़ार एक अच्छी चीज़ है। इससे काम हलका हो जाता है। लेकिन का बुरा इस्तेमाल भी किया जा सकता है। आरी एक काम की चीज़ है, एक बच्चा उससे अपने को चोट पहुँचा सकता है। हमारे उपयोग की चाक़ू एक सबसे ज्यादा काम की चीज़ है। हर स्काउट को चाक़ू रखना लेकिन एक नादान आदमी इसी चाक़ू से दूसरे की जान ले सकता है। इस चाक़ू का कोई दोष नहीं है। क़सूर तो उस आदमी का है, जो इस औज़ार योग करता है।

इसी तरह, खुद अच्छी होते हुए भी, आधुनिकतम मशीनों का से दुरुपयोग किया गया है, और आज भी किया जा रहा है। लोगों के काम को हलका करने के बजाय मशीनों ने बहुत करके उनकी ज़िन्दगी पहले से बुरी बना दी है। करोड़ों आदमियों को सुख और आराम पहुँचाने के बजाय उसे असल में करना चाहिए, उसने बहुतों को मुसीबत में डाल दिया है सरकारों के हाथ में इतनी ज्यादा ताक़त दे दी है कि वे अपने युद्धों में हत्या कर सकती है।

लेकिन इसमें मशीन का क़सूर नहीं, बल्कि उसके दुरुपयोग का है बड़ी-बड़ी मशीनों का नियन्त्रण ऐसे ग़ैर-ज़िम्मेदार लोगों के हाथों में उससे सिर्फ़ अपने लिए रुपया पैदा करना चाहते हैं, बल्कि उनका नियन्त्रण की ओर से और उसकी भलाई के लिए किया जाय, तो बहुत फ़र्क़ पड़

इसलिए उन दिनों, आजकल की दशा के विपरीत, भारत माल करने के तरीक़ों में सारी दुनिया से आगे था। इसीलिए भारतीय कपड़े, रंग और दूसरी चीज़ें दूर-दूर के मुल्क़ों में जाती थीं और वहाँ उनकी के साथ माँग थी। इस व्यापार से भारत में बाहर का धन आता था। इस अलावा दक्षिण भारत काली मिर्च और दूसरे मसाले बाहर भेजता था। पूर्व के टापुओं से भी आते थे और भारत के रास्ते पश्चिम के देशों को रोम और पश्चिम के देशों में काली मिर्च की बड़ी क़ीमत थी। कहा जाता

ा एक सरदार एलैरिक, जिसने ४१० ई० में रोम पर अधिकार किया था, ौण्ड काली मिर्च वहाँ से ले गया था। यह सब काली मिर्च या तो भारत से त के रास्ते गई होगी।

: ४० :

देशों और सभ्यताओं के चढ़ाव-उतार

६ मई, १९३२

ीन का ज़िक्र किये हुए अब हमें बहुत दिन हो गये। आओ, अब फिर उधर ें, और चीन का हाल फिर शुरू करें और यह देखें कि जिस समय पश्चिम का पतन हो रहा था और भारत में, गुप्त सम्राटों के शासन में, राष्ट्रीय न हो रहा था, उस वक़्त चीन में क्या घटनाएँ घट रही थीं। रोम के या पतन का असर चीन पर बहुत कम पड़ा। वे एक-दूसरे से बहुत ही दूर कन मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि चीनी राज्य द्वारा मध्य एशिया के को पीछे ढकेलने का नतीजा कभी-कभी यूरोप और भारत के लिए बहुत ता था। ये क़बीले और इनके खदेड़े हुए दूसरे क़बीले पश्चिम और दक्षिण र बढ़ते जाते थे, सल्तनतों और राज्यों को उलट-पलट देते थे और वहाँ फला देते थे। इनमें से बहुत से क़बीले पूर्वी यूरोप और भारत में बस भी

ेकिन रोम और चीन में सीधा सम्बन्ध भी था। दोनों एक-दूसरे के यहाँ ाजदूत भेजते थे। चीनी किताबों से पता चलता है कि पहले-पहल १६६ रोम के सम्राट् आन-तून ने चीन को अपना राजदूत-मण्डल भेजा था। यह ा वही मार्क ऑरेली अन्तोनी है, जिसका ज़िक्र मैं अपने एक पत्र में कर ूँ।

ूरोप में रोम का पतन एक ज़बर्दस्त घटना थी। यह सिर्फ़ एक शहर या म्राज्य का पतन नहीं था। एक तरह से रोमन साम्राज्य तो क़ुस्तुन्तुनिया में भी बहुत दिनों तक चलता रहा और इस साम्राज्य का भूत यूरोप के सिर पर क़रीब चौदह सौ वर्ष तक मँडराता रहा। लेकिन रोम का पतन एक महान् अन्त था। इससे यूनान और रोम की पुरानी दुनिया का ख़ात्मा हो गया। में रोम के खण्डहरों पर एक नई दुनिया, एक नई सभ्यता और एक नई जन्म ले रही थी। शब्द और वाक्य हमें भुलावे में डाल देते हैं और जब हम ब्दों का इस्तेमाल दूसरी जगह देखते हैं तो हम समझने लगते हैं कि उनके वही होंगे। रोम के पतन के बाद भी यूरोप रोम की ही भाषा में बोलता किन उसके पीछे जो भाव थे और जो अर्थ थे वे बदल गये थे। लोग कहते

हैं कि आज के यूरोप के मुल्क यूनान और रोम के बच्चे हैं और यह ठीक भी है। लेकिन फिर भी यह एक भ्रम में डाल देनेवाली बात है। के देश एक ऐसे आदर्श के नमूने हैं जो यूनान और रोम के आदर्शों जुदा है। रोम और यूनान की पुरानी दुनिया बिलकुल ही मिट गई। हज़ार वर्ष से भी ज्यादा समय में बन पाई थी, वह पककर मुरझा गई ही पश्चिमी यूरोप के आधे सभ्य, आधे-बर्बर देश इतिहास में क़दम धीरे-धीरे एक नई सभ्यता और एक नई संस्कृति का निर्माण करने रोम से बहुत-कुछ सीखा; बहुत-सी बातें उन्होंने पुरानी दुनिया से सीखने का यह सिलसिला मुश्किल और मेहनत का था। सैकड़ों वर्षों होता था कि यूरोप में सभ्यता और संस्कृति नींद ले रही है। अज्ञान पंथ का अँधेरा छा गया था। इसलिए इन सदियों को 'अन्धकार का हैं।

इसकी वजह क्या थी? दुनिया पीछे की तरफ़ क्यों लौटे, और मेहनत से इकट्ठा किया हुआ ज्ञान क्यों ग़ायब हो जाय या भुला ये बड़े सवाल हमारे बड़े-बड़े बुद्धिमानों को भी चक्कर में डाल देते हैं जवाब देने की कोशिश नहीं करूँगा। क्या यह ताज्जुब की बात नहीं है जो कभी विचार और कर्म में इतना महान् था, इतनी बुरी तरह नीचे और लम्बे युगों तक ग़ुलाम देश बना रहे? या चीन, जिसका इतना गौरवपूर्ण है, कभी ख़त्म न होनेवाले लड़ाई-झगड़ों का शिकार शायद युगों का ज्ञान और युगों की बुद्धि जिन्हें आदमी बूंद-बूंद करके पाता है, मिट नहीं जाते। लेकिन किसी वजह से हमारी आँखें बन्द और कभी-कभी हम कुछ भी नहीं देख पाते। खिड़की बन्द हो जाती है छा जाता है। लेकिन बाहर और चारों तरफ़ रोशनी तब भी रहती है हम अपनी आँखों को या खिड़कियों को बन्द रक्खें तो इसका मतलब रोशनी ही ग़ायब हो गई।

कुछ लोगों का कहना है कि यूरोप के अन्धकार-युग का कारण था—वह धर्म नहीं जिसका ईसा ने प्रचार किया, बल्कि वह जो रोमन सम्राट् कॉन्स्तेन्तीन के ईसाई हो जाने पर पश्चिम में फैला। का कहना है कि चौथी सदी में कॉन्स्तेन्तीन के ईसाइयत इख़्तियार हज़ार वर्ष का एक नया युग शुरू हुआ, "जिसमें विवेक ज़ंजीरों में गया, विचार को ग़ुलाम बना दिया गया और ज्ञान ने कोई तरक़्क़ी इनकी वजह से न सिर्फ़ ज़ुल्म, कट्टरपन और असहिष्णुता ने ही बल्कि इससे लोगों के लिए विज्ञान या और बहुत-सी बातों में आगे

। धर्म-पुस्तकें अक्सर आगे बढ़ने में रुकावट बन जाती हैं। वे हमें बताती जस ज़माने में वे लिखी गईं थीं तब दुनिया कैसी थी। वे हमें उस ज़माने ारों और रस्म-रिवाजों के बारे में बताती हैं। उन विचारों और रस्म- के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने की किसी की हिम्मत नहीं होती, क्योंकि वे पवित्र" पुस्तक में लिखी होती हैं। इसलिए, हालाँकि दुनिया बिलकुल ाती है, लेकिन हमें उन विचारों और रस्म-रिवाजों को बदली हुई हालतों विक़ बनाने की छूट नहीं होती। नतीजा यह होता है कि हम ज़माने के मेल हो जाते हैं, और फिर गड़बड़ पैदा हो जाती है।

इसलिए कुछ लोग यूरोप में अन्धकार-युग लाने के लिए ईसाइयत को दोषी हैं। दूसरे लोग यह कहते हैं कि उस अन्धकार-युग में ज्ञान के दीपक को रखनेवाले ईसाइयत और ईसाई पादरी और पुजारी ही थे। उन्होंने कला त्रकारी को जीवित रखा, बेशक़ीमती पुस्तकों की सावधानी से हिफ़ाज़त र उनकी नक़लें उतारीं।

लोग इस तरह का तर्क करते हैं। शायद दोनों ही ठीक हैं। लेकिन यह कि रोम के पतन के बाद आनेवाली सारी मुसीबतों की ज़िम्मेदारी ईसाइयत एक बेहूदा-सी बात है। सच तो यह है कि रोम ख़ुद उन बुराइयों की वजह रा।

लेकिन मैं बहुत दूर चला गया। मैं तो तुम्हें यह बताना चाहता था कि जहाँ में समाजी संगठन एकदम टूट गया और एकदम परिवर्तन हो गया, वहाँ ं या भारत तक में इस तरह का कोई अचानक परिवर्तन नहीं हुआ। यूरोप एक सभ्यता का अन्त और उस दूसरी सभ्यता की शुरुआत देखते हैं, जो रे विकास करके आज की सभ्यता बन गई है। चीन में हम ऐसी ही ऊँचे ी सभ्यता और संस्कृति को इस तरह सिलसिला टूटे बिना जारी रहता । उतार-चढ़ाव तो आया ही करते हैं। अच्छे काल और बुरे राजे-महाराजे ौर जाते रहते हैं और राजवंश बदलते रहते हैं। लेकिन जो संस्कृति परम्परा ी आती है, वह नहीं टूटती। जब चीन कई राज्यों में छिन्न-भिन्न हो गया आपसी झगड़ों में फँस गया, उस समय भी वहाँ कला और साहित्य फूलते- रहे, मनोरम चित्रकारी होती रही, सुन्दर चीनी के बर्तन और बढ़िया तें बनती रहीं। छपाई का उपयोग होने लगा। चाय पीने का फ़ैशन शुरू हुआ कविता में उसका गुणगान किया जाने लगा। इस प्रकार चीन में हमें सौन्दर्य कला-प्रेम की एक अटूट धारा दिखाई देती है, जो किसी ऊँची सभ्यता से ा हो सकती है।

यही हालत भारत में थी। यहाँ भी रोम की तरह कोई अचानक परिवर्तन

नहीं हुआ। यह ठीक है कि यहाँ भी अच्छे और बुरे दिन आये। सुन्दर सां
कलामय रचनाओं के ज़माने आये और विनाश और पतन के भी। ले
का सिलसिला एक तरह से जारी रहा। भारत की यह सभ्यता पूर्व के
भी फैल गई। उसने उन बर्बरों को भी हज़म कर लिया और ज्ञान सि
लूटने आये थे।

यह न समझना कि मैं पश्चिम को नीचा गिराकर भारत या ची
कर रहा हूँ। आज भारत या चीन की हालत में कोई ऐसी बात नहीं है, जि
कोई शान बघारता फिरे। अन्धे भी यह देख सकते हैं कि अपने प्राची
होते हुए भी आज ये दोनों देश दुनिया के राष्ट्रों के मुक़ाबले में बहुत नी
पहुँच गये हैं। अगर उनकी पुरानी संस्कृति की धारा यकायक टूटी नहीं
यह अर्थ नहीं है कि इसमें कोई बुरे परिवर्तन भी नहीं हुए। अगर हम प
और आज नीचे गिरे हुए हैं, तो यह साफ़ है कि हम दुनिया में नीची हा
गये हैं। हम अपनी सभ्यता की अटूट धारा पर ख़ुश हो लें, लेकिन जब व
ही पककर ख़त्म हो गई, तो इसमें सन्तोष की कोई बात नहीं रहती।
शायद यही अच्छा होता कि प्राचीनता से हमारे सम्बन्ध यकायक टू
ऐसे अचानक परिवर्तन हमें झकझोर डालते और हमारे में नया जीव
जीवनशक्ति फूँक देते। सम्भव है कि आज भारत में और दुनिया में
घट रही हैं, वे हमारे पुराने देश को आगे की ओर धक्का दे रही हों और
जवानी और नई ज़िन्दगी से भर रही हों।

मालूम होता है कि पुराने ज़माने में भारत में जो मज़बूती और श
थी, उसकी बुनियाद ग्राम-गणराज्यों या स्वशासित पंचायतों के व्याप
में थी। आजकल की तरह उन दिनों बड़े-बड़े भू-स्वामी और बड़े-बड़े
नहीं थे। ज़मीन या तो देहाती समुदाय या पंचायतों की या उस
करनेवाले किसानों की हुआ करती थी, और इन पंचायतों के हाथ में बहु
और अधिकार होते थे। इन पंचायतों को गाँव के लोग चुनते थे और इस
व्यवस्था लोकतन्त्री आधार पर बनी हुई थी। राजा बदलते रहते थे और
लड़ते भी रहते थे; लेकिन उन्होंने इन ग्राम-संस्थाओं पर न तो कभी हा
न उनके काम में कभी दख़ल दिया और न इन पंचायतों की आज़ादी
हिम्मत की। और इस तरह जब साम्राज्यों का उलट-फेर होता रहा, तब
ग्राम-संस्था पर खड़ी हुई समाज-व्यवस्था बिना ज़्यादा परिवर्तन के
सम्भव है, हमलों, लड़ाइयों और राजाओं के बदलने की कहानियाँ हमें
डाल दें, और हम यह सोचने लगें कि इन घटनाओं का असर तमाम जनता
रहा होगा। इसमें कोई शक नहीं कि जनता पर, ख़ासकर उत्तर भारत

इनका असर पड़ा; लेकिन आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि वे लोग तों की परवाह नहीं करते थे और राजाओं में हेर-फेर होते हुए भी, वे अपने में लगे रहते थे।

भारत के समाज-संगठन को बहुत दिन तक मज़बूत बनाये रखनेवाला दूसरा वह वर्ण-व्यवस्था थी जो अपने मूलरूप में चली आ रही थी। उन दिनों पाँत के नियम इतने सख्त नहीं थे, जितने कि वे बाद में हो गये, और न जाति जन्म पर निर्भर करती थी। इसने हज़ारों साल तक भारत की सामाजिक ी को संगठित रक्खा, और इसका सिर्फ़ यही कारण था कि उसने परिवर्तन विकास की गति को रोका नहीं बल्कि उसे आगे बढ़ाया। धर्म और जीवन मले में पुराना भारतीय दृष्टिकोण हमेशा उदारता, प्रयोग और परिवर्तन ागत करता था। इसीसे उसे बल मिलता था। लेकिन बार-बार के हमलों दूसरी मुसीबतों ने जाति-प्रथा को धीरे-धीरे कड़ा बना दिया, और इसके साथ भारत का सारा दृष्टिकोण भी कड़ा और बेलोच हो गया। यह सिलसिला रहा, यहाँतक कि भारत के लोग आज की दुःखदायी हालत को पहुँच गये जाति-प्रथा हर तरह की तरक्क़ी की दुश्मन बन बैठी। समाज के ढाँचे को खने के बजाय जाति-प्रथा ने उसके सैकड़ों टुकड़े कर दिये हैं और हमें कमज़ोर दिया है, और भाई को भाई के ख़िलाफ़ कर दिया है।

इस तरह वर्ण-व्यवस्था ने, पुराने ज़माने में, भारत के समाज-संगठन को त बनाने में मदद दी। लेकिन ऐसा होते हुए भी इसमें गिरावट के बीज मौजूद उसका आधार था असमानता और अन्याय को हमेशा क़ायम रखना, और किसी भी कोशिश का अन्त में विफल हो जाना लाज़िमी था। असमानता और य के आधार पर या एक वर्ग या जमात द्वारा दूसरे वर्ग या जमात से बेजा ा उठाने की नीति पर कोई अच्छा या मज़बूत समाज नहीं बन सकता। आज भी यह अनुचित शोषण मौजूद है, इसलिए हमें तमाम दुनिया में इतने ा झगड़े और दुःख दिखाई देते हैं। लेकिन अब सब जगह के लोग इसे महसूस लगे हैं और इससे छुटकारा पाने की भरपूर कोशिश कर रहे हैं।

भारत की तरह चीन में भी समाज-व्यवस्था की मज़बूती गाँवों पर और लाखों किसानों पर निर्भर थी, जो ज़मीन के मालिक थे और उसे जोतते थे। भी बड़े-बड़े ज़मींदार नहीं थे। धर्म में कभी रूढ़िवाद या असहिष्णुता नहीं आने ई। दुनिया की तमाम क़ौमों में चीनी लोग धर्म के मामले में शायद सबसे कम पन्थी रहे हैं और अब भी वैसे ही हैं।

फिर तुम्हें यह भी याद होगा कि भारत और चीन दोनों ही में मज़दूरों लामी की कोई प्रथा नहीं थी, जैसी यूनान में या रोम में या उससे भी पहले

भारत का उपनिवेशीकरण तथा चीन का तांग साम्राज्य

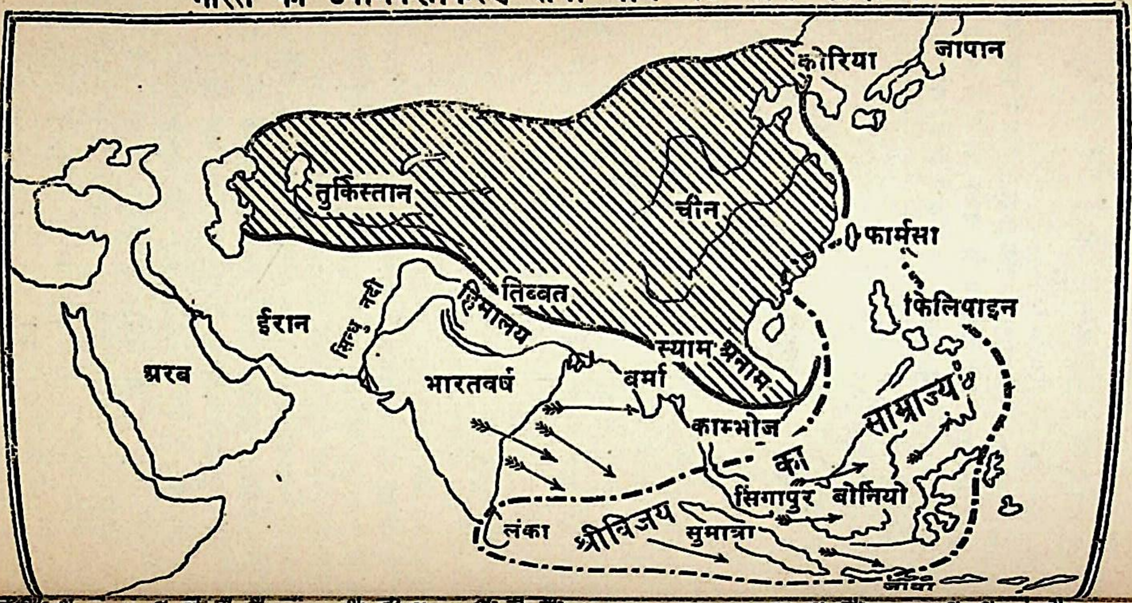
कोरिया
जापान
तुर्किस्तान
चीन
फार्मूसा
फिलिपाइन
तिब्बत
हिमालय
सिन्धु नदी
ईरान
अरब
भारतवर्ष
स्याम
अनाम
बर्मा
काम्भोज
श्रीविजय
का
साम्राज्य
सिंगापुर
बोर्नियो
सुमात्रा
लंका
जावा

में थी। कुछ घरेलू नौकर होते थे, जिनकी हालत ग़ुलामों जैसी होती थी, न समाज-व्यवस्था में इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था। यह व्यवस्था बग़ैर भी वैसी ही चलती रहती थी। लेकिन पुराने यूनान और रोम में ऐसा नहीं वहाँ तो ग़ुलामों की बड़ी संख्या समाजी व्यवस्था का एक ज़रूरी अंग थी और काम का असली बोझ इन्हीं के कन्धों पर था। और मिस्र में बिना इन ग़ुलामों बड़े-बड़े पिरेमिड कैसे बन पाते?

मैंने इस पत्र को चीन से शुरू किया था और इरादा किया था कि उसकी ी को जारी रक्खूँ। लेकिन मैं दूसरे विषयों की ओर बहक गया, जो कि मेरे कोई ग़ैर-मामूली बात नहीं है। शायद अबकी बार हम चीन को इस तरह नहीं ।

: ४१ :

तांङ्-वंश के शासन में चीन की उन्नति

७ मई, १९३२

मैं चीन के हन्-वंश के बारे में तुम्हें बता चुका हूँ और यह भी बता चुका हूँ ीन में बौद्ध-धर्म कैसे आया, छपाई की कला कब ईजाद हुई, और सरकारी रों को चुनने के लिए इम्तिहान लेने का तरीक़ा कैसे शुरू हुआ। ईसा के बाद ी सदी में हन्-राजवंश खत्म हो गया, और साम्राज्य तीन राज्यों में बँट जिन्हें तीन महान् सल्तनतें कहा जाता है। विभाजन का यह युग कई सौ तक क़ायम रहा। अन्त में एक नये राजवंश ने, जिसे तांङ-वंश कहते हैं, चीन फिर एक कर दिया और उसे शक्तिशाली और एक राज्य बना दिया। यह ीं सदी के शुरू की बात है।

लेकिन बँटवारे के इस काल में भी चीनी संस्कृति और कला उत्तर के तातार-ों के हमलों के बावजूद क़ायम रही। बड़े-बड़े पुस्तकालयों और सुन्दर चित्रों बयान हमें मिलता है। भारत सिर्फ़ अपने सुन्दर कपड़े और दूसरे माल ही नहीं, क अपने विचार, अपना धर्म और अपनी कला भी चीन को भेजता रहा। भारत ौद्ध प्रचारक चीन गये और वे अपने साथ भारतीय कला की परम्परा भी गये। यह भी हो सकता है कि भारतीय कलाकार और कुशल कारीगर भी गये हों। भारत से पहुँचनेवाले बौद्ध-धर्म और नये विचारों का चीन पर असर पड़ा। बेशक चीन उस समय, और उसके पहले भी, एक बहुत ही सभ्य ा। यह बात नहीं थी कि भारत के धर्म, विचार और कला किसी पिछड़े देश ंचे हों, और उस पर क़ाबिज़ हो गये हों। चीन में पहुँचकर इनको चीन की ी प्राचीन कला और विचार-धारा का सामना करना पड़ा था। दोनों की

टक्कर का यह नतीजा हुआ कि एक नई चीज़ पैदा हुई, जो इन दोनों से इसमें बहुत-कुछ भारत का हाथ था, लेकिन फिर भी उसका आधार और वह चीनी साँचे में ढली हुई थी। इस तरह भारत से पहुँचनेवाली धाराओं ने चीन के मानसिक और कला-सम्बन्धी जीवन को एक नई प्रेर ठोकर दी।

इसी तरह बौद्ध-धर्म और भारतीय कला का सन्देश पूर्व में बहुत यानी कोरिया और जापान तक कैसे पहुँचा, और इन देशों पर इसका हुआ, यह भी दिलचस्प कहानी है। हरेक देश ने इसको अपने स्वभाव और अनुकूल बना लिया। इस तरह, हालांकि बौद्ध-धर्म चीन और जापान फला, लेकिन हर मुल्क में इसका पहलू जुदा है और इन दोनों देशों का शायद उस बौद्ध-धर्म से बहुत कुछ अलग तरह का है, जो भारत से गया था भी देश की हवा और क़ौम के मुताबिक़ अलग होती है और बदलती भारत में हम लोग क़ौमी हैसियत से कला और सौन्दर्य दोनों को भूल यही नहीं कि बहुत दिनों से हमने सौन्दर्य की कोई बढ़िया चीज़ पैदा बल्कि हममें से बहुत-से लोग सुन्दर वस्तुओं की क़द्र करना भी भूल गये हैं। ग़ुलाम देश में कला और सौन्दर्य पनप ही कैसे सकते हैं? ग़ुलामी और अँधेरे में ये मुरझा जाते हैं। लेकिन अब, जबकि आज़ादी की झलक हमारी के सामने है, हमारी सौन्दर्य की भावना धीरे-धीरे जगने लगी है। जब आ जायगी तब तुम इस देश में कला और सौन्दर्य का ज़बर्दस्त पुनर्जीवन और मुझे उम्मीद है कि तब हमारे घरों, हमारे नगरों और हमारे जीवन सूरती एकदम हट जायगी। चीन और जापान भारत से ज्यादा भाग्यशाली और इन्होंने अबतक कला और सौन्दर्य की अपनी भावना को बहुत-कुछ रक्खा है।

ज्यों-ज्यों चीन में बौद्ध-धर्म फैला, भारतीय बौद्ध और भिक्षु बड़ संख्या में जाने लगे, और चीनी भिक्षु भारत और दूसरे देशों की यात्राएँ कर मैंने तुमसे फ़ा-ह्यान का ज़िक्र किया है, और तुम ह्यू एनत्सांङ को जानती ये दोनों भारत आये थे। एक दूसरे चीनी भिक्षु ने, जिसका नाम हुई-शेंङ था, पूर्वी समुद्रों की यात्रा का बहुत दिलचस्प हाल लिखा है। यह ४९९ ई० में राजधानी में पहुँचा और इसने बताया कि वह फू-संङ नामक ऐसे मुल्क था, जो चीन के पूर्व में कई हज़ार मील की दूरी पर है। चीन और जापान में प्रशान्त महासागर है, और सम्भव है कि हुई-शेंङ ने इस महासागर किया हो। शायद वह मैक्सिको पहुँचा हो, क्योंकि मैक्सिको में उस वक्त पुरानी सभ्यता पाई जाती थी।

चीन में बौद्ध-धर्म के प्रसार से आकर्षित होकर भारत के बौद्ध-धर्म के ध्यक्ष या कुलपति जिनका नाम या उपाधि बोधि-धर्म थी, दक्षिण भारत से में कैण्टन के लिए रवाना हुए। शायद भारत में बौद्ध-धर्म के धीरे-धीरे कम-हो जाने की वजह से उनका चीन जाने का इरादा हुआ हो। ५२६ ई० में उन्होंने यह यात्रा की, वह बूढ़े हो चुके थे। इनके साथ, और इनके बाद, और से भिक्षु भी चीन गये। कहते हैं कि उस समय चीन के सिर्फ़ एक सूबे लो-में तीन हज़ार से भी ज़्यादा भारतीय भिक्षु और दस हज़ार भारतीय कुटुम्ब थे।

इसके बाद ही बौद्ध-धर्म भारत में एक बार फिर चमका, और बुद्ध की जन्म-होने के कारण, और इस कारण भी कि यहाँ उनके पवित्र धर्म-ग्रन्थ थे, यह धर्मपरायण बौद्धों को अपनी ओर खींचता रहा। लेकिन जान पड़ता है कि भारत द्ध-धर्म की शान जाती रही थी, और अब चीन प्रमुख बौद्ध देश हो गया था।

सम्राट् काओ-त्सू ने ६१८ ई० में तांङ-राजवंश की नींव डाली। इसने न सारे चीन को ही एक किया बल्कि अपना अधिकार दक्षिण में अनाम और डिया तक के, और पश्चिम में ईरान तथा कैस्पियन सागर तक के, लम्बे-चौड़े में फैलाया। कोरिया का भी एक हिस्सा इस शक्तिशाली साम्राज्य में शामिल साम्राज्य की राजधानी सी-आन-फ़ू नामक शहर था, जो पूर्वी एशिया में शान और संस्कृति के लिए मशहूर था। जापान से और दक्षिण कोरिया से, भी तक आज़ाद था, राजदूत और आयोग-मण्डल इसकी कला, तत्वज्ञान सभ्यता का अध्ययन करने के लिए आया करते थे।

तांङ-सम्राट् विदेशी व्यापार और विदेशी यात्रियों को उत्साहित करते थे। आनेवाले या वहाँ आकर बसनेवाले विदेशियों के लिए ख़ास क़ानून बनाये थे, ताकि वे, जहाँ तक सम्भव हो, अपने ही देशों के रस्म-रिवाजों के अनुसार पा सकें। हमें पता चलता है कि ३०० ई० के क़रीब दक्षिण चीन में कैण्टन अरब लोग खासतौर से आकर बसे थे। यह इस्लाम की शुरुआत से, यानी र हज़रत मोहम्मद के जन्म से, पहले की बात है। इन अरबों की मदद से पार के देशों के साथ व्यापार में तरक़्क़ी हुई। तिजारती माल लाने ले जाने म अरबी और चीनी जहाज़ किया करते थे।

तुमको यह जानकर ताज्जुब होगा कि मर्दुमशुमारी, यानी आबादी जानने किसी देश के निवासियों की गिनती की प्रथा, चीन में बहुत पुराने ज़माने आई है। कहते हैं कि बहुत पहले, १५६ ई० में, चीन में एक मर्दुमशुमारी । यह हन्-वंश के समय में हुई होगी। गिनती एक-एक आदमी की नहीं, बल्कि कों की की जाती थी। यह माना जाता था कि हरेक कुटुम्ब में मोटे तौर से पाँच

व्यक्ति होते हैं। इस हिसाब के मुताबिक़ १५६ ई० में चीन की पांच करोड़ थी। मैं जानता हूँ कि यह कोई बहुत ठीक तरीक़ा नहीं है करने की बात यह है कि पश्चिम के लिए यह मर्दुमशुमारी एक नई ख़याल है कि क़रीब १५० वर्ष हुए जब संयुक्त राज्य अमेरिका में शुमारी हुई थी।

तांङ-वंश के शुरू ज़माने में चीन में दो और धर्म आये—एक दूसरा इस्लाम। ईसाइयत को वह सम्प्रदाय इस देश में लाया जिसे देकर पश्चिम से निकाल दिया गया था। ये लोग नेस्तोरियन कहलाते कुछ दिन हुए ईसाई सम्प्रदायों के आपसी झगड़ों और लड़ाइयों लिखा था। इसी तरह के एक झगड़े का नतीजा यह हुआ कि रोम ने को निकाल बाहर किया। लेकिन ये लोग चीन, ईरान और एशिया हिस्सों में फैल गये। ये लोग भारत भी आये थे और इन्हें कुछ मिली, लेकिन बाद में ईसाई मजहब की दूसरी शाखाओं ने और इन्हें हज़म कर लिया, और अब उनका नाम-निशान भी बाक़ी नहीं पार-साल जब हम दक्षिण भारत गये थे तो वहाँ एक जगह इन लोगों बस्ती देखकर मुझे बहुत ताज्जुब हुआ था। तुम्हें याद है न? इनके लोगों को चाय पिलाई थी। वह बूढ़ा आदमी बहुत खुश-मिज़ाज था।

ईसाइयत को चीन पहुँचने में कुछ दिन लगे। लेकिन इस्लाम से आया। वास्तव में इस्लाम नेस्तोरियनों के आने के कुछ साल पहले पैग़म्बर की ज़िन्दगी में ही वहाँ पहुँच गया था। चीन के सम्राट् ने नेस्तोरियनों दोनों के राजदूत-मण्डलों का बड़ी विनय के साथ स्वागत और उनकी बातों को ध्यान से सुना था। उसने उनके विचारों की दोनों के साथ एक-सी उदारता का व्यवहार किया। अरबों को कैन्टन बनाने की इजाज़त दी गई। यह मस्जिद अभी तक मौजूद है, हालाँकि सौ वर्ष हो गये। यह दुनिया की सबसे पुरानी मस्जिदों में है।

इसी तरह तांङ-सम्राट् ने गिरजाघर और ईसाई मठ बनाने की चीन के इस उदार बर्ताव में और उस ज़माने के यूरोप की असहिष्णुता बड़ा फ़र्क़ नज़र आता है!

कहते हैं कि अरबों ने काग़ज़ बनाने का हुनर चीनियों से सीखा यूरोप को सिखाया। ७५१ ई० में मध्य एशिया के तुर्किस्तान में मुसलमान अरबों के बीच एक लड़ाई हुई। अरबों ने कुछ चीनियों लिया और इन क़ैदियों ने अरबों को काग़ज़ बनाना सिखाया।

तांङ-वंश तीन सौ वर्ष यानी ९०७ ई० तक रहा। कुछ लोगों

तीन सौ वर्ष चीन का सबसे महान् युग है, जब केवल संस्कृति ही ऊँचे दर्जे थी, बल्कि जनता भी सब तरह से बहुत सुखी थी। बहुत-सी बातें जो को बहुत दिनों बाद मालूम हुईं, चीनियों को उस समय मालूम थीं। काग़ज़ तो मैं कर ही चुका हूँ। दूसरी ऐसी ही चीज़ बारूद थी। चीनी बड़े अच्छे र भी हुआ करते थे। आम-तौर से, और क़रीब-क़रीब हरेक बातों में, ये रोप से बहुत आगे बढ़े हुए थे। अगर ये लोग इतने आगे बढ़े हुए थे तो बाद गुआ क्यों नहीं बने रह सके, और विज्ञान के नये-नये आविष्कारों में उन्होंने को राह क्यों नहीं दिखाई? यूरोप ने धीरे-धीरे इन्हें पकड़ लिया—जैसे वान किसी बुड्ढे को जा पकड़ता है—और कम-से-कम कुछ बातों में तो गे बढ़ ही गया। राष्ट्रों के इतिहास में इस तरह की बातें क्यों हो जाती हैं, र्शनिकों के विचार के लिए एक कठिन सवाल है। चूँकि अभी तक तुम इस परेशान होनेवाले दार्शनिकों की तरह नहीं हो, इसलिए मुझे भी परेशान कोई ज़रूरत नहीं है।

इस काल में चीन की महानता का क़ुदरती तौर पर एशिया के बाक़ी हिस्सों असर पड़ा, जो कला और सभ्यता के मामले में रास्ता दिखाने के लिए तरफ़ देखते रहते थे। गुप्त साम्राज्य के बाद भारत का सितारा बहुत तेज़ी चमक रहा था। जैसा हमेशा होता है, चीन में उन्नति और सभ्यता ने लोगों ज्यादा विलासी और आराम-पसन्द बना दिया। राज्य में भ्रष्टाचार घुस र इसकी वजह से भारी टैक्स लगाना ज़रूरी हो गया। नतीजा यह हुआ कि तांङ्-वंश से तंग आकर उसे खत्म कर दिया।

: ४२ :

चोसेन और दाई निप्पौन

८ मई, १९३२

ज्यों-ज्यों हमारी दुनिया की कहानी आगे बढ़ती जायगी, नये-नये देश निगाह में आते जायंगे। इसलिए हमें कोरिया और जापान पर एक नज़र नी चाहिए, जो चीन के नज़दीकी पड़ौसी हैं और बहुत-सी बातों में चीनी की सन्तानें हैं। ये देश एशिया के बिलकुल सिरे पर, सुदूरपूर्व में हैं, और र प्रशान्त महासागर फैला हुआ है। कुछ दिनों पहले तक अमेरिका महाद्वीप कोई सम्पर्क नहीं था, इनका सम्पर्क सिर्फ़ एशिया के महान् राष्ट्र चीन से उन्होंने चीन से या चीन के मार्फ़त ही धर्म, कला और सभ्यता हासिल की। और जापान को चीन की बहुत बड़ी देन है, और कुछ हद तक वे भारत

के भी देनदार हैं। लेकिन भारत से इन्होंने जो कुछ पाया वह चीन के चीनी भावनाओं में रँगा हुआ ही पाया।

कोरिया और जापान दोनों की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि था और जगह होनेवाली बड़ी-बड़ी घटनाओं से इनका कोई सम्ब घटनाओं के केन्द्र से ये दूर थे---कुछ हद तक दोनों, खासकर जापान, इसलिए मौजूदा ज़माने से पहले तक के इनके इतिहास की हम बग़ैर कि के उपेक्षा कर सकते हैं। ऐसा करने से एशिया के बाक़ी हिस्सों की समझने में कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं आयेगा। लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि बिलकुल ही छोड़ दें जिस तरह कि हमने मलेशिया और पूर्वी टापु इतिहास को नहीं छोड़ा। बेचारा छोटा-सा देश कोरिया आज मि दिया गया है। जापान ने इसे हड़प लिया है और अपने साम्राज्य का बना लिया है। लेकिन कोरिया अब आज़ादी के सपने देखता है और के लिए छटपटाता है। आजकल जापान की बहुत चर्चा है और चीन हमलों के समाचारों से अख़बार भरे रहते हैं। इस वक़्त भी, जब मैं लिख रहा हूँ, मंचूरिया में एक तरह का युद्ध छिड़ा हुआ है। इसलि कोरिया और जापान का कुछ पिछला इतिहास जान लें तो अच्छा है हाल की बातें समझने में मदद मिलेगी।

पहली बात, जो हमें याद रखनी चाहिए, वह यह है, कि ये दो ज़मानों तक दुनिया से अलग-थलग रहे हैं। वास्तव में जापान का अ थलग रहना और हमलों से बरी रहना उसके इतिहास की एक ख़ा इसके सारे इतिहास में इसपर हमला करने की बहुत ही कम कोशि उनमें से एक भी कामयाब नहीं हुई। अभी तक इसकी सारी परेशानि झगड़ों के कारण ही रही हैं। कुछ दिनों के लिए तो जापान ने अपने दुनिया से बिलकुल ही अलग कर लिया था। किसी जापानी का देश से या किसी विदेशी का, यहाँतक कि चीनी का भी, जापान में पैर रखना बात थी। यह रोक इसलिए लगाई गई थी कि जापानी लोग अपने को यू शियों से और ईसाई प्रचारकों से बचाना चाहते थे। यह एक ख़त बेवक़ूफ़ी का काम था, क्योंकि इसका अर्थ था सारी क़ौम को क़ैदख़ाने देना और बाहर के अच्छे या बुरे प्रभावों से उसे दूर रखना। लेकिन फि एकदम दरवाज़े और खिड़कियाँ खोल दीं, और यूरोप जो-कुछ सिखा उस सबको सीखने के लिए बाहर दौड़ पड़ा। और उसने यह सब इतनी सीखा कि एक या दो पीढ़ियों में ही वह ऊपर से एक यूरोपीय देश के गया, और उसने उनकी बुरी आदतों की भी नक़ल कर ली! ये सब सत्तर-अस्सी वर्षों में हुई हैं।

कोरिया का इतिहास चीन के इतिहास से बहुत पीछे शुरू होता है और न का इतिहास कोरिया के भी बहुत दिन बाद। मैंने तुम्हें पार-साल अपने त्र में लिखा था कि की-त्से नामक एक निर्वासित चीनी ने, जिसे चीन में राज- बदल जाना नापसन्द था, अपने पाँच हज़ार साथियों के साथ पूर्व की तरफ़ र दिया था। वह कोरिया में जा बसा और इस देश का नाम उसने 'चोसेन' 'सुबह की शान्ति का देश' रख दिया। यह ई० पू० ११२२ की बात है। की-त्से साथ चीनी कला और कारीगरी, खेती के तरीक़े और रेशम बनाने का हुनर ले गया, नौ सौ से भी अधिक वर्षों तक की-त्से के वंशज चोसेन में राज करते चीन से निकले हुए लोग समय-समय पर चोसेन में बसने के लिए आते रहे और के साथ इसका अच्छा-ख़ासा सम्पर्क बना रहा।

जब शी-ह्वांङ्-ती चीन का सम्राट् था, तब चीनियों का एक बड़ा जत्था या आया था। तुम्हें शायद इस चीनी सम्राट् का नाम याद होगा, जो अशोक मकालीन था। यह वही व्यक्ति है, जिसने 'प्रथम सम्राट्' की उपाधि धारण ी और सब पुराने ग्रन्थ जलवा दिये थे। शी-ह्वांङ्-ती के अत्याचारी तरीक़ों से ाकर बहुत-से चीनियों ने कोरिया में आश्रय लिया और की-त्से के कमज़ोर ों को मार भगाया। इसके बाद चोसेन कई छोटे राज्यों में बँट गया, और सौ वर्षों से ज़्यादा तक यही हालत बनी रही। ये राज्य अक्सर आपस में लड़ा थे। एक दफ़ा इन राज्यों में से एक ने चीन की मदद माँगी। इस तरह की माँगना ख़तरनाक ही हुआ करता है। मदद आई ज़रूर, लेकिन उसने वापस से इन्कार कर दिया। ताक़तवर मुल्क़ों का यही ढंग होता है। चीन वहाँ डट और उसने चोसेन के कुछ हिस्से को अपने साम्राज्य में मिला लिया। चोसेन क़ी हिस्सा भी कई सौ वर्षों तक चीन के तांङ्-सम्राटों की प्रभता क़बूल करता

९३५ ई० में चोसेन एक स्वाधीन संयुक्त राज्य बन गया। इस संयुक्त राज्य थापना में सफल होनेवाला व्यक्ति वांङ् कीयन था और इसके उत्तराधिकारियों ५० वर्ष तक इस राज्य पर शासन किया।

मैंने दो तीन पैरों में तुम्हें कोरिया के इतिहास के दो हज़ार वर्षों का हाल दिया! याद रखने की बात यह है कि कोरिया को चीन की बहुत बड़ी देन है। ने की कला यहाँ चीन से आई। एक हज़ार वर्ष तक कोरियावालों ने चीनी काम में ली। तुम जानती हो कि चीन की लिपि में अक्षर नहीं, बल्कि विचारों, ों और पदों के चिह्न होते हैं। इसके बाद कोरियावालों ने इस लिपि से एक लिपि निकाली, जो उनकी भाषा के लिए ज़्यादा उपयुक्त थी।

बौद्ध-धर्म चीन होकर यहाँ आया और कनफ़्यूशियस की दार्शनिक विचार-

धारा भी चीन से ही आई। भारतीय कला का प्रभाव चीन होकर गै
जापान पहुँचा। कोरिया में कला की, खासकर मूर्ति-कला की, बहुत सु
बनीं। इनकी इमारतें बनाने की कला चीनियों से मिलती-जुलती
बनाने के काम में भी बड़ी तरक़्क़ी हुई। यहाँतक कि एक बार कोरि
पास एक शक्तिशाली जलसेना हो गई, जिससे उन्होंने जापान पर हमला

शायद मौजूदा जापानियों के पुरखे कोरिया या चोसेन से ही आये
है, इनमें से कुछ लोग दक्षिण से यानी मलेशिया से आये हों। तुम जा
जापानी लोग मंगोली नस्ल के हैं। जापान में अब भी कुछ लोग हैं, जिन्
कहते हैं और जो जापान के आदिम निवासी समझे जाते हैं। ये लोग
इनके शरीर पर बाल भी ज्यादा होते हैं। साधारण जापानियों से ये भि
हैं। ये आइनस लोग टापू के उत्तरी हिस्से में धकेल दिये गए हैं।

हम देखते हैं कि २०० ई० के क़रीब जिंगो नाम की एक सम्रा
राज्य की शासक थी। यामातो जापान का या उसके उस हिस्से का
है, जहाँ ये प्रवासी आकर बसे थे। इस रानी का जिंगो नाम याद रखने की
जापान के एक सबसे पहले शासक का यह नाम होना एक अनोखा
अंग्रेजी भाषा में जिंगो शब्द का एक खास अर्थ हो गया है। इसका अर्थ है
और शेखी बघारनेवाला साम्राज्यवादी। इसे सिर्फ़ साम्राज्यवादी भी कह
क्योंकि हरेक साम्राज्यवादी थोड़ा-बहुत डींगी और शेखीबाज़ होता ही है
भी आज साम्राज्यवाद या जिंगोवाद के इस रोग में फँसा हुआ है और
इसने चीन और कोरिया के साथ बहुत बुरा बर्ताव किया है। इसलिए
पहले ऐतिहासिक राजा का नाम जिंगो होना एक अनोखी बात है।

यामातो ने कोरिया के साथ अपना गहरा सम्बन्ध बनाये रक्खा और
के मार्फ़त ही यामातो में चीनी सभ्यता पहुँची। चीन की भाषा और लिपि
ई० के क़रीब कोरिया होकर वहाँ पहुँची थीं, और इसी तरह बौद्ध-धर्म भी
से ही यहाँ आया था। ५५२ ई० में पाकचे (कोरिया के तीन राज्यों
राज्य) के राजा ने यामातो के राजा के पास बुद्ध की एक सोने की मूर्ति
धर्म-ग्रन्थों के साथ बौद्ध धर्म-प्रचारक भेजे थे।

जापान का पुराना मज़हब शिन्तो था। शिन्तो चीनी शब्द है। इ
है, 'देवताओं का मार्ग'। यह मज़हब प्रकृति-पूजा और पुरखों की पूजा
था। यह परलोक का या रहस्यों और समस्याओं की बातों से दूर है। यह
की जाति का मज़हब था। जापानी लोग चीनियों के इतने नज़दीक, और
सभ्यता के लिए चीन के इतने देनदार होते हुए भी चीनियों से बिलकुल
चीनी लोग स्वभाव से ही शान्तिप्रिय रहे हैं, और आज भी हैं। उनकी सारी

जीवन-दर्शन शान्तिमय हैं। इसके ख़िलाफ़ जापानी एक लड़ाकू क़ौम रहे हैं, आज भी हैं। वहाँ सिपाही का असली गुण यह माना जाता है कि वह अपने और अपने साथियों के प्रति वफ़ादार हो। जापानी लोगों में यह गुण बराबर है, और उसके बल का बहुत कुछ यही कारण है। शिन्तो इसी गुण पर ज़ोर था—"देवताओं का सम्मान करो, और उनके वंशजों के प्रति वफ़ादार —और इसीलिए शिन्तो आज तक जापान में जीवित है, और बौद्ध-धर्म के साथ मौजूद है।

लेकिन क्या यह गुण है? साथी या किसी उद्देश्य के प्रति वफ़ादार होना एक गुण है। लेकिन शिन्तो या दूसरे मज़हबों ने अक्सर लोगों की वफ़ादारी का फ़ायदा उठाने की कोशिश की है, जिससे उनपर शासन करनेवाले एक गिरोह के लोगों को फ़ायदा पहुँचे। जापान में और रोम वग़ैरा में यही या गया कि सत्ता की पूजा करो। और तुम आगे चलकर देखोगी कि इससे कितना नुक़सान पहुँचा है।

नया बौद्ध-धर्म जब जापान में पहुँचा, तो पुराने शिन्तो से उसकी कुछ टक्कर लेकिन जल्दी ही दोनों साथ-साथ रहने लग गये और आज तक रह रहे हैं। अब भी बौद्ध-धर्म से ज़्यादा लोकप्रिय है, और शासक-वर्ग इसे प्रोत्साहन ता है, क्योंकि वह वफ़ादारी और फ़रमाबरदारी सिखाता है। बौद्ध-धर्म इससे ख़तरनाक है, क्योंकि उसका संस्थापक ख़ुद विद्रोही था।

जापान की कला का इतिहास बौद्ध-धर्म के साथ शुरू होता है। तभी जापान मातो ने चीन के साथ सीधे सम्पर्क बढ़ाना शुरू किया था। जापान से चीन राबर राजदूत-मण्डल जाते रहते थे, ख़ासकर तांङ-काल में, जबकि चीन की नी सी-आन-फू सारे पूर्वी एशिया में मशहूर थी। जापानियों यानी यामातो-ने ख़ुद एक नई राजधानी नारा के नाम से क़ायम की और इसे सी-आन-फू ब-हू नक़ल बनाने का प्रयत्न किया। मालूम होता है जापानियों में दूसरों की उतारने और अनुकरण करने की अजीब क्षमता हमेशा से रही है।

सारे जापानी इतिहास में हम बड़े-बड़े परिवारों को एक-दूसरे का विरोध और अधिकार के लिए झगड़ते देखते हैं। दूसरी जगहों पर भी पुराने ज़माने में ऐसी ही बातें मिलेंगी। इन परिवारों में पुरानी कुल-भावना जमी हुई थी, ए जापान का इतिहास ख़ासतौर पर परिवारों की आपसी होड़ की कहानी नका सम्राट् मिकादो सर्वशक्तिमान, निरंकुश, आधा दैवी और सूर्य का माना जाता है। शिन्तो ने और पुरखों की पूजा ने जनता से सम्राट् की निरं- क़बूल कराने में बहुत मदद दी और उसे देश के शक्तिशाली लोगों को कारी बना दिया। लेकिन जापान में सम्राट् ख़ुद बहुत करके कठपुतली की

तरह रहा है और उसके हाथ में कोई असली ताक़त नहीं रही है। और सत्ता किसी बड़े परिवार या कुल के हाथ में रही है, जो राजाओं और अपनी मरज़ी के राजा और सम्राट् बनाया करते थे।

जापान के इतिहास में जो बड़ा परिवार सबसे पहले राज्य संभालता दिखाई देता है, वह सोगा-परिवार है। जब इन लोगों ने स्वीकार कर लिया, तभी वह दरबारी और सरकारी धर्म बन गया। का एक नेता शोतूकू ताइशी जापानी इतिहास का एक महान् व्यक्ति यह एक सच्चा बौद्ध और प्रतिभाशाली कलाकार था। चीन के कनफ़्यू से इसने अपने विचार लिये थे और ऐसी सरकार बनाने की कोशिश बुनियाद सिर्फ़ बल पर नहीं, बल्कि नैतिकता पर रक्खी गई हो। उन दिनों ऐसे कुलों की भरमार थी, जिनके सरदार बिलकुल स्वाधीन थे आपस में लड़ते थे और किसी की हुकूमत नहीं मानते थे। सम्राट् अपनी उपाधि के होते हुए भी सिर्फ़ किसी बड़े कुल का सरदार होता था। शोतू ने इस हालत को बदलने और केन्द्रीय सरकार को मज़बूत बनाने की कर दी। इसने बहुत-से कुलीन सरदारों और अमीरों को 'ताबेदार' या मातहती बना दिया। यह ६०० ई० के लगभग की बात है।

लेकिन शोतूकू ताइशी की मृत्यु के बाद सोगा-परिवार हटा थोड़े दिन बाद एक दूसरा व्यक्ति, जो जापानी इतिहास में बहुत सामने आता है। इसका नाम काकातोमी-नो-कामातोरी था। इसने शास में हर तरह के परिवर्तन किये और बहुत-से चीनी तौर-तरीक़े वैसे-के-वैसे लिये। लेकिन उसने चीन की निराली बात की, यानी सरकारी कर्म नियुक्त करने की परीक्षा-प्रणाली की नक़ल नहीं की। सम्राट् की एक कुल के सरदार से बहुत ऊँची हो गई और केन्द्रीय सरकार बहु हो गई।

इसी काल में नारा राजधानी बनी। लेकिन यह राजधानी थो रही। ७९४ ई० में क्योतो राजधानी बनी और क़रीब ग्यारह सौ वर्षों अब कुछ ही वर्ष हुए तोक्यो (टोकियो) ने उसकी जगह ले ली है। तोक्यो बड़ा आधुनिक शहर है, लेकिन वह क्योतो ही है, जो हमें जापान की आत्म परिचय कराती है, क्योंकि उसके साथ एक हज़ार वर्षों की यादगारें जुड़ी

काकातोमी-नो-कामातोरी फ़ूजीवारा वंश का संस्थापक हुआ। इ आगे चलकर जापानी इतिहास में बहुत बड़ा भाग लिया। इस वंश ने दो सौ वर्ष राज किया, और सम्राटों को अपने हाथ की कठपुतली बना और बहुत बार अपने कुल की लड़कियों से शादी करने के लिए उन्हें मजबू

दूसरे परिवारों के योग्य आदमियों का इतना डर रहता था कि उन्हें जब-
ी मठों में दाखिल करा दिया जाता था।

जब राजधानी नारा में थी तब चीन के सम्राट् ने जापानी शासक के पास सन्देश भेजा, जिसमें उसे 'ताई-नीह-पुंङ कोक' यानी 'महान् सूर्योदय राज्य' सम्राट् कहकर सम्बोधित किया गया था। जापानियों को यह नाम बहुत पसन्द ा। यामातो के मुक़ाबले में यह कहीं ज्यादा शानदार था, इसलिए ये लोग ने देश को 'दाई निप्पौन', यानी 'सूर्योदय का देश' कहने लगे और अभी तक ने देश के लिए उनका यही नाम है। जापान शब्द 'निप्पौन' से अजीब तरीक़े पर ड़कर बना है। छः सौ वर्ष बाद एक महान् इतालवी यात्री, मार्को पोलो, चीन । यह जापान तो नहीं गया, लेकिन इसने अपनी यात्रा-पुस्तक में जापान का लिखा है। इससे चीन में नीह-पुंङ-कोक नाम सुना था। इसने अपनी पुस्तक में 'चिपङ्गो' लिखा और इसीसे जापान शब्द निकला।

क्या मैंने तुम्हें बताया है, या तुम्हें मालूम है, कि हमारा देश इण्डिया और दुस्तान क्यों कहलाने लगा? ये दोनों नाम इन्दु या सिन्धु नदी के नाम से निकले जो इस तरह 'हिन्दुस्तान की नदी' बन गई। सिन्धु से यूनानी लोगों ने हमारे देश 'इन्दो' कहा और इसीसे 'इण्डिया' बना। सिन्धु से ही ईरानियों ने हिन्दू शब्द या और उसीसे हिन्दुस्तान बना।

: ४३ :

हर्षवर्धन और ह्यूएनत्सांङ्

११ मई, १९३२

अब हम फिर भारत वापस चलेंगे। हूणों की हार हो चुकी थी और वे पीछे दिये गए थे। लेकिन बहुत-से हूण इधर-उधर कोनों में बचे रह गये थे। बाला-य के बाद महान् गुप्त राज-वंश खत्म हो गया और उत्तर भारत में बहुत-से वाड़े और राज्य बन गये। दक्षिण में पुलिकेशी ने चालुक्य-साम्राज्य क़ायम लिया था।

कानपुर से थोड़ी दूर कन्नौज का छोटा-सा क़स्बा है। कानपुर आजकल बड़ा शहर है। लेकिन अपने कारखानों और चिमनियों की वजह से बदसूरत गया है। कन्नौज एक मामूली जगह है, जो गाँव से कुछ ही बड़ा होगा। लेकिन स ज़माने का ज़िक्र मैं कर रहा हूँ, उस ज़माने में कन्नौज एक बड़ी राजधानी था, र अपने कवियों, कलाकारों और दार्शनिकों के लिए मशहूर था। कानपुर तब ा ही नहीं हुआ था और न कई सौ वर्षों बाद तक पैदा होनेवाला था!

कन्नौज आजकल का नाम है। पर इसका असली नाम कान्यकु 'कुबड़ी कन्या' है। कथा है कि किसी प्राचीन ऋषि ने अपना अपमान कर ग़ुस्से में एक राजा की सौ कन्याओं को शाप दे दिया था, जिससे वे गई थीं। उस समय से यह शहर, जहाँ ये कन्याएँ रहती थीं, 'कुबड़ी का नगर' यानी कान्यकुब्ज कहलाने लगा।

लेकिन संक्षेप में हम इसे कन्नौज ही कहेंगे। हूणों ने कन्नौज के मार डाला और उसकी रानी राज्यश्री को क़ैद कर लिया। राज्यश्री राजवर्धन अपनी बहन को छुड़ाने के लिये हूणों से लड़ने आया। उसने तो हरा दिया, लेकिन खुद धोखे से मारा गया। इस पर उसका छोटा वर्धन अपनी बहन राज्यश्री की तलाश में निकला। यह बेचारी किसी तरह कर पहाड़ों में जा छिपी थी, और अपनी मुसीबतों से परेशान होकर उसने हत्या का निश्चय कर लिया था। कहते हैं कि वह जलने जा ही रही थी ने उसे ढूंढ़ लिया और बचा लिया!

अपनी बहन को पाने और बचाने के बाद हर्ष ने पहला काम कि उस नीच राजा को, जिसने उसके भाई को धोखे से मार डाला था, उसने सिर्फ़ इस नीच राजा को ही सज़ा नहीं दी, बल्कि सारे उत्तर भारत की खाड़ी से अरब समुद्र तक, और दक्षिण में विन्ध्याचल तक, जीत लिया। चल के बाद चालुक्य साम्राज्य था और हर्ष को यहाँ रुकना पड़ा।

हर्षवर्धन ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। वह खुद कवि और कार था, इसलिए उसके दरबार में कवि और कलाकार जमा हो गये और एक मशहूर शहर हो गया। हर्ष पक्का बौद्ध था। इस समय बौद्ध-धर्म, धर्म की हैसियत से, भारत में बहुत कमज़ोर पड़ चुका था। ब्राह्मण इसे हज़ जा रहे थे। हर्ष भारत का आख़िरी महान् बौद्ध-सम्राट् हुआ है।

हर्ष के राज-काल में हमारा पुराना मित्र ह्यू एनत्सांङ[1] भारत और उसकी यात्रा-पुस्तक में, जो उसने भारत से लौटकर लिखी थी, और मध्य-एशिया के उन देशों का, जिनमें होकर वह भारत आया था, हाल मिलता है। ह्यू एनत्सांङ एक धर्मपरायण बौद्ध था और वह बौद्ध-धर्म स्थानों की यात्रा करने और इस धर्म की पुस्तकें अपने साथ ले जाने के लि आया था। यह गोबी के रेगिस्तान को पार करके आया था, और रास्ते में उस क़न्द, समरक़न्द, बलख़, खुतन, यारक़न्द, वग़ैरा कई मशहूर शहरों को दे वह सारे भारत में घूमा और शायद लंका भी गया था। इसकी पुस्तक ए

---

[1] ह्यू एनत्सांङ—इसे लोग युयेन-चैंङ, युआङ-च्वांग या ह्वान-त्सां नाम से भी पुकारते हैं।

चित्ताकर्षक कबाड़ख़ाना है, जिसमें उन देशों का सही-सही चित्रण है, जहाँ वह गया था; भारत के अलग-अलग भागों के निवासियों के विस्मय- क चरित्र-चित्र हैं, जो आज भी सही मालूम होते हैं; अद्भुत कहानियाँ हैं, जो यहाँ सुनी थीं; और बुद्ध तथा बोधिसत्वों के चमत्कारों की अनेक कथाएं हैं। नत्सांङ की लिखी, उस बड़े अक़लमन्द आदमी की मज़ेदार कहानी, जो अपने के चारों तरफ़ तांबे के पत्तर बांधे फिरता था, मैं तुम्हें पहले ही बता चुका

ह्यू एनत्सांङ ने बहुत वर्ष भारत में बिताये; ख़ासकर नालन्दा के विश्व-लय में, जो पाटलिपुत्र के पास था। कहते हैं कि नालन्दा में, जो मठ और विद्यालय दोनों था, दस हज़ार विद्यार्थी और भिक्षु रहा करते थे। यह बौद्ध ा का बड़ा केन्द्र था और ब्राह्मण-शिक्षा के गढ़ बनारस का प्रतिस्पर्धी था। मैंने एक बार तुमसे कहा था कि पुराना भारत 'इन्दु-देश' यानी चन्द्रमा श कहलाता था। ह्यू एनत्सांङ भी इस बात का ज़िक्र करता है और बतलाता यह नाम कितना उपयुक्त है। चीनी भाषा में भी चन्द्रमा को 'इन-तू' कहते इसलिए अगर तुम चाहो तो अपना चीनी नाम[1] भी रख सकती हो!

ह्यएनत्सांङ ६२९ ई० में भारत आया। चीन से जब इसने अपनी यात्रा की तो इसकी उम्र २६ साल की थी। एक पुरानी चीनी पुस्तक में लिखा है ह्यू एनत्सांङ रूपवान और लम्बे क़द का था: "उसका रंग मनोहर और आँखें कदार थीं; चाल-ढाल गम्भीर और राजसी थी और उसके चेहरे से आकर्षण तेज बरसता था।...उसमें पृथ्वी को घेरनेवाले विशाल समुद्र जैसी शान थी, जल में पैदा होनेवाले कमल-जैसी गम्भीरता और चमक थी।"

बौद्ध-भिक्खु का केसरिया बाना पहनकर यह अकेला अपनी ज़बर्दस्त यात्रा चल पड़ा, हालाँकि चीनी सम्राट् ने इसे इजाज़त नहीं दी थी। इसने गोबी रेगिस्तान पार किया और जब यह सब कठिनाइयाँ झेलकर तुरफ़ान के राज्य हुंचा, जो इस रेगिस्तान के किनारे पर ही था, तो सिर्फ़ इसकी जान ही बाक़ी तुरफ़ान का रेगिस्तानी राज्य संस्कृति का छोटा-सा अजीब नख़लिस्तान[2] आज यह एक वीरान जगह है, जहाँ पुरातत्ववेत्ता और प्राचीन इतिहास- पुराने खण्डहरों की तलाश में ज़मीन खोदते फिरते हैं। लेकिन सातवीं सदी ब ह्यएनत्सांङ यहाँ से गुज़रा था, तब तुरफ़ान जीवन और ऊंचे दर्जे की संस्कृति रपूर था। इसकी संस्कृति में भारत, चीन, ईरान और कुछ अंशों में यूरोप संस्कृतियों का निराला मेल पाया जाता था। यहां बौद्ध-धर्म का प्रचार था

---

[1] इन्दिरा का प्यार का नाम 'इन्दु' है।

[2] नख़लिस्तान—रेगिस्तान में हरी-भरी जगह।

और संस्कृत के मार्फ़त भारतीय प्रभाव भी साफ़ दिखाई देता था। फि
का रहन-सहन ज्यादातर चीन और ईरान से लिया हुआ था। खयाल है
कि यहाँ के निवासियों की भाषा मंगोली होगी, लेकिन यह मंगोली न हो
पीय[1] थी, और यूरोप की केल्टिक[2] भाषाओं से बहुत-कुछ मिलती-
इससे भी ज्यादा अचम्भे की बात यह है कि यहाँ पत्थर की दीवारों पर जो
हैं, उनकी आकृतियाँ यूरोपीय लोगों जैसी हैं। दीवारों पर खुदे हुए बुद्ध
सत्वों, देवियों और देवताओं के ये चित्र बड़े ही सुन्दर हैं। देवियों की मू
भारतीय पोशाक में हैं, या उनके मुकुट और पोशाक यूनानी हैं। फ्रान्स के
एम० ग्राउज़े का कहना है कि "इन चित्रों में हिन्दू सुकुमारता, यूनानी
और चीनी कमनीयता का बहुत ही सुन्दर मेल पाया जाता है।"

तुरफ़ान अब भी है और तुम इसे नक़शे में देख सकती हो।
यह कोई महत्त्व की जगह नहीं है। कितने ताज्जुब की बात है कि इतने
सातवीं सदी में, संस्कृति की भरपूर धाराएँ दूर-दूर के देशों से आकर इस
और मिलकर एकरस हो गईं!

तुरफ़ान से ह्यूएनत्सांङ कूचा गया। यह उस ज़माने में मध्य-ए
दूसरा मशहूर केन्द्र था, जिसकी सभ्यता शानदार व चमक-दमकवाली
जो अपने प्रसिद्ध गायकों और स्त्रियों की सुन्दरता के लिए खासतौर
था। इस देश के धर्म और कला भारत की देन थीं। ईरान इस संस्कृति औ
माल देता था और इसकी भाषा संस्कृत, पुरानी फ़ारसी, लातीनी
से मिलती-जुलती थी। यह भी एक दिल लुभानेवाली मिलावट थी!

इसके बाद ह्यूएनत्सांङ तुर्कों के मुल्क से होकर गुज़रा, जहाँ
खान' जो बौद्ध था, मध्य-एशिया के ज्यादातर हिस्से पर शासन करता
बाद वह समरक़न्द पहुँचा, जो उस समय भी एक प्राचीन शहर माना
और जिसके साथ सिकन्दर की यादगार जुड़ी हुई थी; क्योंकि क़रीब
वर्ष पहले सिकन्दर यहाँ से होकर गुज़रा था। फिर वह बलख गया औ
काबुल नदी का काँठा पार कर कश्मीर होता हुआ भारत आया।

---

[1] भारोपीय—Indo-European अर्थात् भारतीय-यूरोपीय का सं

[2] केल्टिक (Celtic)—कई भाषाओं का एक समूह, जो इ
पियन समूह से सम्बन्ध रखती है और अब प्रधानतः ब्रिटनी वेल्स, पश्चि
लेंड तथा स्काटलैण्ड के ऊँचे इलाक़ों में बोली जाती हैं। सिमरिक और
नामक इसकी दो शाखाएँ हैं। यह मध्यकाल में गद्य-पद्य के प्रचुर साहित्य
थी। रूप और भावों में आरम्भिक केल्टिक बहुत-कुछ लेटिन और ग्रीक से
जुलती थी।

यह चीन में तांङ-राजवंश के शुरू का ज़माना था जब चीन की राजधानी न-फू कला और विद्या का केन्द्र थी और सभ्यता में चीन दुनिया के सब देशों था। इसलिए तुम्हें याद रखना चाहिए कि ह्यू एनत्सांङ बहुत ऊँची सभ्यता देश से आया था, और तुलना करने के लिए उसके पैमाने काफ़ी ऊँचे रहे होंगे। ए भारत की हालतों के बारे में उसका बयान बहुत महत्वपूर्ण और क़ीमती सने भारतवासियों की और भारत के शासन की बहुत तारीफ़ की है। वह है—

"हालाँकि भारत के साधारण लोग स्वभाव से ख़ुश-मिज़ाज होते हैं, फिर भी वे ईमानदार और इज़्ज़तदार हैं। रुपये-पैसे के मामलों में वे मक्कार नहीं हैं और न्याय करने में दयाशील हैं। उनके आचरण में न धोखेबाज़ी है, न विश्वासघात; और ये लोग अपनी क़समों और वादों के पक्के हैं। शासन के नियमों में सिद्धान्तों पर आग्रह विशेषता रखता है, जबकि इसके व्यवहार में सज्जनता और मिठास ज़्यादा रहती है। अपराधियों और विद्रोहियों की संख्या यहां बहुत ही कम है और कभी-कभी ही परेशान करती है।"

वह आगे लिखता है—"चूँकि सरकारी शासन का आधार उदार सिद्धान्तों पर है, इसलिए शासन का ढाँचा पेचीदा नहीं है।...लोगों से बेगार नहीं ली जा सकती।" "इस तरह लोगों पर करों का बोझ हलका है और हरेक व्यक्ति से मामूली काम लिया जाता है। हरेक आदमी अपनी सांसारिक सम्पत्ति का शान्ति से उपभोग करता है, और सभी लोग अपनी रोज़ी के लिए ज़मीन जोतते हैं। जो लोग राजा की ज़मीनों पर खेती करते हैं, उन्हें उपज का छठा हिस्सा लगान में देना पड़ता है। वाणिज्य करनेवाले व्यापारी अपने काम-धन्धों के लिए इधर-उधर आते-जाते हैं, और इस तरह सब काम चलते रहते हैं।"

ह्यू एनत्सांङ ने देखा कि जनता के लिए शिक्षा की अच्छी व्यवस्था थी और की शिक्षा जल्दी शुरू कर दी जाती थी। पहली पोथी खतम करने के बाद या लड़की को सात वर्ष की उम्र से ही पाँच शास्त्रों की पढ़ाई शुरू कर दी थी। आजकल शास्त्र का मतलब सिर्फ़ धर्म-पुस्तक समझा जाता है। लेकिन मय शास्त्र का मतलब सब तरह का ज्ञान था। वे पाँच शास्त्र ये थे—(१) रण, (२) कला-कौशल का शास्त्र, (३) आयुर्वेद, (४) न्याय (तर्कशास्त्र) (५) दर्शन। इन विषयों की पढ़ाई विश्वविद्यालय में होती थी और साधारण र तीस साल की उम्र में पूरी हो जाती थी। मेरा खयाल है कि बहुत-से लोग

इस उम्र तक न पढ़ सकते होंगे। लेकिन यह मालूम होता है कि प्राइमरी फैली हुई थी, क्योंकि सारे भिक्खु और पुजारी शिक्षक हुआ करते थे कोई कमी नहीं थी। ह्यूएनत्सांङ पर भारतवासियों के विद्या-प्रेम का पड़ा था और अपनी सारी पुस्तक में वह इस बात का ज़िक्र करता है।

उसने प्रयाग के बड़े कुम्भ-मेले का भी वर्णन किया है। जब को कभी फिर देखो तो तेरह सौ वर्ष पहले की ह्यूएनत्सांङ की इस यात्रा करना और यह याद करना कि उस समय भी यह मेला बहुत प्राचीन वैदिक काल से चला आ रहा था। अतीत परम्परा के इस प्राचीन बिले में हमारा शहर इलाहाबाद अभी कल का शहर है। इस शहर से कम हुए, अकबर ने बसाया था। प्रयाग इससे बहुत ज्यादा पुराना प्रयाग से भी पुराना वह आकर्षण है, जो हज़ारों वर्षों से लाखों यात्रियों गंगा और यमुना के संगम पर खींच लाता है।

ह्यूएनत्सांङ लिखता है कि बौद्ध होते हुए भी हर्ष इस खास जाया करता था। उसकी तरफ़ से एक शाही आज्ञा-पत्र जारी किया जिसमें 'पंच हिन्द' के सब ग़रीबों और मुहताजों को मेले में आकर उस होने की दावत दी जाती थी। किसी सम्राट् के लिए भी इस तरह देना बड़े हौसले का काम था। कहने की ज़रूरत नहीं कि बहुत आते थे और रोज़ क़रीब एक लाख आदमी हर्ष के मेहमान बनकर थे! इस मेले में हर पंचवें वर्ष हर्ष अपने खजाने की सारी बचत,— रेशम, वग़ैरा जो कुछ उसके पास होता था, सब बाँट देता था। एक अपना राज-मुकुट और क़ीमती पोशाक भी दे डाली थी और अपनी से, एक पुराना मामूली कपड़ा, जो पहले पहना जा चुका था, लेकर

श्रद्धालु बौद्ध होने के नाते हर्ष ने खाने के लिए जानवरों करवा दी थी। ब्राह्मणों ने इस पर शायद ज्यादा ऐतराज़ नहीं बुद्ध के बाद से ये लोग दिन-पर-दिन ज्यादा शाकाहारी होने लगे थे।

ह्यूएनत्सांङ की पुस्तक में एक बड़ी मज़ेदार बात है, जो शायद चस्प मालूम हो। वह लिखता है कि भारत में जब कोई आदमी था, तो वह फ़ौरन सात दिन का उपवास कर डालता था। बहुत लोग के दौरान में ही अच्छे हो जाते थे। लेकिन अगर बीमारी फिर भी लेते थे। उस ज़माने में बीमार पड़ना अच्छी बात नहीं समझी जाती न डॉक्टरों की ही ज्यादा माँग रही होगी।

उस ज़माने में भारत में मार्के का एक पहलू यह था कि राजा और विद्वानों और संस्कारवान् लोगों की बहुत इज्ज़त करते थे। भारत में

विचारकर इस बात की कोशिश की गई, और इसमें खूब सफलता भी हुई, और संस्कृति को इज्ज़त की-जगह मिले, पाशविक बल या धन-दौलत ।

ारत में बहुत वर्ष बीतने के बाद ह्यूएनत्साङ फिर उत्तरी पहाड़ों को हुआ अपने देश लौट गया। सिन्ध नदी में यह डूबते-डूबते बचा और य की बहुत-सी क़ीमती पुस्तकें बह गईं। फिर भी यह हाथ से लिखी बहुत-कें अपने साथ ले गया था और बहुत वर्षों तक इन पुस्तकों के चीनी भाषा द करने में लगा रहा। ताङ-सम्राट् ने सि-अन-फू में उसका हृदय से स्वागत ौर इसी सम्राट् के कहने पर इसने अपनी यात्रा का हाल लिखा था।

सने तुर्कों का भी हाल लिखा है, जिन्हें इसने मध्य-एशिया में देखा था। नया क़बीला था, जो आगे चलकर पश्चिम की तरफ़ बढ़कर बहुत-सी ों को उलटनेवाला था। इसने यह भी लिखा है कि सारे मध्य-एशिया विहार पाये जाते थे। सच तो यह है कि बौद्ध विहार ईरान, इराक़, खुरा- ासल और ठेठ सीरिया की सरहद तक फैले हुए थे। ईरानियों के बारे में ाङ लिखता है—"ईरानी लोग विद्या पढ़ने की परवा नहीं करते, बल्कि ारा वक़्त कला की चीज़ें बनाने में लगाते हैं। जो चीज़ें ये बनाते हैं, आस- देश उनकी बड़ी क़द्र करते हैं।"

उस ज़माने के यात्री कितने अद्भुत होते थे! आजकल की अफ़्रीका के मार्गों की या उत्तरी ध्रुव या दक्षिणी ध्रुव की यात्राएँ तक भी पुराने की इन लम्बी-चौड़ी यात्राओं के मुक़ाबले में तुच्छ नज़र आती हैं। पहाड़ों गिस्तानों को पार करते हुए और वर्षों अपने मित्रों और परिवार से बिछुड़े लोग मंज़िल-दर-मंज़िल आगे बढ़ते जाते थे। शायद कभी-कभी इन्हें अपने याद भी आती थी। लेकिन उनमें इतना आत्म-गौरव था कि इस बात को पर भी नहीं लाते थे। फिर भी एक यात्री ने अपने मन की हल्की-सी झलक है। उसने लिखा है कि जब वह एक दूर देश में खड़ा था; उसे अपने घर की ाई, और वह व्याकुल हो गया। इस यात्री का नाम सुङ्युन था और यह में ह्यूएनत्साङ से सौ वर्ष पहले आया था। वह गान्धार के पहाड़ी देश में था, रत के उत्तर-पश्चिम में है। वह लिखता है—'शीतल मन्द समीर, चिड़ियों ों, वसन्त ऋतु के सौन्दर्य में सजे हुए पेड़, बहुत-से फूलों पर फुदकती हुई याँ—एक दूर देश में इस मनोहर दृश्य को देखकर सुङ्युन के मन में घर की ट आई और इन विचारों ने उसे इतना उदास कर दिया कि वह बुरी तरह पड़ गया!

: ४४ :

दक्षिण भारत के अनेक राजा और योद्धा और एक महापुरुष

सम्राट् हर्ष की ६४८ ई० में मृत्यु हुई। लेकिन उसकी मौत
भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर बिलोचिस्तान में एक छोटा-सा
देने लगा था। यह छोटा-सा बादल उस भारी तूफ़ान का हरकारा था,
एशिया, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी यूरोप पर चढ़ा आ रहा था।
नया पैग़म्बर हो गया था। उसका नाम मुहम्मद था। उसने एक नये
प्रचार किया, जिसे इस्लाम कहते हैं। अपने इस नये मज़हबी जोश
और अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा रखते हुए, ये अरब-निवासी मुल्कों
हुए तेज़ी के साथ महाद्वीपों को पार करते चले आ रहे थे। यह एक
का काम था और हमें इस नये बल पर ग़ौर करना चाहिए, जिसने
पर इतना असर डाला। लेकिन इस पर विचार करने से पहले हमें
का दौरा करना चाहिए, और यह जानने की कोशिश करनी चाहिए
वहाँ की क्या हालत थी। हर्ष के समय में अरबी मुसलमान
और उन्होंने थोड़े ही दिन बाद सिन्ध पर क़ब्ज़ा कर लिया। लेकिन
और अगले तीन सौ वर्षों तक भारत पर मुसलमानों का कोई
हुआ। और फिर जो हमला हुआ भी वह अरबों का काम नहीं था,
एशिया के कुछ क़बीलों का काम था, जो मुसलमान हो गये थे।

इसलिए हम दक्षिण की ओर चलते हैं। भारत के पश्चिम में
में चालुक्य-साम्राज्य था। इसमें ज्यादातर महाराष्ट्र के प्रदेश थे और
धानी बदामी था। ह्युएनत्साङ्ग महाराष्ट्रियों की और उनकी
तारीफ़ करता है। वह लिखता है कि ये लोग "युद्ध-प्रिय और
वाले, उपकार के लिए एहसानमन्द और अपकार का बदला लेनेवाले
चालुक्यों को उत्तर में हर्ष की, दक्षिण में पल्लवों की, और पूर्व में
थाम करनी पड़ती थी। पर इनकी शक्ति बढ़ती गई और ये समुद्र के
दूसरे किनारे तक फैल गये। लेकिन बाद में राष्ट्रकूटों ने उन्हें पीछे

इस तरह दक्षिण भारत में बड़े-बड़े साम्राज्य और राज्य
रहे। कभी इनके पलड़े बराबर हो जाते, और कभी उनमें से कोई
दूसरे को दबा देता। पाण्ड्य राजाओं के समय में मदुरा संस्कृति का
था। यहाँ तमिल भाषा के कितने ही कवि और लेखक जमा हो गये थे।

प्राचीन पुस्तकें ईसवी सन् के शुरू की लिखी हुई हैं। पल्लवों के भी कभी दिन थे। इनकी राजधानी कांचीपुर थी, जिसे आजकल कांजीवरम् कहते शिया में नया उपनिवेश बसाने में बहुत-कुछ इन्हीं का हाथ था।

इसके बाद चोल-साम्राज्य शक्तिशाली हो गया और नवीं सदी के बीच ग इसने दक्षिण भारत पर प्रभुत्व जमा लिया। यह एक समुद्री शक्ति र इसके पास बहुत बड़ी जल-सेना थी, जिससे इसने बंगाल की खाड़ी और ागर पर प्रभुत्व क़ायम कर लिया था। इसका मुख्य बन्दरगाह कावेरी- ू कावेरी नदी के मुहाने पर बसा था। विजयालय चोल-साम्राज्य का पहला राजा था। चोल उत्तर की ओर फैलते गये, पर अन्त में राष्ट्रकूटों ने उन्हें हरा दिया। लेकिन राजराजा ने चोल राज-वंश को फिर से ताक़तवर उसकी खोई हुई शान फिर क़ायम कर दी। यह दसवीं सदी के अन्त की जब उत्तर भारत में मुसलमानों के हमले हो रहे थे। सुदूर उत्तर में जो हो रही थीं, उनका प्रभाव राजराजा पर कुछ नहीं पड़ा, और वह अपने य को बढ़ाने की कोशिश में बराबर लगा रहा। उसने लंका को जीता, लों ने वहाँ सत्तर वर्ष राज्य किया। राजराजा का पुत्र राजेन्द्र भी उसी की बर्दस्त और लड़ाकू था। उसने दक्षिण बर्मा को जीता। इसके लिए वह अपने ड़ाई के हाथियों को जहाज़ों में लादकर ले गया था। उसने उत्तर भारत धावा मारा और बंगाल के राजा को हरा दिया। इस प्रकार चोल-साम्राज्य स्तार बहुत फैल गया। गुप्त-साम्राज्य के बाद सबसे बड़ा साम्राज्य यही था। यह बहुत दिन तक टिक नहीं सका। राजेन्द्र एक महान् योद्धा था, लेकिन होता है कि वह बड़ा ज़ालिम भी था, और जिन राज्यों को उसने जीता, दिलों को जीतने की उसने कोशिश नहीं की। राजेन्द्र ने १०१३ ई० से ई० तक राज किया। उसकी मृत्यु के बाद बहुत-से अधीन राजाओं के ने चोल-साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

अपनी इन सैनिक सफलताओं के अलावा चोल लोग बहुत दिनों तक अपने व्यापार के लिए मशहूर थे। उनके बनाये हुए सुन्दर सूती कपड़ों की बड़ी ी। उनका बन्दरगाह कावेरीपड्डिनम् बड़े चहल-पहल की जगह था। यहाँ देशों से माल लेकर जहाज़ आते थे और यहाँ से माल ले जाते थे। वहाँ पर यानी यूनानियों की भी एक बस्ती थी। महाभारत में भी चोलों का ज़िक्र जाता है।

मैंने दक्षिण भारत के कई सौ वर्षों का हाल, जहाँ तक हो सका संक्षेप में, ताने की कोशिश की है। थोड़े शब्दों में कहने की इस कोशिश से शायद तुम में पड़ जाओगी। लेकिन हमारे पास इतना समय नहीं है कि हम अलग-अलग

राज्यों और राजवंशों की भूल-भुलैया में खो जायँ। हमें तो संसार पर
है और अगर उसके एक छोटे-से हिस्से में ही ज्यादा वक़्त गँवा दें,
हिस्सा वही क्यों न हो जहाँ हम रहते हैं, तो हम बाक़ी हिस्सों का
ही न कर सकेंगे।

लेकिन राजाओं और उनकी विजयों से भी ज्यादा महत्वपूर्ण
की संस्कृति और कला का लेखा है। उत्तर भारत की बनिस्वत दक्षिण
सम्बन्ध रखनेवाले बहुत ज्यादा अवशेष पाये जाते हैं। उत्तर की
गारें, इमारतें और पत्थर की मूर्तियाँ युद्धों और मुसलमानी हमलों में
दक्षिण भारत में ये चीजें मुसलमानों के पहुँचने के बाद भी बच गईं।
की बात है कि उत्तर भारत की बहुत-सी सुन्दर यादगारें नष्ट कर
मुसलमान उत्तर भारत में आये—और याद रक्खो कि वे मध्य एशिया
थे न कि अरब के—उनमें अपने मजहब के लिये जोश भरा था और
नष्ट कर देना चाहते थे। लेकिन इन मूर्तियों के नष्ट हो जाने की शायद
वजह थी कि पुराने मन्दिरों से क़िलों और गढ़ों का काम लिया जाता था।
बहुत-से मन्दिर अब भी क़िलों की तरह मालूम होते हैं, जहाँ लोग हम
अपना बचाव कर सकते हैं। इस तरह, ये मन्दिर पूजा के अलावा और
से कामों में आते थे। मन्दिरों में ही गाँव के स्कूल होते थे, गाँव की
थी, पंचायतघर होता था, और अन्त में अगर जरूरत होती तो दुश्म
के लिए वे ही क़िले हो जाते थे। इस तरह गाँव की सारी ज़िन्दगी मन्दि
ओर घूमा करती थी और ऐसी हालत में इन मन्दिरों के पुजारी और
कुदरती तौर पर सबके ऊपर रौब जमाते थे। लेकिन इस बात से कि
से कभी-कभी क़िलों का काम भी लिया जाता था, तो हम समझ
मुसलमान हमलावर मन्दिरों को क्यों नष्ट कर देते थे।

इसी जमाने का बना हुआ एक सुन्दर मन्दिर तंजौर में है, जिसे
राजराजा ने बनवाया था। बदामी में भी बहुत सुन्दर मन्दिर हैं, और
में भी। लेकिन उस जमाने की सबसे अद्भुत इमारत वेरूळ (एलोरा)
मन्दिर है, जो चट्टान काटकर बनाने की कारीगरी का चमत्कार है। इस
बनाने का काम आठवीं सदी के आखिरी हिस्से में शुरू हुआ था। काँसे की
भी बहुत-से सुन्दर नमूने मिलते हैं। इनमें नटराज यानी शिव के ताण्ड
मूर्ति बहुत मशहुर है।

चोल-सम्राट् राजेन्द्र प्रथम ने चोलापुर में सिंचाई के लिए एक
बाँध बनवाया जो ठोस चूने का था और सोलह मील लम्बा था। बाँध
के बनने के सौ वर्ष बाद एक अरब यात्री अलबेरूनी वहाँ गया और

हो गया। वह लिखता है—"हमारे देशवासी इन्हें देखकर ताज्जुब करते उनका बयान नहीं कर पाते, इनके समान कोई चीज़ बनाना तो दूर रहा।"

मैंने इस पत्र में कई राजाओं और राजवंशों का ज़िक्र किया है, जिन्होंने कुछ क शान का जीवन बिताया और फिर ग़ायब और विस्मृत हो गये। लेकिन समय दक्षिण भारत में इससे भी ज़्यादा निराले व्यक्ति ने जन्म लिया, जिसने की ज़िन्दगी में सारे राजाओं व सम्राटों से भी ज़्यादा महत्व का हिस्सा है। वह नवयुवक शंकराचार्य के नाम से मशहूर है। शायद वह आठवीं सदी त में पैदा हुआ था। मालूम होता है कि वह एक अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति वह हिन्दू-धर्म के, या हिन्दू-धर्म के एक विशेष बुद्धिवादी रूप के, जिसे शैव मत हैं, पुनरुद्धार में लग गया। वह अपनी बुद्धि और तर्क के बल पर बौद्ध-धर्म लाफ़ लड़ा। बौद्ध-संघ की तरह इसने भी संन्यासियों का संघ बनाया, जिसमें ातियों के लोग शामिल हो सकते थे। उसने संन्यासियों के संघ के चार केन्द्र के उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व के चारों कोनों में स्थापित किये। उसने भारत की यात्रा की, और जहाँ-कहीं भी वह गया, सफल हुआ। वह एक विजेता प में बनारस आया। पर वह बुद्धि को जीतनेवाला और तर्क में जीतनेवाला ा था। अन्त में वह हिमालय पर केदारनाथ गया, जहाँ सदा जमी रहनेवाली की शुरूआत होती है, और वहीं उसकी मृत्यु हुई। जब वह मरा उसकी उम्र बत्तीस वर्ष या शायद इससे कुछ ही ज़्यादा थी।

शंकराचार्य के कामों का लेखा अद्भुत है। बौद्ध-धर्म, जो उत्तर भारत से ण भगा दिया गया था, अब भारत से क़रीब-क़रीब ग़ायब हो गया। हिन्दू- और शैव-मत कहलानेवाला उसका एक रूप सारे देश में फैल गया। शंकर त्यों, भाष्यों और तर्कों से सारे देश में बौद्धिक हलचल मच गई। शंकर सिर्फ़ णों ही का महान् नेता नहीं बन गया, बल्कि मालूम होता है, उसने जन-साधा- के चित्त को भी मोह लिया। यह एक असाधारण बात मालूम होती है कि कोई मी सिर्फ़ अपनी बुद्धि के बल पर एक महान् नेता बन जाय, और फिर करोड़ों मियों पर और इतिहास पर अपनी छाप डाल दे। बड़े योद्धा और विजेता हास में नाम कर जाते हैं। वे या तो लोकप्रिय हो जाते हैं या नफ़रत के पात्र, कभी-कभी वे इतिहास को भी ढालते हैं। महान् धार्मिक नेताओं ने करोड़ों दिलों को हिला दिया है और उनमें जोश की आग भर दी है। लेकिन यह सब हमेशा श्रद्धा के आधार पर हुआ है। उन्होंने भावनाओं को अपील की है और र असर डाला है।

मन और बुद्धि को जो अपील की जाती है, उसका असर बहुत ज़्यादा नहीं ा। बदक़िस्मती से ज़्यादातर लोग विचार नहीं करते; वे तो सिर्फ़ महसूस

करते हैं और अपनी भावनाओं के मुताबिक़ बर्ताव करते हैं। लेकि अपील मन और बुद्धि को और विवेक को ही होती थी। यह किसी पु में लिखे रूढ़ मत का दोहराना नहीं था। उसका तर्क ठीक था या विचार इस समय फ़िज़ूल है। दिलचस्पी की वात तो यह है कि समस्याओं पर बुद्धिवादी तरीक़े से विचार किया। और इससे भी चस्प बात यह है कि इस तरीक़े के बावजूद भी उसने सफलता पाई। उस समय के शासक-वर्गों की मनोदशा की एक झलक मिलती है।

शायद तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम हो कि हिन्दू दार्शनि व्यक्ति चार्वाक नाम का भी हुआ है, जिसने अनीश्वरवाद का प्रचार यानी जो कहा करता था कि ईश्वर नहीं है। आज बहुत-से ऐसे आद कर रूस में, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते। लेकिन यहाँ हमें इस गहराई में जाने की जरूरत नहीं है। मतलव की वात यह है कि पुरा भारत में विचार और प्रचार की कितनी आज़ादी थी। उस वक़्त वह जिसे ईमान की आज़ादी कहा जाता है। यह वात यूरोप में अभी त और आज भी इस मामले में कुछ पावन्दियाँ हैं।

शंकर की थोड़ी लेकिन सरगर्म ज़िन्दगी से दूसरी सचाई यह है कि सारे भारत में सांस्कृतिक एकता थी। यह एकता प्राचीन इतिहा तार मानी गई है। भूगोल के लिहाज़ से, तुम जानती हो, भारत एक इकाई है। राजनीतिक लिहाज़ से भारत अक्सर टुकड़ों में बँटा रहा है कभी-कभी सारा देश एक ही केन्द्रीय सत्ता के अधीन भी रहा। लेकि के लिहाज़ से यह देश हमेशा से एक रहा, क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि, इसकी इसके मज़हव, इसके वीर और वीरांगनाएँ, इसकी पौराणिक गाथ विद्वत्ता से भरी भाषा (संस्कृत), देशभर में विखरे हुए इसके तीर्थस्था ग्राम-पंचायतें, इसकी विचारधारा, और इसकी शासन-प्रणाली, शुरू चले आ रहे हैं। औसत भारतवासी की नज़र में सारा भारत 'पुण्यभूमि बाक़ी की दुनिया में ज़्यादातर म्लेच्छ और वर्वर लोग रहते थे। इस तरह की एक आम भावना पैदा हुई है, जिसने देश के राजनीतिक विभाजनों परवा नहीं की; वल्कि उनपर विजय हासिल की। यह वात ख़ासतौर हो सकी कि गाँवों में पंचायती राज की प्रथा क़ायम रहीं, ऊपर चाहे परिवर्तन क्यों न होते रहे हों।

शंकर का अपने मठों यानी संन्यासियों के संघ के आश्रमों के लिए चारों कोनों को चुनना, इस बात का सबूत है कि वह भारत को सांस्कृ समझता था। और उसके आन्दोलन की थोड़े ही समय में सारे देश

ता यह भी ज़ाहिर करती है कि बुद्धिवादी और संस्कृति की धाराएँ कितनी से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँच जाती थीं।

शंकर ने शैवमत का प्रचार किया। यह मत दक्षिण में ख़ासतौर से फैला, ज़्यादातर पुराने मन्दिर शिव के हैं। उत्तर में गुप्तों के ज़माने में वैष्णवधर्म ौर कृष्ण-भक्ति का फिर से भारी प्रचार हुआ। हिन्दू-धर्म के इन दोनों सम्प्र- के मन्दिर एक दूसरे से बिलकुल जुदे हैं।

यह पत्र बहुत बड़ा हो गया। लेकिन मुझे अब भी मध्यकालीन भारत के में बहुत-कुछ कहना बाक़ी है। इसलिए यह काम दूसरे पत्र के लिए मुल्तवी देना ठीक होगा।

: ४५ :

मध्य युगों का भारत

१४ मई, १९३२

तुम्हें याद होगा मैंने तुमसे अशोक के दादा चन्द्रगुप्त मौर्य्य के प्रधान मन्त्री क्य या कौटिल्य के लिखे हुए अर्थशास्त्र का ज़िक्र किया था। इस ग्रन्थ में उस ने की शासन-प्रणाली और उस ज़माने के लोगों के बारे में सब तरह की बातें ी हैं, मानो एक खिड़की खुल गई हो, जिसमें से हम ईसा पूर्व की चौथी सदी ारत की एक झाँकी देख सकते हैं। ऐसी पुस्तकें, जिनमें प्रशासन की अन्दरूनी ों का ब्यौरेवार हाल हो, बादशाहों और उनकी देश-विजयों के बहुत बढ़ाकर किये गए बयानों से कहीं ज़्यादा उपयोगी होती हैं।

एक दूसरी भी पुस्तक है, जिससे मध्य युगों के भारत के बारे में हम कुछ ाज़ा लगा सकते हैं। यह शुक्राचार्य का नीतिसार है। वैसे यह पुस्तक इतनी ी और सहायक नहीं, जितना कि अर्थशास्त्र है; लेकिन कुछ इसकी मदद से कुछ शिलालेखों और दूसरे विवरणों की मदद से, हम ईसा के बाद की नवीं दसवीं सदी की एक झाँकी देखने की कोशिश करेंगे।

नीतिसार में लिखा है कि "न तो वर्ण से, और न कुलीनता से ब्राह्मणोचित उत्पन्न होते हैं।" इसलिए इस ग्रन्थ के अनुसार जाति-भेद जन्म से नहीं, बल्कि से होना चाहिए। एक दूसरी जगह इसमें लिखा है—"राजकीय नियुक्तियाँ ति समय जाति या कुल का नहीं बल्कि कर्म, चरित्र और योग्यता का विचार ना चाहिए।" राजा को चाहिए कि वह खुद अपने मत के अनुसार नहीं बल्कि ता के बहुमत के अनुसार काम करे। "लोकमत राजा से भी ज़्यादा शक्तिशाली

है, जैसे बहुत-से रेशों की बनी हुई रस्सी शेर को भी घसीटने की
है।"

ये सब बड़े बढ़िया सूत्र हैं और कोरे सिद्धान्तों की तरह अ हैं। लेकिन सचाई यह है कि व्यवहार में ये हमारे बहुत ज्यादा काम न माना कि गुण और योग्यता से आदमी ऊँचा उठ सकता है, लेकिन योग्यता हासिल कैसे करे? कोई लड़का या लड़की भले ही काफ़ी उचित शिक्षा व प्रशिक्षण से चतुर और कुशल भी शायद बन जाय; पढ़ने-लिखने या सिखाने का कोई इन्तज़ाम ही न किया जाय तो वे या लड़की क्या करे?

इसी तरह लोकमत क्या है? किसका मत लोकमत समझा जा 'नीतिसार' का लेखक शूद्रों की बड़ी संख्या को मत देने का हक़दार न था। इन लोगों की कोई गिनती नहीं थी। शायद सिर्फ़ ऊँचे और शा मत ही लोकमत समझा जाता था।

फिर भी यह बात ध्यान देने लायक़ है कि पहले की तरह ही की भारतीय शासन-प्रणाली में राजाओं की निरंकुशता या उनके दै के लिए कोई जगह नहीं थी।

इस पुस्तक में राजा की राज्य-परिषद् का, सार्वजनिक निर्माण व जंगलों के अधिकारियों का, क़स्बों व गाँवों के संगठित जीवन का, पु धर्मशालाओं, सड़कों और शहर या गाँव के लिए सबसे ज्यादा महत्व का भी ज़िक्र है।

गाँव के मामलों में गाँव की पंचायत को पूरा अधिकार था और कर्मचारी पंचों की बड़ी इज्ज़त करते थे। पंचायत ही खेती के लिए थी, लगान वसूल करती थी और गाँव की तरफ़ से सरकार को मालगु करती थी। इन सबके ऊपर शायद एक बड़ी पंचायत या महासभा हो इन छोटी पंचायतों की निगरानी करती थी और ज़रूरत पड़ने पर उन में दखल भी देती थी। इन पंचायतों को अदालती अधिकार भी हासि अदालतों की हैसियत से काम कर सकती थीं और लोगों के मुक़दमों कर सकती थीं।

दक्षिण भारत के पुराने शिलालेखों से पता लगता है कि पंचों कैसे होता था, कौन-कौन लोग पंच बन सकते थे और कौन-कौन नहीं कोई पंच सार्वजनिक धन का हिसाब नहीं देता था, तो वह पंच होने बैठता था। दूसरा एक बहुत दिलचस्प क़ायदा शायद यह था कि पंचों के रिश्तेदार नौकरियाँ नहीं पा सकते थे। अगर यही क़ायदा आज हमारी

म्बलियों और म्युनिसिपैलिटियों में लागू कर दिया जाय तो कितना अच्छा । एक समिति के सदस्यों में एक स्त्री का नाम भी आया है। इससे जाहिर ा है कि स्त्रियाँ भी पंचायतों और उनकी समितियों की सदस्य बन सकती

पंचायतों के चुने हुए सदस्यों में से समितियाँ बनाई जाती थीं और हरेक ति साल भर के लिए होती थी। अगर कोई सदस्य बेजा हरकत करता था वह फ़ौरन हटा दिया जाता था।

ग्रामीण स्वराज्य की यह प्रणाली आर्य-शासन-व्यवस्था की बुनियाद थी। की वजह से उसमें इतनी मज़बूती थी। गाँव की ये पंचायतें अपनी स्वतन्त्रता रक्षा के लिए इतनी जागरूक थीं कि यह क़ायदा बना दिया गया था कि बिना ाज्ञा के कोई भी सिपाही किसी गाँव में घुस नहीं सकता था। नीतिसार में ा है कि अगर प्रजा राजा से किसी कर्मचारी की शिकायत करे, तो राजा को हिए कि वह अपनी प्रजा का पक्ष ले, न कि अपने कर्मचारी का।" और अगर -से लोग किसी कर्मचारी की शिकायत करें तो उसे बरख़ास्त कर देना चाहिए, कि नीतिसार में लिखा है, "अधिकार का मद पीकर किसको नशा नहीं ा ?" बुद्धिमानी की ये बातें ख़ासकर आज हमारे देश के उन ढेरों अफ़सरों लागू होती दिखाई देती हैं, जो ईमानदारी से काम नहीं करते और हमारे र बुरी हुकूमत करते हैं!

बड़े शहरों में, जहाँ बहुत-से दस्तकार और व्यापारी रहते थे, व्यापारियों दस्तकारों के संघ या निकाय होते थे। यानी दस्तकारों और साहूकारों की यां होती थीं और व्यापारियों के निगम होते थे। धार्मिक संस्थाएँ तो थीं ही। सब संस्थाओं का अपने अन्दरूनी मामलों पर बहुत काफ़ी नियन्त्रण रहता

राजा के लिए यह हिदायत थी कि जनता पर हलके कर लगावे, जिससे नुक़सान न पहुँचे और उसपर भारी बोझ न पड़ जाय। राजा को टैक्स उस वसूल करने चाहिए जैसे माला बनानेवाला जंगल के पेड़ों से फूल और ाँ चुनता है, जलाकर कोयला बनानेवाले की तरह नहीं।

ऐसा बिखरा हुआ हाल हमें भारत के मध्य युगों के बारे में मिलता यह पता लगाना ज़रा मुश्किल है कि पुस्तकों में नीति की जो बातें लिखी , उनपर किस हद तक अमल होता था। पुस्तकों में ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों और ों की बातें लिखना बहुत आसान होता है, लेकिन जिन्दगी में उनपर अमल मुश्किल होता है। पर इन पुस्तकों में हमें उस ज़माने के लोगों के आदर्शों विचारों को समझने में मदद मिलती है, चाहे वे इन पर पूरी तरह अमल न

कर पा सके हों। हमें यह पता चलता है कि राजा और शासक निरंकुश थे; चुनी हुई पंचायतें उनके अधिकारों पर नियन्त्रण रखती थीं। हमें चलता है कि गाँवों और शहरों में स्वशासन की प्रणाली काफ़ी उन्न केन्द्रीय सरकार उसमें कोई दखल नहीं देती थी।

लेकिन जब मैं जनता की विचारधारा की या स्वशासन की हूँ, तब इसका मतलब क्या है? भारत का सारा समाजी ढाँचा जाति-प्रथा हुआ था। सिद्धान्त में, सम्भव है, जाति-व्यवस्था कठोर न रही जैसा कि नीतिसार में लिखा है, गुण और कर्म के अनुसार मानी जाती लेकिन असल में इस सिद्धान्त के कुछ अर्थ नहीं रह गये थे। ब्राह्मण ही शासक-वर्ग या शासक जातियाँ थीं। कभी-कभी इनमें आपस में प्र झगड़े होते थे। लेकिन ज़्यादातर ये लोग मिल-जुलकर शासन करते एक-दूसरे का लिहाज़ रखते थे। पर दूसरी जातियों को ये दबाये रखते धीरे जब व्यापार-वाणिज्य बढ़े, व्यापारी वर्ग धनवान और महत्त्वपूर्ण और जब इसका महत्व बढ़ा तो इसे कुछ रियायतें मिल गईं और अपने के अन्दरूनी मामलों को निबटाने के अधिकार मिल गये। लेकिन फिर को राज्य-सत्ता का कोई असली हिस्सा नहीं मिला। और बेचारे शूद्र सबसे नीचे बने रहे। कुछ लोग इनमें से भी ज़्यादा नीच समझे जाते

कभी-कभी नीची जातियों के लोग भी ऊँचाई पर पहुँच जाते थे। तक भी हुए हैं। लेकिन ऐसा बहुत ही कम होता था। समाजी जीने उठने का तरीक़ा अक्सर यह था कि कोई उपजाति सारी-की-सारी ऊपर उठ जाती थी। नये क़बीले पहले नीची जातियों में शामिल धर्म में घुल-मिल जाते थे और फिर धीरे-धीरे ऊँचे उठते जाते थे।

इस तरह तुम देखोगी कि भारत में हालाँकि पश्चिम की तरह गुलामी न थी, फिर भी हमारा सारा समाजी ढाँचा दर्जों में बँटा हुआ एक के ऊपर एक वर्ग बने हुए थे। ऊपर के सब लोग नीचे दर्जे के लोगों करते थे और उसका सारा बोझ इन्हें सहना पड़ता था। और ऊपर बेचारे नीचे के लोगों की शिक्षा का या कोई काम सीखने का मौक़ा देते थे ताकि यह व्यवस्था हमेशा बनी रहे और सारे अधिकार उन्हीं क़ायम रहें। गाँव की पंचायतों में शायद किसानों की कुछ चलती थी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी; लेकिन यह बहुत सम्भव है कि कुछ ब्राह्मण इन पंचायतों पर भी हावी रहे हों।

आर्यों की यह पुरानी शासन-प्रणाली तबसे चली आती थी, भारत में क़दम रक्खा और द्रविड़ों के सम्पर्क में आये और यह उन

म रही, जिनका हम ज़िक्र कर रहे हैं। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि गिरावट र कमज़ोरी का सिलसिला बराबर जारी था। शायद यह व्यवस्था जर्जर हो थी, और बाहर से होनेवाले विदेशी हमलों ने इसे धीरे-धीरे घिस डाला।

तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि पुराने ज़माने में भारत ने गणित में उन्नति की थी और उस समय के बड़े गणितज्ञों में एक स्त्री—लीलावती का नाम लिया जाता है। कहते हैं कि लीलावती और उसके पिता भास्कराचार्य और शायद एक दूसरे व्यक्ति ब्रह्मगुप्त ने, सबसे पहले दाशमिक प्रणाली ली थी। बीजगणित भी भारत में ही निकला बताया जाता है। भारत से यह गया, और अरब से यूरोप पहुँचा। बीजगणित का अंग्रेज़ी नाम 'एलजब्रा' ी शब्द है।

: ४६ :

शानदार अंकोर और श्रीविजय

१७ मई, १९३२

अब थोड़ी देर के लिए सुदूर भारत की सैर करें। सुदूर भारत उन उपनिवेशों बस्तियों को कहते हैं जो दक्षिण भारत के लोगों ने मलेशिया और हिन्द- में जाकर क़ायम की थीं। मैं पहले बता चुका हूँ कि ये बस्तियाँ किस तरह ा करके व्यवस्थित ढंग से बसाई गई थीं। ये कोई आप-ही-आप नहीं बन गई इरादा करके कई जगह एक साथ उपनिवेशों का बसाया जाना ज़ाहिर करता उस ज़माने में समुद्र-यात्राएँ खूब होती होंगी और समुद्री रास्तों पर काफ़ी कार रहा होगा। मैंने तुम्हें बताया है कि ये उपनिवेश ईसवी सन् की 'पहली दूसरी सदी में शुरू हुए थे। ये सब हिन्दू उपनिपेश थे और इनके नाम दक्षिण ीय थे। कई सदियों के बाद यहाँ बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे फैला और सारा िया हिन्दू से बौद्ध हो गया।

पहले हम हिन्द-चीन को चलें। सबसे पुराने उपनिवेश का नाम चम्पा था, यह अनाम में था। हमें पता चलता है कि ईसा की तीसरी सदी में अनाम में रंगम् शहर बढ़ रहा था और यहीं दो सौ वर्ष बाद काम्बोज का भी एक बड़ा बसाया गया। इसमें पत्थर की आलीशान इमारतें और मन्दिर थे। इन ीय उपनिवेशों में सब जगहों पर आलीशान इमारतें बन रही थीं। इमारतें वाले शिल्पकार और राजगीर भारत से समुद्र पार ले जाये गए होंगे और लोगों ने वहाँ इमारतें बनाने में भारत की परम्पराओं को जारी रक्खा। जुदा राज्यों और टापुओं में इमारतें बनाने के मामले में खूब होड़ चली और होड़ के नतीजे से ऊँचे दर्जे की कला का विकास हुआ।

इन उपनिवेशों में रहनेवाले लोग स्वभाव से ही समुद्र-यात्री थे। या इनके पुरखों ने, यहाँ पहुँचने के लिए समुद्र तो पार किया ही इनके चारों ओर समुद्र-ही-समुद्र था। समुद्र-यात्री लोग बहुत आसानी करने लगते हैं, इसलिए ये लोग भी व्यापारी और सौदागर हो गये सौदा बहुत-से टापुओं को, पश्चिम में भारत को और पूर्व में चीन को, इसलिए मलेशिया के बहुत-से राज्यों पर ज्यादातर व्यापारी-वर्गों का इन राज्यों में आपस में अक्सर संघर्ष होते रहते थे। बड़े-बड़े युद्ध और भी होते थे। कभी कोई हिन्दू-राज्य, किसी बौद्ध-राज्य के खिलाफ़ युद्ध था। लेकिन मालूम होता है कि उस जमाने के इन बहुत-से युद्धों की व्यापारिक होड़ रही होगी। जैसे आजकल बड़ी-बड़ी शक्तियों में देश के बने माल को खपाने के लिए मण्डियों के लिए युद्ध होते हैं।

लगभग तीन सौ वर्षों तक, यानी आठवीं सदी तक, हिन्द-चीन में अलग हिन्दू राज्य थे। नवीं सदी में एक बहुत बड़ा राजा हुआ, जयवर्मन था। इसने इन राज्यों को एक कर दिया और एक बहुत बड़ा क़ायम किया। यह शायद बौद्ध था। इसने अपनी राजधानी अंकोर शुरू किया और इसके उत्तराधिकारी यशोवर्मन ने उसे पूरा किया। साम्राज्य क़रीब ४०० वर्ष तक क़ायम रहा। जैसा सब साम्राज्यों के जाता है, यह भी बड़ा ताक़तवर और शानदार साम्राज्य समझा 'अंकोर थोम' का राजनगर सारे पूर्व में 'शानदार अंकोर' के नाम से इसकी आबादी दस लाख से ऊपर थी, जो सीज़रों के रोम से ज्यादा पास ही 'अंकोर वात' का अद्भुत मन्दिर था। तेरहवीं सदी में काम्बोज दिशाओं से हमला हुआ। अनामी लोगों ने पूर्व की ओर से हमला पश्चिम की ओर से यहीं के क़बीलों ने। उत्तर में शान लोगों को मंगोलों की ओर खदेड़ दिया था और भागने का कोई दूसरा रास्ता न देख काम्बोज पर हमला कर दिया। यह राज्य इस तरह, बराबर लड़ाई और अपनी हिफ़ाजत करते-करते, बिलकुल पस्त हो गया। फिर भी का एक सबसे ज्यादा शानदार शहर बना रहा। १२९७ ई० में, एक जो काम्बोज के राजा के दरबार में भेजा गया था, अंकोर की अद्भुत बड़ी तारीफ़ की है।

लेकिन अचानक अंकोर पर भयंकर आफ़त आ गई। १३०० ई० दलदल जमा हो जाने से मीकांग नदी का मुहाना बन्द हो गया। नदी बहने का रास्ता न मिलने से वह पीछे लौटकर इस विशाल शहर के की ज़मीन में भर गया, जिससे सारे उपाजाऊ खेत दलदल बनकर

की बड़ी आबादी भूखों मरने लगी और शहर छोड़कर दूसरी जगहों पर के लिए मजबूर हो गई। इस तरह शानदार अंकोर उजड़ गया और उस पर छा गया। उसकी अद्भुत इमारतों में कुछ दिनों तक तो जंगली जानवरों स रहा, लेकिन अन्त में जंगलों ने महलों को मिट्टी में मिलाकर निष्कण्टक क़ायम कर लिया।

काम्बोज राज्य इस आफ़त के बाद बहुत दिनों तक ज़िन्दा नहीं रह सका। रे-धीरे नष्ट होते-होते एक प्रान्त रह गया जिस पर कभी अनाम हुकूमत था और कभी स्याम। लेकिन आज भी अंकोरवात के विशाल मन्दिर डहर हमें बताते हैं कि कभी इस मन्दिर के पास एक बाँका और आलीशान बसा हुआ था, जहाँ दूर देशों के सौदागर अपना माल लेकर आते थे जहाँ के निवासियों और कारीगरों की बनाई हुई बढ़िया चीज़ें दूसरे देशों ाया करती थीं।

हिन्द-चीन से थोड़ी ही दूर समुद्र के उस पार सुमात्रा का टापू था। यहाँ क्षिण भारत के पल्लवों ने ईसा की पहली और दूसरी सदी में अपने नये उप- बसाये थे। ये उपनिवेश धीरे-धीरे बढ़ गये। मलाया का प्रायद्वीप बहुत ही सुमात्रा राज्य का हिस्सा बन गया था और उसके बाद बहुत दिनों तक ा और मलाया प्रायद्वीप के इतिहास आपस में मिले-जुले रहे। श्रीविजय बड़ा शहर, जो सुमात्रा के भीतर पहाड़ों में बसा हुआ है, इस राज्य की ानी था। पालेमबांग नदी के मुहाने पर इसका एक बन्दरगाह था। पाँचवीं ठी सदी में बौद्धधर्म सुमात्रा का प्रमुख धर्म बन गया। वास्तव में सुमात्रा द्धधर्म के प्रचार में बड़े उत्साह से अगुवाई की और आख़िर में यह हिन्दू मलेशिया ादातर हिस्से को बौद्ध बनाने में सफल भी हुआ। इसीलिए सुमात्रा का यह ाज्य 'श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य' कहलाता है।

श्रीविजय दिन-पर-दिन बढ़ता ही गया, यहाँ तक कि उसके दायरे में सुमात्रा मलाया ही नहीं, बल्कि फ़िलीपाइन, बोर्नियो, सेलेबीज़, जावा का आधा ा, फ़ारमोसा टापू का आधा हिस्सा (जो अब जापान के क़ब्ज़े में हैं),[1] लंका कैन्टन के पास दक्षिण चीन का एक बन्दरगाह भी आ गया। शायद इस ाज्य में भारत के दक्षिणी सिरे पर लंका के सामने का एक बन्दरगाह भी ल था। तुम देखोगी कि श्रीविजय का साम्राज्य एक लम्बा-चौड़ा साम्राज्य जिसमें सारा मलेशिया शामिल था। इन भारतीय उपनिवेशों के मुख्य धन्धे णिज्य, व्यापार और जहाज़ बनाना। उस ज़माने के चीनी और अरबी लेखकों

---

[1] फ़ारमोसा—इसे ताइवान भी कहते हैं। यहाँ की सरकार अपने-आपको ी चीनी गणराज्य मानती है।

ने उन बन्दरगाहों और उपनिवेशों की लम्बी सूचियाँ दी हैं जो सुमात्रा मातहती में थे। ये सूचियाँ बढ़ती चली गईं।

ब्रिटिश साम्राज्य आज सारी दुनिया में फैला हुआ है। हर बन्दरगाह हैं और जहाज़ों के लिए कोयला भरने के अच्छे स्टेशन हैं, जैसे स्वेज़ नहर, जिस पर ज़्यादातर अंग्रेज़ों का, क़ब्ज़ा है, [1]अदन, कोलम्बो,[2] हांगकांग, वग़ैरा। अंग्रेज़ लोग पिछले तीन सौ वर्षों में एक व्यापारी और इनका व्यापार और मज़बूती समुद्री शक्ति पर निर्भर रही है। लोगों को दुनिया भर में सुविधा के फ़ासलों पर बन्दरगाहों और कोयला स्टेशनों की ज़रूरत रही है। श्रीविजय साम्राज्य भी व्यापार की बुनियाद समुद्री शक्ति था। इसलिए जहाँ उसे क़दम रखने के लिए छोटी-सी भी गई वहीं उसने बन्दरगाह बना लिया। वास्तव में सुमात्रा-राज्य की निराली बात यह थी कि वे सामरिक महत्व रखती थीं, यानी वे साथ ऐसी जगहों पर बसाई गई थीं जहाँ से आस-पास के समुद्रों पर जा सके। कहीं-कहीं ये बस्तियाँ जोड़े से बसाई गई थीं, ताकि समुद्रों पर में एक दूसरी की मदद कर सकें।

इस तरह सिंगापुर, जो आज बहुत बड़ा शहर है, शुरू में सुमात्रा वेशियों की एक बस्ती था। 'सिंहपुर' : यह नाम ठेठ भारतीय है। जलडम उस पार सिंगापुर के सामने सुमात्रा के लोगों की एक दूसरी बस्ती थी कभी ये लोग इस जलडमरूमध्य के आर-पार लोहे की जंज़ीर डाल देते थे जहाज़ों का आना-जाना रोक देते थे, जब तक कि वे भारी चुंगी अदा न

इस तरह श्रीविजय का साम्राज्य ब्रिटिश साम्राज्य से कुछ मिल था, हालाँकि यह इससे बहुत छोटा ज़रूर था। लेकिन यह जितने दिनों रहा उतने दिनों तक ब्रिटिश साम्राज्य के बने रहने की सम्भावना नहीं है हवीं सदी में यह साम्राज्य अपनी उन्नति की आख़िरी सीढ़ी पर था। क़रीब वही ज़माना था जब दक्षिण भारत में चोल-साम्राज्य का बोलबा लेकिन श्रीविजय का साम्राज्य चोल-साम्राज्य के बहुत समय बाद तक रहा। इन दोनों में बहुत दिनों तक दोस्ती रही। दोनों ही लड़ाकू समुद्र- के राज्य थे। दोनों की ही साम्राज्यवादी आकांक्षाएँ थीं और ताक़तवर

---

[1] अब स्वेज़ नहर पर संयुक्त अरब गण-राज्य का अधिकार हो

[2] लंका के स्वतन्त्र हो जाने के कारण कोलम्बो पर से भी अंग्रेज़ों कार ख़त्म हो गया है।

[3] सिंगापुर को भी १९५९ में औपनिवेशिक स्वराज्य दिया गया है असली नाम सिंहपुर है।

दूर-दूर के देशों के साथ उनके व्यापारिक सम्बन्ध थे। इसलिए ग्यारहवीं सदी में इन दोनों में संघर्ष हुआ और युद्ध ठन गया। चोल राजा राजेन्द्र प्रथम ने हाजी बेड़ा भेजा, जिसने श्रीविजय को नीचा दिखाया। लेकिन श्रीविजय ने ही इस धक्के से गिरी हुई हालत को सुधार लिया।

ग्यारहवीं सदी के शुरू में चीनी सम्राट् ने सुमात्रा के राजा के लिए काँसे घण्टे उपहार में भेजे थे। इसके बदले में सुमात्रा के राजा ने मोती, हाथीदाँत संस्कृत की पुस्तकें भेजी थीं। एक पत्र भी भेजा था जो, कहते हैं, सोने की चादर भारतीय लिपि' में लिखा गया था।

दूसरी सदी में अपनी शुरूआत से लगाकर पाँचवीं या छठवीं सदी तक जय लम्बे काल तक फूला-फला। फिर यह बौद्ध हो गया और फिर ग्यारहवीं तक धीरे-धीरे बराबर तरक्क़ी करता गया। इसके बाद भी तीन सौ वर्षों ह एक महान् साम्राज्य बना रहा और मलेशिया के व्यापार-वाणिज्य पर अधिकार बना रहा। अन्त में १३७७ ई० में एक पुराने पल्लव उपनिवेश ने तख्ता उलट दिया।

मैं बता चुका हूँ कि श्रीविजय-साम्राज्य लंका से लगाकर चीन के कैन्टन तक फैला हुआ था। इन दोनों के बीच के ज्यादातर टापू इस साम्राज्य में ल थे। लेकिन यह एक छोटे-से टुकड़े को क़ाबू में नहीं ला सका। यह जावा वाँ हिस्सा था, जो एक स्वाधीन राज्य बना रहा। इसने हिन्दू-धर्म को भी नहीं और बौद्ध बनने से इन्कार कर दिया। इस तरह जहाँ पश्चिमी जावा जय के अधीन था वहाँ पूर्वी जावा स्वाधीन था। पूर्वी जावा का यह हिन्दू-भी व्यापारी राज्य था और अपनी खुशहाली के लिए व्यापार पर निर्भर था। सिंगापुर को ईर्ष्या की नज़र से देखता रहा होगा, क्योंकि मौक़े की जगह पर होने से वह एक बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र हो गया था। इस तरह श्रीविजय पूर्वी जावा में लाग-डाँट पैदा हुई और बढ़कर कट्टर दुश्मनी बन गई। बारहवीं से आगे जावा राज्य धीरे-धीरे श्रीविजय को दबाकर बढ़ता रहा, यहाँ तक जैसा मैं लिख चुका हूँ, चौदहवीं सदी में, यानी १३७७ ई० में, इसने श्रीविजय पूरी तरह हरा दिया। यह युद्ध बड़ी बेरहमी से लड़ा गया, और इसमें बड़ा श हुआ। श्रीविजय और सिंगापुर, दोनों नगर तहस-नहस हो गये। इस मलेशिया के दूसरे महान् साम्राज्य—श्रीविजय साम्राज्य का अन्त हुआ, इसके खण्डहरों पर मज्जापहित का तीसरा साम्राज्य क़ायम हुआ।

हालाँकि पूर्वी जावा के निवासियों ने श्रीविजय के साथ युद्ध में बहुत बेरहमी क्रूरता दिखाई, फिर भी जावा में पाई गई उस ज़माने की पुस्तकों से मालूम है कि यह हिन्दू-राज्य सभ्यता के बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँच चुका था। जिस में यह सबसे बढ़ा-चढ़ा था वह इमारतें बनाने की, खासकर मन्दिर बनाने

की, कला थी। जावा में पाँच सौ से ज्यादा मन्दिर थे, और कहा जाता मन्दिरों में कुछ ऐसे थे, जो पत्थर के काम के दुनिया भर में सबसे और कलापूर्ण नमूने थे। इन बड़े-बड़े मन्दिरों में से ज्यादातर सातवीं सदी, यानी ६५० से ९५० ई० के बीच के समय में बने थे। इन विशाल बनवाने के लिए जावा के लोगों ने भारत और आस-पास के देशों से संख्या में होशियार राजगीर और मिस्त्री बुलाये होंगे। जावा और उतार-चढ़ाव का ज़िक्र मैं अगले पत्र में करूँगा।

यहाँ मैं यह भी बता दूं कि बोर्नियो और फ़िलीपाइन दोनों ने कला शुरू के पल्लव उपनिवेशियों के मार्फ़त भारत से सीखी थी। फ़िलीपाइन की बहुत-सी पुरानी हस्त-लिखित पुस्तकें स्पेनवालों ने नष्ट कर

यह भी याद रक्खो कि इन टापुओं में बहुत पुराने ज़माने से, भी बहुत पहले, अरबों की बस्तियाँ थीं। ये लोग बड़े व्यापारी होते थे, कहीं व्यापार की गुंजाइश होती वहाँ अरब लोग ज़रूर पहुँच जाते थे।

: ४७ :

रोम फिर अन्धकार में गिरता है

१९ मई,

मैं कई बार महसूस करता हूँ कि पुराने इतिहास की भूल-भुलैया अच्छी तरह रास्ता नहीं दिखा सकता। मैं खुद ही भटक जाता हूँ, फिर राह कैसे दिखा सकता हूँ ? लेकिन, फिर मैं यह सोचता हूँ कि शायद मैं फ़ायदा पहुँचा सकूं, इसलिए इन पत्रों को जारी रखता हूँ। इसमें शक पत्र मेरी तो बहुत मदद करते हैं। प्यारी बेटी, जब मैं इन्हें लिखने तुम्हारा खयाल करता हूँ, तो मैं भूल जाता हूँ कि जहाँ मैं बैठा हूँ, भी तापमान ११२ डिग्री है और गर्म लू चल रही है। और कभी-कभी भी भूल जाता हूँ कि मैं बरेली की ज़िला जेल में हूँ।

मेरे आखिरी पत्र ने तुम्हें मलेशिया में चौदहवीं सदी के ठेठ अन्त दिया था। लेकिन उत्तर भारत में अभी हम राजा हर्ष के ज़माने यानी सदी से आगे नहीं बढ़ सके हैं। और यूरोप में तो हमें अभी बहुत दिनों पूरी करनी है। सब जगहों पर वक़्त का एक ही पैमाना रखना बहुत मैं ऐसा करने की कोशिश तो करता हूँ, लेकिन कभी-कभी, जैसे श्रीविजय के मामले में हुआ, मैं सैकड़ों वर्ष आगे बढ़ जाता हूँ, ताकि कहानी को पूरा कर सकूं। लेकिन याद रक्खो कि जब काम्बोज के और के साम्राज्य पूर्व में फल-फूल रहे थे तब भारत, चीन और यूरोप में परिवर्तन हो रहे थे। यह भी याद रक्खो कि मेरे पिछले पत्र में कुछ ही

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

ीन और मलेशिया का एक हज़ार वर्ष का इतिहास समाया हुआ है। एशिया ूरोप के इतिहास की मुख्य धाराओं से ये दूर पड़ जाते हैं, इसलिए इनपर ध्यान नहीं दिया जाता। लेकिन इनका इतिहास लम्बा और शानदार है। शान नई सफलताओं में, व्यापार में, कला में, ख़ासकर मकान बनाने की में, रही है। इसलिए इनका इतिहास अध्ययन करने के क़ाबिल है। भारत-ों के लिए तो इनकी कहानी ख़ास दिलचस्पी की चीज़ होनी चाहिए, क्योंकि ज़माने में ये क़रीब-क़रीब भारत के ही हिस्से थे। भारत के स्त्री-पुरुष समुद्र करके अपने साथ भारतीय संस्कृति, सभ्यता, कला और धर्म वहाँ ले गये थे।

इस तरह, हालाँकि, हम मलेशिया में आगे बढ़ गये, पर असल में हम अभी तक ीं सदी में ही हैं। हमें अभी अरब पहुँचना है और इस्लाम के आगमन पर, और ी वजह से यूरोप और एशिया में होनेवाले बड़े-बड़े परिवर्तनों पर, ग़ौर करना सके अलावा यूरोप की घटनाओं के सिलसिले पर भी हमें नज़र डालनी है।

अब हमें ज़रा लौटकर यूरोप पर फिर एक नज़र डाल लेनी चाहिए। तुम्हें होगा कि रोमन सम्राट् कॉन्स्तेन्तीन ने क़ुंस्तुन्तुनिया शहर दर्रे-दानियाल फ़ोरस) के किनारे उस जगह बसाया था, जहाँ बिज़ैन्तियम था। साम्राज्य राजधानी पुराने रोम से हटा कर, वह इस शहर में, यानी नये रोम में, ले था। इसके बाद ही रोमन साम्राज्य दो हिस्सों में बँट गया। पश्चिमी ाज्य की राजधानी रोम और पूर्वी की क़ुंस्तुन्तुनिया हुई। पूर्वी साम्राज्य को परेशानियाँ उठानी पड़ीं और बहुत-से दुश्मनों का मुक़ाबला करना पड़ा। भी ताज्जुब है कि यह सदियों तक, यानी ११०० वर्षों तक चलता रह सका, क कि तुर्कों ने आकर इसका ख़ात्मा नहीं कर दिया।

पश्चिमी साम्राज्य की ज़िन्दगी ऐसी नहीं रही। बहुत दिनों तक पश्चिमी या पर हावी रह चुकनेवाले शाही नगर रोम का और रोम के नाम का इतना ा रौब होते हुए भी यह साम्राज्य अजीब तेज़ी के साथ ढह गया। यह किसी भी री क़बीले के हमलों को बर्दाश्त नहीं कर सका। एलरिक, जो गोथ जाति का इटली में घुस गया, और इसने ४१० ई० में रोम पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसके वाण्डाल आये और उन्होंने भी रोम को लूटा। वाण्डाल जर्मन जाति के थे। ने फ़्रान्स और स्पेन को पार किया और फिर अफ़्रीका में घुसकर कार्थेज के हरों पर अपना राज्य क़ायम किया। पुराने कार्थेज से इन लोगों ने समुद्र पार कि रोम पर क़ब्ज़ा कर लिया। ऐसा मालूम होता है, मानो प्यूनिक लड़ाइयों रोम की विजय का इतने दिन बाद बदला लिया गया हो।

इसी ज़माने के लगभग हूण लोग, जो असल में मध्य एशिया या मंगोलिया आये थे, बड़े शक्तिशाली हो गये थे। ये लोग घुमक्कड़ थे और डैन्यूब नदी के

पूर्व की तरफ़ और पूर्वी रोमन साम्राज्य के उत्तर व पश्चिम में बस गये सरदार अतिला की मातहती में इन्होंने बड़ा ज़ोर बाँधा और सम्राट् और वहाँ की सरकार पर इनका आतंक बराबर छाया रहता इनको धमकियाँ देता रहता था और इनसे बड़ी-बड़ी रक़में ऐंठता पूर्वी साम्राज्य को काफ़ी नीचा दिखाने के बाद अतिला ने पश्चिमी हमला करने का इरादा किया। उसने गाल प्रदेश पर हमला किया फ़ान्स के बहुत-से शहर बरबाद कर दिये। शाही फ़ौज तो उसके मुक़ाबले ही नहीं थी। लेकिन वे जर्मन क़बीले जिन्हें रोमन लोग बर्बर कहते थे, हमले से डर गये। इसलिए फ़्रैंकों और गोथों ने रोम की शाही फ़ौज का और इन सबने मिलकर त्राय की बड़ी लड़ाई में हूणों का, जिनका सेनापति था, मुक़ाबला किया। कहते हैं, इस लड़ाई में डेढ़ लाख आदमी काम आये हार गया और मंगोली हूण पीछे हटा दिये गए। यह ४५१ ई० की बात है हार जाने पर भी अतिला में लड़ाई का जोश बाक़ी रह गया था। वह इट और वहाँ उसने उत्तर के बहुत-से शहर लूटे और जला दिये। कुछ दिनों वह मर गया, लेकिन हमेशा के लिए बेरहमी और क्रूरता की बदनामी आज भी अतिला हूण क्रूरताभरे, सत्यानाश का अवतार समझा जाता है मृत्यु के बाद हूण ठण्डे पड़ गये। वे खेतीबाड़ी करने लगे, और दूसरों आबादियों में मिल-जुल गये। तुम्हें ख़याल होगा कि यह क़रीब-क़रीब हैं, जब सफ़ेद हूण भारत में आये थे।

इसके ४० वर्ष बाद थियोदोरिक, जो गोथ था, रोम का बादशाह यही एक तरह से रोम के पश्चिमी साम्राज्य का अन्त था। थोड़े दिनों रोमन साम्राज्य के एक बादशाह ने, जिसका नाम जस्तीनियन था, इटली साम्राज्य में मिलाने की कोशिश की। इस कोशिश में वह सफल भी हुआ सिसली और इटली दोनों को जीत लिया। लेकिन कुछ ही समय बाद ये हाथ से निकल गये, और पूर्वी साम्राज्य को अपनी ही ज़िन्दगी के लाले

क्या शाही रोम और उसके साम्राज्य का इतनी जल्दी और इतनी से हरेक हमलावर क़बीले के सामने पस्त हो जाना ताज्जुब की बात नहीं है कोई यही नतीजा निकालेगा कि रोम के अंजर-पंजर ढीले पड़ गये थे, या कुल खोखला था। शायद यह बात सही है। बहुत लम्बे ज़माने तक रोम ही उसकी ताक़त थी। उसके पुराने इतिहास से प्रभावित होकर लोग दुनिया का नेता समझने लगे थे और उसकी इज़्ज़त करते थे। रोम क़रीब-क़रीब अन्ध-विश्वास बन गया था। इस तरह रोम ज़ाहिरा साम्राज्य का शक्तिशाली स्वामी बना रहा; लेकिन असलियत में

कत नहीं थी। बाहर से शान्ति थी और उसके नाटकघरों में, बाज़ारों में और में आदमियों की भीड़ें लगी रहती थीं! लेकिन वह लाज़िमी तौर पर तरफ़ जा रहा था, सिर्फ़ इसलिए नहीं कि वह कमज़ोर था; बल्कि इसकि उसने जनता की ग़ुलामी और मुसीबतों की बुनियाद पर अमीरों की का महल खड़ा किया था। मैंने अपने एक पत्र में रोम के ग़रीबों के विद्रोह वे का, और ग़ुलामों के उस विद्रोह का, जो बड़ी क्रूरता से दबा दिया गया लिखा था। इन विद्रोहों से ज़ाहिर होता है कि रोम का समाजी ढाँचा ड़ा हुआ था। वह अन्दर-ही-अन्दर टूक-टूक हो रहा था। गोथ और दूसरे बीलों के हमलों ने इस क्रिया को मदद पहुँचाई और इसीलिए उनका ध नहीं किया गया। रोमन किसान अपनी मुसीबतों से तंग आ गये थे किसी भी तरह के परिवर्तन का स्वागत करने के लिए तैयार थे। ग़रीब और ग़ुलाम तो और भी बदतर हालत में थे।

श्चिम के रोमन साम्राज्य के ख़त्म होते ही, हम देखते हैं कि पश्चिम ौमें गोथ, फ़्रैंक, वग़ैरा आगे आईं, जिनके नाम गिनाकर मैं तुम्हें परेशान । ये लोग आजकल की पश्चिमी यूरोपीय जातियों यानी जर्मन, फ़्रान्सीसी, पूर्वज थे। हम इन देशों को यूरोप में धीरे-धीरे शक्ल लेता हुआ देखते ही हम उस समय वहाँ एक बहुत नीचे दर्जे की सभ्यता पाते हैं। शाही रोम के साथ-साथ रोम की तड़क-भड़क और विलासिता का भी अन्त हो गया, की छिछली सभ्यता, जो घिसटती आ रही थी, एक दिन में ग़ायब हो गई; सकी जड़ें तो पहले ही सूख चुकी थीं। इस तरह हम सचमुच मनुष्य जाति टने की एक विचित्र मिसाल देखते हैं। यही चीज़ हमें भारत, मिस्र, चीन, म और दूसरी जगहों पर देखने को मिलती है। मेहनत के साथ ज्ञान भव इकट्ठे किये जाते हैं और संस्कृति और सभ्यता बनती है और उसके म गति रुक जाती है। सिर्फ़ गति ही नहीं रुक जाती बल्कि पीछे लौटना ाता है। अतीत के ऊपर एक परदा-सा पड़ जाता है और हालाँकि कभीउसकी झलक मिल जाती है, लेकिन ज्ञान और अनुभव के पहाड़ पर फिर ज़रूरी हो जाता है। शायद हर बार लोग कुछ ऊपर चढ़ जाते हैं और चढ़ाई आसान कर देते हैं; ठीक वैसे ही जैसे हिमालय की सबसे ऊँची स्ट पर चढ़ाई करने के लिए टोली के बाद टोली आती है, और हर टोली वाली टोली की बनिस्बत चोटी के ज़्यादा नज़दीक पहुँचने में सफल ौर हो सकता है कि एक दिन इस चोटी पर विजय हासिल कर ली जाय।

लब यह है कि यूरोप में हमें अँधेरा दिखाई देता है। 'अन्धकार का युग' है और लोगों की ज़िन्दगी असभ्य और बेढंगी हो जाती है। शिक्षा

क़रीब-क़रीब ग़ायब हो जाती है और लड़ाई के सिवा लोगों का मनोरंजन नहीं रह जाता। सुक़रात और अफ़लातून का ज़माना दूर नज़र आता है।

यह तो पश्चिमी साम्राज्य की बात हुई। आओ, अब पूर्वी भी नज़र दौड़ायें। तुम्हें याद होगा कि कॉन्स्तेन्तीन ने ईसाइयत बना दिया था। इसके एक उत्तराधिकारी सम्राट् जूलियन ने ईसाइ से इन्कार कर दिया। वह पुराने देवी-देवताओं की पूजा के जाना चाहता था। लेकिन वह सफल न हो सका क्योंकि पुराने दे दिन बीत चुके थे और ईसाइयत उनके मुक़ाबले में बहुत ज़्यादा जूलियन को ईसाई लोग 'काफ़िर जूलियन' कहने लगे और इसी इतिहास में मशहूर है।

जूलियन के बाद एक दूसरा सम्राट् हुआ, जो उससे बिलकुल का था। उसका नाम थियोदोसी था और उसे 'महान्' कहा गया है। उसे महान् इसलिए कहा गया है कि वह देवी-देवताओं की पुरा पुराने मन्दिरों को तोड़ने में महान् था। वह सिर्फ़ ग़ैर-ईसाइयों के ही था, बल्कि उन ईसाइयों का भी दुश्मन था, जो इसके ख़याल से वह कोई भी विचार या धर्म, जो उसे पसन्द न होता था, उसे सहन नहीं था। थियोदोसी ने थोड़े दिनों के लिए पूर्वी और पश्चिमी साम्रा दिया और वह दोनों का सम्राट् बन गया। यह ३९२ ई० की बा रोम पर बर्बरों का हमला नहीं हुआ था।

ईसाई मज़हब बराबर फैलता गया। इसकी लड़ाइयाँ अब नहीं थीं। जो कुछ लड़ाई-झगड़े होते थे, वे सब ईसाई फ़िरक़ों में आ करते थे और इन लोगों की असहिष्णुता की मात्रा को देखकर ता सारे उत्तरी अफ़्रीका, पश्चिमी एशिया, और यूरोप में भी, बहु मैदानों में ईसाइयों ने, अपने ईसाई भाइयों को घूँसों, डण्डों और तरह के दूसरे 'नर्म' उपायों के ज़रिये सच्चा धर्म सिखाने की को

५२७ से ५६५ ई० तक जस्तीनियन क़ुस्तुन्तुनिया में सम्राट् बता चुका हूँ कि उसने गोथों को इताली (इटली) से निकाल दि दिनों के लिए इताली और सिसली पूर्वी साम्राज्य के हिस्से बन में गोथों ने इताली पर क़ब्ज़ा कर लिया।

जस्तीनियन ने क़ुस्तुन्तुनिया में सांक्ता सोफ़िया का ख़ूबसूरत जो आज तक सबसे बढ़िया बिज़ैन्तीन गिरजों में गिना जाता है। के तमाम क़ानूनों को एक जगह इकट्ठा कराया और योग्य

वार जमवाया। पूर्वी रोमन साम्राज्य और उसके सम्राटों के बारे में कुछ भी से बहुत पहले मुझे इस क़ानूनी किताब से जस्तीनियन का नाम मालूम हुआ। ताब का नाम 'इन्स्टीटयूट ऑफ़ जस्तीनियन' है और मुझे यह पढ़नी पड़ी लांकि जस्तीनियन ने क़ुंस्तुन्तुनिया में एक विश्वविद्यालय क़ायम किया, किन उसने एथेन्स की अकादमी यानी दर्शनशास्त्र के पुराने स्कूल बन्द करा जो अफ़लातून ने क़ायम किये थे, और जो क़रीब एक हज़ार वर्ष से चले थे। किसी भी रूढ़िवादी मज़हब के लिए दर्शनशास्त्र ख़तरनाक चीज़ है, क्योंकि इसकी वजह से लोग सोचने-विचारने लगते हैं।

अब हम छठी सदी तक आ पहुँचे हैं। हम देखते हैं कि रोम और तुनिया धीरे-धीरे एक-दूसरे से दूर होते जाते हैं। रोम पर तो उत्तर के जर्मन का कब्ज़ा हो जाता है, और क़ुंस्तुन्तुनिया रोमन साम्राज्य कहलानेवाले साम्राज्य का केन्द्र हो जाता है। रोम टूक-टूक होकर अपने उन विजेताओं म्यता के नीचे दर्जे को पहुँच जाता है, जिन्हें वह अपनी शान के ज़माने में कहा करता था। क़ुंस्तुन्तुनिया ने एक तरह से अपनी पुरानी परम्परा जारी लेकिन वह भी सभ्यता के दर्जे में नीचे गिर जाता है। ईसाई फ़िरक़े प्रभुत्व ए आपस में लड़ते हैं, और पूर्वी ईसाइयत, जो तुर्किस्तान, चीन और हब्श[1] ल गई थी, क़ुंस्तुन्तुनिया और रोम दोनों से अलग कट जाती है। 'अन्धकार ' शुरू होता है। इस समय तक अगर कोई शिक्षा थी तो प्राचीन भाषाओं नी यूनानी या पुरानी लातीनी की जिसे यूनानी से प्रेरणा मिली। लेकिन ये यूनानी किताबें, जिनमें देवी-देवताओं का हाल था और दर्शन की बातें स शुरू के ज़माने के नेक, श्रद्धालु और अनुदार ईसाइयों के लिए ठीक साहित्य समझी जाती थीं। इसलिए इनको पढ़ने के लिए कोई बढ़ावा नहीं दिया जाता इस तरह विद्या को और कला के भी कई रूपों को नुक़सान उठाना पड़ा।

लेकिन ईसाइयत ने विद्या और कला की रक्षा करने की भी कुछ कोशिश बौद्ध संघों की तरह ईसाई मठ क़ायम हुए और तेज़ी से फैल गये। इन मठों मी-कमी पुरानी विद्या को ठिकाना मिल जाता था। इन्हीं मठों में कुछ, नई का भी बीज बोया गया, जो सदियों बाद अपने पूरे सौन्दर्य से खिली। इन के पादरियों ने विद्या और कला के दीपक की टिमटिमाहट को बुझने नहीं । यह बुझने न देना ही इनकी सेवा है। लेकिन यह रोशनी एक छोटे दायरे ही बन्द थी; बाहर तो बिलकुल अँधेरा था।

ईसाइयत के इस शुरू ज़माने में हमें एक और अजीब झुकाव दिखाई देता । बहुत-से लोग मज़हबी जोश में आकर आदमी की आबादियों से दूर, रेगिस्तानों

---

[1] हब्श—एबीसीनिया।

में या सुनसान जगहों में चले जाते थे, और वहाँ जंगली हालत में रहे अपने-आपको पीड़ा पहुँचाते थे; नहाते-धोते नहीं थे और ज्यादा-से- सहने की कोशिश करते थे। यह बात मिस्र में ख़ासतौर से पाई जा इस क़िस्म के बहुत-से दरवेश रेगिस्तान में रहा करते थे। इनका शाय था कि वे जितनी ही ज्यादा पीड़ा सहेंगे और जितना ही कम नहायेंगे ही ज्यादा पवित्र हो जायँगे। एक दरवेश तो कई वर्षों तक एक खम्भे रहा! धीरे-धीरे इस तरह के दरवेशों का सिलसिला ख़त्म हो गया, दिनों तक बहुत-से श्रद्धालु ईसाइयों का विश्वास बना रहा कि कि का आनन्द मनाना पाप है। कष्ट-सहन के इस सिद्धान्त ने ईसाइयों की को रँग दिया था। यूरोप में आज इस तरह की कोई बात नहीं दि आज तो वहाँ यह हाल है कि हरेक आदमी पागल की तरह इधर- और मौज-बहार की ज़िन्दगी गुज़ारने पर उतारू है। अक्सर इस दौड़-धूप में थकावट और उचाट पैदा हो जाती है, मज़ा नहीं हासिल होता।

पर भारत में आज भी हम कभी-कभी लोगों को वैसा ही देखते हैं, जैसाकि मिस्र में ये ईसाई दरवेश किया करते थे। ये लोग हाथ ऊपर उठाये रहते हैं, यहाँतक कि वह सूखकर बेकार हो जाता है, कीलों पर बैठे रहते हैं, या इसी तरह के बहुत-से बेहूदा और बेवक़ूफ़ी के हैं। मेरा ख़याल यह है कि कुछ तो ऐसा इसलिए करते हैं कि नासम धाक जमाकर उनसे पैसे वसूल करें, और कुछ लोगों की शायद यह मान है कि ऐसा करने से वे पवित्र हो जायँगे! मानो अपने शरीर को किसी के नाक़ाबिल बना लेना भी कोई अच्छी बात हो सकती है!

यहाँ मुझे बुद्ध की एक कथा याद आती है, जिसके लिए मुझे पुराने मित्र ह्युएनत्सांङ का सहारा लेना पड़ता है। बुद्ध का एक नौजव तपस्या कर रहा था। बुद्ध ने उससे पूछा, "प्रिय युवक जब तुम दुनि तब क्या वीणा बजाना जानते थे?" उसने कहा, "जी हाँ!" तब बुद्ध ने

> "अच्छा मैं इससे एक उपमा देता हूँ। जिस वीणा के तार कसे होते हैं, उसमें स्वरों का उतार-चढ़ाव ठीक नहीं होता। जब तार होते हैं तो स्वरों में न संगति होती है, न मधुरता। लेकिन जब वीणा तार न तो ज्यादा कसे होते हैं और न ज्यादा ढीले तब उनसे मधुर स्व निकलते हैं। यही हाल शरीर का भी है। अगर इसके साथ कठोरता व्यवहार किया जाता है, तो यह थक जाता है, और चित्त अस्थिर हो जा है। अगर इसे बहुत अधिक आराम दिया जाता है तो वासनाएँ बढ़ने लग हैं और इच्छाशक्ति कमज़ोर पड़ जाती है।"

: ४८ :

इस्लाम का उदय

२१ मई, १९३२

हमने कई देशों के इतिहास पर और कई राज्यों व साम्राज्यों के उत्थान व पर विचार किया। लेकिन अरब देश का क़िस्सा अभी तक हमने नहीं छेड़ा, य इस ज़िक्र के कि इस देश के व्यापारी और नाविक दुनिया के दूर-दूर हिस्सों या करते थे। नक़शे को देखो। अरब के पश्चिम में मिस्र है, उत्तर में सीरिया) और इराक़ हैं, पूर्व से कुछ दूरी पर ईरान है और उत्तर-पश्चिम में कुछ टकर एशिया-कोचक और क़ुस्तुन्तुनिया हैं। यूनान भी दूर नहीं है और भारत समुद्र के उस पार दूसरी तरफ़ है। चीन और सुदूर पूर्व के मुल्कों का अगर याल न करें, तो अरब देश पुरानी सभ्यताओं के लिहाज़ से बिलकुल बीचों-बीच राक़ में दजला और फ़ुरात नदियों के किनारे बड़े-बड़े शहर बस गये। मिस्र न्दरिया, सीरिया में दमिश्क और एशिया-कोचक में अन्तिओक जैसे बड़े- हर बसे। अरब लोग यात्रा-पसन्द और व्यापारी थे, इसलिए वे इन शहरों सर जाया करते होंगे। फिर भी इतिहास में अरब का कोई नामी भाग नहीं मालूम होता है कि इस देश की सभ्यता भी उतनी ऊँचे दर्जे की नहीं रही ी कि उसके आस-पास के देशों की। अरब ने न तो दूसरे देशों को जीतने ोशिश की, और न उसको ही जीतना किसीके लिए आसान था।

अरब एक रेगिस्तानी मुल्क है, और रेगिस्तानों और पहाड़ों में पलनेवाले मज़बूत होते हैं, जिन्हें अपनी आज़ादी प्यारी होती है और जिन्हें आसानी से ा नहीं जा सकता। फिर अरब कोई उपजाऊ देश नहीं था, और इसमें कोई चीज़ भी नहीं थी, जो विदेशी विजेताओं या साम्राज्यवादियों को खींचती। बस सिर्फ़ दो छोटे-छोटे नगर थे, मक्का और यथरीब, जो समुद्र के किनारे ए थे। बाक़ी रेगिस्तान के भीतर सिर्फ़ वास-स्थान थे और इस देश के लोग वर बद्दू, 'रेगिस्तान के बाशिन्दे' थे। तेज़ ऊँट और ख़ूबसूरत घोड़े इनके पहर के साथी थे और अद्भुत सहनशक्तिवाला गधा भी एक क़ीमती चीज़ वफ़ादार दोस्त समझा जाता था। किसी को गधे की उपमा देना तारीफ़ जाता था; दूसरे देशों की तरह कोई गाली नहीं। क्योंकि किसी रेगि- मुल्क में ज़िन्दगी बड़ी सख़्त होती है और दूसरी जगहों की बनिस्बत वहाँ ी और सहन-शक्ति कहीं ज़्यादा क़ीमती गुण समझे जाते हैं।

रेगिस्तान के ये बाशिन्दे आत्माभिमानी, भावुक और झगड़ालू होते थे। ये अपने वंशों और ख़ानदानों में रहते थे, और दूसरे वंशों और ख़ानदानों से

झगड़ा करते थे। साल में एक बार ये लोग आपस में सुलह कर लेते थे औ के लिए मक्का जाया करते थे, जहाँ इनके देवताओं की बहुत-सी मूर्तियां सबसे ज्यादा वे एक बड़े भारी काले पत्थर[1] की पूजा करते थे, जि 'काबा' था।

इन लोगों की ज़िन्दगी घुमक्कड़ों की ज़िन्दगी थी, जिसमें ह का सबसे बूढ़ा आदमी सरदार होता था। इनकी ज़िन्दगी उसी क़िस्म की शहरी जीवन और सभ्यता अपनाने के पहले मध्य एशिया या दूसरी आदिम क़बीले बसर किया करते थे। अरब के चारों तरफ़ जितने बड़े-ब बने, उन सबकी सल्तनत में अक्सर अरब देश भी शामिल होता था। अधीनता असली न होकर सिर्फ़ नाम के लिए होती थी। क्योंकि घुमक्कड़ क़बीलों को दबाकर रखना या उनपर हुकूमत करना कोई आसान बा

तुम्हें शायद याद होगा कि एक बार सीरिया में पालमीरा में ए अरब सल्तनत क़ायम हुई थी, और ईसवी सन् की तीसरी सदी में, थो लिए इसका एक शानदार ज़माना रहा था। लेकिन यह भी मुख्य बा थी। मतलब यह कि बद्दू लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी रेगिस्तानी ज़िन्द रहते थे, अरबी जहाज़ व्यापार के लिए बाहर जाते थे, और देश का किसी परिवर्तन के चलता रहता था। कुछ लोग ईसाई हो गये थे, और लेकिन ज्यादातर लोग ३६० मूर्तियों के, और मक्का के संगे-असवद के ही बने रहे।

यह अजीब बात है कि वह अरब-नस्ल जो युगों से सोते हुओं की त बिता रही थी और ज़ाहिरा तौर पर दूसरी जगहों की घटनाओं से बिल्कु थी, अचानक जाग पड़ी, और उसने इतनी ज़बर्दस्त जीवट दिखाई कि सा को चौंका दिया और उसमें उथल-पुथल मचा दी। अरब लोग एशिया, अफ्रीका में तेज़ी के साथ फल गये, और उन्होंने ऊँचे दर्जे की संस्कृति औ का किस तरह विकास किया, यह इतिहास में एक चमत्कार की बा

जिस नये बल या भावना ने अरबों को जगाया और उनमें आत्म और जोश भर दिया, वह इस्लाम था। इस मज़हब को एक नये पैग़म्बर ने, जो मक्का में ५७० ई० में पैदा हुए थे, चलाया था। उन्हें इस मज़ह करने की कोई जल्दी नहीं थी। वह शान्ति की ज़िन्दगी गुज़ारते थे, के लोग उनको चाहते थे और उनपर भरोसा करते थे। वास्तव में 'अल् अमीन' या अमानतदार कहा करते थे। लेकिन जब उन्होंने अपने का प्रचार शुरू किया, और ख़ासकर जब मक्का की मूर्तियों की पूजा

---

[1] संगे असवद।

तो उनके खिलाफ़ बड़ा हल्ला मचा और आखिर उनको अपनी जान बचाकर से भागना पड़ा। सबसे ज़्यादा वह इस दावे पर ज़ोर देते थे, कि खुदा एक है, और वह, मोहम्मद, उसका रसूल है।

जब मक्का से अपने ही लोगों ने उन्हें भगा दिया, तो उन्होंने यथरीब में कुछ दोस्तों और मददगारों के यहाँ पनाह ली। मक्का से उनके इस कूच को ज़बान में 'हिजरत' कहते हैं, और मुसलमानी सन् उसी वक्त से यानी ६२२ शुरू होता है। यह हिजरी सन् चान्द्र है, यानी इसमें चन्द्रमा के अनुसार ीनों का हिसाब लगाया जाता है। इसलिए सौर-वर्ष से, जिसका आजकल आम-र प्रचार है, हिजरी साल ५-६ दिन कम का होता है। हिजरी सन् के महीने ल एक ही मौसम में नहीं पड़ते। हिजरी सन् का एक महीना अगर इस साल में है तो कुछ वर्षों के बाद वही महीना बीच गर्मी में पड़ सकता है।

ऐसा कह सकते हैं कि इस्लाम, हिजरत से, यानी ६२२ ई० से शुरू हुआ, कि एक लिहाज से वह इसके कुछ पहले ही शुरू हो चुका था। यथरीब शहर हम्मद का स्वागत किया और उनके आने की ताज़ीम में इस शहर का नाम कर 'मदीनत-उन-नबी' यानी 'नबी का शहर' कर दिया गया। आजकल में इसे सिर्फ़ मदीना कहते हैं। मदीना के जिन लोगों ने मोहम्मद की मदद ी वे 'अंसार' यानी मददगार कहलाये। इन अंसारों के वंशज अपने इस खिताब अभिमान करते थे और अभी तक इसका इस्तेमाल करते हैं।

इस्लाम और अरबों की विजयी ज़िन्दगी के दौर पर विचार करने से पहले चारों तरफ़ सरसरी नज़र डाल लें। हम अभी देख चुके हैं कि रोम खत्म हो था। पुरानी यूनानी-रोमन सभ्यता का अन्त हो गया था और इसका रचा सारा समाजी ढाँचा भी बिखर गया था। उत्तरी यूरोप के क़बीले और वंश आगे आ रहे थे। रोम से कुछ सीखने की कोशिश करते हुए ये लोग वास्तव में कुल नई क़िस्म की सभ्यता बना रहे थे। लेकिन अभी इसकी शुरुआत ही और ज़ाहिरा तौर पर दिखाई नहीं देती थी। इस तरह पुराने ज़माने का तो हो चुका था, लेकिन उसकी जगह नया ज़माना नहीं आया था। इसलिए यूरोप अंधेरा था। यह सही है कि यूरोप के पूर्वी सिरे पर पूर्वी रोमन साम्राज्य था, अभी तक फूल-फल रहा था। क़ुस्तुन्तुनिया का शहर उस वक्त भी बड़ा और दार शहर था और यूरोप में सबसे बड़ा माना जाता था। उसके खेल-घरों खेल-तमाशे और सरकस हुआ करते थे और वहाँ खूब तड़क-भड़क व दिखावट । फिर भी साम्राज्य कमज़ोर होता जा रहा था। ईरान के सासानियों से इसके बराबर चलते रहते थे। ईरान के खुसरो द्वितीय ने क़ुस्तुन्तुनिया से उसकी तनत का कुछ हिस्सा छीन भी लिया था, और नाम को वह अरब पर भी प्रभुत्व

का दावा करता था। खुसरो ने मिस्र भी जीत लिया था, और ठे तक पहुँच गया था। लेकिन यूनानी सम्राट् हीरेक्ली ने इसे वहाँ हरा में खुसरो को उसके ही बेटे क़बाद ने मार डाला।

इस तरह तुम देखोगी कि पश्चिम में यूरोप और पूर्व में ईरान, हालत खराब थी। इसके अलावा ईसाई फ़िरक़ों में होनेवाले आपसी कोई अन्त नहीं था। अफ़्रीका में और पश्चिम में बहुत भ्रष्ट और झगड़ा फैल रही थी। ईरान में ज़रथुस्त मज़हब राजधर्म था और लोगों लादा जाता था। इसलिए यूरोप, अफ्रीका और ईरान के ज़्यादातर लोगों उस समय के मज़हबों के बारे में खुल गई थीं। उन्हीं दिनों, सातवीं शुरुआत में, सारे यूरोप में भयंकर महामारियाँ फैल रही थीं, जिनमें ला मर रहे थे।

भारत में इस समय हर्षवर्धन राज्य कर रहा था और ह्यूएनत्सां आया हुआ था। हर्ष के राजकाल में भारत एक बलशाली देश था। ही दिन बाद उत्तर भारत के टुकड़े-टुकड़े हो गये और वह कमज़ोर पड़ पूर्व के देश चीन में इसी समय तंङ-राजवंश का दौर शुरू हुआ था। 'ताई-त्सुंङ' जो चीन के सबसे बड़े सम्राटों में गिना जाता है, राजग और उसके ज़माने में चीनी साम्राज्य पश्चिम में ठेठ कैस्पियन सागर त था। मध्य एशिया के ज़्यादातर देशों ने उसकी प्रभुता स्वीकार कर ली उसे ख़िराज देते थे। पर शायद इस सारे विशाल साम्राज्य की को सरकार नहीं थी।

इस्लाम के उदय के समय एशियाई और यूरोपीय दुनिया की थी। चीन शक्तिशाली और मज़बूत था, लेकिन वह बहुत दूर था। कम-से-कम कुछ दिनों तक तो, काफ़ी मज़बूत था। लेकिन, हम आगे भारत के साथ इस्लाम का बहुत दिनों तक कोई संघर्ष नहीं हुआ। अफ़्रीका कमज़ोर और पस्त हो चुके थे।

हिजरत के बाद सात वर्ष के अन्दर ही मोहम्मद मक्का के स्वामी ही वहाँ लौटे। इसके पहले ही वह मदीना से दुनिया के बादशाहों और के पास परवाना भेज चुके थे कि वे एक अल्लाह और उसके रसूल पर ईमा क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राट् हीरेक्ली के पास यह परवाना उस वक़्त पहुँचा वह सीरिया में ईरानियों के खिलाफ़ लड़ाई में मशगूल था। ईरान के के पास, और कहते हैं कि चीन के ताई-त्सुंङ तक भी यह परवाना इन बादशाहों और शासकों को बड़ा ताज्जुब हुआ होगा कि आखिर यह आदमी कौन है, जो उनके ऊपर हुक्म चलाने की जुर्रत करता है! इन

से ही हम कुछ अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि मोहम्मद को अपने में और अपने में कितना बड़ा भरोसा था। यही भरोसा और ऐतक़ाद उसने अपनी क़ौम दिया, और इसीसे प्रेरणा और तसल्ली हासिल करके रेगिस्तान के ये लोग, ी पहले कोई बड़ी हैसियत नहीं थी, उस समय तक मालूम दुनिया के आधे को जीतने में सफल हुए।

भरोसा और ऐतक़ाद ख़ुद तो बड़ी चीज़ें थीं ही। साथ ही इस्लाम ने भाईचारे ानी सब मुसलमान बराबर हैं, इस बात का भी सन्देश दिया। इस तरह द तक लोकतन्त्र लोगों के सामने आया। उस ज़माने की भ्रष्ट ईसाइयत ाबले में भाईचारे के इस सन्देश ने सिर्फ़ अरबों पर ही नहीं, बल्कि जहाँ-गये, उन सभी देशों के निवासियों पर भी, बड़ा भारी असर डाला होगा।

मोहम्मद ६३२ ई० में, हिजरत के दस साल बाद, मरे। उन्होंने अरब के में लड़नेवाले कई क़बीलों को संगठित करके एक राष्ट्र बनाया और उनमें द्देश्य के लिए ज़बर्दस्त जोश भर दिया। इसके बाद इनके ख़ानदान के एक अबूबकर ख़लीफ़ा हुए। ख़लीफ़ा चुनने का यह काम आम सभा में ग़ैर-रस्मी से होता था। दो साल बाद अबूबकर मर गये, और उमर उनकी जगह ा बनाये गये। यह दस साल तक ख़लीफ़ा रहे।

अबूबकर और उमर महान् व्यक्ति थे, जिन्होंने अरबी और इस्लामी ता की बुनियाद डाली। ख़लीफ़ा की हैसियत से वे धर्माध्यक्ष और राजनीतिक र, यानी बादशाह और पोप दोनों थे। अपने ऊँचे ओहदे और अपने राज्य ढ़ती हुई शक्ति के बावजूद उन्होंने अपने रहन-सहन की सादगी नहीं छोड़ी, ऐश-आराम व ऊपरी शान-शौक़त से क़तई इन्कार कर दिया। इस्लाम का न्त्र इनके लिए एक ज़िन्दा चीज़ थी। लेकिन इनके मातहती हाक़िम और र बहुत जल्द रेशमी लिबास और ऐश-आराम में डूब गये। अबूबकर और उमर स तरह बार-बार इन अफ़सरों की लानत-मलामत की, और उन्हें सज़ा दी, तक कि इनकी फ़िज़ूलख़र्ची पर आँसू भी बहाये, इसके बहुत-से क़िस्से बयान जाते हैं। ये महसूस करते थे कि सीधे-सादे और कठोर रहन-सहन में ही ताक़त है, और अगर उन्होंने कुंस्तुन्तुनिया और ईरान के दरबारों जैसा आराम अपना लिया, तो अरब लोग भ्रष्ट हो जायँगे और नीचे गिर जायँगे।

अबूबकर और उमर का शासन बारह साल रहा। लेकिन इस थोड़े से समय में रबों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरान के सासानी बादशाह, दोनों को हरा था। यहूदियों और ईसाइयों के पवित्र शहर यरूशलम पर अरबों ने क़ब्ज़ा लिया था, और सारे सीरिया, इराक़ और ईरान इस नये अरबी साम्राज्य के बन चुके थे।

: ४९ :

स्पेन से मंगोलिया तक अरबों की विजय

२३

दूसरे कुछ मज़हबों के संस्थापकों की तरह मोहम्मद भी बहुत से समाजी रस्म-रिवाजों के विद्रोही थे। जिस मज़हब का उन्होंने उसकी सादगी, सफ़ाई और लोकतन्त्र व समता की सुगन्ध ने की जनता के दिलों को खींच लिया; क्योंकि निरंकुश राजाओं ने की ही तरह निरंकुश और ज़ालिम पुजारियों ने जनता को बहुत रक्खा था। लोग पुराने ढंगों से तंग आ गये थे और परिवर्तन के लिए इस्लाम ने यह परिवर्तन उनके सामने रक्खा और इसका उन्होंने क्योंकि इसकी वजह से उनकी हालत बहुत-सी बातों में बेहतर हो बहुत-सी पुरानी बुराइयाँ ख़त्म हो गईं। इस्लाम के साथ कोई ऐसी क्रान्ति नहीं आई, जिससे जनता का शोषण ख़त्म हो गया होता। मुसलमानों का ताल्लुक़ था, यह शोषण वास्तव में कम हुआ और वे लगे कि वे सब एक ही बड़ी बिरादरी के लोग हैं।

इस तरह अरब लोग जीत-पर-जीत हासिल करते हुए आगे अक्सर ये लोग बिना युद्ध किये ही जीत जाते थे। अपने रसूल की वर्ष के अन्दर ही अरबों ने एक तरफ़ सारा ईरान, सीरिया, एशिया का कुछ टुकड़ा और पश्चिम की तरफ़ मिस्र, और उत्तरी सा टुकड़ा जीत लिया। मिस्र इन लोगों को सबसे ज़्यादा आसानी से क्योंकि यह देश रोमन साम्राज्य के शोषण से और ईसाई सम्प्रदायों लाग-डाँट से सबसे ज़्यादा तक़लीफ़ें उठा चुका था। कहते हैं कि अरबों ने का मशहूर पुस्तकालय जला दिया था, लेकिन अब यह बात ग़लत है। अरब लोग पुस्तकों के इतने शौक़ीन थे कि ऐसा जंगलीपन नहीं थे। सम्भव है कि कुंस्तुन्तुनिया का सम्राट् थियोदोसी, जिसका कुछ कर चुका हूँ, पुस्तकालय को या उसके कुछ हिस्से को बर्बाद करने का हो। पुस्तकालय का एक हिस्सा तो बहुत पहले जूलियस सीज़र के घेरे के समय, बर्बाद हो चुका था। थियोदोसी पुरानी ग़ैर-मसीही को, जिनमें पुरानी यूनानी गाथाएँ और दर्शन की बातें होती थीं, था। वह बड़ा श्रद्धालु ईसाई था। कहा जाता है कि वह अपने नहाने किताबों को जलाकर गर्म किया करता था।

अरब लोग पूर्व और पश्चिम दोनों तरफ़ बढ़ते ही चले गये।

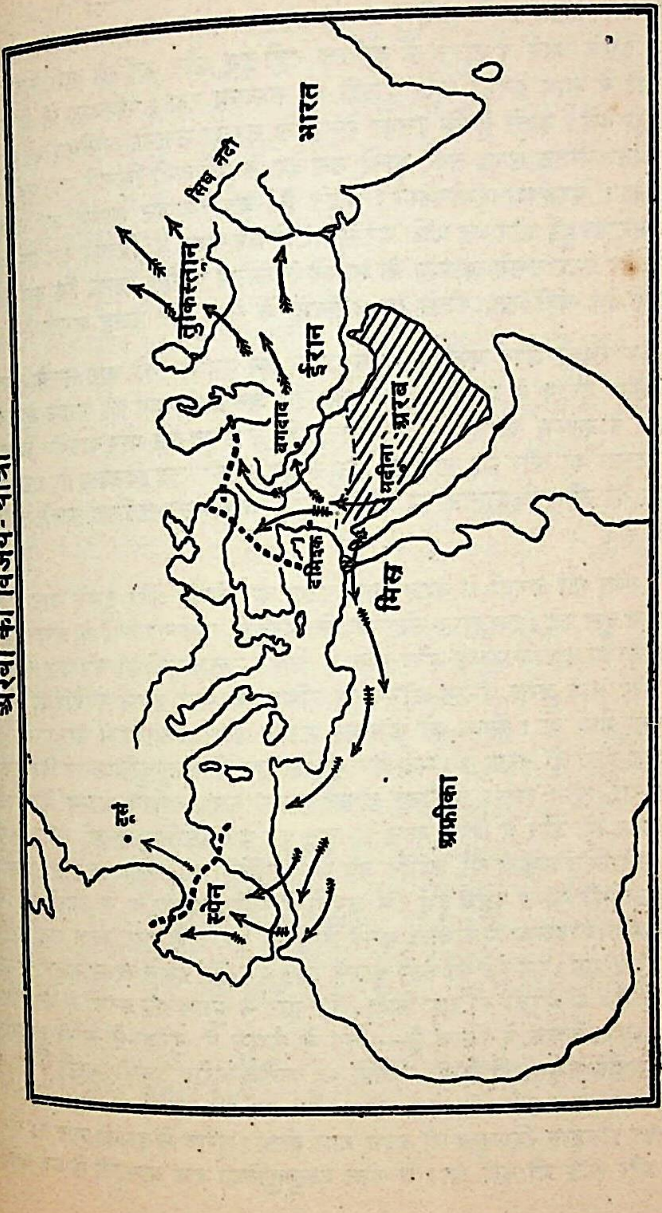

अरबों की विजय-यात्रा
भारत
सिंध नदी
तुर्किस्तान
ईरान
बगदाद
मदीना
अरब
दमिश्क
मिस्र
अफ्रीका
स्पेन
टूर्स

काबुल और बलख इनके क़ब्ज़े में आ गये ओर वे सिन्ध नदी और सिन्ध तक लेकिन इसके आगे वे भारत में दाखिल नहीं हुए और कई सौ वर्षों तक राजाओं के साथ इनका बहुत दोस्ती का सम्बन्ध रहा। पश्चिम में वे बढ़ते ही गये। कहते हैं कि इनका सेनापति उक़बा उत्तरी अफ़्रीका को हुआ अतलान्तिक समुद्र तक, यानी उस देश के पश्चिमी किनारे पर पहुँ जिसे आज मरक्कश (मोरक्को) कहते हैं। यह रुकावट सामने आ जा बड़ी निराशा हुई और वह घोड़े पर सवार होकर समुद्र में जितनी दूर जा गया, और फिर उसने अल्लाह के सामने अफ़सोस ज़ाहिर किया कि अब में कोई देश नहीं रहा, जिसे वह अल्लाह के नाम पर फ़तह करता!

मोरक्को और अफ़्रीका से समुद्र के तंग मुहाने को पार करके अ स्पेन और यूरोप में दाखिल हुए। इस तंग जलडमरूमध्य को पुराने यू 'हरकुल के स्तम्भ' कहते थे। अरब-सेनापति ने समुद्र को पार करके जि लंगर डाला था और यह नाम ही उस सेनापति की याद दिलाता है। उस तारिक था और जिब्राल्टर का असली नाम 'जबल-उत-तारिक' यानी ता चट्टान है।

स्पेन को अरबों ने बहुत जल्द फ़तह कर लिया और इसके बाद वे फ़ान्स में घुस पड़े। इस तरह मोहम्मद के मरने के बाद सौ वर्षों के अन्दर का साम्राज्य दक्षिण फ़ान्स और स्पेन से लेकर उत्तर अफ़्रीका को पार कर तक, और आगे अरब, ईरान और मध्य एशिया को पार करके मंगोलिया तक फैल गया था। सिन्ध को छोड़कर भारत इस साम्राज्य से बाहर था। पर अरब लोग दो तरफ़ से हमले कर रहे थे। एक तो क़ुस्तुन्तुनिया पर बिल्कु हमला था, और दूसरा अफ़्रीका होकर फ़ान्स पर। दक्षिण फ़ान्स में अर संख्या कम थी और वे अपने वतन से बहुत दूर थे। इसलिए उनको अरब मदद नहीं मिल सकती थी, क्योंकि वह मध्य एशिया को फ़तह करने में उल था। फिर भी फ़ान्स पहुँचे हुए इन अरबों ने पश्चिमी यूरोप के लोगों को डरा दिया कि इनका मुक़ाबला करने के लिए यूरोप में एक बहुत बड़ा गुट बनाया गया। इस गुट का नेता चार्ल्स मार्तें था और इसने फ़ान्स में तूर की में ७३२ ई० में अरबों को हरा दिया। इस हार ने यूरोप को अरबों से बचा एक इतिहास-लेखक ने लिखा है—"तूर के मैदान में अरबों ने सारी दुनि साम्राज्य ऐसे समय खो दिया, जबकि वह क़रीब-क़रीब इनकी मुट्ठी में आ था।" इसमें शक नहीं कि अगर अरब लोग तूर की लड़ाई में जीत गये हो यूरोप का इतिहास बिलकुल ही बदल गया होता। यूरोप में इनकी गति को वाला और कोई भी नहीं था। ये लोग क़ुस्तुन्तुनिया तक आसानी से बढ़

र इन्होंने पूर्वी रोमन साम्राज्य को और बीच के दूसरे राज्यों को ख़त्म कर ोता। तब ईसाइयत के बजाय इस्लाम यूरोप का मज़हब हो गया होता, री तरह के भी बहुत-से परिवर्तन हो गये होते। लेकिन यह सब तो कल्पना न है। हुआ यह कि अरब लोग फ़ान्स में रोक दिये गए, और इसके बाद वर्षों तक वे स्पेन में रहे, और वहाँ राज करते रहे।

ेन से मंगोलिया तक के सारे देशों पर अरबों ने फ़तह पाई और रेगिस्तान मक्कड़ एक ज़बर्दस्त साम्राज्य के अभिमानी शासक बन गये। लोग इन्हें कहते थे। शायद यह शब्द 'सहरा नशीन' से बना हो, जिसका अर्थ 'रेगि- वाशिन्दे' होता है। लेकिन इन सहरानशीनों ने बहुत जल्द विलासिता और ज़िन्दगी इख़्तियार कर ली और इनके शहरों में बड़े-बड़े महल 'खड़े हो -दूर देशों में विजय हासिल कर लेने पर भी, इनकी आपस में झगड़ने की ादत नहीं गई। अब तो वास्तव में झगड़ने के लिए कुछ सामान भी हो गया कि अरब की प्रभुता का मतलब था एक बड़े साम्राज्य की बागडोर हाथ ाना। इसलिए ख़लीफ़ा की गद्दी के लिए अक्सर झगड़े होते थे। इन छोटे- ड़ों और ख़ानदानी झगड़ों से गृह-युद्ध हो गया। इन्हीं झगड़ों की वजह से दो हिस्सों में बँट गया और दो सम्प्रदाय बन गये जो सुन्नी और शिया के आज तक मौजूद हैं।

हले दो महान् ख़लीफ़ाओं—अबूबकर और उमर—के शासनकाल के ों बाद ही गड़बड़ पैदा हो गई। मोहम्मद की बेटी फ़ातिमा के पति अली ों के लिए ख़लीफ़ा हुए। लेकिन झगड़ा बराबर जारी रहा। अली क़त्ल गए और कुछ दिनों बाद उनके बेटे हुसेन सारे कुटुम्ब के साथ कर्बला में मार डाले गए। कर्बला की इस दुखान्त घटना की याद में मुसलमान सकर शिया लोग, हर साल मुहर्रम के महीने में मातम मनाया करते हैं।

ख़लीफ़ा अब बिलकुल निरंकुश बादशाह बन बैठे थे। ख़लीफ़ा के ओहदे का या चुनाव से कोई सरोकार नहीं रहा था। उस ज़माने के और निरंकुश की तरह ख़लीफ़ा भी था। कहने को ख़लीफ़ा इस्लाम का प्रमुख यानी -मोमिनीन"[1] भी माना जाता था। लेकिन कुछ ख़लीफ़ा ऐसे भी हुए इस्लाम का, जिसके कि वे मुख्य रक्षक समझे जाते थे, वास्तव में अपमान

भग सौ वर्षों तक ख़लीफ़ा मोहम्मद के वंश की एक शाखा में से होते उमैया कहलाती थी। दमिश्क इनकी राजधानी थी और महलों, मस्जिदों,

---

[1] ईमानवालों का सरदार।

फ़व्वारों और क़ुश्कों[1] की वजह से यह पुराना शहर बड़ा ख़ूबसूरत दमिश्क की पानी की व्यवस्था बड़ी मशहूर थी। इस ज़माने में अर बनाने की कला की एक ख़ास शैली निकाली, जो सरासीनी शिल्प के हुई। इस शैली में ज़्यादा सजावट नहीं होती। यह सादा, शानदार है। इस शैली के पीछे अरब और सीरिया के मनोहर खजूरों की "मेहराबें व खम्भे और मीनारें व गुम्बदें खजूर के कुंजों की मेह गुम्बदनुमा शक्लों की याद दिलाते हैं।

यह शैली भारत में भी आई। लेकिन इसपर भारत के संस्‍ पड़ा और एक मिलवाँ शैली पैदा हो गई। सरासीनी इमारतों के कुछ नमूने स्पेन में अबतक पाये जाते हैं।

धन और साम्राज्य की वजह से विलास का और विलास और कलाओं का उदय हुआ। घुड़दौड़ अरबों के मनोरंजन का प्यार पोलो, शिकार और शतरंज भी इन्हें बहुत पसन्द थे। संगीत और एक फ़ैशन बन गया था, जिसकी धुन सबपर सवार थी। दमिश्क गवैयों से और उनके संगीतियों और पिछलग्गुओं से भरी पड़ी थी।

एक और बड़ा लेकिन अभागा परिवर्तन धीरे-धीरे आ गया। स्त्रियों की हालत में हुआ। अरबों में औरतें बिलकुल परदा नहीं कर न तो अलहदा रक्खा जाता था, न छिपाया जाता था। वे बाहर नि मस्जिदों और तक़रीरों में जाया करती थीं, और खुद भी तक़रीरें देती सफलता के नशे में अरब लोग उन दोनों पुराने साम्राज्यों, यानी पूर्वी रो और ईरानी साम्राज्य के रिवाजों की नक़ल करने लगे, जो इनके अरबों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य को हरा दिया था, और ईरानी साम्रा कर डाला था, लेकिन ये खुद इन साम्राज्यों की बहुत-सी बुरी आदतों गये। कहा जाता है कि ख़ासकर क़ुस्तुन्तुनिया और ईरान के असर से को परदे में रखना शुरू किया। धीरे-धीरे हरम[2] का रिवाज़ शुरू हुआ, में मर्दों और औरतों का मिलना-जुलना कम होने लगा। दुर्भाग्य से परदा इस्लामी समाज का अंग बन गया, और जब मुसलमान भारत भारत ने भी यह बात उनसे सीख ली। यह सोचकर कि आज भी कु जंगलीपन को बर्दाश्त कर रहे हैं, मुझे हैरत होती है। जब कभी मैं बाहर

---

[1] क़ुश्क—ईरान और तुर्की में बाग़-बग़ीचों में बैठने के छोटे अंग्रेज़ी का kiosk शब्द इसीसे बना है।

[2] हरम—अन्तःपुर, यानी घर के भीतर स्त्रियों को परदे जगह।

ग की हुई परदे में रहनेवाली स्त्रियों का ख़याल करता हूँ तो मुझे हमेशा ता या चिड़ियाघर याद आ जाता है। कोई राष्ट्र, जिसकी आधी आबादी स्म के क़ैदख़ाने में छिपाकर रक्खी जाती हो, कैसे तरक़्क़ी कर सकती है? सौभाग्य की बात है कि भारत तेज़ी से परदे को फाड़कर फेंक रहा है। हद तक मुसलमान समाज ने भी इस भारी बोझ से छटकारा पा लिया है। में कमाल पाशा ने इसे बिलकुल ख़त्म कर दिया है और मिस्र में यह बहुत के साथ ग़ायब हो रहा है।

एक बात और कहकर मैं इस पत्र को ख़त्म करूँगा। अरबों में, ख़ासकर जागृति की शुरुआत के दिनों में, अपने दीन के लिए बहुत जोश भरा हुआ फर भी ये लोग उदार थे और उनकी इस धार्मिक उदारता की बहुत-सी मिसालें ती हैं। यरूशलम में ख़लीफ़ा उमर ने इस बात पर काफ़ी ज़ोर दिया था। में ईसाइयों की काफ़ी आबादी थी, और उन लोगों को मज़हब के मामले में री आज़ादी थी। भारत में, सिन्ध के अलावा अरबों का शासन कहीं नहीं। लेकिन इस देश के साथ उनका काफ़ी सम्पर्क रहा और आपसी सम्बन्ध ता के रहे। सच तो यह है कि इतिहास के इस युग की सबसे उल्लेखनीय बात वी मुसलमानों की उदारता और उससे उलटी यूरोप के ईसाइयों की धार्मिक ष्णुता।

: ५० :

बग़दाद और हारूँ-अल-रशीद

२७ मई, १९३२

दूसरे देशों की चर्चा करने से पहले अरबों की कहानी जारी रक्खेंगे। जैसा ने अपने पिछले पत्र में बताया है, क़रीब सौ वर्षों तक ख़लीफ़ा लोग हज़रत म्मद के वंश की उम्मैया शाखा के हुआ करते थे। उनकी राजधानी दमिश्क थी, उनकी हुकूमत में मुसलमान अरबों ने इस्लाम का झण्डा दूर-दूर देशों तक पहुँचा। एक तरफ़ तो अरब लोग दूर-दूर के देशों को जीतते थे, दूसरी तरफ़ अपने में ही लड़ते-झगड़ते रहते थे और अक्सर गृह-युद्ध हुआ करते थे। आख़िरकार म्मद के वंश के एक दूसरे घराने ने, जो चचा अब्बास की सन्तान था और सी कहलाता था, उम्मैया ख़ानदान को गद्दी से उतार दिया। अब्बासी लोग यों के ज़ुल्म का बदला लेने के लिए आये थे; लेकिन फ़तह हासिल करने के उन्होंने ज़ुल्म और हत्या में उम्मैयों को भी मात कर दिया। उन्होंने उम्मैया को जहाँ भी पाया, पकड़ लिया और उन्हें बेरहमी से मार डाला।

यहीं से ७५० ई० में अब्बासी ख़लीफ़ाओं के शासन का लम्बा समय शुरू है। यह शुरुआत कुछ शुभ या मंगलमय नहीं थी, फिर भी अरब इतिहास में

अब्बासी काल काफ़ी चमकदार समझा जाता है। इस ज़माने में उ
के मुक़ाबले में बहुत बड़े परिवर्तन होने लगे थे। अरब के गृह-युद्ध
साम्राज्य को हिला दिया था। अब्बासी लोग अपने देश में तो जीत
सुदूर स्पेन में अरब हाक़िम ने, जो उम्मैया था, अब्बासी ख़लीफ़ा
इन्कार कर दिया। उत्तर अफ़्रीका या इफ़रीक़िया की सूबेदारी बहुत
हो गई। मिस्र ने भी यही किया, बल्कि उसने तो अपना दूसरा
घोषित कर दिया। मिस्र तो इतना नज़दीक था, कि इसे भी
सकता था और मातहती क़बूल करने को मजबूर किया जा सकता
समय-समय पर ऐसा होता भी रहा। लेकिन इफ़रीक़िया में कोई
दिया गया, और स्पेन तो इतनी दूर था कि उसके ख़िलाफ़ कोई
ही नहीं जा सकती थी। इस तरह अब्बासियों के ख़लीफ़ा होने
साम्राज्य के टुकड़े हो गये। अब ख़लीफ़ा सारी दुनिया का प्रमुख
और न 'अमीरुल मोमिनीन' ही रह गया। मुसलमानों में एकता
और स्पेन के अरब और अब्बासी एक दूसरे से इतनी नफ़रत करते थे
पर आफ़त आती थी, तो दूसरा ख़ुशी मनाता था।

इन सब बातों के होते हुए भी अब्बासी ख़लीफ़ा बहुत बड़े बाद
साम्राज्यों के लिहाज़ से उनका साम्राज्य बहुत बड़ा था। वह पुराना
जोश, जिन्होंने पहाड़ों को जीता था और जो जंगल की आग की तरह
अब नज़र नहीं आते थे। सादगी नहीं रही थी, और न लोकतन्त्र ही बा
था। 'अमीरुल मोमिनीन' और ईरानी शहंशाहों में, जिन्हें पहले के अरबों
था, या क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राट् में, कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं रह गया था। पैग़म्ब
के ज़माने के अरबों में एक अजीब ज़िन्दगी और ताक़त थी, जो बादशाहों
की ताक़त से बिलकुल जुदा चीज़ थी। अपने ज़माने की दुनिया में उ
सिक्का जमाया था और उनकी दुर्निवार विजय-यात्राओं के सामने
बादशाह धूल में मिलते गये। जनता इन बादशाहों से तंग आ गई
अरबों के आने से उसके दिल में बेहतर दिनों की और समाजी
उम्मीद पैदा हो गई थी।

लेकिन अब हालत बदल गई थी। रेगिस्तान के लोग अब महलों
और खजूरों की जगह बढ़िया-से-बढ़िया पकवान ख़ाते थे। वे सोचते थे कि
काफ़ी आराम में हैं, फिर समाजी क्रान्ति या किसी परिवर्तन की झंझट में
शान-शौक़त में वे पुराने साम्राज्यों की होड़ करने की कोशिश करते थे, औ
कई बुरे रस्म-रिवाज उन्होंने अपना लिये। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ
एक बुरा रिवाज स्त्रियों का परदा था।

राजधानी दमिश्क से हटकर इराक़ में बग़दाद चली गई। राजधानी की ी भी महत्वपूर्ण थी, क्योंकि बग़दाद ईरानी बादशाहों का गर्मी के मौसम की जगह था। और चूँकि दमिश्क की बनिस्वत वह यूरोप से दूर था, इस- अब्बासियों की नज़र यूरोप के बनिस्बत एशिया की तरफ़ ज्यादा रहने स्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने की कोशिशें तो होती रहीं और यूरोपीय कई युद्ध भी हुए, लेकिन ज्यादातर युद्ध बचाव के लिए होते थे। देशों की के दिन लद चुके थे और अब्बासी ख़लीफ़ा अपने बचे हुए साम्राज्य को ूत करने की कोशिश में लग गये थे। स्पेन और अफ़्रीका के बिना भी यह काफ़ी बड़ा था।

ग़दाद! तुम इसे भूल तो नहीं गईं? और क्या अलिफ़लैला नें हारूँ-अल- और शहज़ादी की अद्भुत कहानियाँ तुम्हें याद हैं? अब्बासी ख़लीफ़ाओं में जो शहर बढ़ा वह अलिफ़लैला का ही शहर था। बग़दाद एक लम्बा- हर था, जिसमें महल, सरकारी दफ़्तर, स्कूल, कॉलेज, बड़ी-बड़ी दूकानें, र बग़ीचे थे। यहाँ के सौदागर पूर्व और पश्चिम के देशों से बड़ा भारी करते थे। ढेरों सरकारी अफ़सर साम्राज्य के दूर-दूर के हिस्सों से, बराबर बनाये रखते थे। सरकार दिन-पर-दिन पेचीदा होती जाती थी और उसके महकमे बन गये थे। साम्राज्य के कोने-कोने से राजधानी तक चिट्ठी-पत्री जाने का बहुत अच्छा इन्तज़ाम था। शफ़ाख़ाने काफ़ी संख्या में थे। सारी के लोग बग़दाद आया करते थे। विद्वान् विद्यार्थी और कलाकार ख़ास- र आते थे, क्योंकि यह मशहूर था कि ख़लीफ़ा सब विद्वानों और कुशल रों का स्वागत करता है।

ख़लीफ़ा ख़ुद ख़ूब ऐश-आराम की ज़िन्दगी गुज़ारता था और ग़ुलामों से हता था। उसकी बेगमें हरम में रहती थीं। हारूँ-अल-रशीद के ज़माने में, ८६ से ८०९ ई० तक, अब्बासी साम्राज्य अपनी ज़ाहिरा शान-शौक़त की र था। हारूँ के दरबार में चीनी सम्राट् के और पश्चिम में सम्राट् शार्लमैन दूत आये थे। स्पेन के अरबों को छोड़कर, बग़दाद और अब्बासी साम्राज्य की सारी कलाओं में, व्यापार में और विद्या के विकास में, यूरोप से बहुत ढ़े हुए थे।

अब्बासी काल हमारे लिए ख़ासतौर से दिलचस्प है, क्योंकि इसी ज़माने में में नई दिलचस्पी पैदा हुई थी। तुम जानती हो कि विज्ञान आजकल की में बहुत बड़ी चीज़ है और बहुत-सी बातों के लिए हम विज्ञान के देनदार ज्ञान का काम यह नहीं है कि सिर्फ़ हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ जाय और रहे कि घटनाएँ होती रहें। वह तो इस तलाश में रहता है कि घटनाएँ क्यों

होती हैं? विज्ञान प्रयोग करता रहता है और बार-बार कोशिश क असफल होता है और कभी सफल—और इस तरह धीरे-धीरे ज्ञान को बढ़ाता रहता है। आजकल की हमारी दुनिया प्राचीन दुनिया से बिलकुल अलग तरह की है। यह बड़ा फ़र्क़ ज्यादातर विज्ञा ही है, क्योंकि आज का संसार विज्ञान का ही बनाया हुआ है।

प्राचीन देश में हमको मिस्र, चीन या भारत में वैज्ञानिक दिखाई देता। पुराने यूनान में ज़रूर कुछ अंश में पाया जाता है। रोम अभाव था। लेकिन अरब में खोज की वैज्ञानिक भावना पाई जाती अरबों को आजकल के विज्ञान का जन्मदाता कह सकते हैं। आयुर्वेद जैसे कुछ विषयों में इन्होंने भारत से बहुत-कुछ सीखा था। भारतीय गणितज्ञ बड़ी संख्या में बग़दाद जाते थे। बहुत-से अरबी विद्यार्थी तक्षशिला आया करते थे, जो उस समय तक एक बहुत बड़ा विश्व और आयुर्वेद की शिक्षा के लिए ख़ास मशहूर था। आयुर्वेद की और की संस्कृत पुस्तकें अरबी ज़बान में ख़ासतौर से अनुवाद की गई थीं। अरबों ने चीन से सीखीं—जैसे काग़ज़ बनाना। लेकिन जो कुछ से सीखा उसकी बुनियाद पर अपनी खोजें करके उन्होंने और बहुत ईजादें कीं। सबसे पहले उन्होंने ही दूरबीन और क़ुतुबनुमा बनाये। अरब के हकीम और जर्राह सारे यूरोप में मशहूर थे।

इन तमाम दिमाग़ी हलचलों का मुख्य केन्द्र बग़दाद ही था। अरबी स्पेन की राजधानी कुरतुबा भी ऐसा ही केन्द्र था। अरबी दु तरह के और भी कई विश्वविद्यालयों के केन्द्र थे, जहाँ दिमाग़ी जीवन पर था; जैसे 'विजयी' अल-क़ाहिरा, बसरा, और कूफ़ा। लेकिन इतिहासकार के अनुसार "इस्लाम की राजधानी, इराक़ की आँख की गद्दी और कला, संस्कृति और सौन्दर्य का केन्द्र" बग़दाद इन सब से बढ़ा-चढ़ा था। इसकी आबादी बीस लाख से ज्यादा थी और यह कलकत्ता या बम्बई से बहुत बड़ा था।

तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि मोज़ा और जुर्राब पहनने सबसे पहले बग़दाद के अमीरों से ही शुरू हुई बतलाई जाती है। इन्हें जाता था और इनका भारतीय नाम इसी शब्द से निकला होगा। फ़्रान्सीसी शब्द 'शेमीज़' यानी कुर्त्ता 'क़मीज़' से निकला है। 'क़मीज़' दोनों चीज़ें अरबों से क़ुस्तुन्तुनिया के बिज़ैन्तीनों ने लीं और फिर वहाँ पहुँचीं।

अरब लोग हमेशा से दूर-दूर की यात्रा करनेवाले रहे हैं।

वी समुद्र-यात्राएँ जारी रक्खीं और अफ़्रीका में, भारत के किनारों पर, में, और चीन तक में अपने उपनिवेश क़ायम किये। अलबेरूनी एक रब यात्री हो गया है, जो भारत आया था, और वह भी ह्यूएनत्सांङ की ने सफ़र का लिखा हुआ हाल छोड़ गया है।

रब लोग इतिहास-लेखक भी थे, और इनकी ही किताबों और इतिहासों के बारे में बहुत-सी बातें मालूम होती हैं। हम सभी जानते हैं कि वे कितने क़िस्से और फ़साने लिख सकते थे। हज़ारों-लाखों आदमियों ने अब्बासी ों का-और-उनके साम्राज्य का नाम तक नहीं सुना है, लेकिन 'अलिफ़ नी 'एक हज़ार एक रातों' में बयान किये हुए रहस्य और फ़सानों बग़दाद को कौन नहीं जानता। कल्पना का साम्राज्य अक्सर सचमुच के से ज़्यादा असली और टिकाऊ होता है।

ारूँ-अल-रशीद की मृत्यु के कुछ दिनों बाद अरब साम्राज्य पर आफ़त आई। द होने लगे और साम्राज्य के कई हिस्से अलग हो गये। सूबों के हाकिम शासक बन बैठे। खलीफ़ा बराबर कमज़ोर होते गये, यह तक कि एक वक़्त आया जब खलीफ़ा का राज्य सिर्फ़ बग़दाद शहर और आस-पास गांवों पर ही रह गया। एक खलीफ़ा को तो उसीके सिपाहियों ने महल से सीट कर क़त्ल कर डाला था। फिर थोड़े दिनों के लिए कुछ ऐसे ज़ोरदार पैदा हुए, जो बग़दाद से बैठे-बैठे हकूमत करने लगे, और जिन्होंने खलीफ़ाओं ना मातहत बना लिया।

इस समय इस्लाम की एकता दूर के बीते हुए ज़माने की बात हो गई थी। लेकर मध्य एशिया के खुरासान तक, सभी जगह, अलग-अलग राज्य बन र पूर्व से बहुत-से घुमक्कड़ क़बीले पश्चिम की तरफ़ बढ़ने लगे। मध्य एशिया तुर्क मुसलमान हो गये और उन्होंने आकर बग़दाद पर क़ब्ज़ा कर लिया। सेलजूक़ तुर्क कहते हैं। इन्होंने क़ुंस्तुन्तुनिया की बिज़ैन्तीन सेना को पूरी तरह यूरोप को हैरत में डाल दिया। क्योंकि यूरोप के लोगों का ख़याल था कि और मुसलमानों की ताक़त खत्म हो चुकी है और वे लोग दिन-पर-दिन होते जा रहे हैं। यह बात सच थी कि अरब लोग बहुत गिर चुके थे, अब सेलजूक़ तुर्क इस्लाम का झण्डा ऊँचा रखने और यूरोप को चुनौती देने मैदान में उतर आये थे।

हम आगे चलकर देखेंगे कि इस चुनौती का जल्दी जवाब दिया गया, और नों से लड़ने के लिए और अपने पवित्र शहर यरूशलम को फिर से जीतने यूरोप के ईसाई राष्ट्रों ने कई बार संगठित होकर जिहाद (धर्म-युद्ध) डा उठाया। सौ वर्षों से ज़्यादा तक सीरिया, फ़िलस्तीन और एशिया-कोचक

में हुकूमत के लिए इस्लाम और ईसाइयत में लड़ाइयाँ हुईं। दों को परास्त कर दिया और इन देशों की चप्पा-चप्पा ज़मीन मनुष्यों कर दी। इन हिस्सों के ख़ुशहाल शहरों की महानता और तिजारत और हरे-भरे खेत अक्सर वीरान कर दिये गए।

इसी तरह ये एक दूसरे से लड़ते रहे। इनकी लड़ाइयाँ ख़त्म पाई थीं कि एशिया के उस पार मंगोलिया में 'दुनिया को हिलाने वाला मुग़ल चंगेज़ खाँ पैदा हुआ। एशिया और यूरोप को तो इसने वास्तव में हिला दिया। इसने और इसके वंशजों ने बग़दाद और को हमेशा के लिए ख़त्म कर दिया। जब मंगोल लोग बग़दाद के मशहूर शहर का निपटारा कर चुके तो वहाँ सिर्फ़ मिट्टी और रा गया था और उसके बीस लाख निवासियों में से ज़्यादातर मर चुके थे ई० की बात है।

बग़दाद अब फिर एक ख़ुशहाल शहर हो गया है और इराक़ है। लेकिन वह अपने पुराने रूप की सिर्फ़ छाया है, क्योंकि मंगोलों मौत और बरबादी के असर से यह कभी न पनप सका।

: ५१ :

उत्तर-भारत में—हर्ष से महमूद तक

अब हमें अरबों या सरासीनों की कहानी के सिलसिले को देशों पर नज़र डालनी चाहिए। जिस अर्से में अरब शक्तिशाली हुए, फैले और फिर गिर गए, उस बीच भारत में, चीन में और यूरोप में हो रहा था? इसकी कुछ झलक हम पहले ही देख चुके हैं—७३२ मार्तेल की क़मान में यूरोप की शामिल सेनाओं का अरबों को फ़्रान्स लड़ाई में हराना, अरबों की मध्य-एशिया पर विजय और भारत में उनका आना। पहले ज़रा भारत की ओर चलें।

कन्नौज का राजा हर्षवर्धन ६४८ ई० में मर गया और उस साथ ही उत्तर भारत का राजनीतिक पतन और भी साफ़-साफ़ दिखाई पतन का यह सिलसिला कुछ समय पहले ही से चला आ रहा था और बौद्धधर्म के संघर्ष ने इस गिरावट में मदद पहुँचाई। हर्ष के समय में था, लेकिन यह भी थोड़े ही दिन रहा। हर्ष के मरने के बाद उत्तर छोटे-छोटे राज्य पैदा हो गए, जो कभी-कभी कुछ दिनों के लिए ख़ास

र कभी-कभी आपस में लड़ा करते थे। यह विचित्र बात है कि हर्ष के मरने तीन सौ से भी ज़्यादा वर्षों तक देश में साहित्य और कला फूलते-फलते ार कई बढ़िया सार्वजनिक चीज़ें बनीं। इसी ज़माने में भवभूति और राज- जैसे कई प्रसिद्ध संस्कृत लेखक हुए और कई ऐसे राजा हुए, जो राजनीति ाज से तो महत्व नहीं रखते, लेकिन इसलिए मशहूर हुए कि उनके राज में और विद्या ने तरक्क़ी की। इनमें से राजा भोज तो आदर्श राजा का ऐसा बन गया है, जिसका नाम कहानियों में आता है।

लेकिन इन चमकदार घटनाओं के बावजूद उत्तर भारत का पतन होता ा था। दक्षिण भारत फिर से आगे बढ़ रहा था और उत्तर भारत पर छाने ा। इस समय के दक्षिण भारत के बारे में मैं तुम्हें अपने एक पिछले पत्र में ख चुका हूँ। उसमें मैंने चालुक्यों, पल्लवों, राष्ट्रकूटों और चोल साम्राज्य में लिखा था। मैं शंकराचार्य का भी ज़िक्र कर चुका हूँ, जिन्होंने थोड़ी-सी ी में ही सारे देश के विद्वानों और बेपढ़ों, दोनों पर असर डालने में सफलता ौर जो भारत में बौद्ध धर्म को क़रीब-क़रीब खत्म कर देने में सफल हुए। विचित्र बात है कि जब शंकराचार्य अपना काम कर रहे थे ठीक उसी एक नया मज़हब भारत का दरवाज़ा खटखटा रहा था, जो बाद में बाढ़ की ीतता हुआ भारत में घुसा और उस ज़माने की व्यवस्था को चुनौती देने लगा!

अरब लोग बहुत जल्द, हर्ष की ज़िन्दगी में ही, भारत की सीमा पर आ पहुँचे वहाँ कुछ समय के लिए रुक गए और फिर उन्होंने सिन्ध पर क़ब्ज़ा कर लिया। ई० में सत्रह साल के एक जवान लड़के मोहम्मद इब्न क़ासिम ने अरबी सेना सिन्ध काँठे को पश्चिम पंजाब में मुलतान तक जीत लिया। भारत में अरबों ह का यही पूरा फैलाव था। सम्भव है, अगर उन्होंने कड़ी कोशिश की होती से भी आगे बढ़ गए होते। यह काम कुछ मुश्किल भी न होता, क्योंकि उत्तर बहुत कमज़ोर था। हालाँकि इन अरबों और आस-पास के राजाओं में र लड़ाइयाँ हुआ करती थीं, फिर भी देश जीतने के लिए कोई संगठित कोशिश की गई। इसलिए राजनीतिक पहलू से अरबों की सिन्ध पर यह विजय कोई महत्व का मामला नहीं था। मुसलमानों ने भारत को इसके कई सौ वर्षों ीता, लेकिन अरबों और भारतवासियों के इस सम्पर्क का संस्कृति पर बहुत असर हुआ।

अरबों का दक्षिण के भारतीय राजाओं, खासकर राष्ट्रकूटों, के साथ ी का व्यवहार रहता था। बहुत-से अरब भारत के पश्चिमी किनारे पर बस ये और अपनी बस्तियों में उन्होंने मस्जिदें बनवाई थीं। अरब यात्री और ारी भारत के कई हिस्सों में जाया करते थे। अरब विद्यार्थी उत्तर भारत

के तक्षशिला विश्वविद्यालय में काफ़ी संख्या में आते थे, जो खा
की शिक्षा के लिए मशहूर था। कहते हैं कि हारूँ-अल-रशीद के ज़माने
विद्वानों का बग़दाद में बड़ा आदर था और भारत के वैद्य शफ़ाखानों
की पाठशालाओं की व्यवस्था करने के लिए बग़दाद जाया करते थे।
ज्योतिष के बहुत-से संस्कृत-ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद किया

इसी तरह अरबों ने पुरानी भारतीय-आर्य संस्कृति से बहुत-
उन्होंने ईरान की आर्य-संस्कृति और यूनानी संस्कृति से भी बहुत-कुछ
अरब लोग क़रीब-क़रीब एक नई नस्ल की तरह थे, जो अपनी पूरी
थी। उन्होंने अपने चारों ओर जितनी पुरानी सभ्यताएँ देखीं, सबसे
सीखा और फ़ायदा उठाया, और इस बुनियाद पर उन्होंने एक अ
बनाई, जिसे सरासीनी संस्कृति कहते हैं। संस्कृतियों के लिहाज से
की ज़िन्दगी थोड़े दिनों की ही रही, लेकिन यह एक रोशन ज़िन्दगी
के मध्य युगों के अँधेरे परदे पर चमकती हुई दिखाई देती है।

यह अजीब बात है कि अरब लोगों ने तो भारतीय आर्य, ईरानी
संस्कृतियों के सम्पर्क से फ़ायदा उठाया, पर भारतीयों, ईरानियों और
ने अरबों के सम्पर्क से ज्यादा फ़ायदा नहीं उठाया। शायद इसकी वजह
अरब जाति नई थी, और मर्दानगी व उत्साह से भरी हुई थी; लेकिन दू
पुरानी थीं जो पुरानी लकीरों पर चली जाती थीं, और परिवर्तन की
नहीं करती थीं। यह मजेदार बात है कि उम्र का जैसा असर व्यक्ति
है, वैसा ही क़ौमों और नस्लों पर भी पड़ता है, उनकी गति धीमी प
उनके मन और शरीर बेलोच हो जाते हैं, वे परिवर्तन से घबराने ल
रूढ़िवादी बन जाती हैं।

इसलिए अरबों के इस सम्पर्क से, जो कई सौ वर्षों तक रहा,
ज्यादा असर नहीं पड़ा, और न उसमें कोई ख़ास परिवर्तन ही हुआ।
लम्बे समय में नये मजहब इस्लाम के बारे में भारत को कुछ-न-कुछ
ज़रूर हो गई होगी। अरब के मुसलमान आते और जाते रहे और मस्जि
रहे, कभी उन्होंने अपने मजहब का प्रचार किया और कभी कुछ लोगों को
भी बनाया। मालूम होता है कि उस समय इन बातों पर कोई ऐतराज़
जाता था और न हिन्दू धर्म और इस्लाम में कोई झगड़ा या संघर्ष हुआ।
ध्यान देने लायक़ है; क्योंकि बाद में इन दोनों में संघर्ष और लड़ाई-झग
ग्यारहवीं सदी में जब इस्लाम हाथ में तलवार लेकर, विजेता की तरह
दाखिल हुआ तभी ज़बर्दस्त प्रतिक्रिया शुरू हुई और पुरानी सहनशीलता
नफ़रत और संघर्ष ने ले ली।

यह तलवार चलानेवाला, जो आग और मार-काट लेकर भारत में आया, का महमूद था। ग़ज़नी अब अफ़ग़ानिस्तान में एक छोटा-सा क़स्बा रह गया वीं सदी में ग़ज़नी के आस-पास एक राज्य बन गया था। मध्य एशिया के ाम के लिए बग़दाद के ख़लीफ़ा के अधीन थे, लेकिन, जैसा कि मैं तुमको पहले चुका हूँ, हारूँ-अल-रशीद के मरने के बाद ख़लीफ़ा कमज़ोर हो गये, और य आया जब ख़लीफ़ाओं का साम्राज्य कई स्वाधीन राज्यों में बँट गया। ी समय की बात है, जिसका हम ज़िक्र कर रहे हैं। सुबुक्तगीन नामक एक ाम ने ९७५ ई० के लगभग ग़ज़नी और क़न्धार में अपना एक राज्य क़ायम ा था। उसने भारत पर भी हमला किया। उन दिनों लाहौर का राजा था। साहसी जयपाल ने सुबुक्तगीन के ख़िलाफ़ काबुल नदी के काँठे ाई कर दी, पर उसकी हार हो गई।

सुबुक्तगीन के बाद उसका बेटा महमूद गद्दी पर बैठा। वह एक तेजस्वी ति और घुड़सवारों का कुशल नायक था। हर साल वह भारत पर धावा , लूटता, मार-काट करता और अपने साथ बहुत-सा धन और बहुत-से जाता। कुल मिलाकर उसने भारत पर सत्रह हमले किये, जिनमें से सिर्फ़ श्मीर का धावा असफल रहा। बाक़ी सब धावे सफल हुए, और सारे उत्तर पर उसका आतंक छा गया। वह दक्षिण की तरफ़ पाटलिपुत्र, मथुरा और व तक जा पहुँचा। कहा जाता है कि थानेश्वर से वह दो लाख क़ैदी और ा धन ले गया था। लेकिन उसे ज़्यादा ख़ज़ाना सोमनाथ में मिला, वहाँ पर एक बहुत बड़ा मन्दिर था और सदियों की भेंट-पूजा वहाँ जमा हते हैं कि जब महमूद सोमनाथ के पास पहुँचा, तो इस आशा में कि कोई र होगा, और उनका पूज्य देवता उनकी मदद करेगा, हज़ारों आदमियों मन्दिर में शरण ली! लेकिन भक्तों की कल्पनाओं के बाहर चमत्कार शायद ी होते हों। महमूद ने मन्दिर को तोड़ डाला और उसे लूट लिया। पचास आदमी उस चमत्कार की, जो होनेवाला नहीं था, राह देखते-देखते मर गये।

महमूद १०३० ई० में मर गया। उस समय सारा पंजाब और सिन्ध उसके था। वह इस्लाम का एक बड़ा नेता माना जाता है, जो भारत में इस्लाम के लिए आया। बहुत-से मुसलमान उसकी इज़्ज़त करते हैं, बहुत-से हिन्दू नफ़रत करते हैं। लेकिन असल में वह मज़हबी आदमी नहीं था। वह मान ज़रूर था, लेकिन यह कोई ख़ास बात नहीं थी। असली बात तो यह थी कि क सिपाही था और बहुत होशियार सिपाही था। वह भारत को जीतने और आया था, जैसाकि बदक़िस्मती से अक्सर सिपाही किया करते हैं, और वह भी मज़हब का माननेवाला होता तो भी यही करता। यह दिलचस्प बात

है कि महमूद ने सिन्ध के मुसलमान शासकों को भी धमकी दी
उन्होंने उसकी अधीनता मंजूर कर ली और उसे ख़िराज दिया
था। उसने बग़दाद के ख़लीफ़ा को भी मौत की धमकी दी थी और
माँगा था। इसलिए हमें महमूद को एक सफल सिपाही के अला
दूसरी चीज़ समझने की आम ग़लतफ़हमी में नहीं पड़ना चाहिए।

महमूद बहुत-से भारतीय शिल्पकारों और मेमारों को अपने
ले गया था, और वहाँ उसने एक सुन्दर मस्जिद बनाई थी, जिसका
'उरूसे जन्नत' यानी स्वर्ग-वधू रक्खा था। बग़ीचों का उसे बड़ा शौ

महमूद ने मथुरा की एक झलक हमें दिखाई है, जिससे पता
मथुरा उस समय कितना बड़ा शहर था। महमूद ने ग़ज़नी के अपने
एक ख़त में लिखा था—"यहाँ एक हज़ार ऐसी इमारतें हैं, जो मोमि
की तरह मज़बूत हैं। यह मुमकिन नहीं कि यह शहर अपनी मौ
को बिना करोड़ों दीनार[1] ख़र्च किये पहुँचा हो, और न इस तरह का
दो सौ साल से कम में तैयार ही किया जा सकता है।"

महमूद का लिखा हुआ मथुरा का यह वर्णन हम फ़िरदौसी में
पढ़ते हैं। फ़िरदौसी महाकवि था और महमूद का समकालीन
ख़याल आता है कि पिछले साल एक पत्र में मैंने उसका और उसकी
'शाहनामा' का ज़िक्र किया है। एक कथा है कि शाहनामा महमूद के
लिखा गया था और उसने फ़िरदौसी को एक-एक शेर पर सोने की एक
देने का वादा किया था। लेकिन मालूम होता है फ़िरदौसी संक्षेप में
शब्दों में लिखने का क़ायल नहीं था। उसने बहुत ही विस्तार के साथ
जब वह महमूद के सामने अपने बनाये हज़ारों शेर ले गया, तो हाल
रचना की बहुत तारीफ़ की गई, लेकिन महमूद को जल्दबाज़ी में कि
वादे पर अफ़सोस हुआ। उसने उसे वादे से बहुत कम देने की कोशिश
फ़िरदौसी बड़ा नाराज़ हुआ और उसने कुछ भी लेने से इन्कार कर

हर्ष से महमूद तक हमने एक लम्बी छलाँग मारी है और साढ़े ती
से ज़्यादा समय का भारतीय इतिहास कुछ ही पैरों में देख लिया है।
हूँ कि इस लम्बे काल के बारे में बहुत-कुछ दिलचस्प बातें लिखी जा
लेकिन मैं उनसे परिचित नहीं हूँ, इसलिए अक़्लमन्दी की बात यही है
बारे में चुप रह जाऊँ। मैं तुम्हें अलग-अलग राजाओं और शासकों
कुछ-न-कुछ बता सकता हूँ, जो एक-दूसरे से लड़े और जिन्होंने उत्तर
कभी-कभी पांचाल जैसे बड़े-बड़े राज्य भी क़ायम किये। कन्नौज के बड़े

---

[1] दीनार—सोने का एक सिक्का।

तों का भी हाल मैं बता सकता हूँ कि किस तरह उसपर पहले कश्मीर के ओं ने फिर बंगाल के राजा ने और बाद में दक्षिण के राष्ट्रकूटों ने हमले किये थोड़े-थोड़े दिनों के लिए क़ब्ज़े किये, लेकिन इससे कोई फ़ायदा न होगा; तुम उलझन में फँस जाओगी।

यहाँ हम भारत के इतिहास के एक लम्बे अध्याय के अन्त तक आ पहुँचे हैं, अब एक नया अध्याय शुरू होता है। इतिहास को अलग-अलग हिस्सों में बाँटना ल होता है और अक्सर ग़लत भी। इतिहास बहती हुई नदी की तरह आगे ा ही रहता है। फिर भी इसमें परिवर्तन होते रहते हैं; एक पहलू का अन्त और की शुरुआत होती दिखाई देती है। ये परिवर्तन अचानक नहीं होते; एक परिवर्तन होने नहीं पाता कि दूसरा शुरू हो जाता है। इसलिए जहाँतक भारत का न्ध है, हम उसके इतिहास के अटूट नाटक के एक अंक तक पहुँच गये हैं। जिस को हिन्दू-काल कहा जाता है वह अब धीरे-धीरे ख़त्म होता है। हिन्दू-आर्य ति, जो कई हज़ार वर्षों से फूलती-फलती आ रही थी, अब एक नई आनेवाली ति के संघर्ष में आती है। लेकिन याद रखो कि यह परिवर्तन अचानक नहीं था; धीरे-धीरे आया था। इस्लाम उत्तर भारत में महमूद के साथ आया। ण भारत बहुत दिनों तक इस्लाम से अछूता रहा, और इसके बाद बंगाल भी व दो सौ वर्षों से ज़्यादा तक इस्लाम के प्रभाव से बचा रहा। हम देखते हैं कि र में चित्तौड़, जो आगे के इतिहास में अपनी जाँ-बाज़ बहादुरी के लिए मशहूर वाला था, राजपूत घरानों के एक जगह इकट्ठा होने की जगह बनने लगा था। न मुसलमानों की विजय का ज्वार पक्के और न बदलनेवाले रूप से आगे ता ही गया और व्यक्तिगत वीरता उसे ज़रा भी न रोक सकी। इसमें कोई शक ं कि पुराना हिन्दू-आर्य भारत गिरावट की तरफ़ जा रहा था।

विदेशियों और विजेताओं को रोकने में असमर्थ होने पर हिन्दू-आर्य संस्कृति चाव की नीति पकड़ी। अपने को बचाने की कोशिश में वह एक कोठरी में बन्द र बैठ गई। उसने अपनी जाति-प्रथा को, जिसमें अभी तक कुछ लोच बाक़ी ज़्यादा कड़ी और जड़ बना दिया। उसने स्त्रियों की आज़ादी कम कर दी। -पंचायतों की हालत भी धीरे-धीरे बदलकर बुरी हो गई। लेकिन इस हालत ी, जबकि वह एक ज़्यादा जीवटदार क़ौम के सामने गिर रही थी, उसने उन गों पर अपना असर डालने और उन्हें अपने साँचे में ढालने की कोशिश की। र इस आर्य-संस्कृति में दूसरों की बातों को अपनाने और हज़म करने की इतनी क़त थी कि, एक हद तक, इसने अपने विजेताओं के ऊपर भी साँस्कृतिक विजय सिल कर ली।

तुम्हें याद रखना चाहिए कि यह खींच-तान भारतीय-आर्य सभ्यता और

ऊँचे दर्जे की सभ्यतावाले अरबों के बीच नहीं थी। यह तो सभ्य, लेकि भारत और मध्य एशिया की उन आधी-सभ्य और अक्सर घुमक्कड़ क़ौ थी जिन्होंने ख़ुद ही उन्हीं दिनों इस्लाम क़बूल किया था। वदक़िस्मती ने इस्लाम का सम्बन्ध इस असभ्यता और महमूद के हमलों की साथ जोड़ दिया, जिससे कड़वाहट पैदा हो गई।

: ५२ :

यूरोप के देशों का रूप लेना

३ जू

प्यारी वेटी ! अब हम यूरोप की सैर करेंगे। पिछली वार जब ह ज़िक्र किया था तव उसकी हालत ख़राव थी। रोम का पतन, पश्चिम सभ्यता का पतन था। क़ुस्तुन्तुनिया की सरकार के अधीन हिस्से को पूर्वी यूरोप में भी ख़राव हालत थी। अतिला नामक हूण ने इस म वहुत वड़े हिस्से को जला डाला और तहस-नहस कर डाला था। ले रोमन साम्राज्य, गिरावट पर होते हुए भी, बना रहा। इतना ही नहीं, उसमें हलचल के उफ़ान भी आते रहते थे।

रोम के पतन ने पश्चिम को झँझोड़ दिया और उसके वाद वहां नये तरीक़े से जमने लगीं। इनके जमने में वहुत दिन लग गये। फिर भी जैसे-जैसे वनता जाता है, वह हमें कुछ हद तक नज़र आने लगता है। और शान्ति-प्रिय लोगों की मदद पाकर, और कभी अपने योद्धा राजाओं के ज़ोर पर, ईसाइयत फैलने लगी। नये-नये राज्य पैदा हो गये। फ़ान्स, और जर्मनी के एक भाग पर फ़्रैंक लोगों ने, जिन्हें तुम फ़्रेंच (फ़ान्स-निवा झने की भूल न करना, क्लोविस नामक शासक के मातहत एक राज्य बना ४८१ से ५११ ई० तक राज किया। यह राजवंश क्लोविस के दादा मेरोविंजी वंश कहलाता है। लेकिन इन राजाओं के ऊपर वहुत जल्दी दरवार का एक अफ़सर हावी हो गया। यह राजमहल का 'मेयर' था। ये मे शक्तिवाले हो गये और इनका यह पद मौरूसी हो गया। असली शासक राजा तो सिर्फ़ नाम के और कठपुतली थे।

चार्ल्स मार्तें भी इन्हीं राजमहल के मेयरों में से था, जिसने ७ फ़ान्स में तूर की वड़ी लड़ाई में सरासीनों को हराया था। इस विजय से मार्तें ने सरासीनों की उस लहर को रोक दिया जो मुल्क़ों को जीतती चली थी, और ईसाइयों की निगाह में उसने यूरोप को वचा लिया। इस जीत से इज्ज़त और शोहरत वहुत वढ़ गई। वह शत्रुओं से ईसाई सल्तनत की रक्षा

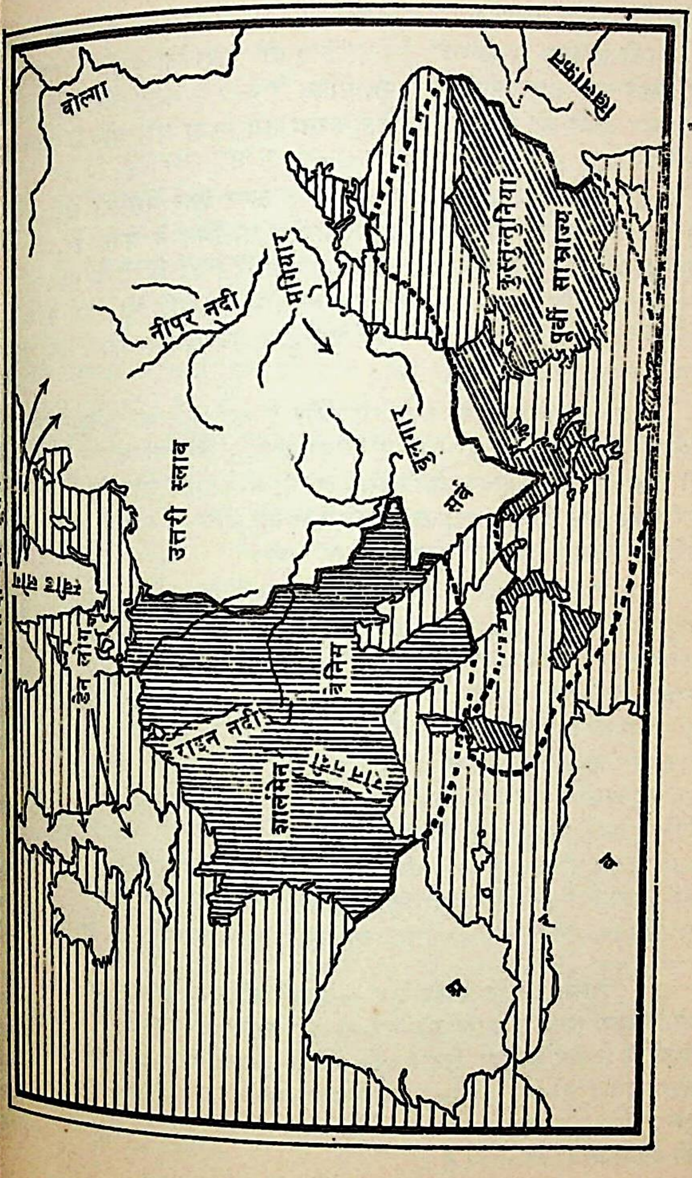
वोल्गा
नीपर नदी
मगियार
उत्तरी स्लाव
बुल्गार
सर्ब
कुस्तुनतुनिया
पूर्वी साम्राज्य
कैस्पियन
उत्तरी सागर
डेन लोग
राइन नदी
वेनिस
शार्लमेन
क
ब

वाला वीर माना जाने लगा। इन दिनों रोम के पोपों और क़ुंस्तुन्तुनिया
के आपसी सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। इसलिए पोप सहायता के लिए
मुंह देखने लगा। चार्ल्स मार्तें के पुत्र पेपिन ने वहाँ के कठपुतली राजा
उतारकर अपने को बादशाह घोषित करना तय किया और पोप ने
यह बात मान ली।

पेपिन का पुत्र शार्लमेन था। पोप के ऊपर फिर मुसीबत आई
शार्लमेन को अपने बचाव के लिए बुलाया। शार्लमेन ने मदद की
दुश्मनों को भगा दिया और ८०० ई० के बड़े दिन को गिरजे में एक
मनाया गया, जिसमें पोप ने शार्लमेन को रोमन सम्राट् का ताज
उसी दिन से पवित्र रोमन साम्राज्य शुरू हुआ, जिसकी बावत मैं तुम्हें
बार लिख चुका हूँ।

यह एक विचित्र साम्राज्य था, और इसका आगे का इतिहास तो
विचित्र है, क्योंकि वह धीरे-धीरे ग़ायब हो जाता है, जैसे 'एलिस इन दि
की चेशायर बिल्ली ग़ायब होकर सिर्फ़ अपनी मुस्कराहट छोड़ जाती है
शरीर का कोई निशान नहीं रहता। लेकिन यह आगे की बात है और
भविष्य में ताक-झाँक करने की ज़रूरत नहीं।

यह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' पुराने पश्चिमी रोमन साम्राज्य का
नहीं था। यह एक अलग ही चीज थी। यह अपने साम्राज्य को ही
झता था। इसका सम्राट्, शायद पोप को छोड़कर अपने को दुनिया
स्वामी मानता था। सम्राट् और पोप के बीच कई सदियों तक इस बात
डाँट रही थी कि दोनों में कौन बड़ा है। लेकिन यह भी अभी आगे की बात
दार बात यह है कि यह साम्राज्य उस पुराने साम्राज्य का पुनर्जीवन
था, जो किसी समय सर्वोपरि था और जब रोम दुनिया का स्वामी माना
लेकिन इसके साथ ईसाइयत और ईसाई-राज्य का एक नया विचार
गया था। इसलिए यह साम्राज्य 'पवित्र' बन गया था। सम्राट् को इस
ईश्वर का नायब जैसा समझा जाता था और यही बात पोप के लिए भी
राजनीतिक मामलों को निपटाता था, दूसरा आध्यात्मिक मामलों को।

---

[1] 'एलिस इन दि वण्डरलैण्ड'—अंग्रेज़ी की एक पुस्तक का नाम।
फ़ोर्ड विश्वविद्यालय के एक प्रोफ़ेसर ने, लुई केरोल के नाम से, एक मित्र
कियों के विनोद के लिए, सन् १८६५ में इसे लिखा था। यह पुस्तक बड़ी
और शायद ही कोई अंग्रेज़ी जाननेवाला बालक या बालिका ऐसी हो
इसे न पढ़ा हो। इस पुस्तक में एलिस नाम की एक लड़की की आश्चर्य
की स्वप्न-यात्रा का वर्णन है।

ही विचार था; और मैं समझता हूँ कि इसी विचार से यूरोप में राजाओं अधिकार' का ख़याल पैदा हुआ। सम्राट् 'धर्म का रक्षक' था। तुम्हें यह दिलचस्पी होगी कि इंग्लैण्ड का बादशाह अभी तक 'धर्म का रक्षक' ता है।

स सम्राट् का मुक़ाबला उस ख़लीफ़ा से करो जो 'अमीरुल मोमिनीन' था। शुरू में ख़लीफ़ा वास्तव में सम्राट् और पोप दोनों ही होता था। बाद में, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, उसकी हैसियत नाम की रह गई थी। कुंस्तुन्तुनिया के सम्राटों ने पश्चिम के इस नये उठे हुए 'पवित्र रोमन साम्राज्य' कूल पसन्द नहीं किया। जिस समय शार्लमेन गद्दी पर बैठा, क़ुस्तुन्तुनिया रीन नामक एक औरत सम्राज्ञी बन बैठी। आइरीन ऐसी स्त्री थी, जिसने बनने के लिए ख़ुद अपने ही पुत्र को मार डाला था और उसके समय में ी हालत ख़राब थी। यह भी एक वजह थी, जिससे पोप को यह साहस शार्लमेन को ताज पहनाकर क़ुस्तुन्तुनिया से नाता तोड़ ले।

ार्लमेन इस समय पश्चिमी ईसाई सल्तनत का नायक था। वह पृथ्वी पर ा नायब' था और एक पवित्र साम्राज्य का सम्राट् था। सुनने में ये शब्द ानदार मालूम पड़ते हैं! लेकिन इनसे जनता को चमका देने और उसे कर देने का काम सध ही जाता है। ईश्वर और धर्म को अपना मददगार सत्ताधारियों ने बहुत बार दूसरों को बेवक़ूफ़ बनाने और अपनी ताक़त ी कोशिशें की हैं। राजा, सम्राट् और धर्माचार्य इस तरह औसत आदमी रों में धुंधले और छाया-जैसे प्राणी बन जाते हैं, जो लोगों की निगाह में ों की तरह और साधारण जीवन से दूर हो जाते हैं। इस रहस्य की वजह से नसे भय खाने लगता है। दरबारों के तकल्लुफ़ी क़ायदों, शिष्टाचारों और ों की तुलना मन्दिरों और गिरजों में होने वाली पूजा के वैसे ही लम्बे-चौड़े रों से करो। दोनों में वही एक-से सर झुकाना, कोर्निश करना और दण्डवत् —जिसे चीनी लोग 'को-तो' करना कहते हैं। सत्ता के विविध रूपों की यह पन से ही हमें सिखाई जाती है। यह भय की उपासना है, प्रेम की नहीं।

ार्लमेन बग़दाद के हारूँ-अल-रशीद का समकालीन था। वह उससे पत्र-र करता था। और ग़ौर करने की बात है कि उसने सचमुच यह सुझाव ा कि वे दोनों मिलकर पूर्वी रोमन साम्राज्य और स्पेन के सरासीनों का ा करें। मालूम होता है, इस सुझाव का कोई फल नहीं निकला, लेकिन फिर राजाओं और राजनीतिकों के दिमाग़ों के रंग-ढंग पर काफ़ी रोशनी पड़ती ाई-शक्ति और अरब-शक्ति के ख़िलाफ़, 'पवित्र' सम्राट् ईसाई सल्तनत का

Divine Right of Kings.

नायक, बग़दाद के ख़लीफ़ा से मेल करे; इसकी कल्पना तो को होगा कि स्पेन के सरासीनों ने बग़दाद के अब्बासी ख़लीफ़ाओं को कर दि ा था। वे आज़ाद हो गये थे और बग़दाद उनसे जला-भुना ये दोनों एक-दूसरे से इतने दूर थे कि लड़ नहीं सकते थे। क़ुस्तुन्तुनिया के आपसी सम्बन्ध भी कुछ अच्छे नहीं थे। लेकिन यहाँ भी फ़ासले की नहीं हो पाई। बहरहाल यह सुझाव दिया गया था कि ईसाई और मिलकर दूसरी ईसाई शक्ति और दूसरी अरबी शक्ति से लड़ें। राजा असली नीयत यह होती थी कि किसी तरह शक्ति, सत्ता और दौलत लेकिन मज़हब को अक्सर इस नीयत का चोला बना दिया जाता ऐसा ही होता रहा है। भारत में हमने देखा है कि महमूद आया तो पर लेकिन उसने इस चीज़ से ख़ूब फ़ायदा उठाया। धर्म की दुहाई बहुत कमाइयाँ की हैं।

लेकिन हरेक युग में लोगों के विचार बदला करते हैं, और बहुत दिन पहले के लोगों के बारे में फ़ैसला देना मुश्किल है। यह याद रखनी चाहिए। बहुत-सी बातें, जो आज हमें ज़ाहिरा दिखाई देती हैं के लोगों को बहुत विचित्र मालूम होतीं और उनके सोचने के ढंग आदतें हमको अजीब मालूम होतीं। एक तरफ़ जब लोग ऊँचे आदर्शों साम्राज्य की, ईश्वर के नायब की, और ईसा की जगह लेनेवाले करते थे, तब उधर पश्चिम में हद से ज़्यादा ख़राब हालत थी। के कुछ ही दिन बाद इटली और रोम बहुत ही शर्मनाक हालत में थे। स्त्रियों और पुरुषों का एक घृणा पैदा करनेवाला झुण्ड मनमानी पोपों को बनाता-बिगाड़ता रहता था।

वास्तव में रोम के पतन के बाद पश्चिमी यूरोप में फैली हुई से लोगों के दिलों में यह ख़याल पैदा हो गया था कि साम्राज्य अगर हो जाय तो हालत सुधर जायगी। बहुतों के लिए यह इज्ज़त का कि उनका एक सम्राट् हो। उस समय का एक पुराना लेखक लिखता है को इसलिए सम्राट् बनाया गया, कि "ग़ैर-ईसाई यह समझकर ईसाइयों न करें कि ईसाइयों में सम्राट् का नाम बाक़ी नहीं रहा है।"

शार्लमेन के साम्राज्य में फ़्रान्स, बेलजियम, हालैण्ड, स्वीज़रलैण्ड, और आधा इटली शामिल थे। इसके दक्षिण-पश्चिम में स्पेन था, जो अधीन था। उत्तर-पूर्व में स्लाव[1] और दूसरे क़बीले थे। उत्तर में डेन[2] और

---

[1] यूगोस्लाविया के निवासी, [2] डैनमार्क के निवासी, [3] उत्तर यूरोप

ण-पूर्व में बलग़ारी और सर्व[1] थे और उनके आगे क़ुस्तुन्तुनिया के अधीन मन साम्राज्य था।

८१४ ई० में शार्लमेन की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद साम्राज्य की लूट रे के लिए झगड़े उठ खड़े हुए। उसके वंशज, जो कार्लोविंजियन (केरोल का लातीनी रूप है) कहलाते थे, किसी काम के नहीं थे, जैसाकि उनमें से उपाधियों से मालूम होता है—एक 'मोटा' कहलाता था, एक 'गंजा' और नदार'। शार्लमेन के साम्राज्य के बँटवारे से अब हम जर्मनी और फ़ान्स को पना अलग रूप लेता हुआ देखते हैं। ८४३ ई० से जर्मनी का एक रूप में जन्म माना जाता है, और कहा जाता है कि ९६२ से ९७३ ई० तक करनेवाले सम्राट् ओटो महान् ने जर्मनों को बहुत करके एक क़ौम बना फ़ान्स तो पहले से ही ओटो के साम्राज्य का हिस्सा नहीं था। ९८७ ई० पे ने कमज़ोर कार्लोविंजी राजाओं को निकाल दिया और फ़ान्स पर कर लिया। लेकिन क़ब्ज़ा पूरी तरह का नहीं था, क्योंकि फ़ांन्स बड़े-ाकों में बंटा हुआ था, जो स्वाधीन सरदारों के मातहत थे और ये सरदार में अक्सर लड़ा करते थे। लेकिन वे एक-दूसरे से उतना नहीं डरते थे, जितना और पोप से; और इन दोनों का मुक़ाबला करने के लिए मिल जाते थे। के समय से फ़ान्स की राष्ट्र के रूप में शुरुआत हुई और इस शुरू के काल में फ़ान्स और जर्मनी की लाग-डाँट दिखाई देती है, जो पिछले हज़ार वर्षों से रे ज़माने तक चली आ रही है। अजीब बात है कि फ़ान्स और जर्मनी जैसे ने सुसंस्कृत और ऊँची दिमाग़ी प्रतिभावाले पड़ोसी देश और राष्ट्र इस कलह को पीढ़ी-दर-पीढ़ी पालते रहे। लेकिन शायद इसमें उनका उतना हीं है, जितना उन प्रणालियों का, जिनके अधीन वे रहते आये हैं।

क़रीब-क़रीब इसी समय रूस भी इतिहास के रंग-मंच पर आता है। कहा है कि उत्तर के रूरिक नामक एक व्यक्ति ने ८५० ई० के लगभग रूसी की नींव डाली थी। इसी समय यूरोप के दक्षिण-पूर्व में बलग़ारी लोग जमने र वास्तव में कुछ हमलावर भी होने लगे; इसी तरह सर्व लोग भी। र या हंगेरी और पोल[2] लोग भी पवित्र रोमन साम्राज्य के और नये रूस के ं अपने राज्य बनाने लगे।

इसी बीच उत्तर यूरोप से कुछ लोग जहाज़ों में पश्चिमी और दक्षिणी देशों ं और यहाँ उन्होंने आगें लगाईं, हत्याएँ कीं और लूट-मार की। तुमने डेनों सरे नार्थमैनों के बारे में पढ़ा होगा, जो लूट-खसोट के लिए इंग्लैण्ड पहुँचे नार्थमैन या नार्समैन जो नार्मन कहलाये, भूमध्यसागर में गये, अपने जहाज़ों

---

[1] सरबिया के निवासी। [2] पोलैण्ड के निवासी।

को बड़ी-बड़ी नदियों के रास्ते से अन्दर ले गये और जहाँ कहीं पहुँ मारकाट और लूट-खसोट की। इटली में अराजकता थी और बहुत बुरी थी। इन लोगों ने रोम को लूट लिया और कुस्तुन्तुनि धमके। इन लुटेरों और डाकुओं ने फ़ान्स के पश्चिमी हिस्से पर, है, और दक्षिण इटली और सिसली पर क़ब्ज़ा जमाया और धीरे- गये और सामन्त व ज़मींदार बन बैठे, जैसा कि लुटेरे खुशहाल होने पर करते हैं। फ़ान्स के नारमण्डी प्रांत में बसे हुए इन्हीं नार्मनों ने विलियम की सेनानायकी में, जो 'विजेता' के नाम से मशहूर है, इं लिया। इस तरह हम इंग्लैण्ड की भी शक्ल बनते देखते हैं।

अब हम मोटे तौर पर यूरोप में ईसवी सन् के पहले हज़ार तक पहुँच गये हैं। इसी वक़्त ग़ज़नी का महमूद भारत पर हमले कर इसी समय के लगभग बग़दाद के अब्बासी खलीफ़ाओं की ताक़त टूट पश्चिमी एशिया में सेलजूक़ तुर्क इस्लाम को फिर से उठा रहे थे। अरबों के मातहत था, लेकिन वे अपने वतन अरब से बिलकुल दरअसल बग़दाद के शासकों के साथ उनके अच्छे ताल्लुक़ नहीं थे। अमली तौर पर बग़दाद की अधीनता से निकल चुका था। मिस्र में सरकार ही नहीं बल्कि एक अलग खिलाफ़त भी क़ायम हो गई थी के लिए मिस्र के खलीफ़ा ने उत्तरी अफ़्रीका पर भी राज किया

: ५३ :

सामन्त-प्रथा

४

अपने पिछले पत्र में हमने आज के फ़्रान्स, जर्मनी, रूस और इं बात की एक झलक देखी थी। लेकिन यह न समझ बैठना कि उस इन देशों को उसी रूप में जानते थे, जिसमें हम इन्हें आज जानते हैं। हम फ़ान्सिसियों और जर्मनों के राष्ट्रों का अलग-अलग विचार करते हैं से हरेक अपने देश को अपनी मातृभूमि या पितृ-भूमि की तरह मानता है यता की यह भावना है, जो आजकल संसार में इतनी ज़ाहिर हो रही में हमारी आज़ादी की लड़ाई हमारी 'राष्ट्रीय' लड़ाई है। लेकिन उ राष्ट्रीयता की यह भावना मौजूद नहीं थी। ईसाई-जगत् की कुछ थी—यानी काफ़िरों और मुसलमानों से अलग ईसाइयों के एक समाज के होने की भावना। इसी तरह मुसलमानों का भी खयाल इस्लामी दुनिया के हैं और उनके अलावा बाक़ी जितने हैं वे सब

लेकिन ईसाई-जगत् और इस्लाम की ये भावनाएँ धुंधली धारणाएँ थीं और की रोज़ाना ज़िन्दगी पर इनका कोई असर नहीं था। ख़ास-ख़ास मौक़ों पर वनाओं को उभाड़कर लोगों के दिलों में इस्लाम या ईसाइयत दोनों में ों के ख़िलाफ़ लड़ने का मज़हबी जोश भरा जाता था। राष्ट्रीयता के बजाय, आदमी के बीच एक अजीब तरह का सम्बन्ध था। यह सामन्ती सम्बन्ध सामन्त-प्रथा से पैदा हुआ था। रोम के पतन के बाद पश्चिम की पुरानी तहस-नहस हो गई थी। हर जगह गड़बड़, अराजकता, हिंसा और ज़बरदस्ती बाला था। ज़बर्दस्त लोग जो कुछ छीन सकते थे छीन लेते थे, और जबतक नसे ज्यादा ज़बर्दस्त आदमी आकर उन्हें पछाड़ नहीं देता, तबतक उसपर जमाये रहते थे। मज़बूत गढ़ैयाँ बनाई जाती थीं और इन गढ़ैयों के सरदार ारने के लिए अपने दलों के साथ बाहर निकलते थे। ये गाँवों में लूटमार , और कभी-कभी अपने ही जैसे सरदारों से लड़ते भी थे। नतीजा यह था ीब किसानों और खेतिहर मज़दूरों को ही सबसे ज्यादा मुसीबतें उठानी ीं। इसी गड़बड़ से सामन्त-प्रथा का जन्म हुआ था।

किसान संगठित नहीं थे और इन डकैत सरदारों से अपनी रक्षा नहीं कर े। इनकी रक्षा करने के लिए कोई ताक़तवर केन्द्रीय सरकार नहीं थी। इस बुराई से बचने का उन्होंने सबसे अच्छा उपाय यही देखा कि उन्हें ले इन गढ़ के सरदारों से समझौता कर लें। वे इस बात पर राज़ी हो गये के खेतों में जो कुछ पैदा हो उसका कुछ हिस्सा उन्हें दे दें और दूसरे रूप में की कुछ सेवा करें, बशर्ते कि वे इन्हें लूटना और परेशान करना छोड़ दें पने वर्ग के दूसरे लोगों से भी इनकी रक्षा करें। इसी तरह छोटी गढ़ैयों दारों ने बड़े गढ़ों के सरदारों से समझौता कर लिया। लेकिन छोटा सरदार रदार को खेत की कोई उपज नहीं दे सकता था, क्योंकि वह खुद किसान या ता करनेवाला नहीं होता था। इसलिए वह सैनिक सेवा का वादा करता नी ज़रूरत पड़ने पर उसकी तरफ़ से लड़ने का वचन देता था। इसके ें बड़ा सरदार छोटे की रक्षा करता था और छोटा बड़े का असामी हो था। इसी तरह सीढ़ी-दर-सीढ़ी यह सिलसिला बड़े सरदारों और सामन्तों लता था और अन्त में इस सामन्ती ढाँचे के सिरमौर बादशाह तक पहुँच था। लेकिन यह सिलसिला यहाँ भी ख़त्म नहीं होता। लोगों के लिए स्वर्ग त्रिदेव के रूप में एक तरह की सामन्त-प्रथा थी, जिसका अध्यक्ष ईश्वर

यूरोप में फैली हुई गड़बड़ में से यही सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे पैदा हुई। ाद रखना चाहिए कि उस वक़्त वास्तव में कोई केन्द्रीय सरकार नहीं थी;

न तो पुलिस के सिपाही ही थे और न इस क़िस्म की कोई दूसरी चीज़
किसी टुकड़े का मालिक, उसका शासक और सरदार तो था ही,
बसनेवाले तमाम लोगों का भी शासक और सरदार होता था।
का छोटा राजा था, जो उनकी सेवाओं और खेतों की उपज के
रक्षा करनेवाला माना जाता था। यह उनकी सेवा का हक़दार
था और वे उसकी रैयत या उसके तावेदार समझे जाते थे। माना
कि इसकी ज़मीन उस बड़े सामन्त की दी हुई होती थी, जिसका वह
था और जिसे वह सैनिक सेवा देता।

ईसाई-संघ के पादरी भी सामन्त-प्रथा के अंग थे। वे
सामन्ती सरदार दोनों थे। जर्मनी में तो क़रीब आधी ज़मीन और
और ऐबटों[1] के हाथ में थी। पोप ख़ुद एक बड़ा सामन्ती सरदार था।

तुम देखोगी कि इस सारी प्रथा में सीढ़ियाँ और वर्ग थे।
सवाल ही न था। तावेदार असामी सबसे नीचे होते थे और उन्हें
जिक ढाँचे का—छोटे सरदारों, बड़े सरदारों, उनसे बड़े सरदारों
का—सारा बोझ उठाना पड़ता था। ईसाई-संघ, यानी विशपों,
और मामूली पादरियों का सारा खर्च भी इन्हीं को वर्दाश्त करना
सामन्त लोग, चाहे छोटे हों या बड़े, अन्न या और किसी क़िस्म की
करने के लिए कोई मेहनत नहीं करते थे। ऐसा करना उनकी
समझा जाता था। लड़ाई इन लोगों का ख़ास धन्धा था और
नहीं होती थी तो ये शिकार में या नक़ली लड़ाइयों में और
गुज़ारते थे। यह अनपढ़ और अनगढ़ लोगों की एक ऐसी जमात थी
खाने-पीने और लड़ने के कोई और मनोरंजन के साधन नहीं जानती
अन्न और जीवन की दूसरी ज़रूरतों को पैदा करने का सारा बोझ
दस्तकारों पर पड़ता था। इस सारी प्रणाली की चोटी पर
जो ईश्वर का जागीरदार माना जाता था।

सामन्त-प्रथा के पीछे यही विचार था। कहने को सरदारों
अपने असामियों और तावेदारों की रक्षा करें, पर व्यवहार में ये
करते थे। बड़े सरदारों का या वादशाह का इन पर कोई अंकुश
किसानों में इतनी ताक़त नहीं थी कि इनकी माँगों को पूरा करने से
चूँकि ये लोग ज़्यादा ज़बर्दस्त होते थे, इसलिए अपने तावेदारों से
वसूल करते थे और उनके पास मुश्किल से इतना छोड़ते थे कि वे
की ज़िन्दगी बिता सकें। ज़मीन के मालिकों का यही ढंग हमेशा से

---

[1] बिशप और ऐबट पादरियों के दर्जे हैं।

ीन की मिल्कियत ने लोगों को ऊँचा बना दिया। लुटेरा नाइट[1], जो ज़मीन ठता और गढ़ैया बना लेता, अमीर-सरदार माना जाता था और सब उसकी करते थे? मिल्कियत से इख्तियार भी आ जाता है। और मालिकों ने ख्तियार का उपयोग करके, अन्न पैदा करनेवाले किसानों से, या मज़दूरों कुछ वसूल किया जा सका, किया है। क़ानून भी ज़मीन के मालिकों की मदद रहा है, क्योंकि क़ानून के बनानेवाले या तो वे खुद ही होते हैं या उनके यार- और यही वजह है कि आज कुछ लोगों का यह खयाल है कि ज़मीन किसी की मिल्कियत नहीं होनी चाहिए, बल्कि समाज की मिल्कियत होनी ए। अगर ज़मीन राज्य की या समाज की सम्पत्ति हो तो इसका मतलब यह कि ज़मीन उन सबकी है जो उस पर बसते हैं। और ऐसी हालत में न तो कोई मीन पर दूसरों की कमाई खा सकेगा और न कोई बेजा फ़ायदा ही उठा ा।

लेकिन ये विचार तो अभी पैदा ही नहीं हुए थे। जिस ज़माने की हम बात हे हैं, उस ज़माने के लोग इस ढंग से नहीं सोचते थे। जनता मुसीबत में थी, उसे अपनी मुश्किलों से छुटकारा पाने का कोई रास्ता नहीं दिखाई था। इसलिए बेचारे इन सब बातों को बर्दाश्त करते थे और ज़िन्दगी े थे। फ़रमाबरदारी की आदत उनमें कूट-कूटकर भर दी गई थी, एक दफ़ा जब ऐसा कर दिया जाता है तब लोग सब कुछ बर्दाश्त करने हैं। इस तरह हम एक ऐसा समाज बनता देखते हैं, जिसमें एक तरफ़ तो ती सरदार और उनके पिछलग्गू थे और दूसरी तरफ़ दीन-हीन लोग थे। र की पक्की गढ़ैया के चारों तरफ़ असामियों के मिट्टी या लकड़ी के ड़ों का जमघट होता था। दो क़िस्म की दुनियाएँ थीं, जो एक दूसरी से बहुत थीं। एक सरदारों की और दूसरी असामियों की। शायद सरदार अपने मियों को अपने पालतू मवेशियों से कुछ ही दर्जे ऊँचे समझता था!

कभी-कभी छोटे पादरी असामियों को उनके सरदारों के अत्याचार से ने की कोशिश करते थे। लेकिन आमतौर पर पादरी लोग सरदारों का ही ते थे और सच तो यह है कि पादरी लोग खुद भी सामन्ती सरदार होते

भारत में इस क़िस्म की सामन्त-प्रथा तो नहीं रही, लेकिन यहाँ इससे कुछ ती-जुलती प्रथा पाई जाती है। हमारी देशी रियासतों में राजाओं, सरदारों नेदारों और जागीरदारों ने बहुत-से सामन्ती रिवाज अबतक क़ायम रख

---

[1] नाइट (knight)—मध्यकालीन इंग्लैण्ड का योद्धा, जो सम्मानित समझा ता था। नाइट को 'सर' की उपाधि दी जाती थी।

छोड़े हैं। हालाँकि भारत की जाति-व्यवस्था सामन्त-प्रथा से बिल्कु
पर इसने समाज को वर्गों में बाँट दिया है। चीन में, जैसा मैं तुम्हें
कभी कोई निरंकुशता नहीं रही और न इस क़िस्म का कोई ख़ास
वर्ग ही रहा। इम्तहानों की इनकी प्राचीन प्रणाली ने हरेक व्यक्ति
से-ऊँचे ओहदों का दरवाज़ा खोल रखा था। लेकिन व्यवहार में अक्स
बन्दिशें रही होंगी।

सामन्त-प्रथा में समानता या आज़ादी का कोई ख़याल नहीं था
और कर्त्तव्यों का कुछ ख़याल ज़रूर था, यानी सामन्त का यह अधिकार
अपने असामियों से सेवा और खेत की उपज का कुछ भाग वसूल करे,
रक्षा करना वह अपना कर्त्तव्य समझता था। लेकिन अधिकार हमेशा
और कर्त्तव्यों की ओर से लोग अक्सर आँखें मूँद लेते हैं। आज भी
देशों में और भारत में बड़े-बड़े ज़मींदार पाये जाते हैं, जो बिना हा
अपने किसानों से बड़ी-बड़ी रक़में लगान में वसूल करते हैं।
कर्त्तव्य का ख़याल तो ज़माना हुआ उन्होंने भुला दिया है।

ताज्जुब की बात है कि यूरोप की पुरानी बर्बर क़ौमों ने,
आज़ादी इतनी प्यारी थी, धीरे-धीरे इस सामन्त-प्रथा को क़बूल कर
आज़ादी के लिए कोई जगह ही नहीं थी। पहले ये क़ौमें अपने मुखिया
थीं और उस पर रोक-थाम रखती थीं। लेकिन अब चुनाव का कोई
रह गया और सब जगह अत्याचारी और निरंकुश शासन हो गया।
सकता कि यह परिवर्तन क्यों हुआ। मुमकिन है कि ईसाई-संघ के
सिद्धान्तों ने लोकतन्त्र-विरोधी विचारों के फैलने में मदद दी हो। राजा
पर परमेश्वर की छाया माना जाने लगा और सर्वशक्तिमान की छाया से
हुज्जत करे और कौन उसका हुक्म मानने से इन्कार करे? इस साम
स्वर्ग और पृथ्वी दोनों शामिल हो गये थे।

भारत में भी हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता के प्राचीन आर्य-विचार
बदलने लगे। वे कमज़ोर होते गये और अन्त में लोग उन्हें बिलकुल
लेकिन जैसा मैंने तुम्हें बताया है, मध्य युगों की शुरुआत में ये विचार कु
पाये जाते थे। शुक्राचार्य के 'नीति-सार' से और दक्षिण भारत के
यह बात मालूम होती है।

यूरोप में जो नई शक्लें बन रही थीं, उनके नतीजे से कुछ आज़ा
धीरे फिर आने लगी। सामन्तों और असामियों, यानी ज़मीन के मालि
उस पर काम करनेवालों के अलावा, लोगों के और वर्ग भी थे, जैसे व्या
कारीगर। अपना-अपना काम करनेवाले ये लोग सामन्त-प्रथा के अं

के दिनों में व्यापार बिलकुल कम होता था और कारीगरी को भी फूलने-का मौक़ा नहीं मिलता था। लेकिन धीरे-धीरे व्यापार बढ़ा और मिस्त्रियों दागरों का महत्व बढ़ने लगा। वे धनवान हो गये और सामन्त व सरदार नके पास रुपया उधार लेने के लिए जाने लगे। ये लोग रुपया तो उधार देते न बदले में सामन्तों को मज़बूत करते थे कि वे इन्हें कुछ रियायतें दें। इन-तों से इनकी ताक़त बढ़ गई। इस तरह अब हम देखते हैं कि सामन्त की के चारों तरफ़ असामियों के झोंपड़ों के झुंड के बजाय, छोटे-छोटे क़स्बे पैदा गे, जिनमें गिरजों या पंचायत-घरों (गिल्ड हॉल) के चारों तरफ़ मकान गे। सौदागर और दस्तकार अपने-अपने संघ या समितियाँ बनाने लगे और मितियों के दफ़्तर पंचायत-घर बन गये। बाद में यही टाउन-हाल कहलाने

ये बढ़ते हुए शहर—कोलोन, फ़्रैंकफ़ुर्त, हैम्बुर्ग, वग़ैरा सामन्ती सरदारों क्त की बराबरी का दावा करनेवाले बन गये। इन शहरों में एक नया वर्ग व्यापारी-वर्ग पैदा हो रहा था, जो अपने धन की ताक़त पर अमीर सरदारों टक्कर लेने लगा था। दोनों में एक लम्बा संघर्ष चला। अक्सर बादशाह अमीरों और सामन्तों के प्रभाव से डरकर शहरों का साथ देता था। लेकिन बहुत आगे की बातें हैं।

मैंने इस पत्र के शुरू में यह बताया था कि इस ज़माने में राष्ट्रीयता की नहीं थी। लोग अपने बड़े सामन्त के लिए अपने कर्त्तव्य और अपनी वफ़ा-का ही खयाल करते थे। उसी की सेवा की प्रतिज्ञा करते थे, देश की नहीं। लिए बादशाह भी एक धुंधला-सा व्यक्ति था, जो उनसे बहुत दूर था। अगर सामन्त बादशाह के खिलाफ़ बग़ावत करता, तो यह बात उसी से सरोकार थी। उसकी रैयत को तो उसके पीछे चलना पड़ता था। यह चीज़ राष्ट्रीय से, जो बहुत दिन बाद पैदा हुई, बहुत अलग तरह की थी।

: ५४ :

चीन घुमक्कड़ क़बीलों को पश्चिम में खदेड़ देता है

५ जून, १९३२

मैंने बहुत दिनों से, क़रीब एक महीने से, तुम्हें चीन के और सुदूर-पूर्वी देशों रे में कुछ नहीं लिखा। हम पश्चिमी एशिया, भारत और यूरोप के बहुत-से शों की चर्चा कर चुके हैं। हमने अरबों को बहुत-से देशों में फैलते और उन्हें देखा और यूरोप को फिर अन्धेरे में गिरते और उससे बाहर निकलने की

कोशिश करते भी देखा। इस बीच चीन अपने ढँग पर चलता रहा बहुत अच्छी तरह चलता रहा। सातवीं और आठवीं सदियों में, ता शासन में, चीन शायद दुनिया का सबसे ज़्यादा सभ्य, खुशहाल देश था। यूरोप की तो इस देश से तुलना ही नहीं की जा सकती थी के पतन के बाद यूरोप बहुत पिछड़ गया था। उत्तर भारत की हा के ज़्यादातर हिस्से में गिरावट की रही। इस बीच कभी-कभी भी आये—जैसे हर्ष के राज में, लेकिन कुल मिलाकर भारत गिरता ही दक्षिण भारत अलबत्ता उत्तर से ज़्यादा ज़ोरदार था और समुद्र-पार श्रीविजय और अंगकोर, एक महान् काल में दाखिल हो रहे थे। कुछ ज़माने के चीन का मुक़ाबला करनेवाले अगर कोई राज्य थे, तो वे स्पेन के दोनों अरब राज्य थे। लेकिन ये दोनों राज्य भी कुछ ही ज़मा शान की चोटी पर रहे। मगर दिलचस्प बात यह है कि राजगद्दी एक ताङ सम्राट् ने अरबों से मदद की अपील की थी और इन्हीं की अपना राज वापस मिला था।

इस तरह सभ्यता में चीन उस ज़माने में सबसे आगे था और समय के यूरोपीय लोगों को आधे जंगलियों के दर्जे का समझता हो बाजिब ही था। जितनी दुनिया उस समय मालूम थी, उसमें चीन सबसे 'जितनी दुनिया मालूम थी' यह वाक्य मैं इसलिए इस्तेमाल करता हूँ मालूम उस समय अरेरिका में क्या हो रहा था। इतना हमें ज़रूर कि मैक्सिको, पेरू और आस-पास के देशों में कई सदियों से सभ्यता थी। कुछ बातों में ये हिस्से ख़ास तौर पर आगे बढ़े हुए थे, कुछ बातों ज़्यादा पिछड़े हुए थे। लेकिन मैं इन सब चीज़ों के बारे में इतना कि ज़्यादा कहने की हिम्मत नहीं कर सकता। फिर भी मैं चाहता हूँ कि और मध्य अमेरिका और 'इनका'[1], के पेरू राज्य की 'मय' सभ्यता रखना। मुझसे ज़्यादा विद्वान् लोग शायद इसके बारे में कुछ जानने योग्य बतावें। इतना मैं ज़रूर स्वीकार करूँगा कि मैं इनकी ओर बहुत हूँ, लेकिन जितना मेरा आकर्षण है उतनी ही कम मेरी जानकारी भी है।

मैं चाहता हूँ कि एक और बात भी तुम याद रक्खो। हम देख चुके हैं से घुमक्कड़ क़बीले मध्य एशिया में प्रकट हुए और वे या तो पश्चिम की में चले गये या भारत में उतर आये। हूण, शक, तुर्क और इसी तरह

---

[1] इनका (Inca)—दक्षिणी अमेरिका के पेरू नामक देश शासकों की उपाधि। 'इनका' एक प्रकार के दैवी पुरुष माने जाते 'इनकाओं' ने लगभग तीन सौ वर्ष तक राज्य किया।

हरों की तरह एक के बाद एक आती-जाती रहीं। सफ़ेद हूण, जो भारत आये, तिला हूण, जो यूरोप में थे, तुम्हें याद होंगे। सेलजूक़ तुर्क भी, जिन्होंने के साम्राज्य पर क़ब्ज़ा किया था, मध्य एशिया से आये थे। इसके बाद ी एक दूसरी शाखा के लोग, जिन्हें उस्मानी तुर्क कहा जाता है, आये। उन्होंने ुनिया को आख़िरी तौर पर जीत लिया और वे ठेठ विएना के दरवाज़े तक ाये। इसी मध्य एशिया या मंगोलिया से भयंकर मंगोल लोग भी आये थे, जो करते हुए यूरोप के ठेठ मध्य तक पहुँच गये, और जिन्होंने चीन को भी ासन में ले लिया। इसी मंगोल वंश के एक आदमी ने भारत में एक राजवंश ाम्राज्य की नींव डाली, जिसमें कई मशहूर शासक पैदा हुए।

मध्य एशिया और मंगोलिया के इन घुमक्कड़ क़बीलों से चीन को बराबर पड़ा। या शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि ये घुमक्कड़ लोग चीन ाबर परेशान करते रहे और चीन को अपनी रक्षा के लिए मजबूर होना इन्हींसे बचने के लिए चीन की 'बड़ी दीवार' बनाई गई थी। इसमें शक नहीं स दीवार से कुछ फ़ायदा ज़रूर हुआ, लेकिन हमलों से बचाने में यह कोई ज्यादा उपयोगी चीज़ नहीं साबित हुई। एक के बाद दूसरे सम्राट् को इन ड़ों को पीछे खदेड़ना पड़ा और जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ इन्हें इस तरह में ही चीनी साम्राज्य दूर पश्चिम में कैस्पियन समुद्र तक फैल गया। चीनी में साम्राज्य क़ायम करने की कोई ज़्यादा लालसा नहीं थी। इनके सम्राटों कुछ ज़रूर साम्राज्यवादी थे और दूसरे देशों को जीतने का हौसला रखते थे। और क़ौमों के मुक़ाबिले में चीनी लोग शान्ति-प्रिय थे और ये लड़ाई या दूसरे को जीतना पसन्द नहीं करते थे। चीन में विद्वानों को योद्धाओं से हमेशा ा आदर और कीर्ति मिलते रहे हैं। इस पर भी अगर चीन का साम्राज्य कभी-बहुत बढ़ गया, तो उसकी वजह बहुत करके यह थी कि उत्तर और पश्चिम की ुमक्कड़ क़बीले बराबर कोंचते रहते थे और हमले करते रहते थे, जिससे चीनी ुंझला उठते थे। शक्तिशाली सम्राट् इनसे हमेशा के लिए छुटकारा पा जाने ास्ते इन्हें बहुत दूर पश्चिम की ओर खदेड़ दिया करते थे। इस ढंग से वे इस ल को हमेशा के लिए तो हल नहीं कर पाये, लेकिन उन्हें कुछ राहत ज़रूर मिल

पर यों चीन-निवासियों को जो राहत मिली, उसका ख़मियाज़ा अन्य मुल्कों क़ौमों को उठाना पड़ा। क्योंकि जिन घुमक्कड़ों को चीनी भगाते थे वे जाकर देशों पर हमला करते थे। इसी तरह ये भारत आये और बार-बार यूरोप चीन के हन् सम्राटों ने हूणों, तातारियों और दूसरे घुमक्कड़ों को अपने यहाँ से कर दूसरे देशों में पहुँचा दिया और तांङ-सम्राटों ने तुर्कों को यूरोप को में दिया।

अभी तक तो चीनी लोग इन घुमक्कड़ क़बीलों से अपनी रक्षा
हद तक सफल रहे थे। लेकिन अब हम उस ज़माने की चर्चा करें
सफल नहीं रह सके।

जैसा कि हमेशा राजवंशों का हर जगह हाल हुआ करता है
धीरे-धीरे एक से ज़्यादा निकम्मे शासक होते गए, जिनमें ऐयाश
अपने पूर्वजों के कोई अच्छे गुण नहीं पाये जाते थे। राज्य भर में बेईं
और इसीके साथ-साथ भारी टैक्स लगा दिये गए, जिनका बोझ आ
लोगों पर पड़ता था। असन्तोष बढ़ा और दसवीं सदी के शुरू में, या
में, यह राजवंश ख़त्म हो गया।

लगभग पचास वर्ष तक छोटे-छोटे और अदना शासकों का सिल
रहा। लेकिन ९६० ई० में चीन के एक और बड़े राजवंश की शुरुआ
यह सुंङ-राजवंश था, जिसे काओ-त्सू ने क़ायम किया। लेकिन चीन
पर और अन्दर देश में भी, झगड़े जारी रहे। भारी लगानों का किसा
ज़्यादा बोझ पड़ता था, जिससे वे बहुत नाराज़ थे। भारत की तरह चीन
का सारा बन्दोबस्त ऐसा था कि वह जनता पर बड़ा ज़बर्दस्त बोझ था
और बिना इसे पूरी तरह बदले न तो शान्ति ही सम्भव थी और न
लेकिन जड़ से ऊपर तक इस क़िस्म के परिवर्तन करना हमेशा मुश्कि
चोटी के लोगों को चालू प्रणाली में फ़ायदा रहता है, और जब कि
की चर्चा होती है, ये लोग बहुत शोर मचाने लगते हैं। लेकिन अग
वक़्त पर नहीं किया जाता तो इसकी यह आदत है कि यह बिना बुलाये
है और सारी गाड़ी उलट देता है!

तांङ-राजवंश इसलिए ख़त्म हो गया कि उसने ज़रूरी परिवर्तन
इसी वजह से सुंङ-राजवंश को भी लगातार परेशानियाँ रहीं। एक
पैदा हुआ, जो सफल हो सकता था। इसका नाम वांङ-आन-शीह था
सदी में सुंङो का प्रधान-मंत्री था। जैसा कि मैंने तुम्हें पहले बताया है
शासन कन्फ़्यूशियस के विचारों के अनुसार होता था। कन्फ़्यूशियस के
परीक्षा सारे सरकारी अफ़सरों को पास करनी पड़ती थी और कन्
लेखों के ख़िलाफ़ जाने का कोई साहस नहीं कर सकता था। वांङ-आन
की अवहेलना तो नहीं की, लेकिन उसने इनका एक निराला ही अर्थ
किसी कठिनाई से बचने की ऐसी तरक़ीबें होशियार आदमी अक्सर नि
करते हैं। वांङ के कुछ विचार बहुत हद तक आजकल के ढंग के थे। उ
उद्देश्य यह था कि ग़रीबों के ऊपर से टैक्स का बोझ कम कर दे और धन
जो अदा कर सकते थे, बढ़ा दे। इसने लगानों में कमी कर दी और किसा

कि अगर रुपये की सूरत में लगान देना उनके लिए मुश्किल पड़े तो वे अनाज दूसरी उपज की सूरत में लगान अदा कर दें। धनवानों पर इसने 'आय-कम टैक्स) लगा दिया। यह टैक्स बिलकुल आधुनिक टैक्स समझा जाता न इसकी तजवीज़ चीन में हम नौ सौ वर्ष पहले पाते हैं। वांङ की यह भी थी कि किसानों की सहायता के लिए सरकार उन्हें तक़ावी दिया करे, फ़सल पर वापस कर दें। दूसरी कठिनाई यह थी कि अनाज का भाव घटता-ता था। बाज़ार-भाव जब गिर जाता है, तो ग़रीब किसानों को अपने खेतों न की बहुत कम क़ीमत मिलती है। वे उसे बेच नहीं सकते, फिर लगान लिए या कोई चीज़ ख़रीदने के लिए पैसे कहाँ से लायें? वांङ-आन-शीह मस्या को हल करने की कोशिश की। उसने यह तजवीज़ की कि अनाज को बढ़ने-घटने से रोकने के लिए सरकार को ग़ल्ला ख़रीदना और बेचना

ांङ की यह भी तजवीज़ थी कि सरकारी कामों के लिए बेगार न ली ो आदमी काम करे उसे उसकी पूरी मजदूरी दी जाय। उसने स्थानीय ना भी बनाई थी, जिसे 'पाओ-चिया' कहते थे। लेकिन बदक़िस्मती से पने ज़माने से बहुत आगे था, इसलिए कुछ समय बाद उसके सुधार ख़त्म सिर्फ़ उसकी रक्षक-सेना ही ८०० वर्ष से ऊपर क़ायम रही।

ुङों में इतनी हिम्मत नहीं थी कि जो समस्याएँ उनके सामने आईं उनका कर सकते। इसलिए इन लोगों ने धीरे-धीरे उन समस्याओं के आगे घुटने । उत्तर की जंगली क़ौमें, जिनको ख़ितन कहते थे, इन्हें बहुत परेशान करती को पीछे हटाने में अपने को असमर्थ पाकर सुंङों ने उत्तर-पश्चिम की ति से, जिन्हें 'किन' या 'सुनहरे तातारी' कहते थे, मदद माँगी। 'किन' लोगों र ख़ितनों को मार भगाया, लेकिन वे ख़ुद वहाँ जम गये और हटने से इन्कार । ताक़तवर से मदद माँगनेवाले कमज़ोर आदमी या कमज़ोर देश का अक्सर हुआ करता है। किन लोग उत्तर चीन के मालिक बन बैठे और उन्होंने को अपनी राजधानी बना लिया। सुंङ दक्षिण की ओर चले गये और ज्यों-न बढ़ते गये वे पीछे हटते गये। इस तरह उत्तर चीन में तो किन-साम्राज्य और दक्षिण में सुंङ-साम्राज्य। इन सुंङों को दक्षिणी सुंङ कहा गया है। वंश उत्तर में ९६० से ११२७ ई० तक रहा। दक्षिणी सुंङ दक्षिण चीन में ाद भी १५० वर्ष तक राज करते रहे। अन्त में १२६० ई० में मंगोलों ने उन्हें ख़त्म कर दिया। लेकिन चीन ने प्राचीन भारत की तरह इसका बदला और मंगोलों को भी अपने अन्दर मिलाकर और हज़म करके चीनी बना

इस तरह चीन ने घुमक्कड़ क़बीलों के सामने घुटने टेक दि
करते-करते भी उसने उन घुमक्कड़ों को सभ्यता सिखाई; इसलि
से नुकसान नहीं पहुँचा, जैसा कि एशिया और यूरोप के दूसरे हि

उत्तर और दक्षिण से सुंङ राजनीतिक लिहाज़ से उतने ता
जितने कि उनके पहले के तांङ लोग। लेकिन सुंङो ने तांङो की मह
की कला की परम्परा क़ायम रखी, बल्कि उसकी उन्नति भी की।
राज में दक्षिण चीन में कला और कविता बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँची
चित्र बनाये गए। इन चित्रों में प्रकृति के दृश्यों की विशेषता थी, क्यों
कार प्रकृति के प्रेमी थे। चीनी के बर्तन भी इस ज़माने में बनना शुरू
कारों के कुशल हाथों ने उन्हें सुन्दर बनाया। इन बर्तनों की बनावट
ज़्यादा सुन्दर और अद्भुत होती गई, यहाँ तक कि २०० वर्ष बाद,
के समय में, चमत्कारी सुन्दरता के बर्तन बनने लगे। मिङ्-युग के बं
कलश आज भी दिल को खुश करनेवाली दुर्लभ चीज़ समझे जाते हैं

: ५५ :

जापान में शोगुन का शासन

चीन से पीला समुद्र पार करके जापान पहुँचना बहुत आसा
जबकि हम जापान के इतने नज़दीक पहुँच गये हैं, इस देश की सं
मुनासिब होगा। तुम्हें जापान की पिछली बातें तो याद ही होंगी।
देखा था कि बड़े-बड़े घराने पैदा हो रहे थे और प्रभुत्व के लिए लड़
एक केन्द्रीय सरकार धीरे-धीरे प्रकट हो रही थी। सम्राट्, जो पहले
और बड़े कुटुम्ब का सरदार था, अब केन्द्रीय सरकार का अध्यक्ष
नारा की राजधानी केन्द्रीय सत्ता के चिह्न के तौर पर क़ायम की
बाद राजधानी बदल कर क्योतो कर दी गई। चीन की शासन-प्रणाली
गई थी और कला, धर्म और राजनीति में जापान ने बहुत-कुछ चीन
ज़रिये से सीखा था। जापान का नाम 'दाई निप्पौन' भी चीन से ही

हम यह भी देख चुके हैं कि फ़ूजीवारा नामक एक घराने ने
हथिया ली थी और वह सम्राट् को कठपुतली की तरह नचाता था।
इन्हीं का राज चलता रहा। आख़िरकार सम्राटों ने बेवस होकर
और मठों में आसरा लिया। लेकिन भिक्षु होने पर भी भूतपूर्व सम्राट्
हुए अपने पुत्र समाट् को सलाह-मशविरा देकर शासन के कामों में
देता था। इस तरीक़े से सम्राटों ने फ़ूजीवारा घराने से पैदा होनेवाले

द तक मिटाने की कोशिश की। हालाँकि काम करने का यह तरीक़ा बहुत था, लेकिन फिर भी इससे फ़ूजीवारा घराने की ताक़त बहुत कम हो गई। शक्ति सम्राटों के हाथ में होती थी, जो राजगद्दी छोड़-छोड़कर भिक्षु बनते । इसलिए उनको 'मठवासी सम्राट्' कहा गया है।

इस बीच दूसरे परिवर्तन हुए और बड़े-बड़े ज़मींदारों का, जो सैनिक भी थे, ा वर्ग पैदा हुआ। फ़ूजीवारों ने ही इन ज़मींदारों को बनाया था और इन्हें ी टैक्स जमा करने के लिए मुक़र्रर किया था। इनको 'दाइम्यो' कहते थे, ा अर्थ 'बड़ा नाम' है। अंग्रेज़ों के आने से पहले इसी क़िस्म का जो वर्ग हमारे ं पैदा हुआ, उसकी तुलना दाइम्यो से करना कुतूहल की बात है। खासकर के कमज़ोर बादशाह ने मालगुज़ारी वसूल करनेवाले मुक़र्रर किये थे। ये अपनी छोटी-छोटी फ़ौजें रखते थे, ताकि उनकी मदद से ज़बर्दस्ती वसूली कें और ज़ाहिर है कि वसूली का ज़्यादातर हिस्सा ये लोग अपनी ही जेबों में लिया करते थे। यही मालगुज़ारी वसूल करनेवाले कुछ लोग बढ़कर बड़े-ाल्लुक़ेदार बन गये।

दाइम्यो अपने पिछलग्गुओं और अपनी छोटी-छोटी सेनाओं की मदद से बहुत शाली हो गये। वे आपस में लड़ते थे और क्योतो की केन्द्रीय सरकार की परवाह नहीं करते थे। दाइम्यो के घरानों में दो घराने मुख्य थे—एक तायरा दूसरा मिनामोतो। इन लोगों ने ११५६ ई० में फ़ूजीवारों को दबाने में सम्राट् दद की। लेकिन बाद में वे एक-दूसरे पर हमले करने लगे। तायरा जीत गये इस इत्मीनानी के लिए कि बराबरी का घराना भविष्य में उन्हें परेशान न उन्होंने मिनामोतो घरानेवालों की हत्या कर डाली। उन्होंने सभी प्रमुख मोतों को मार डाला। सिर्फ़ चार बच्चों को छोड़ दिया, जिनमें एक बारह वर्ष लक योरीतोमो था। तायरा घराने ने मोनामोतों को ख़त्म कर देने की कोशिश की, लेकिन पूरी तरह नहीं। यह लड़का योरीतोमो, जिसे न-कुछ समझकर दिया गया था, बड़ा होकर तायरा घराने का कट्टर दुश्मन बन गया। उसके में बदला लेने की आग थी। वह अपनी अभिलाषा पूरी करने में सफल हुआ। तायरा लोगों को राजधानी से निकाल दिया और एक समुद्री लड़ाई में ी चकनाचूर कर दिया।

इसके बाद योरीतोमो ने सारी सत्ता हथिया ली और सम्राट् ने उसे 'सी-ए-शोगुन' की लम्बी-चौड़ी उपाधि दी, जिसका मतलब है 'बर्बरों का दमन करने-ा महान सेनापति।' यह ११९२ ई० की बात है। यह उपाधि पुश्तैनी थी और के साथ शासन के पूरे अधिकार भी जुड़े हुए थे। पर असली शासक शोगुन ही ा था। इस तरह जापान में शोगुनशाही क़ायम हुई। इसका दौर बहुत दिनों

तक, यानी करीब ७०० वर्ष तक रहा और क़रीब-क़रीब मौजू चला। लेकिन इस बीच आधुनिक जापान अपने इस सामन्ती खो बाहर निकल आया था।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि योरीतोमो के वंशजों की हैसियत से ७०० वर्ष राज किया। जिन घरानों से शोगुन निकले परिवर्तन हुए। गृह-युद्ध बराबर होते रहे, लेकिन शोगुनशाही—यानी वास्तविक शासक होना और सम्राट् के नाम पर, जिसे कोई अधि थे, राज करना—इस लम्बे अर्से तक जारी रही। अक्सर ऐसा भी शोगुन भी नाम का शासक रह जाता था और असली सत्ता कुछ हाथ में होती थी।

राजधानी क्योतो के विलासी जीवन से योरीतोमो बहुत घबरा उसका यह ख़याल था कि आराम की ज़िन्दगी उसे और उसके साथि ज़ोर बना देगी। इसलिए उसने कामाकुरा में अपनी सैनिक राजधानी इसीलिए यह पहली शोगुनशाही, 'कामाकुरा शोगनशाही' कहलाती है। ई० तक, यानी करीब १५० वर्ष रही। इस काल के ज्यादातर भाग शान्ति रही। बहुत वर्षों के गृह-युद्ध के बाद शान्ति का लोगों ने बहुत और खुशहाली का ज़माना शुरू हुआ। इस ज़माने में जापान की हालत यूरोप के किसी भी देश की हालत से कहीं बेहतर थी और इसका शास कारगर था। जापान चीन का योग्य शिष्य था, हालाँकि दोनों के नज़रि फ़र्क था। जैसा मैंने बताया है, चीन स्वभाव से ही शान्तिप्रिय और संतो दूसरी तरफ़ जापान एक उग्र सैनिक देश था। चीन में लोग सैनिकों को से देखते थे और लड़ाई का पेशा कुछ इज़्ज़तदार नहीं समझा जाता था। चोटी के सिपाही होते थे और लड़ाकू वीर या दाइम्यो उनका आदर्श

मतलब यह कि जापान ने चीन से बहुत-कुछ सीखा। लेकिन अपने से सीखा और उसने हरेक चीज़ को अपने जातीय स्वभाव के अनुरूप ढालने की कोशिश की। चीन के साथ उसका नज़दीकी सम्बन्ध बना व्यापार भी चलता रहा जो ज्यादातर चीनी जहाजों के ज़रिये होता था सदी के अन्त में यह सिलसिला अचानक रुक गया, क्योंकि मंगोल लोग कोरिया पहुँच गए थे। मंगोलों ने जापान को भी जीतने की कोशिश की, हटा दिये गए। इस तरह ये मंगोल, जिन्होंने एशिया की कायापलट दी को हिला दिया, जापान पर कोई ख़ास असर नहीं डाल पाये। जापान ढँग पर ही चलता रहा और बाहरी प्रभावों से पहले की बनिस्बत और दूर हो गया।

जापान के पुराने सरकारी विवरण में एक कहानी है कि इस देश में कपास ा सबसे पहले कैसे आया। कहते हैं कि कुछ भारतवासी, जिनका जहाज़ किनारे के नज़दीक़ डूब गया था, ७९९ ई० में कपास का बीज अपने साथ ले गये थे।

चाय का पौधा इसके बाद आया। सबसे पहले यह पौधा नवीं सदी की शुरु- पहुंचा था, लेकिन उस समय यह चल नहीं पाया। ११९१ ई० में एक बौद्ध ीन से चाय के बीज लाया था; इसके बाद चाय बहुत जल्दी लोकप्रिय हो ाय पीने की आदत से चीनी के सुन्दर बर्तनों की मांग पैदा हुई। तेरहवीं अन्त में चीनी के बर्तन बनाने की कला सीखने के लिए एक जापानी कुम्हार या और वहाँ छै वर्ष रहा। वापस आने पर उसने चीनी के सुन्दर जापानी बनाने शुरु किये। जापान में आजकल चाय पीना एक ललित कला है, जिसके क लम्बा-चौड़ा शिष्टाचार जुड़ गया है। अगर कोई जापान जाय तो उसे ग से चाय पीनी चाहिए, वरना उसे कुछ जंगली समझा जायगा।

: ५६ :

मनुष्य की खोज

१० जून, १९३२

चार दिन हुए, मैंने तुम्हें बरेली-जेल से पत्र भेजा था। उसी दिन शाम को अपना असबाब इकट्ठा करके जेल से बाहर जाने को कहा गया—छूटने ए नहीं, बल्कि दूसरी जेल में जाने के लिए। इसलिए मैंने उस बैरक के अपने ों से, जिनके साथ मैं ठीक चार महीने रहा था, बिदा ली। मैंने उस बड़ी चौबीस ी ऊँची दीवार पर आख़िरी नज़र डाली, जिसकी छाया में इतने दिन रहा था, ें थोड़ी देर के लिए बाहर की दुनिया फिर देखने के वास्ते निकल पड़ा। हम दमियों की बदली की जा रही थी। हमें बरेली स्टेशन नहीं ले गये, कि कहीं हमें देख न लें, क्योंकि हम लोग 'परदानशीन' हो गये थे, और दूसरे लोग ख नहीं सकते थे! मोटर से हमें पचास मील दूर वीरान जंगल में एक छोटे-से पर ले गये। इस सैर के लिए मैंने मन-ही-मन धन्यवाद दिया, क्योंकि कई के एकान्त के बाद रात की ठंडी हवा का स्पर्श और हलके अंधेरे में आद- जानवरों और पेड़ों की तेज़ी से भागती हुई 'छायाएँ, तबीयत को बड़ी भली होती थीं।

हम लोग देहरादून पहुंचाये जा रहे थे। बड़े तड़के ही, सफ़र की आख़िरी तक पहुंचने से पहले, हमें रेल से उतार लिया गया और फिर मोटर पर बिठा ाया गया, ताकि कहीं कोई हमें देख न ले।

और अब मैं देहरादून की छोटी-सी जेल में बैठा हूँ। यह अ जगह है। यहाँ गर्मी उतनी नहीं है, और तापमान बरेली की तरह १ पहुँचता। हमारे चारों तरफ़ की दीवारें भी नीची हैं और उनके पा वाले पेड़ ज्यादा हरे-भरे हैं। दीवार के उस पार दूर पर एक खजूर दिखाई देती है; इस दृश्य से मेरी तबीयत खुश हो जाती है और मलाबार की याद आ जाती है। इन पेड़ों के परली तरफ़ कुछ ही पर पहाड़ हैं, और इन पहाड़ों की चोटी पर मसूरी बसा हुआ है। मैं देख सकता, क्योंकि पेड़ों ने इनको छिपा रखा है, लेकिन इन पहाड़ों रहना, और रात में यह कल्पना करना कि बहुत दूर मसूरी के चि रहे हैं, अच्छा मालूम होता है।

चार वर्ष हुए—या तीन?—जब मैंने इन पत्रों का सिलसिल था, उस वक़्त तुम मसूरी में थीं। इन तीन या चार वर्षों में कितनी हो गईं, और तुम कितनी बड़ी हो गई हो। रह-रहकर और कभी-कभी के बाद मैंने इन ख़तों को जारी रखा है और ये ज्यादातर जेल में ही लेकिन जितना ही मैं लिखता जाता हूँ उतना ही मैं अपने लिखे को जाता हूँ; मुझे आशंका होने लगती है, कि कहीं ऐसा न हो कि ये पत्र न लगें और कहीं तुम्हारे लिए बोझ न बन जायं। ऐसी हालत में इन जारी रखूं?

मैं चाहता था कि तुम्हारे सामने एक-एक करके पुराने ज़माने जागती तस्वीरें रखूँ, ताकि तुम्हें यह भान हो सके कि हमारी यह दर-सीढ़ी किस तरह बदली, कैसे विकसित और उन्नत हुई, और पीछे हटती हुई नज़र आई; तुम्हें दिखलाऊँ कि पुरानी सभ्यताएं वे ज्वार-भाटे की तरह कैसे आगे बढ़ीं और पीछे फिर हटीं; तुम्हें कि इतिहास की नदी, चक्कर, भंवर और हृद बनाती हुई, किस तरह युगों से निरन्तर बहती चली आ रही है और अनजाने समुद्र की तर जा रही है। मैं चाहता था कि तुम्हें मनुष्य-जाति के पैरों की लीक कराऊँ और इस लीक पर शुरू से लगाकर आज तक, यानी जब नहीं बना था, तबसे आजतक जबकि वह अहंकार और बेवक़ूफ़ी से सभ्यता पर घमंड करने लगा है, तुम्हें ले चलूं। हम लोगों ने शुरू तो किया था। तुम्हें याद होगा कि मसूरी में हमने इस बात की चर्चा सबसे पहले आग और खेती का आविष्कार कैसे हुआ, लोग नगरों और मेहनत का बँटवारा कैसे हुआ। लेकिन ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़े त्यों हम साम्राज्यों वग़ैरा में उलझते गये, और उस लीक को खो बैठे।

हास की ऊपरी सतह पर ही चलते रहे हैं। मैंने तुम्हारे सामने पुरानी का एक ढाँचा ही रखा है। मैं चाहता हूँ कि मुझे इस ढाँचे पर माँस और ने की शक्ति मिल जाय ताकि मैं इसे तुम्हारे लिए सजीव और प्राणवान कूँ।

गर मैं जानता हूँ कि मुझमें वह शक्ति नहीं है और तुम्हें घटनाओं के ढाँचे फूंकने के इस चमत्कार को सफल बनाने के लिए अपनी ही कल्पना पर भरोसा ड़ेगा। फिर मैं तुम्हें ये पत्र क्यों लिखूं? क्योंकि प्राचीन इतिहास की बहुत-सी पुस्तकें तुम खुद ही पढ़ सकती हो। लेकिन इन शंकाओं के बावजूद भी का सिलसिला जारी रखा है और मेरा ख़याल है कि मैं इसे आगे भी जारी । जो वादा मैंने तुमसे किया था, वह मुझे याद है और इसे पूरा करने की मैं करूंगा। लेकिन इस वादे से भी ज्यादा वह आनन्द है, जो मुझे तुम्हारी उस वक़्त मिलता है, जब मैं लिखने बैठता हूँ और कल्पना करता हूँ कि पास बैठी हो और हम एक-दूसरे से बातें कर रहे हैं।

जब से मनुष्य लुढ़कता-पुढ़कता अपनी जंगली हालत से बाहर निकला तब की यात्रा का ज़िक्र मैंने ऊपर किया है। यह रास्ता लाखों वर्षों का रहा है, अगर तुम पृथ्वी की कहानी और आदमी के उसपर जन्म लेने के पहले युगों से इसका मुक़ाबला करो तो यह समय कितना कम है! लेकिन हमारे न तमाम बड़े-बड़े जानवरों के मुक़ाबले में, जो मनुष्य के पहले मौजूद थे, क़ुदरती तौर पर ज्यादा दिलचस्पी रखता है। यह इसलिए कि मनुष्य साथ एक नई चीज़ लाया था, जो शायद दूसरों में नहीं पाई जाती थी। यह द्धि और जिज्ञासा, यानी खोजने की और सीखने की इच्छा। इस तरह शुरू आदमी में खोज की धुन शुरू हुई। किसी छोटे बच्चे को देखो; वह अपने ओर की नई और विचित्र दुनिया को कैसे देखता है; आदमियों को और दूसरी को वह कैसे पहचानने लगता है और कैसे सीखता है। किसी छोटी लड़की को अगर वह तन्दुरुस्त और चौकस है, तो वह कितनी ही बातों के बारे में कितने ल करेगी। इसी तरह इतिहास के प्रभात में, जब मानव का बचपन था और नई और अद्भुत थी और उसके लिए कुछ डरावनी भी थी, उसने अपने तरफ़ नज़र डाली होगी और ग़ौर से देखा होगा और सवाल पूछे होंगे। वह अपने सिवाय सवाल पूछता भी किससे? कोई दूसरा जवाब देनेवाला नहीं हीं, उसके पास एक छोटी-सी अजीब चीज़ थी—बुद्धि। और उसकी मदद रे-धीरे तक़लीफ़ें उठाकर, वह अपने अनुभवों को जमा करता गया और उनसे ासिल करता गया। इस तरह शुरू के ज़माने से आज तक, मानव की खोज का ला चला आ रहा है। उसने बहुत-सी बातें मालूम कर ली हैं, लेकिन बहुत-

सी अभी मालूम करना बाक़ी हैं। जैसे-जैसे वह अपनी खोज के रास्ते है, उसे लम्बे-चौड़े नये मैदान सामने फैले हुए मिलते हैं, जो उसे ब अब भी अपनी खोज की आख़िरी मंज़िल से—अगर आख़िरी मंज़िल कितना दूर है।

मनुष्य की यह खोज क्या रही है और उसकी मंज़िल क्या है? से लोगों ने इन सवालों का जवाब देने की कोशिश की है। धर्म, विज्ञान, सबने इन सवालों पर विचार किया है और बहुत-से जवाब दि इन जवाबों से मैं तुम्हें परेशान नहीं करूँगा, क्योंकि ज्यादातर जवाब ही नहीं हैं। देखा जाय तो धर्म ने अपने ढंग पर इन सवालों का पूरा ज कोशिश की है। पर उसमें तर्क की गुंजाइश नहीं रक्खी। बहुत क की कोई परवाह नहीं की, और अपने फ़ैसले को हर तरह से जबर्द की कोशिश की है। विज्ञान के जवाब में सन्देह और हिचकिचाहट हो विज्ञान का स्वभाव यह है कि वह हठ-धर्मी नहीं करता। वह प्रयो करता है और मनुष्य की बुद्धि का सहारा लेता है। यह कहने की ज़रू मैं विज्ञान को और विज्ञान के तरीक़ों को ही पसन्द करता हूँ।

यह सम्भव है कि हम मनुष्य की खोज के बारे में इन सवालों भरोसे के साथ न दे सकें। लेकिन इतना हम देखते हैं कि यह खोज दो है। मनुष्य ने अपने बाहर की चीज़ों पर ग़ौर किया है और अपने भीत प्रकृति को समझने की कोशिश की है और अपने-आपको भी। यह खो एक ही है, क्योंकि आदमी ख़ुद प्रकृति का अंग है। भारत और यूनान के ज्ञानियों ने कहा है—"अपनेको जानो"। और उपनिषदों में इस प्राचीन भारत के आर्यों के इन अद्‌भुत और निरन्तर प्रयत्नों का ले यानी प्रकृति का ज्ञान विज्ञान का ख़ास विषय रहा है और इस दिशा जो तरक्क़ी की है, उसका परिचय आधुनिक जगत् को मिल रहा है, अ में विज्ञान अपने पंख और भी आगे पसार रहा है और इन दोनों रास् को हाथ में ले रहा है और उनको आपस में जोड़ रहा है। एक ओर बहुत दूर के सितारों की विश्वास के साथ खोज कर रहा है, और दूस उन निरन्तर गतिशील नन्हीं-नन्हीं चीज़ों, यानी इलैक्ट्रनों और प्रोट भी बता रहा है जिनसे सारा पदार्थ बना है।

मनुष्य की बुद्धि ने उसे उसकी खोज की यात्रा में काफ़ी दूर त पहुँचा दिया है। जैसे-जैसे मनुष्य प्रगति को समझना सीखता जाता है वह उसका उपयोग करके उसे अपने फ़ायदे के कामों में लगाता जाता है तरह उसने ज्यादा शक्ति हासिल कर ली है। लेकिन अफ़सोस है कि

का उसने ठीक ढंग से इस्तेमाल नहीं किया बल्कि अक़्सर बेजा इस्तेमाल है। मनुष्य ने विज्ञान का ज्यादातर उपयोग ऐसे भयंकर अस्त्र बनाने के लिए है. जिनसे वह अपने ही भाइयों को मार डाले और इतनी मेहनत से तैयार ई सभ्यता को नष्ट कर दे।

: ५७ :

ईसा के बाद के पहले हज़ार वर्ष

अब यह ठीक मालूम होता है कि हम अपनी यात्रा की जिस मंज़िल पर आ है, वहाँ थोड़ी देर के लिए ठहर जायँ और चारों तरफ़ नज़र डाल लें। हम कितनी पहुँचे हैं, इस समय कहाँ हैं और दुनिया की क्या हालत है ? आओ हम अला-ी जादुई क़ालीन पर बैठकर उस समय की दुनिया के तरह-तरह के हिस्सों छ सैर कर लें।

हम ईसाई सन् के पहले हज़ार वर्षों में सफ़र कर चुके हैं। कुछ देशों में हम ागे बढ़ गये हैं और कहीं इस मंज़िल से कुछ पीछे भी रह गये हैं।

एशिया में इस समय हम चीन को सुंङ-राजवंश के अधीन देखते हैं। महान् राजवंश खत्म हो चुका था और सुंङों को एक तरफ़ घरेलू झगड़ों का सामना पड़ रहा था और दूसरी तरफ़ उत्तर के बर्बर खितनों के विदेशी हमले का। वर्षों तक उन्होंने मुक़ाबला किया, लेकिन फिर अपनी कमज़ोरी की वजह से दूसरे बर्बर क़बीले 'सुनहरे तातारों' या 'किन' लोगों से मदद माँगनी पड़ी। आये, लेकिन वहीं जम गये और बेचारे सुंङों को खिसककर दक्षिण चले जाना जहाँ दक्षिण सुंङों के नाम से उन्होंने डेढ़ सौ वर्षों तक राज किया। इस बीच हाँ ललित कलाओं की, और चित्रकला व चीनी के बर्तन बनाने की कला की, उन्नति हुई।

कोरिया में आपस की फूट और संघर्ष के दिनों के बाद ९३५ ई० में एक स्वाधीन राज्य क़ायम हुआ और यह बहुत दिनों तक, क़रीब साढ़े चार सौ बना रहा। कोरिया ने चीन से अपनी सभ्यता, कला और शासन-प्रणाली के में बहुत-कुछ सीखा। धर्म और थोड़ी बहुत कलाएँ चीन होकर भारत से कोरिया और जापान को भी गईं। पूर्व में बहुत दूर एशिया के सन्तरी की तरह स्थित जापान, ा से क़रीब-क़रीब कटा हुआ, अपनी ज़िन्दगी गुज़ार रहा था। फ़ूजीवारा खान-सर्वोपरि हो गया था और उसने सम्राट् को, जो अब एक कुल के सरदार से ज़्यादा हैसियतवाला हो गया था, पीछे डाल दिया था। इसके बाद शोगुन

एशिया तथा योरप—१००० ई०

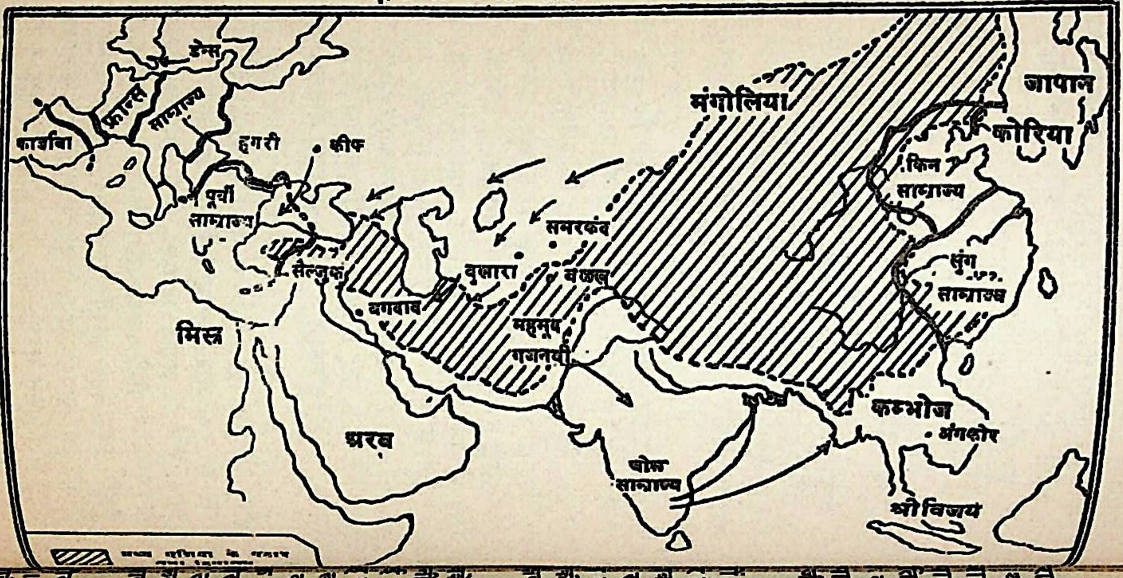
जापान
कोरिया
खितन साम्राज्य
सुंग साम्राज्य
मंगोलिया
समरकंद
बुखारा
बलख
महमूद गजनवी
कम्भोज
अंगकोर
श्रीविजय
चोल साम्राज्य
बगदाद
सेल्जूक
अरब
मिस्र
पूर्वी साम्राज्य
हंगरी
कीफ
डेन्स
फ्रान्स
साम्राज्य
कार्डोवा
मध्य एशिया के

मलेशिया में भारतीय उपनिवेश फूल-फल रहे थे। शानदार अंकोर काम्बोज राजधानी था और यह राज्य अपनी शक्ति और उन्नति की चोटी पर पहुँच था। सुमात्रा में श्रीविजय एक बड़े बौद्ध साम्राज्य की राजधानी था। इस ाज्य का सारे पूर्वी टापुओं पर अधिकार था और इनके साथ उसका बहुत बड़ा ार चलता था। पूर्वी जावा में एक स्वाधीन हिन्दू-राज्य था, जो बहुत जल्द ति करके व्यापार और व्यापार से पैदा होनेवाले धन के लिए श्रीविजय से करते हुए उसके साथ भयंकर लड़ाई में उतरनेवाला था। और, जैसा कि ार के लिए आजकल के यूरोपीय राष्ट्र करते हैं, इसने अन्त में श्रीविजय जीत लिया और नष्ट कर डाला।

भारत में उत्तर और दक्षिण एक दूसरे से इतने अलग हो गये कि जितने पिछले ों से कभी नहीं रहे थे। उत्तर में महमूद ग़ज़नवी बार-बार धावे मार रहा था र विनाश और लूटपाट कर रहा था। वह अपार धन लूटकर ले गया और उसने ब को अपने राज्य में मिला लिया। दक्षिण में हम देखते हैं कि चोल-साम्राज्य रहा था और राजराजा व उसके पुत्र राजेन्द्र के शासन में उसकी शक्ति दिन- बढ़ रही थी। उन्होंने दक्षिण भारत पर अपना सिक्का जमा लिया था और की जल-सेनाएँ अरब-सागर और बंगाल की खाड़ी पर हावी हो रही थीं। लंका, ण बरमा और बंगाल पर भी उन्होंने धावे किये थे।

मध्य और पश्चिम एशिया में हम बग़दाद के अब्बासी साम्राज्य के कुछ शेष देखते हैं। बग़दाद अभी तक फूल-फल रहा था और एक नये शासक वर्ग, नी सेलजूक़ तुर्कों के अधीन उसकी ताक़त बढ़ रही थी। लेकिन पुराना साम्राज्य ई राज्यों में बँट चुका था। इस्लाम अब एक साम्राज्य नहीं रह गया था बल्कि बहुत-से देशों और क़ौमों का सिर्फ़ मज़हब रह गया था। अब्बासिया साम्राज्य ल-डहर से ग़ज़नी की सल्तनत पैदा हुई, जिसपर महमूद ने राज किया और जहाँ वह भारत पर झपट्टे मारता रहता था। हालाँकि बग़दाद का साम्राज्य टूक- हो गया था, लेकिन बग़दाद ख़ुद अभी तक बहुत बड़ा शहर बना हुआ था, र दूर-दूर के विद्वानों और कलाकारों को अपने यहाँ खींच रहा था। मध्य एशिया उस समय कई बड़े और मशहूर शहर उन्नति कर रहे थे, जैसे बुख़ारा, समरक़न्द, ख वग़ैरा। इन शहरों के बीच ख़ूब व्यापार हुआ करता था और बड़े-बड़े क़ारवाँ ापार का माल एक शहर से दूसरे शहर को लाते-लेजाते थे।

मंगोलिया में और उसके आसपास घुमक्कड़ों के नये क़बीलों की संख्या र ताक़त बढ़ रही थी। दो सौ वर्ष बाद ये सारे एशिया के ऊपर टूट पड़नेवाले । आज भी मध्य और पश्चिमी एशिया की मुख्य नस्लें, इसी मध्य एशिया से ई हुई हैं, जहाँ घुमक्कड़ क़बीलों की नस्लें पैदा होती हैं। चीनियों ने इन्हें पश्चिम

की तरफ़ खदेड़ दिया था और कुछ तो इनमें से भारत की तरफ़ औ की तरफ़ फैल गये थे। इसी समय पश्चिम की ओर खदेड़े गये से बग़दाद के साम्राज्य का सितारा फिर बुलन्द किया, और क़ुस्तुन् रोमन साम्राज्य पर हमला करके उसे हरा दिया।

यह तो एशिया की बात रही। लाल समुद्र के उसपार मिस्र से बिलकुल स्वाधीन था। मिस्र के मुसलमान शासक ने अपने को ऐलान कर दिया था। उत्तरी अफ़्रीका भी एक स्वाधीन मुसलमानी जिब्राल्टर जलडमरूमध्य के उसपार स्पेन में भी एक स्वाधीन था, जिसे क़ुर्तुबा या कार्डोबा की अमीरत कहा गया है। इसके बारे में कुछ बताऊँगा। लेकिन इतना तो तुम जानती ही हो कि जब अब्बा का राज आया तो स्पेन ने उनकी मातहती क़बूल नहीं की थी। उस स्वाधीन ही था। फ़्रान्स को जीतने की इसकी कोशिश को चार्ल्स मार्टेल ही नाकामयाब कर दिया था। अब स्पेन के उत्तरी हिस्से के ईसाई रा थी कि मुसलमानों पर हमला करें। और ज्यों-ज्यों ज़माना गुज़रा इ भी बढ़ता गया। लेकिन जिस वक़्त की बात हम कर रहे हैं, उस व अमीरत एक बड़ा और प्रगतिशील राज्य था और सभ्यता और विज्ञ के और देशों से कहीं आगे था।

स्पेन को छोड़कर यूरोप कई ईसाई राज्यों में बँटा हुआ था। इ ईसाइयत सारे महाद्वीप में फैल चुकी थी। और वीरों और देवी-देवता मज़हब यूरोप से क़रीब-क़रीब ग़ायब हो चुके थे।

आजकल के यूरोपीय देशों की शक्लें बनने लगी थीं। ९८७ ई की मातहती में फ़्रान्स का नाम सामने आया। इंग्लैण्ड में डेनमार्क का समुद्र की लहरों को पीछे हटने का हुक्म देने के कारण मशहूर है, १० करता था और पचास वर्ष बाद नॉरमण्डी में 'विजेता' विलियम आया। रोमन साम्राज्य का हिस्सा था, लेकिन साफ़ तौर पर वह एक राष्ट्र बनता हालाँकि वह अभी तक बहुत-सी छोटी-छोटी रियासतों में बँटा हुआ था की तरफ़ फैल रहा था और क़ुस्तुन्तुनिया को अपने जहाज़ों से अक्सर था। यह उस अजीब आकर्षण की शुरुआत थी, जो क़ुस्तुन्तुनिया के दिल में हमेशा रहा है। रूस को इस बड़े शहर को पाने की लालसा एक से लगी हुई थी और उसे उम्मीद थी कि चौदह वर्ष हुए खत्म होने महायुद्ध के बाद, यह शहर उसे मिल जायगा। लेकिन क्रान्ति ने अचा पुराने रूस की सारी योजनाओं को उलट दिया।

नौ सौ वर्ष पुराने यूरोप के नक़शे में तुम्हें पोलैण्ड और हंगरी भी दि

रहा करते थे, और बलग़ारियों के और सर्बों के राज्य भी दिखाई देंगे। तुम र्वी रोमन साम्राज्य को भी पाओगी, जिसे चारों ओर से कई दुश्मन घेरे लेकिन वह अपने ढर्रे पर चला जा रहा था। रूसियों ने उसपर हमला किया; यों ने उसको तंग किया और नॉर्मन समुद्र के रास्ते बराबर उसे परेशान हे। और अब सबसे ज़्यादा खतरनाक सेलजूक़ तुर्क निकले, जो उसकी को ही खत्म करना चाहते थे। लेकिन इन दुश्मनों और बहुत-सी दूसरी यों के बावजूद भी यह साम्राज्य अभी ४०० वर्ष तक खत्म होनेवाला नहीं अद्भुत जमे रहने की कुछ वजह यह थी कि क़ुस्तुन्तुनिया की स्थिति बहुत थी। यह ऐसी अच्छी जगह पर बसा था कि किसी दुश्मन के लिए इसपर क़ब्ज़ा मुश्किल था। कुछ वजह यह भी थी कि यूनानियों ने सुरक्षा का एक नया ाद किया था। इसका नाम 'यूनानी आग' था। यह कोई ऐसा मसाला था ी के छूते ही जलने लगता था। इस यूनानी आग के ज़रिये से क़ुस्तुन्तुनिया दर्रे दानियाल को पार करके हमला करने की कोशिश करनेवाली फ़ौजों जों में आग लगाकर उनकी फ़ौजों को तहस-नहस कर देते थे।

ईसवी सन् के १००० वर्षों के बाद यूरोप का यह नक़शा था। उसी वक़्त लोग अपने जहाज़ों में आ रहे थे और भूमध्यसागर के किनारे के शहरों को मुद्रों में चलनेवाले जहाज़ों को लूट रहे थे। सफलता मिलने से ये वास्तव में भी बनते गये। फ़्रान्स में ये लोग उसके पश्चिमी हिस्से, नॉरमण्डी, में बस गये न्स को अड्डा बनाकर उन्होंने इंग्लैण्ड को जीत लिया था। सिसली का टापू मुसलमानों से छीन लिया और उसमें दक्षिण इटली को जोड़कर 'सिसीलिया ज्य' क़ायम कर दिया।

यूरोप के मध्य में, उत्तरी समुद्र में रोम तक, 'पवित्र रोमन साम्राज्य' पसरा था, जिसमें बहुत-सी रियासतें थीं और सबका अध्यक्ष एक सम्राट् था। जर्मन और रोम के पोप के बीच प्रभुत्व के लिए बराबर खींच-तान बनी रहती कभी सम्राट् का पासा भारी रहता और कभी पोप का, लेकिन धीरे-धीरे की शक्ति बढ़ती गई। बहिष्कार यानी किसी आदमी को समाज से छेककर से वंचित कर देने की धमकी का भयंकर हथियार पोपों के हाथ में था। एक अभिमानी सम्राट् को तो इतना ज़लील किया कि माफ़ी माँगने के लिए र्फ़ में नंगे पाँव पोप के पास जाना पड़ा था और कनौज़ा (इटली) में पोप वास-स्थान के बाहर इसी तरह उस समय तक खड़े रहना पड़ा था, जबतक प ने मेहरबानी करके उसे अन्दर आने की इजाज़त नहीं दी!

हम देख रहे हैं कि इस समय यूरोप के देश शक्ल लेने लगे थे। फिर भी ाज के देशों से बिलकुल अलग तरह के थे—खासकर उनके निवासी तो थे

ही। ये लोग अपने को फ़ान्सीसी, अंग्रेज़ या जर्मन कभी नहीं कह
किसान बहुत मुसीबत में थे और अपने देश या भूगोल के बारे में
थे; सिर्फ़ इतना जानते थे कि हम अपने जागीरदार के चाकर हैं
आज्ञा का पालन करना है। अगर अमीर सामन्तों से कोई पूछता
हो, तो वे यही जवाब देते कि हम किसी-न-किसी जगह के
किसी बड़े सरदार के या बादशाह के तावेदार हैं। यही सामन्तशाही
यूरोप में फैली हुई थी।

धीरे-धीरे जर्मनी में, और ख़ासतौर से उत्तरी इटली में, बड़े
लगे। पेरिस भी उस वक़्त एक मशहूर शहर था। ये शहर व्यापार
के केन्द्र थे और वहाँ बहुत दौलत इकट्ठी होती जाती थी। ये शहर
पसन्द नहीं करते थे और इन दोनों के बीच हमेशा खींच-तान रहती थी
पैसे की जीत हुई। सामन्तों और सरदारों को क़र्ज़े देकर शहरों ने
रियासतें और सत्ता खरीदीं। और इस तरह शहरों में धीरे-धीरे
पैदा हो गया, जिसकी इस सामन्तशाही से कभी नहीं पटी।

इस तरह हम देखते हैं कि यूरोप का समाज सामन्ती ढांचे
सी तहों में बँट गया था और ईसाई-संघ भी इस प्रणाली को अपना
आशीर्वाद देता था। राष्ट्रीयता की कोई भावना नहीं पाई जाती
सारे यूरोप में, ख़ासकर ऊँचे वर्ग में, ईसाई-राज्य की भावना
ऐसी चीज़ थी जो यूरोप के ईसाई-राष्ट्रों को एक सूत्र में बाँधती
ने इस भावना के फैलाने में मदद की क्योंकि इससे वह मज़बूत होता
के पोप की शक्ति बढ़ती थी, जो उस वक़्त पश्चिमी यूरोप में ईसाई-संघ
अध्यक्ष बन चुका था। तुम्हें याद होगा कि रोम पूर्वी रोमन साम्राज्य और
से अलग हो चुका था। क़ुस्तुन्तुनिया में ईसाइयों का वही पुराना
चला आ रहा था और रूस ने भी अपना मज़हब यहीं से लिया।
यूनानी लोग पोप को नहीं मानते थे।

लेकिन ख़तरे के मौक़े पर, जब क़ुस्तुन्तुनिया को दुश्मनों ने
ख़ासकर सेलजूक़ तुर्कों ने इसपर हमला किया, तो वह अपने अभि
रोम की नफ़रत को भूल गया, और उसने मुसलमान विधर्मियों के
से मदद माँगी। उस वक़्त रोम में एक महान् पोप हिल्देब्रांद था,
सप्तम् के नाम से गद्दी पर बैठा। इसी हिल्देब्रांद के सामने कनोज़ा में
सम्राट् नंगे पैर, गिरती हुई बर्फ़ में, हाज़िर हुआ था।

उस समय यूरोप के सारे ईसाइयों के दिलों में एक दूसरी घट
मचा दी थी। बहुत-से श्रद्धालु ईसाइयों का विश्वास था कि ईसा के

द दुनिया का एकदम अन्त हो जायगा। 'मिलीनियम'[1] शब्द का अर्थ 'एक वर्ष' है। यह शब्द दो लातीनी शब्दों से मिलकर बना है; 'मिली' यानी और 'एनस', यानी साल। चूँकि एक हज़ार वर्ष के बाद दुनिया के अन्त की की जाती थी, इसलिए मिलीनियम शब्द का मतलब हो गया—एकदम न से बेहतर दुनिया बनाना। मैंने तुम्हें बताया है कि यूरोप में उस वक़्त वाही थी और 'मिलीनियम' का यह नज़ारा बहुत-से परेशान लोगों को देता था। बहुत-से लोग अपनी ज़मीनें बेच-बेचकर फ़िलस्तीन चले गए जब दुनिया का अन्त हो तो उस समय वे अपनी 'पवित्र भूमि' में मौजूद

लेकिन दुनिया का अन्त नहीं हुआ और उन हज़ारों तीर्थ-यात्रियों को, जो म गये थे, तुर्कों ने बहुत परेशान किया और सताया। क्रोध और अपमान वना से भरे हुए ये लोग यूरोप लौटे और पवित्र भूमि में उठाई हुई अपनी तों के क़िस्से सारे यूरोप में फैलाने लगे। ख़ासकर एक मशहूर तीर्थयात्री, पीटर, हाथ में लाठी लिये, चारों तरफ़ यही प्रचार करता फिरता था कि यों के पवित्र नगर यरूशलम का मुसलमानों से उद्धार करना चाहिए। ईसाई-में इस अन्याय के ख़िलाफ़ क्रोध और जोश बढ़ता गया और यह देखकर पोप आन्दोलन का नेता खुद बनने का निश्चय किया।

इसी समय विधर्मियों के ख़िलाफ़ सहायता के लिए क़ुस्तुन्तुनिया से पुकार मालूम होता था कि सारा ईसाई-जगत्, रोमन भी और यूनानी भी, बढ़ते कों के खिलाफ़ एक जूट हो गया है। १०९५ ई० में ईसाई-संघ की बड़ी परिषद् तय हुआ कि यरूशलम के पवित्र नगर के उद्धार के लिए मुसलमानों के ख़िलाफ़ द्ध की घोषणा की जाय। इस तरह क्रूसेड का युद्ध शुरू हुआ, यानी इस्लाम लाफ़ ईसाइयत की—हिलाल[2] के ख़िलाफ़ सलेब[3] की, लड़ाई।

: ५८ :

एशिया और यूरोप पर एक और नज़र

१२ जून, १९३२

हमने ईसा के बाद एक हज़ार वर्ष के अन्त तक की दुनिया का—यानी या, यूरोप और अफ्रीका के कुछ हिस्सों का—संक्षिप्त सिंहावलोकन ख़त्म दिया। लेकिन आओ, एक नज़र और डाल लें।

---

[1] Millennium+Mille-annus

[2] मुसलमानों का धर्म-चिह्न, दूज का चाँद।

[3] क्रॉस या सूली, ईसाइयत का चिह्न।

पहले एशिया को लें। भारत और चीन की पुरानी सभ्यताएं थीं और उन्नति कर रही थीं। भारतीय संस्कृति मलेशिया और फैल गई थी। और वहाँ बहुत बढ़िया फल पैदा कर रही थी। चीनी और जापान, और किसी हदतक मलेशिया में भी फैली हुई थी। अरब, फ़िलस्तीन, सीरिया और इराक़ में अरबी संस्कृति का में पुरानी ईरानी और नई अरबी सभ्यता का मेल था। मध्य देशों ने भी इस ईरानी-अरबी संस्कृति के मिले-जुले रूप को अख्तियार और उनपर भारत और चीन का भी असर पड़ा था। ये सब देश दर्जे को पहुँच गये थे। व्यापार, विद्या और कलाओं की उन्नति हो बड़े शहरों की बहुतायत थी; और मशहूर विश्वविद्यालयों में दूर आते थे। सिर्फ़ मंगोलिया और मध्य एशिया के कुछ हिस्सों में और बेरिया में सभ्यता का स्तर कुछ नीचा था।

अब यूरोप को लो। एशिया के प्रगतिशील देशों के मुक़ाबले हुआ और आधा-जंगली था। यूनानी-रोमन सभ्यता पुराने ज़माने गार रह गई थी। विद्या की क़द्र नहीं थी; कलाओं का भी ज़्यादा प्रचार एशिया के मुक़ाबले व्यापार भी बहुत कम था। लेकिन दो जगह रो थी। एक तो अरबों के शासन में स्पेन में जो अरबों के शानदार ज़माने को क़ायम रखे हुए था; दूसरा क़ुस्तुन्तुनिया था, जो धीरे-धीरे गिरा में भी, एशिया और यूरोप की सरहद पर, बहुत बड़ा और घनी आबा था। यूरोप के ज़्यादातर हिस्सों में बार-बार गड़बड़ हुआ करती थी शाही के हरेक नाइट और सरदार अपने मातहत इलाक़े का छो हुआ करता था। एक समय ऐसा आया कि पुराने रोमन साम्राज्य रोम एक मामूली गाँव के बराबर रह गया और उसके पुराने जंगली जानवरों का बसेरा हो गया। लेकिन अब यह फिर बढ़ने

इसलिए अगर तुम ईसा के १००० वर्ष बाद के यूरोप और मुक़ाबला करो तो एशिया का पलड़ा बहुत भारी निकलेगा।

आओ, अब एक नज़र और डालें, और मामलों की तह में जा कोशिश करें। हमें पता चलेगा कि ऊपर से देखनेवाले के ख़याल से हालत जितनी अच्छी थी, असल में उतनी अच्छी नहीं थी। प्राचीन दो पालने, भारत और चीन, परेशानी में फँसे हुए थे। ये सिर्फ़ बाहर हमलों से ही परेशान नहीं थे, बल्कि इनसे भी ज़्यादा असली वे परे इनकी अन्दरूनी ज़िन्दगी और ताक़त को चूस रही थीं। पश्चिम में अर दार दिनों का अन्त हो रहा था। यह सच है कि सेलजूक़ों की ताक़त

की तरक़्क़ी की वजह सिर्फ़ यह थी कि वे बड़े रण-बाँकुरे थे। भारतीयों, ईरानियों या अरबों की तरह ये लोग एशिया की सभ्यता के प्रतिनिधि ल्कि एशिया के रण-बाँकुरेपन के प्रतिनिधि थे। एशिया में हर जगह पुरानी यां सिकुड़ती हुई दिखाई देती थीं। वे आत्म-विश्वास खो बैठी थीं और बचाने की चिन्ता में थीं। बलवान और तेज-तरार नई क़ौमें पैदा हुईं, एशिया की इन पुरानी नस्लों को विजय किया और जो यूरोप की तरफ़ लगीं। लेकिन ये अपने साथ सभ्यता की कोई नई लहर या संस्कृति की प्रेरणा नहीं लाईं। पुरानी नस्लों ने धीरे-धीरे इन नई क़ौमों को सभ्य र अपने विजेताओं को हज़म कर लिया।

तरह हम एशिया के ऊपर एक बड़ा परिवर्तन आता हुआ देखते हैं। यता क़ायम थी, ललित कलाएँ फूल-फल रही थीं, विलासिता में नज़ाकत , लेकिन सभ्यता की नाड़ी कमज़ोर पड़ रही थी और ज़िन्दगी की साँस मन्द होती जा रही थी। ये सभ्यताएँ बहुत दिनों तक क़ायम रहीं। सिवाय और मध्य-एशिया के, जबकि वहाँ मंगोल आये। कहीं दूसरी जगह न तो एँ खत्म हुईं, और न इनका सिलसिला ही टूटा। चीन और भारत की धीरे-धीरे मन्द पड़ने लगीं, और अन्त में पुरानी सभ्यता चित्रित तसवीर हो गई, जो दूर से देखने में तो बहुत सुन्दर मालूम होती थी, लेकिन थी और नज़दीक से देखने पर मालूम होता था कि उसमें दीमक लगी हुई

म्राज्यों की तरह सभ्यताओं का पतन भी, बाहरी दुश्मनों की ताक़त की इतना नहीं होता, जितना कि अन्दरूनी कमज़ोरी और सड़न की वजह से। अन्त बर्बरों की वजह से नहीं हुआ। बर्बरों ने तो सिर्फ़ एक ऐसी चीज़ ायी किया था जो पहले ही मुर्दा थी। जिस समय रोम के हाथ-पाँव काटे पहले ही उसके दिल की धड़कन बन्द हो चुकी थी। कुछ ऐसी ही प्रक्रिया , चीन और अरब में भी दिखाई देती है। अरबी सभ्यता का अन्त भी उसके समान ही एकदम हुआ। भारत और चीन में पतन की यह प्रक्रिया बहुत तक चलती रही और यह पता लगाना आसान नहीं है कि वह कहाँ खत्म

हमूद ग़ज़नवी के भारत आने से बहुत पहले पतन की यह प्रक्रिया शुरू थी। लोगों के दिमाग़ में परिवर्तन हुआ दिखाई देने लगा था। नये और नई चीज़ें पैदा करने के बजाय भारत के लोग पुरानी बातों को दोहराने की नक़ल करने में लग गये थे। उनके दिमाग़ अभी तक काफ़ी तेज़ थे, अपना समय उन बातों का नया अर्थ लगाने में और उनकी व्याख्या करने

में बिताते थे, जो बहुत दिनों पहले कही और लिखी जा चुकी
भी चकित करनेवाली मूर्त्तिकला व नक़्क़ाशी कला की चीज़ें
ये सब चीज़ें ज़रूरत से ज़्यादा बारीकियों और सजावट से
कहीं उनमें कुछ अजीब विकृति भी आ जाती थी। इनमें
और इसी तरह आकृतियाँ भी उभरी हुई और शानदार नहीं
खुशहालों में तक़ल्लुफ़ और कला-प्रेम और विलासिता का ज़ोर
आम जनता की मेहनत व मुसीबत को कम करने के लिए कुछ
उपज बढ़ाने के लिए।

ये तमाम सभ्यता की सन्ध्या के काल की निशानियाँ हैं।
तो समझ लेना चाहिए कि उस सभ्यता की चेतना लोप हो रही है
ही जीवन का चिह्न है, दोहराना या नक़ल करना नहीं।

चीन और भारत में उस समय कुछ इसी क़िस्म की प्रति
लेकिन मेरे मतलब को समझने में ग़लती न करना। मेरा मतलब
इसकी वजह से चीन या भारत की हस्ती मिट गई या वे असभ्य
पड़े। मेरा मतलब यह है कि चीन और भारत की रचनात्मक
प्रेरणा बीते ज़माने में मिलती थी, उसकी शक्ति अब खत्म हो
नई जान नहीं पड़ रही थी। यह भावना अपने को बदले हुए
नहीं ढाल रही थी, बल्कि सिर्फ़ पुराने ढर्रे पर चल रही थी। हर
की यही हालत होती है। ऊँचे दर्जे की नई रचना की कोशिश
ज़माने आते हैं और फिर पस्ती के ज़माने आते हैं। ताज्जुब की
चीन और भारत में यह पस्ती इतनी देर से आई और फिर भी
कि ये पूरी तरह पस्त हो गये हों।

इस्लाम अपने साथ भारत में मानव-प्रगति की एक नई
कुछ हद तक इसने पौष्टिक दवा का काम किया। इसने भारत को
लेकिन दो कारणों से वह भारत को उतना फ़ायदा नहीं पहुँचा
पहुँचा सकता था। वह भारत में ग़लत तरीक़े से आया और
महमूद ग़ज़नवी के हमलों के कई सौ वर्ष पहले से मुसलमान
भर में घूमते-फिरते थे और इनका स्वागत होता था। ये शान्ति
और कुछ कामयाब भी हुए थे। इस्लाम के खिलाफ़ कोई भी बुरी
लेकिन महमूद अपने साथ तलवार और आग लेकर आया। और
विजेता, लुटेरा और क़ातिल बनकर आया, उससे भारत में
जितना धक्का पहुँचा उतना किसी दूसरी वजह से नहीं। यह ठीक
मज़हब की कुछ परवाह नहीं करता था और उसने वैसी ही

क सब बड़े विजेता किया करते हैं। लेकिन भारत में इस्लाम पर इसके दिनों तक छाये रहे और लोगों के लिए इस्लाम के बारे में निष्पक्षता करना मुश्किल हो गया; वरना हालत दूसरी ही होती।

एक वजह थी। दूसरी वजह यह थी कि इस्लाम देर में आया। वह अपनी चार सौ वर्ष बाद यहाँ आया और इस लम्बे अर्से में वह कुछ पस्त हो और उसकी रचना-शक्ति बहुत-कुछ बीत चुकी थी। अगर अरब लोग इस्लाम को लेकर भारत आये होते तो उन्नतिशील अरबी संस्कृति और रतीय संस्कृति आपस में मिल गई होतीं और दोनों एक-दूसरी पर तीं, जिसके नतीजे बड़े महान् होते। तब दो सुसंस्कृत नस्लों का मेल हो क्योंकि अरब लोग मज़हब के मामले में उदारता और बुद्धिवाद के लिए । वास्तव में एक ज़माने में बग़दाद में एक क्लब था, जिसका संरक्षक , और जहाँ हर मज़हब के माननेवाले और किसी भी मज़हब को न जमा होते थे और सिर्फ़ बुद्धिवादी दृष्टिकोण से सब मामलों पर चर्चा किया करते थे।

कन अरब लोग भारत के भीतर नहीं घुसे। वे सिन्ध में आकर रुक गये। त पर उनका कुछ असर नहीं पड़ा। भारत में इस्लाम तुर्कों और दूसरी रिये आया, जिनमें अरबों जैसी उदारता और संस्कृति नहीं थी, क्योंकि सिपाही थे।

कन फिर भी प्रगति और रचनात्मक प्रयत्न की एक नई लहर भारत यह नई लहर भारत में कुछ नई जान डालकर किस तरह ख़त्म हो गई, म आगे विचार करेंगे।

व भारतीय सभ्यता के कमज़ोर पड़ने का एक और नतीजा सामने आने । जब इसपर बाहर से हमला हुआ तो उस आनेवाली लहर से बचने के ने अपने चारों तरफ़ बाड़ लगा ली और अपने को उसमें बन्द-सा कर लिया। मज़ोरी और डर की एक निशानी थी; और इस दवा ने रोग को और भी ा। असली बीमारी विदेशी हमला नहीं थी, बल्कि कूप-मण्डूकपन थी। ण्डूकपन से सड़न पैदा हुई और बढ़ोतरी के सारे रास्ते रुक गये। आगे हम देखेंगे कि चीन ने भी यह बात अपने तरीक़े से की और जापान ने भी किया। किसी परकोटे में बन्द समाज में रहना कुछ ख़तरनाक बात है। कर हम पथरा जाते हैं और ताज़ी हवा और ताज़े विचारों के आदी नहीं रह माजों के लिए भी ताज़ी हवा उतनी ही ज़रूरी है जितनी व्यक्तियों के लिए।

ह तो एशिया की बात हुई। हमने देखा है कि यूरोप उस समय पिछड़ा और झगड़ालू भी था। लेकिन इसकी तमाम गड़बड़ी और असभ्यता

के पीछे कम-से-कम इसमें क्रियाशील शक्ति और चेतना पाई बहुत दिनों तक सिरमौर रहने के बाद पतन की तरफ़ जा रहा उठने की कोशिश में था। लेकिन एशिया के स्तर के पास तक अभी बहुत लम्बी मंज़िल तय करनी बाक़ी थी।

आज यूरोप दुनिया पर हावी है, और एशिया आजादी के उठाकर लड़ रहा है। लेकिन सतह के नीचे फिर देखने की एशिया में नई क्रियाशील शक्ति, नई रचना की भावना और नई देगी। एशिया अब फिर उठ रहा है, इसमें कोई शक नहीं। यों कहो पश्चिम यूरोप में, उसकी महानता के बावजूद, पतन के दे रहे हैं। आज कोई जंगली क़ौम इतनी ताक़तवर नहीं है, जो को बर्बाद कर दे। लेकिन कभी-कभी सभ्य जातियाँ खुद करने लगती हैं, और जब ऐसा होता है तो सभ्यता खुद अपने को

मैं एशिया और यूरोप की बातें कर रहा हूँ। लेकिन ये तो शब्द हैं और जो समस्याएँ हमारे सामने हैं, वे एशियाई या हैं, बल्कि सारे संसार की या मनुष्य-जाति की समस्याएँ हैं। और संसार की इन समस्याओं को हल नहीं कर डालते, तबतक गड़बड़ इन समस्याओं के हल का अर्थ सिर्फ़ यही हो सकता है कि हर जगह बत खत्म हों। सम्भव है, इसमें कुछ वक्त लग जाय, लेकिन हमारा होना चाहिए, और इससे कम हरगिज़ नहीं होना चाहिए। तभी आधार पर असली सभ्यता और संस्कृति क़ायम कर सकेंगे, जिसमें किसी वर्ग का शोषण न होगा। यह समाज नई रचना करनेवाला होगा जो बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालेगा और याद सब लोगों के आपसी सहयोग पर होगी। और अन्त में यह समाज में फैल जायगा। फिर यह खतरा न रहेगा कि ऐसी सभ्यता पुरानी तरह ढह जाय या सड़ जाय।

इसलिए जब हम भारत की आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं तो चाहिए कि सारी मनुष्य-जाति की आज़ादी हमारा महान् लक्ष्य है राष्ट्र की आजादी के साथ दूसरे राष्ट्रों की आज़ादी भी शामिल है।

: ५९ :

अमेरिका की मय सभ्यता

१३

मैं तुमसे कहता आया हूँ कि इन पत्रों में मैं संसार के

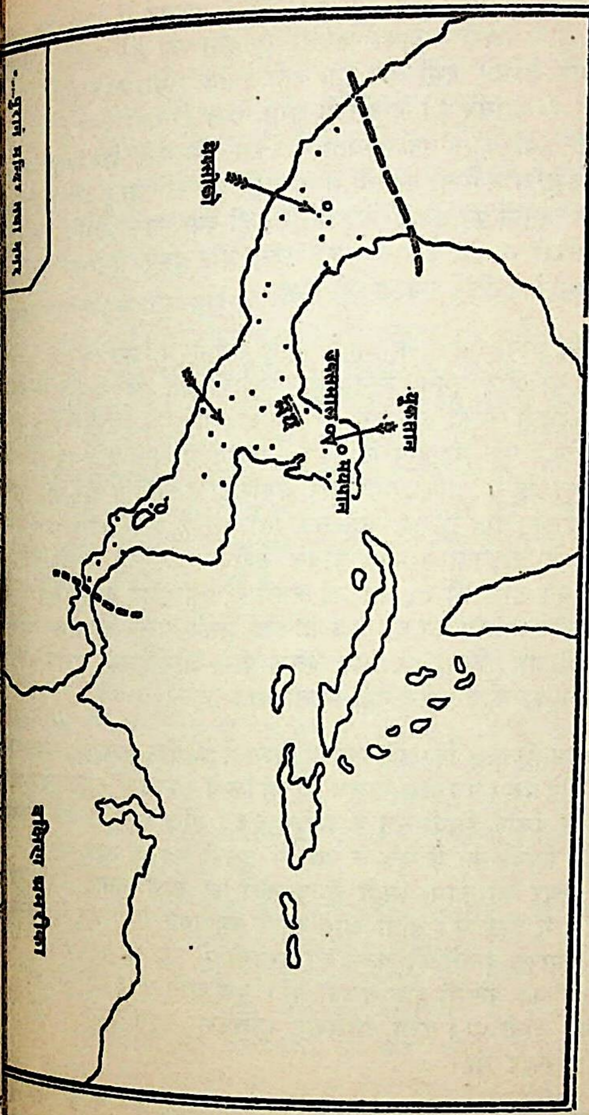
• पुराने मन्दिर तथा नगर
मेक्सिको
उक्समाल
मय
युकतान
मयपान
दक्षिण अमरीका

मध्य अमरीका की मय सभ्यता

रेखा खींचने की कोशिश कर रहा हूँ। लेकिन वास्तव में अभी त और यूरोप और उत्तरी अफ़्रीका का ही इतिहास रहा है। अमेरि लिया के बारे में मैंने अभी तक कुछ नहीं वताया। या अगर कुछ तो वह नहीं के बराबर है। लेकिन मैं तुम्हें पहले ही वता चुका हूँ कि ज़माने में भी अमेरिका में एक सभ्यता थी। इस सभ्यता के वारे में अ नहीं मिलती है, और मैं तो वास्तव में बहुत ही कम जानता हूँ। फिर में तुम्हें कुछ वताने की अपनी चाह को मैं नहीं दवा सकता, ताकि तु की आम ग़लती न कर बैठो कि कोलम्बस और दूसरे यूरोपवालों से पहले अमेरिका सिर्फ़ एक वहशी मुल्क था।

शायद पाषाण-युग[1] के बहुत पुराने ज़माने में, जब मनुष्य नहीं रहता था और घूमने-फिरनेवाला शिकारी था, तब उत्तरी अ एशिया के बीच में खुश्की का रास्ता था। आदमियों के कितने ही गिरो अलास्का होकर एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में आते-जाते रहे आने-जाने का यह रास्ता कट गया और अमेरिका के लोगों ने धीरे-धीरे सभ्यता बना ली। याद रहे कि, जहाँ तक पता चला है, अमरीका के दो और यूरोप से जोड़नेवाला कोई साधन नहीं था। सोलहवीं सदी नई दुनिया की खोज की गई बतलाई जाती है, ऐसा कोई बयान कहीं कि यूरोप और एशिया का इस देश से कोई असर डालने वाला स अमेरिका की यह दुनिया दूर और अलग थी—और इसपर यूरो की घटनाओं का कोई असर नहीं पड़ता था।

मालूम होता है कि अमेरिका में सभ्यता के तीन केन्द्र थे: मैं अमेरिका और पेरू। यह ठीक मालूम नहीं है कि ये सभ्यताएँ कबसे शु मैक्सिको का पंचांग ईसवी सन् के क़रीव ६१३ साल पहले से शुरू देखते हैं कि ईसवी सन् के शुरू के वर्षों में, दूसरी सदी के आगे, वहाँ चुके थे। पत्थर का काम, मिट्टी के बरतनों का काम, बुनाई और रँगाई के काम होते थे। ताँबा और सोना बहुतायत से मिलते थे; नहीं था। इमारतें बनाने की कला की तरक़्क़ी हो रही थी और मग में इन शहरों की आपसी होड़ चलती थी। एक ख़ास तरह की और लिपि लिखी जाती थी। कला, ख़ासकर मूर्त्तिकला, बहुत देखने में वह काफ़ी सुन्दर थी।

---

[1] पाषाणयुग—मनुष्य-जाति का शुरू का समय जब मनुष्य सि औज़ार बनाना जानता था।

सभ्यता के इन क्षेत्रों में से हरेक में कई राज्य थे। कई भाषाएँ थीं और इन में काफ़ी साहित्य भी था। सुसंगठित और मज़बूत सरकारें थीं और शहरों कृत और दिमाग़ी समाज था। इन राज्यों का क़ानून और अर्थ-व्यवस्था कसित थे। ९६० ई० के लगभग उक्षमल नगर की नींव डाली गई। कहा है कि यह शहर बहुत जल्दी बढ़कर उस समय के एशिया के बड़े शहरों की का हो गया। इसके अलावा लाबुआ, मयपान, चाओ-मुल्तुन, वग़ैरा और भी नगर थे।

मध्य अमेरिका के तीन मुख्य राज्यों ने मिलकर एक संघ बनाया था, जिसे यपान-संघ कहते हैं। यह ईसा के बाद ठीक एक हज़ार वर्ष के आसपास की , यानी उस ज़माने की जहाँतक हम एशिया और यूरोप में आ पहुँचे हैं। ईसा के एक हज़ार वर्ष बाद मध्य अमेरिका में सभ्य राज्यों का एक शक्ति-संगठन था। लेकिन इसके सारे राज्यों पर और ख़ुद मय सभ्यता पर पुरोहित वार थे। ज्योतिष-विज्ञान का सबसे ज़्यादा आदर होता था, और इस विज्ञान कार होने की वजह से पुरोहित लोग जनता की अज्ञानता से फ़ायदा उठाते ी तरह भावना में भी लाखों आदमी चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहणों पर स्नान व करने के लिए फुसलाये गए हैं।

यह मयपान-संघ सौ वर्षों से अधिक बना रहा। जान पड़ता है कि इसके क समाजी क्रान्ति हुई और सरहद की एक बाहरी शक्ति ने दख़ल देना शुरू या। ११९० ई० के लगभग मयपान नष्ट हो गया, लेकिन दूसरे शहर बने इसके बाद सौ वर्ष के अन्दर एक दूसरी क़ौम आई। ये लोग मैक्सिको थे और अज़टेक कहलाते थे। इन लोगों ने चौदहवीं सदी के शुरू में मय देश त लिया और १३२५ ई० के लगभग टेनोक्टिटलन नामक शहर बसाया। ही यह सारे मैक्सिको की राजधानी और अज़टेक साम्राज्य का केन्द्र बन गया। हर की आवादी वहुत बड़ी थी।

अज़टेक लोग एक फ़ौजी राष्ट्र थे। इनके फ़ौजी उपनिवेश थे, छावनियाँ थीं फ़ौजी सड़कों का जाल था। यहाँतक कहा जाता है कि वे इतने चालाक अपने मातहत राज्यों को आपस में लड़ाते रहते थे। उनकी आपसी फूट से शासन करना ज़्यादा आसान था। सारे साम्राज्यों की यह बहुत पुरानी ही है। रोमवाले इसे 'फूट डालो और राज करो' की नीति[1] कहते थे!

दूसरी बातों में चतुर होते हुए भी अज़टेक लोग मज़हब के मामले में पुरोहितों ज़े में थे, और इससे भी बुरी बात यह थी कि उनके मज़हब में आदमियों की

---

[1] Divide et impera.

क़ुरबानियाँ बहुत होती थीं। हर साल धर्म के नाम पर हज़ारों तरीक़े से बलि चढ़ा दिये जाते थे।

लगभग दो सौ वर्षों तक अज़टेकों ने अपने साम्राज्य पर राज किया। साम्राज्य में ज़ाहिरा सुरक्षा व शान्ति थी, लेकिन निचोड़ी और लूटी जाती थी। जो राज्य इस तरह बना हो और जाय, वह बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रह सकता। और यही हुआ। सदी के शुरू में, यानी १५१९ ई० में, जब अज़टेक अपनी शक्ति चोटी पर दिखाई देते थे, उनका साम्राज्य मुट्ठी भर लुटेरे और शियों के हमले से भरभराकर गिर पड़ा! साम्राज्यों के पतन की हैरत में डालनेवाली मिसाल है। और यह सब एक स्पेनवासी उसके साथ की सिपाहियों की एक टुकड़ी ने कर दिखाया। कोर्तीज़ था और काफ़ी जोखिम उठानेवाला था। उसके पास दो चीज़ें बड़ी मदद मिली—बन्दूकें और घोड़े। मालूम होता है कि मैक्सि में घोड़े नहीं थे और बन्दूकें तो थीं ही नहीं। लेकिन, अगर अज़टेक जड़ें खोखली न होतीं तो न तो कोर्तीज़ की हिम्मत और न उसकी ही किसी काम आते। इस राज्य का ऊपरी रूप तो बना हुआ था, यह खोखला हो चुका था, इसलिए इसे गिराने को ज़रा-सी ठोकर ही साम्राज्य जनता के शोषण की नींव पर बना था; इसलिए लोग थे। इसलिये जब उसपर हमला हुआ तो आम जनता ने साम्रा हार का स्वागत किया। और, जैसा कि अक्सर होता है इसके साथ क्रान्ति भी हुई।

एक बार तो कोर्तीज़ खदेड़ दिया गया और मुश्किल से वह सका। लेकिन वह फिर लौटा और वहाँ के कुछ निवासियों की मदद पाई। इससे अज़टेक शासन का तो अन्त हुआ ही, लेकिन मज़ेदार साथ-ही-साथ मैक्सिको की सारी सभ्यता लड़खड़ाकर गिर पड़ी और में उस शाही और विशाल राजधानी टेनोक्टिट्लन का निशान तक उसकी एक ईंट भी आज नहीं बची है और उसकी जगह पर स्पेनवा गिरजा बनाया। मय सभ्यता के दूसरे बड़े शहर भी नष्ट हो गये जंगलों ने उन्हें ढक लिया, यहाँतक कि उनके नाम भी बाक़ी न रहे बहुतों की याद आजकल उनके पड़ौस के गाँवों के नामों में बाक़ी रह सारा साहित्य भी नष्ट हो गया और सिर्फ़ तीन किताबें बच रहीं भी आज तक कोई पढ़ नहीं सका है।

मामूली तौर पर यह बताना मुश्किल है कि एक प्राचीन

भ्यता, जो करीब १५०० वर्षों तक क़ायम रही, यूरोप के नये लोगों में आते ही एकाएक कैसे ख़त्म हो गई। ऐसा मालूम होता है कि यह क बीमारी की तरह था, यानी एक नई महामारी थी, जिसने उनका र दिया। हालांकि कुछ बातों में इनकी सभ्यता बहुत ऊँची थी लेकिन री बातों में ये लोग बहुत पिछड़े हुए थे। इतिहास के जुदा-जुदा कालों ोग एक विचित्र खिचड़ी थे।

क्षिणी अमेरिका के पेरू में सभ्यता का एक और केन्द्र था और इन्का देश का शासन था। यह एक तरह का दैवी राजा माना जाता था। यह ात है कि पेरू की इस सभ्यता का, कम-से-कम पिछले दिनों में, मैक्सिको ता से बिलकुल भी सम्पर्क नहीं था। दोनों सभ्यताएँ एक-दूसरी से बहुत थीं, फिर भी वे एक-दूसरी के बारे में कुछ नहीं जानती थीं और सिर्फ़ से यह साबित हो जाता है कि कुछ मामलों में वे कितनी ज्यादा पिछड़ी मैक्सिको में कोर्तीज़ की सफलता के बाद ही, एक दूसरे स्पेन-वासी ने का भी अन्त कर दिया। इसका नाम पिज़ारो था। इसने १५३० ई० इनका को दग़ाबाज़ी से पकड़ लिया। 'दैवी' राजा के पकड़े जाने से डर गये। पिज़ारो ने कुछ समय तक इनका के नाम पर राज करने की की और लोगों को दबाकर बहुत दौलत ऐंठी। बाद में यह ढोंग ख़त्म कर ा और स्पेनवासियों ने पेरू को अपने राज्य का एक हिस्सा बना लिया। ोर्तीज़ ने जब पहले-पहल टेनोक्दिृलन शहर देखा तो वह उसकी विशालता -बक्का रह गया। उसने यूरोप में इस क़िस्म का कोई शहर नहीं देखा

य और पेरू की कला की बहुत-सी निशानियाँ मिली हैं और वे अमेरिका ख़ासकर मैक्सिको के, अजायबघरों में देखी जा सकती हैं। इनमें कला की या परम्परा दिखाई देती है। पेरू के सुनारों का काम बहुत ही ऊँचे दर्जे ा जाता है। पत्थर की मूर्तियों के भी कुछ नमूने मिले हैं, जिनमें पत्थर ांप ख़ासतौर पर बहुत ही सुन्दर हैं। दूसरी मूरतें तो मानो दहलाने व दा करने के लिए बनाई गई हैं, और उन्हें देखकर सचमुच डर व नफ़- होते हैं!

: ६० :

मोहेन-जो-दड़ो की तरफ वापस छलाँग

१४ जून, १९३२

ने अभी मोहेन-जो-दड़ो और सिन्ध-घाटी की पुरानी भारतीय सभ्यता

के बारे में कुछ पढ़ा है। एक नई महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हु सभ्यता के बारे में वे सारी बातें, जो अभी तक मालूम हो सकी हैं। यह पुस्तक उन लोगों ने तैयार की है और लिखी है, जिनको का और खोद निकालने का काम था और जिन्होंने गहराई अपनी आँखों से शहर को, मानो धरती-माता के गर्भ से बाहर मैंने अभी तक यह पुस्तक नहीं देखी है। मैं चाहता हूँ कि वह मुझे लेकिन मैंने इसकी समालोचना पढ़ी है और मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे सामने भी रख दूँ। सिन्ध-घाटी की यह सभ्यता एक अ इसकी बाबत जितना ज़्यादा मालूम होता है उतना ही आश्च इसलिए मुझे आशा है कि अगर हम पिछले इतिहास के विवरण पत्र में पाँच हज़ार वर्ष पीछे कूद जायँ, तो तुम्हें कुछ ऐतराज़

मोहेन-जो-दड़ो को लोग कम-से-कम इतना पुराना तो मोहेन-जो-दड़ो हमें मिला है वह एक सुन्दर शहर था और ए सभ्य जाति का घर था। इसके पीछे विकास का एक लम्बा होगा। यही बात इस पुस्तक से हमें मालूम होती है। सर जॉन देख-रेख में खुदाई का काम हो रहा है, लिखता है—

> "एक बात, जो मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा दोनों साफ़तौर पर और बिना किसी भ्रम के दिखाई देती है, वह सभ्यता इन दो स्थानों पर अभी तक प्रकट हुई है, वह नव नहीं है, बल्कि युगों पुरानी और भारत की ज़मीन सभ्यता है, जिसके पीछे लाखों वर्षों का मानव-प्रयत्न है। जब आगे ईरान, इराक़ और मिस्र के साथ-साथ भारत भी सभ्यता के उन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में की जानी चाहिए, की प्रक्रिया शुरू हुई और विकसित हुई।"

मेरा खयाल है कि हड़प्पा के बारे में मैंने तुम्हें अभी कुछ यह दूसरी जगह है, जहाँ मोहेन-जो-दड़ो से मिलते-जुलते पुराने निकाले गये हैं। यह पश्चिमी पंजाब में है।

इस तरह हम देखते हैं कि सिन्ध-घाटी में हम न सिर्फ़ बल्कि उससे भी हज़ारों वर्ष पहले पहुंच जाते हैं। यहाँ तक कि उस धुंधले कोहरे में खो जाते हैं जब आदमी पहले-पहल एक जगह जिस समय मोहेन-जो-दड़ो की सभ्यता फूल-फल रही थी, उस आर्य लोग नहीं थे। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उस समय "भा नहीं तो कम-से-कम पंजाब और सिन्ध एक उन्नत और निराली

कर रहे थे, जो उस समय की इराक़ और मिस्र की सभ्यताओं से मिलती-जुलती और कई बातों में उनसे भी ऊँची थी।"

न-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाईसे यह प्राचीन और दिल को मोहनेवाली मारे सामने प्रकट हो गई है। न जाने भारत की मिट्टी के नीचे दूसरी कितना कुछ और दबा पड़ा है! मालूम होता है कि यह सभ्यता भारत हिस्से में फैली हुई थी और सिर्फ़ मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा तक ही हीं थी। ये दोनों स्थान भी एक-दूसरे से काफ़ी दूरी पर हैं।

वह युग था "जिसमें ताँबे व काँसे के हथियारों और बर्तनों के साथ-र के हथियारों और बर्तनों का भी उपयोग चला आ रहा था।" सर ल ने सिन्ध-घाटी के निवासियों के साथ उस समय के मिस्र और इराक़ की तुलना करके दोनों का फ़र्क़ और सिन्ध-घाटी के निवासियों की ताई है। वह लिखता है—

"अगर सिर्फ़ कुछ प्रधान बातों का ही ज़िक्र किया जाय तो पहली यह है कि कपड़ा बनाने के लिए रुई का उपयोग इस युग में सिर्फ़ त तक ही सीमित था और पश्चिमी जगत में इसके दो-तीन हज़ार बाद तक चालू नहीं हुआ। दूसरे, ऐतिहासिक युग के पहले मिस्र इराक़ या पश्चिमी एशिया के किसी भी भाग में हमें कोई ऐसी नहीं मिलती, जो मोहेन-जो-दड़ो के नागरिकों के सुनिर्मित स्नाना-ों और कुशादा मकानों की बराबरी कर सके। उन देशों में ताओं के शानदार मन्दिरों, और राजाओं के महलों व क़ब्रों के ने में बहुत धन और सूझ-बूझ खर्च की जाती थी, लेकिन मालूम ा है, बाक़ी जनता को मिट्टी की तुच्छ झोंपड़ियों पर ही सन्तोष ना पड़ता था। लेकिन सिन्ध-घाटी में हमें इसका उलटा दृश्य मिलता और यहाँपर सबसे अच्छे मकान वे हैं, जो नागरिकों के आराम के बनाये गए थे।"

गे वह फिर लिखता है—

"सिन्ध-घाटी की कला और उसके धार्मिक दृष्टिकोण में अपना निरालापन है और उनपर उसके विशेष गुण की छाप है। मेढ़ों, ों व दूसरे जानवरों के रंगीन मीनेवाले मिट्टी के खिलौनों की र क़ीमती पत्थर के ठप्पों पर नक्काशी की शैली ऐसी अनोखी है उससे मिलती-जुलती कोई भी चीज़ उस ज़माने के किसी देश भी तक हमारे देखने में नहीं आई है। इसके सबसे बढ़िया नमूनों —खासकर कूबदार और छोटे सींगोंवाले साँड़ों में—रचना-विस्तार

और रेखा व आकृति-निर्माण में अनुभूति की ऐसी विशेषता
बढ़िया नक़्क़ाशी-कला दुर्लभ है। इसी प्रकार, हड़प्पा की
मानव-मूर्त्तियों में—जिनके चित्र प्लेट नं० १० और ११ में
हैं—मूर्त्ति गढ़ने की कला कोमलता की जिस पराकाष्ठा
है, उसका जोड़ यूनान के पौराणिक काल से पहले की
मिलना सम्भव नहीं है। सिन्ध के लोगों के धर्म में अवश्य
बातें हैं, जिसके समान बातें हमें दूसरे देशों में मिल सकती हैं।
पूर्व-ऐतिहासिक युग के हर धर्म पर और ऐतिहासिक युग के
धर्मों पर लागू होती है। लेकिन सब बातों को मिलाकर
लोगों के धर्म में भारतीयता का विशेष गुण इतना स्पष्ट है
तथा वर्तमान प्रचलित हिन्दू-धर्म में कोई अन्तर नहीं मालूम

मैं चाहता हूं कि हड़प्पा में पाई गई छोटी मूर्त्तियां, या
तसवीरें देख सकता। मुमकिन है कि किसी दिन हम और तुम
जो-दड़ो साथ-साथ चलें और जी भरकर वहाँ के दृश्यों को देखें।
हमारा यही ढर्रा चलता रहेगा—तुम्हारा पूना के स्कूल में और
में, जो देहरादून का डिस्ट्रिक्ट जेल कहलाता है।

: ६१ :

कुर्तुबा (कॉर्डोबा) और ग्रैनेडा

हमने एशिया और यूरोप में बहुत वर्षों की यात्रा कर ली
हज़ार वर्ष के अन्त तक पहुंचकर हमने एक बार पीछे फिरकर
स्पेन के उस ज़माने का हाल हमारी इस कहानी से छूट गया है जब
का क़ब्ज़ा था। इसलिए अब हमें एक बार और पीछे लौटकर
चित्र में बैठाना चाहिए।

अगर तुम भूली न हो तो स्पेन के बारे में थोड़ी-बहुत
है ही। ७११ ई० में अरब-सेनापति समुद्र पार करके अफ्रीका
उसका नाम तारिक था और वह जिब्राल्टर (जबलुत्तारिक,
पहाड़ी) पर उतरा था। दो साल के भीतर ही अरबों ने सारा
और कुछ दिनों बाद उन्होंने पुर्तगाल को भी मिला लिया। वे
गये; फ्रान्स में घुस गये और सारे दक्षिण में फैल गये। इससे
फ्रैन्कों और दूसरे क़बीलों ने चार्ल्स मार्तेल के नेतृत्व में इकट्ठे होकर
की एक बहुत बड़ी कोशिश की। वे सफल हुए और फ्रान्स में
की लड़ाई में फ्रैन्कों ने अरबों को हरा दिया। यह बहुत करारी हार

का यूरोप जीतने का सपना टूट गया। इसके बाद बहुत बार अरबों और फ्रान्स की दूसरी ईसाई क़ौमों के बीच लड़ाइयाँ हुईं; कभी अरब र फ्रान्स में घुस पड़े और कभी वे वापस स्पेन में खदेड़ दिये गए। शार्लमेन पेन में अरबों पर हमला किया था, लेकिन वह हार गया; बहुत दिनों तक त का पलड़ा बराबर बना रहा और अरब-लोग स्पेन में राज करते रहे; आगे न बढ़ सके।

इस तरह स्पेन उस बड़े साम्राज्य का अंग बन गया, जो अफ्रीका के एक सिरे कर ~~ठेठ मंगोलिया~~ की सरहद तक फैला हुआ था। लेकिन यह हालत बहुत क न रही। तुम्हें याद होगा कि अरब में गृह-युद्ध हुआ था और अब्बासियों या खलीफ़ाओं को निकाल दिया था। स्पेन का अरबी हाकिम उम्मैया था। ये अब्बासी खलीफ़ा को मानने से इन्कार कर दिया। इस तरह स्पेन अरब य से अलग हो गया और बग़दाद का खलीफ़ा बहुत दूर होने की वजह से पने घरू झगड़ों में उलझा रहने की वजह से इधर ध्यान नहीं दे सका। बग़दाद और स्पेन के बीच दुश्मनी चलती रही और ये दोनों अरब राज्य के समय एक-दूसरे की मदद करने के बजाय एक दूसरे की मुसीबतों पर मनाते थे।

स्पेन के अरबों का अपने वतन से सम्बन्ध तोड़ने का फ़ैसला कुछ जल्दबाज़ी । वे एक दूर देश में एक विदेशी आबादी के बीच में थे और चारों ओर दुश्मनों रे हुए थे। उनकी संख्या भी थोड़ी थी। मुसीबत व ख़तरे के मौक़े पर उनकी करनेवाला कोई नहीं था। लेकिन उन दिनों उनमें आत्म-विश्वास भरा हुआ र वे इन खतरों की बिलकुल परवा नहीं करते थे। सच तो यह है कि उत्तर के राष्ट्रों के लगातार दबाव के बावजूद वे बड़ी खूबी से डटे रहे और उन्होंने ही ५०० वर्षों तक स्पेन के ज़्यादातर हिस्से पर अपना प्रभुत्व क़ायम रखा। बाद भी वे स्पेन के दक्षिण में एक छोटी-सी रियासत में २०० वर्षों तक अड़े इस तरह वे वास्तव में बग़दाद के बड़े साम्राज्य के ख़त्म हो जाने के बाद तक हे, और जब उन्होंने स्पेन से आख़िरी विदा ली, उसके बहुत पहले ही बग़दाद मिट्टी में मिल चुका था।

स्पेन के हिस्सों पर अरबों के शासन के ये ७०० वर्ष काफ़ी अचम्भे में डालने- हैं। लेकिन मूरों के नाम से मशहूर, स्पेन के इन अरबों की ऊंचे दर्जे की ता और संस्कृति इससे भी ज़्यादा दिलचस्पी की बात है। एक इतिहास-लेखक श की कुछ तरंग में आकर लिखा है—

"मूर लोगों ने कॉरडोबा के उस अद्भुत साम्राज्य को संगठित किया था, जो मध्यकाल का एक चमत्कार था, और जब सारा

> यूरोप जंगली अज्ञान और लड़ाई-झगड़ों में डूबा हुआ
> अकेले इसी राज्य ने विद्या और सभ्यता की मशाल
> दुनिया के सामने रोशन की और जलती हुई रक्खी।"

ठीक ५०० वर्षों तक कुर्तुबा इस राज्य की राजधानी रहा।
में कॉरडोबा, और कभी-कभी कॉरडोवा कहते हैं। मुझे लगता है कि
एक ही नाम के कई हिज्जे करता रहता हूँ। लेकिन अब मैं बराबर
ही जमा रहूँगा। कॉरडोवा बहुत बड़ा शहर था, जिसमें दस लाख
यह बाग़-बग़ीचोंवाला दस मील लम्बा शहर था, जिसके उपनगर
फैले हुए थे। कहा जाता है कि इसमें ६०,००० महल और कोठियाँ थीं,
छोटे मकान थे, ८०,००० दुकानें थीं, ३७,८०० मसजिदें थीं और
हम्माम थे। इन आँकड़ों में कुछ बढ़ी-चढ़ी बातें हो सकती हैं, लेकिन
का कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। यहाँ कितने ही पुस्तकालय
अमीर का शाही पुस्तकालय मुख्य था। इसमें ४,००,००० पुस्तकें
का विश्वविद्यालय सारे यूरोप में और पश्चिमी एशिया तक में मशहूर
के लिए बहुत-सी प्राइमरी पाठशालाएँ थीं, जिनमें मुफ़्त शिक्षा दी
इतिहास-लेखक कहता है—

> "स्पेन में क़रीब-क़रीब सभी लोग पढ़ना-लिखना जानते
> कि ईसाई यूरोप में पादरियों को छोड़कर और सब लोग,
> कि ऊँचे-से-ऊँचे खानदानों के लोग भी बिलकुल बेपढ़े होते

ऐसा वह कुर्तुबा का शहर था, जो दूसरे बड़े अरबी शहर
मुक़ाबला करता था। उसकी शोहरत सारे यूरोप में फैली हुई
सदी के एक जर्मन लेखक ने उसे 'संसार का भूषण' कहा है। उसके
में दूर-दूर के विद्यार्थी आते थे। अरबी दर्शन का प्रभाव पेरिस,
यूरोप के दूसरे बड़े विश्वविद्यालयों और इटली के उत्तरी विश्ववि
में फैल गया। एवरोज़ या इब्नरश्द बारहवीं सदी में कुर्तुबा का
दार्शनिक हुआ है। अपनी ज़िन्दगी के आखिरी दिनों में वह स्पेन के
बैठा और उसे देश से निकाल दिया गया। वह जाकर पेरिस में

यूरोप के दूसरे हिस्सों की तरह स्पेन में भी एक तरह की
थी। वहाँ भी बड़े-बड़े और शक्तिशाली अमीर सरदार पैदा हो गये थे,
के शासक अमीर की अकसर लड़ाइयाँ होती रहती थीं। अरब-राज्य
से इतना कमज़ोर नहीं हुआ जितना इन घरेलू लड़ाई-झगड़ों से।
उत्तरी स्पेन में कुछ छोटी ईसाई रियासतों की ताक़त बढ़ रही थी और
बराबर पीछे हटाती जा रही थीं।

००० ई० के क़रीब अमीर का साम्राज्य लगभग सारे स्पेन पर फैला यहाँतक कि इसमें दक्षिणी फ्रान्स का भी एक छोटा-सा हिस्सा शामिल न इसका पतन जल्दी ही हुआ और, जैसा कि अक्सर होता है, इस पतन में अन्दरूनी कमज़ोरी थी। कला, ऐश और बहादुरी के साथवाली अरबों ार सभ्यता आखिर धनवानों की ही सभ्यता थी। भूखी ग़रीब जनता ने र दिया और मज़दूरों के दगे हुए। धीरे-धीरे यह गृह-युद्ध फैलता गया, द एक प्रान्त हाथ से निकलता गया और अन्त में अरबों का स्पेन-साम्राज्य ड़े हो गया। हालाँकि अरबों की ताक़त बिखर गई थी, फिर भी वे ई० तक राज करते रहे और अन्त में कुर्तुबा कैस्ताइल के ईसाई बादशाह में आ गया।

रब-लोग दक्षिण की ओर खदेड़ दिये गए, फिर भी वे बराबर मुक़ाबला हे। स्पेन के दक्षिण में उन्होंने ग्रैनेडा नामक छोटा-सा राज्य स्थापित कर ार वे वहीं डटे रहे। आकार के लिहाज़ से यह राज्य बहुत छोटा था, ह अरबी सभ्यता का एक छोटा-सा नमूना बन गया। ग्रैनेडा का प्रसिद्ध अपने सुन्दर महराबों, खम्भों और अरबेस्कों[1] के साथ अभी तक मौजूद उस पुराने ज़माने की याद दिलाता है। इसका असली नाम अरबी भाषा में ' था, जिसका अर्थ है—'लाल महल'। अरबेस्क उस सुन्दर नक़्काशी हैं, जो इस्लाम से प्रभावित अरबी और दूसरी इमारतों में पाई जाती है। में मनुष्यों या जानवरों के चित्र बनाना मना है। इसलिए कारीगर जीली और पेचीदा रेखाकृतियाँ बनाने लगे। अक्सर महराबों वग़ैरा पर न की अरबी आयतें नक़्श करते और उनमें सुन्दर सजावट करते थे। लिपि एक बहावदार लिपि है, जिसमें ऐसी सजावट आसानी से हो है।

नैडा का राज्य दो सौ वर्षों तक क़ायम रहा। इस ज़माने में स्पेन के ईसाई खासकर कैस्ताइल, उसे दबाते और तंग करते रहे। कभी-कभी उसने ल को खिराज देना भी मंजूर कर लिया। अगर स्पेन के ईसाई राज्यों में फूट न होती तो शायद ग्रैनैडा का राज्य इतने दिनों तक क़ायम न रहता। १४६९ ई० में इनमें से दो मुख्य ईसाई राज्यों के शासकों में, यानी फर्डीनेण्ड आइज़ाबेला में, विवाह हो गया। इससे कैस्ताइल, अरागोन और लियोन एक हो गये। फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला ने ग्रैनैडा के अरब-साम्राज्य को खत्म या। अरब लोग कई वर्षों तक बहादुरी से लड़ते रहे, पर फिर वे ग्रैनैडा में

---

[1] अरबेस्क—स्पेन के अरबों अथवा 'मूरों' की अलंकृत चित्रकला या मूर्ति- इसमें पौधों और लताओं का चित्रण अधिक होता था।

चारों तरफ़ से घेर लिये गए और बन्द कर दिये गए। आखिरकार भूख से तंग आकर उन्होंने हथियार डाल दिये।

बहुत-से सरासीन या अरब स्पेन छोड़कर अफ्रीका चले गए। दीक, शहर के सामने ही, एक जगह है जो आज दिन भी 'मूरों के नाम से मशहूर है।

लेकिन बहुत-से अरब स्पेन में ही रह गये। इन अरबों के हुआ, वह स्पेन के इतिहास का एक काला अध्याय है। उनके गईं और उनकी हत्याएँ की गईं और मज़हबी उदारता के जो वादे थे, उन्हें बिलकुल भुला दिया गया। इसी समय स्पेन में 'इनक्विज़िश हुई। रोमन ईसाई-संघ ने यह भयंकर हथियार उन तमाम लोगों लिए ईजाद किया था, जो उनके सामने सर नहीं झुकाते थे। यहूदी सीनों के राज्य में खुशहाल हो गये थे, अपना मज़हब बदलने किये जाने लगे और बहुतों को ज़िन्दा जला दिया गया। स्त्रियों और नहीं छोड़ा गया। एक इतिहासकार लिखता है कि "विधर्मियों (को हुक्म दिया गया कि वे अपनी रंग-बिरंगी पोशाक छोड़ दें और के हैट और बिरजिस पहना करें; अपनी भाषा, अपने रस्म-रिवाज यहाँतक कि अपने नाम भी छोड़ दें और स्पेनी भाषा बोलें; स्पेनवा बर्ताव करें और अपने-आपको स्पेनवासी कहने लगें।" इन ज़ुल्मों के और बलवे हुए, लेकिन वे बेरहमी से कुचल दिये गए।

ऐसा मालूम होता है कि स्पेन के ईसाई नहाने-धोने के शायद वे इसका विरोध सिर्फ़ इसलिए करते थे कि स्पेन के अरब बहुत शौक़ीन थे, और उन्होंने सारे मुल्क में बड़े-बड़े सार्वजनिक दिये थे। ईसाई लोग यहाँतक बढ़ गये, कि उन्होंने 'मूरों या अरबों लिए' हिदायतें निकालीं कि "उनके पुरुष, उनकी स्त्रियाँ और दूसरे और कहीं भी नहाने-धोने न पावें और उनके सब हम्माम गिरा नष्ट कर दिये जायँ।"

नहाने-धोने के पाप के अलावा एक दूसरा भी भारी जुर्म मूरों गया कि वे मज़हब के मामले में उदार होते हैं। यह एक बड़ी अजी होती है; लेकिन १६०२ ई० में वेलेंशिया के बड़े पादरी ने सरासी निकालने की सिफ़ारिश करते हुए 'मूरों के कुफ़्र और राजद्रोह' के बारे तैयार किया था, उसमें उनपर लगाये गए जुर्मों में यह मुख्य है। इस हुए वह लिखता है: "वे (मूर लोग) तमाम मज़हबी मामलों में ई

---

[1] El ultimo sospiro del moro

तनी क़द्र करते हैं उतनी किसी दूसरी चीज़ की नहीं करते, और तुर्क वग़ैरा मुसलमान अपनी प्रजा को इस आज़ादी की पूरी छूट देते हैं।" इस तरह इन में स्पेन के सरासीनों की अनजान में कितनी ज़्यादा तारीफ़ की गई है। और मुक़ाबले में स्पेन के ईसाइयों का नज़रिया कितना उलटा और अनुदार था !

लाखों सरासीन ज़बर्दस्ती स्पेन से खदेड़ दिये गए। उनमें से ज़्यादातर का और कुछ फ्रान्स चले गए। लेकिन तुम्हें याद रखना चाहिए कि अरब लोग में सात सौ वर्षों तक रह चुके थे, और इस लम्बे ज़माने में स्पेन की जनता में कुछ घुल-मिल गये थे। मूल से तो वे अरब थे, लेकिन धीरे-धीरे स्पेनवासी गये थे। शायद पिछले ज़माने के स्पेनवासी अरब बग़दाद के अरबों से बिलकुल थे। आज भी स्पेनी नस्ल की नसों में अरबों का काफ़ी ख़ून है।

सरासीन लोग शासक की हैसियत से नहीं बल्कि बसनेवालों की तरह पी फ्रान्स और स्वीज़रलैण्ड में भी फैल गये थे। आज भी 'मिदी' के फ्रान्सीसियों हीं-कहीं अरबी नमूने का चेहरा नज़र आ जाता है।

इस तरह स्पेन से अरबों का शासन ही नहीं बल्कि उनकी सभ्यता भी खत्म ई। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, एशिया में इस सभ्यता का अन्त इससे भी हो चुका था। इस सभ्यता ने बहुत-से देशों और संस्कृतियों पर अपना असर और अपनी कितनी ही शानदार यादगारें छोड़ गईं। लेकिन बाद में वह फिर पैरों पर खड़ी न हो सकी।

सरासीनों के जाने के बाद फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला के शासन में स्पेन की बढ़ती गई। कुछ ही दिनों बाद, अमेरिका की खोज के कारण, इसके हाथ गहरा लगा और कुछ समय के लिए स्पेन यूरोप में सबसे ज़्यादा शक्तिशाली देश या और इसका दबदबा दूसरे देशों पर छा गया। लेकिन इसका पतन भी तेज़ी हुआ और इसका महत्व नष्ट हो गया। और जब यूरोप के दूसरे देश उन्नति रहे थे, स्पेन अपनी जगह पर सड़ता रहा और मध्य युगों के ही सपने देखता । उसने यह महसूस नहीं किया कि तबसे दुनिया बहुत बदल गई थी। लेन पूल अंग्रेज़ इतिहासकार ने स्पेन के सरासीनों के बारे में लिखा है—

> "सदियों तक स्पेन सभ्यता का केन्द्र और कला, विज्ञान, विद्या और हर तरह के सुसंस्कृत ज्ञान का घर रहा। तबतक यूरोप का कोई दूसरा देश मूरों के इस सुसंस्कृत राज्य की समानता नहीं कर पाया। फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला की और चार्ल्स के साम्राज्य की थोड़े दिनों की चमक-दमक मूरों के स्थायी बड़प्पन को नहीं पा सकी। मूरों को निकाल बाहर किया गया; कुछ दिनों तक ईसाई स्पेन, चन्द्रमा की तरह उधार ली हुई रोशनी से चमकता रहा। इसके बाद

उसे ग्रहण लगा और उस अँधेरे में स्पेन आज तक ज़मीन पर रहा है। मूरों की सच्ची यादगार हमें स्पेन के बिलकुल वीरान खण्डों में दिखाई देती है, जहां किसी ज़माने में अरब लोग अंगू और अनाज की लहलहाती फ़सलें पैदा करते थे। वह उस मूर्ख आबादी में मिलती है जहाँ कभी तेज़ बुद्धि और विद्याध्ययन था; और यह यादगार उस जनता की आम जड़ता और में मिलती है जो दूसरी क़ौमों के मुक़ाबले में बहुत ही नीचे गिर और इस ज़लालत के क़ाबिल भी है।”

यह एक सख्त फ़ैसला है। साल-भर हुआ, स्पेन में एक क्रान्ति हु का बादशाह गद्दी से उतार दिया गया। अब यहाँ गणराज्य है। शाय गणराज्य तरक्क़ी करे और स्पेन को फिर से दूसरे देशों की बराबरी में

: ६२ :

‘क्रूसेड’ या सलीब के युद्ध

पिछले एक पत्र में मैंने पोप और उसकी परिषद् का, मुसलमानों छीनने के लिए धर्म-युद्ध की घोषणा का ज़िक्र किया था। सेलजूक तु हुई ताक़त से यूरोप भयभीत हो गया था—खासकर क़ुस्तुन्तुनिया जिसपर सीधा खतरा था। यरूशलम और फ़िलस्तीन के ईसाई पर तुर्कों के अत्याचार की कहानियों ने यूरोप के लोगों में उत्तेजना और वे गुस्से से भर गये थे। इसलिए ‘धर्मयुद्ध’ का ऐलान कर दिया ईसाई-संघ ने यूरोप के सारे ईसाइयों को आदेश दिया कि वे ‘पवित्र’ नगर के लिए सेनाएँ सजायें।

इस तरह १०९५ ई० से ये ‘क्रूसेड’ या सलीब के युद्ध शुरू सौ वर्षों से ज्यादा समय तक ईसाइयत और इस्लाम में, सलीब और लड़ाई चलती रही। बीच-बीच में लम्बे वक़्त तक लड़ाई रुकी भी रहती युद्ध की हालत बराबर बनी रही। ईसाई जिहादियों के दल-के-दल और ज्यादातर उस ‘पवित्र’ देश में मरने के लिए, जाते रहे। इस लम्बी से ईसाई जिहादियों को कोई ठोस नतीजा नहीं मिला। कुछ समय के लिए ईसाई जिहादियों के हाथ में आ गया, लेकिन बाद में फिर वह तुर्कों के

---

[1] १९३९ ई० में गृहयुद्ध के बाद गणराज्य खत्म हो गया और वहाँ तानाशाही है।

ौर उन्हींके क़ब्ज़े में बना रहा। क्रूसेडों का ख़ास नतीजा यह हुआ कि लाखों ों और मुसलमानों को मुसीबतें झेलनी पड़ीं, मौत के घाट उतरना पड़ा शिया कोचक और फ़िलस्तीन की ज़मीन इन्सान के ख़ून से तर हुई।

इन दिनों बग़दाद के साम्राज्य की क्या हालत थी? अभी तक अब्बासी ा ही उसके शासक बने हुए थे। अभी तक वे खलीफ़ा, अमीरुल मोमनीन र थे, लेकिन सिर्फ़ नाम के ही अमीर थे; उनके हाथ में कोई ताक़त न थी। ख चुके हैं कि उनका साम्राज्य किस तरह टुकड़े-टुकड़े हुआ और सूबों के कैसे स्वाधीन हो गये। महमूद ग़ज़नवी, जिसने कई वार भारत पर चढ़ाई , एक शक्तिशाली वादशाह था और उसने ख़लीफ़ा को धमकी दी थी कि वह उसकी मर्ज़ी के मुताबिक़ काम न करेगा, तो अच्छा न होगा। ख़ास बग़- ं भी असली मालिक तुर्क ही थे। इनके बाद तुर्कों की सेलजूक़ नाम की दूसरी आई। उन्होंने जल्दी ही अपनी सत्ता क़ायम कर ली और वे जीत-पर-जीत ल करते हुए क़ुस्तुन्तुनिया के दरवाज़े पर जा पहुँचे। लेकिन ख़लीफ़ा फिर ना रहा, हालाँकि उसके हाथ में कोई राजनैतिक शक्ति नहीं थी। उसने क़ सरदारों को सुलतान की उपाधि दी और ये सुलतान राज करने लगे। ए ईसाई जिहादियों को इन्हीं सेलजूक़ सुलतानों और उनके अनुयायियों से ा पड़ा था।

यूरोप में क्रूसेडों ने ईसाई-जगत की भावना को, यानी इस भावना को ा कि सब ग़ैर-ईसाइयों के मुक़ाबले में ईसाइयों की अपनी अलग दुनिया ूरोप भर में इसी समान भावना और उद्देश्य का दौर था कि 'काफ़िरों' के में से 'पवित्र देश' का उद्धार होना चाहिए। इस समान उद्देश्य ने लोगों में भर दिया था और इस महान् हित की ख़ातिर कितने ही आदमी अपना घर-और धन-दौलत छोड़कर चल दिये। बहुत-से लोग ऊंचे इरादों से गये थे न बहुत-से पोप के इस वादे से आकर्षित हुए थे कि वहाँ जाने से उनके गुनाह कर दिये जायंगे। क्रूसेडों के और भी कई कारण थे। रोम हमेशा के लिए न्तुनिया के ऊपर हुकूमत करनेवाला बन जाना चाहता था। तुम्हें याद होगा ुस्तुन्तुनिया और रोम के ईसाई-संघ अलग-अलग थे। क़ुस्तुन्तुनिया वाले अपने कट्टर ईसाई-संघ'[1] कहते थे। वे रोमन ईसाई-संघ से सख़्त नफ़रत करते थे पोप को कल का छोकरा समझते थे। पोप क़ुस्तुन्तुनिया का यह घमण्ड चूर करके अपने संघ में लाना चाहता था। काफ़िर तुर्कों के ख़िलाफ़ धर्म-युद्ध की आड़ ह अपनी यह पुरानी लालसा पूरी करना चाहता था। राजनीतिकों का और ों को राजनीतिज्ञ समझनेवालों का यही ढंग होता है! रोम और क़ुस्तुन्तुनिया

---

[1] Orthodox Church.

का यह संघर्ष याद रखने लायक़ है, क्योंकि क्रूसेडों के समय में वह आता रहा।

क्रूसेडों का दूसरा कारण व्यापार से ताल्लुक़ रखता था। खासकर वेनिस और जिनेवा के बढ़ते हुए बन्दरगाहों के व्यापारी चाहते थे, क्योंकि इनका व्यापार घटता जा रहा था। वजह यह तुर्कों ने पूर्व के कई तिजारती रास्तों को बन्द कर दिया था।

लेकिन आम जनता तो इन कारणों को बिलकुल नहीं जानती उसे ये बातें नहीं बताई थीं। राजनीतिक लोग आमतौर पर अपने को छिपा रखते हैं और धर्म, न्याय, सत्य, वग़ैरा की लम्बी-चौड़ी हैं। क्रूसेडों के समय में यही बात थी और आज भी यही है। उस समय बातों में आ जाते थे और आज भी ज़्यादातर लोग राजनीतिज्ञों चुपड़ी बातों में आ जाते हैं।

इस तरह क्रूसेडों में शामिल होने के लिए बहुत आदमी जमा बहुत-से तो नेक और लगनवाले थे, लेकिन बहुत-से ऐसे भी थे, जो से दूर थे और लूट-खसोट की उम्मीद ने ही उन्हें इस तरफ़ खींचा था। ज़मघट में पुण्यात्मा और धर्मात्मा लोग भी थे और आबादी का भी था, जो हर तरह के जुर्म कर सकता था। नेक काम पहुंचाने के लिए घर छोड़कर जानेवाले इन जिहादियों ने, या उनमें ने, दर असल नीच-से-नीच और महाघृणित अपराध किये। लूट-मार और दूसरे बुरे कामों में ऐसे मशग़ूल हो गये कि फ़िलस्तीन पहुंचे। कुछने रास्ते में यहूदियों को क़त्ल करना शुरू कर दिया; ईसाई भाइयों को ही क़त्ल कर डाला। कभी-कभी ऐसा भी हुआ देशों से होकर ये लोग गुज़रे वहाँ के किसानों ने इनकी बदमाशियों इनका मुक़ाबला किया और इनपर हमला करके बहुतों को मार को भगा दिया।

आखिर में बुइलों के गादफ़्रे नामक एक नार्मन के नेतृत्व में ये स्तीन पहुँच गये। इन्होंने यरूशलम जीत लिया और फिर वहाँ 'एक काट मची'। हज़ारों लोग क़त्ल कर दिये ग़ए। इस घटना को देखनेवाले एक फ़्रान्सीसी ने लिखा है: "मसजिद की बरसाती के खून था, और घोड़ों की लगाम तक पहुंच जाता था।" गॉडफ़्रे बादशाह बन गया।

सत्तर वर्ष बाद मिस्र के सुलतान सलादीन ने यरूशलम को छीन लिया। इससे यूरोप के लोग फिर भड़क उठे और एक के बाद

यूरोप के कई बादशाह और सम्राट् खुद जिहाद में शामिल हुए, लेकिन उन्हें लता न मिली। वे इस बात पर आपस में ही झगड़ते थे कि बड़ा कौन है, और से ईर्ष्या रखते थे। ये क्रूसेड बीभत्स और क्रूर लड़ाइयों की, और अक्सर ज़ियों और नीच अपराधों की कहानी हैं। लेकिन कभी-कभी मनुष्य- नेक पक्ष ने इस बीभत्सता पर विजय पाई, और ऐसी घटनाएं भी हुईं जब ने एक दूसरे के साथ भलमनसाहत का और वीर-धर्म का वर्ताव किया। न में बाहर से आये हुए इन राजाओं में इंग्लैण्ड का 'शेर-दिल' रिचर्ड भी पने शारीरिक बल और साहस के लिए मशहूर था। सलादीन भी बड़ा था और अपने वीर-धर्म के लिए मशहूर था। सलादीन से लड़नेवाले भी उसकी इस उदारता के क़ायल थे। कहते हैं कि एक बार रिचर्ड बहुत ड़ गया, उसे लू लग गई थी। जब सलादीन को इसकी ख़बर हुई तो के पास पहाड़ों से ताज़ा बर्फ़ भिजवाने का इन्तज़ाम कर दिया। आज- तरह उन दिनों पानी को जमाकर नकली बर्फ़ नहीं बनाई जा सकती थी। पहाड़ों से क़ुदरती बर्फ़ तेज़ हरकारों के ज़रिये मँगवाई जाती थी।

सेडों के समय की बहुत-सी कहानियाँ हैं। शायद तुमने वाल्टर स्कॉट[1] लस्मैन' उपन्यास पढ़ा होगा।

जिहादियों का एक जत्था क़ुस्तुन्तुनिया भी जा पहुंचा और उसने उसपर कर लिया। इसने पूर्वी साम्राज्य के यूनानी सम्राट् को मार भगाया और तीनी राज्य और रोमन ईसाई-संघ क़ायम किया। क़ुस्तुन्तुनिया में भी मारकाट हुई और जिहादियों ने शहर का एक हिस्सा जला भी दिया। यह लातीनी राज्य ज़्यादा दिनों तक क़ायम नहीं रह सका। पूर्वी रोमन य के यूनानी कमज़ोर होते हुए भी वापस लौटे और पचास साल से कुछ दा समय के अन्दर उन्होंने लातीनियों को मार भगाया। क़ुस्तुन्तुनिया साम्राज्य दो सौ वर्षों तक और बना रहा। अन्त में १४५३ ई० में तुर्कों हमेशा के लिए खत्म कर दिया।

क़ुस्तुन्तुनिया पर जिहादियों का यह क़ब्ज़ा रोमन ईसाई-संघ और पोप इच्छा को ज़ाहिर करता है कि वे अपना प्रभाव वहाँतक बढ़ाना चाहते थे। घबराहट के मौक़े पर इस शहर के यूनानियों ने तुर्कों के ख़िलाफ़ रोम से माँगी थी, फिर भी उन्होंने जिहादियों की कुछ भी मदद नहीं की। बल्कि से सख्त नफ़रत करते थे।

---

[1] स्कॉट अंग्रेज़ी भाषा का बहुत मशहूर उपन्यास-लेखक और कवि हो है। यह स्कॉटलैण्ड का रहनेवाला था। १७७१ ई० में इसका जन्म हुआ था १८३२ ई० में मृत्यु हुई।

लेकिन इन क्रूसेडों में सबसे भयंकर वह था जो 'बच्चों का क्रू है। बहुत बड़ी संख्या में बच्चों ने, ज्यादातर फ्रान्स के और कुछ जर्मनी के जोश में आकर अपने घरों को छोड़ दिया और फ़िलस्तीन जाने लिया। उनमें से कितने ही तो रास्ते में मर गये और कितने ही खो गये। बच्चे मार्सेल्स जा पहुँचे, जहाँ उन बेचारों के साथ धोखा किया गया ने उनके जोश से बेजा फ़ायदा उठाया। 'पवित्र' देश तक पहुंचा देने बनाकर गुलामों के व्यापारी इन्हें अपने जहाज़ों में बिठाकर मिस्र यहाँ इन्हें गुलामी के लिए बेच दिया।

फ़िलस्तीन से लौटते समय इंग्लैण्ड के बादशाह रिचर्ड को उसके दुश्मनों ने पकड़ लिया और उसे छुड़ाने के लिए बहुत बड़ी रक़म फ्रान्स का राजा फ़िलस्तीन में ही गिरफ़्तार कर लिया गया था रुपया देकर छुड़ाया गया था। पवित्र रोमन साम्राज्य का एक सम्राट् बारबरोसा फ़िलस्तीन की एक नदी में डूब गया। इधर ज्यों-ज्यों गया, क्रूसेडों का जादू कम होता गया। लोग इन युद्धों से उकता गये थे। मुसलमानों के ही हाथों में बना रहा, लेकिन यूरोप के राजाओं में और अब यरूशलम को छीनने के लिए ज्यादा जान व माल बर्बाद करने नहीं रहा। तब से लगभग ७०० वर्षों तक यरूशलम मुसलमानों के ही थोड़े ही दिन पहले, पिछले यूरोपीय महायुद्ध के समय, १९१८ ई० में, सेनापति ने इसे तुर्कों से छीन लिया।

बाद के क्रूसेडों में एक क्रूसेड बड़ा ही दिलचस्प और ग़ैरमामूली तो यह है कि पुराने अर्थ में यह क्रूसेड था ही नहीं। पवित्र रोमन साम्राज्य फ्रेडरिक द्वितीय फ़िलस्तीन गया और वहाँ लड़ने के बजाय उसने मिस्र से भेंट की और दोनों में एक दोस्ताना समझौता हो गया! फ्रेडरिक व्यक्ति था। उस ज़माने में, जब ज्यादातर राजा बे-पढ़े-लिखे होते थे, के अलावा कई भाषाएं जानता था। वह 'जगत् का आश्चर्य' के नाम था। पोप की वह बिलकुल परवा नहीं करता था और इसलिए बहिष्कृत कर दिया, लेकिन उसपर इसका कोई असर न हुआ।

मतलब यह कि क्रूसेडों का कोई नतीजा नहीं निकला। पर लड़ाई ने सेलजूक़ तुर्कों को कमज़ोर कर दिया। लेकिन इससे भी ज्यादा कि सामन्त-प्रथा ने सेलजूक़ साम्राज्य की जड़ें खोखली कर दीं। बड़े सरदार अपनेको एक तरह से स्वाधीन मानने लगे। वे आपस में लड़ते कभी-कभी नौबत यहाँतक पहुँचती थी कि वे एक-दूसरे के खिलाफ़ सहायता माँगा करते थे। कभी-कभी तुर्कों की यह अन्दरूनी कमज़ोरी

के हाथ का खिलौना बना देती थी। लेकिन जब कभी सलादीन की तरह कोई ल्तान होता था तब इनकी नहीं चलती थी।

ूसेडों के बारे में दूसरा मत भी है। यह नया मत जी० एम० ट्रेवेलियन एक अंग्रेज इतिहासकार ने (जिसे तुम गैरीबाल्दीवाली पुस्तकों के लेखक में जानती हो) पेश किया है। यह मत बड़ा दिलचस्प है। ट्रेवेलियन कहता ूसेड यूरोप की उस दुबारा ज़िन्दा होनेवाली क्रियाशक्ति के सैनिक और पहलू थे, जो यूरोप के आम लोगों को पूर्व की ओर जाने को उकसा रही ूसेडों से यूरोप को जीत का यह इनाम नहीं मिला कि 'पवित्र समाधि' के लिए उद्धार हो गया हो या ईसाई-जगत् में प्रभावशाली एकता ई हो। क्रूसेडों की कहानी तो इन बातों का एक लम्बा प्रतिवाद है। इनके यूरोप में क्रूसेड ललित कलाएँ, कारीगरी, विलासिता, विज्ञान व बौद्धिक लेकर आया, यानी वे तमाम चीज़ें लाया, जिनसे साधु पीटर को सख्त होती।"

लादीन ११९३ ई० में मर गया, और पुराने अरब-साम्राज्य का जो कुछ रह रहा था वह भी धीरे-धीरे टूक-टूक हो गया। पश्चिमी एशिया के कई ं, जो छोटे-छोटे सामन्त-सरदारों के क़ब्ज़े में थे, उपद्रव होने लगे। आखिरी २४९ ई० हुआ। इसका नेता फ़ान्स का राजा लुई नवम था। वह हार र क़ैद कर लिया गया।

सी बीच पूर्वी और मध्य एशिया में बड़ी-बड़ी घटनाएँ घट रही थीं। चंगेज़ क ज़बर्दस्त सरदार के नेतृत्व में मंगोल आगे बढ़ रहे थे और पूर्वी क्षितिज घटा की तरह छा रहे थे। क्रूसेडों में लड़नेवाले दोनों पक्ष, यानी ईसाई मान दोनों ही इस मँडराते हुए हमले को एक समान डर से देख रहे थे। और मंगोलों का ज़िक्र हम आगे के किसी पत्र में करेंगे।

स पत्र को खत्म करने से पहले मैं एक बात का ज़िक्र कर देना चाहता एशिया के बुखारा नामक शहर में एक बहुत बड़ा अरब हकीम रहता था या और यूरोप दोनों में मशहूर था। उसका नाम इब्न सीना था, लेकिन वह 'एवीसेना' के नाम से ज़्यादा मशहूर है। वह 'हकीमों का शाह' कहा था। क्रूसेडों के शुरू होने के पहले, १०३७ ई० में, उसकी मृत्यु हो गई।

ने इब्न सीना के नाम का ज़िक्र उसकी कीर्त्ति की वजह से किया है। लेकिन यों कि इस सारे ज़माने में, यहाँतक कि जब अरब-साम्राज्य का पतन हो तब भी, अरबी सभ्यता पश्चिमी एशिया में और मध्य एशिया के एक हिस्से रही। ईसाई जिहादियों से लड़ाई में मशग़ूल रहने पर भी सलादीन ने कालेज और अस्पताल बनवाये। लेकिन इस सभ्यता के अचानक और पूरी

१९

तरह ख़त्म होने का दिन नज़दीक आ चुका था, क्योंकि पूर्व की तर
बढ़े चले आ रहे थे।

: ६३ :

क्रूसेडों के समय का यूरोप

२० जू

पिछले पत्र में हम लोगों ने ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं
ईसाइयत और इस्लाम की टक्कर का कुछ ज़िक्र किया था। ईसाई-जगत
यूरोप में ज़ोर पकड़ रही थी। इस समय तक ईसाइयत सारे यूरोप में
थी। पूर्वी यूरोप की रूसी वग़ैरा स्लाव जातियाँ सबसे पीछे इसमें आ
एक रोचक कहानी है—मैं कह नहीं सकता कि वह कहाँतक सच है—
रूसी लोगों ने, ईसाई होने से पहले, अपना पुराना मज़हब बदलने और
मज़हब अपनाने के सवाल पर बहस की थी। जिन दो नये मज़हबों के बारे
सुन रक्खा था, वे ईसाइयत और इस्लाम थे। इसलिए, ठीक आजकल
अनुसार, रूसियों ने ऐसे देशों में, जहाँ इन मज़हबों के माननेवाले लोग थे,
निधि-मण्डल भेजा ताकि वह उनकी जाँच करके अपनी रिपोर्ट पेश करे।
कि यह प्रतिनिधि-मण्डल पहले पश्चिमी एशिया की कुछ जगहों में गया,
का प्रचार था और बाद में क़ुस्तुन्तुनिया पहुँचा। क़ुस्तुन्तुनिया में उन्होंने
देखा उससे वे चकित हो गये। कट्टर ईसाई-संघ की पूजा-विधि में बड़ी
और तड़क-भड़क थी, जिसके साथ संगीत और मधुर गायन भी थे।
बढ़िया पोशाकें पहनकर आते थे और धूप जला करती थी। उत्तर के
और अर्ध-सभ्य लोगों पर इस पूजा-विधि का ज़बर्दस्त असर पड़ा।
ऐसी तड़क-भड़क की कोई बात नहीं थी। इसलिए उन्होंने ईसाइयत
फ़ैसला किया और लौटकर वैसी ही रिपोर्ट अपने बादशाह के सामने
इसपर रूस के बादशाह और उसकी प्रजा ईसाई हो गये, और चूँकि
ईसाइयत क़ुस्तुन्तुनिया से ली थी, इसलिए वे रोम के नहीं बल्कि '
ईसाई-संघ' के अनुयायी हुए। बाद में भी, रूस ने रोम के पोप को
माना।

रूस का यह धर्म-परिवर्तन क्रूसेडों के बहुत पहले हो चुका था।
है कि एक समय बल्ग़ारी भी मुसलमान बनने के लिए कुछ-कुछ तैयार
लेकिन फिर क़ुस्तुन्तुनिया का आकर्षण ज़्यादा ज़ोरदार साबित हुआ।
ने एक बिज़न्तीन राजकुमारी से शादी कर ली थी और वह ईसाई हो

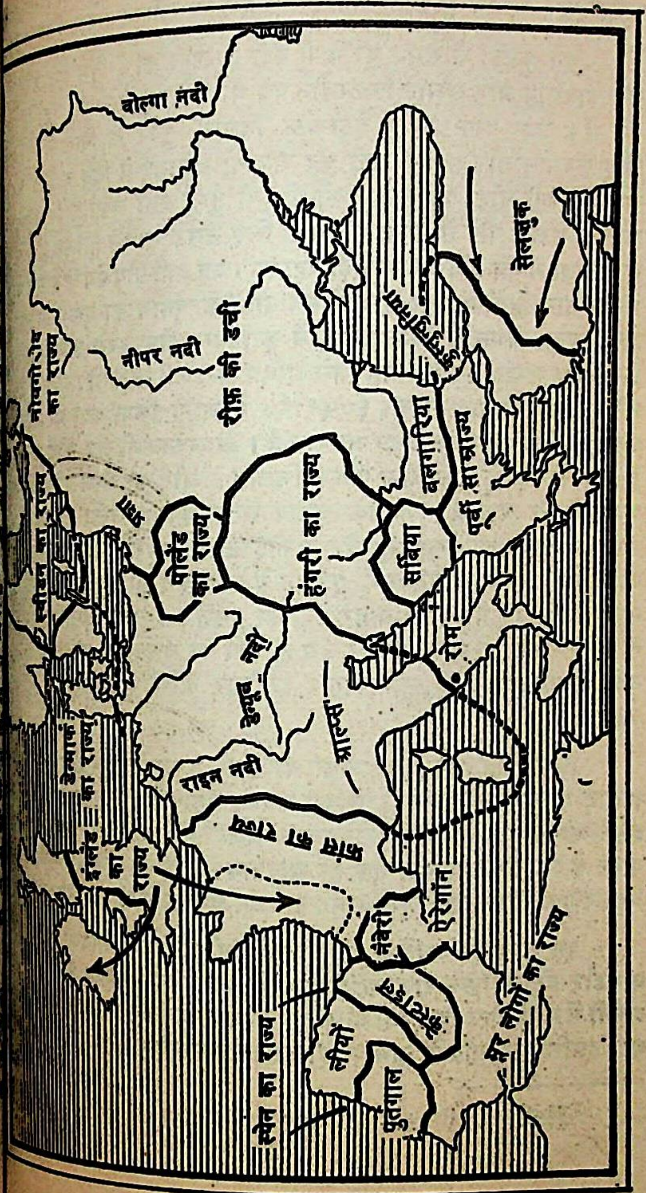
वोल्गा नदी
नोवगोरोड का राज्य
नीपर नदी
कीफ़ की डची
प्रशा
स्वीडन का राज्य
पोलैंड का राज्य
हंगरी का राज्य
कुस्तुन्तुनिया
बलगारिया
सर्विया
पूर्वी साम्राज्य
सेलजुक
रोम
डेन्यूब नदी
आल्प्स
डेनमार्क का राज्य
राइन नदी
फ्रांस का राज्य
इंगलैंड का राज्य
एरागॉन
नेवेरी
कैस्टाइल
लीयों
पुर्तगाल
स्पेन का राज्य
मूर लोगों का राज्य

(तुम्हें याद होगा कि बिज़ैन्तियम क़ुंस्तुन्तुनिया का ही पुराना नाम
तरह दूसरे पड़ोसी मुल्क़ों ने भी ईसाई-मज़हब स्वीकार कर लिया था।

इन क्रूसेडों के समय यूरोप में क्या हो रहा था ? तुम देख ही
कुछ बादशाह और सम्राट् फ़िलस्तीन गये थे और उनमें से कई वहाँ
गये थे। उधर पोप रोम में बैठा-बैठा 'विधर्मी' तुर्कों के ख़िलाफ़
लिए फ़रमान और अपीलें जारी कर रहा था। शायद ये दिन वही थे,
शक्ति अपनी चोटी पर पहुँच चुकी थी। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि
घमण्डी सम्राट् पोप से माफ़ी माँगने के लिए उसके सामने हाजिर होने
में कनौज़ा में नंगे पाँव बर्फ़ में खड़ा रहा था। यह वही पोप ग्रेगरी सप्तम
पहला नाम हिल्देब्रांद था और जिसने पोपों के चुनाव का एक नया
किया था। रोमन कैथलिक जगत् में कार्डिनल लोग सबसे ऊँचे पादरी
इनका एक मण्डल बनाया गया, जिसे 'पवित्र मण्डल'[1] कहते थे। यही
को चुनता था। यह तरीक़ा १०५९ ई० में जारी किया गया था और
बदल के साथ आजतक चला आ रहा है। आजकल भी जब कोई पोप
हैं, तब कार्डिनलों का मण्डल फ़ौरन मिलता है और कार्डिनल लोग एक
कमरे में बैठ जाते हैं। जबतक चुनाव ख़त्म नहीं हो जाता तबतक न
कमरे के भीतर जा सकता है और न कोई उससे बाहर ही निकल सकता
बार ऐसा हुआ है कि चुनाव में एकमत न हो सकने की वजह से घण्टों
कमरे में बैठे रहे हैं। पर वे बाहर नहीं आ सकते। इसलिए अन्त में वे
के लिए मजबूर हो जाते हैं, और जैसे ही पोप का चुनाव हो जाता है,
धुआँ उड़ाया जाता है ताकि बाहर इन्तज़ार करती हुई भीड़ को
जाय।

जिस तरह पोप चुना जाता था उसी तरह 'पवित्र रोमन
सम्राट् भी चुना जाने लगा। लेकिन उसका चुनाव बड़े सामन्त-सरदार
इनकी संख्या सात थी और वे 'निर्वाचक राजा'[2] कहलाते थे। इस तरह
करते थे कि सम्राट् हमेशा एक ही ख़ानदान से नहीं आ सके। लेकिन
अक़्सर एक ही ख़ानदान लम्बे समय तक इन चुनावों में जीतता रहता था।

इस तरह हम देखते हैं कि बारहवीं और तेरहवीं सदियों में
बागडोर होहेन्स्तॉफ़ेन राजवंश के हाथ में थी। मेरा ख़याल है कि
जर्मनी में कोई छोटा-सा क़स्बा या गाँव है। शुरू में यह ख़ानदान इसी गाँव
था। इसलिए इस गाँव के नाम पर ही उसका नाम पड़ गया। होहेन्स्तॉफ़ेन

---

[1] Holly College. [2] Elector Princes.

रिक प्रथम ११५२ ई० में सम्राट् हुआ। यह आमतौर से फ़्रेडरिक बार्बरोसा है। यह वही फ़्रेडरिक बार्बरोसा था, जो क्रूसेडों में जाते समय रास्ते में डूब । कहा जाता है कि रोमन साम्राज्य के इतिहास में फ़्रेडरिक बार्बरोसा सबसे ज़्यादा शानदार थी। जर्मन लोगों के लिए तो वह बहुत समय से वीर और बहुत कुछ ख़याली व्यक्ति बन गया है और उसके बारे में पुरानी कहानियाँ जमा हो गई हैं। कहते हैं कि वह किसी पहाड़ की गहरी रहा है और वक़्त आने पर जागकर अपने देशवासियों को बचाने के निकलेगा।

डरिक बार्बरोसा बहुत ज़ोरों के साथ पोप के ख़िलाफ़ लड़ता रहा, लेकिन की ही विजय हुई और फ़्रेडरिक को उसके सामने सिर झुकाना पड़ा। निरंकुश राजा था पर उसके बड़े सामन्त-सरदार उसे बहुत तंग करते रहते में बड़े-बड़े नगर बढ़ रहे थे; फ़्रेडरिक ने उनकी आज़ादी को कुचलने की लेकिन वह सफल नहीं हुआ। जर्मनी में भी, ख़ासकर नदियों , कोलोन, हैम्बुर्ग, फ़्रैंकफ़ुर्त वग़ैरा बड़े-बड़े नगर बस रहे थे। लेकिन रों में फ़्रेडरिक की नीति दूसरी थी। अमीरों और सामन्तों की ताक़त कम ग़रज़ से उसने इन आज़ाद जर्मन शहरों की हिमायत की।

ने तुम्हें कई मौक़ों पर बताया है कि राजा की गद्दी के बारे में पुरानी भावना क्या थी? आर्यों के पुराने ज़माने से अशोक के समय तक, और से लगाकर शुक्राचार्य के 'नीति-सार' तक, यह बात बार-बार कही कि राजा को लोकमत के सामने सिर झुकाना चाहिए। असली मालिक होती है। भारतीय सिद्धान्त यही था, हालांकि अमल में दूसरे देशों के की तरह, भारत के राजा भी काफ़ी निरंकुश होते थे। इस पुरानी भारतीय का मुक़ाबला पुराने यूरोप की भावना से करो। उन दिनों के वकीलों की सम्राट् की सत्ता सर्वोपरि थी; उसकी मर्ज़ी ही क़ानून थी। उनका कहना सम्राट् पृथ्वी पर जीता-जागता क़ानून है।" फ़्रेडरिक बार्बरोसा ख़ुद —"जनता का यह काम नहीं है कि वह राजा को क़ानून बतावे; उसका राजा का हुक्म मानना है।"

का मिलान चीनी भावना से भी करो। वहाँ सम्राट् या राजा 'स्वर्ग जैसी लम्बी-चौड़ी उपाधियों से पुकारा जाता था। लेकिन इससे हमें धोखे पड़ना चाहिए। सिद्धान्त में चीन के सम्राट् की हैसियत यूरोप के सम्राट् की हैसियत से बहुत जुदा थी। एक पुराने चीनी लेखक ने लिखा है—"जनता देश का सबसे महत्वपूर्ण अंग है; उसके बाद ज़मीन के उपयोगी देवताओं का दर्जा है, और सबसे कम महत्व शासक का है।"

मतलब यह कि यूरोप में सम्राट् धरती पर सर्वोपरि माना जाता इसीसे राजाओं के दैवी अधिकार की भावना पैदा हुई। मगर असल में सर्वोपरि होना बहुत दूर की बात थी। उसके सामन्ती सरदार बहुत और धीरे-धीरे, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, शहरों में नये-नये गये थे, और इन्होंने भी कुछ सत्ता हथिया ली थी। दूसरी ओर पोप भी सर्वोपरि होने का दावा करता था। और फिर जहाँ दो सर्वोपरि मिलें, होना लाज़िमी है।

फ़्रेडरिक बार्बरोसा के पोते का नाम भी फ़्रेडरिक था। वह थोड़े सम्राट् बन गया और उसका नाम फ़्रेडरिक द्वितीय पड़ा। यह वही जिसे 'संसार का आश्चर्य'[1] कहा गया है, और जिसने फ़िलस्तीन जाकर सुलतान के साथ दोस्ताना बातचीत की। अपने दादा की तरह इसने खुला विरोध किया और उसकी आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। ईसाइयत से छेककर बदला चुकाया। यह पोपों का एक पुराना और हथियार था लेकिन अब इसमें कुछ जंग लग रहा था। फ़्रेडरिक द्वितीय गुस्से की ज़रा भी परवाह नहीं की, और अब दुनिया भी बदल रही थी। ने यूरोप के सब राजाओं और शासकों के पास लम्बे-लम्बे पत्र भेजे, बताया कि पोप को राजाओं के मामले में दखल देने की ज़रूरत नहीं का काम तो धार्मिक और आध्यात्मिक मामलों की देखरेख करना है, में टाँग अड़ाना नहीं। उसने पादरियों में फैले हुए भ्रष्टाचार का भी बयान इस तरह के वाद-विवाद में फ़्रेडरिक ने पोपों को बुरी तरह पछाड़ ये पत्र बड़े दिलचस्प हैं, क्योंकि वे पोप और सम्राट् के पुराने झगड़े में भावना का प्रवेश होने की पहली निशानी हैं।

फ़्रेडरिक द्वितीय मज़हबी मामलों में बड़ा उदार था और अरबी दार्शनिक उसके दरबार में आया करते थे। कहा जाता है कि फ़्रेडरिक अरबी अंक और बीजगणित यूरोप में पहुँचे थे (तुम्हें याद होगा कि भारत से अरब[2] गये थे)। फ़्रेडरिक ने ही नेपल्स का विश्वविद्यालय के प्राचीन विश्वविद्यालय में एक बड़ा मेडिकल स्कूल, क़ायम किये

फ़्रेडरिक द्वितीय ने १२१२ से १२५० ई० तक राज किया। के बाद साम्राज्य पर से होहेन्स्टॉफ़ेन वंश का क़ब्ज़ा जाता रहा। सच कि उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य का ही क़रीब-क़रीब ख़ात्मा हो अलग हो गया, जर्मनी के टुकड़े-टुकड़े हो गये और बहुत वर्षों तक

---

[1] Stupor Mundi.

[2] अरबी में अंकों को 'हिन्दसा' कहते हैं।

ही। लुटेरे नाइट और डाकू लूट-मार करते थे और उनको कोई रोकने था। जर्मन राज्य के लिए पवित्र रोमन साम्राज्य का बोझ इतना भारी वह उसे सह नहीं सका। फ़्रान्स और इंग्लैण्ड में वहाँ के बादशाह धीरे-धीरे यत मज़बूत कर रहे थे और गड़बड़ मचानेवाले बड़े-बड़े सामन्ती सरदारों रहे थे। जर्मनी का बादशाह सम्राट भी था और वह पोप से या इटली से लड़ने में ही इतना फँसा रहता था कि अपने यहाँ के अमीर-सरदारों नहीं सकता था। कोई माने या न माने, पर जर्मनी को यह गौरव ज़रूर था बादशाह सम्राट् है। लेकिन इसकी क़ीमत उसे यह चुकानी पड़ी कि र में कमज़ोरी और फूट पैदा हो गई; जर्मनी के एक राष्ट्र बनने के बहुत फ़्रान्स और इंग्लैण्ड शक्तिशाली हो गये थे। सैकड़ों वर्षों तक जर्मनी में छोटे-छोटे राजा थे। अभी क़रीब साठ ही वर्ष हुए जब जर्मनी एक हुआ, छोटे-छोटे बादशाह और राजा फिर भी बने रहे। १९१४-१८ ई० के ने इस भीड़ को खत्म कर दिया।

डरिक द्वितीय के बाद जर्मनी में इतनी ज़्यादा गड़बड़ रही कि तेईस कोई सम्राट् ही नहीं चुना गया। १२७३ ई० में हैप्सबर्ग का काउण्ट सम्राट् चुना गया। अब हैप्सबर्ग का नया राजवंश सामने आया। यह के साथ अन्त तक चिपका रहनेवाला था। १९१४ ई० के महायुद्ध में यह नी, शासक की हैसियत से, खत्म हो गया। महायुद्ध के समय में आस्ट्रिया- सम्राट् हैप्सबर्ग घराने का था, जिसका नाम फ़्रान्सिस जोज़ेफ़ था। वह बूढ़ा था और राजगद्दी पर बैठे हुए उसे साठ वर्ष से ज़्यादा हो चुके थे। नेण्ड उसका भतीजा और उत्तराधिकारी था, जो १९१४ ई० में बोसनिया प्रायद्वीप में) के सिराजेवो में अपनी पत्नी के साथ क़त्ल कर दिया गया युद्ध को भड़कानेवाली यही हत्या थी, और इस महायुद्ध ने बहुत-सी का खात्मा कर दिया, जिनमें हैप्सबर्ग का पुराना राजवंश भी था।

वित्र रोमन साम्राज्य के बारे में इतना काफ़ी है। इसके पश्चिम में फ़्रान्स ग्लैंड बार-बार आपस में लड़ा करते थे, लेकिन इससे भी ज़्यादा बार-बार दशाहों की अपने ही अमीर-सरदारों से लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। जर्मनी ट् या बादशाह की बनिस्बत फ़्रान्स और इंग्लैण्ड के बादशाह अपने अमीर- रों पर ज़्यादा विजयी हुए; इसलिए इंग्लैण्ड और फ़्रान्स दूसरे देशों के मुक़ाबले दा ठोस बन गये और उनकी एकता ने उन्हें मज़बूती दी।

इसी समय इंग्लैंड में एक घटना हुई जिसके बारे में शायद तुमने पढ़ा होगा। ई० में किंग जॉन ने मैग्नाकार्टा[1] पर दस्तखत किये। जॉन अपने भाई

---

[1] मैग्नाकार्टा (Manga Charta)—इंग्लैण्ड की स्वतन्त्रता का खरीता

'शेर-दिल' रिचर्ड के बाद गद्दी पर बैठा था। वह बड़ा लालची था, लेकि कमज़ोर भी था और उसकी हरकतों से सब लोग खीझ उठे। अमीर उसे टेम्स नदी के रनीमीड टापू में जा घेरा और तलवार के ज़ोर से कर मैग्नाकार्टा या 'महान् घोषणापत्र' पर उसके दस्तखत करवा लि यह शर्त थी कि वह इंग्लैण्ड के अमीर-सरदारों और इंग्लण्ड की जन आज़ादियों का आदर करेगा। इंग्लैण्ड की राजनीतिक स्वतन्त्रता की में यह पहला बड़ा क़दम था। इसमें एक ख़ास शर्त यह थी कि बादशाह रिक की सम्पत्ति या उसकी आज़ादी में बिना उसके बराबरवालों की दखल नहीं दे सकेगा। इसी से जूरी[1] की प्रथा निकली, जिसमें यह है कि बराबर के लोग फ़ैसला करते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि इंग्लैण पहले ही बादशाह के अधिकारों पर रोक लगा दी गई थी। पवित्र रोमन में शासक को सर्वोपरि मानने का जो सिद्धान्त चालू था, वह उस इंग्लैण्ड में नहीं माना जाता था।

यह मज़ेदार बात है कि यह नियम, जो इंग्लैण्ड में आज से ७०० बनाया गया था, १९३२ ई० में भी ब्रिटिश राज्य के अधीन भारत पर है। यहाँ आज भी एक व्यक्ति वाइसराय को अध्यादेश (आर्डिनेन्स) क़ानून बनाने और जनता की सम्पत्ति और स्वतन्त्रता छीन लेने का मिला हुआ है।

मैग्नाकार्टा के थोड़े ही दिनों बाद इंग्लैण्ड में एक और मार्के की घ धीरे-धीरे एक राष्ट्रीय परिषद् का विकास होने लगा जिसमें अलग-अल इलाक़ों और शहरों से नाइट और नागरिक भेजे जाते थे। यह इंग्लैण्ड मेण्ट की शुरुआत थी। नाइटों और नागरिकों की सभा 'हाउस ऑफ़ बनी; अमीर-सरदारों व पादरियों की सभा 'हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स' बनी। में इस पार्लमेण्ट को नाम के अधिकार थे, पर ये धीरे-धीरे बढ़ते गये। बादशाह और पार्लमेण्ट के बीच इस बात पर आखिरी आज़माइश हुई कि में कौन बड़ा है। इस झगड़े में राजा का सिर उड़ा दिया गया और पा

जिसपर दस्तख़त करने के लिए किंग जॉन को मजबूर होना पड़ा। इसमें स्वतन्त्रता की कई महत्वपूर्ण बातें शामिल की गई थीं।

[1] बड़े मुक़दमों में न्यायाधीश के साथ कुछ स्वतन्त्र व्यक्ति बैठते गवाहियाँ पूरी हो जाने पर आपस में सलाह करके मुक़दमे के बारे में राय भारत में भी क़त्ल के मुक़दमों में जूरी बैठती थी, लेकिन अब यह प्रथा जा रही है।

स्वीकार कर ली। लेकिन यह बात क़रीब ४०० वर्षों बाद, यानी में जाकर हुई।

में भी तीन वर्ग कहलानेवालों की एक परिषद् थी। ये तीन वर्ग चर्च और कॉमन्स, यानी ज़मींदार, ईसाई-संघ और आमलोग। जब की इच्छा होती थी, इस परिषद् की बैठक हुआ करती थी; लेकिन बहुत कम होती थीं, और यह इंग्लैंड की पार्लमेण्ट की तरह अधिकार में सफल न हो सकी। फ़ान्स में भी राजाओं की कमर टूटने के पहले अपना सिर गँवाना पड़ा था।

में अब भी यूनानियों का पूर्वी रोमन साम्राज्य चल रहा था। अपनी शुरुआत में ही इसका किसी-न-किसी से युद्ध चलता रहा, और अक्सर होता था कि बस यह मरा। लेकिन फिर भी उसने पहले उत्तरी बर्बरों में मुसलमानों के, हमलों से अपनी जान बचा ली। इस साम्राज्य पर धारियों, अरबों या सेलजूक़ तुर्कों के जितने हमले हुए उनमें ईसाई का हमला सबसे ज्यादा घातक और हानिकर साबित हुआ। इन ने ईसाई क़ुंस्तुन्तुनिया को जितना नुक़सान पहुँचाया, उतना किसी ने नहीं पहुँचाया। इस महान् आफ़त की मार से साम्राज्य और क़ुंस्तुन्तुनिया फिर कभी नहीं पनप सके।

यूरोप की दुनिया पूर्वी साम्राज्य के बारे में बिलकुल अनजान थी। बिलकुल परवाह नहीं थी। वह ईसाई-जगत् का अंग नहीं थी। उसकी थी, जबकि पश्चिमी यूरोप के विद्वानों की भाषा लातीनी थी। देखा गिरावट के ज़माने में भी क़ुंस्तुन्तुनिया में पश्चिम की बनिस्बत कहीं और साहित्य-चर्चा थी। लेकिन यह विद्या बुढ़ापे की विद्या थी जिसमें था और न कोई नई रचना-शक्ति। पश्चिम में विद्या नहीं के बराबर उसमें जवानी थी और नई रचना की शक्ति थी और थोड़े ही दिनों सुन्दर रचनाओं के रूप में खिल उठनेवाली थी।

साम्राज्य में, रोम की तरह सम्राट् और पोप में कोई झगड़ा नहीं था। सर्वोपरि था और पूरी तरह स्वेच्छाचारी था। किसी तरह की आज़ादी नहीं था। राजगद्दी उसीके हिस्से में आती थी, जो सबसे बलवान होता ज्यादा बे-उसूला होता था। हत्या और छल से, ख़ून-ख़राबी और ज़ुल्म राजगद्दी हासिल कर लेते थे और जनता भेड़-बकरियों की तरह उनके मानती रहती थी। मालूम होता है, उसे इस बात में कोई दिलचस्पी न राज करता है।

साम्राज्य यूरोप के फाटक पर एक पहरेदार की तरह खड़ा था और

एशियाई हमलों से उसकी रक्षा करता था। सैकड़ों वर्षों तक वह इसमें रहा। अरब लोग क़ुंस्तुन्तुनिया को नहीं ले सके। सेलजूक़ तुर्क भी, हा बहुत नज़दीक पहुँच गये थे, उसे नहीं ले सके। मंगोल भी इसके हुए उत्तर में रूस की तरफ़ निकल गये। अन्त में उस्मानी तुर्क आये ई० में क़ुंस्तुन्तुनिया के शाही शहर का बड़ा लूट का माल उनके हाथ इस शहर के पतन के साथ ही पूर्वी रोमन साम्राज्य का भी पतन हो

: ६४ :

यूरोप के नगरों का अभ्युदय

२१

क्रूसेडों का ज़माना, यूरोप में श्रद्धा, सामूहिक आकांक्षा और महान् ज़माना था और जनता अपनी आये दिन की मुसीबतों से शान्ति इसी श्रद्धा और आशा का सहारा लेती थी। उस समय विज्ञान नहीं था भी बहुत कम थी, क्योंकि आस्था के साथ विज्ञान और विद्या का मेल नहीं बैठता। विद्या और ज्ञान से लोग सोचने-विचारने लगते हैं और तर्क-वितर्क श्रद्धा के साथ मुश्किल से मेल खाते हैं। विज्ञान का रास्ता और प्रयोग का रास्ता है। लेकिन श्रद्धा इस रास्ते नहीं जाती। आगे देखेंगे कि किस तरह यह श्रद्धा कमज़ोर पड़ गई और संशय पैदा

लेकिन अभी तो जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उस समय ज़ोर था और रोमन-ईसाई-संघ 'ईमानवालों' का सरदार बनकर उनसे उठाता था। न जाने कितने-कितने हज़ार 'ईमानवाले' फ़िलस्तीन में के लिए भेजे गए, जो फिर लौटकर नहीं आये। पोप ने यूरोप के उन या समुदायों के ख़िलाफ़ भी धर्मयुद्ध के ऐलान शुरू कर दिये, जो उसका हुक्म मानने को तैयार नहीं थे। पोप और ईसाई-संघ ने 'डिस 'इण्डलजेन्स' जारी करके और बेच करके भी इस श्रद्धा से बेजा फ़ायदा ईसाई-संघ के किसी क़ानून या परिपाटी को भंग करने की इजाज़त न्सेशन' कहते थे। इस तरह जिन क़ानूनों को ईसाई-संघ खुद बनाता को खास मौक़ों पर तोड़ने की इजाज़त भी वह दे देता था। ऐसे ज़्यादा दिनों तक लोगों के दिलों में इज़्ज़त बनी नहीं रह सकती थी। इससे भी ज़्यादा बुरी चीज़ थी। रोमन ईसाई-संघ मानता है कि आत्मा 'परगेटरी' (प्रायश्चित्त की जगह) नामक लोक में जाती है, नरक के बीच में कहीं पर है, और जहाँ उसे इस दुनिया में किये हुए यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। इसके बाद कहीं वह आत्मा स्वर्ग को

कर लोगों को यह प्रतिज्ञा-पत्र दे देता था कि वे 'परगेटरी' से बचकर पहुँच जायँगे। इस तरह ईसाई-संघ भोले-भाले लोगों की श्रद्धा से लूटता था और जिन अपराधों को वह पाप समझता था उनसे भी पैसा आ। 'इण्डलजेन्स' की बिक्री का यह रिवाज क्रूसेडों के कुछ दिन बाद शुरू इससे बड़ी बदनामी फैली। और बहुत से कारणों में एक कारण यह भी से लोग रोमन ईसाई-संघ के ख़िलाफ़ हो गये।

अजीब बात है कि भोले-भाले श्रद्धावान लोग कितनी ही बातें बिना किसी के मान लेते हैं। यही वजह है कि कई देशों में मज़हब सबसे बड़ा और सबसे फ़ायदे का रोज़गार बन गया है। मन्दिरों के पुजारियों को देखो कि वे किस चारे उपासकों को मूंड़ने की कोशिश करते हैं। गंगा के घाटों पर जाओ तो देखोगी कि पण्डे कुछ पूजा-पाठ करने से तबतक इन्कार करते हैं, जबतक देहाती इन्हें भेंट नहीं चढ़ाता। कुटुम्ब में कुछ भी हो—चाहे जन्म शी हो या ग़मी हो, पुरोहित आ धमकता है और उसे दक्षिणा देनी ही है।

यह बात हर मज़हब में है, चाहे वह हिन्दू धर्म हो, चाहे ईसाइयत हो, चाहे हो, चाहे ज़रथुस्ती। हर मज़हब का, श्रद्धालुओं की श्रद्धा से पैसा कमाने अलग तरीक़ा होता है। हिन्दू-धर्म के तरीक़े तो काफ़ी ज़ाहिर हैं। कहा कि इस्लाम में पुरोहित नहीं होते और पुराने ज़माने में उसके अनुयायियों की लूट-खसोट से बचाने में इस बात से थोड़ी-बहुत मदद भी मिली। बाद में कुछ व्यक्ति और वर्ग पैदा हो गये जो अपने को मज़हब के मामलों की पर जानकारी रखनेवाले कहने लगे, जैसे आलिम, मौलवी, मुल्ला, वग़ैरा। ने सीधे-सादे दीनदार मुसलमानों पर अपना रोब जमा लिया और उनको कर दिया। जहाँ लम्बी दाढ़ी, या चोटी, या तिलक, या फ़क़ीरी बाना, का गेरुआ या पीला कपड़ा पवित्रता की सनद समझा जाता हो, वहाँ धाक जमाना कोई मुश्किल काम नहीं है।

अगर तुम अमेरिका जाओ, जो आजकल सबसे आगे बढ़ा हुआ मुल्क है, भी देखोगी कि मज़हब एक बहुत बड़ा उद्योग बन गया है, जो जनता के जी रहा है।

मैं मध्य युगों और श्रद्धा के युग से बहुत दूर भटक गया हूँ। हमें उस तरफ़ चलना चाहिए। हम इस श्रद्धा को ठोस और रचनात्मक रूप लेता हैं। ग्यारहवीं-बारहवीं सदियों में इमारतों के निर्माण का एक बड़ा ज़माना और सारे पश्चिमी यूरोप में बड़े-बड़े गिरजाघर खड़े हो गये। एक नई पैदा हुई जैसी यूरोप में इसके पहले कभी नहीं दिखाई पड़ी थी। इसमें

हिकमत-भरी तरकीब से भारी-भारी छतों का बोझ और दबाव इमार
बने बड़े-बड़े पुश्तों पर डाल दिया गया है। भीतर नाज़ुक खम्भों को ज़ाहि
ऊपर के भारी बोझ को सम्भाले हुए देखकर ताज्जुब होता है। इनके नोक
अरबी वास्तु-कला की नक़ल हैं। सारी इमारत के ऊपर आसमान तक
मीनार होती है। वास्तु-कला की यह वह गोथिक शैली है, जो यूरोप में
विकसित हुई। इसमें अद्भुत सुन्दरता थी और यह उड़ान भरनेवाली
आकांक्षा का रूप दर्शानेवाली मालूम देती थी। सचमुच यह श्रद्धा के
का दर्शन कराती है। ऐसी इमारतें सिर्फ़ वे शिल्पकार और कारीग
सकते हैं, जिन्हें अपने काम की लगन हो और जो मिलकर किसी महा
को पूरा करने में जुट गये हों।

पश्चिमी यूरोप में इस गोथिक शैली का विकास एक अद्भुत
अशान्ति, अराजकता, अज्ञान और मज़हबी बैर के कीचड़ से यह सुन्दर
हुई—मानो स्वर्ग की ओर जानेवाली प्रार्थना हो। फ़्रान्स, उत्तरी इटली,
इंग्लैंड में गोथिक शैली के बड़े-बड़े गिरजे क़रीब-क़रीब एक ही साथ बने।
ठीक-ठीक नहीं जानता कि उनकी शुरुआत कैसे हुई, और न कोई उनके
के नाम ही जानता है। ये रचनाएँ सारी जनता की शामिल इच्छा और
दर्शाती हुई मालूम देती हैं, न कि किसी अकेले शिल्पकार की। इन गिरजों
नई चीज़ इनकी खिड़कियों के रंगीन काँच थे। इन खिड़कियों पर सुन्दर
बड़ी सुन्दर तसवीरें बनी होती थीं और उनमें से होकर आनेवाली
इमारतों के गम्भीर और रोब डालनेवाले प्रभाव को बढ़ाती थीं।

थोड़े दिन हुए मैंने अपने एक पत्र में यूरोप का एशिया से मुक़ाबला
हमने देखा था कि उस वक़्त एशिया संस्कृति और सभ्यता में यूरोप से
बढ़ा हुआ था। फिर भी भारत में नई रचना का काम बहुत ज़्यादा नहीं
था, और मैं कह चुका हूँ कि नई रचना करना ही ज़िन्दगी की निशानी है।
यूरोप में पैदा होनेवाली यह गोथिक वास्तुकला इस बात का सबूत है
काफ़ी ज़िन्दगी थी। अशान्ति और सभ्यता की पिछड़ी हुई हालत से पैदा
कठिनाइयों के होते हुए भी यह ज़िन्दगी फूट निकली और उसने अपने
करने के तरीक़े तलाश कर लिये। गोथिक इमारतें इसी प्रदर्शन का एक
आगे चलकर हम देखेंगे कि यही ज़िन्दगी चित्रकला, मूर्तिकला और
कामों से प्रेम के रूपों में प्रकट हुई।

तुमने कुछ बड़े गोथिक गिरजे देखे हैं। पता नहीं कि तुम्हें उनकी
या नहीं। तुमने जर्मनी में कोलोन का सुन्दर बड़ा-गिरजा देखा था। इटली
शहर में एक बहुत बढ़िया बड़ा गोथिक गिरजा है और इसी तरह

भी हैं। लेकिन मैं सबके नाम नहीं गिना सकता। ये गोथिक बड़े-गिरजे न्स, इंग्लैण्ड और उत्तरी इटली में फैले हुए हैं। ताज्जुब की बात है कि न में गोथिक शैली की कोई मार्के की इमारत नहीं है।

रहवीं और बारहवीं सदियों के इस महान् निर्माण-काल में ग़ैर-गोथिक रजे भी बनाये गए, जैसे पेरिस में नात्रदेम का और शायद वेनिस में । सेन्ट मार्क का गिरजा, जिसे तुमने देखा है, विज़ैन्तीन शैली का और इसमें पच्चीकारी का बहुत सुन्दर काम है।

जा का ज़माना ढल गया और इसके साथ गिरजों व बड़े-गिरजों का बनना हो गया। लोगों का ध्यान दूसरी तरफ़, यानी व्यापार व रोज़गार और री ज़िन्दगी की तरफ़ चला गया। गिरजाघरों के बजाय टाउन-हॉल । इस तरह हम पन्द्रहवीं सदी की शुरुआत से सुन्दर गोथिक टाउन-हॉल हॉल (पंचायती भवन) उत्तर और पश्चिम यूरोप-भर में फैले हुए । लन्दन में पार्लमेण्ट की इमारतें गोथिक शैली की हैं, लेकिन मैं यह नहीं कि वे कब बनीं। इतना मुझे ख़याल है कि मूल गोथिक इमारत जल गई उसके बाद गोथिक-शैली पर ही दूसरी इमारत बनाई गई।

रहवीं और बारहवीं सदियों में बनाये गए ये बड़े-बड़े गोथिक गिरजे र क़स्बों में ही थे। पुराने शहर जागने लगे थे और नये पैदा हो रहे थे। का नक़्शा बदल रहा था और सभी जगह शहरी ज़िन्दगी बढ़ोतरी रोमन साम्राज्य के पुराने ज़माने में भूमध्यसागर के किनारे चारों तरफ़ शहर ज़रूर थे, लेकिन जब रोम और यूनानी-रोमन साम्राज्य का पतन ये शहर भी उजड़ गये। क़ुस्तुन्तुनिया के सिवा यूरोप में किसी बड़े शहर नहीं था। हाँ, स्पेन की बात अलग थी, जहाँ अरबों की हुकूमत थी। भारत, चीन और अरबी दुनिया में इस समय बड़े-बड़े शहर मौजूद थे, रोप में यह बात नहीं थी। मालूम होता है, शहरों का सभ्यता और संस्कृति चोली-दामन का-सा रिश्ता है और यूरोप में रोमन व्यवस्था के पतन के बाद तक इनमें से कोई भी चीज़ नहीं थी।

न अब शहरी जीवन फिर से उठ रहा था। इटली में ख़ासतौर से नये हो रहे थे। ये शहर सम्राट् और पवित्र रोमन साम्राज्य की आँखों में क्योंकि ये इसके लिए तैयार नहीं थे कि उन्हें जो थोड़ी-सी स्वतन्त्रताएँ थीं, उन्हें छीन लिया जाय। इटली वग़ैरा में ये शहर व्यापारी वर्गों और रों की बढ़ती हुई ताक़त के सबूत थे।

वेनिस, जिसका सारे एड्रियाटिक सागर पर रौब था, आज़ाद गणराज्य था। इसकी घुमावदार गलियों की नहरों में समुद्र का पानी आता-जाता

है, जिससे आज यह बड़ा सुन्दर हो गया है; लेकिन कहते हैं कि शहर यहाँ दलदल थी। जब अतिला हूण आग लगाता और मारकाट करता में आया तो कुछ लोग बचकर वेनिस के दलदलों की तरफ़ भाग गये। ने अपने हाथों से वेनिस का शहर बनाया, और चूँकि यह पूर्वी रोमन पश्चिमी रोमन साम्राज्य के बीच में पड़ता था, इसलिए वे आज़ाद बने और पूर्व के दूसरे मुल्क़ों के साथ वेनिस का व्यापार क़ायम हुआ और साथ ही दौलत भी आई। वेनिस ने अपनी जल-सेना बना ली और शक्ति बन गया। यह धनवानों का गणराज्य था, जिसमें एक अध्यक्ष था, जो 'दोज' कहलाता था। जब नेपोलियन विजेता बनकर १७९७ ई० दाख़िल हुआ, तबतक यह गणराज्य क़ायम रहा। कहते हैं कि जो बहुत बुड्ढा आदमी था, यकायक मर गया। वह वेनिस का

इटली के दूसरी तरफ़ जिनेवा था। यह भी समुद्र-यात्री लोगों व्यापारिक शहर था और वेनिस से होड़ करता था। इन दोनों में विश्वविद्यालय का शहर बोलोना था, और पीसा, वेरोना और फ़्लोरेन्स में आगे चलकर बड़े-बड़े कलाकार पैदा होनेवाले थे और मेदिची घराने के शासन में तेज़ी से चमकनेवाला था। उत्तर इटली का शहर माल तैयार करनेवाला महत्वपूर्ण केन्द्र बन चुका था और नेपल्स भी बढ़ रहा था।

फ़्रांस में पेरिस, जिसे ह्यू कैपे ने अपनी राजधानी बनाया था, तरक़्क़ी के साथ तरक़्क़ी कर रहा था। पेरिस हमेशा से ही फ़्रान्स का और हृदय रहा है। दूसरे देशों की दूसरी राजधानियां रही हैं, लेकिन हज़ार वर्षों में फ़्रान्स पर पेरिस का जितना प्रभाव रहा है, उतना किसी का किसी देश पर नहीं रहा। फ़्रान्स में दूसरे शहर भी मशहूर हुए— मार्सेल्स (यह बहुत पुराना बन्दरगाह था), आर्लियन्स, बोर्दो, बोलोन,

इटली की तरह जर्मनी में भी आज़ाद शहरों की तरक़्क़ी, १३वीं और १४वीं सदियों में, बहुत मार्के की है। इन शहरों की थी और ज्यों-ज्यों उनकी ताक़त और दौलत बढ़ती गई, उनके गये और उन्होंने अमीर-सरदारों से लड़ना शुरू कर दिया। सम्राट् बढ़ावा देता था, क्योंकि वह अमीर-सरदारों को दबाये रखना शहरों ने अपनी हिफ़ाज़त के लिए बड़ी-बड़ी व्यापारी पंचायतें और बना लीं। कभी-कभी ये समितियाँ या संघ अमीर-सरदारों की के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ देते थे। इन बढ़ते हुए शहरों में से कुछ के हैम्बुर्ग, ब्रीमेन, कोलोन, फ़्रैंकफ़ुर्त, म्यूनिख़, डैनज़िग, न्यूरेम्बर्ग और

निदरलैंड्स में (जिसे आज हॉलैंड और बेलजियम कहते हैं) एण्टवर्प, और घेण्ट के शहर थे; ये व्यापारी शहर थे और इनका व्यापार बराबर था। इंगलैण्ड में भी लन्दन था, लेकिन वह विस्तार, दौलत या व्यापार के महत्वपूर्ण नगरों का मुक़ाबला नहीं कर सकता था। ऑक्सफ़ोर्ड ज के दो विश्वविद्यालय विद्या के केन्द्रों की हैसियत से महत्वपूर्ण बनते थे। यूरोप के पूर्व में वियेना शहर था, जो यूरोप के सबसे पुराने शहरों में है; रूस में मास्को, कीफ़ और नोवगोरोद थे।

ये नये शहर, या इनमें से ज़्यादातर, पुराने ढंग के शाही नगरों से बिलकुल ह के थे। यूरोप के इन बढ़नेवाले शहरों का महत्त्व किसी सम्राट् या की वजह से नहीं था, बल्कि उस व्यापार की वजह से था, जिसकी बाग-डोर थों में थी। इसलिए इनकी मज़बूती अमीर-सरदारों से नहीं थी, बल्कि वर्ग से थी। ये सौदागरों के शहर थे। इसलिए शहरों की तरक्क़ी का मतलब यानी मध्यमवर्ग की तरक्क़ी। इस मध्यमवर्ग की, जैसाकि हम आगे खेंगे, शक्ति बराबर बढ़ती रही। यहाँतक कि इसने बादशाहों और अमीर-को चुनौती दी और उनसे अधिकार छीन लिये। लेकिन यह बात तो उस बहुत दिनों बाद हुई है, जिसका ज़िक्र हम अभी कर रहे हैं।

ने अभी कहा है कि शहर और सभ्यता अक़्सर साथ-साथ चलते हैं। शहरों रों के साथ विद्या भी बढ़ती है और आज़ादी की भावना भी। देहात में लोग बहुत दूर-दूर बसे होते हैं और अक़्सर बहुत ज़्यादा अन्ध-विश्वासी ते हैं। वे तो मानो क़ुदरत की दया पर ही जीवित रहते हैं। उन्हें सख्त रनी पड़ती है और बहुत कम फ़ुरसत मिलती है। वे अपने मालिकों के खिलाफ़ जाने की हिम्मत नहीं कर सकते। शहरों में लोग बड़ी संख्या में रहते हैं। इन्हें ज़्यादा सभ्य ज़िन्दगी बिताने का, विद्या हासिल करने और आलोचना करने का, और विचार करने का मौक़ा मिलता है।

इस तरह राजनीतिक सत्ता, जिसके प्रतिनिधि सामन्ती अमीर-सरदार होते थे, त्मिक सत्ता जिसका प्रतिनिधि ईसाई-संघ था, दोनों के खिलाफ़ आज़ादी ना बढ़ने लगी। श्रद्धा का ज़माना ढलने लगा और संशय की शुरुआत हुई। ईसाई-संघ और पोप की सत्ता को आँखें मूंदकर मानने को तैयार नहीं ने देखा है कि सम्राट् फ़ेडरिक द्वितीय ने पोप के साथ कैसा सलूक किया था। देखेंगे कि चुनौती देने की यह भावना किस तरह बढ़ती गई।

रहवीं सदी के बाद विद्या की भी फिर से तरक़्क़ी होने लगी। यूरोप में नों की आम भाषा लातीनी थी और लोग ज्ञान की तलाश में एक विश्व-य से दूसरे को जाया करते थे। दान्ते अलीघेरी, जो इटली का महान् कवि

हुआ है, १२६५ ई० में पैदा हुआ था। पेत्रार्क, जो इटली का
कवि था, १३०४ ई० में पैदा हुआ था। थोड़े दिन बाद इंग्लैण्ड में
जो इस देश के शुरू के महान् कवियों में गिना जाता है।

लेकिन विद्या के दुबारा पनपने से भी ज़्यादा दिलचस्प
भावना की हलकी शुरुआत थी, जो बाद के वर्षों में यूरोप में बहुत
तुम्हें याद होगा, मैंने तुम्हें बताया था कि अरबों में यह भावना थी और
कुछ हद तक इसके मुताबिक़ काम भी किया था। मध्य-युगों के
दिमाग से जांच-पड़ताल करने की और प्रयोग करने की ऐसी भावना
मुश्किल था। ईसाई-संघ इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता था। लेकिन
के बावजूद भी यह भावना प्रकट होने लगी। इस ज़माने में यूरोप के
में वैज्ञानिक भावना थी, उनमें सबसे पहला रोजर बेकन नामक एक
वह ऑक्सफ़ोर्ड में तेरहवीं सदी में रहता था।

: ६५ :

अफ़ग़ानों का भारत पर हमला

२३

कल तुम्हारे पत्र में खलल पड़ गया। जब मैं लिखने बैठा तो
और यहाँ के अपने चौगिर्द को भूल गया और विचारों की तेज़ी के
युगों की दुनिया में पहुँच गया। लेकिन उससे भी ज़्यादा तेज़ी के साथ
वक़्त में खींच लाया गया और मुझे, किसी क़दर तकलीफ़ के साथ,
दिला दी गई कि मैं जेल में हूँ। मुझे यह बताया गया कि ऊपर से हुक्म
मम्मी, और दिद्दाजी[1] के साथ महीने भर तक मुलाक़ात न होने
ऐसा क्यों किया गया, इसकी वजह मुझे नहीं बताई गई। दस दिन से
में ठहरी हुई हैं और मुलाक़ात की अगली बारी का इन्तज़ार कर
अब उनका ठहरना बिलकुल बेकार हो गया और उन्हें वापस जाना
वह शराफ़त, जो हमारे साथ बरती जाती है। जो भी हो, हमें इसकी
करनी चाहिए। ये तो रोज़मर्रा की बातें हैं। हमें यह भूल न जाना
क़ैदखाना आखिर क़ैदखाना है।

यों बुरी तरह झकझोर दिये जाने के बाद मेरे लिए यह सम्भव
मैं वर्तमान को भूलकर बीते हुए ज़माने का खयाल करता। लेकिन
आराम के बाद मैं अब कुछ ठीक हूँ; इसलिए फिर से शुरू करता हूँ।

---

[1] इन्दिरा की दादी श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू।

अब हम भारत लौट आते हैं। बहुत दिनों तक हम इस देश से दूर रहे। ...ों के अंधेरे से बाहर निकलने के लिए जिस व त यूरोप कोशिशें कर रहा ...यूरोप के लोग सामन्त-प्रथा, और फैली हुई आम बद-इन्तज़ामी व बुरे ...के बोझ से पिसे जा रहे थे, जब पोप और सम्राट् एक-दूसरे से लड़ रहे थे ...के मुल्क शक़्ल पकड़ते जा रहे थे, जब क्रूसेडों के बीच इस्लाम और ...प्रभुता के लिए लड़ रहे थे, तब भारत में क्या हो रहा था ?

...-युगों की शुरुआत के भारत की एक झलक हम देख चुके हैं। हम यह ...चुके हैं कि सुलतान महमूद ने उत्तर-पश्चिम में ग़ज़नी से उत्तर-भारत के ...मैदानों पर झपट्टा मारा, लूटमार की और बरबादी की। महमूद के हमले, ...ये बड़े भयंकर थे, भारत में कोई बड़ा या टिकनेवाला परिवर्तन पैदा नहीं ...। इनसे देश को, खासकर इसके उत्तरी हिस्से को, बड़ा धक्का पहुँचा और ...ने बहुत-सी बढ़िया इमारतें और यादगारें नष्ट कर डालीं। लेकिन उसके ...)साम्राज्य में सिर्फ़ सिन्ध और पंजाब का कुछ हिस्सा ही रहा। उत्तर के ...हिस्से बहुत जल्द ही फिर से पनप गये; दक्षिण और बंगाल तो इन हमलों ...अछूते रहे। महमूद के बाद डेढ़ सौ से भी ज्यादा वर्षों तक न तो मुसलमानों ...जीत हासिल की और न इस्लाम ने ही ज्यादा तरक़्क़ी की।

...बारहवीं सदी के अन्त में, ११८६ ई० के क़रीब, उत्तर-पश्चिम से हमलों ...नई लहर आई। अफ़ग़ानिस्तान में एक नया सरदार पैदा हुआ, जिसने ...र क़ब्ज़ा कर लिया और ग़ज़नवी साम्राज्य को ख़त्म कर दिया। उसका ...बुद्दीन ग़ोरी (अफ़ग़ानिस्तान के ग़ोर नाम के एक छोटे-से क़स्बे का रहने-...था। शहाबुद्दीन लाहौर पर आ धमका और उस पर क़ब्ज़ा करके दिल्ली ...आया। पृथ्वीराज चौहान उस वक़्त दिल्ली का राजा था; उसके झण्डे के ...र भारत के बहुत-से सामन्त शहाबुद्दीन के ख़िलाफ़ लड़े और उसे बुरी ...दिया। लेकिन यह जीत थोड़े ही दिनों की थी। शहाबुद्दीन दूसरे साल ...फ़ौज लेकर वापस आया और इस बार उसने पृथ्वीराज को हरा दिया ...र डाला।

पृथ्वीराज आज भी एक लोकप्रिय वीर नायक माना जाता है और उसके ...-सी पुरानी गाथाएँ और गीत हैं। इनमें से सबसे मशहूर कथा कन्नौज के ...चन्द की लड़की को उड़ा ले जाने की है। लेकिन इसकी उसे बड़ी भारी ...चुकानी पड़ी। इस झगड़े में उसके सबसे ज्यादा बहादुर योद्धाओं की जानें ...एक शक्तिशाली राजा की दुश्मनी गले पड़ी। इसने आपसी फूट और लड़ाई ...बो दिये, जिससे हमला करनेवाले की जीत का रास्ता आसान हो गया। इस तरह ११९२ ई० में शहाबुद्दीन ने पहली बार बड़ी भारी विजय हासिल

की, जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत में मुसलमानों की हुकूमत
धीरे-धीरे ये हमलावर पूर्व और दक्षिण की तरफ़ फैलने लगे। आगे
वर्षों के अन्दर, यानी १३४० ई० तक, मुसलमानों की हुकूमत दक्षिण
बड़े भाग पर फैल चुकी थी। इसके बाद दक्षिण में यह सिकुड़ने लगी।
राज्य पैदा हुए—कुछ मुसलमान और कुछ हिन्दू। इनमें विजयनगर
साम्राज्य ज़िक्र करने लायक़ है। दो सौ वर्षों तक इस्लाम ने किसी हद
गँवाया ही। फिर जब सोलहवीं सदी के बीच में अकबर महान् पैदा
कहीं यह क़रीब-क़रीब सारे भारत में फिर फैल गया।

मुसलमान हमलावरों के भारत में आने के बहुत-से नतीजे हुए। याद
ये हमला करनेवाले अफ़ग़ान थे; अरबी या ईरानी, या पश्चिमी एशिया के
और ऊँचे दर्जे के सभ्य मुसलमान न थे। सभ्यता के लिहाज़ से अफ़ग़ान
के मुक़ाबले में पिछड़े हुए थे, लेकिन इनमें शक्ति भरी थी और वे उस
भारतवासियों की अपेक्षा बहुत ज़्यादा जीवटवाले थे। भारत तो बिलकुल
का फ़क़ीर बना हुआ था। वह परिवर्तन और प्रगति की तरफ़ नहीं जा
वह पुराने ढँगों से चिपका हुआ था और उनमें सुधार करने की कोशि
करता था। युद्ध के तौर-तरीक़ों में भी भारत पिछड़ा हुआ था और
उससे कहीं ज़्यादा संगठित थे। इसलिए साहस और त्याग के होते हुए भी
भारत मुसलमान हमलावरों से हार गया।

शुरू में ये मुसलमान बड़े ख़ूँख़ार और ज़ालिम थे। ये एक रूखे-सूखे
आये थे, जहां 'नज़ाक़त' की ज़्यादा क़द्र नहीं थी। इसके अलावा दूसरी बात
कि वे एक नये जीते हुए मुल्क में थे, और चारों तरफ़ दुश्मनों से घिरे हुए
किसी भी वक़्त विद्रोह कर सकते थे। इन लोगों को बलवे का डर
रहता होगा और डर से आदमी अक्सर ज़ालिम और भयभीत हो जाता है।
जनता को दबाने के लिए हत्याकाण्ड होते थे। यह किसी मुसलमान का
को उसके धर्म की वजह से क़त्ल करने का सवाल नहीं था; बल्कि एक
विजेता का हराये हुओं की कमर तोड़ने की कोशिश का सवाल था।
कार्रवाइयों का सबब बताने में मज़हब को क़रीब-क़रीब हमेशा ला घसीटा
लेकिन यह सही नहीं है। कभी-कभी मज़हब का बहाना ज़रूर किया
लेकिन असली कारण राजनीतिक और समाजी थे। मध्य एशिया के लोग,
भारत पर हमला किया, ख़ुद अपने वतनों में भी ख़ूँख़ार और बेरहम
इस्लाम क़बूल करने के बहुत पहले उनकी यही हालत थी। नया मुल्क
बाद उसको क़ब्ज़े में रखने का सिर्फ़ एक ही तरीक़ा उन्हें मालूम था, और
आतंक का तरीक़ा।

खते हैं कि धीरे-धीरे भारत ने इन ख़ूँख़ार लड़ाकुओं को नर्म बना दिया भ्यता सिखा दी। वे महसूस करने लगे कि वे विदेशी हमलावर नहीं हैं। उन्होंने इस देश की स्त्रियों के साथ शादियाँ करनी शुरू कर ला करनेवालों व हमला भुगतनेवालों के बीच का भेद धीरे-धीरे कम ।

ह जानकर दिलचस्पी होगी कि महमूद ग़ज़नवी, जिसने उत्तर भारत बरबादी मचाई और जो 'बुतपरस्तों' के ख़िलाफ़ मुसलमानों का जाता था, हिन्दू फ़ौज की एक टुकड़ी रखता था, जिसका सेनापति हिन्दू था। वह तिलक और उसकी फ़ौज को ग़ज़नी ले गया और मुसलमानों को दबाने में उसका उपयोग किया। इस तरह तुम मुल्कों को फ़तह करना ही महमूद का उद्देश्य था। जैसे भारत में मान सिपाहियों की मदद से 'बुतपरस्तों' को क़त्ल करने के लिए वैसे ही मध्य एशिया में वह हिन्दू सिपाहियों की मदद से मुसलमानों ने के लिए तैयार रहता था।

ने भारत को हिला डाला। इसने ऐसे समाज में, जो पूरी तरह नेवाला बनता जा रहा था, जीवन-शक्ति और प्रगति की लहर भर त की हिन्दू-कला में, जिसमें गिरावट और गन्दगी आ चुकी थी और और बारीकियों से बोझिल हो चुकी थी, परिवर्तन शुरू हो गया। का विकास हुआ, जिसे भारतीय-इस्लामी कला कह सकते हैं और और चेतना थी। पुराने भारतीय मिस्त्रियों को मुसलमानों के लाये से प्रेरणा मिली। इस्लामी विश्वास और जीवन के नज़रिये की माने की वास्तुकला पर असर डाला, और उसमें फिर से सादी की बनावट ला दी।

नों के हमलों का पहला असर यह हुआ कि बहुत-से लोग दक्षिण ये। महमूद के हमलों और हत्याकाण्डों के बाद उत्तर भारत के लोग हमी और सत्यानाश को इस्लाम के साथ जोड़ने लगे। इसलिए हुआ और रोका नहीं जा सका तो कुशल दस्तकारों और विद्वानों दक्षिण भारत में जा बसे। इससे दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति ा बड़ा ज़ोर मिला।

भारत का कुछ हाल मैं पहले तुम्हें बता चुका हूँ। मैंने तुम्हें बताया सदी के बीच से लेकर दो सौ वर्षों तक पश्चिम और मध्य भारत) में चालुक्यों का बोलबाला था। ह्यू एनत्सांङ उस समय के राजा से मिला था। बाद में राष्ट्रकूट आये, जिन्होंने चालुक्यों को हरा

दिया और आठवीं सदी से दसवीं सदी के अन्त तक, यानी २०० वर्षों में धाक जमाये रक्खी। सिन्ध के अरबी शासकों के साथ राष्ट्रकूटों के सम्बन्ध थे और उनके यहाँ बहुत अरबी व्यापारी और यात्री आते थे। यात्री ने अपनी यात्रा का कुछ हाल लिखा है। उसने लिखा है कि उस समय (नवीं सदी) का राजा संसार के चार सबसे बड़े बादशा जाता था। उसकी राय में बग़दाद के ख़लीफ़ा और चीन और रूम के सम्राट् दुनिया के बाकी तीन बड़े सम्राट् थे। यह बयान दिलचस्प है, हमको उस समय एशिया में फैली हुई राय का पता चलता है। किसी का राष्ट्रकूटों के राज्य का ख़लीफ़ा के साम्राज्य से मुक़ाबला करना, जब अपनी शान और शक्ति की चोटी पर था, इस बात का सबूत है कि यह राज्य बहुत बलवान और शक्तिशाली रहा होगा।

दसवीं सदी, यानी ९७३ ई०, में राष्ट्रकूटों की जगह फिर चालुक्य और ये २०० से भी ज़्यादा वर्षों तक, यानी ११९० ई० तक फिर राज एक चालुक्य राजा के बारे में एक लम्बी कविता मिलती है, जिसमें कि उसकी स्त्री ने उसे स्वयंवर में चुना था। आर्यों की इस पुरानी रस्म दिनों तक बना रहना एक दिलचस्प बात है।

भारत में सुदूर दक्षिण और पूर्व की तरफ़ तमिल देश था। यहाँ से नवीं सदी तक, यानी क़रीब ६०० वर्षों तक, पल्लवों का राज रहा सदी के मध्य से लेकर २०० वर्षों तक ये दक्षिण पर हावी रहे। तुम्हें याद इन्हीं पल्लवों ने मलेशिया और पूर्वी द्वीपों में उपनिवेश बसाने के लिए पल्लव राज्य की राजधानी कांची या कांजीवरम थी। यह उस समय शहर था और बुद्धिमानी से बनाई गई इसकी नगर-योजना आज चीज़ है।

पल्लवों की जगह दसवीं सदी के शुरू में लड़ाकू चोल आ गये। राजराजा और राजेन्द्र के चोल-साम्राज्य के बारे में कुछ बता चुका हूँ बड़े-बड़े जहाज़ी बेड़े बनवाये थे और लंका, बरमा और बंगाल को जीत निकले थे। उस समय की उनकी चुनी हुई ग्राम-पंचायतों की प्रथा के जानकारी मिलती है वह और भी ज़्यादा दिलचस्प है। इस प्रथा की शुरू होती थी। गाँवों की पंचायतें जुदे-जुदे कामों की देख-रेख के लि समितियाँ चुनती थीं और ज़िला पंचायतें भी चुनती थीं। कई ज़िलों प्रान्त बनता था। मैंने अक्सर इन पत्रों में इस ग्राम-पंचायत प्रणाली पर है, क्योंकि पुरानी आर्य शासन-व्यवस्था इसीके सहारे खड़ी हुई थी।

जिस समय उत्तर भारत पर अफ़ग़ानों के हमले हो रहे थे,

का बोलबाला था। कुछ दिनों के बाद ये कमज़ोर पड़ने लगे और एक रियासत, जो पहले इनके अधीन थी, स्वाधीन हो गई और उसकी शक्ति। यह पांडय राज्य था, जिसकी राजधानी मदुरा थी और बन्दरगाह। वेनिस का मशहूर यात्री मार्को पोलो, जिसके बारे में मैं आगे फिर, दो बार कायल गया था—एक बार १२८८ ई० में, और दूसरी बार ई० में। इसने लिखा है कि यह 'बहुत बड़ा और भव्य शहर' है, अरब और आनेवाले जहाज़ों से और व्यापार की हलचलों से भरा रहता है। मार्को जहाज़ पर आया था।

र्को ने यह भी लिखा है कि भारत के पूर्वी समुद्र तट पर महीन-से-महीन बनती थीं, जो 'मकड़ी के जाले की तरह मालूम होती थीं'। मार्को यह भी ता है कि मद्रास के उत्तर में पूर्वी किनारे के तेलुगु देश की रानी रुद्रमणि- एक महिला थी। इसने ४० वर्ष राज किया। मार्को ने इसकी बड़ी की है।

र्को ने एक दूसरी दिलचस्प बात हमें यह बताई है कि अरब और ईरान के रास्ते दक्षिण भारत में घोड़े खूब आया करते थे। दक्षिण की आबहवा नस्ल के लिए अच्छी नहीं थी। कहते हैं, भारत पर हमला करनेवाले इसी कारण बेहतर लड़ाकू होते थे कि उनके पास ज्यादा अच्छे घोड़े हुआ। एशिया के सबसे बढ़िया घोड़े पैदा करनेवाले इलाक़े मुसलमानों के ही थे।

इस तरह तेरहवीं सदी में, जब चोलों का पतन हुआ, तब पाण्ड्य राज्य मिल शक्ति था। चौदहवीं सदी के शुरू में, यानी १३१० ई० में, मुसलमानों की नोक दक्षिण तक पहुँच गई। यह नोक पाण्ड्य राज्य में घुस गई तेज़ी के साथ ढह गया।

इस पत्र में दक्षिण भारत के इतिहास पर एक सरसरी नज़र डाली है, जो कुछ पहले कह चुका हूँ, उसे दुहरा दिया है। लेकिन यह विषय नेवाला है और लोग-बाग पल्लव, चालुक्य, चोल, वग़ैरा नामों की मूल- फंस जाते हैं। लेकिन अगर तुम सब पर एक साथ नजर डालोगी तो यह मोटा ढांचा तुम्हारे दिमाग में ठीक बैठ जायगा। तुम्हें याद होगा के छोटे-से सिरे को छोड़कर अशोक सारे भारत पर, अफ़ग़ानिस्तान पर एशिया के एक हिस्से पर राज करता था। उसके बाद दक्षिण में आन्ध्रों बढ़ी, जो ठेठ दक्षिण तक फैल गये और करीब ४०० वर्षों तक बने रहे। वक़्त कुषाणों का सरहदी साम्राज्य उत्तर में फैला हुआ था। जब तैलंगी का पतन हुआ तब पूर्वी समुद्र तट पर और दक्षिण में तमिल पल्लवों का ज़ोर

हुआ और इन्होंने बहुत दिनों तक राज किया और मलेशिया में बसाये; ६०० वर्षों के बाद चोलों के हाथ में हुकूमत आई और इन्हों देश जीते और अपनी जल-सेनाओं से समुद्र खूंद डाला। तीन सौ वर्ष बिदा हुए और पाण्ड्य राज्य आगे बढ़ा। इसकी राजधानी मदुरा केन्द्र बन गई और कायल एक बड़ा बन्दरगाह बन गया, जिसका देशों से रहता था।

इतनी बात तो दक्षिण और पूर्व के बारे में हुई। पश्चिम में चालुक्य, उनके बाद राष्ट्रकूट और राष्ट्रकूटों के बाद दुबारा फिर

लेकिन ये तो सिर्फ़ नाम हैं। विचार करने की बात तो यह है कितने लम्बे-लम्बे कालों तक क़ायम रहे और सभ्यता के कितने ऊंचे गये। इन राज्यों में कोई अन्दरूनी बल था, जिसने, मालूम होता है के मुक़ाबले इन्हें ज्यादा मज़बूती और शान्ति दी। लेकिन उनका अपनी उम्र पूरी कर चुका था और उसकी मज़बूती ख़त्म हो चुकी थी। जल्दी, चौदहवीं सदी की शुरुआत में जब मुसलमानी सेनाएं दक्षिण की लड़खड़ाकर गिर जानेवाला था।

: ६६ :

दिल्ली के ग़ुलाम-वंशी बादशाह

२४ जून

मैंने सुलतान महमूद ग़ज़नवी के बारे में तुम्हें बताया है और दौसी के बारे में भी कुछ कहा है, जिसने महमूद के कहने पर फ़ारसी में लिखा था। लेकिन मैंने तुमसे अभी तक महमूद के ज़माने के एक आदमी के बारे में कुछ नहीं कहा, जो महमूद के साथ पंजाब आया था। बेरूनी नामक विद्वान् और विद्याव्यसनी व्यक्ति था, जो उस ज़माने और कट्टर योद्धाओं की तरह बिलकुल नहीं था। इसने सारे भारत और इस नये देश और यहाँ के निवासियों को समझने की कोशिश भारतीय नज़रिये की खूबियों को समझने की इतनी लगन थी कि सीखी और हिन्दुओं की मुख्य पुस्तकें ख़ुद पढ़ीं। इसने भारतीय दर्शनशा यहाँ पढ़ाये जानेवाले विज्ञान और कला का अध्ययन किया। भगवद् बहुत पसन्द आई। यह दक्षिण के चोल-राज्य में गया था और वहाँ सिंचा का इतना बड़ा इन्तज़ाम देखकर अचम्भे में रह गया था। भारत में इस का लेखा पुराने ज़माने के उन महान् यात्रा-ग्रन्थों में गिना जाता है, जो मिलते हैं। विनाश, मारकाट और मज़हबी वैर की दलदल के बीच

विद्याव्यसनी निरीक्षण करता हुआ, सीखता हुआ और यह जानने की करता हुआ कि सत्य कहाँ रहता है, अलग खड़ा नज़र आता है।

अफ़ग़ान शहाबुद्दीन के बाद, जिसने पृथ्वीराज को हराया था, दिल्ली में वंशी बादशाह कहलानेवाले सुल्तानों का सिलसिला शुरू हुआ। उनमें सबसे कुतुबुद्दीन था। यह शहाबुद्दीन का गुलाम था। लेकिन गुलाम भी ऊँचे पदों सकते हैं, और वह अपनी कोशिशों से दिल्ली का पहला सुल्तान बन गया। बाद होनेवाले कुछ सुल्तान भी शुरू में गुलाम थे; इसीलिए यह गुलाम-कहलाता है। ये सब-के-सब बड़े ख़ूँख़ार थे। और इमारतों व पुस्तकालयों और आतंक इनकी जीतों के साथ-साथ चलते थे। इन्हें इमारतें बनाने शौक़ था और इनका झुकाव बड़ी-बड़ी इमारतें बनाने की तरफ़ था। ने कुतुब-मीनार बनवानी शुरू की। यह वही बड़ी मीनार है, जो दिल्ली है और जिसे तुम अच्छी तरह जानती हो। उसके उत्तराधिकारी इल्तुतमश मीनार को पूरा किया और उसीके पास ही कुछ सुन्दर मेहराब भी बनाये, भी तक मौजूद हैं। इन इमारतों का क़रीब-क़रीब सारा मसाला पुरानी इमारतों, खासकर मन्दिरों, से लिया गया था। मिस्त्री तो सारे भारत थे लेकिन, जैसा मैंने तुमसे कहा है, मुसलमानों के साथ आये हुए नये विचारों पर बहुत असर पड़ा था।

महमूद ग़ज़नवी से लगाकर आगे भारत पर हमला करनेवालों में हरेक साथ ढेर-के-ढेर भारतीय कारीगरों और मिस्त्रियों को ले गया। इस तरह दुनिया में भारतीय वास्तुकला का असर फैल गया।

बिहार और बंगाल को अफ़ग़ानों ने बड़ी आसानी से जीत लिया। वे बड़े थे और उन्होंने अचानक हमला करके बचाव करनेवालों को सम्भलने का मौक़ा नहीं दिया। दिलेरी अक्सर कामयाब हो जाती है। बंगाल की यह हमारे लिए उतने ही अचम्भे की बात है, जितनी अमेरिका में कोर्तीज़ और की जीतें।

इल्तुतमश के ज़माने में ही, यानी १२११ और १२३६ ई० के बीच में, भारत सरहद पर एक बड़ा भयंकर बादल उठा। यह मंगोलों का दल था, जिसका नेता खां था। चंगेज़खां अपने एक दुश्मन का पीछा करता हुआ, ठेठ सिन्ध नदी तक लेकिन यहीं रुक गया। भारत इससे बच गया। इसके क़रीब २०० वर्ष बाद वंश का एक दूसरा आदमी—तैमूर भारत में मारकाट और बरबादी लेकर । हालांकि चंगेज़ यहाँ नहीं आया, लेकिन बहुत-से मंगोलों ने भारत पर छापा और ठेठ लाहौर तक भी आ धमकने की आदत-सी डाल ली। कभी-कभी

ये आतंक फैलाते थे और सुल्तानों तक को भी इतना डरा देते थे कि वे
उनसे अपना पिंड छुड़ाते थे। इनमें से हज़ारों मंगोल पंजाब में ही

सुल्तानों में रज़िया नाम की एक औरत भी हुई है। यह इल्तुतम
थी। मालूम होता है कि यह बड़ी बहादुर और क़ाबिल औरत थी;
ख़ूंख़ार अफ़ग़ान अमीर-सरदारों से, और पंजाब पर हमला करनेवाले
ज्यादा ख़ूंख़ार मंगोलों से, बहुत परेशान रहती थी।

गुलाम बादशाहों का सिलसिला १२९० ई० में ख़तम हो गया।
अलाउद्दीन खिलजी आया, जिसने राजगद्दी पर क़ब्ज़ा करने का यह
अपनाया कि अपने चचा को, जो उसका ससुर भी था, मौत के घाट
और फिर उन सब मुसलमान अमीर-सरदारों को भी मरवा डाला,
दारी में उसे शक था। मंगोलों की साज़िश से डरकर उसने यह हुक्म
उसके राज्य में जितने भी मंगोल हों, सब क़त्ल कर दिये जायें ताकि
का एक भी आदमी दुनिया के पर्दे पर ज़िन्दा न बचे।" इस तरह बीस-
मंगोल, जिनमें ज्यादातर तो बिलकुल बेगुनाह ही थे, क़त्ल कर डाले

बार-बार इस तरह के हत्याकाण्डों का ज़िक्र करना मुझे अच्छा
और इतिहास की ऊँची नज़र में इनका कोई ज्यादा महत्व भी नहीं है।
इनसे यह समझने में मदद मिलती है कि उस वक़्त उत्तर भारत की
निरापद थी और न सभ्य। कुछ हद तक बर्बरता की तरफ़ वापसी थी।
तो इस्लाम भारत में कुछ प्रगतिशील तत्व लेकर आया, लेकिन
मुस्लिम अफ़ग़ान बर्बरता का बीज लेकर आये। बहुत-से लोग इन दोनों
मिला देते हैं, लेकिन तुम्हें इन दोनों का फ़र्क़ ध्यान में रखना चाहिए।

अलाउद्दीन दूसरों की तरह तास्सुबी था, लेकिन मालूम होता है
के इन मध्य-एशियाई शासकों का नज़रिया अब बदल रहा था। वे अब
अपना वतन समझने लग गये थे। अब वे यहाँ अजनबी नहीं रहे थे।
ने एक हिन्दू महिला से शादी की और उसके पुत्र ने भी ऐसा ही किया
होता है अलाउद्दीन के राज में थोड़ी-बहुत कुशल शासन-व्यवस्था क़ायम
कोशिश की गई। फ़ौजों के आने-जाने के लिए सड़कें ख़ास तौर से
जाती थीं और अलाउद्दीन अपनी फ़ौजों पर ख़ास ध्यान देता था।
फ़ौज को बहुत ताक़तवर बना लिया और उसकी मदद से गुजरात
के बहुत बड़े हिस्से को जीत लिया। उसका सेनापति दक्षिण से
अपने साथ लेकर लौटा। कहते हैं, वह ५०,००० मन सोना, ढेरों
जवाहरात, २०,००० घोड़े और ३१२ हाथी लेकर आया था।

वीर-गाथाओं व वीर-धर्म की भूमि चित्तौड़ में अब भी पहले

लेकिन उसका ढँग वही पुराना था और वह युद्ध करने के उन्हीं तरीकों से हुआ था, जो बेकार हो चुके थे, इसलिए अलाउद्दीन की कुशल सेना ने उसे या। १३०३ ई० में चित्तौड़ लूट लिया गया। लेकिन ऐसा होने से पहले के पुरुषों और स्त्रियों ने पुराने रिवाज का पालन करके भयंकर जौहर-डाला। इसके अनुसार जब हार सामने हो और दूसरा कोई चारा न रहा हो, री उपाय यही समझा जाता था कि पुरुषों को मैदान में जाकर लड़ते हुए ना और स्त्रियों को चिता में भस्म हो जाना बेहतर है। यह चीज़ बड़ी थी, ख़ासकर स्त्रियों के लिए। अच्छा तो यह था कि स्त्रियाँ भी तलवार लेकर निकल पड़तीं और रणक्षेत्र में काम आतीं। लेकिन किसी भी सूरत मी और ज़िल्लत से मौत बेहतर थी, क्योंकि उस ज़माने में हार का मतलब ता था।

इस बीच भारत के रहनेवाले, यानी हिन्दू धीरे-धीरे मुसलमान बनते जा पर तेज़ी से नहीं। कुछ लोगों ने अपना मज़हब इसलिए बदल डाला कि उन्हें अच्छा लगा; कुछ लोगों ने डर के मारे ऐसा किया, और कुछ ने कि जीतनेवाले पक्ष की तरफ़ रहने की इच्छा मनुष्य का स्वभाव है। लेकिन परिवर्तन का सबसे बड़ा कारण आर्थिक था। ग़ैर-मुस्लिमों को एक खास पड़ता था, जो हर आदमी पर लगता था और जज़िया कहलाता था। के ऊपर यह भारी बोझ था। बहुत-से तो सिर्फ़ इससे बचने के लिए अपना बदलने को राज़ी हो जाते थे। ऊँचे वर्ग के लोगों में दरबारी कृपा और ऊँचे हासिल करने की लालसा मुसलमान बनने के लिए ज़बरदस्त प्रेरणा थी। का महान् सेनापति मलिक काफ़ूर, जिसने दक्षिण को जीता था, हिन्दू मान हुआ था।

मैं तुम्हें दिल्ली के एक दूसरे सुल्तान का हाल बताना चाहता हूँ। यह बड़ा व्यक्ति था। इसका नाम मुहम्मद-बिन-तुग़लक़ था। यह फ़ारसी और का बहुत बड़ा आलिम और कामिल था। इसने फ़लसफ़ा (दर्शनशास्त्र) (तर्कशास्त्र) का अध्ययन किया था और यूनानी दर्शन का भी। , विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र का भी कुछ ज्ञान था। यह बहादुर था और अपने ज़माने के लिहाज़ से इल्मियत का अनोखा नमूना और एक ही था। लेकिन आख़िर फिर भी यह नमूना बेरहमी का दानव था और होता है कि बिलकुल पागल था! वह अपने ही पिता की हत्या करके तख़्त था। ईरान और चीन जीतने के बारे में उसके विचार बड़े ही अजीब थे। का नाकामयाब होना क़ुदरती बात थी। लेकिन उसका सबसे मशहूर यह था कि उसने अपनी ही राजधानी दिल्ली को इसलिए उजाड़ डालने

का फ़ैसला किया कि शहर के कुछ लोगों ने गुमनाम पर्चों में उसकी चना करने की गुस्ताखी की थी। उसने हुक्म दिया कि राजधानी कर दक्षिण के देवगिरि ले जाई जाय। इस जगह का नाम उसने रक्खा। मकान-मालिकों को कुछ हरजाना दिया गया, और इसके बाद को, बिना किसी लिहाज़ के, यह हुक्म दिया गया कि तीन दिन के छोड़ दे।

बहुत से लोग शहर छोड़कर चल दिये। कुछ छिप भी गये। चला तो इन्हें बेरहमी के साथ सज़ा दी गई, हालाँकि इनमें से एक दूसरा लकवे का मारा था। दिल्ली से दौलताबाद का रास्ता चालीस इस कूच में लोगों की क्या भयंकर हालत हुई होगी और इनमें से कितने खत्म हो गये होंगे, इसका ख़याल तो करो!

और दिल्ली शहर का क्या हुआ? दो वर्ष बाद मुहम्मद-बिन इस शहर को फिर बसाना चाहा, लेकिन कामयाब न हो सका। एक वाले के शब्दों में उसने इसे 'बिलकुल वीराना' बना दिया था। किसी दम बयाबान किया जा सकता है, लेकिन बयाबान को फिर बाग़ नहीं होता। अफ़्रीका का मूर यात्री इब्न बतूता, जो सुलतान के साथ वापस आया और उसने लिखा है कि "यह शहर दुनिया के सबसे बड़े एक है। जब हम इस शहर में दाखिल हुए, हमने इसे उस हालत में बयान किया गया है। यह बिलकुल खाली और उजड़ा हुआ था और कम थी।" दूसरे आदमी ने इस शहर के बारे में लिखा है कि यह आठ में फैला हुआ था, लेकिन "सब कुछ नष्ट हो गया था। इसकी बरबादी थी कि शहर की इमारतों, महलों और गलियों में कोई बिल्ली या कुत्ता नहीं रहा था।"

यह दीवाना पच्चीस वर्ष तक, यानी १३५१ ई० तक सुल्तान मत करता रहा। यह देखकर हैरत होती है कि जनता अपने शासकों बदमाशी, ज़ुल्म और अयोग्यता को बर्दाश्त कर सकती है! लेकिन दारी के बावजूद मुहम्मद-बिन-तुग़लक अपने साम्राज्य को तहस-नहस में सफल रहा। उसकी पागलपन की योजनाओं ने और भारी टैक्सों बर्बाद कर दिया। अकाल पड़े और अन्त में बलवे होने लगे। उसके ही, १३४० ई० के बाद, साम्राज्य के बड़े-बड़े हिस्से आज़ाद हो गये। हो गया। दक्षिण में भी कई राज्य पैदा हो गये। इनमें विजयनगर का मुख्य था, जो १३३६ ई० में क़ायम हुआ और दस वर्ष के अन्दर ही बड़ी शक्ति बन गया।

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

दिल्ली के पास अब भी तुम तुग़लक़ाबाद के खण्डहर देख सकती हो। इसे मुहम्मद के पिता ने बसाया था।

: ६७ :

चंगेज़खां एशिया और यूरोप को हिला डालता है

२५ जून, १९३२

हाल के अपने कई पत्रों में मैंने मंगोलों का ज़िक्र किया है और यह बताया उन्होंने कितना आतंक फैलाया और कितनी बर्बादी मचाई। चीन में हमने के आने के बाद ही सुंङ् राजवंश का क़िस्सा बन्द कर दिया था। पश्चिम में भी हमारा उनका मुक़ाबला होता है और पुरानी व्यवस्था वहीं ख़त्म है। भारत में गुलाम बादशाह मंगोलों से बच गये, लेकिन फिर भी इन्होंने हलचल पैदा कर दी थी। मंगोलिया के इन घुमक्कड़ों ने मानो सारे एशिया कर डाला था। सिर्फ़ एशिया को ही नहीं बल्कि आधे यूरोप को भी। लोग कौन थे, जो एकदम फट पड़े और जिन्होंने दुनिया को हैरत में डाल ! शक, हूण, तुर्क और तातार, सभी मध्य एशिया के थे और इतिहास में कर चुके थे। इनमें कुछ क़ौमें उस वक़्त भी मशहूर थीं, जैसे पश्चिमी एशिया जूक तुर्क, उत्तरी चीन वग़ैरा में तातारी। लेकिन मंगोलों ने अभी तक कुछ नहीं किया था। पश्चिमी एशिया में शायद इनके बारे में कोई ज़्यादा भी नहीं था। इनमें मंगोलिया के कई अनजान क़बीलों के लोग थे और 'किन' ों के अधीन थे, जिन्होंने उत्तरी चीन जीता था।

लूम होता था कि इनमें एकदम ही कहीं से शक्ति आ गई। इनके बिखरे ले आपस में मिल गये और उन्होंने अपना एक नेता—ख़ान महान्— र उसकी वफ़ादारी और हुक्मबरदारी की क़सम खाई। उसके नेतृत्व में पीकिंग पर धावा मारा और 'किन' साम्राज्य को ख़त्म कर दिया। ये लोग की ओर भी बढ़े और रास्ते में जितने बड़े-बड़े राज्य मिले, सभी का सफ़ाया । ये रूस पहुँचे और उसे परास्त कर दिया। बाद में इन लोगों ने बग़दाद के साम्राज्य का भी नामोनिशान मिटा दिया और ठेठ पोलैण्ड और मध्य- तक जा पहुँचे। इनको रोकनेवाला कोई नहीं था। भारत इनसे बच गया संयोग की बात थी। ज्वालामुखी-जैसे इस विस्फोट पर यूरोप-एशिया ों को जो हैरत हुई होगी, उसकी कल्पना हम अच्छी तरह कर सकते हैं। पता था कि यह भूकम्प की तरह की कोई महान् क़ुदरती आफ़त थी, जिसके मनुष्य कुछ नहीं कर सकता था।

चंगेज़ खाँ—'ख़ुदा का क़हर'

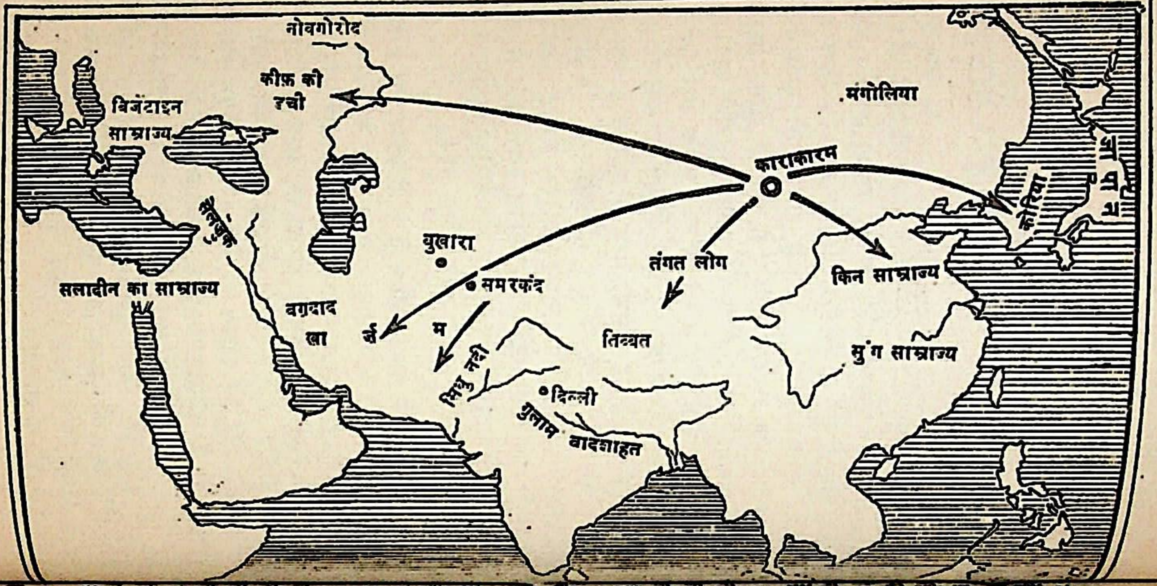
नोवगोरोद
कीफ़ की रूची
बिजंटाइन साम्राज्य
सेलजुक
सलादीन का साम्राज्य
बग़दाद
ख्वा
र्ज़
म
बुखारा
समरकंद
सिंधु नदी
दिल्ली
गुलाम बादशाहत
तिब्बत
तंगत लोग
काराकारम
मंगोलिया
किन साम्राज्य
सुंग साम्राज्य
कोरिया
जापान

गोलिया के ये घुमक्कड़ मर्द और औरतें बड़े मज़बूत थे। तकलीफ़ें झेलने आदत थी और ये लोग उत्तर एशिया के लम्बे-चौड़े मैदानों में तम्बुओं में । लेकिन इनकी मज़बूती और कठोर साधना इनके ज़्यादा काम नहीं आती होंने एक सरदार न पैदा किया होता, जो बड़ा ही अनोखा व्यक्ति था। व्यक्ति है, जो चंगेज़खां के नाम से मशहूर है। यह ११५५ ई० में पैदा और इसका असली नाम चिङ-हिर-हान था। इसका पिता येसूगेइ-बग़ातुर न्हा ही छोड़कर मर गया था। 'बग़ातुर' मंगोल अमीर-सरदारों का लोक- था। इसका अर्थ है 'वीर' और मेरा ख़याल है कि उर्दू का 'बहादुर' शब्द निकला है।

ालांकि चंगेज़ १० वर्ष का छोटा लड़का ही था और उसका कोई मदद- था, फिर भी वह ज़ोर मारता चला गया, और आख़िर में कामयाब हुआ। -क़दम आगे बढ़ता गया, यहाँ तक कि अन्त में मंगोलों की बड़ी सभा ने बैठक करके उसे अपना 'ख़ान महान्' या 'काग़न' या सम्राट् चुना। साल पहले उसे चंगेज़ का नाम दिया जा चुका था।

गोलों का गुप्त इतिहास' पुस्तक में, जो तेरहवीं सदी में लिखी गई थी हवीं सदी में चीन में प्रकाशित हुई, इस चुनाव का हाल इस तरह से बयान आ है—

> "इस तरह 'चीता' नामक साल में, जब नमदे के तम्बुओं रहनेवाली सारी पीढ़ियाँ एक सत्ता की मातहती में मिलकर एक गईं, तब अनान नदी के निकास पर वे सब जमा हुए और 'नौ पैरों' अपने 'सफ़ेद झंडे' को खड़ा करके उन्होंने चंगेज़ को 'काग़न' की ाधि प्रदान की।"

गेज़ जब 'ख़ान महान्' या 'काग़न' बना, उसकी उम्र ५१ वर्ष की हो ी। यह जवानी की उम्र नहीं थी और इस उम्र पर पहुँचकर ज़्यादातर चैन और आराम चाहते हैं। लेकिन उसके लिए तो यह विजय-यात्रा के शुरुआत थी। यह ग़ौर करने की बात है; क्योंकि ज़्यादातर महान् ओं ने मुल्कों को जीतने का काम जवानी में ही पूरा किया है। इससे नतीजा भी निकाल सकते हैं कि चंगेज़ ने जवानी के जोश में एशिया को डाला था। वह अधेड़ उम्र का एक होशियार और सावधान आदमी था र बड़े काम को हाथ में लेने से पहले उस पर विचार और उसकी तैयारी ता था।

मंगोल लोग घूमक्कड़ थे। शहरों और शहरों के रंग-ढंग से भी उन्हें नफ़रत हुत लोग समझते हैं कि चूंकि वे घुमक्कड़ थे, इसलिए जंगली रहे होंगे। लेकिन

यह ख़याल ग़लत है। शहर की बहुत-सी कलाओं का उन्हें अलबत्ता ज्ञान
लेकिन उन्होंने ज़िन्दगी का अपना एक अलग तरीक़ा ढाल लिया था और
संगठन बहुत गुंथा था। लड़ाई के मैदान में अगर उन्होंने बड़ी-बड़ी जीतें
कीं तो संख्या में ज्यादा होने की वजह से नहीं, बल्कि अपने अनुशासन और
की वजह से। और इसकी सबसे बड़ी वजह तो यह थी कि उन्हें चंगेज़ जैसा
कप्तान मिला था। इसमें कोई शक नहीं कि चंगेज़ इतिहास का सबसे बड़ा
प्रतिभावाला व्यक्ति और सैनिक नेता था। सिकन्दर और सीज़र इसके
तुच्छ नज़र आते हैं। चंगेज़ न सिर्फ़ खुद बहुत बड़ा सेनापति था, बल्कि उसने
बहुत-से फ़ौजी अफ़सरों को सिखाकर होशियार नेता बना दिया था। अपने
से हज़ारों मील दूर होते हुए, दुश्मनों और विरोधी आबादी से घिरे
भी, वे अपने से ज्यादा संख्या की फ़ौजों के मुक़ाबले में जीत की लड़ाइयां
करते थे।

जब चंगेज़ एशिया और यूरोप में डग भरता हुआ आया, तब इन दे
क्या नक़शा था? मंगोलिया के पूर्व और दक्षिण में चीन दो टुकड़ों में बंटा
था। दक्षिण में सुंङ्-साम्राज्य था, जहाँ दक्षिणी सुंङों का राज था; उत्तर में
या 'सुनहले तातारियों' का साम्राज्य था, जिनकी राजधानी पेकिंग थी और जि
सुंङों को निकाल बाहर किया था; पश्चिम में गोबी के रेगिस्तान पर, और
परे, हिसिया या तांङ्-तों का साम्राज्य था। यह भी घुमक्कड़ों का राज्य था। भार
हम देखते हैं कि दिल्ली में ग़ुलाम बादशाहों की हुकूमत थी। ईरान और इरा
ठेठ भारत की सरहद तक फैला हुआ खारज़म या ख़ीवा का महान् मुसल
राज्य था, जिसकी राजधानी समरक़न्द थी। इसके पश्चिम में सेलजूक
मिस्र और फ़िलस्तीन में सलादीन के उत्तराधिकारियों का राज था। बग़दा
चारों ओर, सेलजूकों की निगरानी में ख़लीफ़ा राज करता था।

यह वह ज़माना था जब बाद के क्रूसेड चल रहे थे। होहेनस्तॉफ़ेन वं
फ़्रैडरिक द्वितीय, जिसे 'दुनिया का आश्चर्य' कहा गया है, पवित्र रोमन-सा
का सम्राट् था। इंग्लैण्ड में मैग्नाकार्टा और उसके बाद की घटनाओं का ज़माना
फ़्रान्स में लुई नवम राज करता था, जो क्रूसेडों में गया था और जिसे वहां
पकड़ लिया था और मुक्ति-धन लेकर छोड़ा था। पूर्वी यूरोप में रूस था,
राज्यों में बँटा हुआ था—उत्तर में नोवगोरोद और दक्षिण में कीफ़। रूस और
साम्राज्य के बीच में हंगरी और पोलैण्ड थे। बिज़ैन्तीन साम्राज्य कुस्तुन्तुनि
आसपास अभी तक बना हुआ था।

चंगेज़ ने बड़ी सावधानी के साथ अपनी विजय-यात्रा की तैयारियां
उसने अपनी फ़ौज को शिक्षित किया। सबसे ज्यादा इसने अपने घोड़ों को
उनके मरते ही उनकी जगह लेनेवाले दूसरे घोड़ों को शिक्षित किया था।

के लिए घोड़ों से ज्यादा महत्व की चीज़ कोई नहीं है। इन सब तैयारियों
सने पूर्व की तरफ़ कूच किया और उत्तर चीन व मंचूरिया के 'किन'
ो क़रीब-क़रीब खत्म कर दिया और पेकिंग पर भी क़ब्ज़ा कर लिया।
या जीत लिया। मालूम होता है कि दक्षिणी सुंडों को उसने दोस्त बना
इन सुंडों ने 'किन' लोगों के खिलाफ़ उसकी मदद भी की थी। बेचारे
मझते थे कि इनके बाद उनकी बारी भी आनेवाली है। चंगेज़ ने बाद में
भी जीत लिया।

विजयों के बाद चंगेज़ आराम कर सकता था। ऐसा मालूम होता है कि
र धावा मारने की उसकी इच्छा नहीं थी। वह खारज़म के शाह से दोस्ती
व रखना चाहता था, लेकिन यह हो नहीं पाया। एक पुरानी लातीनी
जिसका मतलब है कि देवता जिसे नष्ट करना चाहते हैं पहले उसे
ना देते हैं।[1] खारज़म का बादशाह अपनी ही बर्बादी पर तुला हुआ
े पूरा करने के लिए उसने भरसक कोशिश की। उसके एक सूबे के हाकिम
सौदागरों को क़त्ल कर दिया। चंगेज़ फिर भी सुलह चाहता था और
सन्देश लेकर राजदूत भेजे कि उस हाकिम को सज़ा दी जाय। लेकिन
ह इतना घमंडी था और अपने को इतना बड़ा समझता था कि उसने
दूतों का अपमान किया और उनको मरवा डाला। चंगेज़ इसे
हीं कर सकता था, लेकिन उसने जल्दबाज़ी से काम नहीं लिया। उसने
से तैयारी की और तब पश्चिम की तरफ़ अपनी फ़ौज के साथ कूच
।

कूच ने, जो १२१९ ई० में शुरू हुई, एशिया की, और कुछ हद तक यूरोप
इस नये आतंक की तरफ़ खोल दीं, जो बड़े भारी बेलन की तरह शहरों
ड़ों आदमियों को बेरहमी के साथ कुचलता हुआ चला आ रहा था। खार-
साम्राज्य मिट गया। बुख़ारा का बड़ा शहर, जिसमें बहुत-से महल थे
लाख से ज्यादा आबादी थी, जलाकर राख कर दिया गया। राजधानी
नष्ट कर दी गई और उसकी दस लाख की आबादी में से सिर्फ़ ५०
न्दा बचे। हिरात, बलख और दूसरे बहुत-से गुलज़ार शहर नष्ट कर दिये
रोड़ों आदमी मार डाले गए। जो कलाएँ और दस्तकारियाँ वर्षों से मध्य-
फूल-फल रही थीं, ग़ायब हो गईं। ईरान और मध्य एशिया में सभ्यता
यों का खातमा-सा हो गया। जहाँ से चंगेज़ गुज़रा, वहाँ वीराना हो

---

[1] तुलसीदास ने भी कहा है—
जाको प्रभु दारुन दुख देहीं, ताकी मति पहिले हर लेहीं।'

ख़ारज़म (ख़ीवा) के बादशाह का बेटा जलालुद्दीन इस तूफ़ान बहादुरी से लड़ा। वह पीछे हटते-हटते सिन्ध नदी तक चला आया और भी इस पर ज़ोर का दबाव पड़ा तो कहते हैं कि वह घोड़े पर बैठा हु नीचे सिन्ध नदी में कूद पड़ा और तैरकर इस पार आ गया। उसे दिल्ली में आसरा मिला। चंगेज़ ने वहाँ तक उसका पीछा करना फ़िज़ूल

सेलजूक तुर्कों का और बग़दाद का सौभाग्य था कि चंगेज़ ने छेड़े छोड़ दिया और वह उत्तर में रूस की तरफ़ बढ़ गया। उसने कीफ़ को हराकर क़ैद कर लिया। फिर वह हिसियों या तांङ्तों के बलवे लिए पूर्व की तरफ़ लौट गया।

चंगेज़ १२२७ ई० में ७२ वर्ष की उम्र में मर गया। उसका साम्रा में काला सागर से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ था। और ज़ोरदार था और बढ़ रहा था। चंगेज़ की राजधानी अभी तक मंगोलि क़ुरम नामक छोटा-सा क़स्बा थी। घुमक्कड़ होते हुए भी चंगेज़ बड़ा संगठन करनेवाला था और उसने बुद्धिमानी के साथ अपनी मदद के मंत्री मुक़र्रर कर रखे थे। इतनी तेज़ी के साथ जीता हुआ उसका साम्रा मरने पर टूटा नहीं।

अरबी और ईरानी इतिहास-लेखकों की नज़र में चंगेज़ एक दानव 'ख़ुदा का क़हर' कहा गया है। उसे बड़ा ज़ालिम आदमी बताया गया है शक नहीं कि वह बड़ा ज़ालिम था, लेकिन उसके ज़माने के दूसरे बहुत में और उसमें कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं था। भारत में अफ़ग़ान बादशाह पैमाने पर, इसी तरह के थे। जब ग़ज़नी पर अफ़ग़ानों ने ११५० ई किया तो पुराने ख़ून का बदला लेने के लिए उस शहर को लूटा और सात दिन तक "लूट-मार, बर्बादी और मारकाट जारी रही। जो मर्द मिला कर दिया गया और तमाम स्त्रियों और बच्चों को क़ैद कर लिया गया। बादशाहों (यानी सुलतान महमूद के वंशजों) के महल और इमारतें, जिनकी कोई होड़ नहीं थी, नष्ट कर दिये गए।" मुसलमानों का अपने मुसलमा के साथ यह बर्ताव था! इस बर्ताव के, और यहाँ भारत में जो-कुछ शाहों ने किया उसके, और मध्य-एशिया और ईरान में चंगेज़ की सत्यानाश वाई के, दर्जों में कोई फ़र्क़ नहीं था। चंगेज़ ख़ारज़म से ख़ास तौर पर क्योंकि शाह ने उसके राजदूत को क़त्ल करवा दिया था। उसके लिए झगड़ा-जैसा था। और दूसरी जगहों पर भी चंगेज़ ने ख़ूब सत्यानाश लेकिन शायद उतना नहीं जितना मध्य एशिया में।

शहरों को यों बर्बाद करने के पीछे चंगेज़ की एक और भी नीयत

ों की तबीयत थी और वह क़स्बों और शहरों से नफ़रत करता था। वह ानों में रहना पसन्द करता था। एक दफ़ा तो चंगेज़ के मन में यह विचार क चीन के सारे शहर बर्बाद कर दिये जायँ तो अच्छा हो! लेकिन ख़ुश- कहिये कि उसने ऐसा किया नहीं। उसका विचार था कि सभ्यता को ह-ज़िन्दगी से मिला दिया जाय। लेकिन न तो यह सम्भव था और न है।

ंगेज़ख़ाँ के नाम से तुम्हें शायद यह ख़याल हो कि वह मुसलमान था; वह मुसलमान नहीं था। यह एक मंगोल नाम है। मज़हब के मामले बड़ा उदार था। उसका अपना मज़हब अगर कुछ था तो शमा-धर्म था, सदा रहनेवाले नीले आसमान की उपासना थी। अक़्सर वह चीन के ताओ- से ख़ूब बातें किया करता था। लेकिन वह ख़ुद शमा-धर्म पर ही क़ायम र जब कठिनाई में होता तब आसमान का ही आसरा लिया करता था।

तुमने इस पत्र के शुरू में पढ़ा होगा कि चंगेज़ को मंगोलों की सभा ने ख़ान चुना' था। यह सभा असल में सामन्तों की सभा थी, जनता की नहीं। यों इस फ़िरक़े का सामन्ती सरदार था।

वह पढ़ा-लिखा नहीं था, और उसके तमाम अनुयायी भी उसी की तरह थे। वह बहुत दिनों तक यह भी नहीं जानता था कि लिखने-जैसी भी कोई चीज़ । सन्देश ज़बानी भेजे जाते थे और आमतौर पर छन्द में रूपकों या कहावतों में होते थे। ताज्जुब तो यह है कि ज़बानी सन्देशों से किस तरह इतने बड़े य का कारोबार चलाया जाता था। जब चंगेज़ को मालूम हुआ कि लिखने- ोई चीज़ होती है, तो उसने फ़ौरन ही महसूस कर लिया कि यह बड़ी न्द चीज़ है और उसने अपने पुत्रों और मुख्य सरदारों को इसे सीखने का या। उसने यह भी हुक्म दिया था कि मंगोलों का पुराना रिवाजी क़ानून सकी अपनी उक्तियाँ भी लिख डाली जायँ। मुराद यह थी कि यह रिवाजी सदा-सर्वदा के लिए 'कभी न बदलनेवाला क़ानून' है, और कोई इसे तोड़ कता। बादशाह के लिए भी इसका पालन करना ज़रूरी था। लेकिन यह न बदलनेवाला क़ानून' अब खो गया है और आजकल के मंगोलों को न तो कोई याद है और न इसकी कोई परम्परा ही बाक़ी रही है।

हरेक देश और हरेक मज़हब का पुराना रिवाजी क़ानून और लिखित क़ानून और हरेक समझता है कि यही 'कभी न बदलनेवाला क़ानून' हमेशा क़ायम । कभी-कभी इसे ईश्वरीय ज्ञान कहा जाता है और जो ज्ञान ईश्वर ने भेजा बदलनेवाला या क्षणिक नहीं माना जा सकता। लेकिन क़ानून तो तत्कालीन ति के माफ़िक़ बनाये जाते हैं और उनकी मंशा यह होती है कि उनकी मदद अपनी उन्नति कर सकें। अगर परिस्थिति बदल जाती है तो पुराने क़ानून उसमें

कैसे फ़िट हो सकते हैं ? परिस्थिति के साथ क़ानूनों में भी परिवर्तन होना वरना ये लोहे की ज़ंजीरों की तरह हमें जकड़ रखते हैं और दुनिया चली जाती है। कोई भी क़ानून अपरिवर्तनशील नहीं हो सकता। यह उसका आधार ज्ञान पर हो, और ज्यों-ज्यों ज्ञान की उन्नति हो त्यों-त्यों भी उसके साथ उन्नति करनी चाहिए।

चंगेज़खाँ के बारे में मैंने तुम्हें जितनी तफ़सील और जितनी हैं उतनी शायद ज़रूरी नहीं थीं। लेकिन इस आदमी ने मुझे बहुत मोहि है। कितने ताज्जुब की बात है कि एक ख़ानाबदोश जंगली क़ौम का क्रूर और हिंसक सामन्ती सरदार मेरे-जैसे शान्तिप्रिय, अहिंसक और को मोहित करे, जो शहरों में रहनेवाला और सामन्ती चीज़ से नफ़रत है।

: ६८ :

मंगोलों का दुनिया पर छा जाना

२६ जू

चंगेज़खाँ की मृत्यु के बाद उसका लड़का ओग़ोतइ 'ख़ान महान् चंगेज़ और उस ज़माने के मंगोलों के मुक़ाबले में वह दयावान और स्वभाव का था। वह कहा करता था : "हमारे काग़न चंगेज़ ने बड़ी हमारे शाही ख़ानदान को बनाया है। अब वक़्त आ गया है कि हम को चैन व ख़ुशहाली दें और उनकी मुसीबतों को कम करें।" ओग़ोतइ सामन्ती सरदार की हैसियत से अपने फ़िरक़े की बात सोचता था यह की चीज़ है।

लेकिन विजय का युग ख़त्म नहीं हुआ था और मंगोलों में अभी उबल रही थी। महान् सेनापति सबूतई के नेतृत्व में यूरोप पर दूसरी हुआ। यूरोप की सेनाएँ और सेनापति, सबूतई के मुक़ाबले में कुछ नहीं देशों के हाल-चाल लाने के लिए जासूस और हरकारे भेजकर वह साथ ज़मीन तैयार कर लेता था। इसलिए आगे बढ़ने से पहले उसे राजनीतिक और फ़ौजी हैसियत की पूरी जानकारी रहती थी। रण- युद्ध-कला का उस्ताद था और यूरोप के सेनापति उसके मुक़ाबले में नज़र आते थे। सबूतई सीधा रूस चला गया और उसने दक्षिण-पश्चिम और सेलजूक़ों को नहीं छेड़ा। छः वर्ष तक वह मास्को, कीफ़, पोलैंड, क्राकाऊ को लूटता-पाटता और नष्ट करता हुआ लगातार आगे बढ़ता १२४१ ई० में मध्य यूरोप के निचले साइलेशिया में लिबनित्स पर

एक फ़ौज का बिलकुल सफ़ाया कर दिया गया। मालूम होता था कि का फ़ैसला होनेवाला है। मंगोलों को रोकनेवाला कोई नहीं दिखाई फ़्रेडरिक द्वितीय, जो 'दुनिया का आश्चर्य' कहलाता था, मंगोलिया से आये हुए इस असली आश्चर्य के सामने ज़रूर डर के मारे पीला पड़ । यूरोप के बादशाह और शासक हक्का-वक्का हो रहे थे कि अचानक मिल गई. जिसकी कोई आशा ही नहीं थी।

की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी के बारे में कुछ झगड़ा । इसलिए यूरोप में जो मंगोल फ़ौजें थीं, वे बिना हारी हुई भी पीछे और १२४२ ई० में पूर्व की ओर अपने वतन को चल दीं। यूरोप की जान आई।

मंगोल चीन भर में फैल चुके थे, और उत्तर में किनों को और सुङों को भी उन्होंने बिलकुल खत्म कर दिया था। १२५२ ई० में महान्' बना और उसने कुबलइ को चीन का हाकिम मुक़र्रर किया। मंगू के दरबार में, एशिया और यूरोप से लोगों की भीड़ थी। 'खान महान्' घुमक्कड़ों की तरह, अभी तक तम्बुओं में ही रहता ये तम्बू बहुत शानदार होते थे और वे महाद्वीपों की दौलत और लूट भरे रहते थे। सौदागर, खासकर मुसलमान, आते थे और मंगोल उनसे खरीदते थे। ज्योतिषी, कारीगर, गणितज्ञ और वे लोग जो उस ज़माने में दखल रखते थे, तम्बुओं के इस शहर में जमा हुआ करते थे। ऐसा कि मानो इस शहर का रौब सारी दुनिया पर छाया हुआ है। इस लम्बे-साम्राज्य भर में, एक हद तक, शान्ति और व्यवस्था थी। महाद्वीपों कारवानी रास्ते इधर-से-उधर आने-जानवाले लोगों से भरे रहते थे। और यूरोप एक-दूसरे के ज़्यादा सम्पर्क में आ गये थे।

फिर क़राकुरम की ओर मज़हबी लोगों की दौड़ मची हुई थी। उनमें चाहता था कि यह संसार-विजेता खास उसी का मज़हब क़बूल कर लें। इन सत्ताधारी लोगों को अपनी तरफ़ मिला लेने में कामयाब होता ज़रूर शक्तिशाली बन जाता और दूसरे तमाम मज़हबों पर फ़तह लेता। पोप ने रोम से अपने एलची भेजे; नस्तोरियन ईसाई आये; भी वहाँ पहुँचे और बौद्ध भी। मंगोलों को कोई नया मज़हब क़बूल करने नहीं थी क्योंकि वे लोग कोई बहुत ज़्यादा मज़हबी नहीं थे। कहते हैं कि 'खान महान्' के ईसाइयत क़बूल करने का इरादा था, लेकिन वह पोप के बर्दाश्त करने को तैयार नहीं था। आखिर मंगोल लोग उन्हीं इलाकों के धार में पड़ गये, जहाँ-जहाँ वे बस गये थे। चीन और मंगोलिया के

ज़्यादातर मंगोल बौद्ध हो गये; मध्य एशिया के मुसलमान बन गये,
रूस और हंगरी के कुछ मंगोल ईसाई हो गये।

रोम के वैतिकन[1] में, पोप के पुस्तकालय में, अभी तक 'ख़ान
का पोप के नाम एक असली पत्र रक्खा हुआ है। यह पत्र अरबी भाषा में
होता है कि पोप ने ओग़ोतइ के मरने के बाद नये ख़ान के पास
चेतावनी लेकर भेजा था कि वह यूरोप पर फिर हमला न करे। ख़ान ने
था कि उसने यूरोप पर इसलिए हमला किया था कि यूरोपवासियों ने
अच्छा बर्ताव नहीं किया था।

मंगू के ज़माने में फ़तह और बर्बादी की एक लहर फिर चली।
हलाकू ईरान का हाकिम था। बग़दाद के ख़लीफ़ा की किसी बात पर
उसके पास एक सँदेसा भेजा, जिसमें अपने वादे पूरे न करने पर उसे
चेतावनी दी कि आगे से अपना ढंग ठीक रक्खे वरना अपना साम्राज्य
ख़लीफ़ा कोई बहुत अक़्लमन्द आदमी नहीं था और न वह तजुर्बे से
ही जानता था। उसने चुनौतीभरा जवाब भेजा और बग़दाद के
भीड़ ने मंगोली दूतों का अपमान भी किया। इस पर हलाकू का मंगोली
पड़ा। तैश में आकर उसने बग़दाद पर धावा बोल दिया और चालीस
के बाद उस पर क़ब्ज़ा कर लिया। अलिफ़लैला के शहर बग़दाद का
गया और साम्राज्य के ५०० वर्षों में यहाँ जो बेशुमार खज़ाना इकट्ठा
वह भी ख़त्म हुआ। ख़लीफ़ा और उसके बेटे और नज़दीकी रिश्तेदार
गए। यह हत्याकाण्ड हफ़्तों तक जारी रहा, यहाँ तक कि दजला नदी
मीलों तक ख़ून से लाल हो गया। कहते हैं कि पन्द्रह लाख आदमी मारे
और साहित्य के बेशक़ीमती भ डार और पुस्तकालय सब नष्ट कर
बग़दाद बिलकुल बर्बाद हो गया। पश्चिमी एशिया की प्राचीन सिंचाई
जो हज़ारों वर्ष पुरानी थी, हलाकू ने नष्ट कर दी।

यही हाल अलप्पो, अदिस्सा और दूसरे शहरों का हुआ। पश्चि
पर रात जैसा अँधेरा छा गया। उस ज़माने का एक इतिहासकार
"यह ज़माना विज्ञान और नेकी के लिए अकाल का था।" फ़िलस्तीन
एक मंगोली फ़ौज को मिस्र के सुलतान बेबर ने हरा दिया। इस सुल
मज़ेदार उपनाम 'बन्दूकदार' था क्योंकि उसके पास बन्दूकचियों का
दस्ता था। अब हम उस ज़माने तक पहुँच गये हैं जब तोप-बन्दूकों का
शुरू हो गया था। चीनी लोग बहुत दिनों से बारूद बनाना जानते थे।

---

[1] वैतिकन (Vatican)—रोम में पोप के महल, जो सुन्दर
नमूने हैं तथा जिनमें बड़ा भारी पुस्तकालय और संग्रहालय है।

चीनियों से सीखा और सम्भव है कि इन लोगों को बारूदी हथियारों से अपनी जीतों में सहायता मिली हो। मंगोलों के ज़रिये ही तोप-बन्दूक बारूदी हथियार यूरोप में पहुँचे।

१२५८ ई० में बग़दाद की बर्बादी ने आख़िरी तौर पर बचे-खुचे अब्बासिया का भी अन्त कर दिया। पश्चिम एशिया में अरब की अपनी ख़ास सभ्यता अन्त हो गया। दूर दक्षिण के स्पेन में ग्रैनडा अभी तक अरबी परम्परा पर था। यह भी २०० वर्ष बाद ख़त्म हो गया। ख़ुद अरब देश का महत्व घटता गया और वहाँ के लोगों ने इसके बाद इतिहास में कोई बड़ा लिया। ये लोग कुछ दिनों के बाद उस्मानी तुर्की साम्राज्य के अंग बन १९१४-१८ ई० के यूरोपीय महायुद्ध में, अंग्रेज़ों के उभाड़ने से, अरबों ने ख़िलाफ़ बलवा किया था और तबसे अरब क़रीब-क़रीब स्वाधीन है।

वर्षों तक कोई ख़लीफ़ा नहीं रहा। इसके बाद मिस्र के सुलतान बेबर ने अब्बासी ख़लीफ़ा के एक रिश्तेदार को ख़लीफ़ा नामज़द कर दिया। के हाथ में कोई राजनीतिक सत्ता नहीं थी, वह सिर्फ़ रूहानी (आध्या- ताज था। तीन सौ साल बाद क़ुस्तुन्तुनिया के तुर्की सुलतान ने ख़लीफ़ा उपाधि भी छीन ली। तबसे तुर्की सुलतान ख़लीफ़ा होते चले आये। ही साल हुए, मुस्तफ़ा कमालपाशा ने सुलतान और ख़लीफ़ा दोनों को दिया।

अपनी कहानी से भटक गया। 'ख़ान महान्' मंगू १२६० ई० में मर गया। वह तिब्बत को जीत चुका था। उसके बाद चीन का हाकिम कुबलई महान्' बना। कुबलइ बहुत दिनों तक चीन में रह चुका था और उसे था। इसलिए उसने अपनी राजधानी क़राक़ुरम से हटाकर पेकिंग में और उसका नाम ख़ानबलिक यानी 'ख़ान का नगर' रक्खा। कुबलइ को मामलों में इतनी दिलचस्पी थी कि वह अपने बड़े साम्राज्य की तरफ़ से हो गया और धीरे-धीरे बड़े-बड़े मंगोल हाकिम स्वाधीन हो गये।

ने चीन की विजय पूरी कर ली, लेकिन इसका लड़ाइयों का ढंग पुराने से बहुत जुदा था। इसमें ज़ुल्म और बर्बादी बहुत कम थे। चीन ने कुबलइ मुलायम कर दिया था और उसे सभ्य बना दिया था। चीनी लोगों ने अपना लिया और उसके साथ अपने ही आदमी जैसा बर्ताव करने लगे। युआन राज-वंश, जिसे कट्टर चीनी राजवंश कहना चाहिए, चलाया। अनाम और बरमा अपने राज्य में मिला लिये। उसने जापान और भी जीतने की कोशिश की, लेकिन कामयाब नहीं हुआ। क्योंकि मंगोलों की आदत नहीं थी और उनको जहाज़ बनाना भी नहीं आता था।

मंगूख़ाँ के शासन-काल में, फ़ान्स के बादशाह लुई नवम का एक दिलचस्प सन्देश लेकर आया था। लुई ने यह सुझाव दिया था कि ईसाई शक्तियाँ और मंगोल मिलकर मुसलमानों का मुक़ाबला करें। ज़माने में, जब वह क़ैद कर लिया गया था, तब बेचारे लुई को बहुत पड़े थे। लेकिन मंगोलों को ऐसी दोस्तियों में कोई दिलचस्पी नहीं थी और दिलचस्पी थी कि किसी मज़हब के लोगों पर सिर्फ़ मज़हब के नाम पर

फिर वे यूरोप के छोटे-छोटे बादशाहों और राजाओं से क्यों ख़िलाफ़ दोस्ती करते? उन्हें पश्चिमी यूरोप के राज्यों या मुसल की लड़ने की क़ाबलियतों से कोई डर नहीं था। यह तो संयोग की पश्चिमी यूरोप उनसे बच गया था। सेलजूक तुर्कों ने इनके सामने सिर था और इन्हें खिराज देते थे। सिर्फ़ मिस्र का सुलतान ही ऐसा था, फ़ौज को हराया था। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि अगर मंगोल साथ कोशिश करते तो उसे सीधा कर देते। एशिया और यूरोप के दूसरे तक शक्तिशाली मंगोल साम्राज्य पसरा हुआ था। मंगोलों की मुक़ाबले की इतिहास में कोई चीज़ कभी नहीं हुई और न इतना विशाल कभी हुआ। उस वक़्त तो मंगोल वास्तव में दुनिया के मालिक नज़र आते समय भारत ही उनसे बचा हुआ था, वह भी सिर्फ़ इसलिए कि मंगोल नहीं थे। पश्चिमी यूरोप भी, जो क़रीब-क़रीब भारत के बराबर था, से बाहर था। लेकिन ऐसा समझना चाहिए कि ये हिस्से भी मंगोलों की पर ज़िन्दा थे और इनकी हस्ती भी तभी तक थी जब तक मंगोल इन्हें का इरादा नहीं करते थे। तेरहवीं सदी में ऐसा ही दिखाई देता रहा

लेकिन मंगोलों की ज़बर्दस्त शक्ति कुछ कम होती हुई मालूम और फ़तह करते चले जाने का जोश ठण्डा पड़ने लगा। तुम्हें यह न कि उस ज़माने में लोग धीरे-धीरे या तो पैदल चलते थे या घोड़ों पर। इससे ज़्यादा तेज़ कोई तरीक़ा नहीं था। मंगोलिया में अपने घर साम्राज्य की पश्चिमी सरहद तक सफ़र करने में ही फ़ौजों को जाता था। विजय की इनमें इतनी धुन नहीं थी कि वे अपने साम्राज्य इतनी ज़बर्दस्त यात्राएँ करते, जबकि लूटमार की कोई गुंजाइश न अलावा लड़ाई में और लूटमार में बार-बार कामयाबियों की वजह सिपाहियों के पास लूट का खूब माल इकट्ठा हो गया था। बहुतों ने भी रख लिये होंगे। इसलिए वे ठण्डे पड़ गये और संजीदा और अमन-चैन बिताने लगे। जिसे अपनी ज़रूरत की सब चीज़ें मिल गई हों, वह और व्यवस्था ही पसन्द करने लगता है।

शाल मंगोल-साम्राज्य का प्रशासन वड़ा मुश्किल काम रहा होगा। ताज्जुब की बात नहीं कि यह टूटने लगा। कुबलइ ख़ाँ १२९२ ई० । इसके बाद कोई 'ख़ान महान्' नहीं हुआ और साम्राज्य इन पाँच बड़े ें बँट गया:

१. चीन का साम्राज्य, जिसमें मंगोलिया, मंचूरिया और तिब्बत शामिल मुख्य भाग था और कुबलइ के युआन राजवंश के अधीन था;

२. 'सुनहले गिरोह' (यह मुग़लों का स्थानीय नाम था) का साम्राज्य। कुल पश्चिम में रूस, पोलैण्ड और हंगरी में था;

३. ईरान, इराक़ और मध्य एशिया के एक हिस्से में इलखान साम्राज्य सकी बुनियाद हलाकू ने डाली थी और सेलजूक तुर्क इसे ख़िराज देते थे;

४. मध्य एशिया में, तिब्बत के उत्तर में चग़तई साम्राज्य था, जिसे महान् कहते थे;

५. मंगोलिया और 'सुनहले गिरोह' के बीच मंगोलों का साइबेरिया का य था।

हालाँकि विशाल मंगोली साम्राज्य के टुकड़े हो गये थे, लेकिन उसके इन ों में से हरेक वड़ा शक्तिशाली साम्राज्य था।

: ६९ :

महान् यात्री मार्को पोलो

२७ जून, १९३२

ने तुमसे क़राकुरम में 'ख़ान महान्' के दरबार का ज़िक्र किया है कि मंगोलों ों और उनकी विजयों के जादू से खिचकर कैसे सैकड़ों सौदागर, कारीगर, और धर्म-प्रचारक वहाँ जमा होने लगे थे। ये लोग इसलिए भी आते थे कि इनको बढ़ावा देते थे। ये मंगोल विचित्र आदमी थे, कुछ बातों में बड़े ही और कुछ बातों में विलकुल वच्चों जैसे। इनकी ख़ूँख्वारी और बेरहमी नेवाली ज़रूर थी, पर उसमें वचपने की लटक थी। और मेरे ख़याल ख़ूँख्वार रण-बाँकुरों के इस वचपने के स्वभाव ने ही इन्हें इतना आकर्षक है। सैकड़ों वर्षों बाद एक मंगोल, या मुग़ल ने, जिस नाम से ये भारत में हुए, इस देश को जीता। इसका नाम वावर था और इसकी माँ चंगेज़ख़ाँ की थी। भारत जीतने के बाद यह कावुल और उत्तर की ठण्डी-ठण्डी हवाओं, बाग़ों और तरबूज़ों के लिए तरसता था। यह मौजी आदमी था और उसने जो संस्मरण लिखे हैं, उनमें तो वह बहुत इन्सानियत-भरा और आकर्षक नज़र आता है।

मतलब यह कि मंगोल लोग अपने दरबार में दिदेशों के यात्रियों के लिए बढ़ावा देते थे। इनमें ज्ञान की प्यास थी और ये उनसे सीखना तुम्हें याद होगा, मैंने तुमको बताया था कि जसे ही चंगेज़ख़ाँ को कि लिखने-जैसी भी कोई चीज़ है, उसने फ़ौरन उसका महत्व समझ अपने अफ़सरों को लिखना सीखने का हुक्म दिया था। इनके दिमाग़ खुले सीखने की चाह थी, इसलिए ये दूसरों से सीख सकते थे। कुवलइख़ाँ बसने और शरीफ़ चीनी सम्राट् बन जाने के वाद ख़ासतौर से विदे को बढ़ावा देता था। उसके पास वेनिस से दो व्यापारी आये थे। ये दोनों —एक का नाम था निकोलो पोलो, और दूसरे का मैफ़ियो पोलो। व्यापार की तलाश में ठेठ बुख़ारा तक पहुँच गये थे और वहाँ ईरान में पास भेजे हुए कुबलइख़ाँ के कुछ दूत इन्हें रास्ते में मिले थे। उन दोनों को अपने कारवाँ में शामिल होने को राज़ी कर लिया और इस 'ख़ान महान्' के दरबार में पेकिंग पहुँचे।

कुबलइख़ाँ ने निकोलो और मैफ़ियो का अच्छा स्वागत किया। ख़ान को यूरोप, ईसाइयत और पोप के बारे में बताया। उसने इनकी बहुत दिलचस्पी ज़ाहिर की और ऐसा मालूम होता था कि वह ईसाइयत झुक रहा है। उसने १२६९ ई० में इन दोनों को यूरोप वापस भेजा और पोप से कहलाया कि सौ विद्वान्, "सातों कलाओं को जानने वाले चतुर जो ईसाइयत को सिद्ध करने में समर्थ हों, उसके यहाँ भेजे जायें। लेकिन भाई जब यूरोप वापस पहुँचे तो उस समय पोप और यूरोप दोनों ख़राब थी। ऐसे सौ विद्वान् थे ही नहीं। दो वर्ष ठहरकर ये लोग दो ईसाई को साथ लेकर वापस गये। लेकिन इससे भी ज्यादा महत्व की वात यह अपने साथ निकोलो के नौजवान पुत्र मार्को को भी ले गये।

तीनों पोलो अपनी विकट यात्रा पर रवाना हुए और ख़ुश्की के इन्होंने एशिया की पूरी लम्बाई तय की। यह कितना ज़बर्दस्त सफ़र था। आज भी कोई उसी रास्ते पर जाय, जिस पर पोलो गये थे, तो क़रीब लग जायगा। पोलोओं ने कुछ-कुछ ह्यूएनत्सांङ का पुराना रास्ता वे फ़िलस्तीन होकर आरमीनिया आये और वहाँ से इराक़ और फिर खाड़ी पहुँचे। यहाँ उन्हें भारत के व्यापारी मिले। ईरान पार करके पहुँचे, और वहाँ से पहाड़ों को लाँघते हुए काशगर से ख़ुतन और ख़ुतन से झील, जो चलती-फिरती झील कहलाती है। वहाँ से फिर रेगिस्तान हुए और चीन के खेतों में होते हुए वे पेकिंग पहुँचे। उनके पास एक शाही था; यह ख़ुद ख़ान महान् की दी हुई सोने की तख़्ती थी।

चीन रोम के ज़माने में, चीन और सीरिया के बीच क़ारवानों का यही रास्ता था। कुछ दिन हुए मैंने स्वीडन के मशहूर खोजी और यात्री स्वेन बी के रेगिस्तान को लांघने का हाल पढ़ा है। वह पेकिंग से पश्चिम की र रेगिस्तान को लांघता हुआ और लोप-नोर झील के पास से निकलता और उसके परे गया। उसके पास आजकल की सारी सहूलियतें थीं, उसे सफ़र में बड़ी तकलीफ़ और परेशानी हुई फिर ७०० और १३०० जब पोलो और ह्युएनत्सांग इस रास्ते से गुज़रे होंगे, तब सफ़र की क्या ही होगी! स्वेन हेडेन ने एक दिलचस्प खोज की। उसने यह देखा कि झील का स्थान वदल गया है। वहुत दिन हुए, चौथी सदी में लोप-नोर वाली तारिन नदी ने अपना वहाव वदल दिया था और रेगिस्तान की बालू ही दिनों में उसके खादर को पाट दिया था। लाउलन का पुराना शहर, बसा था, वाहरी दुनिया से विलकुल कट गया था और इसके निवासी शहर के भरोसे छोड़कर चले गए। झील ने भी इस नदी की वजह से अपनी दी और यही हालत पुराने क़ारवानी और व्यापारी रास्ते की भी हुई। ने देखा कि हाल ही में, कुछ ही वर्ष हुए, तारिन नदी ने फिर अपना दिया और अपने पुराने रास्ते पर चली गई। झील ने भी यही किया। फिर पुराने लाउलन नगर के खण्डहरों के पास से होकर वह रही है किन है कि वह पुराना रास्ता, जो १६०० वर्षों से वन्द था, फिर चालू लेकिन ऊँटों की जगह अव मोटरें दौड़ने लगें! इसी वजह से लोप-नोर को रती' झील कहते हैं। मैंने तारिन नदी और लोप-नोर के इधर-उधर इसलिए ज़िक्र कर दिया कि तुम्हें यह अन्दाज़ा हो जाय कि जल-प्रवाह बड़े-बड़े क्षेत्रों को वदल देते हैं और इस तरह इतिहास पर असर डालते कि हम देख चुके हैं, पुराने ज़माने में मध्य एशिया में बड़ी घनी आवादी के निवासियों की एक के वाद एक लहरें मुल्कों को जीतती हुई पश्चिम की तरफ़ बढ़ी थीं। आजकल यह हिस्सा क़रीव-क़रीव वीरान है, जिसमें ही कम हैं और आवादी भी बिखरी हुई है। शायद उस वक्त वहाँ ज़्यादा हो और इस वजह से यहाँ वड़ी आवादी की गुज़र होती रही हो। जैसे-खुश्क होता गया और पानी कम पड़ता गया, आवादी भी कम होती गई घटते वहुत थोड़ी रह गई।

लम्बी-लम्बी यात्राओं से एक फ़ायदा था। लोगों को नई-नई भाषा सीखने का समय मिल जाता था। तीनों पोलों को वेनिस से पेकिंग पहुंचते साढ़े तीन वर्ष लग गये और इस लम्बे समय में मार्को को मंगोली पूरा अधिकार हो गया और शायद चीनी भाषा पर भी। मार्को 'ख़ान चहेता हो गया और उसने क़रीब सत्रह साल तक उसकी नौकरी की।

वह हाकिम बना दिया गया और सरकारी कामों पर चीन के हर
करता था। हालाँकि मार्को और उसके पिता को घर की याद सताती
वेनिस वापस जाना चाहते थे, लेकिन ख़ान की इजाज़त हासिल कर
नहीं था। आख़िरकार उनको वापस जाने का मौक़ा मिल गया। ईरान
साम्राज्य के मंगोल शासक की पत्नी मर गई। यह कुबलइ का चचे
और फिर शादी करना चाहता था। पर उसकी पहली पत्नी ने उस
करा लिया था कि वह अपने फ़िरक़े के बाहर की किसी औरत से शादी
इसलिए आरगोन ने (कुबलइ के चचेरे भाई का यही नाम था) एलचि
कुबलइ खाँ के पास पेकिंग सँदेशा भेजा और उससे प्रार्थना की कि
की एक स्त्री उसके लिए भेज दे।

कुबलइ खाँ ने एक नौजवान मंगोल राजकुमारी को पसन्द किया
पोलों को उसके लश्कर के साथ कर दिया, क्योंकि ये अनुभवी यात्री थे।
समुद्र के रास्ते दक्षिण चीन से सुमात्रा गये और वहाँ कुछ दिन ठहरे।
उन दिनों श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य चल रहा था, लेकिन इसका
रहा था। सुमात्रा से ये लोग दक्षिण भारत आये। दक्षिण भारत में
के गुलजार बन्दरगाह कायल में मार्को पोलो के आने का ज़िक्र मैं पहले ही
हूँ। राजकुमारी, मार्को और उनका लश्कर भारत में काफ़ी दिन ठहरे।
है कि इन्हें कोई जल्दी नहीं थी, क्योंकि इन्हें ईरान पहुँचते-पहुँचते दो साल
लेकिन इस बीच शादी का उम्मीदवार दूल्हा मर चुका था। उसके इन्त
हो गई थी। पर शायद उसकी मौत कोई बहुत बड़ा दुर्भाग्य साबित
नौजवान राजकुमारी की शादी आरगोन के पुत्र से हो गई, जो अपने
बनिस्वत उसकी उम्र के अधिक जोड़ का था।

पोलों ने राजकुमारी को तो वहीं छोड़ दिया और खुद क़ुस्तुन्
हुए आगे अपने वतन को चले गए। १२९५ ई० में, यानी घर छोड़ने के
वे वेनिस पहुँचे। किसीने उनको नहीं पहचाना। कहते हैं कि अपने
और दूसरे लोगों पर छाप जमाने के लिए उन्होंने एक दावत दी और
के बीच में ही उन्होंने अपने फटे-पुराने और रुई से भरे कपड़े उधेड़
ही क़ीमती जवाहरों—हीरे, माणिक, पन्ना वग़ैरा—के ढेर-के-ढेर उनके
से निकल पड़े और मेहमान हैरत में आ गये। फिर भी पोलों की कहानि
और भारत में उनकी आप-बीती पर, बहुत कम लोगों ने यक़ीन किया।
समझा कि मार्को और उसके पिता और चचा बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बातें
वेनिस के अपने छोटे-से गणराज्य के आदी होने की वजह से इन्हें चीन और
के दूसरे देशों के विस्तार की और उनकी दौलत की कल्पना ही नहीं हो

वर्ष बाद, १२९५ ई० में, वेनिस का जिनोआ शहर से युद्ध ठन गया। मुद्री ताक़तें थीं और एक दूसरे की दुश्मन थीं। दोनों में ज़बर्दस्त समुद्री हुई। वेनिसवाले हार गये और जिनोआवालों ने उनके हज़ारों आदमियों कर लिया। इन क़ैदियों में हमारा दोस्त मार्को पोलो भी था। जिनोआ ने में बैठे-बैठे मार्को पोलो ने अपनी यात्राओं का वर्णन लिखा, या यों कहो, । इस तरह 'मार्को पोलो की यात्राएँ' पुस्तक बनी। अच्छा काम करने के खाना कितनी काम की जगह है!

यात्रा-वर्णन में मार्को ने ख़ासतौर से चीन का हाल लिखा है और उन यात्राओं का भी ज़िक्र किया है, जो उसने चीन में की थीं। उसने स्याम, सुमात्रा, लंका और दक्षिण भारत का भी कुछ हाल लिखा है। उसने है कि चीन में बड़े-बड़े बन्दरगाह थे, जहाँ पूर्व के तमाम देशों के जहाज़ों की थी और कोई-कोई जहाज़ तो इतने बड़े होते थे कि उन्हें ३०० या ल्लाह चलाया करते थे। उसने लिखा है कि चीन एक हरा-भरा और ख़ुशहाल जिसमें बहुत शहर और क़स्बे हैं। वहाँ "रेशमी और ज़री के कपड़े और के नफ़ीस ताफ़्ता बनते हैं"; और "ख़ुशनुमा अंगूर की बेलों की और खेत और बाग़ हैं"; और तमाम रास्तों पर "मुसाफ़िरों के लिए सराएँ हैं।" उसने यह भी लिखा है कि शाही फ़रमानों को पहुँचाने के लिए का खास इन्तज़ाम था। ये फ़रमान थोड़ी-थोड़ी दूर पर बदले जानेवाले ज़रिये चौबीस घण्टों में ४०० मील की दूरी तय कर लेते थे, और यह वास्तव अच्छी रफ़्तार है। उसने बतलाया है कि चीन के लोग जलावन लकड़ी काला पत्थर काम में लेते थे, जो ज़मीन से खोदकर निकाला जाता था। ज़ाहिर है कि चीनी लोग कोयले की खानें खोदते थे और जलावन के कोयला इस्तेमाल करते थे। कुबलइ ख़ाँ ने काग़ज़ का सिक्का भी जारी था, यानी काग़ज़ के नोट चलाये थे, जिनके बदले में सोना देने का वायदा था, जैसा कि आजकल किया जाता है। यह बड़ी दिलचस्प बात है, क्योंकि चलता है कि उसने साहूकारी का एक आधुनिक तरीक़ा काम में लिया र्को ने बयान किया है कि प्रेस्टर जॉन नामक शासक की मातहती में ईसाइयों बस्ती भी चीन में रहती थी। इस बात ने यूरोप के लोगों में बड़ा कौतूहल अचम्भा पैदा कर दिया था। शायद ये लोग मंगोलिया के कुछ पुराने नैस्तो- हों।

मार्को ने जापान, बरमा और भारत का भी हाल लिखा है—कुछ आँखों और कुछ कानों सुना। मार्को की कहानी यात्रा की एक अद्भुत कहानी थी भी है। इसने छोटे-छोटे सँकरे देशों में बसनेवाले और तुच्छ ईर्ष्या-द्वेष

में फँसे हुए यूरोपवासियों की आंखें खोल दीं और उन्हें इस लम्बी-चौ
के विस्तार, धन व चमत्कारों का भान करा दिया। इसने उनकी कल्पना को
दी, उनकी साहस के काम करने की भावना को चुनौती दी और उन्हें
को भड़काया। इसने उन्हें और भी ज्यादा समुद्र-यात्राएँ करने को
यूरोप का विकास हो रहा था; उसकी नई सभ्यता अपने पैरों पर खड़ी
थीं और मध्य युगों की बन्दिशों को तोड़ने की कोशिश कर रही थी।
क़दम रखनेवाले नौजवान की तरह उसमें शक्ति भरी हुई थी। समुद्र
इसी उकसाहट ने और धन और साहस के कारनामों की तलाश ने यूरोप
को कुछ दिन बाद अमेरिका पहुँचा दिया और फिर वे उत्तमाशा अन्त
ऑफ़ गुड होप) का चक्कर काटते हुए प्रशान्त महासागर, भारत, चीन और
जा पहुँचे। समुद्र दुनिया का राजमार्ग बन गया और महाद्वीपों को
बड़े-बड़े क़ारवानी रास्तों का महत्व कम हो गया।

मार्को के चले आने के थोड़े दिन बाद ही 'ख़ान महान्' कुबलइ की
गई। युआन राजवंश, जिसका यह क़ायम करनेवाला था, इसके मरने के
बहुत दिन तक नहीं टिका। मंगोलों की ताक़त तेज़ी के साथ घटने लगी
विदेशियों के ख़िलाफ़ चीन में एक राष्ट्रीय लहर पैदा हो गई। साठ वर्ष के
ही मंगोल दक्षिण चीन से निकाल दिये गए और नानकिङ में एक चीनी
सम्राट् बन बैठा। इसके बारह वर्ष बाद, १३६८ ई० में, युआन राजवंश
ख़त्म हो गया और मंगोल लोग चीन की बड़ी दीवार के उस पार खदेड़ दिये
अब एक दूसरा चीनी राजवंश—ताइमिङ राजवंश, रंगमंच पर आया।
वंश ने ३०० वर्षों के लम्बे अर्से तक चीन में राज किया। यह ज़माना अच्छे
ख़ुशहाली और संस्कृति का ज़माना समझा जाता है। दूसरे देशों को जीतने
साम्राज्य बढ़ाने की इन लोगों ने कोई कोशिश नहीं की।

चीन में मंगोल साम्राज्य के टूट जाने का नतीजा यह हुआ कि चीन
यूरोप के बीच आना-जाना भी बन्द हो गया। ख़ुश्की के रास्ते अब निरा
रह गये थे और समुद्र के रास्तों का अभी ज़्यादा इस्तेमाल शुरू नहीं हु

: ७० :

रोमन चर्च की सरज़ोरी

२८ जून,

मैंने तुम्हें बताया है कि कुबलइ ख़ाँ ने पोप को सन्देश भेजा था
कहलवाया था कि वह चीन को सौ विद्वान् भेज दे। लेकिन पोप ने इसपर कु

उस वक़्त वह बुरी हालत में था। अगर तुम्हें याद हो तो यह सम्राट् फ़्रैडरिक की मृत्यु के बाद का ज़माना था, जबकि १२५० से १२७३ ई० तक म्राट् ही नहीं था। उस वक़्त मध्य यूरोप की बड़ी ख़तरनाक हालत थी। गड़बड़ थी और डाकू नाइट हर जगह लूट-पाट करते फिरते थे। १२७३ हैप्सबर्ग का रूदोल्फ़ सम्राट् बना, लेकिन इससे हालत कुछ सुधरी नहीं। साम्राज्य से निकल गया।

इस समय सिर्फ़ राजनीतिक गड़बड़ ही नहीं थी, बल्कि रोमन ईसाई-संघ से मज़हबी गड़बड़ की भी शुरुआत हो रही थी। लोग उतने फ़रमाबरदार थे और न ईसाई-संघ के हुक्मों को ही उतना मानते थे। वे शंका करने और मज़हबी मामलों में शंका ख़तरनाक चीज़ होती है। हम देख चुके हैं फ़्रैडरिक द्वितीय पोप के साथ लापरवाही का बर्ताव करता था और जाने की कुछ परवाह नहीं करता था। उसने पोप के साथ पत्रों के ज़रिये शुरू कर दी थी, जिसमें पोप को नीचा देखना पड़ा था। फ़्रैडरिक की तरह उस वक़्त बहुत-से शंका करनेवाले रहे होंगे। बहुत लोग ऐसे भी थे जो संघ या पोप के दावों में शंका या ऐतराज़ भी करते हों, लेकिन जो के बड़े आदमियों के भ्रष्टाचार और विलासी जीवन से सख़्त नाराज़ थे।

बड़ी फ़ज़ीहत के साथ ख़त्म हो रहे थे। इनकी शुरुआत बड़ी उम्मीदों जोश के साथ हुई थी, लेकिन ये कुछ भी कामयाबी हासिल न कर सके और कामयाबियों की हमेशा उलटी क्रिया होती है; ईसाई-संघ का जो रूप बन से पूरी तरह राज़ी न होने की वजह से लोग कुछ ढिलमिल तौर से और रोशनी की खोज में दूसरी तरफ़ नज़रें दौड़ाने लगे। ईसाई-संघ ने बदले ज़बरदस्ती शुरू कर दी और आतंक के तरीक़ों से आदमियों के दिमाग़ों पर रखना चाहा। उसे यह ख़याल नहीं रहा कि आदमी का दिमाग़ बहुत है और शारीरिक बल इसके ख़िलाफ़ बहुत ही कमज़ोर हथियार कोशिश यह की कि व्यक्तियों और समूहों की अन्तरात्मा की बेक़रारियों दे। उसने शंका का जवाब तर्क और दलील से देने के बजाय डण्डे और की कोशिश की।

११५५ ई० में ही इटली के लोकप्रिय और लगनवाले धर्मोपदेशक, ब्रेशिया पर ईसाई-संघ का गुस्सा उतरा। आर्नोल्द पादरियों के भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ प्रचार करता था। उसे पकड़कर फाँसी पर लटका दिया उसकी लाश को जलाकर राख ताइबर नदी में फिंकवा दी गई कि कहीं विभूति की तरह न रख लें। मरते दम तक आर्नोल्द अपनी आन पर डटा शान्त रहा।

पोप इतने आगे बढ़ गये कि उन्होंने ईसाइयत के उन पूरे-के-पूरे और सम्प्रदायों को ही ग़ैर-ईसाई ऐलान कर दिया, जो मजहब के किसी मामले में भी मतभेद रखते थे या जो पादरियों की बहुत ज़्यादा आलो थे। इन लोगों के ख़िलाफ़ बाक़ायदा धर्म-युद्ध का ऐलान कर दिया जा इन पर तरह-तरह के नफ़रत पैदा करनेवाले और दिल दहलानेवाले जाते थे। दक्षिण-फ़्रान्स के तूलों के अल्बिगियों या अल्बिगेनियों को नामक व्यक्ति के अनुयायी वाल्दनियों को, इसी तरह सताया गया।

इसी समय, या इससे कुछ पहले, इटली में एक व्यक्ति रहता था, जो के सबसे ज़्यादा आकर्षक व्यक्तियों में गिना जाता है। यह असीसी था। यह बड़ा धनवान था, लेकिन इसने अपनी दौलत त्यागकर ग़रीबी लिया और बीमारों व ग़रीबों की सेवा के लिए दुनिया में निकल पड़ा। सबसे ज़्यादा दुःखी और बे-आसरा थे, इसलिए वह उनकी सेवा में ख़ासतौर गया। उसने एक संघ चलाया, जो सन्त फ़्रान्सिस का संघ कहलाता है, और कुछ बौद्ध संघ की तरह का है। वह एक जगह से दूसरी जगह प्रचार क और लोगों की सेवा करता हुआ फिरता था और ईसा की तरह अपनी बिताने की कोशिश करता था। हज़ारों आदमी इसके पास आते थे और बहुत-से इसके शिष्य हो गये। जब क्रूसेड चल रहे थे तब यह मिस्र और भी गया था, हालांकि वह ईसाई था, लेकिन मुसलमान भी इस नेक और क़ाबिल व्यक्ति की इज़्ज़त करते थे और उन्होंने उसके काम में किसी रुकावट नहीं डाली। यह ११८१ ई० में पैदा हुआ और १२२६ ई० में मरा मौत के बाद उसके संघ की ईसाई-संघ के ऊँचे अधिकारियों से टक्कर शायद ईसाई-संघ को यह पसन्द नहीं था कि ग़रीबी की ज़िन्दगी पर दिया जाय। इस दक़ियानूसी सिद्धान्त से वे बहुत बड़े हो गये थे। में फ़्रान्सिस संघ के चार साधुओं को काफ़िर क़रार दिया जाकर मार्साइ जला दिया गया।

कुछ साल हुए, असीसी के छोटे-से शहर में सन्त फ़्रान्सिस की एक बहुत बड़ा उत्सव हुआ था। मुझे याद नहीं रहा कि यह जलसा उस मनाया गया था। शायद यह उसकी मृत्यु की सातवीं शताब्दी थी।

फ़्रान्सिस के संघ की तरह, लेकिन भावना में उससे बिलकुल जुदा, संघ ईसाई-संघ के अन्दर पैदा हुआ। इसको क़ायम करनेवाला सन्त दोमिनिक था, और यह दोमिनिकल संघ कहलाता है। यह संघ उग्र था। इनके लिए ईमान क़ायम रखने के महान् कर्त्तव्य के सामने दुनिया की

थीं। अगर कोई सीधी तरह समझाने से नहीं माने तो उसे मार-मार-
जाय।

१२३३ ई० में 'इनक्विज़िशन' क़ायम करके ईसाई-संघ ने वाक़ायदा और ौर पर मज़हव में हिंसा का राज क़ायम कर दिया। यह एक क़िस्म होती थी, जो लोगों के ईमान के कट्टरपन की जाँच करती थी और अगर में वे जाँच में पूरे नहीं उतरते तो मामूली तौर पर उन्हें ज़िन्दा जला की सजा दी जाती थी। 'क़ाफ़िरों' को वाक़ायदा ढूँढ़-ढूँढ़कर पकड़ा उनमें से सैकड़ों को ज़िन्दा जला दिया गया। ज़िन्दा जलाने से भी ज़्यादा यह थी कि लोगों से प्रायश्चित्त कराने के लिए उन्हें यातनाएँ दी जाती थीं। ग़रीब अभागी औरतों पर डायनें होने का अपराध लगाया जाता था दी जाती थीं। लेकिन अक्सर यह काम, ख़ासकर इंग्लैण्ड और स्काट-सादी भीड़ करती थी; 'इनक्विज़िशन' के हुक्म से ऐसा नहीं होता था। ने एक 'फ़तवा'[1] जारी किया, जिसमें हरेक आदमी को मुख़विर वनने दिया गया। पोप ने रसायन के ख़िलाफ़ फ़तवा दे दिया और इसे शैतानी र दिया। और मज़ा यह कि ये तमाम अत्याचार और आतंक सच्चे के साथ किये जाते थे। इनका विश्वास था कि किसी आदमी को ज़िन्दा वे उसकी आत्मा को या दूसरों की आत्माओं को पापों से वचा रहे हैं! लोगों ने अक्सर अपनी वात दूसरों से ज़वर्दस्ती मनवाने की कोशिश की विचार ज़वर्दस्ती दूसरों के गले में उतारे हैं, और वे समझते रहे हैं कि सेवा कर रहे हैं। ईश्वर के नाम पर इन्होंने लोगों को मारा है और हत्याएँ और 'अमर आत्मा' को वचाने की वात करते हुए इन्होंने नाशवान शरीर को नष्ट कर देने में संकोच नहीं किया है। मज़हव का लेखा वड़ा ख़राव रहा ादी वेरहमी में 'इनक्विज़िशन' को मात करनेवाली कोई चीज़ दुनिया से नहीं हुई। और फिर भी यह अचम्भे की वात है कि ऐसी हरकतों ज़िम्मेदार लोगों में से वहुतों ने यह काम अपने निजी फ़ायदे के लिए नहीं पक्के विश्वास से किया कि वे सही चीज़ कर रहे हैं।

पोप लोग यूरोप के ऊपर आतंक का यह राज वरपा कर रहे थे तव वह ऊँची हैसियत कम होती जा रही थी जो उन्होंने वादशाहों और सरताज वनकर जमा रक्खी थी। वे दिन लद गये थे जव वे किसी सम्राट् विरादरी से छेककर और धमकी देकर उसके घुटने टिकवा देते थे। रोमन साम्राज्य की हालत ख़राव हो रही थी और कोई सम्राट् नहीं था, रोम से दूर रहता था, तव फ़्रान्स का वादशाह पोपों के कामों में दख़ल

---

[1] Edict of Faith.

देने लगा। १३०३ ई० में पोप की किसी बात से बादशाह नाराज़ हो
पोप के पास एक आदमी भेजा, जिसने पोप के महल में ज़बर्दस्ती घुसकर
के कमरे में जाकर उसके मुँह पर उसका अपमान किया। पोप के सा
के बर्ताव को किसी देश ने नापसन्द नहीं किया। ज़रा कनौज़ा में पो
के लिए सम्राट् के घण्टों बर्फ़ में नंगे पैर खड़े रहने की घटना की
तो करो!

कुछ साल बाद, १३०९ ई० में, एक नया पोप जो फ़्रान्सीसी था,
आविन्यों शहर में रहने लगा। पोप लोग यहाँ १३७७ ई० तक, फ़्रान्सीसी
के अँगूठे के नीचे रहते रहे। एक साल बाद, १३७८ ई० में, पोप का चु
वाले बड़े पादरियों के मण्डल में फूट पड़ गई। इसे 'महान् मतभेद' कहा
बड़े पादरियों के दो दलों ने अपना-अपना पोप चुन लिया। एक पोप
रहने लगा और सम्राट् और उत्तर यूरोप के ज़्यादातर देशों ने उसे मान
दूसरा, जो विरोधी-पोप कहलाने लगा, आविन्यों में रहता था, और
बादशाह और उसके कुछ मददगार उसका समर्थन करते थे। चालीस
यह हालत रही और पोप व विरोधी पोप एक-दूसरे को कोसते और
रहे। १४१७ ई० में समझौता हो गया और दोनों दलों ने मिलकर
पोप चुना जो रोम में रहता था। लेकिन दोनों पोपों के बीच के इस
का असर यूरोप के लोगों पर बहुत ज़्यादा पड़ा होगा। जब पादरी
इस संसार में अपने-आपको ईश्वर का प्रतिनिधि कहनेवाले लोग, इस
हरकतें करें, तो लोग उनकी पवित्रता और नेकनीयती में सन्देह करने
इस तरह इस झगड़े ने लोगों को मज़हबी सत्ता की अंधी फ़रमाबरदारी
निकाल फेंकने में बड़ी मदद दी। लेकिन अभी उनको इससे भी और
झटके की ज़रूरत थी।

जिन लोगों ने ज़्यादा खुले तौर पर ईसाई-संघ की आलोचना
किया उनमें वाइक्लिफ़ नामक एक अंग्रेज़ भी था। वह पादरी था और
में प्रोफ़ेसर था। यह बाइबिल का अंग्रेज़ी में सबसे पहले अनुवाद करनेवा
है। अपनी ज़िन्दगी में तो वह रोम के कोप से किसी तरह बच गया। लेकि
ई० में, मरने के ३१ वर्ष बाद, ईसाई-संघ परिषद् ने हुक्म दिया कि उसकी
खोदकर जला दी जायँ और ऐसा ही किया गया।

हालाँकि वाइक्लिफ़ की हड्डियों की बेहुरमती करके उन्हें जला दि
मगर उसके विचारों को आसानी से नहीं दबाया जा सका और वे फै
यहाँतक कि वे बोहेमिया तक, जो अब चेकोस्लोवाकिया कहलाता है,
और उनका असर जॉन हस पर हुआ, जो बाद में प्राहा (प्रेग) विश्व

हुआ। पोप ने इसे इसके विचारों की वजह से ईसाइयत से छेक दिया, के शहर में वे उनका कुछ नहीं बिगाड़ सके; क्योंकि वह बहुत लोकप्रिय ए उस पर एक चाल चली गई। सम्राट् ने हिफ़ाज़त के साथ पहुँचा देनें करके उसे स्वीज़रलैण्ड के कॉन्स्टैन्स नगर में बुलवाया, जहाँ ईसाई-संघ बैठक हो रही थी। वह वहाँ गया। उससे कहा गया कि अपनी ग़लती है, लेकिन उसने कह दिया कि जबतक उसे क़ायल न कर दिया जाय वह ऐसा नहीं कर सकता। इस पर हिफ़ाज़त के वादे के बावजूद उन्होंने उसे ला दिया। यह १४१५ ई० की बात है। हस बड़ा बहादुर आदमी था वह झूठ समझता था उसे मान लेने की बनिस्बत उसने दर्दभरी मौत समझा। वह अन्तरात्मा की आज़ादी और बोलने की आज़ादी पर शहीद। चेक लोग इसे अपना एक वीर-नायक मानते हैं और चेकोस्लोवाकिया याद आज तक मनाई जाती है।

हस का बलिदान बेकार नहीं गया। इस चिनगारी ने बोहेमिया में उसके वालों में विद्रोह की आग जला दी। पोप ने इन लोगों के खिलाफ़ ईसाई-घोषणा कर दी। जिहाद सस्ती चीज़ थी; उसमें कुछ ख़र्च नहीं होता ऐसे बदमाशों और मौक़ापरस्तों की कमी नहीं थी, जो उससे फ़ायदा । इन जिहादियों ने, जैसा कि एच० जी० वेल्स ने लिखा है, "बेगुनाह महा भयंकर अत्याचार किये।" लेकिन जब हस के अनुयायियों की फ़ौज झंडा गाती हुई सामने आई, तो ये जिहादी रफ़ू-चक्कर हो गये। जिस रास्ते थे उसी रास्ते तेज़ी से वापस चले गये। जबतक बेगुनाह देहातियों को लूटना सम्भव था, इन जिहादियों ने ख़ूब सैनिक जोश दिखाया, लेकिन सेना के आते ही वे भाग खड़े हुए।

इस तरह निरंकुश और अपने ख़ास विचारों को ही सही माननेवाले मज़हब बलवों और विद्रोहों का सिलसिला शुरू हुआ, जो आगे चलकर सारे और जिन्होंने उसे दो विरोधी दलों में बाँट दिया और जिन्होंने कर ईसाइयत के, कैथलिक और प्रोटेस्टैन्ट, दो टुकड़े कर दिये।

: ७१ :

सत्तावाद के ख़िलाफ़ लड़ाई

३० जून, १९३२

डर है कि यूरोप के मज़हबी झगड़ों के बयान तुम्हें बहुत नीरस मालूम । लेकिन ये बयान महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनसे पता चलता है कि आज वे विकास कैसे हुआ। वे हमें यूरोप को समझने में भी मदद देते हैं। मज़हबी

आज़ादी के लिए जो लड़ाई हम यूरोप में चौदहवीं सदी में और उसके हुई देखते हैं और राजनीतिक आज़ादी की लड़ाई, जो आगे आनेवाली में एक ही लड़ाई के दो पहलू हैं। इसे सत्ता या सत्तावाद के खिलाफ़ चाहिए। पवित्र रोमन साम्राज्य और पोपडम दोनों पूरी निरंकुश सत्ता थे और मनुष्य की आत्मा को कुचलने की कोशिश करते थे। सम्राट अधिकार' से बनता था और पोप उससे भी ज़्यादा था, और इसके करना या ऊपर से भेजी गई आज्ञाओं को न मानने का किसी को फ़रमाबरदारी ही बड़ा सद्‌गुण समझा जाता था। निजी विवेक तक भी पाप माना जाता था। इस तरह अन्धी फ़रमाबरदारी और आज़ झगड़े की जड़ बिलकुल ज़ाहिर हो गई थी। मज़हबी विश्वास की आज़ा और, इसके बाद राजनीतिक आज़ादी के लिए, यूरोप में कई सदियों लड़ाई लड़ी गई। बहुत-से उतार-चढ़ाव और बड़ी तकलीफ़ें उठाने के हद तक कामयाबी हासिल हुई। लेकिन ठीक उस वक़्त, जब लोग आज़ादी पर पहुँच जाने की खुशियाँ मना रहे थे, उन्हें यह पता चला कि यह उनकी आर्थिक आज़ादी के बिना, और जबतक ग़रीबी न मिटे, तबतक असली हो ही नहीं सकती। भूखे आदमी से कहना कि तुम आज़ाद हो, सिर्फ़ उसका करना है। इसलिए दूसरा क़दम आर्थिक आज़ादी की लड़ाई थी और आज सारी दुनिया में लड़ी जा रही है। सिर्फ़ एक देश के बारे में यह कहा है कि वहाँ आमतौर पर जनता ने आर्थिक आज़ादी हासिल कर ली है, देश रूस है, या यों कहो कि सोवियत संघ है।

भारत में मज़हबी विश्वास की आज़ादी के लिए ऐसी कोई लड़ाई क्योंकि मालूम होता है यहाँ शुरू से ही इस अधिकार पर कभी कोई रही। लोगों को आज़ादी थी कि जो बात उन्हें पसन्द हो उसे मानें और मजबूर नहीं किया जाता था। लोगों के दिमाग़ों पर असर डालने का और वाद-विवाद था, डण्डा और सूली नहीं। सम्भव है, कभी-कभी जब्र और भी इस्तेमाल किया गया हो, लेकिन पुराने आर्य-मत में मज़हबी विश्वास का अधिकार माना जाता था। यह बात शायद अजीब मालूम होगी नतीजा कोई बहुत अच्छा नहीं हुआ। इस तरह की ख़याली आज़ादी के में लोग उसके बारे में काफ़ी जागरूक नहीं रहे और धीरे-धीरे वे एक के मज़हब के कर्मकाण्डों, आडम्बरों और अन्ध-विश्वासों में उलझते उन्होंने एक मज़हबी विचारधारा बना ली, जो उन्हें बहुत पीछे घसीट ले जिसने उन्हें मज़हबी सत्ता का ग़ुलाम बना दिया। यह सत्ता किसी पोप की दूसरे व्यक्ति की नहीं थी, बल्कि यह सत्ता धर्मशास्त्रों, रीतियों और की थी। इस तरह जहाँ हम मज़हबी विश्वास की आज़ादी की दुहाई देते थे

कते थे, वहाँ असल में हम इस आज़ादी से बहुत दूर थे और उन विचारों हुए थे, जो पुराने ग्रन्थों ने और हमारे रीति-रिवाजों ने हमारे दिलों में जमा सत्ता और सत्तावाद हम पर राज करता था और हमारे दिमाग़ों पर लगाम था। वे ज़ंजीरें, जो कभी-कभी हमारे शरीरों को बाँध देती थीं, काफ़ी बुरी हैं, लेकिन विचारों और संस्कारों की अदृश्य ज़ंजीरें, जो हमारे दिमाग़ों देती हैं, उनसे कहीं ज़्यादा बुरी होती हैं। ये ज़ंजीरें ख़ुद हमारी ही बनाई और हालांकि अक्सर हम उन्हें महसूस नहीं करते, लेकिन वे हमें अपने शिकंजे में जकड़े रहती हैं।

रत में मुसलमानों के हमलावर की हैसियत से आने के बाद मज़हबी में ज़ोर-ज़बर्दस्ती का कुछ अंश दाख़िल हो गया। असल में तो जीतनेवालों जानेवालों के बीच लड़ाई राजनीतिक लड़ाई थी, लेकिन इसमें मज़हबी या था और कभी-कभी मज़हब के नाम पर अत्याचार भी हुए। लेकिन यह इतना भूल होगी कि इस्लाम ऐसे अत्याचारों का हामी था। १६१० ई० आख़िरी बचे अरब लोग स्पेन से निकाल दिये गए थे, तब उनके साथ निकाले स्पेनी मुसलमान के दिये हुए भाषण का दिलचस्प वर्णन मिलता है। उसने ज़न का विरोध किया था और कहा था—

क्या हमारे फ़तहमन्द पुरखों ने कभी एक दफ़ा भी ईसाइयत को स्पेन से दूर करने की कोशिश की, जबकि वे आसानी से ऐसा कर सकते थे? क्या तुम्हारे बाप-दादों को यह छूट नहीं दी थी कि बन्धन में रहते हुए भी वे अपनी रस्मों को आज़ादी से अदा करें...अगर ज़बर्दस्ती मज़हब बदलने की घटनाएँ हों भी तो वे इतनी कम हैं कि बयान के लायक़ नहीं हैं। ऐसा सिर्फ़ वे ही होंगे, जिनकी आँखों में ख़ुदा और रसूल का डर नहीं था। उन्होंने ऐसा करके इस्लाम के उन पाक उसूलों और शरीयत¹ की बिलकुल ख़िलाफ़वर्जी² की है जिन्हें, कलमा शरीफ़³ के लायक़ अपने को समझने वाला कोई भी शख़्स, बिना तौहीन⁴ किये तोड़ नहीं सकता। हम मुसलमानों में, मज़हब के मामले में मुख़्तलिफ़ अक़ीदे⁵ के बाइस⁶ एक भी ऐसी ख़ून की प्यासी अदालत नहीं बतला सकते जो तुम्हारी मलऊन⁷ इनक्विज़िशन के सामने हो। यह सही है कि जो लोग हमारा मज़हब क़बूल करना चाहते हैं, हम उनको लेने के लिए हमेशा तैयार हैं; लेकिन क़ुरान मजीद में इस बात की इजाज़त नहीं कि किसी के ज़मीर पर⁸ जुल्म किया जाय।"

---

[1] मुसलमानों का धर्मशास्त्र। [2] अवहेलना। [3] मुसलमानों का मूलमन्त्र—ला इलाह इल्लिल्लाह, मोहम्मद उर्रसूलिल्लाह। [4] अपमान। [5] विश्वासों। [6] के। [7] निन्दनीय। [8] धार्मिक विश्वास।

इस तरह मज़हबी उदारता और मज़हबी विश्वास की आज़ादी,
भारतीय जीवन के ख़ास पहलू थे, किसी हद तक हममें से खिसक
यूरोप हमारे बराबर पहुँच गया; बल्कि बहुत लड़ाई-झगड़ों के बाद इन्हीं
को क़ायम करने में वह हमसे आगे बढ़ गया। आज कभी-कभी भारत में
झगड़े होते हैं; हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ते हैं और एक-दूसरे को
यह सच है कि ऐसा कभी-कभी और कहीं-कहीं ही होता है, और हम
करके शान्ति और मेल के साथ रहते हैं, क्योंकि हमारे असली हित
किसी हिन्दू या मुसलमान का, मज़हब के नाम पर, अपने भाई से
बात है। हमें इसे ख़त्म कर देना चाहिए, और हम ऐसा ज़रूर करेंगे।
की बात तो यह है कि हमें रीति, परम्परा और अन्ध-विश्वास की उस
धारा से बाहर निकलना है, जिसने मज़हब के भेस में हमें ज़ंजीरों से
है।

मज़हबी उदारता की तरह राजनीतिक आज़ादी के मामले में
ने पहले काफ़ी अच्छी शुरुआत की थी। तुम्हें ग्राम गणराज्यों की याद
यह भी याद होगा कि शुरू में राजा के अधिकार किस तरह सीमित
थे। यूरोप की तरह यहाँ यह नहीं माना जाता था कि राजा का कोई
कार है। चूंकि हमारी सारी शासन-व्यवस्था का आधार गाँवों की
इसलिए लोग इस बात से बेपरवाह थे कि राजा कौन है। अगर उनकी
आज़ादी उनके लिए क़ायम रहती थी तो उनको इससे क्या वास्ता था कि
हाक़िम है? लेकिन यह विचार ख़तरनाक और बेवक़ूफ़ी का था। धीरे-
के हाक़िम ने अपने अधिकार बढ़ा लिये और गाँव की आज़ादी पर
जमाया। फिर एक ज़माना आया कि इस देश में बिलकुल निरंकुश और
राजा होने लगे; गाँवों का स्वराज्य मिट गया और ऊपर से नीचे तक
आज़ादी का नामो-निशान नहीं रहा।

: ७२ :

मध्य-युग का अन्त

१ जुलाई

आओ, अब तेरहवीं से पन्द्रहवीं सदी तक के यूरोप पर फिर
यहाँ ज़बर्दस्त गड़बड़, हिंसा और लड़ाई-झगड़े दिखाई देंगे। भारत
भी काफ़ी ख़राब थी, लेकिन अगर विचार किया जाय तो यूरोप के
यहाँ शान्ति थी।

मंगोल लोग यूरोप में बारूद लाये और अब तोप-बन्दूकों का

ा बादशाहों ने इससे फ़ायदा उठाकर अपने बाग़ी सामन्ती अमीर-सरदारों ना शुरू किया। इस काम में उन्हें शहरों के नये व्यापारी वर्ग की भी मदद अमीर-सरदारों की यह आदत थी कि वे ख़ुद आपस में ही छोटी-छोटी ड़ाइयाँ लड़ा करते थे। इसकी वजह से वे कमज़ोर पड़ गये। लेकिन इससे ों को भी परेशानी रहती थी। जब बादशाहों की ताक़त बढ़ी तो उन्होंने सी लड़ाई को दबा दिया। कुछ जगहों पर गद्दी के दो विरोधी दावेदारों गृह-युद्ध हुए। जैसे इंग्लैण्ड में दो ख़ानदानों में झगड़ा हुआ—एक तरफ़ घराना, और दूसरी तरफ़ लैन्केस्टर का घराना। इन दोनों दलों ने गुलाब दल-चिह्न बनाया। एक ने सफ़ेद गुलाब को और दूसरे ने लाल गुलाब को। ों को इसीलिए 'गुलाबों के युद्ध'[1] कहा जाता है। इन गृह-युद्धों में बड़ी सामन्ती अमीर-सरदार मारे गए। क्रूसेडों में भी बहुत-से काम आये थे। धीरे-धीरे ये सामन्ती सरदार क़ब्ज़े में आ गये। लेकिन इसका मतलब था कि अधिकार अमीर-सरदारों के हाथ से निकलकर जनता के हाथ में । असल में शक्ति बादशाह की बढ़ी, आम लोग तो जैसे-के-तैसे ही रहे, के कि ख़ानगी लड़ाइयों के कम हो जाने से इनकी हालत कुछ बेहतर गई। पर बादशाह और भी ज़्यादा सत्ताधारी, निरंकुश और एकाधिपति ा। बादशाह और नये व्यापारी वर्ग का संघर्ष अभी शुरू नहीं हुआ था।

द्ध और हत्याकाण्ड से भी ज़्यादा भयंकर वह 'बड़ी प्लेग' थी, जो यूरोप ४८ ई० के क़रीब फैली। यह महामारी सारे यूरोप में, रूस और एशिया-से लेकर इंग्लैण्ड तक, फैल गई। फिर यह मिस्र, उत्तरी अफ़्रीका और मध्य में पहुँची और वहाँ से पश्चिम की तरफ़ फैली। इसको 'काली मौत' भी कहते लाखों को खा गई। इंग्लैण्ड की एक-तिहाई आबादी ख़त्म हो गई और दूसरे देशों की मृत्यु-संख्या का तो कुछ ठिकाना ही नहीं था। ताज्जुब की है कि यह भारत में नहीं आई।

इस भयानक आफ़त की वजह से आबादी बहुत घट गई, और बहुत जगह तो रने के लिए काफ़ी आदमी ही नहीं रहे। आदमियों की कमी की वजह से ों की मजूरी की दरें बढ़ने लगीं। लेकिन संसदें जमींदारों और जायदाद कों के हाथों में थीं। इन लोगों ने ऐसे क़ानून बनाये कि जिससे लोग पुरानी मजूरी पर काम करने और ज़्यादा न माँगने के लिए मजबूर किये जा सकें। जब और ग़रीब बर्दाश्त की हद से ज़्यादा कुचले और निचोड़ गये तब उन्होंने कर दिया। सारे पश्चिमी यूरोप में किसानों के ये विद्रोह एक के होते रहे। फ़्रान्स में १३५८ ई० में किसानों का एक विद्रोह हुआ, जो

---

[1] The Wars of the Roses.

'जहाकरी' के नाम से मशहूर है। इंग्लैण्ड में वाट टाइलर का बलवा हु टाइलर, १३८१ ई० में, अंग्रेज बादशाह के सामने मार डाला गया। अक्सर बड़ी बेरहमी के साथ दबा दिये गए। लेकिन बराबरी के नये सि धीरे फैल रहे थे। लोगों के दिलों में सवाल पैदा होने लगे कि जब दूसरों के है और हर चीज की बहुतायत है, तो वे ही ग़रीब क्यों रहें और भूखे क्यों वजह है कि कुछ लोग तो सरदार कहलायें और दूसरे ग़ुलाम असामी हों पास बढ़िया कपड़े क्यों हों, जबकि दूसरों के पास तन ढकने के लिए चिथ नहीं हैं? सत्ता के आगे सिर झुकाने का पुराना ख़याल, जिसपर सारी प्रथा की बुनियाद थी, ढह रहा था। इसलिए किसान लोग बार-बार वि थें। लेकिन वे कमज़ोर और बिखरे हुए थे, इसलिए दबा दिये जाते थे। समय बाद वे फिर उठ खड़े होते थे।

इंग्लैण्ड और फ़्रान्स के बीच क़रीब-क़रीब लगातार युद्ध चलते रहे। सदी के शुरू से पन्द्रहवीं सदी के मध्य तक, इन दोनों में युद्ध होता रहा, का युद्ध' कहलाता है। फ़्रान्स के पूर्व में बरगण्डी था। यह एक शक्तिशाली थी और नाम के लिए फ़्रान्स के बादशाह की ताबेदार थी। लेकिन यह और झगड़ालू रियासत थी और अंग्रेज़ों ने, फ़्रान्स के ख़िलाफ़, इससे शक्तियों से साज़िश-सी कर ली थी। थोड़े दिनों के लिए फ़्रान्स चारों ओर गया था। पश्चिमी फ़्रान्स का काफ़ी बड़ा हिस्सा बहुत दिनों तक अंग्रेज़ों में रहा और इंग्लैण्ड का बादशाह अपने को फ़्रान्स का बादशाह भी कहने जिस समय फ़्रान्स के भाग्य का सितारा बहुत नीचे गिर गया था और कोई उम्मीद नहीं दिखाई देती थी, तब आशा और विजय एक नौजवान लड़की के रूप में प्रकट हुई। तुम 'ओर्लियों' की कुमारी' जीन द आर्क या आर्क के बारे में तो थोड़ा-बहुत जानती ही हो। उसे तुमने अपनी आदर्श वीर मान रक्खा है। उसने अपने पस्त-हिम्मत देशवासियों के दिलों में भरोसा और उन्हें बड़ा भारी उद्योग करने की प्रेरणा दी और उसके नेतृत्व में ने अंग्रेज़ों को अपने देश से मार भगाया। लेकिन इसका इनाम उसे यह इनक्विज़िशन के सामने उसपर मुक़दमा चला और उसे जिन्दा जला दी सज़ा दी गई। अंग्रेज़ों ने उसे पकड़ लिया और ईसाई-संघ से उसके खिला निकलवाया और फिर १४३० ई० में रूआँ नगर के चौराहे पर उसे जि दिया गया। बहुत वर्षों के बाद रोमन ईसाई-संघ ने अपने फ़तवे को पहले अपकार को मिटाने की कोशिश की; और बाद में तो फिर उसे दर्जा दे दिया गया!

जीन ने फ़्रान्स की और अपनी पितृभूमि को विदेशियों से बचाने के

ह आवाज़ नये ढंग की थी। उस वक़्त लोगों में सामन्ती भावना इतनी भरी कि वे राष्ट्रीयता का विचार ही नहीं कर सकते थे। इसलिए जीन जिस ढंग करती थी, उससे उन्हें ताज्जुब होता था और उसकी बातें कोई समझता ही । लेकिन जीन द आर्क के ज़माने से फ़्रान्स में राष्ट्रीयता की हलकी-सी शुरु- ाई देती है।

ग्रेज़ों को अपने मुल्क़ से निकालने के बाद फ़्रान्स के बादशाह ने बरगण्डी ध्यान दिया, जिसने उसे इतना परेशान कर रक्खा था। यह शक्तिशाली आख़िरकार क़ाबू में आ गई और १४८३ ई० में बरगण्डी फ़्रान्स का बन गया। फ़्रान्स का बादशाह अब एक शक्तिशाली छत्रपति बन गया। उसने सारे सामन्ती अमीर-सरदारों को या तो कुचल दिया या क़ाबू में कर बरगण्डी के फ़्रान्स में मिल जाने से जर्मनी और फ़्रान्स आमने-सामने आ गये; सरहदें एक-दूसरी को छूने लगीं। लेकिन जहाँ फ़्रान्स में एक मज़बूत केन्द्रीय था, वहाँ जर्मनी कमज़ोर था और बहुत-सी रियासतों में बँटा हुआ था।

इंग्लैण्ड भी स्काटलैण्ड को जीतने की कोशिश कर रहा था। यह भी एक संघर्ष रहा है जिसमें स्कॉटलैण्ड अक्सर इंग्लैण्ड के ख़िलाफ़ फ़्रान्स का पक्ष ता। १३१४ ई० में स्काटलैण्डवालों ने रॉबर्ट ब्रूस के नेतृत्व में, बैनकबर्न ई में अंग्रेज़ों को हरा दिया।

इससे भी पहले, बारहवीं सदी में, अंग्रेज़ों ने आयरलैण्ड को जीतने की कोशिशें कीं। इस बात को सात सौ वर्ष हो गये, तबसे अब तक आयरलैण्ड में कितनी हुईं, कितने ही विद्रोह हुए और कितना आतंक और तहलका मचा। इस देश ने विदेशी प्रभुत्व को मानने से बराबर इन्कार किया और पीढ़ी-दर- द्रोह करके दुनिया के सामने ऐलान कर दिया कि वह सिर नहीं झुकायेगा।

तेरहवीं सदी में यूरोप के एक और छोटे-से राष्ट्र स्वीज़रलैण्ड ने अपनी आज़ादी का दावा किया। यह पवित्र रोमन साम्राज्य का हिस्सा था और इसपर का शासन था। तुमने विलियम टेल और उसके पुत्र का क़िस्सा पढ़ा होगा, यह क़िस्सा शायद सही नहीं है। पर इससे भी ज़्यादा अजीब चीज़ है बड़े के ख़िलाफ़ स्वीज़रलैण्ड के किसानों का विद्रोह और उनका उसके सामने झुकने से इन्कार। पहले तीन ज़िलों ने बलवा किया और १२९१ ई० में एक संघ क़ायम किया। दूसरे ज़िले भी उसमें शामिल हो गये और १४९९ स्वीज़रलैण्ड आज़ाद गणराज्य हो गया। यह कई ज़िलों का एक संघ था और स कॉन्फ़ेडेरेशन' नाम दिया गया। तुम्हें याद होगा कि अगस्त की पहली को स्वीज़रलैण्ड में हम लोगों ने कई एक पहाड़ों की चोटियों पर होलियाँ हुई देखी थीं। यह स्विस लोगों का राष्ट्रीय दिवस था; यह उनकी क्रान्ति

के उस जन्म-दिन की सालगिरह थी जिस दिन अलाव जलाकर इशार था कि आस्ट्रिया के शासक के ख़िलाफ़ बग़ावत की घड़ी आ गई है।

यूरोप के पूर्व में क़ुंस्तुन्तुनिया में क्या हो रहा था? तुम्हें याद लातीनी जिहादियों ने १२०४ ई० में यूनानियों से यह शहर छीन लिया ई० में यूनानियों ने इन लोगों को निकाल दिया और पूर्वी साम्राज्य फिर कर लिया। लेकिन एक दूसरा और ज्यादा बड़ा खतरा सामने आ रहा

जब-मंगोल एशिया में होते हुए आगे बढ़े थे तब पचास हज़ार तुर्क उनसे जान बचाकर भाग निकले थे। ये सेलजूक तुर्क नहीं थे। वे या राजवंश के संस्थापक, उस्मान के वंशज होने का दावा करते थे, इसलि तुर्क कहलाते थे। इन उस्मानियों ने पश्चिमी एशिया में सेलजूकों की जान पड़ता है कि ज्यों-ज्यों सेलजूक तुर्क कमज़ोर पड़ते गये, उस्मानियों बढ़ती गई। वे फैलते भी चले गए। क़ुंस्तुन्तुनिया पर हमला करने के बजा उनके पहले बहुतों ने किया था, वे उसे रास्ते में छोड़ गये और १३५३ ई० को पार करके यूरोप जा पहुँचे। वहाँ वे तेज़ी से फैल गये। उन्होंने और सर्बिया पर क़ब्ज़ा कर लिया और एड्रियानोप्ल को अपनी राजधानी इस तरह से उस्मानी साम्राज्य क़ुस्तुन्तुनिया के दोनों तरफ़, एशिया और फैल गया। इसने क़ुंस्तुन्तुनिया को चारों तरफ़ से घेर लिया मगर शहर इसके बाहर ही रहा। हज़ार वर्ष पुराना घमण्डी पूर्वी रोमन-साम्रा घटते, बस अब इस शहर तक ही रह गया था। इससे ज्यादा कुछ नहीं। तुर्क पूर्वी साम्राज्य को तेज़ी के साथ हड़प करते जा रहे थे, फिर भी सुलतानों और सम्राटों में मित्रता बनी हुई थी और इन दोनों के आपसी शादी-विवाह भी होते रहते थे। आख़िरकार १४५३ ई० में पर भी तुर्कों का क़ब्ज़ा हो गया। अब हम सिर्फ़ उस्मानी तुर्कों का सेलजूकों का नाम अब बाक़ी नहीं रहा था।

हालाँकि क़ुंस्तुन्तुनिया के पतन की आशंका बहुत दिनों से की फिर भी यह ऐसी घटना थी, जिसने यूरोप को हिला दिया, क्योंकि इस यह था कि हज़ार वर्ष पुराना यूनानी पूर्वी साम्राज्य पूरी तरह ख़त्म इसका मतलब यह भी था कि यूरोप पर मुसलमानों का दूसरा हमला फैलते चले गये और कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता था कि वे की जीत लेंगे, लेकिन वे वियेना के दरवाज़ों पर रोक दिये गए।

सेण्ट सोफ़िया का बड़ा गिरजा, जिसे छठी सदी में सम्राट् बनवाया था, बदलकर मसजिद बना दिया गया और उसका नाम रख दिया गया। उसका खज़ाना भी कुछ लूटा गया। इसकी वजह

ंजना भी फैली लेकिन वह कुछ कर-धर नहीं सकता था। मगर सच तो कि तुर्की सुलतान कट्टर यूनानी ईसाई-संघ की तरफ़ बहुत उदार रहे, यहाँ कुंस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने के बाद सुलतान मोहम्मद द्वितीय ने अपने नी ईसाई-संघ का सरपरस्त ही ऐलान कर दिया। बाद के एक सुलतान शानदार सुलेमान' के नाम से मशहूर है, अपने को पूर्वी सम्राटों का प्रतिनिधि 'सीज़र' का ख़िताब धारण कर लिया। प्राचीन परम्परा की यही शक्ति है!

ान पड़ता है कि उस्मानी तुर्कों का क़ुंस्तुन्तुनिया के यूनानियों ने कोई ज़्यादा न नहीं किया। उन्होंने देख लिया था कि पुराना साम्राज्य ढह रहा है। उन्होंने और पश्चिमी ईसाइयों से तुर्कों को बेहतर समझा। लातीनी जिहादियों का ड़ा तजुर्बा हो चुका था। कहते है कि १४५३ ई० के क़ुंस्तुन्तुनिया के आखिरी क विज़ैन्तीन अमीर ने कहा था कि, "पोप के ताज से रसूल की पगड़ी अच्छी

ुर्कों ने जाँनिसार नाम की एक निराली फ़ौज बनाई। वे छोटे-छोटे ईसाई ो, ईसाइयों से ख़िराज के रूप में ले लेते थे और उनको ख़ास तालीम देते ोटे-छोटे बच्चों को उनके माँ-बाप से अलग कर देना बेरहमी थी। लेकिन ों को इससे कुछ फ़ायदा भी होता था, क्योंकि उन्हें अच्छी तालीम दी ी और वे एक तरह के सैनिक रईस बन जाते थे। जाँनिसारियों की यह स्मानी सुलतानों की शक्ति का एक आधार बन गई। 'जाँनिसार' का मतलब न निछावर करनेवाला।"

सी तरह, मिस्र में भी जाँनिसारियों के ढंग की ममलूकों की फौज बनाई ाद में यह बहुत शक्तिशाली हो गई और इसमें से कोई लोग मिस्र के सुलतान ए।

ालूम होता है कि उस्मानी सुलतानों ने क़ुंस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने के ने से पहले के विज़ैन्तीन सम्राटों की विलास और भ्रष्टाचार की बहुत-सी ादतें भी विरासत में ले लीं। विज़ैन्तीनों की सारी गिरी हुई साम्राज्यशाही ो निगल लिया और धीरे-धीरे उनकी सारी ताक़त निचोड़ ली। लेकिन ों तक ये मज़बूत बने रहे और ईसाई यूरोप इनसे डरता रहा। इन्होंने ीत लिया और अब्बासियों के कमज़ोर और शक्तिहीन प्रतिनिधि से उसका ा का ख़िताब छीन लिया। उस वक़्त से उस्मानी सुलतान अपने को ख़लीफ़ा ते रहे, लेकिन कुछ वर्ष हुए मुस्तफ़ा कमाल पाशा ने ख़िलाफ़त और सुलतानियत ो मिटाकर इस ख़िताब का अन्त कर दिया।

कुंस्तुन्तुनिया के पतन की तारीख़ इतिहास की एक बड़ी तारीख़ है। इस दिन

से एक युग का अन्त और दूसरे की शुरुआत मानी जाती है। मध्य-युग ख हैं, 'अन्धकार युग' के हज़ार वर्ष समाप्त होते हैं, यूरोप में तेज़ी पैदा हो नई ज़िन्दगी व चेतना नज़र आती है। इसे रिनेसाँ,[1] यानी विद्या और पुनर्जन्म की शुरुआत कहते हैं। जनता मानो लम्बी नींद से जागती है। लो पार प्राचीन यूनान की तरफ़ फिर कर नज़र डालते हैं, जबकि उसकी शा थे, और उससे प्रेरणा हासिल करते हैं। जीवन के उस निराशा और नज़रिये के ख़िलाफ़ जिसपर ईसाई-संघ ज़ोर देता था, और इन्सानी को जोड़नेवाली ज़ंजीरों के ख़िलाफ़, लोगों के दिमाग़ में विद्रोह-सा उठ है। पुराने यूनानियों का सौन्दर्य-प्रेम फिर प्रकट होता है और यूरोप और मूर्त्तिकला की सुन्दर रचनाओं से खिल उठता है।

लेकिन क़ुस्तुन्तुनिया के पतन से ही ये सब बातें एकदम नहीं पैदा हु ऐसा ख़याल करना बेहूदगी होगी। तुर्कों के इस शहर पर क़ब्ज़ा कर लेने से की गति में ज़रा-सी तेज़ी आ गई, क्योंकि वहुत - से विद्वान् और वि लोग इसे छोड़कर पश्चिम चले गये। वे अपने साथ इटली में यूनानी ख़ज़ाना ठीक उस वक़्त लेकर आये जबकि पश्चिम उसकी क़द्र करने के लि बैठा था। इस अर्थ में कह सकते हैं कि क़ुस्तुन्तुनिया के पतन से रिनेसाँ को में थोड़ी-सी मदद मिल गई।

लेकिन इस महान् परिवर्तन का यह बहुत छोटा कारण था। पुरा साहित्य और विचार मध्य-काल के इटली या पश्चिम के लिए कोई नई चीं थे। विश्वविद्यालयों में लोग अब भी इसका अध्ययन करते थे और वि इसकी जानकारी थी। लेकिन यह चीज़ कुछ गिने-चुने आदमियों तक ही थी, और चूंकि यह जीवन के चालू नज़रिये से मेल नहीं खाती थी, इसलि फैलाव नहीं हो पाता था। लोगों के मन में शंका की शुरुआत होने से जीवन के नये नज़रिये की ज़मीन तैयार हुई। लोग ज़माने की हालत से और ऐसी चीज़ की तलाश में थे, जो उन्हें ज़्यादा तसल्ली दे सके। जब वे इन्तज़ारी की इस हालत में थे तो उनके दिमाग़ों ने यूनान की पुरानी फ़िलासफ़ी खोज निकाली और उसके साहित्य का रस छककर उ जान पड़ा कि उनको बस इसी चीज़ की तलाश थी और इस खोज ने उ भर दिया।

यह रिनेसाँ सबसे पहले इटली में शुरू हुआ। बाद में फ़ान्स, इंग्लैंड प्रकट हुआ। यह सिर्फ़ यूनानी विचार और साहित्य की दुबारा खोज यह इससे कहीं ज़्यादा बड़ी और महान् चीज़ थी। यूरोप में सतह के नीचे

---

[1] रिनेसाँ (Renaissance)—कला और साहित्य के पुनरुत्थान

तों से जो प्रक्रिया चल रही थी उसीका यह ज़ाहिरा रूप था। यह भीतरी बहुत-से रूपों में फूटकर निकलनेवाली थी। रिनेसाँ इन्हीं रूपों में से एक

: ७३ :

समुद्री रास्तों की खोज

३ जुलाई, १९३२

ब हम यूरोप में उस मंज़िल तक पहुँच गये हैं जब मध्यकालीन संसार ड़े होना शुरू होता है और उसकी जगह एक नई व्यवस्था ले लेती है। लोग त की हालत से बेज़ार और नाखुश थे और इस भावना ने ही परिवर्तन और को पैदा किया। सामन्ती प्रथा और मज़हबी तौर-तरीक़े जिन वर्गों को ते थे, वे सभी बेज़ार थे। हमने देखा है कि किसानों के विद्रोह होने लगे थे। किसान बहुत पिछड़े हुए और कमज़ोर थे और विद्रोह करने पर भी कुछ न कर सके। उनके दिन अभी तक नहीं आये थे। असली संघर्ष पुराने सामन्त-रवाले हुए नये मध्यम-वर्ग में था, जिसकी ताक़त बढ़ रही थी। सामन्त-प्रथा का यह था कि धन की बुनियाद ज़मीन है, या ज़मीन ही धन है। लेकिन अब किस्म का धन इकट्ठा हो रहा था, जो ज़मीन से पैदा नही होता था। यह धंधों से और व्यापार से आता था और नया मध्यम-वर्ग यानी बुर्जुआ फ़ायदा उठाता था और इसीकी वजह से उसकी ताक़त बढ़ी थी। यह ले दिनों का हो चुका था। अब हम यह देखते हैं कि इन दोनों दलों की अदला-बदली हो गई थी। हालाँकि सामन्त-प्रथा अभी तक जारी थी, उसे अब अपने बचाव की चिन्ता थी और मध्यम-वर्ग अपनी ताक़त के हमलावर हो रहा था। यह संघर्ष सैकड़ों वर्षों तक जारी रहा और बुर्जुआ दिन-दिन जीत होती गई। यूरोप के अलग-अलग देशों में इस संघर्ष की सूरत रही है। पूर्वी यूरोप में यह संघर्ष नहीं के बराबर था। पश्चिम में वर्ग सबसे पहले आगे आया।

पुरानी बन्दिशों के टूट जाने की वजह से कई दिशाओं में—जैसे विज्ञान में, साहित्य में और शिल्पकारी में, तरक़्क़ी हुई और नई-नई खोजें भी हुईं। की भावना-शक्ति अपने बन्धनों को तोड़ डालती है, तो हमेशा यही होता विकास करती है और फैल जाती है। इसी तरह, जब हमारा देश आज़ाद हमारे देशवासियों का और हमारी प्रतिभा का विकास होकर सब तरफ़ होगा।

ज्यों-ज्यों ईसाई-संघ का क़ब्ज़ा ढीला पड़ा और वह कमज़ोर हुआ, लोग

समुद्री रास्तों की खोज

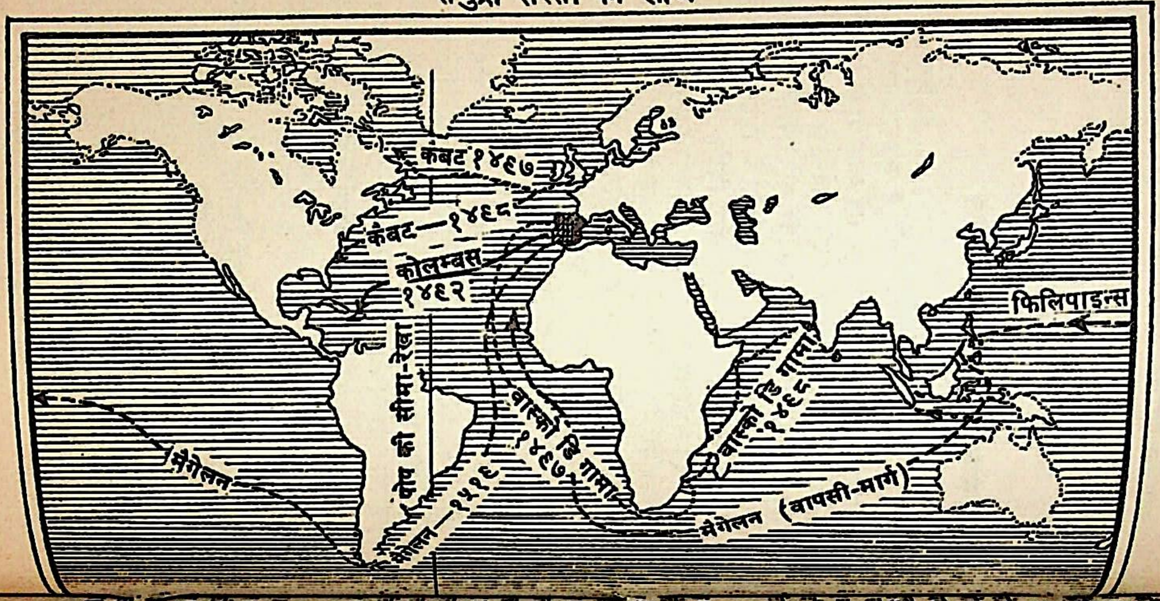
कैबट १४९७
कैबट—१४९८
कोलम्बस १४९२
पोप की सीमा-रेखा
वास्को डि गामा १४९७
वास्को डि गामा १४९८
मैगेलन—१५१९
मैगेलन
मैगेलन (वापसी-मार्ग)
फिलिपाइन्स

और छोटे गिरजों पर कम खर्च करने लगे। बहुत जगहों पर सुन्दर इमारतें लेकिन ये टाउनहॉल या इसी क़िस्म की दूसरी इमारतें थीं। गोथिक शैली रह गई और एक नई शैली का विकास होने लगा।

ठीक इसी वक़्त, जब पश्चिमी यूरोप में नई ज़िन्दगी भर रही थी, पूर्व लोगों को लुभाने लगा। मार्को पोलो और दूसरे यात्रियों की कहानियों भारत और चीन में सफ़र कर चुके थे, यूरोप की कल्पना को उभाड़ा और पूर्व दौलत के इस ज़ोर ने बहुतों को समुद्र-यात्रा की ओर खींचा। इसी वक़्त निया का पतन हुआ। तुर्कों ने पूर्व जाने के ख़ुश्की और समुद्री रास्तों पर क़ब्ज़ा था और वे व्यापार को ज़्यादा बढ़ावा नहीं देते थे। बड़े-बड़े सौदागर पारी इससे खीझ उठे और साहसिकों की नई जमात भी, जो पूर्व के सोने लगाये बैठी थी, झल्ला गई। इसलिए इन लोगों ने सुनहरे पूर्व तक पहुँचने नये रास्ते खोज निकालने की कोशिश की।

स्कूल का हरेक बच्चा जानता है कि ज़मीन गोल है और सूर्य के चारों घूमती है। हम लोगों के लिए यह बिलकुल स्पष्ट बात है। लेकिन पुराने में यह इतनी ज़ाहिर नहीं थी और जो लोग ऐसा सोचने या कहने का साहस थे, उन्हें ईसाई-संघ की नाराज़गी का सामना करना पड़ता था। लेकिन संघ का डर होते हुए भी दिन-पर-दिन और ज़्यादा लोग मानने लगे कि गोल है। अगर गोल है तो पश्चिम की ओर जाने से भी चीन और भारत मुमकिन होना चाहिए, ऐसा कुछ लोग सोचते थे। कुछ अफ़्रीका का चक्कर भारत पहुँचने की सोचते थे। याद रहे कि उस वक़्त स्वेज़ नहर नहीं थी जहाज़ भूमध्यसागर से लालसागर नहीं जा सकते थे। भूमध्यसागर और सागर के बीच माल और सौदागरी सामान ख़ुश्की के रास्ते से, शायद ऊँटों कर, भेजे जाते थे, और दूसरी तरफ़ के जहाज़ों पर लादे जाते थे। यह ढंग का नहीं था। मिस्र और सीरिया पर तुर्कों का क़ब्ज़ा हो जाने से यह रास्ता मुश्किल हो गया।

लेकिन भारत की दौलत का लोभ लोगों को बराबर उकसाता और खींचता खोज करने के लिए समुद्र-यात्रा में स्पेन और पुर्तगाल सबसे पहले आगे बढ़े। वक़्त ग्रैनेडा से मूरों को सदा के लिए निकालने में लग रहा था। अरगॉन नेण्ड और कैस्ताइल की आइज़ावेला के विवाह से ईसाई स्पेन एक हो गया था १४९२ ई० में ग्रैनेडा अरबों के हाथ से जाता रहा। यह उस वक़्त की बात यूरोप की दूसरी तरफ़, तुर्कों को क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा किये हुए क़रीब वर्ष हो चुके थे। स्पेन फ़ौरन ही यूरोप की एक बड़ी ईसाई शक्ति बन

पुर्तगालियों ने पूर्व की तरफ़ जाने की कोशिश की; स्पेनियों ने की तरफ़। १४४५ ई० में पुर्तगालियों ने वर्दे का अन्तरीप खोज निकाला। पहली बड़ी मंज़िल कहना चाहिए। यह अन्तरीप अफ़्रीका का आख़िरी छोर है। अफ़्रीका के नक़शे को देखो। तुम्हें मालूम होगा कि अगर कोई जहाज़ के ज़रिये इस अन्तरीप को जाना चाहे तो उसे दक्षिण-पश्चिम वर्दे अन्तरीप पहुँचकर फिर उसे घूमकर दक्षिण-पूर्व जाना होता है। इस की खोज आशा की बड़ी किरन थी, क्योंकि इससे लोगों को विश्वास हो अब वे अफ़्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुँच सकेंगे।

फिर भी अभी अफ़्रीका का चक्कर काटने में चालीस वर्ष की देर थी। ई० में बार्थोलोम्यू दायज़ ने, जो पुर्तगाली था, अफ़्रीका की दक्षिणी नोक का लगाया। यही नोक उत्तमाशा अन्तरीप[1] कहलाती है। कुछ ही वर्षों के दूसरा पुर्तगाली वास्को-द-गामा, इस खोज से फ़ायदा उठाकर, उत्तमाशा होता हुआ भारत आया। वास्को-द-गामा १४९७ ई० में मलाबार के कलीकट आ पहुँचा।

इस तरह भारत पहुँचने की दौड़ में पुर्तगालियों की जीत हुई। बीच दुनिया की दूसरी तरफ़ बड़ी-बड़ी घटनाएँ हो रही थीं और स्पेन को फ़ायदा पहुँचनेवाला था। क्रिस्तोफ़र कोलम्बस १४९२ ई० में अमेरिका को में जा पहुँचा। कोलम्बस जिनोआ का रहनेवाला एक ग़रीब आदमी था। इस पर कि दुनिया गोल है, यह पश्चिम की ओर जहाज़ ले जाकर जापान और पहुँचना चाहता था। उसे यह ख़याल नहीं हुआ कि यह सफ़र उसके इतना ज़्यादा लम्बा हो जायगा। वह एक राज-दरबार से दूसरे इस कोशिश में फिरा कि कोई राजा उसे इस खोज की समुद्र-यात्रा के दे दे। आख़िरकार स्पेन के फ़र्डिनेण्ड और आइज़ाबेला मदद देने को तैयार और कोलम्बस अठ्ठासी आदमियों और तीन छोटे जहाज़ों को लेकर अनजानी दिशा में यह समुद्र-यात्रा असल में वीरता और साहस की क्योंकि कोई यह नहीं जानता था कि आगे क्या है। लेकिन कोलम्बस के विश्वास था और वह विश्वास सही साबित हुआ। उनसठ दिन की के बाद वे किनारे लगे। कोलम्बस ने समझा कि यही भारत है। लेकिन वेस्ट-इण्डीज़ का एक टापू था। कोलम्बस कभी अमेरिका के महाद्वीप में और मरते वक़्त तक उसका विश्वास रहा कि वह एशिया पहुँच गया। अजीब ग़लती आज तक क़ायम है। इन टापुओं को आज तक वेस्ट-इण्डीज़

---

[1] Cape of Good Hope.

अमेरिका के आदिम निवासियों को अब भी इण्डियन या 'रैंड इण्डियन' हैं।

कोलम्बस यूरोप वापस आया और दूसरे साल और ज्यादा जहाज़ों को र निकल पड़ा। लोगों ने समझा कि भारत का नया रास्ता मालूम हो गया। रोप में काफ़ी हलचल मच गई। इसके कुछ दिन बाद ही वास्को-द-गामा त्रा की जल्दी की और वह कलीकट पहुँचा। पूर्व और पश्चिम में नये देशों ज की खबर से यूरोप की बेक़रारी बढ़ने लगी। इन नये देशों पर हुकूमत की इच्छा रखनेवाले दो प्रतिद्वन्द्वी पुर्तगाल और स्पेन थे। इस मौक़े पर स्तन्दाज़ी की और स्पेनियों व पुर्तगालियों के बीच टक्कर को रोकने के लिए सरों के बिरते पर उदारता दिखाने का निश्चय किया। १४९३ ई० में क 'बुल' (पोप की घोषणाओं और फ़तवों को किसी कारण 'बुल' कहते हैं) जो 'हदबन्दी का बुल' कहलाता है। उसने अज़ोर्स के पश्चिम १०० लीग¹ ले पर उत्तर से दक्षिण तक एक फ़र्ज़ी लकीर खींच दी और यह ऐलान कर इस लकीर के पूर्व जितना ग़ैर-ईसाई मुल्क है, वह पुर्तगाल ले ले और इसके के मुल्क स्पेन ले ले। यूरोप को छोड़कर क़रीब-क़रीब सारी दुनिया का दार तोहफ़ा था और इसे देने में पोप को कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ा। अतलान्तिक महासागर के टापू हैं, और उनके पश्चिम में १०० लीग यानी ल के फ़ासले पर रेखा खींचने से सारा उत्तर अमेरिका और दक्षिण अमे- ज्यादातर हिस्सा पश्चिम में पड़ जाता है। इस तरह से पोप ने दर असल महाद्वीप स्पेन की नज़र कर दिया और भारत, चीन, जापान और दूसरे और सारा अफ़्रीका पुर्तगाल की भेंट कर दिये।

र्तगालियों ने इस बड़ी सल्तनत पर क़ब्ज़ा करना शुरू किया। यह कोई काम नहीं था। लेकिन वे कुछ आगे बढ़े और पूर्व की तरफ़ बढ़ते गये। ई० में वे गोवा पहुँचे। १५११ ई० में मलाया प्रायद्वीप में मलक्का पहुँचे। द ही जावा और १५७६ ई० में चीन पहुँच गये। इसका मतलब यह नहीं देशों पर उन्होंने क़ब्ज़ा कर लिया। कुछ जगहों पर उन्हें सिर्फ़ पाँव रखने मिल गई। किसी अगले पत्र में हम पूर्व में इन लोगों की कारगुज़ारियों की रेंगे।

र्व की ओर जानेवाले पुर्तगालियों में फ़र्डिनेण्ड मैगेलन नाम का एक आदमी अपने पुर्तगाली मालिकों से लड़ पड़ा और यूरोप वापस जाकर स्पेन की गया। उत्तमाशा अन्तरीप से होकर पूर्वी रास्ते से यह भारत और पूर्वी जा चुका था। अब वह पश्चिमी रास्ते से अमेरिका होकर इन देशों को

---

¹लीग—क़रीब तीन मील के बराबर होता है।

जाना चाहता था। शायद उसको यह मालूम था कि जिस मुल्क़ का पता ने लगाया था वह एशिया नहीं था। वास्तव में १५७३ ई० में वल्बो एक स्पेनी मध्य अमेरिका में पनामा के पहाड़ों को लाँघ कर प्रशान्त पहुँच गया था। उसने इस समुद्र को दक्षिण समुद्र नाम दिया और इस पर खड़े होकर उसने दावा किया कि यह नया समुद्र और इसके किनारों देश उसके स्वामी स्पेन के बादशाह की मिल्क़ियत हैं।

१५१९ ई० में मैंगेलन अपनी पश्चिमी समुद्र-यात्रा पर रवा यह यात्रा उसकी सबसे बड़ी यात्रा साबित होनेवाली थी। उसके साथ पं और २७० आदमी थे। वह अतलान्तिक महासागर पार करके दक्षिण पहुँचा और वहाँ से दक्षिण की तरफ़ सफ़र करते-करते वह आखिर में इस के छोर तक पहुँच गया। उसका एक जहाज़ तो टूटकर नष्ट हो गया दो उसे छोड़कर भाग गया। सिर्फ़ तीन जहाज़ बचे। इन तीन जहाज़ों को दक्षिण अमेरिका के महाद्वीप और एक टापू के बीच के तंग जलडमरू पार कर दूसरी तरफ़ के खुले समुद्र में जा निकला। इस समुद्र को उस महासागर नाम दिया, क्योंकि अतलान्तिक के मुक़ाबिले में यह बहुत ज्याद था। प्रशान्त महासागर तक पहुँचने में उसे १४ महीने लगे। जिस जलडम वह गुज़रा था, वह अभी तक उसी के नाम पर 'मैंगलन का जलडमरूमध्य' हैं।

आगे भी मैंगेलन ने बहादुरी के साथ अपनी यात्रा उत्तर की तर इसके बाद अनजाने समुद्र में उत्तर-पश्चिम की तरफ़ जारी रक्खी। का यह हिस्सा सबसे ज्यादा भयंकर था। कोई नहीं जानता था कि इसमें लग जायँगे। क़रीब चार महीने, और हिसाब से ठीक गिना जाय तो वे समुद्र के बीच बिना खाना-पानी के भटकते रहे। आख़िरकार, बड़ी उठाने के बाद, वे फ़िलिपाइन द्वीप पहुँचे। वहाँ के लोगों ने उनके साथ सलूक किया। उन्हें खाने-पीने का सामान दिया और उनके साथ भेंटों बदली की। लेकिन स्पेनवाले बदमिज़ाज और शान जमानेवाले थे। वहाँ के दो सरदारों की आपसी मामूली लड़ाई में भाग लिया और और भी बहुत-से स्पेनियों को इन टापुओं के निवासियों ने मार डाल उन्होंने शान गाँठने का रवैया अपनाया था।

स्पेनी लोग मसाले के द्वीपों की तलाश में थे, जहाँ से कि क़ीमती आया करते थे। वे इन्हींकी तलाश में आगे बढ़ते गये। उनका एक जहाज़ गया, इस कारण उसे जला देना पड़ा, बाक़ी सिर्फ़ दो बचे। यह इनमें से एक जहाज़ तो प्रशान्त महासागर होकर और दूसरा उत्तमाशा

वापस स्पेन जाय। पहला जहाज़ तो ज़्यादा दूर नहीं जा सका, क्योंकि उसे यों ने पकड़ लिया। लेकिन दूसरा जहाज़, जिसका नाम 'वित्तोरिया' था, अफ़्रीका का चक्कर काटता हुआ रवाना होने के ठीक तीन वर्ष बाद, ई० में, सिर्फ़ अठारह आदमियों के साथ स्पेन में सैविले जा पहुँचा। सारी चक्कर लगानेवाला यह पहला जहाज़ था।

तुमको 'वित्तोरिया' की समुद्री-यात्रा का विस्तार से हाल बताया है यह अद्भुत यात्रा थी। आजकल हम बहुत आराम के साथ सागरों को पार हैं और बड़े जहाज़ों पर लम्बे-लम्बे सफ़र करते हैं। लेकिन इन शुरू के यों का खयाल करो कि उन्होंने हर तरह के खतरों और संकटों का किया और अज्ञात में गोते लगाकर अपने बाद के लोगों के लिए समुद्री- की खोज की। उस ज़माने के स्पेनी और पुर्तगाली बड़े घमण्डी, शानबाज़ थे; लेकिन वे अद्भुत तौर पर बहादुर भी थे और जोखिम उठानेवाले भावना से भरे हुए थे।

जिस वक़्त मैगेलन दुनिया का चक्कर लगा रहा था, कोर्तीज़ मैक्सिको के दाखिल हो रहा था और अज़टेक साम्राज्य को स्पेन के बादशाह के लिए र रहा था। मैं तुम्हें इसके बारे में और अमेरिका की मय सभ्यता के बारे पहले ही बता चुका हूँ। कोर्तीज़ १५१९ ई० में मैक्सिको पहुँचा। पिज़ारो ई० में दक्षिण अमेरिका के 'इनका' साम्राज्य में (जहाँ अब पेरू है) पहुँचा। और दिलेरी से, बेरहमी और फ़रेब से और वहाँ के लोगों के अन्दरूनी फ़ायदा उठाकर कोर्तीज़ और पिज़ारो दोनों पुराने साम्राज्यों को खत्म सफल हो गये। लेकिन ये दोनों साम्राज्य पुराने ज़माने की चीज़ हो गये थे हद तक बहुत आदिम थे। इसलिए बालू की दीवार की तरह ये पहले ही गिर गये।

बड़े-बड़े तलाश करनेवाले, और खोज करनेवाले जहाँ-जहाँ पहुँच चुके थे उनके बाद लूटमार के लोभी और मौक़ा-परस्तों के झुण्ड-के-झुण्ड पहुँचने कर स्पेनी अमेरिका को तो इन झुण्डों ने बहुत नुक़सान पहुँचाया। यहाँतक के साथ भी इन लोगों ने बहुत बुरा बर्ताव किया। लेकिन साथ-ही-साथ र मैक्सिको से स्पेन को सोने और चाँदी की नदियाँ बराबर बह रही थीं। नी धातुओं की इतनी ज़्यादा मात्रा स्पेन पहुँची कि उससे यूरोप की काचौंध हो गई और स्पेन यूरोप की सबसे बड़ी शक्ति बन गया। यह सोना यूरोप के दूसरे देशों को भी गया और इस तरह पूर्व की पैदावार खरीदने उनके पास धन-दौलत की बहुतायत हो गई।

गाल और स्पेन की कामयाबी से दूसरे देशों के लोगों की, खासकर फ़्रान्स

इंग्लैण्ड, हॉलैण्ड और उत्तर जर्मनी के शहरों के लोगों की कल्पनाओं
पैदा होना स्वाभाविक ही था। पहले इन लोगों ने इस बात की बड़ी
कि उत्तरी रास्ते से एशिया और अमेरिका पहुँचने का, यानी नार्वे के
होकर पूर्व जाने का, और ग्रीनलैण्ड होकर पश्चिम जाने का, कोई
जाय। लेकिन वे इसमें नाकामयाब रहे और उन्हें जाने हुए रास्तों
पकड़ना पड़ा।

वह ज़माना भी क्या ही अचरजभरा रहा होगा, जबकि दुनिया
खुलती हुई और अपने ख़ज़ानों और चमत्कारों को ज़ाहिर करती हुई
रही थी! एक के बाद दूसरी नई खोजें हो रही थीं और नये महाद्वीप,
और अपार दौलत मानो अलादीन की जादू-भरी पुकार 'खुल जाओ
का इन्तज़ार कर रही थी। उस हवा में ही इन साहस-भरे कारनामों के
साँस चल रही होगी।

दुनिया अब सँकरी हो गई है और इसमें खोज की गुंजाइश
कम-से-कम अभी तो ऐसा मालूम होता है। लेकिन ऐसा है नहीं, क्योंकि
ज़बर्दस्त नये नज़ारे खोल डाले हैं, जिनका भेद मालूम करने की ज़रूरत
साहस के कारनामों की भी कोई कमी नहीं है—ख़ासकर आज के

: ४७ :

मंगोल साम्राज्यों का बिखरना

९ जुलाई,

मैंने तुम्हें बताया है कि मध्य युग कैसे गुज़र गये; यूरोप में नई
कैसे जागी और नई चेतना-शक्ति कैसे आई, जो कितने ही रास्तों से फू
यूरोप में मानो हलचल और रचनात्मक उद्यम की लहर दौड़ रही थी।
निवासी सदियों तक कूप-मण्डूकों की तरह अपने छोटे-छोटे देशों में पड़े
एकदम बाहर निकल पड़े और लम्बे-चौड़े समुद्रों को पार करके दुनिया
कोने में पहुँचने लगे। अपनी ताक़त में भरोसा रखते हुए वे विजेताओं
बढ़ते चले गए। इसी भरोसे ने उन्हें हिम्मत दी और उनसे अद्भुत का

लेकिन तुम अचम्भा करती होगी कि यह अचानक परिवर्तन कैसे
तेरहवीं सदी के बीच में एशिया और यूरोप में मंगोलों का बोलबाला
यूरोप उनके क़ब्ज़े में था; पश्चिमी यूरोप इन बड़े-बड़े और अजय
वाले योद्धाओं के आगे थर्राता था। ख़ान महान् के एक सेनापति तक के
में यूरोप के बादशाहों और सम्राटों की क्या हस्ती थी?

दो सौ वर्षों बाद, क़ुस्तुन्तुनिया का शाही नगर, और दक्षिण-पूर्वी यूरोप का हिस्सा, उस्मानी तुर्कों के क़ब्ज़े में आ गया था। मुसलमानों और ईसाइयों में सदियों की लड़ाई के बाद वह बड़ा इनाम, जिसने अरबों और सेलजूक तुर्कों को आकर खींचा था, उस्मानियों के हाथ में आया। उस्मानी सुल्तानों को इतने से तसल्ली न हुई और यूरोप पर ही नहीं बल्कि रोम पर भी लालच-भरी निगाहें डालने लगे। वे जर्मन (पवित्र रोमन) साम्राज्य और इटली पर जा धमके। हंगरी को जीतकर वे वियेना के दरवाज़े पर और इटली की सरहद तक पहुँच गये। पूर्व में उन्होंने बग़दाद को अपने साम्राज्य में मिला लिया और दक्षिण में मिस्र को। सोलहवीं सदी के मध्य में सुलतान सुलेमान, जिसे 'शानदार' कहा जाता है, विशाल तुर्की साम्राज्य पर राज करता था। समुद्रों में भी उसके जहाज़ी बेड़े भूमध्य-सागर पर हावी थे।

फिर यह परिवर्तन कैसे हुआ? यूरोप मंगोलों के खतरे से कैसे बचा? तुर्कों के खतरे से उसने अपनी जान कैसे बचाई? कैसे उसने न सिर्फ़ अपनी ही जान बचाई बल्कि खुद दूसरों पर चढ़ाई करने लगा और दूसरों के लिए खतरा बन

लेकिन यूरोप पर मंगोलों का यह खतरा बहुत दिन नहीं रहा। वे खुद ही नये खान का चुनाव करने के लिए वापस चले गए और फिर लौटकर नहीं आये। पश्चिमी यूरोप उनके वतन मंगोलिया से बहुत दूर था। शायद इसने उन्हें अपनी ओर भी न खींचा हो कि यह घने जंगलों का देश था और वे खूब खुले मैदानों और बीड़ की ज़मीनों पर रहने के आदी थे। बहरहाल पश्चिमी यूरोप मंगोलों से बच गया—अपनी किसी बहादुरी की वजह से नहीं, बल्कि मंगोलों की लापरवाही और उनके दूसरे कामों में फँसे रहने की वजह से। पूर्वी यूरोप में वे बहुत दिन रहे जबतक कि मंगोलों की शक्ति धीरे-धीरे खत्म न हो गई।

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि १४५२ ई० में तुर्कों की क़ुस्तुन्तुनिया पर विजय यूरोप के इतिहास में एक ऐसी घटना मानी जाती है; जिससे उसके इतिहास का रुख़ बदल गया। सुभीते के लिए यह कह सकते हैं कि उस वक़्त से मध्य-युग का अन्त और नई भावना यानी रिनेसां का आना हुआ, जो कितनी ही दिशाओं में फैली। इसी तरह संयोग से ठीक उसी वक़्त, जब तुर्क यूरोप पर चढ़े आ रहे थे, और उनकी कामयाबी की काफ़ी सम्भावना नज़र आती थी, यूरोप अपने पाँवों पर खड़ा हो गया और उसने अपने अन्दर ताक़त पैदा कर ली। तुर्क पश्चिमी यूरोप में वियेना तक बढ़ते चले गए; और जब वे बढ़ रहे थे, यूरोप के खोजी नये-नये देशों और समुद्रों का पता लगा रहे थे और पृथ्वी के चारों तरफ़ चक्कर लगा रहे थे। शानदार सुलेमान के ज़माने में, जिसने १५२० से १५६६ ई० तक राज

किया, तुर्की साम्राज्य वियेना से बग़दाद और क़ाहिरा तक फैल गया। इसके आगे वे नहीं बढ़ सके। तुर्क लोग यूनानियों के क़ुस्तुन्तुनिया की क भ्रष्ट करनेवाली परम्पराओं के शिकार हो रहे थे। इधर यूरोप की ताक़ जाती थी; उधर तुर्क अपनी पुरानी क्रिया-शक्ति खो रहे थे और क जा रहे थे।

पुराने युगों में घूमते हुए हमने देखा कि एशिया ने यूरोप पर चढ़ाइयां कीं। यूरोप ने भी एशिया पर कुछ हमले किये, लेकिन उनका नहीं था। सिकन्दर एशिया को पार करता हुआ भारत आया था, लेकिन बड़ा असर नही पड़ा। रोमन लोग इराक़ के आगे कभी नहीं बढ़े। एशिया के क़बीलों ने शुरू ज़माने से ही यूरोप पर बार-बार धावे मारे। हमलों में यूरोप पर उस्मानी तुर्कों का हमला आख़िरी था। हम देखते हैं धीरे पलड़ा उलट जाता है और यूरोप हमलावर बनता जाता है। यह सोलहवीं सदी के बीच के लगभग हुआ समझना चाहिए। अमेरिका, हाल ही में चला था, यूरोप के सामने बहुत जल्द पस्त हो गया। लेकिन ज़्यादा कठिन समस्या साबित हुआ। दो सौ वर्षों तक यूरोप के लोग महाद्वीप के कई हिस्सों में पैर जमाने की जगह तलाश करते रहे और सदी के मध्य तक एशिया के कुछ हिस्सों पर हावी हो गये। यह बात ध्यान की है, क्योंकि कुछ लोग, जो इतिहास नहीं जानते, समझते हैं कि यूरोप एशिया पर हुकूमत की है। हम आगे चलकर देखेंगे कि यूरोप का यह पार्ट बहुत हाल का है और अब पर्दा बदलना शुरू भी हो गया है और पुराना नज़र आने लगा है। पूर्व के तमाम देशों में नई भावनाएँ जाग रही शक्तिशाली आन्दोलन, जिनका उद्देश्य आज़ादी हासिल करना है, यूरोप को चुनौती दे रहे हैं और हिला रहे हैं। इन राष्ट्रीय भावनाओं से भी ज़्याद और गहरी वे समानता की समाजी भावनाएँ हैं, जो सारे साम्राज्यवाद का ख़ात्मा कर देना चाहती हैं। भविष्य में यह सवाल क़तई नहीं रहेगा पर यूरोप की हुकूमत हो, या यूरोप पर एशिया की, या एक देश दूसरे करे।

यह लम्बी भूमिका हो गई। अब हम फिर मंगोलों की चर्चा करें। उनके चढ़ाव-उतार के साथ-साथ चलकर हमें देखना है कि उनकी क्या तुम्हें याद होगा कि कुबलइखाँ, आख़िरी ख़ान महान् था। १२९२ ई० मौत के बाद वह विशाल साम्राज्य, जो एशिया में कोरिया से लेकर यूरो और पोलैण्ड तक फैला हुआ था, पाँच साम्राज्यों में बँट गया। इन पाँचों में हरेक वास्तव में एक-एक बड़ा साम्राज्य था। मैंने अपने एक पिछले पाँचों के नाम दे दिये हैं।

पांचों में चीन का साम्राज्य मुख्य था, जिसमें मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत, अनाम, तांङ्किङ, और बरमा का कुछ हिस्सा शामिल था। युआन राजवंश, का वंशज था, इस साम्राज्य का वारिस हुआ। लेकिन बहुत दिनों नहीं। बहुत जल्दी ही दक्षिण में इसके टुकड़े टूट-टूटकर अलग होने लगे मैंने तुम्हें बताया है, १३६८ ई० में, कुबलइ के मरने के ठीक ७६ वर्ष राजवंश ख़त्म हो गया और मंगोल लोग निकाल बाहर किये गए।

दूर पश्चिम में सुनहरे क़बीले का साम्राज्य था—इन लोगों का यह हावना नाम था! रूसी अमीर-सरदारों ने कुबलइ की मृत्यु के बाद तक इन लोगों को ख़िराज दिया। इस ज़माने के अख़ीर में, यानी १४८० समय, साम्राज्य कुछ कमज़ोर पड़ रहा था और मास्को के ग्राण्ड ड्यूक अमीर-सरदारों का मुखिया बन बैठा था, ख़िराज देने से इन्कार कर ग्राण्ड ड्यूक का नाम महान् आइवन था। रूस के उत्तर में नोवगोरोद गणराज्य था, जो व्यापारियों और सौदागरों के हाथ में था। आइवन ने को हराकर अपनी रियासत में मिला लिया। इसी बीच क़ुस्तुन्तुनिया में पहुंच चुका था और पुराने सम्राटों का ख़ानदान वहाँ से भगा दिया आइवन ने इस पुराने शाही घराने की एक लड़की से शादी करली और दावा करने लगा कि वह उस शाही वंश का है और पुराने बिज़ैन्तियम है। रूसी साम्राज्य, जो १९१७ ई० की क्रान्ति में हमेशा के लिए ख़त्म महान् आइवन की मातहती में, इस तरह शुरू हुआ था। इसके पोते बेरहम था और इसीलिए 'भयंकर आइवन' कहलाता था, 'ज़ार' धारण किया, जिसका अर्थ सीज़र या सम्राट् होता था।

तरह मंगोल हमेशा के लिए यूरोप से विदा हुए। सुनहरे क़बीले और के दूसरे मंगोल साम्राज्यों का क्या हुआ, इसके बारे में हमें अब ज़्यादा की ज़रूरत नहीं है। दूसरे, मैं उनके बारे में ज़्यादा जानता भी नहीं हूँ। आदमी पर हमारा ध्यान ज़रूर जाता है।

आदमी तैमूर है, जो दूसरा चंगेज़ख़ाँ बनना चाहता था। वह चंगेज़ होने का दावा करता था, लेकिन असल में वह तुर्क था। वह लँगड़ा था, मूरलंग कहलाता था। वह अपने बाप के बाद १३६९ ई० में समरक़न्द बना। इसके बाद ही उसने अपनी विजय और जुल्मों की यात्रा शुरू वह बहुत बड़ा सेनापति था, लेकिन पूरा वहशी भी था। मध्य एशिया के बीच में मुसलमान हो चुके थे और तैमूर ख़ुद भी मुसलमान था। मुसलमानों से पाला पड़ने पर वह उनके साथ ज़रा भी नर्मी नहीं बरतता जहाँ वह पहुंचा उसने तबाही, बला और पूरी मुसीबत फैला दी।

नर-मुण्डों के बड़े-बड़े ढेर लगवाने में उसे ख़ास मज़ा आता था। पूर्व में लगाकर पश्चिम में एशिया-कोचक तक, उसने लाखों आदमी क़त्ल और उनके कटे सिरों को स्तूपों की शक्ल में जमवाया!

चंगेज़ख़ाँ और उसके मंगोल भी बेरहम और बरबादी करनेवा वे अपने ज़माने के दूसरे लोगों की तरह ही थे। लेकिन तैमूर उससे ज़्यादा बे-लगाम और शैतानी ज़ुल्म में उसका मुक़ाबला करनेवाला कोई था। कहते हैं कि एक जगह उसने २००० ज़िन्दा आदमियों की बनवाई और उन्हें ईंट और गारे से चुनवा दिया!

भारत की दौलत ने इस वहशी को भी खींचा। अपने सेनाप अमीर-सरदारों को भारत पर चढ़ाई करने के लिए राज़ी करने में इसे हुई। समरक़न्द में एक बड़ी सभा हुई, जिसमें अमीर-सरदारों ने भारत इसलिए ऐतराज़ उठाया कि वहाँ गर्मी बहुत पड़ती है। अन्त में तैमूर किया कि वह भारत में ठहरेगा नहीं, लूट-मार करके वापस चला उसने अपना वादा पूरा किया।

तुम्हें याद होगा कि उत्तर भारत में उस वक़्त मुसलमानी राज में एक सुलतान राज करता था। लेकिन यह मुसलमानी सल्तनत और सरहद पर मंगोलों से बराबर लड़ाइयाँ करते-करते इसकी कमर इसलिए जब तैमूर मंगोलों की फ़ौज लेकर आया, तो उसका कोई बड़ा नहीं हुआ और वह हत्याकाण्ड करता और खोपड़ियों के स्तूप बनाता के साथ आगे बढ़ता गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों क़त्ल किये होता है, उनमें कोई फ़र्क़ नहीं किया गया। जब ज़्यादा क़ैदियों को सम्हाल हो गया तो उसने उनके क़त्ल का हुक्म दे दिया और एक लाख क़ैदी मार कहते हैं कि एक जगह हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ने मिलकर राजपूती रस्म अदा की थी; यानी युद्ध में लड़ते-लड़ते मर जाने के लि निकल पड़े थे। लेकिन दिल दहलानेवाली इस कहानी को बार-बार रहने की मेरी इच्छा नहीं है। रास्ते भर वह यही करता गया। तैमूर पीछे-पीछे अकाल और महामारी चलती थी। दिल्ली में वह पन्द्रह दिन उसने इस बड़े शहर को क़साईख़ाना बना दिया। बाद में कश्मीर को वह समरक़न्द वापस लौट गया।

हालाँकि तैमूर वहशी था, पर वह समरक़न्द में, मध्य-एशिया में जगहों पर बढ़िया इमारतें बनवाना चाहता था। इसलिए बहुत दिन पहले महमूद की तरह उसने भारत के कारीगरों, राजगीरों और होशियार को इकट्ठा किया और उन्हें अपने साथ ले गया। इनमें जो सबसे

कारीगर थे उन्हें उसने अपनी शाही नौकरी में रख लिया। बाक़ी को उसने एशिया के खास-खास शहरों में भेज दिया। इस तरह इमारतें बनाने की एक नई शैली का विकास हुआ।

तैमूर के जाने के बाद दिल्ली मुर्दों का शहर रह गया था। चारों तरफ़ अकाल मारी का खुला राज था। दो महीने तक न कोई राजा था, न शासन, न । बहुत कम लोग वहाँ रह गये थे। यहाँ तक कि जिस आदमी को तैमूर ने में अपना नायब मुक़र्रर किया था, वह भी मुलतान चला गया।

इसके बाद तैमूर ईरान और इराक़ में तबाही और बर्बादी फैलाता हुआ की तरफ़ बढ़ा। अंकारा में १४०२ ई० में उस्मानी तुर्कों की एक बहुत बड़ी के साथ इसका मुक़ाबला हुआ। बहुत होशियार सिपहसालारी से इसने इन को हरा दिया। लेकिन समुद्र के आगे उसका बस नहीं चला, और वह दर्रे को पार न कर सका। इसलिए यूरोप उससे बच गया।

तीन वर्ष बाद, १४०५ ई० में, जबकि वह चीन की तरफ़ कूच कर रहा था, र गया। उसीके साथ उसका लम्बा-चौड़ा साम्राज्य भी, जो क़रीब-क़रीब श्चिमी एशिया में फैला हुआ था, ढह गया। उस्मानी तुर्क, मिस्र और सुनहरे से खिराज देते थे। लेकिन उसकी योग्यता सिर्फ़ उसकी निराली सिपहसालारी सीमित थी। साइबेरिया के बर्फ़िस्तान में उसकी कुछ चढ़ाइयाँ असाधारण । पर असल में वह एक जंगली घुमक्कड़ था; उसने न तो कोई संगठन बनाया गेज़ की तरह साम्राज्य चलाने के लिए अपने पीछे कोई क़ाबिल आदमी ही इसलिए तैमूर का साम्राज्य उसीके साथ खत्म हो गया, और सिर्फ़ बर्बादी नरहत्याओं की यादगार भर छोड़ गया। मध्य एशिया में होकर जितने लेबाज़ और विजेता गुज़रे हैं, उनके झुण्ड में चार के नाम लोगों को अभी द हैं—सिकन्दर, सुलतान महमूद, चंगेज़खाँ और तैमूर।

उस्मानी तुर्कों को हराकर तैमूर ने उन्हें हिला डाला। लेकिन वे बहुत फिर पनप गये और आगे पचास वर्षों के अन्दर, यानी १४५३ ई० में, कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा कर लिया।

अब हमें मध्य एशिया से विदा ले लेनी चाहिए। सभ्यता के दर्जे में वह नीचे जाता है और धुंधले पर्दे में छिप जाता है। अब वहाँ कोई ऐसी बात नहीं जिस पर हम ध्यान दें। सिर्फ़ उन पुरानी सभ्यताओं की यादगार बाक़ी रह हैं, जिन्हें आदमी ने अपने हाथ से नष्ट कर दिया। क़ुदरत ने भी उस पर भारी की और धीरे-धीरे वहाँ की आबहवा को ज़्यादा खुश्क और आदमियों के कम लायक़ बना दिया।

हमें मंगोलों से भी विदा ले लेनी चाहिए; सिवाय उनकी एक शाखा के जो

बाद में भारत आई और जिसने यहाँ एक बड़ा और मशहूर साम्राज्य क़ायम लेकिन चंगेज़ख़ाँ और उसके वंशजों का साम्राज्य बिखर गया। मंगोल छोटे-छोटे सरदारों और अपनी क़बीली आदतों में पड़ जाते हैं।

: ७५ :

भारत एक कठिन समस्या से जूझता है

१२ जुलाई,

मैं तैमूर और उसके हत्याकाण्डों और नर-मुण्डों के स्तूपों के बारे चुका हूँ। यह सब कितनी हौलनाक और वहशियाना बातें मालूम होती हैं। इस सभ्य युग में ऐसी बात नहीं हो सकती। लेकिन यह भी यक़ीन के कहा जा सकता। हाल ही में हमने देखा है और सुना है कि हमारे ज़माने क्या हो सकता है और क्या होता है। चंगेज़ख़ाँ और तैमूर का किया और माल का नुक़सान, हालाँकि बहुत ज़्यादा था, फिर भी वह १९१ के महायुद्ध में हुई बर्बादी के मुक़ाबले नहीं के बराबर जचता है। और के हरेक ज़ुल्म की होड़ करनेवाली भीषणता के नमूने आज के ज़माने में सकते हैं।

फिर भी, इसमें कोई शक नहीं कि चंगेज़ और तैमूर के ज़माने से सैंकड़ों बातों में प्रगति की है। यही नहीं कि आजकल की ज़िन्दगी पेचीदी बन गई है, बल्कि वह ज़्यादा सम्पन्न भी है। क़ुदरत की ताक़तें खोज निकाली गई हैं, उनको समझने की कोशिश की गई है इन्सान के फ़ायदे के लिए काम में लगाया गया है। इसमें शक नहीं कि ज़्यादा सभ्य और सुसंस्कृत है। फिर हम युद्ध-काल में पुराना इख़्तियार कर लेते हैं? इसकी वजह यह है कि युद्ध खुद ही सभ्यता और का प्रतिवाद है। युद्ध का सभ्यता और संस्कृति से सिर्फ़ इतना ही ताल्लुक़ सभ्य दिमाग़ से फ़ायदा उठाकर ज़्यादा-से-ज़्यादा शक्तिशाली और हथियारों के आविष्कार कराता है और उनका इस्तेमाल कराता है। होता है तो बहुत-से आदमी, जो इसमें लगे-फँसे होते हैं, अपने-आपको भयानक हालत में पहुँचा देते हैं। सभ्यता की सिखाई हुई बहुत-सी बातें हैं, सचाई को और ज़िन्दगी की शराफ़तों को भुला देते हैं, और हज़ारों अपने वहशी पूर्वजों के समान बन जाते हैं। फिर इसमें ताज्जुब की कि युद्ध जब कभी छिड़ता है तो डर व नफ़रत पैदा करनेवाली चीज़

अगर कोई अजनबी दूसरी दुनिया से इस दुनिया में युद्ध के ज़माने में

क्या कहेगा ? मान लो कि उसने हमें सिर्फ़ युद्ध के समय ही देखा, शान्ति के नहीं। वह सिर्फ़ युद्ध के आधार पर हमारे बारे में अपनी राय क़ायम करेगा नतीजे पर पहुँचेगा कि हम लोग बेरहम, बेतरस और वहशी हैं; कभी-कभी और त्याग दिखा देते हैं, लेकिन कुल मिलाकर देखा जाय तो हमारी ज़िन्दगी देनेवाले कोई पहलू नहीं, सिर्फ़ एक ही सबसे बड़ा जुनून है कि एक दूसरे और बर्बाद करें। वह हमारे बारे में ग़लत राय क़ायम करेगा और हमारी के बारे में भोंडा खयाल बना लेगा, क्योंकि वह एक ख़ास मौक़े पर, जो हमारे अनुकूल नहीं था, हमारा सिर्फ़ एक ही पहलू देखेगा।

सी तरह अगर हम पुराने ज़माने का भी सिर्फ़ युद्धों और नर-हत्याओं के विचार करेंगे तो उसके बारे में हमारी राय ग़लत होगी। बदक़िस्मती और नर-हत्याओं की तरफ़ हमारा ध्यान बहुत ज़्यादा खिंच जाता है। लोगों र्रा की ज़िन्दगी बहुत-कुछ नीरस होती है। इतिहास-लेखक इसके बारे में ! इसलिए इतिहास-लेखक किसी युद्ध या लड़ाई पर झपटता है, और ससे ज़्यादा महत्व देता है। इसमें शक नहीं कि हम युद्धों को न तो भूल और न उन्हें नज़र-अन्दाज़ कर सकते हैं। लेकिन हमें उन्हें ज़रूरत से ज़्यादा नहीं देना चाहिए। हमें पुराने ज़माने पर मौजूदा ज़माने के लिहाज़ से रना चाहिए और उस ज़माने के आदमियों के बारे में आजकल के अपने से सोचना चाहिए। तभी हमें उनकी ज़्यादा इन्सानी झलक मिल सकेगी महसूस करेंगे कि लोगों की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी और विचार ही असल रखते हैं; कभी-कभी होनेवाले युद्ध नहीं। इस बात को ध्यान में रखना री है, क्योंकि तुम्हें इतिहास की पुस्तकें इस तरह के युद्धों के वर्णनों से भरी मिलेंगी। मेरे ये पत्र भी अक्सर उसी तरफ़ बहक जाते हैं। असली यह है कि पुराने ज़माने के लोगों की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के बारे में श्किल है। मुझे इसके बारे में काफ़ी जानकारी नहीं है।

सा कि हमने देखा है, तैमूर भारत पर आनेवाली सबसे बुरी बलाओं । जहाँ-जहाँ वह गया वहाँ उसने भीषणता की जो निशानियाँ छोड़ीं चार करने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। फिर भी दक्षिण भारत पर उसका असर नहीं पड़ा था। यही बात पूर्वी, पश्चिमी और मध्य भारत के बारे । आजकल का उत्तर प्रदेश भी बहुत करके उससे बचा गया था, सिवाय और मेरठ के नज़दीक के उत्तर के एक छोटे-से हिस्से के। दिल्ली शहर के जाब ही ऐसा प्रान्त था, जो तैमूर के छापे से सबसे ज़्यादा बर्बाद हुआ। भी ख़ास बर्बादी उन जगहों की हुई जो तैमूर के रास्ते में पड़ीं। पंजाब के लोग बिना दखल के अपने रोज़मर्रा के कामों में लगे रहे। इसलिए हमें

इस बात से होशियार रहना चाहिए कि हम इन युद्धों और हमलों के
जरूरत से ज्यादा न बढ़ावें।

अब हमें चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदियों के भारत पर नजर डालें।
दिल्ली की सल्तनत सिकुड़ती जाती थी, यहाँ तक कि तैमूर के आने पर
ग़ायब हो गई। सारे भारत में बहुत-सी बड़ी-बड़ी स्वाधीन रियासतें थीं,
ज्यादातर मुसलमानों की थीं। लेकिन दक्षिण में विजयनगर का एक
हिन्दू राज्य था। अब इस्लाम भारत के लिए कोई अजनबी या नया
नहीं रह गया था; उसके पाँव यहाँ अच्छी तरह से जम गये थे। शुरू के
हमलावरों और ग़ुलाम बादशाहों की ख़ूँख़्वारी और बेरहमी ठण्डी पड़
और मुसलमान अब उतने ही भारतीय थे जितने कि हिन्दू थे। उनका
से कोई रिश्ता नहीं रह गया था। अलग-अलग रियासतों के बीच युद्ध होते
ये राजनीतिक थे, मजहबी नहीं। कभी-कभी कोई मुसलमान राज्य हिन्दू
का उपयोग करता था, और कोई हिन्दू राज्य मुसलमान सिपाहियों का।
बादशाह अक्सर हिन्दू औरतों से शादियाँ करते थे। अक्सर वे हिन्दुओं
बनाते थे और ऊँचे-ऊँचे ओहदे देते थे। विजेता और पराजित, या शासक
की कोई भावना नहीं रही थी। सच तो यह है कि ज्यादातर मुसलमान,
शासक भी थे, वे भारतीय थे जिन्होंने इस्लाम क़बूल कर लिया था। इन
से तो इसलिए मुसलमान बने थे कि उनपर दरबार की कृपा हो जाय
आर्थिक लाभ हो जाय। मजहब बदल देने पर भी वे अपने पुराने
रिवाजों को पकड़े हुए थे। कुछ मुसलमान शासकों ने लोगों को मुसल
के लिए जबर्दस्ती के तरीक़े अपनाये। लेकिन इसमें भी उद्देश्य
नीतिक था, क्योंकि यह समझा जाता था कि मुसलमान बनने पर
वफ़ादार प्रजा साबित होंगे। लेकिन मजहब बदलवाने में जबर्दस्ती
गर नहीं होती। आर्थिक तरीक़ा इससे ज्यादा कारगर होता है। हरेक
को जज़िया नाम का टैक्स देना पड़ता था, इसलिए बहुत-से इससे
मुसलमान हो गये।

लेकिन ये सब बातें शहरों में हुईं। गाँवों पर इनका कोई असर
और लाखों देहाती अपने पुराने ढर्रे पर चलते रहे। यह सही है कि
अफ़सरों ने गाँव की ज़िन्दगी में पहले से ज्यादा दखल देना शुरू कर
ग्राम-पंचायतों के पहलेवाले अधिकार अब कम हो गये थे। फिर
का सिलसिला जारी रहा और वे देहाती जीवन की केन्द्र और रीढ़
समाजी तौर पर और धर्म व रस्म-रिवाजों के मामलों में गाँवों में बहुत
वर्तन हुआ। तुम जानती हो कि भारत आज तक भी लाखों गाँवों का

शहर और क़स्बे तो सिर्फ़ सतह के ही ऊपर बैठे हुए हैं; असली भारत हमेशा भारत रहा है और आज भी है। इस देहाती भारत को इस्लाम ज्यादा नहीं दला।

इस्लाम के आने से हिन्दू धर्म को दो तरह से धक्का लगा, और ताज्जुब तो कि दोनों बातें एक दूसरी से उलटी थीं। एक तरफ़ तो वह रूढ़िवादी बन गया; पड़ गया और हमले से बचने की कोशिश में मज़बूत परकोटे के अन्दर घुस जात-पांत का बन्धन ज्यादा कठोर और अलगाव-पसन्द हो गया; पर्दा स्त्रियों को बन्द करके रखना व्यापक हो गया। दूसरी तरफ़ जात-पांत और ज़्यादा पूजा-पाठ और कर्मकाण्ड के ख़िलाफ़ एक अन्दरूनी विद्रोह-सा पैदा । हिन्दू धर्म में सुधार के लिए बहुत-सी कोशिशें की गईं।

वास्तव में सारा इतिहास बताता है कि शुरू के ज़माने से ही हिन्दू-धर्म में पैदा होते रहे हैं, जिन्होंने इसकी बुराइयों को दूर करने का जतन किया इनमें सबसे महान् थे। मैंने शंकराचार्य का ज़िक्र किया ही है, जो आठवीं हुए थे। तीन सौ वर्ष बाद, ग्यारहवीं सदी में, एक और महान् सुधारक पैदा दक्षिण में चोल-साम्राज्य के रहनेवाले थे और शंकर मत के मुक़ाबले के नेता थे। इनका नाम रामानुज था। शंकर शैव थे और तेज बुद्धिवाले थे; वैष्णव थे और श्रद्धावान थे। रामानुज का प्रभाव सारे भारत में फैल गया। बताया है कि सारे इतिहास में संस्कृति के लिहाज़ से भारत एक रहा राजनीतिक लिहाज़ से चाहे इस देश में कितनी ही आपस में लड़नेवाली क्यों न रही हों। जब कोई भी महापुरुष पैदा हुआ या बड़ा आन्दोलन उठा, राजनीतिक सीमाओं को लांघकर सारे देश में फैल गया।

इस्लाम के भारत में जमने के बाद हिन्दुओं में और मुसलमानों में भी एक के सुधारक पैदा होने लगे। वे इन दोनों मज़हबों के समान पहलुओं पर कर दोनों को नज़दीक लाने की कोशिश करते थे और दोनों की रीतियों आडम्बरों की निन्दा करते थे। इस तरह दोनों के समन्वय या यूं कहो कि मिला- कोशिश की गई। यह एक मुश्किल काम था, क्योंकि दोनों तरफ़ बहुत और बिगाड़ था। लेकिन हम देखेंगे कि हर सदी में इस तरह की कोशिशें रहीं। यहां तक कि कुछ मुसलमान शासकों ने, और ख़ासकर अकबर महान् इस तरह के समन्वय की कोशिश की।

रामानन्द, जो चौदहवीं सदी में दक्षिण में हुए, इस समन्वय का प्रचार करने- सबसे मशहूर आचार्य थे। वह जात-पांत के ख़िलाफ़ प्रचार करते थे और उसका विचार नहीं करते थे। कबीर नामक एक मुसलमान जुलाहे उनके शिष्य बाद में उनसे भी ज़्यादा मशहूर हुए। कबीर बहुत लोकप्रिय हो गये थे।

तुम शायद जानती होगी कि हिन्दी में उनके भजन आजतक उत्तर दूर के गांवों तक में ख़ूब प्रचलित हैं। वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। मुसलमान दोनों थे, या दोनों के बीच के थे, और दोनों मज़हबों के और के लोग उनके अनुयायी थे। कहते हैं कि जब वह मरे, उनकी लाश ढक दी गई। उनके हिन्दू चेले उसे जलाना चाहते थे और मुसलमान दफ़न करना चाहते थे। इस पर दोनों में वाद-विवाद और झगड़ा हुआ। जब चादर हटाई गई तो लोगों ने देखा कि वह शरीर, जिसके लिए थे, ग़ायब हो गया था और उसकी जगह कुछ ताज़े फूल पड़े हुए थे। कि यह कहानी बिलकुल मन-गढ़न्त हो, लेकिन है बहुत सुन्दर।

कबीर के कुछ दिनों बाद उत्तर में एक बड़े सुधारक और धार्मिक हुए। इनका नाम गुरु नानक था और इन्होंने सिक्ख-पन्थ चलाया। एक-एक करके सिखों के दस गुरु हुए, जिनमें आख़िरी गुरु गोविन्दसिंह थे।

भारत के धर्म और संस्कृति के इतिहास में एक और नाम मशहूर है मैं यहां ज़िक्र करना चाहता हूँ। यह नाम चैतन्य का है, जो सोलहवीं सदी के एक नामी विद्वान् हुए और जिन्होंने यकायक यह तय कर डाला कि किताबी ज्ञान किसी काम का नहीं है। इसलिए उसे छोड़कर उन्होंने मार्ग अपनाया। वह एक महान् भक्त बन गए और अपने शिष्यों को सारे बंगाल में भजन गाते फिरने लगे। उन्होंने एक वैष्णव सम्प्रदाय किया। बंगाल में आज भी उनका बहुत बड़ा असर नज़र आता है।

यह तो हुई धर्म के सुधार और समन्वय की बात। जीवन के में भी इसी तरह का समन्वय, कभी जान में और ज़्यादातर अनजान था। एक नई संस्कृति, एक नई भवन-निर्माण कला और एक नई भाषा थी। लेकिन याद रक्खो कि ये सब-कुछ गांवों की बनिस्बत शहरों में, शाही राजधानी दिल्ली में और सूबों और रियासतों की बड़ी ज़्यादा हो रहा था। चोटी पर बैठा बादशाह इतना निरंकुश था कि कभी भी न रहा होगा। पुराने भारतीय राजाओं की मनमानी को रोकने रिवाज और परम्पराएँ बनी हुई थीं। नये मुसलमान बादशाहों के लिए चीज़ नहीं थी। हाल कि सिद्धान्त-रूप से इस्लाम में कहीं ज़्यादा जैसा कि हमने देखा है, गुलाम भी सुलतान बन सकता था; फिर भी मनमानी और बे-लगाम शक्ति बढ़ने लगी। इसकी इससे ज़्यादा हैरत में मिसाल और क्या हो सकती है कि दीवाना तुग़लक अपनी राजधानी दौलताबाद ले गया ?

गुलाम रखने का रिवाज भी, ख़ासकर सुलतानों में, बहुत बढ़

गुलाम पकड़ने की ख़ासतौर से कोशिश की जाती थी। इनमें भी दस्तकारों द्र की जाती थी। बाक़ी लोग सुलतान की गारद में भरती कर लिये थे।

ालन्दा और तक्षशिला के बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों का क्या हुआ? इनका ान बहुत पहले ही मिट चुका था। लेकिन नई क़िस्म के नये विश्वविद्यालय- न-से पैदा हो गये थे। ये 'टोल' कहलाते थे और उनमें पुरानी संस्कृत विद्या ाती थी। लेकिन ये ज़माने के साथ नहीं चल रहे थे। ये मानो बीते ज़माने के और शायद पीछे जाने की भावना बनाये रखते थे। बनारस हमेशा से ा का एक बहुत बड़ा केन्द्र रहा है।

ने ऊपर कबीर के हिन्दी भजनों का ज़िक्र किया है। मालूम होता है कि सदी में हिन्दी न सिर्फ़ जनता की बल्कि साहित्य की भाषा भी बन गई त बहुत दिन पहले ही चालू भाषा नहीं रही थी। यहाँतक कि कालिदास राजाओं के ज़माने में भी वह सिर्फ़ विद्वानों तक ही सीमित थी। साधारण कृत बोलते थे, जो संस्कृत का एक बदला हुआ रूप थी। धीरे-धीरे संस्कृत पुत्रियों—हिन्दी, बंगाली, मराठी और गुजराती—का विकास हुआ। मुसलमान लेखक और कवियों ने हिन्दी में रचनाएँ कीं। जौनपुर के एक बादशाह ने पन्द्रहवीं सदी में महाभारत और भागवत का संस्कृत से बँगला कराया था। दक्षिण के बीजापुर के मुसलमान शासकों के हिसाब-किताब में रखे जाते थे। इस तरह हम देखते हैं कि पन्द्रहवीं सदी में ही संस्कृत से ली ये भाषाएँ काफ़ी तरक्क़ी कर चुकी थीं। दक्षिण की द्रविड़ भाषाएँ— लुगु, मलयालम और कन्नड़—अलबत्ता इनसे कहीं पुरानी थीं।

मानों की दरबारी ज़बान फ़ारसी थी। ज़्यादातर पढ़े-लिखे लोग, बारों से या सरकारी दफ़्तरों से कुछ भी सरोकार था, फ़ारसी पढ़ते थे। बहुत-से हिन्दुओं ने फ़ारसी सीखी। धीरे-धीरे लश्करों और बाज़ारों ई भाषा पैदा हो गई, जो उर्दू कहलाई; क्योंकि उर्दू 'लश्कर' को ही कहते में उर्दू कोई नयी भाषा नहीं थी। यह हिन्दी ही थी, जिसकी पोशाक हुई थी; इसमें फ़ारसी के शब्द ज़्यादा थे वरना थी यह हिन्दी ही। -उर्दू भाषा, या जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है हिन्दुस्तानी भाषा, र और मध्य भारत में फैल गई। आज भी इसे मामूली फेर-फार से पन्द्रह मी बोलते हैं और इससे कहीं ज़्यादा लोग समझते हैं। इस तरह संख्या से यह दुनिया की एक मुख्य भाषा है।

न-निर्माण कला में नई-नई शैलियों का विकास हुआ और दक्षिण र और विजयनगर में, गोलकुण्डा में, अहमदाबाद में—जो उस समय

एक बड़ा और सुन्दर शहर था—और इलाहाबाद के नज़दीक जौनपुर सी शानदार इमारतें बनीं। क्या तुम्हें याद है कि हम हैदराबाद के पास के पुराने खण्डहरों को देखने गये थे? हमने उस विशाल क़िले पर चढ़कर कि नीचे पुराना शहर फैला हुआ है, जिसके महल और बाज़ार आज हो गये हैं।

इस तरह जब राजा लोग आपस में लड़ रहे थे और एक दूसरे रहे थे, तब भारत में ख़ामोश ताक़तें समन्वय का अनथक काम थीं कि भारत के निवासी आपस में मेलजोल से रहें और एकजुट शक्तियाँ तरक्क़ी और बेहतरी के लिए लगावें। सदियों के बाद उनको यावी हासिल हुई। लेकिन उनका काम पूरा नहीं होने पाया था कि फेर फिर हुई और जिस रास्ते से हम आगे बढ़े थे उसीपर कुछ दूर हमें आज फिर उसी रास्ते पर चलना है और तमाम अच्छाइयों के काम करना है। लेकिन इस बार इस समन्वय की बुनियाद ज़्यादा होगी। इसका आधार आज़ादी और समाजी समता पर होना चाहिए बेहतर संसार-व्यवस्था में ठीक बैठना चाहिए। यह समन्वय तभी

धर्म और संस्कृति के समन्वय की इस समस्या ने भारत के को सैकड़ों वर्षों तक मशग़ूल रक्खा। भारत का दिमाग़ इसमें इतना राजनीतिक और समाजी आज़ादी भुला दी गईं। और जब यूरोप में तेजी के साथ आगे बढ़ता चला जा रहा था, तब भारत क़दम था और सिर्फ़ ज़िन्दगी गुज़ारता हुआ पिछड़ता जा रहा था।

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि एक वक़्त था जब विदेशी मण्डियों भारत के हाथ में थी। इसकी वजह यह थी कि रसायन में, रंगों के फ़ौलाद पर पानी चढ़ाने में भारत ने बहुत तरक्क़ी कर ली थी। भी बहुत-सी वजहें थीं। भारत के जहाज़ दूर-दूर देशों को उसका ले जाते थे। जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उससे बहुत पहले से यह चीज़ जाती रही थी। सोलहवीं सदी में नदी वापस पूर्व की लगी। शुरू में तो यह मामूली-सा झरना थी। लेकिन आगे बढ़ते एक विशाल धारा बन गई।

: ७६ :

दक्षिण भारत के राज्य

आओ, भारत पर फिर एक नज़र डालें और राज्यों व बदलता हुआ नज़ारा देखें। ऐसा मालूम होता है, मानो हम कोई

वाज़ा चल-चित्र देख रहे हैं, जिसमें एक के बाद दूसरी खामोश तसवीरें[1] आ रही हैं।

तुम्हें शायद खब्ती सुलतान मुहम्मद तुग़लक़ की बात याद होगी और यह द होगा कि दिल्ली के साम्राज्य को तहस-नहस करने में वह किस तरह सफल । दक्षिण के बड़े सूबे अलग हो गये और वहाँ नये राज्य बन गये। इन राज्यों यनगर का हिन्दू राज्य और गुलबर्गा की मुसलमानी सल्तनत मुख्य थे। गौड़ का सूबा, जिसमें बंगाल और बिहार शामिल थे, एक मुसलमान शासक हुती में स्वाधीन हो गया।

मुहम्मद का उत्तराधिकारी, उसका भतीजा, फ़ीरोज़शाह हुआ। वह अपने से ज़्यादा समझदार और परोपकारी था। लेकिन मज़हबी बैर-भाव अभी हुआ था। फ़ीरोज़ एक कुशल शासक था और उसने अपने प्रशासन में बहुत-धार किये। वह दक्षिण या पूर्व के खोये हुए सूबों को तो फिर से न पा सका, साम्राज्य के बिखरने का जो सिलसिला शुरू हो गया था, उसे उसने ज़रूर रोक । उसे नये-नये शहर, महल और मसजिदें बनाने का और बाग़-बग़ीचे डालने का शौक़ था। दिल्ली के नज़दीक फ़ीरोज़ाबाद, और इलाहाबाद से कुछ दूर पुर नगर उसीके बसाये हुए हैं। उसने जमना की एक बड़ी नहर भी बनवाई थी हुत-सी पुरानी इमारतों की, जो टूट-फूट रही थीं, मरम्मत करवाई थी। उसे इस काम पर बहुत गर्व था। वह अपनी बनवाई हुई नई इमारतों की, मरम्मत कराई हुई पुरानी इमारतों की, एक लम्बी सूची छोड़ गया है।

फ़ीरोज़शाह की माँ राजपूत थी। उसका नाम बीबी नैला था और वह बड़े सरदार की बेटी थी। कहते हैं कि उसके पिता ने पहले फ़ीरोज़ के बाप के उसका विवाह करने से इन्कार कर दिया था। इसपर लड़ाई ठन गई। नैला के पर हमला हुआ और वह बर्बाद कर दिया गया। जब बीबी नैला को हुआ कि उसके कारण उसकी प्रजा पर मुसीबत आ रही है, तो वह बहुत और उसने तय किया कि अपनेको फ़ीरोज़शाह के पिता के हवाले करके ख़त्म कर दे और अपनी प्रजा को बचा ले। इस तरह फ़ीरोज़शाह में राज-पूत ख़ून था। तुम देखोगी कि मुसलमान शासकों और राजपूत स्त्रियों के बीच आपसी विवाह अक्सर होने लगे थे। इसकी वजह से एक राष्ट्रीयता की ना के विकास में ज़रूर मदद मिली होगी।

फ़ीरोज़शाह, ३७ वर्ष के लम्बे समय तक राज करने के बाद, १३८८ ई० गया। फ़ौरन ही दिल्ली साम्राज्य का ढाँचा, जिसे उसने जोड़ रक्खा था, टुकड़े हो गया। कोई केन्द्रीय सरकार न रह गई और हर जगह छोटे-छोटे

---

[1] जब यह पुस्तक लिखी गई थी तबतक बोलती फ़िल्में नहीं बनी थीं।

शासकों की तूती बोलने लगी। गड़बड़ी और कमज़ोरी के इसी काल में, की मृत्यु के ठीक दस वर्ष बाद, तैमूर उत्तर से आ टूटा। दिल्ली को तो क़रीब मार ही डाला। धीरे-धीरे यह शहर फिर पनपा और पचास सुलतान की मातहती में एक केन्द्रीय सरकार की राजधानी फिर बन गया। यह छोटी-सी रियासत थी और दक्षिण, पश्चिम और पूर्वी भारत के से उसका कोई मुक़ाबला नहीं था। यहाँ के सुलतान अफ़ग़ान थे। वे लोग थे; यहाँतक कि उन्हींके अफ़ग़ानी अमीर-सरदार अन्त में उनसे और इतने ऊब गये कि उन्होंने एक विदेशी को अपने ऊपर राज बुलाया। यह विदेशी बाबर था। बाबर मंगोल था, जिसे अब हम भारत के बाद मुग़ल के नाम से पुकारते हैं। वह तैमूर की पीढ़ी का था और चंगेज़ख़ाँ के वंश की थी। उस समय वह क़ाबुल का शासक था। उसने का बुलावा ख़ुशी से मंजूर कर लिया। वास्तव में वह शायद बिना आनेवाला था। दिल्ली के नज़दीक पानीपत के मैदान में १५२६ ई० में भारत का साम्राज्य फ़तह कर लिया। एक विशाल साम्राज्य फिर भारत का मुग़ल-साम्राज्य कहते हैं। दिल्ली को फिर बड़प्पन साम्राज्य की राजधानी बन गई। लेकिन इस बात पर विचार करने भारत के दूसरे हिस्सों पर भी नज़र डालनी चाहिए और यह देखना डेढ़ सौ वर्षों में, जब दिल्ली का पतन हो रहा था, वहाँ क्या हो रहा था।

इस काल में भारत में छोटे-बड़े कई राज्य थे। नये बसाये हुए मुसलमानों की एक छोटी-सी रियासत थी, जहाँ शर्क़ी सुलतानों की यह रियासत बड़ी या ताक़तवर नहीं थी, और राजनीतिक दृष्टि से भी महत्व नहीं था। लेकिन पन्द्रहवीं सदी में क़रीब सौ वर्ष तक वह मज़हबी उदारता का बड़ा भारी केन्द्र रही। जौनपुर के मुसलमानी के इन ख़यालों को फैला रहे थे और जौनपुर के एक शासक ने तो मुसलमानों के बीच एक समन्वय क़ायम करने का जतन किया था, मैं अपने पिछले पत्र में कर चुका हूँ। कला और बढ़िया इमारत दिया जाता था और इसी तरह हिन्दी और बंगाली जैसी देश की को भी। भारी मज़हबी बैर-भावों के बीच जौनपुर की यह छोटी-सी और रियासत विद्या, संस्कृति और मज़हबी उदारता के आश्रय-स्थान के खड़ी नज़र आती है।

पूर्व की तरफ़ ठेठ इलाहाबाद के नज़दीक तक फैला हुआ गौड़ों राज्य था, जिसमें बिहार और बंगाल शामिल थे। गौड़ का नगर था, जिसका भारत के समुद्री किनारे के शहरों के साथ समुद्र के

-भारत में, इलाहाबाद के पश्चिम में क़रीब-क़रीब गुजरात तक फैला हुआ ड़ा राज्य था, जिसकी राजधानी माण्डव थी। यह शहर भी था और क़िला माण्डू में बहुत-सी सुन्दर और शानदार इमारतें बनीं, जिनके खण्डहरों को के लिए अभी तक लोग जाते हैं।

मालवा के उत्तर-पश्चिम में राजपूताना था, जिसमें बहुत-सी राजपूत थीं—खासकर चित्तौड़। चित्तौड़ और मालवा और गुजरात में अक्सर से लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। इन दोनों शक्तिशाली रियासतों के मुक़ाबले ड़ छोटी थी, लेकिन राजपूत लोग हमेशा बहादुर लड़ाके रहे हैं। संख्या में पर भी कभी-कभी उनकी जीत हुई है। चित्तौड़ के राणा ने मालवा पर की एक विजय मनाने के लिए चित्तौड़ में 'विजयस्तम्भ' नाम की एक मीनार बनवाई थी। माण्डव के सुलतान ने भी इससे होड़ करके माण्डू में मीनार बनवाई। चित्तौड़ की मीनार अभी तक क़ायम है; माण्डू की नष्ट हो चुकी है।

मालवा के पश्चिम में गुजरात था। वहाँ एक शक्तिशाली रियासत क़ायम र इसकी राजधानी अहमदाबाद, जिसे सुलतान अहमदशाह ने बसाया था, दस लाख की आबादी का एक बड़ा शहर बन गया। इस शहर में बड़ी इमारतें बनीं और कहते हैं कि ३०० वर्ष तक, यानी पन्द्रहवीं सदी से अठा- वीं तक, अहमदाबाद दुनिया के सबसे सुन्दर शहरों में गिना जाता था। विचित्र बात है कि इस शहर की बड़ी जामा मस्जिद, राणपुर के जैन-मन्दिर से चित्तौड़ के राणा ने इसी ज़माने में बनवाया था, बहुत मिलती है। इससे होता है कि भारत के पुराने वास्तुकार नये विचारों से किस तरह प्रभावित थे और एक नई वास्तुकला को जन्म दे रहे थे। यहाँ फिर तुम्हें कला के मैदान समन्वय दिखाई देगा, जिसका ज़िक्र मैं पहले कर चुका हूँ। आज भी अहमदा- नों में से बहुत-सी सुन्दर पुरानी इमारतें मिलती हैं, जिनमें पत्थर की खुदाई काम है। लेकिन इन इमारतों के चारों तरफ़ अब जो नया उद्योगी गया है, वह कोई ख़ूबसूरत चीज़ नहीं है।

इसी समय के लगभग पुर्तगाली लोग भारत में आये। तुम्हें याद ही होगा कि अन्तरीप का फेरा लगाकर वास्को-द-गामा ही पहले-पहल भारत आया ९८ ई० में वह दक्षिण में कलीकट पहुँचा। अलबत्ता इसके पहले भी बहुत- रोप भारत आ चुके थे, लेकिन वे व्यापारी की हैसियत से या सिर्फ़ सैर के लिए आये थे। पुर्तगाली अब दूसरे ही ख़याल से आये। इनमें अभिमान त्म-विश्वास भरा था। और पोप ने पूर्वी दुनिया का दानपत्र इनके नाम लिख था। ये लोग देश-विजय के इरादे से आये थे। शुरू में इनकी संख्या कम

थी, लेकिन फिर तो जहाज़-पर-जहाज़ आने लगे और इन्होंने समुद्र-तट जैसे कुछ शहरों पर क़ब्ज़ा भी कर लिया। पर पुर्तगाली लोग भारत में नहीं हो सके। वे देश के अन्दर कभी न घुस पाये; वैसे भारत पर समु आकर हमला करनेवाले पहले यूरोपीय यही थे। इनके बहुत दिन बाद और अंग्रेज़ आये। इस तरह समुद्री रास्ते खुल जाने पर भारत की समुद्री ज़ोरी ज़ाहिर हो गई। दक्षिण भारत के पुराने राज्य कमज़ोर पड़ गये थे और ध्यान अन्दर से होनेवाले खतरों की तरफ़ ही लगा हुआ था।

गुजरात के सुलतानों ने समुद्र पर भी पुर्तगालियों का मुक़ाबला उन्होंने उस्मानी तुर्कों से गठबन्धन करके पुर्तगाली जल-सेना को हरा दिया, बाद में पुर्तगाली जीत गये और समुद्र पर उनका क़ब्ज़ा हो गया। उसी वक़्त के मुग़ल बादशाहों के डर ने गुजरात के सुलतानों को पुर्तगालियों से सुलह मजबूर कर दिया, लेकिन पुर्तगालियों ने उन्हें धोखा दिया।

दक्षिण भारत में, चौदहवीं सदी की शुरुआत में, दो बड़ी सल्तनतें हुई थीं। एक गुलबर्गा, जिसे बहमनी सल्तनत कहते थे, और दूसरी उसके में विजयनगर। बहमनी सल्तनत सारे महाराष्ट्र इलाक़े में और कर्नाटक हिस्सों में फैली हुई थी। यह डेढ़ सौ वर्ष से ज्यादा चली, लेकिन इसका बहुत हेच है। जनता की बेहद मुसीबतों के साथ-साथ मज़हबी बैर-भाव, हत्या और सुलतान व अमीर-सरदारों के विलासों का ज़ोर था। सोलहवीं शुरुआत में अपनी घोर नालायक़ी की वजह से बहमनी सल्तनत ढह गई और टुकड़े होकर पाँच सल्तनतें बन गईं—बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा, बराड़। इसी बीच विजयनगर राज्य को बने क़रीब २०० वर्ष हो चुके थे, समय भी वह खूब अच्छी हालत में था। इन छः राज्यों के बीच अक्सर करते थे और हरेक दक्षिण का मालिक बनने की कोशिश करता था। तरह के गठबन्धन होते रहते थे, जो बार-बार बदलते रहते थे। कभी कोई राज्य हिन्दू-राज्य से लड़ता था; कभी मुसलमान और हिन्दू-राज्य मिल दूसरे मुसलमान राज्य से लड़ते थे। यह संघर्ष निरे राजनीतिक थे और कोई राज्य बहुत ज्यादा ताक़तवर होता मालूम पड़ता, तो दूसरे राज खिलाफ़ गठबन्धन कर लेते थे। आखिर विजयनगर की ताक़त और मुसलमान रियासतों को उसके खिलाफ़ एकजुट होने के लिए रुजू कर १५६५ ई० में, तालीकोटा के युद्ध में वे इसे पूरी तरह कुचलने में सफल विजयनगर का साम्राज्य ढाई सौ वर्ष बाद खत्म हो गया और यह शानदार शहर बिलकुल नष्ट हो गया।

पर कुछ ही दिन बाद इन विजयी मित्र-राज्यों में फूट पड़ गई और वे

लगे। और बहुत दिन न बीतने पाये थे कि उन सबपर दिल्ली के मुग़ल की छाया पड़ गई। इनके लिए पुर्तगाली एक और मुसीबत थे, जिन्होंने ई० में गोवा पर क़ब्ज़ा कर लिया था। यह बीजापुर रियासत में था। उनके ाड़ने की भरसक कोशिशों के बावजूद भी वे गोवा में डटे रहे और उनका बुकर्क, जिसे 'पूर्व के वाइसराय' का शानदार ख़िताब था, घिनौने ज़ुल्म र आया। पुर्तगालियों ने जनता का हत्याकाण्ड कर डाला और औरतों और को भी नहीं छोड़ा। तबसे आज तक पुर्तगाली गोवा में बराबर बने हुए हैं।[1] दक्षिण के इन राज्यों में, ख़ासकर विजयनगर, गोलकुण्डा और बीजापुर में, न्दर इमारतें बनीं। गोलकुण्डा तो अब खण्डहर हो गया है; बीजापुर में अभी की बहुत-सी सुन्दर इमारतें मौजूद हैं; विजयनगर मिट्टी में मिला दिया और अब उसका नाम-निशान भी नहीं है। इसी ज़माने में हैदराबाद का शहर के नज़दीक बसाया गया। कहा जाता है कि बाद में दक्षिण के राजगीर रीगर उत्तर की तरफ़ चले गये और उन्होंने आगरा का ताजमहल बनाने द दी।

क दूसरे के मज़हबों के लिए आमतौर पर उदारता के होते हुए भी कभी-रपन और मज़हबी बैर-भाव फूट पड़ते थे। युद्धों के साथ अक्सर भयंकर और बर्बादी हुआ करती थीं। फिर भी याद रखने की दिलचस्प बात यह है पुर की मुसलमान रियासत में हिन्दू घुड़सवार फ़ौज थी, और विजयनगर राज्य में मुसलमान सिपाही थे। मालूम होता है कि उस समय काफ़ी की सभ्यता थी। लेकिन यह सब धनवानों का खेल था; खेत में काम करने-दूर इससे बिलकुल अलग था। वह ग़रीब था, फिर भी जैसा हमेशा होता धनवानों के घोर विलास का बोझ बर्दाश्त करता था।

: ७७ :

विजयनगर

१५ जुलाई, १९३२

छले पत्र में दक्षिण के जिन राज्यों की चर्चा हमने की है, उनमें विजय-इतिहास सबसे लम्बा है। ऐसा हुआ कि बहुत-से विदेशी यात्री वहाँ आये राज्य और शहर का हाल लिख गये हैं। निकोलो कोन्ती नाम का एक सन् १४२० ई० में आया था। हिरात का अब्दुर्रज़्ज़ाक मध्य एशिया महान् के दरबार से १४४३ ई० में आया था। पेईज़ नाम का एक पुर्तगाली

---

[1] दिसम्बर १९६१ में भारतीय सेना ने गोवा को आज़ाद करा लिया है और उसकी बस्तियों पर भारतीय गणराज्य का अधिकार हो गया है।

१५२२ ई० में इस शहर में आया, और इसी तरह और भी बहुत-से
भारत का एक इतिहास भी है, जिसमें दक्षिण भारत की रियासतों
बीजापुर, का हाल है। यह इतिहास, जिस ज़माने की हम चर्चा कर रहे
थोड़े ही दिन बाद अकबर के ज़माने में, फ़रिश्ता ने फ़ारसी में लिखा
समय के लिखे गए इतिहासों में अक्सर पक्षपात की और बहुत बढ़ी-चढ़ी
रहती हैं, लेकिन उनसे हालात समझने में मदद बहुत मिलती है। कश्मीर
तरंगिणी' को छोड़कर मुसलमानों से पहले का कोई इतिहास नहीं मिलता।
फ़रिश्ता का इतिहास एक बिलकुल नई चीज़ थी। इसके बाद औरों ने भी

विदेशी यात्रियों ने विजयनगर के जो बयान लिखे हैं, उनसे इस
सही और पक्षपात-रहित तस्वीर हमारे सामने आ जाती है। इनसे हमें
मालूम होती हैं, उतनी उन कम्बख़्त युद्धों के बयानों से नहीं मालूम होतीं,
हुआ करते थे। इसलिए मैं तुम्हें कुछ वे बातें बताऊँगा, जो इन
लिखी हैं।

विजयनगर की बुनियाद सन् १३३६ ई० के क़रीब पड़ी। यह शहर
भारत के कर्नाटक प्रदेश में था। चूँकि यह हिन्दू राज्य था, इसलिए यह
था कि दक्षिण की मुसलमानी रियासतों से बहुत-से शरणार्थी वहाँ जा पहुँचे
तेज़ी से बढ़ने लगा। कुछ ही साल में इस राज्य ने दक्षिण में अपना
लिया; और इसकी राजधानी पर उसकी दौलत और ख़ूबसूरती की वजह
का ध्यान खिंचने लगा। विजयनगर दक्षिण में सबसे ज़्यादा प्रभावशाली
बन गया।

फ़रिश्ता ने इसके महान् वैभव का ज़िक्र किया है, और १४०६ ई०
गुलबर्गा का एक मुसलमान बहमनी बादशाह विजयनगर की एक राज
शादी करने वहाँ पहुँचा, तब राजधानी की क्या हालत थी, इसका बयान
फ़रिश्ता लिखता है कि सड़क के ऊपर छः मील तक ज़री, मख़मल और
की क़ीमती चीज़ें बिछाई गई थीं। धन की यह कितनी भयंकर और
बर्बादी थी!

१४२० ई० में इटालवी निकोलो कोन्ती आया। उसने लिखा है
का घेरा साठ मील का था। यह विस्तार इतना विशाल इसलिए था
बहुत-से बग़ीचे थे। कोन्ती की यह राय थी कि विजयनगर का शासक,
कहलाता था, उस समय भारत का सबसे शक्तिशाली राजा था।

इसके बाद मध्य-एशिया से अब्दुर्रज़्ज़ाक आया। विजयनगर
इसने मंगलूर के पास एक अद्भुत मन्दिर देखा, जो ख़ालिस पीतल का
ढाला गया था। वह १५ फ़ुट ऊँचा था और उसकी कुर्सी ३० फ़ुट लम्बी

ड़ी थी। उत्तर की ओर आगे वेलूर में वह ऐसे ही एक दूसरे मन्दिर को देखकर भी हैरत में आ गया। उसने इस मन्दिर का बयान करने की कोशिश नहीं की, उसे डर था कि अगर वह ऐसा करेगा तो लोग उसपर "बहुत बढ़ा-चढ़ा-हने का इलज़ाम लगावेंगे।" इसके बाद वह विजयनगर पहुँचा और इसके में तो वह अपने-आपको ही भूल गया है। उसने लिखा है—"यह शहर है कि सारी दुनिया में इसकी बराबरी की जगह न तो आँखों ने देखी न ने सुनी।" बाज़ारों के बारे में वह लिखता है—"हरेक बाज़ार के सिरे ऊँचे महराबों का सिलसिला और शानदार दालान हैं, लेकिन राजा का न सबसे ऊँचा है।" "बाज़ार बहुत लम्बे-चौड़े हैं। . . .मीठी सुगन्ध फूल इस शहर में हर वक़्त मिलते हैं और जीवन का आधार ही समझे हैं, मानो इनके बिना लोग ज़िन्दा ही नहीं रह सकते। एक पेशे या दस्तकारी ारियों की दूकानें पास-पास हैं। जौहरी लोग अपने माणक, मोती, हीरे बाज़ार में खुले आम बेचते हैं।" अब्दुर्रज़्ज़ाक ने आगे चलकर लिखा "इस मनोहर इलाक़े में, जिसमें राजा का महल है, बहुत-सी छोटी नदियाँ धाराएँ हैं, जो चमकदार और एक-समान कटे हुए पत्थरों की बनी नालियों होकर बह रही हैं। . .यह देश इतना घना बसा हुआ है कि थोड़ी-सी जगह अन्दाज़ लिख सकना नामुमकिन है।" और पन्द्रहवीं सदी के मध्य में हुआ मध्य एशिया का यह यात्री विजयनगर के वैभव की तारीफ़ के पुल हुआ, इसी तरह लिखता चला गया है।

यह खयाल हो सकता है कि अब्दुर्रज़्ज़ाक बहुत-से बड़े-बड़े शहरों से परिचित था, इसलिए जब उसने विजयनगर को देखा तो वह हक्का-बक्का रह गया। इसके बाद आनेवाला यात्री काफ़ी सफ़र किया हुआ था। यह पेईज़ नामक १५२२ ई० में आया था। यह ठीक वही समय था जब इटली पर रिनैसाँ पड़ रहा था और इटली के शहरों में सुन्दर इमारतें खड़ी हो रही थीं। को बहुत करके इटली के इन शहरों का पता था, इसलिए उसकी गवाही क़ीमत है। उसने लिखा है कि विजयनगर का शहर "रोम के बराबर देखने में बहुत सुन्दर मालूम होता है।" उसने इस शहर के अचम्भों का अनगिनती सरोवरों, पानी के सोतों और फल के बग़ीचों की मोहनी का र के साथ बयान किया है। उसने लिखा है कि यह शहर "दुनिया भर में ज़्यादा भरा-पूरा है. . .क्योंकि इस शहर की हालत वैसी नहीं है, जैसी दूसरे की होती है, जहाँ अफ़सर ज़रूरी चीज़ों की और रसद की कमी पड़ जाया है, क्योंकि यहाँ हरेक चीज़ की बहुतायत है।" राजमहल में इसने एक कमरा था, जो "सारा हाथीदाँत का बना हुआ था। कमरे की दीवारों पर ऊपर से तक और छत की कड़ियों के खम्भों पर सारे-के-सारे हाथी-दाँत के गुलाब

और कमल बने हुए थे। और ये सब इतनी खूबसूरती से बनाये गए थे कि बेहतर बन ही नहीं सकते थे। यह इतना क़ीमती और सुन्दर है कि इस दूसरा कहीं भी मुश्किल से मिलेगा।"

पेईज़ ने विजयनगर के उस समय के राजा का भी वर्णन किया है। यह भारत के इतिहास का एक महान् राजा हुआ और महान् योद्धा, शत्रुओं दिखानेवाला, साहित्य का पोषक और लोकप्रिय व उदार शासक के रूप में कीर्ति दक्षिण में अभी तक बाक़ी है। इसका नाम कृष्णदेव राय था। इसने से १५२९ ई० तक, बीस वर्ष राज्य किया। पेईज़ ने उसके क़द और और गोरे रंग का भी वर्णन किया है। "यह राजा इतना भय और सारे गुणों की खान है जितना कि होना सम्भव है। यह खुशमिज़ाज विनोदी है। यह विदेशियों की इज्ज़त करना चाहता है; उनका विनय से करता है और उनकी हालत चाहे जो हो, उनकी सारी घरू बातें पूछता है। राजा की कई उपाधियाँ गिनाने के बाद पेईज़ लिखता है—"लेकिन है कि वह ऐसा बाँका और सब गुणों की खान है कि जो कुछ उसके पास उसके जैसे आदमी के लिए कुछ भी नहीं है।"

वास्तव में कितनी ऊँची प्रशंसा है यह! विजयनगर का साम्राज्य सारे दक्षिण में और पूर्वी समुद्री किनारे पर फैला हुआ था। इसके अन्दर तिरुवाँकुर और आजकल के मद्रास का सारा प्रान्त आ जाता था।

एक और भी चीज़ का मैं ज़िक्र करूँगा। १४०० ई० के क़रीब अच्छा पानी लाने के लिए बहुत बड़ी नहरें बनाई गई थीं। एक नदी सारे बाँध से रोक दी गई थी और एक बड़ा तालाब बना दिया गया था। इसी १५ मील लम्बी नहर के ज़रिये, जो पहाड़ को काटकर बनाई गई थी, पानी जाता था।

विजयनगर ऐसा ही था। इसे अपनी दौलत और खूबसूरती पर और अपनी ताक़त पर ज़रूरत से ज़्यादा भरोसा था। किसी को यह नहीं था कि इस शहर और साम्राज्य का अन्त इतना नज़दीक है। पेईज़ के ४३ वर्ष बाद ही अचानक ख़तरा पैदा हो गया। दक्षिण की दूसरी बैर-भाव से विजयनगर के खिलाफ़ एक गुट्ट बना लिया और इसे नष्ट इरादा कर लिया। उस वक़्त भी विजयनगर बेवक़ूफ़ों की तरह अपनी घमण्ड में रहा। पर जल्द ही उसका अन्त हो गया और इस अन्त वड़ी ही भयानक थी।

जैसा मैंने तुम्हें बताया है, १५६५ ई० में रियासतों के इस गुट्ट नगर को हरा दिया। ज़बर्दस्त नर-हत्या हुई और उसके बाद यह विशाल

गया। तमाम सुन्दर इमारतें, मन्दिर और महल बर्बाद कर दिये गए। निहायत पत्थर की नक़्क़ाशी और मूर्त्तियां चकनाचूर कर डाली गईं और जितनी जलाई जा सकती थीं, उनकी बड़ी-बड़ी होलियाँ जला दी गईं। यह शहर बर्बाद किया गया कि सिर्फ़ खण्डहरों के ढेर बाक़ी रह गये। एक अंग्रेज़ कार कहता है, "दुनिया के इतिहास में ऐसे शानदार शहर का सत्यानाश, वह भी ऐसा अचनाक, शायद कभी भी नहीं किया गया। वह शहर, जो पूरी तरह ख़ुशहाल, दौलतमन्द और मेहनती आबादी से भरा हुआ था, ही दिनों, वहशियाना हत्याकाण्ड के नज़ारों और सारे बयानों को फीका करने- भयंकर कारनामों के बीच, दूसरों के क़ब्ज़े में आया, लूटा गया और खण्डहर दिया गया।"

: ७८ :

मज्जापहित और मलक्का का मलेशिया साम्राज्य

१७ जुलाई, १९३२

हमने मलेशिया और पूर्वी द्वीपों की तरफ़ इधर बहुत कम ध्यान दिया है इनके बारे में लिखे हुए बहुत दिन हो गये। मैंने उलटकर देखा तो मुझे हुआ कि मैंने अपने ४६ नम्बर के पत्र में इनका हाल लिखा था। उस वक़्त तक इकत्तीस पत्र हो गये और अब हम ७८वें नम्बर तक आ पहुंचे हैं। सब को साथ-साथ लेना मुश्किल काम है।

आज से ठीक दो महीने पहले मैंने जो कुछ तुम्हें लिखा था, वह तुम्हें याद क्या कम्बोदिया, अंकोर, सुमात्रा और श्रीविजय याद हैं? क्या तुम्हें यह है कि हिन्द-चीन के पुराने भारतीय उपनिवेश कई सौ वर्षों के दौरान किस बढ़कर एक बड़ा राज्य—काम्बोज का साम्राज्य के रूप में बन गये। और क़ुदरत का चक्र चला तो उसने इस नगर और साम्राज्य को सख़्ती से और ख़त्म कर दिया। यह १३०० ई० के लगभग की बात है।

इस काम्बोजी साम्राज्य का लगभग समकालीन एक दूसरा बड़ा राज्य समुद्र पार सुमात्रा के टापू में था। लेकिन श्रीविजय, साम्राज्य बनाने की दौड़ में बाद शामिल हुआ था और काम्बोज के बाद तक क़ायम रहा। इसका अन्त करके एकदम हुआ, लेकिन यह क़ुदरत का नहीं, बल्कि आदमी का काम सौ वर्षों तक श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य फूला-फला। पूर्व के लगभग टापुओं पर उसका अधिकार था और कुछ दिन तो उसने भारत, लंका और चीन पैर रखने की जगह बना ली थी। यह व्यापारियों का साम्राज्य था और तिजा- मुख्य काम था। लेकिन उसी समय जावा द्वीप के पूर्वी हिस्से में एक और

व्यापारी साम्राज्य उठ खड़ा हुआ। यह एक हिन्दू-राज्य था, जिसने श्री सामने सर झुकाने से इन्कार कर दिया।

नवीं सदी के शुरू से चार सौ वर्षों तक पूर्वी जावा के इस राज्य को की बढ़ती हुई ताक़त का ख़तरा बना रहा। लेकिन वह अपनी स्वाधीनता रखने में कामयाब रहा और साथ ही इसने इतनी बड़ी संख्या में पत्थर के मन्दिर बनवाये कि अचम्भा होता है। इन मन्दिरों में सबसे मशहूर बोरो मन्दिर कहलाते हैं, जो अभी तक मौजूद हैं और जिन्हें देखने के लिए जाते हैं। श्रीविजय के राज्य में शामिल होने से बच जाने पर पूर्वी जावा ख़ुद हो गया और अपने पुराने दुश्मन श्रीविजय के लिए उलटा एक ख़तरा दोनों व्यापारिक राज्य थे और दोनों के जहाज़ व्यापार के लिए सागरों जाते थे, इसलिए दोनों की आपस में अक्सर टक्कर होती रहती थी।

मेरा दिल चाहता है कि जावा और सुमात्रा की इस होड़ का इंग्लैण्ड जैसी आजकल की शक्तियों में चलनेवाली होड़ से मुक़ाबला महसूस करके कि श्रीविजय को रोकने का और अपनी तिजारत को बढ़ाने एक ही उपाय है कि अपनी जलसेना को मज़बूत किया जाय, जावा ने अपनी शक्ति ख़ूब बढ़ा ली। बड़े-बड़े जंगी बेड़े लड़ाई के लिए भेजे जाते थे, तक इनका मुक़ाबला दुश्मन से नहीं होता था। इस तरह जावा बढ़ता और दिन-दिन सरज़ोर होने लगा। तेरहवीं सदी के अन्त में मज्जापहि शहर बसाया गया और यह जावा के बढ़ते हुए राज्य की राजधानी हो

यह जावा राज्य इतना गुस्ताख़ और घमण्डी हो गया कि इसने कुबलइ के दूतों का, जो ख़िराज लेने के लिए यहाँ भेजे गए थे, अपमान भी यही नहीं कि ख़िराज न दिया हो, बल्कि एक दूत के माथे पर अपमान सन्देश गोद दिया गया। मंगोल ख़ान के साथ इस तरह का खिलवाड़ ही ख़तरनाक और बेवक़ूफ़ी की बात थी। ऐसे ही अपमान के बदले में हाथों मध्य एशिया का विनाश हुआ था और बाद में हलाकू के हाथों फिर भी जावा के छोटे-से टापूवाले राज्य ने ऐसी जुरंत की। लेकिन जावा क़िस्मती थी कि मंगोल लोग बहुत-कुछ ठण्डे पड़ गये थे और उन्हें देश-वि इच्छा नहीं रही थी। समुद्री लड़ाई भी उन्हें बहुत पसन्द न थी; वे तो पर अपने को ज़्यादा बलवान समझते थे। फिर भी कुबलइ ने जावा के को सज़ा देने के लिए फ़ौज भेजी। चीनियों ने जावानियों को हरा दिया राजा को मार डाला। लेकिन मालूम होता है उन्होंने ज़्यादा नुक़सान नहीं चीनी असर से मंगोल कितने बदल गये थे!

देखा जाय तो वास्तव में इस चीनी हमले के नतीजे से जावा,

ापहित साम्राज्य कहेंगे, अन्त में और भी ज़्यादा मज़बूत हो गया। इसकी वजह थी कि चीनियों ने जावा में बन्दूकों का इस्तेमाल जारी कर दिया और शायद बन्दूकों की ही वजह से मज्जापहित को आगे चलकर लड़ाइयों में कामयाबी ी।

मज्जापहित का साम्राज्य फैलता गया। लेकिन यह कोई संयोग से या बेढंगेपन ही हुआ। यह साम्राज्यशाही विस्तार था, जिसका संगठन राज्य करता था र जिसे एक कुशल थल व जल सेना पूरा करती थी। विस्तार के इस ज़माने कुछ हिस्से में महारानी सुहिता यहाँ की शासक थी। मालूम होता है कि सरकार ही केन्द्रित और कारगर थी। पश्चिमी इतिहासकारों ने लिखा है कि कर ने की, चुंगी की, राहदारी की और लगान की प्रणाली बहुत ऊँचे दर्जे की थी। ार के अलग-अलग महकमों में से कुछ ये थे—उपनिवेश-विभाग, वाणिज्य ग, सार्वजनिक कल्याण और सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग, गृह-विभाग और विभाग। एक सबसे ऊँची अदालत थी, जिसमें दो अध्यक्ष-न्यायाधीश और न्यायाधीश हुआ करते थे। मालूम होता है ब्राह्मण पुरोहितों के हाथों में बहुत ी थी, लेकिन कहने को राजा इनपर अंकुश रखता था।

ये विभाग और इनमें से कुछ के नाम भी हमें कुछ हद तक कौटिल्य के अर्थ-स्त्र की याद दिलाते हैं। लेकिन उपनिवेशों का विभाग नया था। राज्य के अन्दरूनी ाम से सम्बन्ध रखनेवाले गृह-विभाग का अधिकारी 'मन्त्री' कहलाता था। ज़ाहिर होता है कि भारतीय परम्पराएँ और संस्कृति इन टापुओं में दक्षिणी त के पल्लवों की पहली बस्ती बसने के १२०० वर्ष बाद तक क़ायम रहीं। भी हो सकता था जब सम्पर्क बराबर बना रहा हो और इसमें शक नहीं कि रह का सम्पर्क व्यापार के ज़रिये बना हुआ था।

चूँकि मज्जापहित एक व्यापारिक साम्राज्य था, इसलिए यह स्वाभाविक ही कि निर्यात और आयात के व्यापारों की व्यवस्था सावधानी के साथ की जाती। उस व्यापार को कहते हैं, जिसमें माल विदेशों को भेजा जाता है और उस व्यापार को कहते हैं, जिसमें बाहर के देशों से अपने देश में माल आता ह व्यापार खासतौर से भारत, चीन और उसके अपने उपनिवेशों से हुआ था। जब श्रीविजय से युद्ध ठना हुआ था, तब उसके साथ या उसके उपनिवेशों थ, शान्ति से व्यापार नहीं हो सकता था।

जावा का राज्य कई सौ वर्षों तक रहा, लेकिन मज्जापहित साम्राज्य का काल १३३५ से १३८० ई० तक, यानी केवल ४५ वर्ष का था। इसी ज़माने ३७७ ई० में श्रीविजय पर आख़िरी तौर से क़ब्ज़ा हुआ और वह नष्ट कर दिया ा। अनाम, स्याम और काम्बोज के साथ मज्जापहित की सन्धियाँ थीं।

मज्जापहित की राजनगरी बहुत सुन्दर और ख़ुशहाल थी। शहर के बीच शिव का बहुत बड़ा मन्दिर था। इसके अलावा बहुत-सी शानदार इमारतें सच तो यह है कि मलेशिया के सारे भारतीय उपनिवेशों ने सुन्दर इमारतें कमाल हासिल किया था। जावा में और भी बड़े-बड़े शहर और बन्दर

यह साम्राज्यशाही राज्य अपने पुराने दुश्मन श्रीविजय के बाद तक नहीं टिका। घरेलू लड़ाई शुरू हो गई और चीन से भी झगड़ा हो गया। यह हुआ कि चीनी जहाज़ों का एक बड़ा बेड़ा जावा पर चढ़ आया। धीरे-धीरे टूट-टूटकर अलग होते गये। १४२६ ई० में बड़ा भारी अकाल दो वर्ष बाद मज्जापहित साम्राज्य नहीं रह गया। फिर भी यह एक स्वाधीन की हैसियत से पचास वर्ष और चलता रहा। इसके बाद मलक्का के मुसलमान ने इस पर क़ब्ज़ा कर लिया।

इस तरह मलेशिया की पुरानी भारतीय बस्तियों से पैदा होनेवाले में से तीसरा साम्राज्य ख़त्म हुआ। अपने छोटे-छोटे पत्रों में हमने बड़े-बड़े को निबटाया है। भारत के उपनिवेशी पहले-पहल ईसाई सन् की क़रीब यहाँ आये थे और इस वक़्त हम पन्द्रहवीं सदी का ज़िक्र कर रहे हैं। हमने इन उपनिवेशों के इतिहास के १४०० वर्षों का सिंहावलोकन कर हमने जिन तीन साम्राज्यशाही राज्यों, यानी काम्बोज, श्रीविजय और पर ख़ास तौर से ग़ौर किया है, उनमें से हरेक सैंकड़ों वर्ष क़ायम रहा। ज़मानों को ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि इनसे इन राज्यों की पायेदा कुशलता का कुछ अन्दाज़ हो जाता है। सुन्दर इमारतों से उन्हें ख़ास और व्यापार उनका मुख्य धन्धा था। वे भारतीय संस्कृति की परम्परा हुए थे और इसमें उन्होंने चीनी संस्कृति के बहुत-से तत्त्वों को भी मिलाकर रस बना दिया था।

तुम्हें यह याद होगा कि जिन तीन भारतीय उपनिवेशों का मैंने ख़ास ज़िक्र किया है, उनके अलावा और भी भारतीय बस्तियाँ थीं। लेकिन हम अलग-अलग ध्यान नहीं दे सकते; और न मैं दो पड़ौसी देशों, यानी बरमा और के बारे में ही कुछ ज़्यादा कह सकता हूँ। इन दोनों देशों में भी बड़े राज्य बने और कला की हलचल ने ख़ूब ज़ोर पकड़ा। दोनों में बौद्ध-धर्म बरमा पर मंगोलों ने एक बार हमला किया था, लेकिन स्याम पर चीनियों हमला नहीं किया। मगर बरमा और स्याम दोनों अक़्सर चीन को ख़िराज यह इस क़िस्म की भेंट थीं, जैसी कोई विनयशील छोटा भाई बड़े भाई को इस ख़िराज के बदले छोटे भाई के पास चीन से क़ीमती तोहफ़े आते थे।

मंगोलों का हमला होने के पहले बरमा की राजधानी पगान थी।

बरमा में था। यह शहर २०० वर्षों से ज्यादा राजधानी रहा। कहते हैं कि शहर बड़ा सुन्दर था और अंकोर के अलावा कोई दूसरा शहर इसका मुक़ाबला कर सकता था। इसकी सबसे बढ़िया इमारत आनन्द मन्दिर थी, जो बौद्ध के दुनिया भर में सबसे सुन्दर नमूनों में गिनी जाती है। इसके अलावा और बहुत-सी शानदार इमारतें थीं। सच तो यह है कि आज पगान शहर के खण्डहर सुन्दर हैं। पगान की शान का ज़माना ग्यारहवीं से तेरहवीं सदी तक था। के बाद कुछ दिन बरमा में कुछ गड़बड़ और खलबली रही और उत्तरी बरमा बरमा से अलग हो गया। सोलहवीं सदी में दक्षिण में एक बड़ा राजा पैदा और उसने बरमा को फिर एक कर दिया। उसकी राजधानी पेगू में थी, जो में है।

मुझे उम्मीद है कि बरमा और स्याम के इस थोड़े और अचानक ज़िक्र से उलझन में न पड़ोगी। हम मलेशिया और इन्दोनेशिया के इतिहास के एक के अन्त तक पहुँच गये हैं और मैं अपना सिंहावलोकन पूरा कर लेना चाहता तक इन हिस्सों पर राजनीतिक और सांस्कृतिक जो भी मुख्य प्रभाव उनका मूल भारत और चीन में था। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, एशिया के दक्षिण-पूर्वी देशों, यानी बरमा, स्याम और हिन्द-चीन पर चीन का प्रभाव पड़ा था। टापुओं और मलाया प्रायद्वीप पर भारत का ज्यादा पड़ा था।

अब एक नया असर मैदान में आता है। यह अरबों का लाया हुआ था। और स्याम तो इससे बच गये पर मलाया और टापू इस असर में आ गये थोड़े ही दिनों में एक मुसलमानी साम्राज्य बनने लगा।

अरब व्यापारी इन टापुओं में हज़ार या अधिक वर्षों से आते थे और बसते लेकिन इनका सारा ध्यान अपने धन्धे में ही रहता था, और ये हुकूमत में दखल नहीं देते थे। चौदहवीं सदी में अरबी धर्म-प्रचारक अरब से यहाँ आये उन्हें कामयाबी हुई, ख़ासतौर से कुछ मुक़ामी शासकों को मुसलमान में।

इसी बीच राजनीतिक परिवर्तन शुरू हो गये थे। मज्जापहित फैल रहा था श्रीविजय को कुचल रहा था। जब श्रीविजय का पतन हुआ तो बहुत-से शरणार्थी कर मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में जा बसे। वहाँ उन्होंने मलक्का शहर क़ायम यह शहर और राज्य तेज़ी से बढ़े और १४०० ई० में ही मलक्का एक बड़ा हो गया था। मज्जापहित के जावानियों को उनकी प्रजा के लोग पसन्द नहीं थे। जैसा आमतौर पर साम्राज्यवादियों का तरीक़ा होता है, ये लोग ज़ालिम इसलिए बहुत-से लोगों ने मज्जापहित में रहने की बनिस्बत मलक्का के नये

राज्य में जाकर बसना बेहतर समझा। स्याम भी इस वक़्त कुछ ज़्यादा सर
रहा था। इसलिए मलक्का बहुत-से लोगों के लिए शरण की जगह बन गया।
मुसलमान और बौद्ध दोनों थे। यहाँ के शासक पहले तो बौद्ध थे, लेकिन
उन्होंने इस्लाम क़बूल कर लिया।

मलक्का के नये राज्य को एक तरफ़ जावा से और दूसरी तरफ़
खतरा था। इसने टापुओं की दूसरी छोटी-छोटी मुसलमान रियासतों से
और गठबन्धन करने की कोशिश की। इसने बचाव के लिए चीन से भी
माँगी। उस वक़्त मिङ लोग, जो मंगोलों को हरा चुके थे, चीन में राज कर
यह मार्के की बात है कि मलेशिया की छोटी-छोटी सब मुसलमान रियासतों
साथ ही बचाव के लिए चीन का मुँह ताका। इससे ज़ाहिर होता है कि इन्हें
वर दुश्मनों का कोई तुरन्त का खतरा रहा होगा।

मलेशिया के देशों के साथ चीन ने हमेशा से दोस्ताना, पर रौबदार
की नीति बरती। दूसरे देशों को जीतने की उसे ज़रा भी इच्छा नहीं थी।
खयाल था कि दूसरे देशों को जीतने से उसे कोई लाभ नहीं मिल सकता,
वह इन्हें अपनी सभ्यता सिखाने के लिए तैयार था। ऐसा लगता है कि मिङ
ने इस पुरानी नीति को बदलने और इन देशों में ज़्यादा दिलचस्पी लेने का
किया। जान पड़ता है कि उसने जावा और स्याम की सरज़ोरी को पसन्द नहीं
इसलिए इनको रोकने और दूसरों पर चीन की शक्ति का सिक्का जमाने के
से उसने एक बड़ा जंगी-बेड़ा जल-सेनापति चेंङ-हो की मातहती में भेजा।
में कई जहाज़ ४०० फ़ुट लम्बाई के थे।

चेंङ-हो कई बार आया-गया और उसने क़रीब-क़रीब सभी टापुओं—
पाइन, जावा, सुमात्रा, मलाया प्रायद्वीप, वग़ैरा का दौरा किया। वह
भी जा पहुँचा और उसे जीतकर उसके राजा को चीन पकड़ ले गया।
आख़िरी धावे में वह ईरान की खाड़ी तक पहुँच गया था। पन्द्रहवीं सदी
आत में चेंङ-हो की इन यात्राओं का उन सब देशों पर ज़बर्दस्त असर पड़ा
जहाँ वह गया था। हिन्दू मज्जापहित और बौद्ध स्याम को दबाने के लिए
जान-बूझकर इस्लाम को बढ़ावा दिया और मलक्का की रियासत उसके
बेड़े की छत्र-छाया में बहुत मज़बूती से जम गई। इसमें शक नहीं कि चेंङ
नीयत केवल राजनीतिक थी और मज़हब से इसका कोई ताल्लुक़ न था।
तो बौद्ध था।

इस तरह मलक्का की रियासत मज्जापहित के विरोधियों की
गई। इसकी ताक़त बढ़ने लगी और इसने धीरे-धीरे जावा के उपनिवेशों पर
कर लिया। १४७८ ई० में मज्जापहित शहर पर भी क़ब्ज़ा हो गया।

दरबारों का और शहरों का मज़हब बन गया। लेकिन देहात में, भारत की पुराने विश्वास और कथाएँ और रिवाज जारी रहे।

मलक्का का साम्राज्य श्रीविजय और मज्जापहित की तरह महान् और उम्र का हो सकता था, लेकिन इसे मौक़ा न मिला। इस बीच में पुर्तगाली आ और कुछ वर्षों के अन्दर, १५११ ई० में, इस पर उनका क़ब्ज़ा हो गया। इस चौथे की जगह पाँचवें साम्राज्य ने ले ली और वह भी बहुत दिनों तक टिका न इतिहास में पहली बार पूर्वी समुद्रों में यूरोप सरज़ोर और हावी हो गया।

: ७९ :

यूरोप पूर्वी एशिया को हड़पना शुरू करता है

१९ जुलाई, १९३२

हमने अपना आखिरी पत्र उस मौक़े पर ख़त्म किया था, जब मलेशिया में नज़र आने लगे थे। तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें कुछ दिन पहले बताया समुद्र के रास्ते कैसे खोजे गए और पुर्तगाल और स्पेन के लोगों में सबसे पूर्व पहुँचने के लिए कैसी दौड़-सी मची थी। पुर्तगाल पूर्व की तरफ़ गया और पश्चिम की तरफ़। पुर्तगाल अफ़्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुँच गया। ग़लती से अमेरिका से जा टकराया और बाद में दक्षिण अमेरिका का चक्कर कर मलेशिया पहुँचा। अब हम अपनी कुछ बातों के सिलसिले को जोड़कर की अपनी कहानी आगे बढ़ा सकते हैं।

शायद तुम्हें मालूम हो कि गरम मसाले (कालीमिर्च वग़ैरा) गर्म आबहवा में, भूमध्य-रेखा के आस-पास के देशों में पैदा होते हैं। यूरोप में मसाले बिलकुल नहीं होते। दक्षिण भारत और लंका में कुछ पैदा होते हैं, लेकिन ये मसाले कर मलेशिया के टापुओं से, जिन्हें मोलुक्का या मलक्का कहते हैं, आते हैं। टापुओं को असल में 'मसाले के टापू' कहते हैं। बहुत पुराने ज़माने से यूरोप में मसालों की बहुत माँग थी और वे बराबर भेजे जाते थे। यूरोप पहुँचते-पहुँचते क़ीमत बहुत बढ़ जाती थी। रोमनी ज़माने में कालीमिर्च सोने के भाव बिकती चूँकि मसाले इतने क़ीमती होते थे और पश्चिम में उनकी इतनी माँग थी, यूरोप इनके मँगाने का खुद कोई इन्तज़ाम नहीं करता था। बहुत दिनों मसाले का व्यापार भारतवासियों के हाथों में था। फिर अरबों के हाथों में या। यह मसालों का ही खिंचाव था, जिसने पुर्तगाल और स्पेन के लोगों को दिशाओं में बढ़ते चले जाने के लिए खींचा और अन्त में उन्हें मलेशिया में मिला दिया। पुर्तगाली इस खोज में आगे रहे, क्योंकि स्पेन के लोग पूर्व रास्ते में अमेरिका में धन्धे से लग गये और बहुत मुनाफ़े कमाते रहे।

वास्को-द-गामा उत्तमाशा अन्तरीप होता हुआ जब भारत पहुँचा,
थोड़े ही दिन बाद बहुत-से पुर्तगाली जहाज़ इसी रास्ते आये और पूर्व की
आगे बढ़ गये। उन्हीं दिनों मसाले और दूसरी चीज़ों का व्यापार मलक्का
साम्राज्य के हाथ में था। इसलिए पुर्तगाली इस साम्राज्य से और सारे
व्यापारियों से टकरा गये। पुर्तगालियों के वाइसराय अलवुकर्क़ ने १५११ ई॰
मलक्का पर क़ब्ज़ा कर लिया और मुसलमानी तिजारत का खात्मा कर
यूरोप का व्यापार अब पुर्तगालियों के हाथ में आ गया और यूरोप में
राजधानी लिस्बन मसालों और दूसरे पूर्वी मालों को सारे यूरोप में भेजने
बड़ा व्यापारी केन्द्र बन गई।

यह बात ध्यान में रखने लायक़ है कि अलवुकर्क़ अरबों का तो बड़ा सख्त
ज़ालिम दुश्मन था। लेकिन वह पूर्व की दूसरी व्यापारी क़ौमों के साथ दोस्ती
की कोशिश करता था। खासकर जितने चीनी उससे मिलते थे, उन सबके साथ
खासतौर पर वर्ताव करता था। इसका नतीजा यह हुआ कि पुर्तगालियों
बारे में चीन में बहुत अनुकूल समाचार पहुँचे। शायद अरबों से उसकी दु
की वजह यह थी कि अरब लोग पूर्वी व्यापार पर प्रभुत्व जमाये हुए थे।

इस बीच मसाले के टापुओं की तलाश जारी रही। मैगेलन, जिसने
प्रशान्त महासागर पार किया और दुनिया का चक्कर लगाया, उस जहाजी
शामिल था, जिसने मलक्का खोज निकाला था। साठ वर्ष से ऊपर यूरोप के
मसाले के व्यापार में पुर्तगालियों का कोई बराबरी करनेवाला नहीं रहा।
१५६५ ई॰ में स्पेन ने फ़िलिपाइन टापुओं पर क़ब्ज़ा कर लिया और इस
पूर्वी समुद्र पर एक दूसरी यूरोपीय शक्ति का उदय हुआ। लेकिन स्पेन की
से पुर्तगालियों के व्यापार में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा, क्योंकि स्पेन के लोग स्व
व्यापारी नहीं थे। ये लोग पूर्व को अपने सिपाही और धर्म-प्रचारक भेजते
पुर्तगालियों का मसाले के व्यापार पर एकाधिकार हो गया। यहाँ तक कि
और मिस्र को भी पुर्तगालियों के ही ज़रिये मसाले मँगवाने पड़ते थे। ये लोग
दूसरे को मसाले के टापुओं से सीधा व्यापार करने तक की इजाज़त नहीं दे
इसलिए पुर्तगाल मालामाल हो गया, लेकिन उसने उपनिवेश बसाने की
कोशिश नहीं की। तुम जानती हो कि पुर्तगाल छोटा-सा देश है और उसके
बाहर भेजने के लिए काफ़ी आदमी नहीं थे। इस छोटे-से देश ने १०० वर्षों तक,
सारी सोलहवीं सदी में, पूर्व में जो कुछ किया वह काफ़ी ताज्जुब की चीज़

इस बीच स्पेनी लोग फ़िलिपाइन में जमे रहे और उनसे जितना पैसा
सकते थे खींचने की कोशिश करते रहे। ज़बर्दस्ती खिराज लेने के अलावा इनका
दूसरा काम नहीं था। पूर्वी समुद्र में टक्कर बचाने के लिए उन्होंने पुर्तगालि
सुलह कर ली थी। स्पेन की सरकार फ़िलिपाइनवालों को स्पेनी अमेरिका से

रखे देती थीं, क्योंकि उसे डर था कि मैक्सिको और पेरू का सोना और खिचकर पूर्व में चला जायगा। साल भर में सिर्फ़ एक जहाज आता-जाता था। 'मनिल्ला गैलियों' कहते थे और तुम कल्पना कर सकती हो कि इसकी यात्रा की फ़िलिपाइन के स्पेनी लोग कितनी बेक़रारी के साथ बाट देखा होंगे। यह 'मनिल्ला गैलियों' २४० वर्ष तक अमेरिका और पूर्वी टापुओं प्रशान्त महासागर पार करके आया-जाया करता था।

स्पेन और पुर्तगाल की इन सफलताओं से यूरोप में दूसरी क़ौमें डाह से रही थीं। जैसा कि हम आगे ज़िक्र करेंगे, उस वक़्त स्पेन यूरोप पर हावी इंग्लैण्ड अव्वल दर्जे की शक्ति नहीं था। निदरलैण्ड में, यानी हालैण्ड और बेल-के कुछ हिस्से में, स्पेन की हुकूमत के ख़िलाफ़ विद्रोह हो गया था। अंग्रेज़ स्पेन से डाह के कारण डच[1] लोगों से हमदर्दी रखते थे। इसलिए उन्होंने के हालैण्ड की मदद की। इनके कुछ नाविक खुले समुद्रों में जहाज़ों पर रखते हुए घूमा करते थे और अमेरिका से आनेवाले ख़जाने से लदे स्पेनी जहाज़ों लेते थे। कुछ जोखिम-भरी लेकिन मुनाफ़ेवाली इस शिकारबाज़ी का सरदार ड्रेक था और वह इसे 'स्पेन के बादशाह की दाढ़ी झुलसाना' कहा करता था।

१५७७ ई० में ड्रेक पाँच जहाज़ों को लेकर स्पेन के उपनिवेशों को लूटने निकला। लूट में तो वह कामयाब रहा, लेकिन उसके चार जहाज़ डूब गये। सिर्फ़ एक जहाज़ 'गोल्डन हिन्द' प्रशान्त महासागर पहुँचा और इसीसे ड्रेक अन्तरीप होता हुआ इंग्लैण्ड वापस आया। इस तरह उसने सारी दुनिया का लिया। मैगेलन के 'वित्तोरिया' के बाद 'गोल्डन हिन्द' ही दूसरा जहाज़ पृथ्वी की परिक्रमा की। इस परिक्रमा में तीन वर्ष लगे थे।

स्पेन के बादशाह की डाढ़ी झुलसाना, विना झगड़ा किये ज़्यादा दिन जारी सका और इंग्लैण्ड और स्पेन के बीच बहुत जल्द युद्ध ठन गया। डच लोग पहले ही लड़ रहे थे। पुर्तगाल भी इस लड़ाई में फँस गया था, क्योंकि कुछ स्पेन और पुर्तगाल पर एक ही बादशाह राज कर रहा था। इंग्लैण्ड ने खुश-क़िस्मती और मज़बूत इरादे से इस युद्ध में कामयाबी हासिल करके अचम्भे में डाल दिया। तुम्हें याद होगा कि स्पेन ने इंग्लैण्ड को जीतने जो 'अजय जंगी बेड़ा' भेजा था, वह ग़ारत हो गया था। लेकिन अभी तो ज़िक्र कर रहे हैं।

अंग्रेज़ों और डचों दोनों ने सुदूर-पूर्व के देशों पर धावा बोल दिया और स्पेनियों पुर्तगालियों पर हमला किया। स्पेनवाले सब फ़िलिपाइन में जमा थे और आसानी से रक्षा कर सकते थे। लेकिन पुर्तगालियों को भारी नुक़सान

---

[1] हालैण्ड के निवासी डच कहलाते हैं।

पहुँचा। उनका पूर्वी साम्राज्य लाल सागर से लगाकर मसाले के टापू तक ६००० मीलों में फैला हुआ था। ये लोग ईरान की खाड़ी में अदन में, लंका में, और भारत के किनारे की कितनी ही जगहों में, और हाँ सारे में और मलाया में, जमे हुए थे। धीरे-धीरे इनका पूर्वी साम्राज्य इनके हाथ रहा। शहर के बाद शहर और बस्ती के बाद बस्ती या तो डचों के या अंग्रेज़ों पड़े। मलक्का भी १६४१ ई० में जाता रहा। अगर बचीं तो भारत में और जगह दो-चार छोटी-छोटी चौकियां। पश्चिम, भारत में गोवा इनमें मुख्य पुर्तगाली वहाँ अभी तक बने हुए हैं। कुछ वर्ष पहले क़ायम हुए पुर्तगाली का यह एक हिस्सा माना जाता है। अकबर ने पुर्तगालियों से गोवा छीनना था, लेकिन वह भी कामयाब नहीं हुआ।

इस तरह अब पुर्तगाल पूर्वी इतिहास से बाहर हो जाता है। इस देश ने बहुत ही बड़ा कौर अपने मुँह में रख लिया था। वह उसे निगल बल्कि निगलने की कोशिश में खुद ही अपना ज़ोर गवाँ बैठा। स्पेन फ़िलि जमा रहा, लेकिन पूर्वी मामलों में अब उसका कोई हिस्सा नहीं रहा। पूर्व के व्यापार पर अब इंग्लैण्ड और हालैण्ड का प्रभुत्व हो गया। इन दोनों देशों काम के लिए दो व्यापारी कम्पनियाँ बनाकर पहले ही तैयार कर ली थीं। में रानी एलिज़ाबेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को १६०० ई० में एक अधिकार दिया था। दो वर्ष बाद डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी क़ायम हुई। ये दोनों सिर्फ़ व्यापार के लिए थीं। हालाँकि दोनों प्राइवेट कम्पनियाँ थीं, लेकिन अक्सर सरकारी मदद मिलती थी। इनकी सबसे ज़्यादा तिजारती दिलचस्पी शिया के मसाले के व्यापार से थी। भारत उस वक़्त मुग़ल सम्राटों के शक्तिशाली देश था, जिसे नाराज़ करना ख़तरे से ख़ाली नहीं था।

डच और अंग्रेज़ अक्सर आपस में भी लड़ पड़ते थे। आखिरकार द्वीपों से हट गये और भारत पर ज़्यादा ध्यान देने लगे। विशाल मुग़ल उस वक़्त कमज़ोर पड़ रहा था। इसलिए हौसलेबाज़ विदेशियों को मौक़ा गया। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस तरह हौसलेबाज़ लोग इंग्लैण्ड और से आये और उन्होंने किस तरह साज़िश और लड़ाई के ज़रिये इस साम्राज्य के हिस्सों पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की।

: ८० :

चीन में शान्ति और समृद्धि का युग

२२ जुलाई,

प्यारी बेटी, मुझे मालूम हुआ कि तुम बीमार थीं, और मैं नहीं

ठीक हुई हो या नहीं। जेल के अन्दर ख़बरों के पहुँचने में देर लग जाती तुम्हारी मदद के लिए यहाँ से कुछ भी नहीं कर सकता। तुम्हें अपनी ख़बर-खुद ही करनी पड़ेगी। लेकिन मैं तुम्हारी बहुत याद करता रहूँगा। अजीब बात हम सब किस तरह बिखरे हुए हैं। तुम पूना में हो, मम्मी इलाहाबाद में बीमार और हममें से बाक़ी अलग-अलग जेलों में पड़े हैं!

कुछ दिनों से इन पत्रों के लिखने में मुझे कुछ दिक़्क़त मालूम होने लगी है। बात-चीत करने का मन-बहलाव क़ायम रखना आसान नहीं था। मुझे ख़याल है कि तुम पूना में बीमार पड़ी हो और किसे मालूम मैं तुमको फिर कब खूँगा। हमारे मिलने के पहले न जाने कितने महीने या वर्ष और बीत जायँगे इस बीच तुम कितनी बड़ी हो जाओगी!

लेकिन बहुत ज़्यादा सोच-विचार करना, ख़ासकर जेल में, अच्छा नहीं। को सम्हाल लेना चाहिए और थोड़ी देर के लिए आज को भूलकर बीती ख़याल करना चाहिए।

हम लोग मलेशिया में थे और हमने वहाँ एक अजीब घटना घटते देखी। एशिया में सरज़ोर होता जा रहा था। पुर्तगाली आये, फिर स्पेन के लोग और बाद में अंग्रेज़ और डच आये। लेकिन इन यूरोपियों की हलचलें बहुत मलेशिया और पूर्वी टापुओं के अन्दर ही सीमित रहीं। पश्चिम की तरफ़ शी हुकूमत में शक्तिशाली भारत था। उत्तर में चीन था, जो अपनी हिफ़ाज़त तरह कर सकता था। इसलिए भारत और चीन में यूरोपियों ने कोई दख़ल दिया।

मलेशिया से चीन सिर्फ़ एक क़दम पर है। अब हमें वहाँ चलना चाहिए। राजवंश, जिसे मंगोल कुबलइख़ाँ ने क़ायम किया था, ख़त्म हो गया था। ई० में लोगों ने बग़ावत करके बची-खुची मंगोल फ़ौजों को चीन की 'बड़ी के उस पार खदेड़ दिया था। इस विद्रोह का नेता हांङ्-वू था, जो एक ग़रीब का लड़का था और जिसे कोई शिक्षा नहीं मिली थी। लेकिन ज़िन्दगी पाठशाला का वह बड़ा अच्छा विद्यार्थी था। यह बड़ा सफल नेता निकला और बड़ा अक़्लमन्द शासक हुआ। सम्राट् होते हुए भी वह अहंकार और घमण्ड नहीं उठा, बल्कि सारी ज़िन्दगी उसने इस बात को याद रखा कि वह एक लड़का है। इसने तीस वर्ष राज किया। लोग आज भी उसके शासन की इसलिए करते हैं कि उसने जन-साधारण की, जिनमें से वह उठा था, हालत के लिए बराबर कोशिशें कीं। अन्त तक उसने अपनी शुरू की ज़िन्दगी सादी बनाये रखी।

हांङ्-वू नये मिङ् राजवंश का पहला सम्राट् था। उसका पुत्र युंङ्-लो भी

बड़ा शासक हुआ है। वह १४०२ से १४४२ ई० तक सम्राट् रहा। लेकिन नामों से मैं तुम्हें परेशान नहीं करूँगा। बहुत-से अच्छे शासक भी हुए, लेकिन अक्सर होता है, बाद में पतन होने लगा। मगर हमें इन सम्राटों को के इतिहास के इस ज़माने पर ग़ौर करना चाहिए। यह बहुत ही रौशन और उसमें खास मोहनी है। 'मिङ्' के मानी ही 'रौशन' है। 'मिङ्' वर्षों तक, यानी १३६८ से १६४४ ई० तक चला। चीन के तमाम राजवंश सबसे ज़्यादा चीनी नमूने का कहा जा सकता है। इसके ज़माने को अपनी प्रतिभा के विकास का पूरा मौक़ा मिला। यह वह ज़माना देश और विदेश, दोनों तरफ़ से शान्ति रही। विदेशी नीति में कोई नहीं थी और न साम्राज्य बढ़ाने की कोई कारंवाई की गई। पास-पड़ोस से दोस्ती थी। सिर्फ़ उत्तर में घुमक्कड़ तातारियों से कुछ खतरा था। पूर्वी दुनिया के लिए चीन एक ऐसे बड़े भाई के समान था, जो चतुर, सुसंस्कृत था; जिसे अपने ऊँचे दर्जे का ख़ूब भान था; पर जो छोटे भलाई चाहता था और उन्हें अपनी सभ्यता और संस्कृति सिखाने और देने के लिए तैयार था। और वे भी उसकी तरफ़ देखते थे। कुछ समय तक भी चीन को अपने से ऊपर माना और शोगुन, जो जापान पर राज अपने को मिङ् सम्राटों का मातहत कहता था। कोरिया से, सुमात्रा, इन्दोनेशियाई टापुओं से और हिन्दचीन से, खिराज वसूल होता था।

युंङ्-लो के राज-काल में ही जल-सेनापति चेंङ्-हो की मातहती में जंगी-बेड़ा मलेशिया पर चढ़ाई करने गया था। तीस वर्ष तक चेंङ्-हो समुद्रों का चक्कर लगाता रहा और ईरान की खाड़ी तक पहुँच गया। को डराने की यह साम्राज्यशाही कोशिश-जैसी नज़र आती है। देश-विजय का या किसी दूसरे फ़ायदे का कोई इरादा नहीं था। स्याम और पहित की बढ़ती हुई ताक़त की वजह से शायद युंङ्-लो ने यह चढ़ाई वजह चाहे जो रही हो, इस चढ़ाई के बहुत बड़े नतीजे निकले। इसने और स्याम की बाढ़ को रोक दिया; मलक्का के नये मुसलमानी राज्य दिया और चीनी संस्कृति को सारे इन्दोनेशिया में और पूर्व में फैला दिया

चूंकि चीन और पड़ौसी देशों के बीच सुलह और दोस्ती थी, मामलों पर ज़्यादा ध्यान दिया जा सकता था। शासन अच्छा था और कम करके किसानों का बोझ हलका कर दिया गया था। सड़कों, नहरों और तालाबों की हालत सुधारी गई, फ़सल की खराबियों और मुक़ाबला करने के लिए सार्वजनिक कोठार बनाये गए। सरकार ने चलाये और इस तरह से साख बढ़ाकर व्यापार की तरक्क़ी और माल

सहूलियतें पहुँचाई। इन काग़ज़ी नोटों का ख़ूब चलन था और ७० फ़ीसदी टों के रूप में अदा किये जा सकते थे।

इस ज़माने की संस्कृति का इतिहास और भी ज़्यादा मार्के का है। चीनी गों से ज़्यादा सुसंस्कृत और कला-प्रिय रहे हैं। मिङ-काल के अच्छे शासन से ला को दिये जानेवाले बढ़ावे से जनता की प्रतिभा जाग उठी। शानदार बनीं, सुन्दर चित्रकारी हुई और मिङ-युग के चीनी के बर्तन तरहदार और सुन्दर क़ारीगरी के लिए मशहूर हैं। ये चित्रकारी उस महान् चित्रकारी र की थी, जो इटली में उन दिनों 'रिनेसां' की उमंग से पैदा हो रही थी।

हवीं सदी के अन्त में चीन दौलत, उद्योग-धन्धों और सभ्यता में यूरोप से था। सारे मिङ-काल में जितना आनन्द, और कला की जितनी हलचल लोगों में थी, उतनी यूरोप के किसी देश में या और कहीं भी नहीं थी। द रखो कि यह यूरोप के रिनेसां का ज़माना था।

ला के लिहाज़ से मिङ-काल की नामवरी की एक वजह यह भी है कि ने की नफ़ीस कारीगरी के वहुत नमूने आज भी मिलते हैं। उस ज़माने बड़ी यादगारें हैं; लकड़ी और हाथी-दाँत और हरे पत्थर का नक़्क़ाशी का काम है; और काँसे के कलश और चीनी के वर्तन हैं। मिङ-काल के अन्त ों की वन्दिश ज़रूरत से ज़्यादा वोझिल हो गई और इसने नक़्क़ाशी और ों की सूरत कुछ विगाड़ दी।

सी ज़माने में पुर्तगाली जहाज़ पहले-पहल चीन आये। वे १५१६ ई० में हुँचे। अलवुकर्क़ जिन चीनियों से मिलता था, उनसे अच्छा वर्ताव करने सावधानी रखता था। और उसके पक्ष में चीन में वहुत अच्छी रिपोर्टें थीं। इसलिए जब पुर्तगाली चीन पहुँचे तो उनका स्वागत किया गया। कुछ ही दिनों में इन पुर्तगालियों ने कई तरह की वेजा हरकतें शुरू कर दीं जगहों पर क़िले वना लिये? इस जंगलीपन ने चीनी सरकार को हैरत दिया। उसने जल्दवाज़ी की तो कोई कार्रवाई नहीं की, लेकिन अन्त में इस सारे झुण्ड को चीन से वाहर निकाल दिया। इसके वाद वे ज़्यादा शान्त वन गये और १५५७ ई० में उन्होंने कैन्टन के नज़दीक वसने की इजाज़त कर ली।

र्तगालियों के साथ ईसाई मिशनरी आये। इनमें सेण्ट फ़ान्सिस जेवियर बहुत मशहूर है। वह बहुत दिनों तक भारत में रहा और कितने ही मिशन उसके नाम पर अभी तक क़ायम है। वह जापान भी गया था। ज़मीन पर की इजाज़त मिलने के पहले ही एक चीनी बन्दरगाह पर उसकी मौत हो गई। ईसाई मिशनरियों को बढ़ावा नहीं देते थे। पर दो जेसुयिट पादरियों

ने बौद्ध विद्यार्थियों का भेस बनाकर कई वर्षों तक चीनी भाषा सीखी। वे मज़हब के बड़े विद्वान् हो गये और उन्होंने विज्ञानियों की हैसियत में भी इनमें से एक का नाम मैतिओ रिच्ची थी। वह बड़ा क़ाबिल और विद्वान् था और इतना होशियार था कि उसने सम्राट् को भी अपने हाथ में बाद में उसने अपना नक़ली जामा उतार फेंका और उसके असर से चीन की हैसियत बहुत अच्छी हो गई।

डच लोग सत्रहवीं सदी के शुरू में मकाओ पहुँचे। उन लोगों ने की इजाज़त माँगी, लेकिन उनके और पुर्तगालियों के बीच बहुत वैर पुर्तगालियों ने चीनियों को उनके ख़िलाफ़ भड़काने की पूरी कोशिश चीनियों से कहा कि डच लोग ख़ूँख्वार समुद्री-डाकू होते हैं। इसलिए इजाज़त देने से इन्कार कर दिया। कुछ वर्ष बाद डचों ने जावा के बटाविया से एक बड़ा जंगी-बेड़ा मकाओ भेजा। उन्होंने बेवक़ूफ़ी से ज़बर्दस्ती क़ब्ज़ा करने की कोशिश की, लेकिन चीनियों और मुक़ाबले में वे ठहर नहीं सके।

डचों के पीछे-पीछे अंग्रेज़ भी पहुँचे, लेकिन उन्हें भी कोई हासिल हुई। चीन के व्यापार में उनको मिङ्-काल के ख़त्म होने पर मिला।

मिङ्-काल, दुनिया की तमाम अच्छी और बुरी चीज़ों की सदी के मध्य में ख़त्म हो गया। तातारियों का छोटा-सा बादल उत्तर में इतना बढ़ता गया कि उसकी छाया चीन पर भी पड़ने लगी। तुम्हें तातारियों की याद होगी। उन्होंने सुङ्गों को चीन के दक्षिण में भगा बाद में वे ख़ुद मंगोलों द्वारा खदेड़ दिये गए। इन्हीं किनों का भाई-बन्द क़बीला उत्तर चीन में, जहाँ आज मंचूरिया है, मैदान में आया। वे कहते थे। यही मंचू लोग अन्त में मिङ्गों के उत्तराधिकारी हुए।

लेकिन अगर चीन आपस में लड़नेवाले बराबरी के गुटों में बँटा तो मंचुओं को चीन जीतने में बड़ी दिक्क़त पड़ती। चीन, भारत, हर देश में विदेशी हमलों के कामयाब होने की वजह देश की कमज़ोरी के लोगों की अन्दरूनी फूट रही है। इसी तरह चीन में भी सारे देश में रहते थे। शायद बाद के मिङ्-सम्राट् भ्रष्ट और नालायक थे या ऐसी थीं कि जिससे समाजी क्रान्ति हो जायं। मंचुओं के ख़िलाफ़ महँगी पड़ी और बड़ा भारी बोझ हो गई। सब जगहों पर बटमार-नेता और इनमें जो सबसे बड़ा था, वह तो कुछ दिनों सचमुच सम्राट् भी के ख़िलाफ़ मिङ्गों की सेना का नेता उनका सेनापति वू-सान-क्वी था।

था कि बटमार सम्राट् और मंचुओं, इन दोनों में से किसे पसन्द करे। सूसी करके या शायद ग़द्दारी की नीयत से, उसने बटमार के ख़िलाफ़ मदद माँगी। मंचुओं ने बड़ी ख़ुशी के साथ मदद दी और हुआ यह कि वे जम गये! वू-सान-क्वी को जब यह भरोसा हो गया कि मिङों का पक्ष हो चुका है, तो वह उन्हें छोड़ भागा और विदेशी हमलावर मंचुओं से जा

कोई अचम्भे की बात नहीं है कि वू-सान-क्वी आज तक चीन में हिक़ारत से देखा जाता है, और चीनी लोग इसे अपने देश के इतिहास में सबसे बड़ा समझते हैं। देश की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी लेकर वह दुश्मन से जा मिला वास्तव में दक्षिणी सूबों को पराधीन बनाने में दुश्मनों की मदद की। उसे यह मिला कि मंचुओं ने उसे उन्हीं सूबों का हाक़िम बना दिया, ने उनके लिए जीता था।

६५० ई० में मंचुओं ने कैन्टन नगर भी जीत लिया और चीन पूरी तरह गया। उनकी जीत की वजह शायद यह भी थी कि वे चीनियों से अच्छे । शायद अमन और ख़ुशहाली के बहुत ही लम्बे समय ने चीनियों को में कमज़ोर बना दिया था। लेकिन मंचुओं की विजय की तेज चाल कारण थे। ख़ास तौर पर यह कि वे चीनियों को ख़ुश रखने में बड़ी रखते थे। इससे पहले के ज़मानों में तातारियों के हमलों के साथ-साथ और हत्याएं होती थीं। पर इस मौक़े पर चीनी अफ़सरों को मिलाने से कोशिश की गई और इन्हीं लोगों को फिर उनके ओहदों पर मुक़र्रर गया। इस तरह चीनी अफ़सर ऊँचे-से-ऊँचे ओहदों को सम्हाले हुए थे। पुराना तरीक़ा भी, जो मिङों के ज़माने में चलता था, बदला नहीं गया। वही नज़र आती थी, पर उसे ऊपर से हांकनेवाले हाथ बदल गये थे।

दो बड़ी बातें बतलाती थीं कि चीनी लोग अब विदेशी हुकमत के महत्व के केन्द्रों में मंचू फ़ौजें तैनात कर दी गई थीं और लम्बी चोटी रिवाज चीनियों पर, उनकी अधीनता की निशानी के तौर पर, लाद था। हममें से ज़्यादातर लोग हमेशा से यही ख़याल करते आये हैं कि साथ लम्बी चोटियां जुड़ी हुई हैं। लेकिन असल में यह रिवाज चीनियों नहीं था। यह ग़ुलामी का वैसा ही एक चिह्न था जैसे बहुत-से चिह्न भारतवासियों ने भी अपना लिये हैं, और वे उनके पीछे छिपी हुई शर्म को महसूस नहीं करते। अब चीनियों ने लम्बी चोटी रखना छोड़ है।

तरह चीन का यह चमकदार मिङ्-काल ख़त्म हुआ। ताज्जुब होता है

कि लगभग तीन सदियों के अच्छे शासन के बाद यह इतनी तेज चाल से गया। अगर यह सरकार इतनी ही अच्छी थी जितनी कि मानी जाती है, तो और अन्दरूनी झगड़े क्यों होते? मंचूरिया से आनेवाले विदेशी क्यों नहीं रोका जा सका? शायद अख़ीर के दिनों में सरकार अत्याचारी और यह भी हो सकता है कि माता-पिता की तरह ज़रूरत से ज्यादा वाली सरकार ने क़ौम को कमज़ोर बना दिया हो। लाड़-प्यार बच्चों दोनों के लिए अच्छा नहीं होता।

यह भी अचम्भे की बात है कि संस्कृति के इतने ऊँचे दर्जे पर होता चीन उन दिनों विज्ञान, खोज, वग़ैरा दूसरी दिशाओं में आगे क्यों नहीं की क़ौमें उससे बहुत पीछे थीं। फिर भी तुम देख सकती हो कि रिनेसां के जीवट और हौसला और खोज की भावनाएँ उनमें उबल रही थीं। इन दोनों की जाय तो एक तो अधेड़ उम्र के सुसंस्कृत आदमी की तरह था, जो का जीवन पसन्द करता हो, हौसले के कारनामों में जिसे लगन न हो और ढर्रे में गड़बड़ नहीं चाहता हो, और जो कला और प्राचीन पुस्तकों के रहता हो; और दूसरा एक नौजवान लड़के की तरह था, जो किसी हद हो, लेकिन जिसमें जीवट और कौतूहल की भावना भरी हो और जो हर के कारनामों की तलाश में रहता हो। चीन में महान् सौन्दर्य है, लेकिन पहर का या शाम का शान्त सौन्दर्य है।

: ८१ :

जापान अपने को बन्द कर लेता है

२३ जुलाई

चीन से अब हम जापान भी जा सकते हैं और रास्ते में ज़रा कोरिया में ठहर सकते हैं। मंगोलों ने कोरिया में अपना क़ब्ज़ा जमा ही उन्होंने जापान पर भी हमला करने की कोशिश की, लेकिन कामयाबी कुबलइखां ने कई जंगी बेड़े जापान भेजे, लेकिन वे सब भगा दिये गए। होता है कि मंगोलों को समुद्र पर कभी भी सहूलियत महसूस नहीं स्वभाव से ज़मीन पर रहनेवाले लोग थे। टापू होने की वजह से हाथ नहीं आया।

मंगोलों के चीन से खदेड़ दिये जाने के थोड़े ही दिन बाद कोरिया में हुई और वे शासक, जिन्होंने मंगोलों की अधीनता क़बूल कर ली थी, गए। इस विद्रोह का नेता ई-ताई-जो नामक एक देशभक्त कोरियाई था।

शासक बना और उसने एक राजवंश क़ायम किया, जो ५०० वर्षों से ज़्यादा १३९२ ई० से अभी कुछ ही वर्ष पहले तक, रहा जबकि जापान ने को अपने राज्य में मिला लिया। उस वक़्त सिओल को राजधानी बनाया और अभी तक वहीं है। हम कोरिया के इतिहास के इन ४०० वर्षों पर ग़ौर सकते। कोरिया, जो फिर चोसन कहलाने लगा था, क़रीब-क़रीब स्वाधीन तौर पर बना रहा, लेकिन था वह चीन की छत्रछाया में और अक्सर भी देता था। जापान से कई युद्ध हुए और कुछ मौक़े पर कोरिया की जीत आज दोनों का कोई मुक़ाबला नहीं। जापान एक बड़ा और शक्तिशाली है और साम्राज्यशाही शक्तियों में जो बुराइयाँ पाई जाती हैं, वे सब उसमें हैं। बेचारा कोरिया इस साम्राज्य का एक छोटा-सा टुकड़ा है, जिसका लोग शासन और शोषण करते हैं और जो कुछ बेकसी मगर बहादुरी के आज़ादी के लिए लड़ रहा है। लेकिन यह तो हाल का इतिहास है और बहुत पुराने ज़माने की चर्चा कर रहे हैं।

तुम्हें याद होगा कि जापान में, बारहवीं सदी के आख़िरी हिस्से में, शोगुन शासक हो गया था। सम्राट् तो गुड्डे की तरह था। पहली शोगुनशाही कामाकुरा शोगुनशाही' कहते हैं, क़रीब डेढ़ सौ वर्षों तक रही और उसने देश शासन-व्यवस्था और शान्ति दी। उसके बाद हमेशा की तरह शासक का पतन शुरू हुआ और इसके साथ बद-इन्तज़ामी, विलासी जीवन और आये। सम्राट् में, जो अपने अधिकारों को काम में लाना चाहता था, और झगड़े हुए। सम्राट् नाक़ामयाब रहा और यही हाल शोगुनशाही का भी १३३८ ई० में शोगुनों की एक नई शाखा ने अधिकार जमाया। यह 'अशी-शोगुनशाही' थी जो २३५ वर्ष तक बनी रही। लेकिन यह मुठभेड़ और युद्ध का था। यह क़रीब-क़रीब चीन के मिङों का ज़माना था। एक शोगुन की बड़ी कि मिङों की मेहरबानी हासिल करे और वह इस हद तक गया कि उसने मिङ सम्राट् का ताबेदार क़बूल कर लिया। जापानी इतिहास-लेखक के इस अपमान पर बहुत नाराज़ हैं और इस आदमी को बुरी तरह लानत हैं।

इसलिए चीन के साथ ख़ूब दोस्ताना ताल्लुक़ थे और चीनी संस्कृति के बारे इस समय मिङों की छत्रछाया में खिल रही थी, एक नई दिलचस्पी पैदा हो चीन की हरेक चीज़—चित्रकला, कविता, वास्तुकला, दर्शन-शास्त्र और तक का अध्ययन किया जाता था और क़द्र की जाती थी। इस ज़माने इमारतें बनीं। एक 'किनकाकूजी' यानी सोने का दालान और दूसरी ' यानी चांदी का दालान।

कला के इस विकास और विलासी जीवन के साथ-साथ किसानों पर ज्यादा मुसीबत थी। उन पर टैक्सों का बहुत भारी बोझ था और गृह-युद्धों का भार ज्यादातर उन्हीं पर पड़ता था। हालत दिन-पर-दिन खराब होती गई; तक कि केन्द्रीय सरकार का कोई भी असर राजधानी के बाहर नहीं

पुर्तगाली लोग १५४२ ई० में, इन लड़ाइयों के दौरान, वहाँ पहुँचे। रखने की दिलचस्प बात यह है कि जापान में पहले-पहल बारूद के हथियार लोग ले गये थे। यह एक अजीब-सी बात मालूम होती है; क्योंकि चीनी लोग समय पहले से ही इन हथियारों को जानते थे और यूरोप को इनका ज्ञान की मारफ़त चीन से ही हासिल करना पड़ा था।

सौ वर्षों के गृह-युद्ध से जापान को अन्त में तीन व्यक्तियों ने बचाया नोरबुनागाने जो 'दाइम्यो' या अमीर सरदार था, दूसरा हिदेयोशीने, जो था और तीसरा तोकूगावा आयेयासू, जो बड़े अमीर-सरदारों में गिना जाता सोलहवीं सदी के ख़त्म होते-होते सारा जापान फिर एक सूत्र में बँध गया। हिदेयोशी जापान के सबसे क़ाबिल राजनीतिज्ञों में गिना जाता है। लेकिन कि वह बहुत बदसूरत था——नाटे क़द का और गुट्टा और बन्दर जैसे चेहरे

जापान को एक सूत्र में बाँधने के बाद इन लोगों की समझ में नहीं इतनी बड़ी फ़ौज का क्या किया जाय। इसलिए कोई दूसरा धन्धा न पाकर कोरिया पर धावा बोल दिया। लेकिन बहुत जल्द उनको पछताना पड़ा। लोगों ने जापान की जल-सेना को हरा दिया और दोनों देशों के बीच के सागर पर अधिकार कर लिया। इस काम में उन्हें एक नये क़िस्म के बहुत मदद मिली, जिसकी छत कछुए की पीठ की तरह थी और जिस पर चादरें जड़ी थीं। इन जहाज़ों को 'कच्छप नौका' कहते थे। ये जहाज़ आगे-पीछे खेये जा सकते थे। इन नावों ने जापान के जंगी-जहाज़ों को दिया।

ऊपर लिखा तीसरा व्यक्ति तोकूगावा आयेयासू गृह-युद्ध से फ़ायदे में बहुत सफल रहा। यहां तक कि वह बड़ा मालदार हो गया और जापान के सातवें हिस्से का मालिक हो गया। उसीने अपनी रियासत के बीचोंबीच शहर बसाया। यही शहर बाद में तोक्यो (टोकियो) हो गया। आयेयासू शोगुन बन गया और इस तरह तीसरी और आखिरी 'तोकूगावा शोगुनशाही', शुरू हुई, जो २५० वर्ष से ज्यादा क़ायम रही।

इस बीच पुर्तगालियों का व्यापार छोटे पैमाने पर चल रहा था। वर्षों तक कोई यूरोपीय उनके मुक़ाबले का नहीं था, क्योंकि स्पेनवाले में आये और डच और अंग्रेज़ इसके भी बाद आये। मालूम होता है कि

र ने १५४९ ई० में इस देश में ईसाई मज़हव की शुरुआत की। जेजुइट लोगों चार करने की इजाज़त थी और उनको वढ़ावा भी दिया जाता था। असल में वजह राजनीतिक थी, क्योंकि वौद्ध-विहार साज़िशों के अड्डे समझे जाते वजह से इन भिक्षुओं को दबाया जाता था और ईसाई मिशनरियों के रियायत की जाती थी। लेकिन वहुत जल्द जापानियों ने महसूस कर लिया मिशनरी खतरनाक हैं। इस पर फ़ौरन ही उन्होंने अपनी नीति वदल दी और बाहर निकालने की कोशिश करने लगे। १५८७ ई० में ईसाइयों के खिलाफ़ हुक्मनामा निकाला गया, जिसमें यह ऐलान किया गया कि जो ईसाई मिशनरी न के अन्दर जापान से बाहर न चला जायगा, उसे मौत की सज़ा दी जायगी। आज्ञा व्यापारियों के फ़िलाफ़ नहीं थी। उसमें यह वता दिया गया था कि ईसाई रह सकते हैं और व्यापार कर सकते हैं, लेकिन अगर वे अपने जहाज़ में मिशनरी को लायेंगे तो जहाज़ और माल दोनों ज़ब्त कर लिये जायेंगे। आज्ञा निरी राजनीतिक कारणों से ही जारी की गई थी। हिदेयोशी को खतरे आशंका हुई। उसे लगा कि मुमकिन है ईसाई मिशनरी और उनके ज़रिये ईसाई हुए लोग राजनीतिक लिहाज़ से खतरनाक सावित हों। और उसका खयाल नहीं था।

थोड़े ही दिनों वाद एक घटना ऐसी हुई, जिससे हिदेयोशी को पूरा यक़ीन कि उसका डर सही था और उसे वहुत गुस्सा आया। तुम्हें याद होगा कि ला गैलियों' जहाज़ साल में एक वार फ़िलिपाइन और स्पेनी-अमेरिका के आया-जाया करता था। झंझावात ने एक वार इसे वहाकर जापानी किनारे पटका। स्पेनी कप्तान ने उस जगह के जापानियों को दुनिया का नक़शा कर और खास तौर से स्पेन के राजा का लम्बा-चौड़ा साम्राज्य वताकर डराना चाहा। लोगों ने कप्तान से पूछा कि स्पेन ने इतना बड़ा साम्राज्य कैसे उसने जवाव दिया कि यह तो बड़ी आसान बात है। पहले ईसाई मिशनरी और जब वहाँ के वहुत-से लोग ईसाई वन गये तो फ़ौज भेजी गई कि नये ईसाइयों कर वह वहाँ की सरकार को उलट दे। जब उसकी खवर हिदेयोशी को पहुँची तो वह वहुत खुश नहीं हुआ, वल्कि ईसाई मिशनरियों का कट्टर हो गया। उसने 'मनिल्ला गैलियों' को तो जाने दिया, लेकिन कुछ मिशन- और नये ईसाइयों को मरवा डाला।

जब आयेयासू शोगुन हुआ तो वह विदेशियों से ज्यादा दोस्ती करने लगा। व्यापार वढ़ाने में उसे खास दिलचस्पी थी; खासकर अपने वन्दरगाह येदो । लेकिन आयेयासू की मौत के वाद ईसाइयों पर अत्याचार फिर शुरू हो । इनके मिशनरी ज़वरदस्ती निकाल दिये गए और जो जापानी ईसाई हो

गये थे, उनको ईसाइयत छोड़ने पर मजबूर किया गया। जापानी लोग की राजनीतिक चालों से इतने डरे हुए थे कि व्यापार की नीति भी बदल वे किसी भी तरह विदेशियों को देश से बाहर रखना चाहते थे।

जापानियों की इस प्रतिक्रिया को हम समझ सकते हैं। लेकिन बात यह है कि जापानियों की निगाह इतनी तेज थी कि उन्होंने साम्राज्य भेड़िये को मजहब की भेड़ की खाल में भी पहचान लिया, हालांकि यूरो उनका कोई पाला नहीं पड़ा था। बाद के ज़माने में दूसरे देशों में अपनी शक्ति के लिए यूरोपीय राष्ट्रों ने किस तरह मजहब से बेजा फ़ायदा उठाया, अच्छी तरह जानते हैं।

और अब इतिहास में एक निराली चीज़ शुरू हुई। यह थी दरवाज़ा-बन्दी। दूसरों से अलग रहने की और दूसरों को दूर रखने की नीति बूझकर अपनाई गई और एक बार अपनाने के बाद इसे अद्‌भुत खूबी निभाया गया। अंग्रेज़ों ने जब यह देखा कि उन्हें पसन्द नहीं किया जाता, तो ई० में जापान जाना बन्द कर दिया। साल भर बाद स्पेनियों को, जिन्हें सबसे खतरनाक समझा जाता था, देश से निकाल दिया गया। यह क़ानून बना कि व्यापार के लिए सिर्फ़ ग़ैर-ईसाई ही विदेश जा सकते हैं और वे भी नहीं जा सकते। अन्त में, क़रीब बारह वर्ष बाद, १६३६ ई० में, जापान को कर दिया गया। पुर्तगाली निकाल दिये गए; सारे जापानी, चाहे ईसाई ग़ैर-ईसाई, किसी भी काम से विदेश जाने से रोक दिये गए; और विदेश वाला कोई भी जापानी वापस जापान नहीं आ सकता था; अगर आता तो लिए मौत की सज़ा थी! सिर्फ़ कुछ डच लोग रह गए, पर उनको भी सख्त थी कि वे बन्दरगाहें न छोड़ें और न देश के अन्दर क़दम रक्खें। १६४ ये डच भी नागासाकी बन्दरगाह के एक छोटे-से टापू में हटा दिये गए, बिलकुल क़ैदियों की तरह रखा गया। इस तरह सबसे पहले पुर्तगालियों के ठीक निन्यानवें वर्ष बाद, जापान ने सारे विदेशी सम्पर्क तोड़ दिये और को बन्द कर लिया।

१६४० ई० में एक पुर्तगाली जहाज़ राजदूत-मण्डल को लेकर आया, दुबारा व्यापार चालू करने की इजाज़त चाही। लेकिन उनकी कौन जापानियों ने राजदूतों को और जहाज़ के ज़्यादातर मल्लाहों को मार कुछ मल्लाहों को ज़िन्दा छोड़ दिया ताकि वे वापस जाकर खबर दे दें।

दो सौ वर्षों से ज़्यादा तक जापान का दुनिया से, और यहाँतक पड़ोसी चीन और कोरिया से भी, क़तई सम्पर्क नहीं रहा। जापानी टापू वाले कुछ डच और कभी-कभी आनेवाला कोई चीनी, जिनपर कड़ी नज़र

हरी दुनिया से जोड़नेवाली ये ही कड़ियाँ थीं। सारी दुनिया से यह अलगाव असाधारण चीज़ है। लिखित इतिहास के किसी भी काल में, और किसी भी ें, इस तरह की दूसरी मिसाल नहीं पाई जाती। रहस्यमय तिव्वत या मध्य ा भी अपने पड़ौसियों से काफ़ी राह-रस्म रखते थे। अपने को सब तरफ़ हदा कर लेना वहुत ख़तरनाक चीज़ होती है, व्यक्ति के लिए भी और राष्ट्र भी। लेकिन जापान इस ख़तरे को पार कर गया; उसके यहाँ अन्दरूनी ही और उसने अपने लम्बे युद्धों का नुक़सान पूरा कर लिया। और अन्त में १८५३ ई० में उसने अपना दरवाज़ा और अपनी खिड़कियाँ खोलीं तो एक असाधारण काम करके दिखला दिया। वह तेजी के साथ आगे झपटा, उसने हुए समय की पूर्ति कर ली, दौड़कर यूरोपीय क़ौमों को पकड़ लिया और की चालों से उन्हें मात दे दी।

इतिहास की कोरी रूप-रेखा कितनी नीरस होती है और उसे पार करने- शक्लें कितनी झीनी और वेजान नज़र आती हैं! फिर भी कभी-कभी म पुराने ज़माने की लिखी हुई कोई पुस्तक पढ़ते हैं, तो मुर्दा अतीत में भी ज़िन्दगी भर जाती है, और रंगमंच मानो हमारे बिलकुल नज़दीक आ जाता र उस पर जीते-जागते और प्रेम और नफ़रत करनेवाले मानव डोलने लगते न दिनों मैंने पुराने जापान की एक आकर्षक महिला श्रीमती मुरासाकी के पढ़ा है, जिसे हुए सैकड़ों वर्ष गुज़र गये—जिन गृह-युद्धों का मैंने इस पत्र में किया है, उनसे वहुत पहले की वात है। इसने जापान सम्राट् के दरवार में जीवन का लम्बा वयान लिखा है। इस वयान के मज़ेदार पुटवाले और भीतरी दरवारी तकल्लुफ़ों की चर्चा से भरे अंश जव मैंने पढ़े तो श्रीमती मुरासाकी मेरे सामने आ गई, और पुराने जापान के दरवार के सीमित पर कलामय का जीता-जागता चित्र मुझे नज़र आने लगा।

: ८२ :

यूरोप में खलबली

४ अगस्त, १९३२

ई दिन हो गये, मैंने तुम्हें पत्र नही लिखे; मुझे लिखे हुए क़रीब दो हफ़्ते र हो गये होंगे। जेलखाने में भी, वाहरी दुनिया के समान ही, आदमी के की हालत वदलती रहती है। पिछले दिनों इन पत्रों के लिखने में, जिन्हें सिवाय और कोई नहीं देखता, मेरी तवीयत विलकुल नहीं लगी। ये पत्र नत्थी करके दिये गए हैं और आज से महीनों या वर्षों वाद उस वक़्त तक पड़े रहेंगे जब तुम उन्हें देख पाओगी, आज से महीनों और वरसों वाद! जव हम फिर

मिलेंगे और एक-दूसरे को अच्छी तरह देखेंगे और मुझे यह देखकर हैरत तुम कितनी बढ़ गई हो और बदल गई हो ! उस वक़्त हमारे सामने चर्चा के बहुत-सी बातें और करने के लिए बहुत-से काम होंगे और तुम इन पत्रों पर ध्यान नहीं दोगी। उस वक़्त तक इन पत्रों का अच्छा-ख़ासा ढेर लग जायगा मेरे जेल-जीवन के कितने ही सौ घंटे इनमें बन्द हो चुके होंगे।

लेकिन फिर भी मैं इन पत्रों को जारी रखूँगा और लिखे हुए पत्रों के को बढ़ाता रहूँगा। शायद तुम्हें इसमें दिलचस्पी हो; मुझे तो दिलचस्पी है ही।

अब हमें एशिया पर आये कुछ समय हो गया है और हमने भारत में, में, चीन में और जापान में इसके इतिहास का सिलसिला पकड़ रक्खा है। यूरोप को, ठीक उस वक़्त, जब वह जग रहा था और उसकी कहानी हो रही थी, एकाएक छोड़ दिया था, वहाँ 'रिनेसाँ' यानी पुनर्जागरण हो रहा बल्कि यह कहना ज़्यादा ठीक होगा कि उसका नया जन्म हो रहा था, क्योंकि सदी में जिस यूरोप का विकास हम देखते हैं वह किसी पुराने काल की हूबहू नहीं थी। यह नई चीज़ या अगर पुरानी चीज़ भी थी तो कम-से-कम गिलाफ़ बिलकुल नया था।

यूरोप में हर जगह खलबली और बेचैनी दिखाई देती थी और बन्द जगह फटकर निकल रही थी। सैकड़ों वर्षों से सामन्त-प्रथा पर एक समाजी और आर्थिक ढांचे ने सारे यूरोप को ढक रखा था और उसे अपने में दबा रखा था। कुछ समय तक इस खोल ने बढ़ोतरी को रोके रक्खा। अब यह खोल जगह-जगह तड़कने लगा था। कोलम्बस और वास्को-द-गामा समुद्री रास्तों के पहले खोजी इस खोल को तोड़कर बाहर निकल पड़े और रिका और पूर्व के देशों से आई हुई स्पेन और पुर्तगाल की अतुल दौलत ने को चौंधिया दिया और परिवर्तन की गति तेज कर दी। यूरोप अपने तंग दायरे से बाहर नज़र डालने लगा और उसका ख़याल दुनिया की तरफ़ दौड़ने संसारव्यापी व्यापार और हुकूमत की बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ सामने खुल मध्यमवर्ग दिन-पर-दिन ज़्यादा ताक़तवर होने लगा और पश्चिमी यूरोप में प्रथा अधिकाधिक रुकावट बनने लगी।

सामन्त-प्रथा ज़माने के चलन से बाहर हो चुकी थी। बेहयाई के साथ वर्ग का शोषण इस प्रथा का असली तत्व था। इसके भीतर बेगार, बिना का काम और ज़मींदार को दी जानेवाली तरह-तरह की ख़ास लागें और थीं और यह ज़मींदार ख़ुद ही न्यायाधीश भी होता था। किसानों की इतनी ज़्यादा थीं कि, जैसा कि हमने देखा है, किसानों के दंगे और युद्ध अक्सर उठा करते थे। ये किसान-युद्ध बढ़ने लगे और जल्दी-जल्दी होने लगे और

साथ यूरोप के बहुत-से हिस्सों में आर्थिक क्रान्ति हो गई, जिसने सामन्त-प्रथा जगह मध्यम-वर्ग का राज क़ायम कर दिया। इस क्रान्ति को लानेवाले ये ही ान-विद्रोह थे।

लेकिन यह ख़याल न करना कि ये परिवर्तन फ़ौरन हो गये। इनमें बहुत दिन और पचासों वर्षों तक यूरोप में गृह-युद्ध जारी रहा। इन युद्धों की वजह से में यूरोप का बहुत बड़ा हिस्सा तबाह हो गया। ये सिर्फ़ किसानों के युद्ध नहीं बल्कि जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, प्रोटेस्टेण्टों और कैथलिकों के मज़हबी थे, आज़ादी के राष्ट्रीय युद्ध थे—जैसे कि नीदरलैण्ड में हुए—और बादशाह निरंकुश अधिकार के ख़िलाफ़ मध्यमवर्ग के विद्रोह थे। ये सब बातें बहुत चक्कर डालनेवाली हैं। क्यों, हैं या नहीं? असल में ये हैं ही ऐसी चक्कर में डालनेवाली र पेचीदा। लेकिन अगर हम बड़ी-बड़ी घटनाओं और आन्दोलनों को नज़र में ें तो इस घपले में से कुछ मतलब की बात निकल सकते हैं।

याद रखने की पहली बात यह है कि किसान-वर्ग में बड़ी तकलीफ़ और फैली हुई थी, जिसके नतीजों से किसान-युद्ध हुए। याद रखने की दूसरी बात मध्यमवर्ग का उदय और पैदावारवालों की बढ़ोतरी। चीज़ों के बनाने में मज़दूरों उद्योग बढ़ा और व्यापार ज़्यादा चेता। तीसरी बात याद रखने की यह है कि ई-संघ सबसे बड़ा ज़मींदार था। उसका बहुत ज़बर्दस्त निहित स्वार्थ था, लिए लाज़िमी तौर पर वह अपनी भलाई इसीमें समझता था कि सामन्तशाही रहे। वह ऐसा कोई परिवर्तन नहीं चाहता था कि जिससे उसकी दौलत र जायदाद का बहुत बड़ा हिस्सा हाथ से निकल जाय। इसलिए जब रोम से विद्रोह उठा तो आर्थिक क्रान्ति के साथ उसका मेल मिल गया।

इस महान् आर्थिक क्रान्ति के साथ-साथ या उसके पीछे-पीछे समाज, मज़हब र राजनीति—हर दिशा में परिवर्तन होने लगे। अगर तुम सोलहवीं और हवीं सदी के यूरोप पर दूर से और काफ़ी लम्बी-चौड़ी नज़र डालो तो तुम्हारी में आ जायगा कि ये सारी हलचलें, आन्दोलन और परिवर्तन किस तरह आपस थे और जुड़े हुए थे। आम तौर पर इस ज़माने के तीन आन्दोलनों पर ज़ोर जाता है—'रिनेसाँ' या पुनर्जागरण, 'रिफ़ार्मेशन' या सुधार, और 'रेवोल्यूशन' क्रान्ति। लेकिन याद रखो कि इन सबसे पीछे आर्थिक मुसीबत और हलचल थी, की वजह से आर्थिक क्रान्ति पैदा हुई और सारे परिवर्तनों में यही सबसे ज़्यादा र का था।

'रिनेसाँ' असल में विद्या का पुनर्जन्म था, जिसमें कला, विज्ञान और साहित्य र यूरोपीय भाषाओं की तरक़्क़ी हुई। सुधार-आन्दोलन रोमन ईसाई-संघ ख़िलाफ़ विद्रोह था। वह ईसाई-संघ में फैले हुए भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ जनता

का विद्रोह था; वह यूरोप के राजाओं का पोप के उन दावों के ख़िलाफ़ था कि वह उन सबके ऊपर है; और तीसरे वह ईसाई-संघ को अन्दर से की एक कोशिश थी। क्रान्ति राजाओं पर अंकुश लगाने और उनके सीमित करने के लिए मध्यमवर्ग की राजनीतिक लड़ाई थी।

इन सब आन्दोलनों के पीछे एक और कारण भी था—छपाई। होगा कि अरबों ने कागज़ बनाना चीनियों से सीखा था और यूरोप ने सीखा। फिर भी सस्ता और काफ़ी मात्रा में कागज़ बनने में बहुत दिन पन्द्रहवीं सदी के अन्त में यूरोप के अलग-अलग हिस्सों—हालैंड, इटली, हंगरी, वग़ैरा, में किताबें छपने लगीं थीं। ख़याल करो कि कागज़ और का प्रचार होने के पहले दुनिया किस तरह की रही होगी। आज हम और पुस्तकों और छपाई के इतने आदी हो गए हैं कि इन चीज़ों से की कल्पना भी करना बहुत मुश्किल है। छपी हुई किताबों के बिना मियों को लिखना-पढ़ना तक भी सिखाना क़रीब-क़रीब नामुमकिन है। को बड़ी मेहनत से हाथ से नक़ल करना पड़े और वे बहुत थोड़े लोगों सकें, पढ़ाई ज्यादातर ज़बानी करनी पड़े और विद्यार्थियों को हर बात करनी पड़े, यह बात पुरानी क़िस्म के मकतबों और पाठशालाओं में पाई जाती है।

कागज़ और छपाई के चलन से बहुत बड़ा परिवर्तन पैदा हो गया। स्कूली और दूसरी किताबें प्रकाशित होने लगीं। बहुत जल्दी ही वालों की संख्या बढ़ गई। जितना ही लोग ज़्यादा पढ़ते हैं, उतना ही लगते हैं (लेकिन यह बात विचारों से भरी पुस्तकों पर ही लागू होती है; कल जो ज़्यादातर रद्दी किताबें निकल रही हैं, उनके बारे में नहीं)। ज़्यादा आदमी सोचता है उतना ही ज़्यादा वह मौजूदा हालतों की छान-बीन है और उनकी आलोचना करता है। इसका नतीजा अक्सर यह मौजूदा व्यवस्था को लोग चुनौती देने लगते हैं। अज्ञान परिवर्तन से है। वह अनजानी बातों से डरता है, इसलिए लीक पर ही चलना चाहे उसमें उसे कितनी ही मुसीबत क्यों न हो। अपने अन्धेपन में वह आगे चला जाता है। लेकिन सही अध्ययन से ज्ञान की कुछ मात्रा जाती है और आँखें कुछ खुल जाती हैं।

कागज़ और छपाई के ज़रिये आँखों के इस तरह खुल जाने की उन तमाम बड़े आन्दोलनों को ज़बर्दस्त मदद मिली, जिनका अभी हम चुके हैं। पहले-पहल छपनेवाली पुस्तकों में बाइबिलें थीं और बहुत लोग, अबतक बाइबिल का सिर्फ़ लातीनी मूल-पाठ सुना था और समझा न

अपनी ही भाषा में पढ़ सकते थे। इस पढ़ने ने उन्हें अक्सर हर चीज़ के गुण-देनेवाला बना दिया और पादरियों से कुछ मुक्त कर दिया। स्कूली-ें भी बहुत बड़ी संख्या में छपने लगीं। इससे आगे हम यूरोप की भाषाओं तेज़ी के साथ तरक्क़ी करती पाते हैं। अभी तक लातीनी भाषा ने उन्हें रखा था।

इस ज़माने का यूरोप का इतिहास महान् व्यक्तियों के नामों से भरा पड़ा उनसे हमारा बाद में परिचय होगा। हमेशा, जब कभी कोई देश या महाद्वीप ी बढ़ोतरी रोकनेवाले खोल को तोड़कर बाहर निकलता है तो वह कई ओं में तीर की तरह आगे बढ़ जाता है। इस बात को हम यूरोप में पाते और इस काल का यूरोपीय इतिहास सबसे ज़्यादा दिलचस्प और जानकारी है। क्योंकि इसी समय में आर्थिक और दूसरे महान् परिवर्तन हुए। भारत चीन के इसी काल के इतिहास का इसके साथ मुक़ाबला करो। जैसा मैंने बताया है, ये दोनों देश उस समय यूरोप से बहुत-सी बातों में आगे थे। फिर भारत और चीन के इतिहासों में एक तरह की निष्क्रियता है और उसीके बले में इस काल के यूरोपीय इतिहास का रूप गतिशील है। भारत और चीन महान् शासक और महापुरुष हुए और ऊँचे दर्जे की संस्कृति थी, लेकिन जनता, तौर से भारत में, बिलकुल चेतनाहीन और निष्क्रिय दिखाई देती है। लोग शासकों के परिवर्तन को बिना किसी ऐतराज़ के बर्दाश्त कर लेते थे। होता है कि उन्हें साध लिया गया था और वे हुक्म बजाने के इतने आदी हो कि सत्ता को चुनौती देना उनके लिए असम्भव था। इसलिए उनका इतिहास हीं दिलचस्प होते हुए भी, जन-आन्दोलनों के इतिहास की बनिस्वत शासकों घटनाओं का लेखा ही ज़्यादा है। मैं यक़ीन के साथ नहीं कह सकता कि यह बात के बारे में कहाँ तक सच है, लेकिन भारत के मामले में तो ज़रूर यह बात वर्षों से सच होती रही है। और इस काल में भारत में आनेवाली तमाम हमारे देशवासियों की इसी बुरी हालत के नतीजे हैं।

भारतवासियों में एक दूसरा झुकाव यह देखा जाता है कि वे पीछे देखना हैं, आगे नहीं। हम हन ऊंचाइयों की तरफ़ देखते हैं, जिनपर हम कभी बैठे थे; ऊंचाइयों की तरफ़ नहीं, जिन पर पहुँचने की आशा रखते हैं। मतलब यह कि देशवासी गुज़रे हुए ज़माने के लिए अफ़सोस करते रहे और आगे क़दम के बजाय, जिस किसीने भी हुक्म चला दिया उसीका हुक्म बजाते रहे। में आकर साम्राज्य अपनी ताक़त पर उतने नहीं टिके रहते जितने अपने लोगों की गुलामी की भावना पर।

: ८३ :

'रिनेसाँ' या पुनर्जागरण

५ अप्रै

उस हलचल और मुसीबत से, जो सारे यूरोप में फैल रही थी, जि
सुन्दर फूल पैदा हुआ। पहले यह इटली की ज़मीन में उगा, लेकिन प्रे
पुष्टि के लिए उसने सदियों को लाँघकर पुराने यूनान की तरफ़ देखा।
से इसने सौन्दर्य का प्रेम सीखा और शरीर के इस रूप-सौन्दर्य में इसने एक
जोड़ दी, जो ज़्यादा गहरी थी, जो मन से पैदा हुई थी और भावना से सम्बन्ध
थी। यह शहरी उपज थी और उत्तर इटली के शहरों ने इसे आसरा दिया।
ख़ासतौर से शुरू की 'रिनेसाँ' का घर था।

तेरहवीं और चौदहवीं सदियों में फ़्लोरेन्स इटालवी भाषा के
कवि, दान्ते और पेत्रार्क पैदा कर चुका था। मध्यकाल में यह यूरोप
राजधानी बन गया था, जहाँ बड़े-बड़े साहूकार इकट्ठे होते थे। यह
और ऐसे लोगों का छोटा-सा गणराज्य था, जिनकी बहुत तारीफ़ नहीं
सकती और जो ख़ुद अपने महापुरुषों के साथ अक्सर बुरा वर्ताव करते
शहर को 'चंचल फ़्लोरेन्स' कहा गया है। लेकिन साहूकारों और
निरंकुश शासकों के होते हुए भी इस शहर ने पन्द्रहवीं सदी के लिए पिछले
निराले आदमी पैदा किये—लिओनार्दो द विंची, माइकेल ऐंजि
राफ़िएल। ये तीनों बहुत महान् कलाकार और चित्रकार हुए हैं।
और माइकेल ऐंजिलो, दूसरी बातों में भी बढ़े-चढ़े थे। माइकेल ऐंजि
मूर्तिकार था। ठोस संगमरमर से विशाल मूर्तियाँ गढ़कर निकालता
बहुत बड़ा वास्तु-शिल्पकार भी था और रोम के सेन्ट पीटर के
का नक़्शा बहुत-कुछ उसीने बनाया था। उसने बहुत लम्बी, क़रीब
की उम्र पाई और अपने मरने के दिन तक वह सेन्ट पीटर के गिर्जे
रहा। वह अन्दर से दुखी था और चीज़ों की ऊपरी सतह के नीचे
ढूँढ़ा करता था। वह हमेशा सोचता रहता था और हमेशा अद्भुत
कोशिश में रहता था। एक बार उसने कहा था, "आदमी दिमाग़ से
है, हाथ से नहीं।"

इन तीनों में उम्र में सबसे बड़ा लिओनार्दो था और कई बातों
अद्भुत भी था। सच तो यह है कि वह अपने ज़माने का सबसे निराला
और याद रक्खो कि यह वह युग था, जिसमें कितने ही महापुरुष पैदा हुए
चित्रकार और मूर्तिकार तो वह था ही, पर साथ-ही-साथ वह महान्

भी था। हमेशा प्रयोग करता था, हमेशा बातों की तह में पहुँचने की कोशिश था और यह जानने की फ़िक्र में रहता था कि किसी बात की असली वजह है। वह उन महान् विज्ञानियों में गिना जाता है, जिन्होंने शुरू-शुरू में आधुनिक की बुनियाद डाली। उसने कहा है—"कृपालु प्रकृति इस बात की कोशिश ती है कि तुम दुनिया में हर जगह कुछ-न-कुछ सीखो।" उसने जो कुछ पढ़ा ही पढ़ा था। तीस वर्ष की उम्र में उसने लातीनी भाषा और गणित का शुरू किया। वह एक बड़ा इंजीनियर भी हो गया और उसीने पहले-पहल बात का पता चलाया कि आदमी के शरीर में खून गर्दिश करता है। वह शरीर की बनावट पर मोहित था। उसने कहा है—"बुरी आदतों और विचार के असभ्य लोग मनुष्य-शरीर जैसे सुन्दर औज़ार और हड्डी-चमड़े टिल साधन के क़ाबिल नहीं हैं। उन्हें तो खाना भरने और फिर उसे बाहर ने के लिए सिर्फ़ एक थैला चाहिए, क्योंकि वे अन्न-नली के सिवा और कुछ हैं!" वह खुद शाकाहारी था और जानवरों को बहुत प्यार करता था। उसका स्तूर यह था कि वह बाज़ार में पिंजरा-बन्द चिड़ियों को ख़रीदकर उन्हें उसी छोड़ देता था।

उड्डयन यानी हवा में उड़ने की कोशिश लिओनार्दो की कोशिशों में ज़्यादा अद्भुत थी। उसे कामयाबी तो नहीं मिली, लेकिन कामयाबी स्ते में वह काफ़ी बढ़ गया था। उसके सिद्धान्तों और प्रयोगों को आगे ाला उसके बाद कोई दूसरा नहीं हुआ। अगर उसके बाद उसीकी के दो-तीन व्यक्ति और हो गये होते तो शायद आजकल का हवाई जहाज़ से दो या तीन सौ वर्ष पहले ही ईजाद हो चुका होता। यह अद्भुत विचित्र आदमी १४५२ ई० में पैदा हुआ और १५१९ ई० में मरा। है, उसका जीवन "प्रकृति के साथ सवाल-जवाब था।" वह हर वक़्त करता रहता और प्रयोगों के ज़रिये उनके हल निकालने की कोशिश रहता। भविष्य को पकड़ने की कोशिश में वह सदा आगे बढ़ता नज़र था।

मैंने फ़्लोरेन्स के इन तीनों व्यक्तियों का ज़िक्र किया है, ख़ासकर लिओनार्दो क्योंकि वह मेरा मन-भावता है। साज़िशों से और ज़ालिम व दग़ाबाज़ शासकों हुआ, फ़्लोरेन्स के गणराज्य का इतिहास कुछ ज़्यादा भला और सिखाने- नहीं है। लेकिन फ़्लोरेन्स को बहुत-सी बातों के लिए क्षमा किया जा सकता कि हम उसके सूदखोरों को भी माफ़ कर सकते हैं! क्योंकि उसने सारे महापुरुष पैदा किये। उसके इन महान् सुपुत्रों का साया उसपर अभी है और जब कोई इस सुन्दर शहर की सड़कों पर होकर गुज़रता है या मध्य-

कालीन पुलों के नीचे बहती हुई मनोहर आर्नो नदी को देखता है तो जादू-सा छा जाता है और गुज़रा ज़माना मूर्त और सजीव हो उठता सामने से निकलता है और उसकी प्यारी बीआत्रिस अपने पीछे फूलों सी सुगन्ध उड़ाती हुई गुज़र जाती है। लिओनार्दो तंग गलियों में दिखाई देता है—विचारों में डूबा हुआ, और जीवन व प्रकृति के रहस्यों करता हुआ।

इस तरह रिनेसाँ इटली में पन्द्रहवीं सदी में फूला-फला और वहाँ धीरे दूसरे पश्चिमी देशों की तरफ़ फैल गया। महान् कलाकारों ने चित्रों में जान डालने की कोशिश की और यूरोप की चित्रशालाएँ और उनकी बनाई हुई तस्वीरों और मूर्तियों से भरे पड़े हैं। सोलहवीं में इटली में कला का उभार बैठने लगा। सत्रहवीं सदी में हॉलैण्ड चित्रकार पैदा हुए। इनमें रेम्ब्रान्त सबसे ज़्यादा मशहूर है। स्पेन में वेलस्क्वेज़ हुआ। लेकिन अब मैं ज़्यादा नामों का ज़िक्र नहीं करूँगा। बहुत ज़्यादा है। अगर तुमको बड़े-बड़े उस्ताद चित्रकारों में दिलच चित्रशालाओं में जाकर उनकी रचनाओं को देखो। उनके नामों का नहीं। जिस कला और सौन्दर्य को उन्होंने जन्म दिया, वही हमारे सन्देश है।

इस काल में, यानी पन्द्रहवीं से सत्रहवीं सदी तक, विज्ञान ने आगे रास्ता तैयार किया और अपने लिए जगह बना ली। ईसाई-संघ से लड़ाई करनी पड़ी, क्योंकि ईसाई-संघ यह नहीं मानता था कि लोग प्रयोग करें। उसके ख़याल में तो विश्व का केन्द्र पृथ्वी थी और सूर्य ओर चक्कर लगाता था और तारे आसमान में अपनी जगह पर जड़े कोई इसके खिलाफ़ कहता, वह काफ़िर था और इनक्विज़िशन उसे थी। इसपर भी कोपरनिकस नाम के एक पोलैण्डवासी ने इस विश्वास और साबित किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। इस तरह के बारे में आजकल के विचारों की बुनियाद रखी। इसका जीवन- से १५४३ ई० था। किसी तरह वह अपने क्रान्तिकारी और काफ़िरी ईसाई-संघ के गुस्से से बच गया। पर उसके बाद जो हुए, उनकी अच्छी नहीं थी। जिओर्दानो ब्रूनो नामक इटालवी को १६०० ई० ईसाई-संघ ने इसलिए ज़िन्दा जलवा दिया कि वह इस बात पर ज़ोर पृथ्वी सूर्य के चारों तरफ़ घूमती है और तारे खुद भी सूर्य हैं। इसके गैलीलियो को भी, जिसने दूरबीन ईजाद की थी, ईसाई-संघ ने लेकिन वह ब्रूनो की तरह बहादुर नहीं था और उसने अपनी राय

र समझी। इसलिए उसने ईसाई-संघ के सामने क़बूल कर लिया कि उसने फ़ी से यह ग़लती की थी, और वास्तव में पृथ्वी ही विश्व का केन्द्र है'और उसके चारों ओर घूमता है। फिर भी उसे प्रायश्चित्त करने के लिए कुछ दिन ाने में रहना पड़ा था।

सोलहवीं सदी के प्रमुख वैज्ञानिकों में हार्वी हुआ, जिसने पूरी तौर से यह कर दिया कि ख़ून गर्दिश करता है। सत्रहवीं सदी में आइज़क न्यूटन हुआ, नाम संसार के सबसे महान् वैज्ञानिकों में गिना जाता है और जो एक महान् था। इसने पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के नियम का, यानी इस बात का पता कि चीज़ें ज़मीन पर क्यों गिरती हैं। इस तरह उसने प्रकृति का एक और खोल डाला।

इतनी बात, या इतनी थोड़ी-सी बात तो विज्ञान के बारे में हुई। इस काल हित्य भी आगे बढ़ा। सब जगह फैली हुई नई भावना ने तरुण यूरोपीय ओं पर भी ज़बर्दस्त असर डाला। ये भाषाएँ कुछ दिन से चल रही थीं और देखा कि इटली ने महान् कवि भी पैदा किये थे। इंग्लैण्ड में चॉसर[1] हुआ। लातीन, जो विद्वानों की और ईसाई-संघ की भाषा थी, इन सबपर हावी । वे गंवारू भाषाएँ यानी 'वरनाक्यूलर' थीं और यह शब्द बहुत-से लोग अभी अजीब तौर पर भारतीय भाषाओं के लिए इस्तेमाल करते हैं। इन भाषाओं लिखना शान के खिलाफ़ समझा जाता था। लेकिन नई भावना ने, काग़ज़ और ने, इन भाषाओं को बढ़ावा दिया। इटालवी भाषा पहले-पहल मैदान में फिर फ़्रान्सीसी और अंग्रेज़ी और स्पेनी और सबसे आखिर में जर्मन। वीं सदी में फ़्रान्स के कुछ नौजवान लेखकों ने पक्का इरादा कर लिया कि में न लिखकर अपनी भाषा में ही लिखेंगे, अपनी ही 'गँवारू भाषा' की करेंगे ताकि वह अच्छे-से-अच्छे साहित्य का उपयुक्त माध्यन बन ।

इस तरह यूरोप की भाषाओं ने प्रगति की और वे धनी और शक्तिशाली और उनका आज का खरा रूप बना। मैं मशहूर लेखकों के ज्यादा नाम नहीं गा, दो-चार का ही ज़िक्र करूँगा। इंग्लैण्ड में १५६४ से १६१६ ई० तक नाटककार शेक्सपियर हुआ। उसके बाद ही सत्रहवीं सदी में 'पैरेडाइज़ का लेखक अन्धा कवि मिल्टन हुआ। फ़्रान्स में सत्रहवीं सदी में देकार्त नामक और मॉलियर नामक नाटककार हुआ। मॉलियर ने पेरिस के बड़े सरकारी कोमि फ़्रान्स्वाज़ की नींव डाली। स्पेन में शेक्सपियर का समकालीन हुआ, जिसने 'दॉन क्विक्सोत' नामक पुस्तक की रचना की।

---

[1] अंग्रेज़ी भाषा का आदि कवि।

एक और नाम का भी मैं ज़िक्र करूँगा, उसकी महानता के कारण इसलिए कि वह मशहूर है। यह नाम मैकियावेली का है, जो फ्लोरेन्स वाला था। वह पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदियों का मामूली राजनीतिज्ञ था, 'प्रिन्स' नाम की एक पुस्तक लिखी, जो बहुत मशहूर हुई। इस पुस्तक ज़माने के राजाओं और राजनीतिज्ञों के विचारों की झलक मिल जाती है। वेली ने लिखा है कि सरकार के लिए मज़हब की ज़रूरत है, इसलिए जनता को सदाचारी बनावे, बल्कि इसलिए कि उसपर हुकूमत करने में और उसे दबाकर रखा जा सके। शासक का यह कर्तव्य भी हो सकता है ऐसे मज़हब का समर्थन करे, जिसे वह झूठा समझता हो! मैकियावेली ने "राजा को जानना चाहिए कि एक ही साथ मनुष्य और पशु का, शेर और का नाटक कैसे खेला जा सकता है। उसे न तो अपने वादे का पालन करना और न वह कर ही सकता है, जबकि वैसा करने से उसका नुक़सान होता है मैं साहस के साथ कह सकता हूँ कि हमेशा ईमानदार होना बहुत हानिकर है लेकिन इसके विपरीत, ख़ुदा-परस्त और दीनदार, दयावान और रचना लाभदायक है। नेकी के आडम्बर से ज़्यादा फ़ायदेमन्द और दूसरी है।"

क्यों, कितनी बुरी बात है। जो राजा जितना ही ज़्यादा बदमाश ही वह अच्छा! अगर औसत राजा के दिमाग़ की यूरोप में उस वक़्त थी तो वहाँ बराबर झगड़े बने रहना कोई ताज्जुब की बात नहीं। लेकिन जाने की क्या ज़रूरत है? आजकल की साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी मैकियावेली के राजा की तरह ही वर्ताव करती हैं। सदाचार के आडम्बर लालच, ज़ुल्म और बे-उसूलापन छिपे रहते हैं; सभ्यता के मुलायम हैवान का ख़ूनी पंजा छिपा रहता है।

: ८४ :

प्रोटेस्टेण्टों का विद्रोह और किसानों का युद्ध

८ अगस्त

पन्द्रहवीं सदी से लेकर सत्रहवीं सदी तक के यूरोप के बारे में लिख चुका हूँ। मध्य-युगों के गुज़रने, किसानों की महा मुसीबत, मध्यमवर्ग और अमेरिका की और पूर्व जाने के समुद्री रास्तों की खोज, और विज्ञान और भाषाओं की प्रगति के बारे में मैंने कुछ-न-कुछ तुमको लेकिन तसवीर की रूप-रेखा पूरी करने के लिए इस ज़माने की बाबत कुछ कहना बाक़ी है। ध्यान रहे कि मेरे दो आख़िरी पत्र, और वह पत्र,

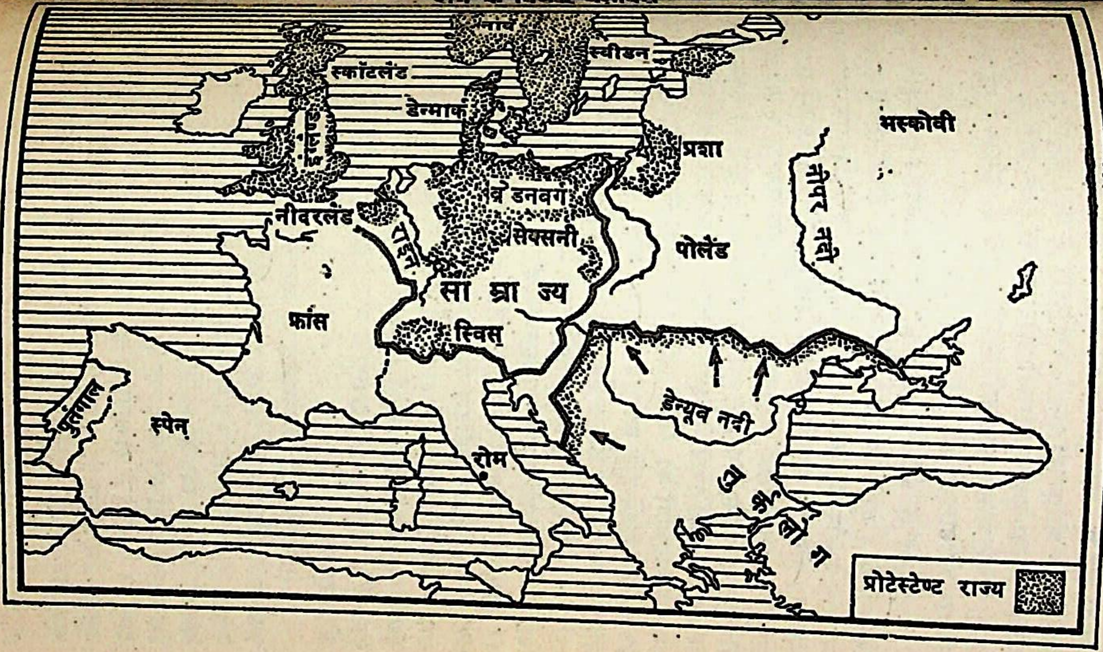
प्रोटेस्टेण्ट राज्य
नार्वे
स्वीडन
स्कॉटलैंड
डेन्मार्क
इंग्लैंड
प्रशा
मस्कोवी
नीपर नदी
पोलैंड
ब्रे डनवर्ग
सैक्सनी
नीदरलैंड
राइन
सा म्रा ज्य
फ्रांस
स्विस
स्पेन
पुर्तगाल
रोम
डेन्यूब नदी

रास्तों के बारे में लिख चुका हूँ, यह पत्र जो लिख रहा हूँ, और शायद जानेवाले और भी एक-दो पत्र, ये सब यूरोप के इसी ज़माने से ताल्लुक़ हालाँकि मैं जुदा-जुदा आन्दोलनों और हलचलों के बारे में अलग-अलग रहा हूँ, लेकिन ये सब बातें क़रीब-क़रीब एक ही ज़माने में हुईं और पर असर भी डालती रहीं।

'रिनेसाँ' के समय के पहले ही रोमन ईसाई-संघ के ढाँचे में होने लगी थी। यूरोप के राजा और क़ौमें दोनों ईसाई-संघ के ज़ुल्मों करने लगे थे और कुछ बड़बड़ाने लगे थे और उनका विश्वास डगमगाने तुम्हें याद होगा कि सम्राट् फ़्रेडरिक द्वितीय की पोप से काफ़ी झड़प हुई उसने ईसाइयत से छेक दिये जाने की भी कुछ परवाह न की थी। और इन लक्षणों से रोम चिढ़ गया और उसने इस कुफ़्र को कुचल देने कर लिया। इसी इरादे से 'इनक्विज़िशन' क़ायम की गई और सारे उन सब आदमियों को, जिन्हें काफ़िर बतलाया जाता था, और उन को जिनपर डायनें होने का जुर्म लगाया जाता था, जला दिया गया। जॉन हस को चालबाज़ी से जला दिया गया; इसपर बोहेमिया में यायियों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। रोमन ईसाई-संघ के विद्रोह की इस नई भावना को 'इनक्विज़िशन' के सारे आतंक भी दबा वह फैलती ही गई और इसमें शक नहीं कि इसके साथ किसानों का भी जुड़ गया, जो बड़े ज़मींदार ईसाई-संघ के ख़िलाफ़ उनमें पैदा हो गया जगह राजाओं ने भी अपने स्वार्थ की ख़ातिर इस भावना को उकसाया। ईर्ष्या व लालच भरी आँखें, ईसाई-संघ की विशाल सम्पत्ति पर लगी पुस्तकों व बाइबिलों की छपाई ने भीतर-ही-भीतर सुलगती हुई भी भड़काया।

सोलहवीं सदी की शुरुआत में, जर्मनी में, मॉर्टिन लूथर पैदा हुआ चलकर रोम के ख़िलाफ़ विद्रोह का एक महान् नेता होनेवाला था। पादरी था। एक बार जब वह रोम गया तो वहाँ ईसाई-संघ के विलास ने उसके दिल को ग्लानि से भर दिया। यह मतभेद बढ़ता ही कि रोमन ईसाई-संघ के दो टुकड़े हो गये और पश्चिमी यूरोप, दोनों के मामलों में दो खेमों में बँट गया। पूर्वी यूरोप और रूस का यूनानी ईसाई-संघ इस झगड़े से अलग ही रहा। जहाँतक उसका खुद रोम को ही सच्ची ईसाइयत से बहुत दूर समझता था।

इस तरह 'प्रोटेस्टेण्ट' विद्रोह शुरू हुआ। इसे प्रोटेस्टेण्ट इसलिए कि यह रोमन ईसाई-संघ के कई कट्टर उसूलों का 'प्रोटेस्ट' यानी

सीसे पश्चिमी यूरोप में ईसाइयत के दो मुख्य भाग हो गये हैं—रोमन क और प्रोटेस्टेण्ट। लेकिन प्रोटेस्टेण्ट भी कितने ही फ़िरक़ों में बँटे हुए हैं। संघ के खिलाफ़ इस आन्दोलन को 'रिफ़ॉर्मेशन' कहते हैं। असल में ईसाई-संघ टाचार और उसकी निरंकुश सत्ता, दोनों के ख़िलाफ़ जनता का विद्रोह था। थ ही बहुत-से राजा यह चाहते थे कि पोप का उनपर हुक्म चलाना हमेशा र ख़त्म हो जाय। वे अपने राजनीतिक मामलों में पोप की दस्तन्दाज़ी से बहुत हुए थे। इसके अलावा रिफ़ॉर्मेशन का एक तीसरा पहलू भी था। और वह यह साई-संघ के वफ़ादार अनुयायी उसकी बुराइयों का भीतर से सुधार करने शिश में थे।

शायद तुम्हें दो ईसाई-संघों—फ़ान्सिस्कन और डोमिनिकन—की याद । सोलहवीं सदी में, क़रीब-क़रीब उसी वक़्त, जब मॉर्टिन लूथर का बल बढ़ , लोयोला-निवासी इग्नेशियस नामक स्पेनी ने एक नया ईसाई-संघ क़ायम । उसने इसका नाम 'सोसायटी ऑफ़ जीज़स' (यीशु की समिति) रखा सके सदस्य जेजुइट कहलाये। इन जेजुइटों की चीन और पूर्व की यात्राओं मैं कर चुका हूँ। यह 'जीज़स-संघ' एक बड़ी निराली जमात थी। रोमन संघ और पोप की कारगर सेवा के लिए पूरा वक़्त देनेवाले आदमी तैयार इसका मक़सद था। वह बड़ी सख़्त तालीम देता था और इसमें वह इतना हुआ कि उसने चर्च के बड़े ही मुस्तैद और वफ़ादार सेवक पैदा किये। लोग ईसाई-संघ के इतने वफ़ादार थे कि बिना कोई तर्क किये आँख मींचकर आज्ञाओं का पालन करते थे और उन्होंने अपना सबकुछ उसीपर निछावर या था। ईसाई-संघ के हित के लिए वे ख़ुशी से अपनी क़ुरबानी देने को तैयार थे। उनके बारे में सचमुच यह मशहूर था कि ईसाई-संघ की सेवा में वे बुराई का बिलकुल विचार नहीं करते थे। ईसाई-संघ के हित में सबकुछ था और माफ़ था।

यह निराली जमात रोमन ईसाई-संघ की सबसे बड़ी मददगार साबित हुई। ओंने न सिर्फ़ उसका नाम और सन्देश ही दूर-दूर के देशों तक पहुँचाया, बल्कि उसका चरित्र भी ऊँचा उठा दिया। कुछ तो सुधार के अन्दरूनी आन्दोलन र ज़्यादातर प्रोटेस्टेण्ट विद्रोह के डर से, रोम में भ्रष्टाचार बहुत कम हो । इस तरह 'रिफ़ॉर्मेशन' ने ईसाई-संघ को दो हिस्सों में बाँट दिया और ही कुछ हद तक उसका अन्दरूनी सुधार भी कर दिया।

ज्यों-ज्यों प्रोटेस्टेण्ट विद्रोह पनपा, यूरोप के कुछ राजा व बादशाहों ने एक की हिमायत की, कुछने दूसरे की। इसका मज़हबी भावनाओं से कोई वास्ता था। यह तो बहुत-कुछ कूटनीति का मामला था और इसके पीछे लाभ की

भावना थी। हैप्सबर्ग वंश का चार्ल्स पंचम उस समय पवित्र रोमन साम्राज्य का था। अपने पिता और दादा की शादी के परिणाम-स्वरूप, उसे संयोग से एक बड़ा साम्राज्य मिल गया था, जिसमें आस्ट्रिया, जर्मनी (नाम मात्र को) नेप्ल्स और सिसली, नीदरलैण्ड और स्पेनी अमेरिका शामिल थे। उन के ज़रिये, अपनी रियासत का विस्तार करने का यह तरीक़ा यूरोप में निकला था। इसी वजह से, ख़ुद किसी क़ाबिल न होते हुए भी, चार्ल्स यूरोप पर राज करने का संयोग बन गया और कुछ दिन तो वह बहुत-बड़ा नज़र आने लगा था। उसने प्रोटेस्टेण्टों के ख़िलाफ़ पोप की मदद करने किया। 'रिफ़ॉर्मेशन' का ख़याल साम्राज्य के ख़याल से मेल नहीं खाता था। बहुत-से छोटे-छोटे जर्मन राजाओं ने प्रोटेस्टेण्टों का साथ दिया और सारे रोमन और लूथरन, दो फ़िसादी फ़िरक़े बन गये। इसका क़ुदरती नतीजा कि जर्मनी में गृह-युद्ध छिड़ गया।

इंग्लैण्ड में बहु-विवाहित बादशाह हेनरी अष्टम ने पोप के ख़िलाफ़ का, या यों कहो कि ख़ुद अपना, साथ दिया। उसकी ललचाई आँखें की सम्पत्ति पर लगी हुई थीं, इसलिए रोम से सम्बन्ध तोड़कर उसने गिरजों की सारी उपजाऊ ज़मीनें ज़ब्त कर लीं। पोप से सम्बन्ध तोड़ने निजी कारण यह भी था कि वह अपनी पत्नी को तलाक़ देकर दूसरी स्त्री करना चाहता था।

फ़्रान्स में कुछ अजीब ही हालत थी। वहाँ बादशाह का प्रधान मन्त्री कार्डिनल रिशैल्यू था और राज्य का असली शासक वही था। रिशैल्यू ने रोम और पोप के पक्ष में रक्खा और अपने यहाँ प्रोटेस्टेण्टों का ख़ूब दमन लेकिन राजनीतिक साज़िशें ऐसी होती हैं कि उसीने जर्मनी में को बढ़ावा दिया ताकि जर्मनी में गृह-युद्ध हो जाय और वह कमज़ोर और उसमें फूट पड़ जाय। फ़्रान्स और जर्मनी की आपसी दुश्मनी यूरोप के में एक अटूट धागे की तरह चली आ रही है।

लूथर सबसे बड़ा प्रोटेम्स्टेण्ट था और उसने रोम की सत्ता का लेकिन यह ख़याल न कर लेना कि वह मज़हब के मांमले में उदार था। ही कट्टर था जितना कि पोप जिससे, वह लड़ रहा था। इसलिए से यूरोप में कोई मज़हबी आज़ादी नहीं आई। इसने एक नये ढंग के पैदा कर दिये—"प्यूरिटन"[1] और कैलविनिस्ट। कैलविन प्रोटेस्टेण्ट बाद के नेताओं में से था। वह अच्छा संगठन करनेवाला था और कुछ

---

[1] १६वीं और १७वीं सदियों में इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टेण्ट लोगों का दाय, जो सादगी पर ज़ोर देता था।

शहर की बागडोर उसके हाथ में रही। क्या तुम्हें जेनेवा के पार्क में ेशन' के उस बड़े स्मारक की याद है, जिसकी दूर-दूर तक फैली हुई दीवारों लविन वग़ैरा की मूर्तियाँ हैं? कैलविन इतना कट्टर था कि उसने बहुत-से को सिर्फ़ इसलिए जलवा दिया था कि वे उससे सहमत नहीं होते थे और विचारक थे।

लूथर और प्रोटेस्टेण्टों की आम लोगों ने भी खूब मदद की, क्योंकि उनमें ईसाई-संघ के खिलाफ़ बड़ा ज़बर्दस्त असन्तोष था। जैसा मैं बतला चुका हूँ, वर्ग बड़ी मुसीबत में था और बार-बार दंगे होते थे। ये दंगे बढ़कर जर्मनी ायदा किसान-युद्ध की सूरत में बदल गये। बेचारे ग़रीब किसान उस बुरी के खिलाफ़ उठ खड़े हुए, जो उनको पीस रही थी और उन्होंने बहुत ही और वाजिब हक़ों की माँग की—यानी यह कि ग़ुलाम-काश्तकार की ठा दी जाय और उन्हें मछली मारने और शिकार करने के हक़ दिये जायँ। इन मामूली हक़ों को भी नहीं माना गया और जर्मनी के सामन्तों ने हर तरह रता से उन्हें कुचलने की कोशिश की। और उस महान् सुधारक लूथर का था? क्या उसने ग़रीब किसानों का साथ दिया और उनकी वाजिब माँगों र्थन किया? नहीं बल्कि किसानों की इस माँग पर कि ग़ुलाम-प्रथा तोड़ उसने कहा—"इस शर्त से तो सब आदमी बराबर हो जायँगे और ईसा आध्यात्मिक राज्य बदलकर एक बाहरी सांसारिक राज्य बन जायगा। ! पृथ्वी का कोई ऐसा राज्य रह ही नहीं सकता, जिसमें सब व्यक्ति बराबर कुछको आज़ाद, दूसरों को ग़ुलाम; कुछको राजा, दूसरों को प्रजा, रहना ेगा।" उसने किसानों को लानत दी और कहा कि उन्हें मार डालना ज़रूरी है ए जो लोग भी ऐसा कर सकते हों, वे उनको (किसानों को) खुल्लम-खुल्ला कर काट डालें, क़त्ल कर डालें और छुरों से भोंक दें, और समझ लें कि ी से बढ़कर ज़हरीला, बुरा और निपट शैतान कोई नहीं है। तुम उसे मार , जैसे तुम पागल कुत्ते को मार डालते हो। अगर तुम उसपर टूट नहीं पड़ोगे तुमपर और सारे देश पर टूट पड़ेगा।" एक मज़हबी नेता और सुधारक के निकलनेवाली यह कैसी प्यारी भाषा है!

इन सब बातों से साफ़ हो जाता है कि स्वतन्त्रता और मुक्ति की सारी बातें ऊँचे वर्ग के लोगों के लिए थीं, जनता के लिए नहीं। क़रीब-क़रीब हरेक युग नता की ज़िन्दगी जानवरों से कुछ ज़्यादा अच्छी नहीं रही है। लूथर के मुताबिक ी ज़िन्दगी ऐसी ही बनी रहनी चाहिए, क्योंकि विधाता का ऐसा ही विधान है। के खिलाफ़ प्रोटेस्टेण्ट विद्रोह का सबसे बड़ा कारण जनता की आर्थिक मुसीबत । उसने इसे अपने साथ लेकर अपना मतलब बनाया। लेकिन जब यह अन्देशा

होने लगा कि कहीं ये ग़ुलाम-किसान बहुत आगे न बढ़ जायँ और अपनी गु छुटकारा न पा लें—(यह छोटी-सी बात काफ़ी थी), तो प्रोटेस्टेण्ट नेता कुचलने के लिए राजाओं से मिल गये। जनता के दिन अभी बहुत दूर थे। जो उदय हो रहा था, मध्यमवर्ग के लोगों का युग था। सोलहवीं और स सदियों की मुठभेड़ों और युद्धों के बीच, इस वर्ग को, अटल रूप से, सीढ़ी-स ऊपर चढ़ता हुआ देखा जा सकता है।

जहाँ कहीं भी यह आगे बढ़ता हुआ मध्यमवर्ग काफ़ी मज़बूत था, प्रोटेस्टेण्ट मत फैल गया। प्रोटेस्टेण्टों के भी कई वर्ग और फ़िरक़े थे। बादशाह खुद ईसाई-संघ का प्रधान—'दीन-रक्षक' बन गया, और ईसाई-संघ ख़त्म हो गया और सरकार का बस एक महकमा बन गया। इंग्लैण्ड का ईसाई-संघ वैसा ही चला आ रहा है।

दूसरे मुल्क़ों में, ख़ासतौर से जर्मनी, स्वीज़रलैण्ड और नीदरलैं दूसरे फ़िरक़ों का महत्त्व बढ़ा। कैलविन मत ख़ूब फैला, क्योंकि वह मध्य विकास से मेल खाता था। मज़हबी मामलों में कैलविन के मन में भयंकर था। ग़ैर-ईसाइयों पर तरह-तरह के ज़ुल्म किये जाते थे और उनको जला जाता था और दीनदारों पर कड़ा अनुशासन था। लेकिन व्यापार के मा उसका उपदेश बढ़ते हुए उद्योग-धन्धों और व्यापार के ज्यादा अनुकूल था, रोमन उपदेश ऐसा नहीं था। व्यापार के मुनाफ़ों को बरकत दी जाती लेन-देन को बढ़ावा दिया जाता था। इस तरह नये मध्यमवर्ग ने पुराने म यह नया तर्जुमा अंगीकार कर लिया और वह बड़े मज़े से धन कमाने में उन्होंने सामन्त सरदारों के ख़िलाफ़ अपनी लड़ाई में जनता का उपयोग क था। अब, सरदारों पर विजय हासिल करने के बाद, उन्होंने जनता को या उसकी छाती पर चढ़ बैठे।

लेकिन अब भी मध्यमवर्ग को बहुत-सी रुकावटों का सामना कर था। अभी बादशाह उनके रास्ते का काँटा था। बादशाह ने सामन्तों शहर के लोगों का साथ दिया था। अब सामन्तों के कमज़ोर हो जाने पर की ताक़त बहुत बढ़ गई और मालूम होता था कि उसने मैदान मार लिया। और मध्यमवर्गों के बीच खींचतान अभी शुरू नहीं हुई थी।

: ८५ :

सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के यूरोप में निरंकुशता

२६ अगस्त

मैं फिर बड़ा लापरवाह हो गया। इन पत्रों का लिखे हुए मुझे बहुत

। यहाँ मुझसे न तो कोई जवाब तलब करनेवाला है और न कोई बढ़ावा ही है। इसीलिए मैं अक्सर ढीला पड़ जाता हूँ और दूसरे कामों में लग हूँ। अगर हम साथ होते तो शायद यह बात न होती। क्यों ठीक है न? अगर तुम और मैं एक दूसरे से बात-चीत कर सकते तो मुझे इन पत्रों के की ज़रूरत ही क्यों पड़ती?

पिछले पत्रों में मैंने तुम्हें यूरोप के उस ज़माने का हाल लिखा था, जब वहाँ थल-पुथल थी और बड़ा परिवर्तन हो रहा था। उन पत्रों में सोलहवीं और वीं सदी के बड़े-बड़े परिवर्तनों का ज़िक्र किया गया था। ये परिवर्तन उस क्रान्ति के साथ या बाद में आये, जिसने मध्य-युगों का अन्त करके मध्यमवर्ग र चढ़ा दिया था। आख़िरी पत्र में मैंने पश्चिमी यूरोप के ईसाई साम्राज्य ने और दो फ़िरक़ों, प्रोटेस्टेण्ट और रोमन कैथलिक, में बँट जाने का ज़िक्र था। इन दोनों फ़िरक़ों की मज़हबी लड़ाई का ख़ास जंगी मैदान जर्मनी बना या, क्योंकि वहाँ दोनों दल क़रीब-क़रीब बराबर की जोड़ के थे। पश्चिमी के दूसरे देश भी कुछ हद तक इस झगड़े में उलझे हुए थे। लेकिन इंग्लैण्ड के इन मज़हबी लड़ाई-झगड़ों से अलग रहा। अपने बादशाह हेनरी अष्टम में इस देश ने बिना किसी अन्दरूनी गड़बड़ के रोम से अपना नाता तोड़ लिया अपना निजी ईसाई-संघ क़ायम कर लिया, जो कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट ईसाई-के बीच का था। हेनरी मज़हब की कुछ भी परवाह नहीं करता था। उसे तो संघ की ज़मीनों की ज़रूरत थी; वह उसने ले लीं। वह दूसरी शादी करना था, सो वह भी उसने करली। इस तरह रिफ़ॉर्मेशन का सबसे बड़ा नतीजा आ कि राजा और बादशाह पोप की लगाम से बरी हो गये।

जिस वक़्त 'रिनेसाँ' और 'रिफ़ॉर्मेशन' के ये आन्दोलन और आर्थिक उथल-यूरोप के नक़्शे को बदल रहे थे, उस वक़्त वहाँ राजनीति के पीछे की ज़मीन थी? सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में यूरोप का नक़्शा किस तरह का था? सौ वर्षों में यूरोप का नक़्शा सचमुच बदलता जा रहा था। इसलिए हमें वीं सदी के शुरू के नक़्शे पर ग़ौर करना चाहिए।

दक्षिण-पूर्व में तुर्क लोग क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा जमाये हुए थे और उनका हंगरी की तरफ़ बढ़ रहा था। दक्षिण-पश्चिमी कोने में अरबी विजेताओं मुसलमान सरासीन ग्रैनेडा से खदेड़े जा चुके थे और फ़र्दिनेन्द व आइज़ा-के जुड़वाँ शासन में स्पेन एक ईसाई शक्ति बनकर उठ चुका था। स्पेन में और मुसलमानों की सदियों की मुठभेड़ ने, स्पेनवासियों को अपने कैथलिक से, दिली जोश और कट्टरपन के साथ, चिपके रहने को मजबूर कर दिया। स्पेन में ही भयंकर 'इनक्विज़िशन' क़ायम हुई। अमेरिका की खोज के जादू

और वहाँ से आनेवाली दौलत के असर से स्पेन यूरोप की राजनीति आगे हिस्सा लेने लगा था।

नक़शे पर फिर निगाह दौड़ाओ। इंग्लैण्ड और फ़ान्स लगभग जैसे कि आज हैं। नक़शे के बीच में एक साम्राज्य है, जो बहुत-सी जर्मन में बँटा हुआ है, जिनमें से हरेक क़रीब-क़रीब स्वाधीन थीं। राजाओं, पादरियों, निर्वाचकों, वग़ैरा के मातहत छोटी-छोटी रियासतों का यह अजीब था। इसमें ख़ास रियायतोंवाले कुछ शहर भी थे, और उत्तर के व्यापारी मिलकर एक संघ भी बना लिया था। फिर स्वीज़रलैण्ड का गणराज्य था, जो में तो स्वाधीन था, लेकिन अभी तक बाक़ायदा स्वाधीन माना नहीं गया था। का गणराज्य और उत्तर इटली के और भी कई नगर गणराज्य थे। रोम के ओर पोप की ज़मींदारी थी, जो पोप की रियासत कहलाती थी। इसके नेप्ल्स और सिसली के राज्य थे। पूर्व में, जर्मन साम्राज्य और रूस के पोलैण्ड था और हंगरी का बड़ा राज्य था, जिसपर उस्मानी तुर्कों की छाया थी। दूर-पूर्व में रूस था, जो 'सुनहरे क़बीले' के मंगोलों के चंगुल से निकल नया शक्तिशाली राज्य बन रहा था। उत्तर और पश्चिम में कुछ और

सोलहवीं सदी के शुरू में यूरोप का यह नक़शा था। १५२० ई० पंचम बादशाह हुआ। यह हैप्सबर्ग ख़ानदान का था और, जैसा कि पीछे चुका है, स्पेन, नेप्ल्स और सिसली के राज्यों की और नीदरलैण्ड की वि हाथ लग गई। यह एक अजीब बात है कि कुछ बादशाहों की शादियों यूरोप के बहुत-से देशों और क़ौमों के स्वामी ही बदल गये। करोड़ों जनता बड़े देश सिर्फ़ विरासत में मिल गये। कहीं-कहीं वे दहेजों में दिये गए। टापू इसी तरह इंग्लण्ड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय को उसकी पत्नी, ब्रेगेंज़ा (की कैथरीन, के साथ दहेज में मिला था। इसलिए चतुराई के साथ शादि हैप्सबर्गों ने एक साम्राज्य इकट्ठा कर लिया और चार्ल्स पंचम इसका हुआ। यह एक बहुत साधारण आदमी था और ख़ासतौर पर इसलिए था कि वह ख़ूब खाता था। लेकिन उस वक़्त तो अपने बड़े साम्राज्य के यूरोप में बड़ा भारी-भरकम जँच रहा था।

जिस साल चार्ल्स सम्राट् हुआ, उसी साल सुलेमान उस्मानी का अध्यक्ष हुआ। इसके ज़माने में यह साम्राज्य सभी ओर, और ख़ास यूरोप की ओर फैला। तुर्क लोग ठेठ वियेना के दरवाज़ों तक पहुँच गये, सुन्दर पुराने शहर को जीतने में ज़रा-सी कसर रह गई। लेकिन हैप्स उनके रोब में आ गया और उसने सुलेमान को ख़िराज देकर उससे पिंड ही ठीक समझा। पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् का तुर्कों के सुलतान को

ह ग़ौर करने की बात है। सुलेमान 'प्रतापी सुलेमान' के नाम से मशहूर ने सम्राट् का खिताब अपने-आप ही ले लिया, क्योंकि वह अपने-आपको ज़ंतीन सीज़रों का प्रतिनिधि समझता था।

सुलेमान के समय में क़ुंस्तुन्तुनिया में इमारतें बनाने का काम बड़े ज़ोरों से और बहुत-सी सुन्दर मसजिदें बनवाई गईं। इटली में कलाओं का जैसा पुन-हो रहा था वैसा ही पूर्व में भी होता हुआ नज़र आ रहा था। कला की यह सिर्फ़ क़ुंस्तुन्तुनिया में ही नहीं थी, बल्कि ईरान और मध्य-एशिया के ख़ुरा-ं भी बड़े सुन्दर चित्र बनाये जा रहे थे।

हम देख चुके हैं कि किस तरह उत्तर-पश्चिम से बाबर ने आकर भारत में ना राजवंश क़ायम किया। यह १५५६ ई० की बात है, जब चार्ल्स पंचम ं सम्राट् था और सुलेमान क़ुंस्तुन्तुनिया में राज कर रहा था। बाबर के गौरवशाली वंशजों के बारे में हमें आगे बहुत-कुछ कहना है। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि बाबर ख़ुद रिनेसाँ के नमूने का राजा था, और वह उस वक़्त के यूरोपीय नमूनों से कहीं अच्छा था। था तो वह हौसले-र फिर भी वीर योद्धा था, जिसे साहित्य और कला का व्यसन था। उस इटली में भी ऐसे राजा थे जो इसी तरह के हौसलेबाज़ और साहित्य और के प्रेमी थे और जिनके छोटे-छोटे दरबारों में ऊपरी तड़क-भड़क थी। न का मेदिची वंश और बोर्जिया परिवार उस समय मशहूर थे। लेकिन के ये राजा, और उस वक़्त यूरोप के भी ज़्यादातर राजा, मैकियावेली के अनुयायी थे। ये भलाई-बुराई का विचार न करनेवाले, साज़िश करनेवाले त्याचारी थे, और अपने विरोधियों के लिए ज़हर का प्याला और क़ातिल भी इस्तेमाल करते थे। शूरवीर बाबर की इस झुण्ड से तुलना करना वैसा चित है, जैसा कि इनके टुच्चे राजदरबारों की दिल्ली या आगरे के मुग़ल —अकबर, शाहजहाँ, वग़ैरा—के दरबार से तुलना करना बेमेल है। कहा है कि ये मुग़ल दरबार बड़े शानदार थे और शायद इतनी दौलत और शान-ाले दरबार कभी रहे ही नहीं।

यूरोप का ज़िक्र करते-करते हम, अनजाने ही भारत की बातों को ले बैठे। मैं तुम्हें यह जतलाना चाहता था कि यूरोपीय रिनेसाँ के समय भारत रे देशों में क्या हो रहा था। उस समय तुर्की, ईरान, मध्य एशिया और भारत कला की हलचलें शुरू हो रही थीं। चीन में मिङ राजाओं का अमन-चैन-और ख़ुशहाल ज़माना था जबकि कला की चीज़ों का उत्पादन बहुत ऊँचे र पहुँचा हुआ था। लेकिन रिनेसाँ-काल की यह सारी कला, शायद चीन को र, बहुत-कुछ दरबारी कला थी। यह जनता की कला न थी। इटली में कुछ

महान् कलाकारों के बाद जिनमें से कइयों के नाम मैं लिख चुका हूँ, को कला बिलकुल नीचे दर्जे की और मामूली बन गई।

इस तरह सोलहवीं सदी का यूरोप कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट बीच बँटा हुआ था। उस वक़्त राजाओं की गिनती थी, प्रजा की आस्ट्रिया, फ़ान्स और स्पेन कैथलिक थे; जर्मनी आधा कैथलिक और था; इंग्लैण्ड सिर्फ़ इसलिए प्रोटेस्टेण्ट था, कि उसके बादशाह की और चूंकि इंग्लैण्ड प्रोटेस्टेण्ट था, इसलिए आयलैंण्ड के लिए कैथलिक यह काफ़ी वजह थी, क्योंकि इंग्लैण्ड उसे जीतने और सताने की कोशिश लेकिन यह कहना सिर्फ़ एक हद तक ही सही है कि प्रजा का मजहब में न था। अन्त में जाकर जनता के मज़हब का भी असर पड़ा और बहुत-सी लड़ाइयाँ और क्रान्तियाँ हुईं। मज़हबी पहलू को राजनीतिक पहलुओं से अलग करना मुश्किल है। मेरे खयाल से, मैं तुम्हें पहले ही चुका हूँ कि रोम के खिलाफ़ प्रोटेस्टेण्टों का विद्रोह खासतौर पर वहीं हुआ, व्यापारी-वर्ग ज़ोर पकड़ रहा था। इससे हम समझ सकते हैं कि मजहब के बीच कोई कड़ी थी। इसी तरह बहुत-से राजा लोग मजहबी सुधारों डरते थे कि कहीं इसकी आड़ में अन्दरूनी क्रान्ति न फैल जाय और न उलट दिया जाय। अगर कोई आदमी पोप की मज़हबी सत्ता के उठाने की हिम्मत कर सकता था तो फिर यह भी सम्भव था कि वह राजा की सत्ता को भी मानने से इन्कार कर दे। यह मत बादशाहों खतरनाक था। वे अभी तक राजाओं के राज करने के दैवी अधिकार बैठे थे। प्रोटेस्टेण्ट राजा भी इसे छोड़ने के लिए तैयार न थे।

फिर भी, बावजूद रिफ़ॉर्मेशन के, यूरोप में बादशाहों का और यूरोप में वे पूरे सत्ताधारी थे। पहले कभी वे इतने निरंकुश बड़े-बड़े सामन्ती अमीर-सरदार उनपर लगाम लगाते रहते थे और सत्ता को भी मानने से इन्कार कर देते थे। व्यापारी और मध्यमवर्ग अमीर-सरदारों से खुश न थे और न बादशाह ही इनको पसन्द करता व्यापारी-वर्ग और किसान-वर्ग की मदद से बादशाह ने सामन्ती दिया और खुद पूरा सत्ताधारी बन बैठा। हालाँकि मध्यमवर्ग ने अपना महत्व बहुत बढ़ा लिये थे, मगर अभी वह इतना ताक़तवर कि बादशाह के कामों में दखल दे सके। लेकिन कुछ ही दिनों में के बहुत-से कामों का विरोध करने लगे। खासकर उन्होंने बार-बार भारी करों का और मज़हब में दखल देने का विरोध किया। बादशाह बिलकुल अच्छी न लगीं। वह इस बात से चिढ़ गया कि इन लोगों ने

का विरोध करने की गुस्ताखी की। इसलिए उसने इनको जेलों में ठूंस और दूसरी सज़ाएँ भी दीं। उन दिनों मनमाने तौर पर लोगों को क़ैद कर दिया था, जैसा कि आजकल भारत में हो रहा है, क्योंकि हम अंग्रेज़ सरकार के सिर झुकाने से इन्कार करते हैं। बादशाह व्यापार में भी दखल देता था। हालत और भी बिगड़ती गई और बादशाह का विरोध ज़ोर पकड़ने लगा। हों की तानाशाही के ख़िलाफ़ मध्यमवर्ग की यह अधिकारों की लड़ाई सदियों लती रही और इसे ख़त्म हुए ज्यादा समय नहीं हुआ। कई बादशाहों के सिर दिये जाने के बाद कहीं जाकर बादशाहों के दैवी अधिकार का ख़याल हमेशा दफ़न कर दिया गया, और बादशाहों की अक़्ल ठिकाने लगा दी गई। कुछ में यह जीत जल्दी हो गई और कुछ में देर से। आगे के पत्रों में हम इस लड़ाई ार-चढ़ाव का ज़िक्र करेंगे।

लेकिन सोलहवीं सदी के यूरोप में क़रीब-क़रीब सब जगह बादशाह की थी—पूरे तौर पर नहीं; बल्कि क़रीब-क़रीब। तुम्हें याद होगा कि स्वीज़रलैण्ड के पहाड़ी किसानों ने हैप्सबर्ग के बादशाह को चुनौती देने की हिम्मत ई थी और अपनी आज़ादी हासिल कर ली थी। इस तरह निरंकुशता और ाही के यूरोपीय सागर में स्वीज़रलैण्ड का छोटा-सा किसान गणराज्य एक के समान था, जिसमें बादशाहों के लिए कोई जगह न थी।

जल्द ही एक दूसरे देश—नीदरलैण्ड—में भी मामले ने तूल पकड़ा और व मज़हब की आज़ादी की लड़ाई लड़ी गई और जीत ली गई। यह एक सा देश है, लेकिन यह लड़ाई बड़ी ज़बर्दस्त थी, क्योंकि यह उस ज़माने में की सबसे ज़बर्दस्त शक्ति—स्पेन के ख़िलाफ़ लड़ी गई थी। इस तरह ने यूरोप को रास्ता बतलाया। इसके बाद इंग्लैण्ड में भी जनता की के लिए एक लड़ाई हुई, जिसमें एक बादशाह को अपना सिर गँवाना पड़ा उस वक़्त की पार्लमेण्ट की जीत हुई। इस तरह नीरदलैण्ड और इंग्लैण्ड ने के ख़िलाफ़ मध्यमवर्ग की लड़ाई में सबसे आगे क़दम बढ़ाया। और चूंकि में मध्यमवर्ग की जीत हुई, इसलिए नई हालतों का फ़ायदा उठाकर यह से आगे बढ़ गया। दोनों ने, आगे चलकर, शक्तिशाली जंगी बेड़े बनाये; ने दूर-दूर देशों से व्यापार क़ायम किया और दोनों ने एशिया में साम्राज्य रक्खी।

इन पत्रों में हमने अभी तक इंग्लैण्ड के बारे में ज्यादा नहीं लिखा है। लिखने कुछ था भी नहीं; क्योंकि इंग्लैण्ड यूरोप का कोई ज्यादा महत्ववाला देश था। लेकिन अब एक परिवर्तन आता है और, जैसा कि आगे बताया जायगा, बड़ी तेज़ी के साथ आगे बढ़ता है। हम 'मैग्नाकार्टा', पार्लमेण्ट की शुरुआत,

किसानों के झगड़ों और राजवंशों के आपसी युद्धों का ज़िक्र कर चुके हैं। में बादशाहों के हाथों से ख़ून और हत्याएँ आमतौर पर काफ़ी हुईं। साम सरदारों की एक बहुत बड़ी संख्या लड़ाई के मैदानों में काम आई, जिससे बहुत घट गया। ट्यूडरों का नया राजवंश गद्दी पर बैठा, जिन्होंने निरंकुश का पार्ट ख़ूब अदा किया। आठवाँ हेनरी ट्यूडर था और उसकी पुत्री भी ट्यूडर थी।

सम्राट् चार्ल्स पंचम के बाद साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गये। नीदरलैण्ड उसके पुत्र फ़िलिप द्वितीय के हिस्से में आये। उस वक़्त शाली बादशाहत होने की वजह से स्पेन सारे यूरोप के ऊपर सिर उठाये तुम्हें याद होगा कि पेरू और मैक्सिको उसके क़ब्ज़े में थे और अमेरिका नदी उसके यहाँ बही चली आ रही थी। लेकिन कोलम्बस, कोर्तीज़ और के बावजूद भी स्पेन नई हालतों से फ़ायदा नहीं उठा सका। व्यापार में दिलचस्पी नहीं थी। उसे अगर परवाह थी तो ऐसे मज़हब की, जो और ज़ालिम था। सारे देश में इनक्विज़िशन की तूती बोलती थी और जानेवालों को भयंकर यातनाएँ दी जाती थीं। समय-समय पर बड़े किये जाते थे और इन 'काफ़िर' स्त्री-पुरुषों के झुण्ड-के-झुण्ड बादशाह, राजदूतों और हज़ारों मनुष्यों के सामने बड़ी-बड़ी चिताओं पर ज़िन्दा जाते थे। ये सार्वजनिक अग्नि-काण्ड ईसाइयत के नियम कहलाते थे। वे कितनी भयंकर और ख़ूँख़्वार मालूम पड़ती हैं। पर इस ज़माने का यूरो हास मारकाट, दिल दहलानेवाले व वहशियाना ज़ुल्मों और मज़हबी इस क़दर भरा हुआ है कि उसपर विश्वास करना मुश्किल है।

स्पेन का साम्राज्य ज़्यादा दिनों तक न टिक सका। छोटे-से बहादुर लड़ाई ने उसे बिलकुल हिला डाला। कुछ दिनों बाद, १५८८ ई० को जीतने की कोशिश बिलकुल बेकार गई और स्पेन की फ़ौजों को 'अजय आर्मेडा' नामक जंगी बेड़ा इंग्लैण्ड तक पहुँच भी न सका। उसे तहस-नहस कर डाला। इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है, क्योंकि की कमान करनेवाला व्यक्ति समुद्र या जहाज़ों के बारे में कुछ भी नहीं वास्तव में उसने बादशाह फ़िलिप द्वितीय के पास जाकर "यह भी की थी कि उसे इस ओहदे की ज़िम्मेदारी से बरी कर दिया जाय, समुद्री लड़ाई की मोर्चा-बन्दी का कुछ भी ज्ञान न था और न वह अच्छा लेकिन बादशाह ने जवाब दिया कि स्पेन के बेड़े का संचालन तो ख़ुद

इस तरह धीरे-धीरे स्पेन का साम्राज्य भी ग़ायब होता गया। के ज़माने में यह कहा जाता था कि उसके साम्राज्य में सूर्य अस्त नहीं

आजकल के एक घमण्डी और मद में चूर साम्राज्य के बारे में भी अक्सर ई जाती है।

: ८६ :

नीदरलैण्ड की आज़ादी की लड़ाई

२७ अगस्त, १९३२

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बतलाया था कि सोलहवीं सदी में क़रीब-क़रीब यूरोप में बादशाह सबके ऊपर कितने हावी हो गये थे। इंग्लैण्ड में ट्यूडर और स्पेन और आस्ट्रिया में हैप्सबर्ग थे। रूस, जर्मनी और इटली के ज़्यादातर में निरंकुश एकतन्त्री राजा थे। इस तरह का बादशाह, जो निजी हैसियत तन्त्री राज करता था और सारा साम्राज्य जिसकी बहुत-कुछ निजी जायदाद जाता था, उसका नमूना शायद फ़्रान्स ही था। कार्डिनल रिशैल्यू नामक बड़े योग्य मन्त्री ने फ़्रान्स और उसकी बादशाहत को मज़बूत बनाने में बड़ी मदद फ़्रान्स का हमेशा यह ख़याल रहा है कि उसकी मज़बूती और सुरक्षा जर्मनी मज़ोरी में है। इसलिए रिशैल्यू ने, जो ख़ुद एक कैथलिक पादरी था और फ़्रान्स टेस्टेण्टों को बड़ी बेरहमी से कुचल रहा था, जर्मनी में प्रोटेस्टेण्टों को उलटा ाया। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि जर्मनी में अन्दरूनी लड़ाई-झगड़ा र अशान्ति बढ़े, जिससे वह कमज़ोर हो जाय। यह नीति सफल भी ख़ूब हुई। कि आगे ज़िक्र किया जायगा, जर्मनी में बहुत ही बुरा गृह-युद्ध हुआ, जिसने श सत्यानाश कर दिया।

फ़्रान्स में भी सत्रहवीं सदी के बीच में गृह-युद्ध हुआ, जो फ़्रान्स का युद्ध कह- है। लेकिन बादशाह ने अमीर-सरदारों और व्यापारियों दोनों को कुचल । अमीर-सरदारों के हाथ में असली ताक़त तो रह ही नहीं गई थी, लेकिन तरफ़ मिलाये रखने के लिए बादशाह ने उन्हें बहुत-सी रियायतें दे दीं। टैक्सों से क़रीब-क़रीब बरी कर दिया गया था। अमीर-सरदार वर्ग और वर्ग दोनों ही टैक्सों से बरी थे। टैक्सों का सारा बोझ आम जनता पर और कर किसानों पर पड़ता था। इन ग़रीब दुखी अभागों को ऐंठकर जो धन इकट्ठा गया, उससे बड़े-बड़े आलीशान महल बनाये गए और बादशाह बड़े ठाट-बाट दरबार से घिरा रहता था। पेरिस के पास वर्साई तुमने देखा है, उसकी तुमको होगी। वहाँ के आलीशान महल, जिनको देखने के लिए आजकल लोग जाते हवीं सदी में फ़्रान्स के किसानों के ख़ून से बने थे। वर्साई एक निपट निरंकुश म्मेदार राजाशाही का चिह्न था, इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं है कि फ़्रान्स की उस राज्यक्रान्ति का हरकारा बनी, जिसने सारी राजाशाही को

ही खत्म कर दिया। लेकिन उन दिनों राज्य-क्रान्ति के दिन बहुत दूर थे। उस
चौदहवाँ लुई बादशाह था, जो 'महान् बादशाह' कहलाता था, और वह
था, जिसके चारों तरफ़ उसके दरबार के ग्रह चक्कर लगाते रहते थे। उसने
साल के बहुत ही लम्बे समय तक, यानी १६४३ से १७१५ ई० तक, राज
और उसका प्रधान मन्त्री माज़ारिन नामक एक दूसरा बड़ा कार्डिनल था।
ऊपर तो बड़ा राग-रंग और विलास था और साहित्य, विज्ञान और कला पर
कृपा थी, लेकिन शान-शौक़त की इस झीनी चादर के नीचे बड़ी मुसीबत और
थी। वह सुन्दर नक़ली बालों और गोटे के कफ़ों और नफ़ीस पोशाकों की
थी, लेकिन जिस शरीर पर ये चीज़ें पहनी जाती थीं, उसे शायद ही कभी नह
जाता था, और वह मैल और गन्दगी से भरा रहता था।

हम सबपर शान-शौक़त और तड़क-भड़क का बहुत बड़ा असर पड़
इसलिए अगर अपने लम्बे राज में चौदहवें लुई ने यूरोप पर खूब प्रभाव
तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है। वह बादशाहों में नमूना समझा जा
और दूसरे उसकी नक़ल करने की कोशिश करते थे। लेकिन यह 'महान् बाद
आखिर था क्या? मशहूर अंग्रेज-लेखक कार्लाइल ने लिखा है—"अपने
लुई पर से बादशाहत का चोग़ा उतार दो तो सिवा एक भद्दी दो-जड़ोंवाली
के, जिसमें बेढंगा सिर तराशा हुआ हो, और कुछ नहीं रहता।" यह बयान
ज़रूर है, मगर शायद बहुत-से लोगों पर चाहे बादशाह हों या प्रजा—
है।

चौदहवें लुई का इतिहास हमको १७१५ ई० तक, यानी अठारहवीं
के शुरू तक ले आता है। इस बीच यूरोप के दूसरे मुल्क़ों में बहुत-कुछ हो
और इनमें से कुछ घटनाएँ हमारे ध्यान देने लायक़ हैं।

नीरदलैण्ड का स्पेन के खिलाफ़ विद्रोह का हाल मैं तुमको बता
हूँ। उनकी बहादुरी की लड़ाई अच्छी तरह ग़ौर करने लायक़ है। जे० एल०
नामक एक अमरीकी ने आज़ादी की इस लड़ाई का मशहूर हाल लिखा है
उसने इस इतिहास को बड़ा रोचक और लुभावना बना दिया है। साढ़े
वर्ष पहले यूरोप के इस छोटे-से कोने में जो कुछ हुआ, उसके इस वर्णन से
कोई उपन्यास मैं नहीं जानता। इस पुस्तक का नाम 'राइज़ ऑफ़ दि डच रि
है और मैंने इसे जेल में पढ़ा है।

नीदरलैण्ड में हॉलैण्ड और बेल्जियम दोनों शामिल हैं। इनका

---

[1] यह पुस्तक हिन्दी में 'नरमेध' के नाम से 'सस्ता साहित्य
प्रकाशित हो चुकी है।

ज़ा है कि ये नीची ज़मीन में हैं। हॉलैण्ड का अर्थ है 'धँसी हुई ज़मीन'। से हिस्से समुद्र की सतह से वास्तव में नीचे हैं और उत्तरी समुद्र के रोकने के लिए विशाल समुद्री-बाँध और दीवारें बनाई गई हैं। ऐसे वाली, जहाँ बराबर समुद्र से लड़ना पड़ता है, जन्म से ही मज़बूत समुद्र- हैं और जो लोग अक्सर समुद्र-यात्राएँ करते रहते हैं वे तिजारती बन इसलिए नीदरलैण्ड के निवासी तिजारती हो गये। वे ऊनी कपड़ा और तैयार करते थे और पूर्वी देशों के गरम मसाले भी उनके यहाँ पहुँचते ा यह हुआ कि ब्रुसेल्स, घैन्त और ख़ासकर ऐन्तवर्प जैसे मालदार और शहर वहाँ खड़े हो गये। जैसे-जैसे पूर्वी देशों से व्यापार बढ़ता गया वैसे- हरों की दौलत भी बढ़ती गई और सोलहवीं सदी में ऐन्तवर्प यूरोप ी केन्द्र बन गया। कहते हैं कि उसकी मण्डी में रोज़ पाँच हज़ार व्यापारी र आपस में सौदे किया करते थे; उसके बन्दर में एक साथ ढाई हज़ार र डाले रहते थे। रोज़मर्रा लगभग पांच सौ जहाज़ वहाँ आते-जाते थे। री वर्गों के हाथ में इन शहरों के शासन की बागडोर थी।

ारियों की यह ठीक ऐसी जाति थी, जो 'रिफ़ॉर्मेशन' के नये मज़हबी ी ओर खिंच सकती थी। यहाँपर और ख़ासकर उत्तरी भागों में, त फैलने लगा। विरासत के संयोग ने हैप्सबर्ग के चार्ल्स पंचम और उसके पुत्र फ़िलिप द्वितीय को नीदरलैण्ड का शासक बना दिया। ें से कोई भी किसी भी तरह की राजनीतिक या मज़हबी आज़ादी कर सकता था। फ़िलिप ने शहरों की रियायतों को और नये मत को ना चाहा। उसने एल्वा के ड्यूक को गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा, र अत्याचार के लिए बदनाम हो गया है। इनक्विज़िशन क़ायम हुई और रिषद्' बनाई गई, जिसने हज़ारों को ज़िन्दा जला दिया या फाँसी पर ा।

क बड़ी लम्बी कहानी है, जिसे में यहाँ बयान नहीं कर सकता। जैसे- अत्याचार बढ़ता गया, उससे टक्कर लेने की ताक़त भी लोगों में बढ़ती प्रिन्स विलियम ऑफ़ ऑरेन्ज, या 'ख़ामोश विलियम' नामक एक ऐसा बुद्धिमान नेता पैदा हुआ, जिसका मुक़ाबला एल्वा का ड्यूक नहीं कर । १५६८ ई० में इनक्विज़िशन ने तो, कुछ गिने-चुने आदमियों को नीदरलैण्ड के सारे निवासियों को एक ही फ़ैसले में काफ़िर क़रार देकर सज़ा दे डाली। यह हैरतभरा फ़ैसला इतिहास में बे-मिसाल है, जिसने शब्दों में ही तीस लाख आदमियों को सज़ा दे दी।

ें तो यह लड़ाई नीदरलैण्ड के अमीर-सरदारों और स्पेन के बादशाह

के बीच ही मालूम दी। दूसरे देशों में बादशाह और अमीर-सरदारों के चल रही थीं, क़रीब-क़रीब उन्हीं जैसी यह भी थी। एल्वा ने उनको की कोशिश की और बहुत-से अमीर-सरदारों को ब्रुसेल्स में फांसी के पड़ा। इन फाँसी दिये जानेवालों में काउण्ट एग्मोन्त नामक एक मशहूर अमीर-सरदार भी था। इसके बाद एल्वा को जब रुपये की उसने नये-नये भारी टैक्स लगाने की कोशिश की। इससे जब व्यापारियों पर असर पड़ा तो वे लोग बिगड़ खड़े हुए। इसके साथ-साथ प्रोटेस्टेण्टों के बीच भी लड़ाई चल रही थी।

स्पेन एक बड़ा ज़बर्दस्त राज्य था, जिसे अपने बड़प्पन का पूरा उधर नीदरलैण्ड में सिर्फ़ व्यापारी लोगों और निकम्मे व फ़िज़ूल सरदारों के कुछ सूबे थे। दोनों का कोई मुक़ाबला न था। लेकिन दबाना स्पेन के लिए मुश्किल हो गया। बार-बार क़त्लेआम होते रहे पूरी आबादियाँ मौत के घाट उतार दी जाती थीं। मनुष्यों के एल्वा और उसके सेनापति चंगेजख़ाँ और तैमूर की होड़ कर रहे थे। इन मंगोलों से भी आगे बढ़ जाते थे। एल्वा एक के बाद दूसरे शहर रहा था और शहर के बिना-सीखे पुरुष और अक्सर स्त्रियाँ भी सिखाये सैनिकों से जल और थल पर तबतक लड़ते रहते थे से लाचार न हो जाते। स्पेन की ग़ुलामी की बनिस्बत अपनी प्यारी चीज़ों का सत्यानाश तक भी अच्छा समझकर हॉलैण्ड-निवासियों ने को डुबाने व भगा देने के लिए समुद्री-बाँध तोड़ डाले और उत्तरी भीतर आने दिया। जैसे-जैसे लड़ाई गहरी होती गई वैसे-ही-वैसे भी आता गया और दोनों पक्ष हद से ज़्यादा बेरहम हो गये। सुन्दर घेरा एक मार्के की घटना है। इसे आख़िरी दम तक वीरता के कोशिश की गई, लेकिन अन्त वही हुआ—सदा की तरह स्पेन के और लूटपाट। अल्कमार पर भी घेरा डाला गया, लेकिन वह गया। और लाइदन को जब दुश्मनों ने घेर लिया तो भूख और आदमी मर गये। लाइदन के पेड़ों में एक भी हरा पत्ता बाक़ी न खा डाले। घूरों पर जूठन के टुकड़ों के लिए स्त्री और पुरुष भुखमरे झपटी करते, लेकिन फिर भी वे लड़े जाते थे, और शहर की दीवारों काँटा हुए और भूख से अधमरे लोग दुश्मन को चुनौती देते थे, कहते थे कि वे चूहे, कुत्ते और चाहे जो कुछ खाकर जिन्दा रहेंगे, मानेंगे। "और जब हमारे सिवा कुछ भी बाक़ी न रहेगा तो विश्वास से हरेक अपने बायें हाथ को खा डालेगा और दाहिने हाथ को से अपनी स्त्रियों की, अपनी स्वतन्त्रता की और अपने मज़हब की

अगर ईश्वर भी क्रोध करके हमारे लिए विनाश का विधान कर दे और तरह की राहत न दे, तो भी हम तुम्हें भीतर घुसने से रोकने के लिए अपने-हमेशा तैयार रक्खेंगे। जब हमारी आख़िरी घड़ी आ जायगी तो हम ने ही हाथों से शहर में आग लगा देंगे और पुरुष, स्त्रियाँ व बच्चे, ाय आग में जलकर मर जायँगे, लेकिन अपने घरों को हरगिज़ अपवित्र से और न अपनी स्वतन्त्रता को रौंदा जाने देंगे।"

इदन के निवासियों में ऐसा जोश था। लेकिन जैसे दिन-ग-र-दिन बीतते कहीं से सहायता की सूरत नज़र नहीं आती थी, वैसे ही उनकी निराशा जाती थी। आख़िर उन्होंने हॉलैण्ड की जागीरों के अपने दोस्तों को बाहर या। इन जागीरों ने यह ज़बर्दस्त फ़ैसला किया कि लाइदन को शत्रुओं के ने देने से तो अच्छा है कि अपने प्यारे देश को पानी में डुबो दिया जाय। र देश से डूबा हुआ देश ही भला है।" और उन्होंने घोर संकट में पड़े हुए नो शहर को यह उत्तर भेजा—"ऐ लाइदन, हम तुझे संकट में छोड़ने न यह बेहतर समझेंगे कि हमारा सारा देश और हमारी सारी सम्पत्ति हरों से नष्ट हो जायँ!"

ख़िरकार एक के बाद दूसरा समुद्री-बाँध तोड़ दिया गया और हवा की र समुद्र का पानी भीतर घुस आया और उसके साथ हॉलैण्ड के जहाज़ और सहायता लेकर आ पहुँचे। और इस नये दुश्मन समुद्र से भयभीत न के सैनिक सिर पर पाँव रखकर भाग खड़े हुए। इस तरह लाइदन और उसके निवासियों की वीरता की यादगार में १५७५ ई० में लाइदन श्वविद्यालय क़ायम किया गया, जो आज तक मशहूर है।

ला की ऐसी कितनी ही कहानियाँ हैं, और दहलानेवाले हत्याकाण्डों की र एण्टवर्प में बड़ा भयंकर हत्याकाण्ड हुआ और लूटमार हुई, जिसमें आठ दमी मारे गये। इसे 'स्पेन का कोप' कहा गया था।

किन इस महान् लड़ाई में हॉलैण्ड ने ही ज़्यादातर हिस्सा लिया, नीदरलैण्ड हिस्से ने नहीं। स्पेन के शासक घूँस और दबाव से नीदरलैण्ड के बहुत-से दारों को अपनी तरफ़ मिला लेने में सफल हो गये और उनके ज़रिये उन्हीं-यों को कुचलवाया। उनको इस बात से बड़ी मदद मिली कि दक्षिण में में कैथलिकों की संख्या बहुत ज़्यादा थी। उन्होंने कैथलिकों को मिलाने की और कुछ हद तक वे सफल भी हो गये। और भला अमीर-सरदार! बात है कि इन लोगों में से बहुत-से स्पेन के बादशाह की कृपा और अपने दौलत हासिल करने की ख़ातिर देश-द्रोह और धोखेबाज़ी में कितने नीचे ये; देश भले ही जहन्नुम में चला जाय!

नीदरलैण्ड की विधान-सभा में भाषण देते हुए विलियम ने कहा था—"नीदरलैण्ड को कुचलने वाले नीदरलैण्ड के ही लोगों का ड्यूक जिस बल की डींग मारता है, वह अगर तुम्हारा ही— शहरों का—दिया हुआ नहीं है, तो कहाँ से आया ? उसके जहाज, हथियार, सिपाही, ये सब कहाँ से आये ? नीदरलैण्ड के लोगों के पास

इस तरह, आखिरकार स्पेनवाले नीदरलैण्ड के उस हिस्से ओर मिला लेने में कामयाब हुए, जो आज मोटे तौर पर बेल्जियम लेकिन लाख कोशिश करने पर भी वे हॉलैण्ड को क़ाबू में न ला सके। की अजीब बात यह है कि लड़ाई के दौरान, क़रीब-क़रीब उसके तक, हॉलैण्ड ने स्पेन के फ़िलिप द्वितीय की अधीनता से कभी इन्कार वे उसे अपना बादशाह मानने के लिए तैयार थे, बशर्ते कि वह उनके कारों को मंजूर कर लेता। लेकिन अन्त में उनको उससे नाता तोड़ मजबूर होना पड़ा। उन्होंने अपने महान् नेता विलियम के सिर पर चाहा, लेकिन उसने इन्कार कर दिया। इस तरह परिस्थिति ने उनको, के खिलाफ़, गणराज्य बनने के लिए मजबूर कर दिया। उस जमाने की परम्परा इतनी ज़बर्दस्त थी।

हॉलैण्ड में यह लड़ाई कितने ही वर्षों तक चली। १६०९ ई० में हालैण्ड स्वाधीन हुआ। लेकिन नीदरलैण्ड में असली लड़ाई १५६७ ई० तक हुई। स्पेन का फ़िलिप द्वितीय जब विलियम ऑफ़ ऑरेन्ज को तो उसने उसे एक हत्यारे के हाथों मरवा डाला। उसकी हत्या के लिए सार्वजनिक इनाम का ऐलान किया। उस ज़माने में यूरोप का नेक-चलन विलियम को मारने की कितनी ही कोशिशें असफल हुईं। १५८४ ई० बार की कोशिश सफल हुई और यह महापुरुष—जो हॉलैण्ड भर में 'पिता के नाम से पुकारा जाता था—मारा गया; लेकिन उसका काम पूरा हो बलिदान और कष्ट की भट्टी में ढलकर डच गणराज्य—हॉलैण्ड तैयार था। अत्याचारी और निरंकुश शासकों के खिलाफ़ खड़े होने से हरेक क़ौम को लाभ होता है। इससे साधना मिलती है और बल बढ़ता है। और अपने पाँवों पर खड़ा रहनेवाला हॉलैण्ड बहुत जल्दी एक बड़ी बन गया और दूर-पूर्व तक फैल गया। बेल्जियम, जो हॉलैण्ड से अलग था, स्पेन के ही क़ब्ज़े में रहा।

यूरोप की इस तसवीर को पूरा करने के लिए अब हमें जर्मनी देखना चाहिए। यहाँ १६१८ से १६४८ ई० तक एक भयंकर गृह-युद्ध 'तीस साल का युद्ध' कहलाता है। यह युद्ध कथलिक और प्रोटेस्टेंटों के

र्मनी के छोटे-छोटे राजा और निर्वाचक आपस में, और सम्राट् से, लड़े। फ़्रान्स के कैथलिक बादशाह ने प्रोटेस्टेण्टों को शह दी, सिर्फ़ इसलिए कि यह ड़ी और बढ़ जाय। अन्त में स्वीडन का बादशाह गुस्तावस अदोल्फ़स—जो र का सिंह' कहलाता था—चढ़कर आया और उसने सम्राट् को हराकर टेस्टों को बचा लिया। लेकिन जर्मनी का सत्यानाश हो चुका था। पैसे के गुलाम ही लुटेरे बन गये थे। उन्होंने चारों तरफ़ लूट-खसोट मचा रक्खी थी। यहाँतक फ़ौजों के सेनापति भी सिपाहियों की तनख्वाह या खूराक के लिए पैसा न रहने लूटमार करने लगे। और खयाल करो कि यह सब लगातार तीस साल तक रहा! हत्याकाण्ड, विनाश और लूटमार साल-दर-साल चलते रहे। ऐसी हालत यापार बिलकुल नहीं हो सकता था, और न खेती-बाड़ी ही हो सकती थी। ए दिन-पर-दिन खाने की चीज़ें कम होती गईं और भुखमरी बढ़ने लगी। र इसका लाज़िमी नतीजा यह हुआ कि डाकू बढ़ने लगे और लूटमार ज़्यादा लगी। जर्मनी एक तरह से पेशेवर और पैसे के गुलाम सिपाही पैदा करने- जगह बन गया।

आखिरकार यह लड़ाई खत्म हुई—जबकि शायद लूटने के लिए कुछ भी ई न रहा! लेकिन जर्मनी को यह नुक़सान पूरा करने और अपनी हालत लने में बहुत लम्बा वक़्त लगा। १६४८ ई० में वेस्ट-फ़ैलिया की सन्धि से इस द्ध का अन्त हो गया। इससे पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् सिर्फ़ परछाईं र बिना अधिकारवाली छाया बन गया। फ़्रान्स ने एक बड़ा टुकड़ा, अल्सास, या, और उसे दो सौ वर्षों से ज़्यादा अपने क़ब्ज़े में रक्खा। बाद में उसे मजबूर र यह टुकड़ा फिर से नये जर्मनी को दे देना पड़ा। लेकिन १९१४-१८ ई० के ले महायुद्ध के बाद फ़्रान्स ने इसे फिर ले लिया। इस तरह इस सन्धि से को फ़ायदा हुआ। लेकिन अब जर्मनी में एक दूसरी शक्ति पैदा हो गई, जो चलकर फ़्रान्स के रास्ते का काँटा बनी। यह प्रशिया था, जिस पर हॉएनज़ॉलर्न घराना राज करता था।

वेस्ट-फ़ैलिया की सन्धि ने, आखिरी तौर पर स्वीज़रलैण्ड और हॉलैण्ड के ज्यों को मान लिया।

मैंने तुम्हें युद्धों, हत्याकाण्डों, लूटमार और मज़हबी कट्टरपन की कैसी नी सुनाई है! लेकिन यही उस रिनैसाँ के बाद का यूरोप था, जबकि क्रिया- फूट पड़ी थी और कला और साहित्य की हलचलें ज़ोर पकड़ रही थीं। मैंने की तुलना एशिया के देशों से की है और उस नई ज़िन्दगी का ज़िक्र किया है उस वक़्त यूरोप में पैदा हो रही थी। इस नई ज़िन्दगी को मुश्किलें पार करके बढ़ते हुए हर कोई देख सकता है। नये बालक और नई व्यवस्था का जन्म बड़ी

तकलीफ़ों के साथ हुआ करता है। जब नींव में आर्थिक खोखलापन हो ऊपर के समाज और राजनीति दोनों डाँवाडोल होने लगते हैं। यह तो है कि यूरोप में नया जीवन पैदा हो रहा था। लेकिन इसके चारों ओर बर्ताव है! उस ज़माने का यह उसूल था कि "झूठ बोलने की विद्या ही की विद्या है।" उस वक़्त का सारा वातावरण ही धोखेबाज़ियों और हत्या और ज़ुल्म के धुएँ से घुट रहा था, और ताज्जुब तो यह होता है कि बर्दाश्त किस तरह करते थे!

: ८७ :

इंग्लैण्ड ने अपने बादशाह का सिर उड़ा दिया

२९ अगस्त,

अब हम कुछ वक़्त इंग्लैण्ड के इतिहास को देंगे। अभी तक हमने इसे दरगुज़र किया है, क्योंकि मध्य युगों में वहाँ कोई ऐसी दिलचस्पी की हुई। यह देश फ़ान्स और इटली से भी पिछड़ा हुआ था। हाँ, ऑक्सफ़ोर्ड विद्यालय बहुत पहले विद्या का केन्द्र मशहूर हो चुका था और कुछ दिन बाद भी मशहूर हुआ। वाइक्लिफ़, जिसके बारे में मैं पहले लिख चुका हूं, की ही देन था।

इंग्लैण्ड के शुरू के इतिहास में दिलचस्पी की मुख्य बात पार्लमेण्ट का है। शुरू से ही अमीर-सरदारों की यह कोशिश थी कि बादशाह के सीमित कर दिया जाय। १२१५ ई० में मैग्नाकार्टा बना। इसके कुछ पार्लमेण्ट की शुरुआत दिखलाई पड़ती है। शुरू-शुरू की ये बातें अधकचरी बड़े-बड़े अमीर-सरदार और पादरी ही आगे चलकर लॉर्ड-सभा का रूप लेकिन आखिरकार सबसे महत्व की जो चीज़ बनी, वह थी एक चुनी हुई जिसमें नाइट लोग छोटे-छोटे ज़मींदार और शहरों के कुछ प्रतिनिधि यही चुनी हुई परिषद् विकसित होकर कॉमन्स सभा बन गई। ये दोनों या सभाएँ ज़मींदारों और धनवान लोगों की थीं। कॉमन्स-सभा के धनवान ज़मींदारों और व्यापारियों के प्रतिनिधि थे।

कॉमन्स सभा के हाथ में कोई अधिकार नहीं था। वे लोग बादशाह अर्ज़ियाँ भेजते थे और लोगों की शिकायतें पेश करते थे। धीरे-धीरे वे मामले में भी दखल देने लगे। उनकी मर्ज़ी के बिना नये टैक्स लगाना करना बहुत मुश्किल था, इसलिए बादशाह ने ऐसे टैक्स लगाने के बारे में मंजूरी लेने का रिवाज शुरू कर दिया। आमदनी व खर्च पर अधिकार बड़ी ताक़त होती है, इसलिए पार्लमेण्ट और खासकर कॉमन्स-सभा का

ार बढ़ता गया वैसे-ही-वैसे उसका बल और मान भी बढ़ते गए। कॉमन्स र बादशाह में अक्सर मतभेद होने लगा। लेकिन फिर भी पार्लमेण्ट एक थी और ट्यूडर शासक, जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूँ, क़रीब-क़रीब राजा थे। लेकिन ट्यूडर लोग चालाक थे और वे पार्लमेण्ट से लड़ाई मोल जाते थे।

इंग्लैण्ड यूरोप की कट्टर मज़हबी लड़ाइयों से बचा रहा। मज़हबी झगड़ों, ों और कट्टरपन की बहुत ज़्यादती रही, और स्त्रियों की एक बड़ी ो ज़िन्दा जलाने की शर्मनाक कार्रवाई की गई, क्योंकि उन्हें डायनें समझा । लेकिन यूरोप के मुक़ाबले में इंग्लैण्ड में फिर भी शान्ति रही। हेनरी अष्टम ाथ इंग्लैण्ड भी प्रोटेस्टेण्ट हो गया, यह माना गया। देश में बहुत-से कैथ- र थे, मगर बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टेण्ट भी थे। लेकिन नया 'चर्च ऑफ़ ानी इंग्लैण्ड का ईसाई-संघ कुछ-कुछ इन दोनों के बीच का था; और हालाँकि को प्रोटेस्टेण्ट कहता था मगर प्रोटेस्टेण्ट की बनिस्बत कैथलिक ज़्यादा सच पूछें तो वह राज्य का एक महकमा था, जिसका अध्यक्ष ख़ुद बादशाह रोम और पोप से रिश्ता बिलकुल टूट चुका था और बहुत-से 'पोपलीला- ी हुए। महारानी एलिज़ाबेथ (यह आठवें हेनरी की पुत्री थी) के वक़्त ों के और अमेरिका के जो नये समुद्री-रास्ते खुले और व्यापार की नई- ें हुई उन्होंने बहुत-से लोगों को लुभाया। स्पेन और पुर्तगाल के ी सफलता से मोहित होकर और दौलत हासिल करने के लालच से े भी समुद्र का रास्ता पकड़ा। सर फ़्रान्सिस ड्रेक वग़ैरा शुरू में समुद्री-डाकू और अमेरिका से आनेवाले स्पेन के जहाज़ों को लूटने लगे। इसके बाद ड्रेक का चक्कर लगाने के लिए ज़बर्दस्त समुद्र-यात्रा की। सर वाल्टर रैले ने सागर को पार करके उस देश के पूर्वी किनारे पर बस्ती डालने की कोशिश आज अमेरिका का संयुक्त राज्य कहते हैं। कुँवारी महारानी एलिज़ाबेथ में इसे वर्जिनिया[1] का नाम दिया गया। रैले ही पहला आदमी था, जो से तमाखू पीने का रिवाज यूरोप में लाया। इसके बाद स्पेनी आर्मेडा आया घमण्ड-भरे धावे की पूरी नाकामयाबी ने इंग्लैण्ड का हौसला बहुत बढ़ा दिया। का बादशाह और पार्लमेण्ट के झगड़े से कोई ताल्लुक नहीं है, सिवाय लोगों का ध्यान इन बातों में लग गया और विदेशी मामलों की तरफ़ बट किन ट्यूडरों के ज़माने में भी भीतर-ही-भीतर आग सुलग रही थी। एलिज़ाबेथ का ज़माना इंग्लैण्ड के सबसे ज़्यादा चमकदार ज़मानों में गिना है। एलिज़ाबेथ एक महान् रानी थी और उसके समय में इंग्लैण्ड में कई महान्

---

[1] अंग्रेज़ी में क्वाँरी स्त्री को वर्जिन (Virgin) कहते हैं।

कर्मवीर पैदा हुए। लेकिन इस रानी और उसके साहसी नाइटों से भी इस पीढ़ी के कवि और नाटककार, और अमर विलियम शेक्सपियर ऊँचा नज़र आता है। इसके नाटक आज वास्तव में सारे संसार में मशहूर हैं इसके खुद के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। यह उस प्रतिभाशाली एक था, जिसने अंग्रेज़ी भाषा के भण्डार को बहुत-से बेशक़ीमती रत्नों से भर जो हमारे दिल में ख़ुशी भर देते हैं। एलिज़ाबेथ के ज़माने की छोटी-छोटी कविताओं में भी एक निराला रस है जो औरों में नहीं पाया जाता। सादी और मीठी-से-मीठी भाषा में ये हर्ष से फुदकती चली जाती हैं और जीवन की बातें अपने निराले ही ढंग से कहती हैं। इस ज़माने का ज़िक्र लिटन स्ट्राची नामक एक अंग्रेज़ समालोचक ने लिखा है कि "एलिज़ाबेथ इस शानदार मण्डली की ज़ोरदार और शानदार भावना ने इंग्लैण्ड को ए त्कारी पीढ़ी में नाटकों की ऐसी शानदार विरासत भेंट की है, जो दुनिया में बेजोड़ है।"

भारत में अकबर महान् की मृत्यु के ठीक दो वर्ष पहले, १६० एलिज़ाबेथ की मृत्यु हुई। उसके बाद स्कॉटलैण्ड का मौजूदा बादशाह क्योंकि उत्तराधिकारियों की वंश-परम्परा में वही सबसे नज़दीकी था। प्रथम के नाम से गद्दी पर बैठा और इस तरह इंग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड राज्य बन गये। जिस चीज़ को इंग्लैण्ड ख़ून-ख़राबी से न पा सका वही हो गई। जेम्स प्रथम राजाओं के दैवी अधिकार का हामी था और पार्लमेंट नहीं करता था। वह एलिज़ाबेथ की तरह होशियार भी नहीं था और पार्लमेण्ट और उसके बीच झगड़ा पैदा हो गया। इसी के राज में इंग्लैण्ड कट्टर प्रोटेस्टेण्ट अपनी जन्मभूमि को हमेशा के लिए छोड़ गये और में बसने के लिए १६२० ई० में 'मेफ़्लावर' नामक जहाज़ से रवाना हुए जेम्स प्रथम के निरंकुश तरीक़ों से सहमत नहीं थे, और इंग्लैण्ड के नये को नापसन्द करते थे, क्योंकि वे उसे कम प्रोटेस्टेण्ट समझते थे। इसलिए घर और देश को छोड़कर अतलान्तिक सागर के पार नई जंगली रवाना हो गये। वे उत्तरी किनारे की एक जगह पर उतरे, जिसे माउथ नाम दिया। उनके बाद और भी कितने ही उपनिवेशी वहाँ पहुँचे धीरे पूर्वी तट के सहारे-सहारे इन बस्तियों की तादाद बढ़ते-बढ़ते तेरह गई। अन्त में ये उपनिवेश मिलकर अमेरिका का संयुक्त राज्य बन गये। तो अभी बहुत आगे की बात है।

जेम्स प्रथम का पुत्र था चार्ल्स प्रथम। १६२५ ई० में, इसके गद्दी पर बाद, बहुत जल्दी झगड़ा ऊपर आ गया। इसलिए १६२८ ई० में पार्लमेण्ट

“अधिकारों का प्रार्थनापत्र” पेश किया, जो इंग्लैण्ड के इतिहास में एक मशहूर ता है। इस प्रार्थना-पत्र में कहा गया था कि बादशाह पूरी तरह अपनी मर्जी चलनेवाला शासक नहीं है और वह बहुत-सी बातें नहीं कर सकता। वह ग़ैर-नी तौर पर न तो प्रजा पर टैक्स लगा सकता है और न उसे गिरफ़्तार करवा ता है। वह सत्रहवीं सदी में भी वह बातें नहीं कर सकता था, जो आज बीसवीं में भारत का अंग्रेज़ वाइसराय कर सकता है—यानी आर्डिनेन्स जारी करना उनके मातहत लोगों को जेल में डाल देना।

जब उसको यह बतलाया गया कि उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं, तो ने खीझकर पार्लमेण्ट को भंग कर दिया और उसके बिना ही शासन करने लगा। कुछ ही वर्ष बाद उसे रुपये की इतनी तंगी महसूस हुई कि दूसरी पार्लमेण्ट नी पड़ी। पार्लमेण्ट के बिना चार्ल्स ने जो कुछ किया उस पर लोग बहुत नाराज़ और नई पार्लमेण्ट तो उससे लड़ाई मोल लेने का मौक़ा ही ताक रही थी। दो बीते भी न थे कि १६४२ ई० में, गृह-युद्ध शुरू हो गया जिसमें एक तरफ़ तो बादशाह, जिसकी मदद पर बहुत-से अमीर-सरदार और फ़ौज का बड़ा हिस्सा और दूसरी तरफ़ थी पार्लमेण्ट, जिसके मददगार थे धनी व्यापारी और लन्दन नागरिक। कई वर्षों तक यह युद्ध खिंचता रहा, और अन्त में पार्लमेण्ट की तरफ़ महान् नेता, ओलिवर क्रॉमवैल, उठ खड़ा हुआ। वह बड़ा ज़बर्दस्त संगठन नेवाला, कड़ा अनुशासन रखनेवाला और अपने उद्देश्य में कट्टर विश्वास रखने-व्यक्ति था। कार्लाइल[1] ने क्रॉमवैल के बारे में लिखा है—“युद्ध के अन्धकार-खतरों में, युद्धक्षेत्र की विकट परिस्थितियों में, और उस समय जबकि सब हो जाते थे, उसके भीतर आशा आग के खम्भे की तरह चमकती थी।” वैल ने एक नई सेना तैयार की—इसके सिपाहियों को ‘लौह शरीर’[2] कहते और उसे अपने खुद के अनुशासन में बँधे जोश से भर दिया। पार्लमेण्ट की के ‘प्यूरिटन्स’[3] ने चार्ल्स के ‘कैवेलियर्स’ (घुड़सवारों) का मुक़ाबला । अन्त में क्रॉमवैल की जीत हुई और बादशाह चार्ल्स पार्लमेण्ट का क़ैदी या।

---

[1] कार्लाइल अंग्रेज़ी भाषा का बहुत बड़ा इतिहासकार और निबन्ध-क हो गया है। अपने समय के साहित्यिक, धार्मिक और राजनीतिक विचारों पर बड़ा भारी प्रभाव था। यह स्कॉटलैण्ड का रहनेवाला था। इसका समय सन् से १८८१ ई० है। इसने ‘फ़्रेंच रिवोल्यूशन’ (फ़्रान्स की राज्य-क्रान्ति) मशहूर पुस्तक लिखी है।

[2] 'Ironsides

[3] इंग्लैण्ड के ईसाई-संघ का एक सुधारक फ़िरक़ा।

पार्लमेण्ट के बहुत-से सदस्य अब भी बादशाह से समझौता करना
थे, लेकिन क्रॉमवैल की नई सेना इस बात को सुनना भी नहीं चाहती थी और
सेना के एक अफ़सर कर्नल प्राइड ने बेधड़क पार्लमेण्ट भवन में घुसकर ऐसे
को निकाल बाहर किया। इस घटना को 'प्राइड्स पर्ज' यानी प्राइड की
कहा जाता है। यह उपाय बड़ा सख्त था और वह पार्लमेण्ट का गौरव बढ़ाने
नहीं था। अगर पार्लमेण्ट ने बादशाह की निरंकुशता का विरोध किया तो
खुद उसीकी सेना ऐसी शक्ति बन गई, जो उसके क़ानूनों की कुछ परवाह
करती थी। क्रान्तियों का यही ढंग हुआ करता है।

कॉमन्स सभा के बचे हुए सदस्यों ने—जिन्हें 'रम्प'[1] पार्लमेण्ट' का नाम
गया था—लॉर्ड सभा के विरोध करने पर भी चार्ल्स पर मुक़दमा चलाने का
कर लिया और उसे "ज़ालिम, देश-द्रोही, हत्यारा और देश का शत्रु" घोषित
मौत की सज़ा दे दी। १६४७ ई० में इस आदमी का, जो उनका बादशाह
था और शासन करने के अपने दैवी अधिकार की बात करता था, लन्दन के
हॉल' में सिर उड़ा दिया गया।

बादशाह भी साधारण मनुष्यों की तरह ही मरते हैं। इतिहास
है कि वास्तव में इनमें से बहुतों की मौत हत्या से ही हुई है। निरंकुशता और
शाहत गुप्त-हत्या और हत्या को जन्म देते हैं और इंग्लैण्ड के बादशाहों ने
काफ़ी गुप्त-हत्याएँ करवाई थीं। लेकिन एक चुनी हुई सभा का अपने
अदालत बना लेने की गुस्ताखी करना, बादशाह पर मुक़दमा चलाना,
की सज़ा देना और फिर उसका सिर उड़वा देना, एक बिलकुल नई और
डालनेवाली बात थी। यह एक निराली बात है कि अंग्रेज़ों ने, जो हमेशा
वादी और जल्द परिवर्तन के विरोधी रहे हैं, इस तरह से यह मिसाल
दी कि एक ज़ालिम और देशद्रोही राजा के साथ कैसा बर्ताव किया जाना
लेकिन यह काम सारी अंग्रेज़ जाति का नहीं समझना चाहिए, जितना कि
के अनुयायी 'लौह-शरीरों' का।

इस घटना से यूरोप के बादशाहों, सीज़रों, राजाओं और राजाओं के
सइयों के दिल दहल गये। अगर आम लोग इतने गुस्ताख हो जायँ और
की मिसाल पर चलने लगें तो उनका क्या हाल होगा! अगर बस चलता तो
से कितने ही इंग्लैण्ड पर हमला करके उसे कुचल डालते, लेकिन इंग्लैण्ड की
उन दिनों किसी निकम्मे बादशाह के हाथों में न थी। पहली बार इंग्लैण्ड एक
राज्य बना था और उसकी रक्षा करने के लिए क्रॉमवैल और उसकी सेना
थी। क्रॉमवैल क़रीब-क़रीब तानाशाह (डिक्टेटर) था। वह 'लॉर्ड प्रोटे

---

[1] बची-खुची।

रक्षक सरदार कहलाता था। उसके कड़े और कुशल शासन में इंग्लैण्ड का
बढ़ने लगा और उसके जहाज़ी बेड़ों ने हॉलैण्ड, फ़्रान्स और स्पेन के बेड़ों को मार
गया। पहली ही बार इंग्लैण्ड यूरोप की प्रधान समुद्री-शक्ति बन गया।

लेकिन इंग्लैण्ड का यह गणराज्य ज़्यादा दिन नहीं टिका। चार्ल्स प्रथम की
के बाद ग्यारह वर्ष भी न बीतने पाये कि १६५८ ई० में क्रॉमवैल की मृत्यु
ई और दो वर्ष बाद गणराज्य का भी अन्त हो गया। चार्ल्स प्रथम का पुत्र,
ने भागकर विदेशों में शरण ली थी, इंग्लैण्ड लौट आया। उसका स्वागत किया
और चार्ल्स द्वितीय के नाम से उसे गद्दी पर बिठाया गया। यह दूसरा चार्ल्स
कमीना और बदनाम व्यक्ति था और बादशाहत को वह सिर्फ़ मौज उड़ाने
साधन समझता था। लेकिन वह चतुर इतना था कि पार्लमेण्ट का ज़्यादा विरोध
करता था। सच तो यह है कि उसे फ़्रान्स के बादशाह से चोरी-छिपे धन
ता था। क्रॉमवैल के समय में इंग्लैण्ड ने यूरोप में जो पद हासिल किया था,
जाता रहा। यहाँतक कि हॉलैण्ड का जहाज़ी-बेड़ा टेम्स नदी में घुँसकर अंग्रेज़ी
ड़ों को आग लगा गया।

चार्ल्स द्वितीय के बाद उसका भाई जेम्स द्वितीय गद्दी पर बैठा और उसने
ल ही पार्लमेण्ट से झगड़ा ठान लिया। जेम्स दीनदार कैथलिक था और पोप
प्रभुता को इंग्लैण्ड में फिर से क़ायम करना चाहता था। लेकिन मज़हब के बारे
अंग्रेज़ लोगों के विचार चाहे जैसे रहे हों—और ये विचार काफ़ी धुंधले भी थे,
न ज़्यादातर लोग पोप और पोपलीला से बिलकुल चिढ़े हुए थे। इस व्यापक
ना के खिलाफ़ जेम्स कुछ भी न कर सका। उलटे पार्लमेण्ट की नाराज़गी
लेने पर उसे जान बचाने के लिए फ़्रान्स भाग जाना पड़ा।

एक बार फिर पार्लमेण्ट ने बादशाह पर विजय पाई, लेकिन इस बार बिल-
शान्ति के साथ और बिना गृह्-युद्ध के। देश बिना बादशाह का हो गया था।
अब इंग्लैण्ड दुबारा गणराज्य होनेवाला नहीं था। कहा जाता है कि अंग्रेज़
ऊपर एक सरदार चाहता है। इससे भी ज़्यादा वह शाही शान-शौक़त और
भड़क से प्रेम करता है। इसलिए पार्लमेण्ट को एक नये बादशाह की तलाश
और वह उसे उस ऑरेंज राजवंश में मिल गया, जिसने, सौ वर्ष पहले, स्पेन के
ख़िलाफ़ नीदरलैण्ड की महान् लड़ाई का नेतृत्व करने के लिए 'विलियम दि साइ-
ट' दिया था। इस वक़्त ऑरेंज का शाहज़ादा एक दूसरा विलियम था, जिसने
इंग्लैण्ड के राजवंश की मेरी से विवाह किया था। बस, विलियम और मेरी १६८८
ई० में इंग्लैण्ड के जुड़वाँ नरेश बना दिये गए। अब पार्लमेण्ट सर्वोपरि थी और पार्ल-
ट में भेजे हुए प्रतिनिधियों के ज़रिये जनता के हाथ में अधिकार देनेवाली इंग्लैण्ड
की राज्यक्रान्ति पूरी हो चुकी थी। उस दिन से आजतक किसी भी ब्रिटिश बादशाह

या बेगम की यह हिम्मत नहीं हुई है कि पार्लमेण्ट की सत्ता को चुनौती दे। सीधे तौर पर विरोध करने या चुनौती देने के अलावा भी साजिशें करने और डालने के सैकड़ों तरीक़े हो सकते हैं, और कई अंग्रेज़ बादशाहों ने इन उपायों सहारा लिया है।

पार्लमेण्ट सर्वोपरि बन चुकी थी। लेकिन यह पार्लमेण्ट थी क्या? यह न करना कि वह इंग्लैण्ड की जनता की प्रतिनिधि थी। वह तो उसके एक छोटे हिस्से की प्रतिनिधि थी। जैसा कि उसके नाम से ज़ाहिर होता है, लॉर्ड सभा लॉर्डों या बड़े-बड़े ज़मींदारों और पादरियों की प्रतिनिधि थी। कॉमन्स सभा ऐसे धनवान लोगों की सभा थी जो कि या तो ज़मीन-ज़ायदादों के मालिक थे या बड़े व्यापारी। वोट देने का अधिकार बहुत कम लोगों को था। आज से सौ वर्ष तक इंग्लैण्ड में कितने ही 'जेबी निर्वाचन क्षेत्र' थे, यानी ऐसे निर्वाचन-क्षेत्र वास्तव में कुछ लोगों की जेबों में ही रहते थे। सारे निर्वाचन-क्षेत्र में सदस्य चुननेवाले सिर्फ़ एक या दो ही वोटर होते थे! कहा जाता है कि १७९३ ई० कॉमन्स सभा के ३०६ मेम्बरों का चुनाव सिर्फ़ १६० व्यक्तियों ने किया ओल्डसारम नामक एक छोटे-से गाँव से दो सदस्य पार्लमेण्ट में भेजे जाते थे। तुमको पता लगेगा कि ज़्यादातर जनता को वोट देने का अधिकार न था और मेण्ट में उनका कोई प्रतिनिधि नहीं था। कॉमन्स सभा लोक-सभा होने का कोई नहीं कर सकती थी। वह उन नये मध्यम वर्गों की भी प्रतिनिधि नहीं थी, जो में पैदा हो रहे थे। वह तो सिर्फ़ ज़मींदार वर्ग और कुछ धनी व्यापारियों की निधि थी। पार्लमेण्ट की सीटें बाक़ायदा बेची और ख़रीदी जाती थीं और खोरी का बाज़ार ख़ूब गर्म था। ये सब बातें सौ वर्ष पहले, यानी ठेठ १८३२ तक होती थीं, जबकि बहुत आन्दोलन के बाद एक शासन-सुधार क़ानून पास और कुछ ज़्यादा लोगों को वोट देने का अधिकार मिला।

हम देखते हैं कि बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय का मतलब था भर धनवानों की विजय। असल में इंग्लैण्ड पर शासन करनेवाले यही भर ज़मींदार थे, जिनमें इक्के-दुक्के व्यापारी भी शामिल थे। बाक़ी के तमाम का, जिनसे कि लगभग सारा राष्ट्र बना हुआ था, इसमें कोई भी हाथ नहीं

इसी तरह तुम्हें याद होगा कि स्पेन से बड़ी लड़ाई के बाद हॉलैण्ड का गणराज्य बना, वह भी धनवानों का ही गणराज्य था।

विलियम और मेरी के बाद मेरी की बहिन इंग्लैण्ड की महारानी हुई। १७१४ ई० में जब इसकी मृत्यु हुई तो यह दिक़्क़त फिर हुई कि आगे कौन बादशाह बनाया जाय। आखिरकार पार्लमेण्ट को बादशाह चुनने के लिए जर्मनी जाना पड़ा। उन्होंने एक जर्मन को चुना, जो उस वक़्त हैनोवर का शासक था, और उसे

थम बना दिया। शायद पार्लमेण्ट ने उसे इसलिए चुना कि वह भोंदू भी चतुर न था, और एक बेवक़ूफ़ बादशाह रखने में कम ख़तरा एक ऐसे चतुर बादशाह के, जो पार्लमेण्ट के कामों में टाँग अड़ावे। अंग्रेज़ी तक न बोल सकता था; इंग्लैण्ड का बादशाह अंग्रेज़ी भाषा था। उसका पुत्र भी, जो जॉर्ज द्वितीय हुआ, वह भी अंग्रेज़ी नहीं । इस तरह इंग्लैण्ड में 'हैनोवर का राजघराना' या हैनोवर राजवंश , जो आजतक वहाँ राज कर रहा है।[1] इसे राज करना नहीं कहा जा योंकि राज और शासन तो पार्लमेण्ट करती है।

हवीं और सत्रहवीं सदियों में आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच बहुत हुए। आयर्लैण्ड को जीतने की कोशिशें और बग़ावतें और हत्याएँ, और जेम्स प्रथम के शासन-काल में बराबर होती रहीं। आयर्लैण्ड के अल्स्टर में जेम्स ने बहुत-सी ज़मीन-जायदाद ज़ब्त कर ली और स्कॉट- टेस्टेण्टों को लाकर उस क्षेत्र में बसा दिया। तब से ये प्रोटेस्टेण्ट उपनिवेशी हे हैं और आयर्लैण्ड के दो टुकड़े हो गये हैं; आयरवासी और स्कॉटलैण्ड सी या रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट। दोनों के बीच में बड़ी कट्टर है और इंग्लैण्ड ने तो इस फूट से फ़ायदा उठाया ही है। राज करनेवाले ही फूट डालकर शासन करने की नीति में विश्वास रखते हैं। आजकल के सामने सबसे बड़ी समस्या अल्स्टर की है।

के गृह-युद्ध के ज़माने में आयर्लैण्ड में अंग्रेज़ों की बहुत हत्याएँ हुईं। बेरहमी के साथ इसका बदला आयरवासियों की हत्याएँ करके निकाला। आयरवासी आज तक बड़ी दुश्मनी के साथ याद करते हैं। इसके बाद हुईं, समझौते हुए, सन्धियाँ हुईं, और अंग्रेज़ों ने इन्हें तोड़ भी डाला। तड़प का यह इतिहास बड़ा लम्बा और दुखभरा है।

जानकर तुम्हें शायद दिलचस्पी होगी कि 'गुलिवर्स ट्रैवल्स'[2] का लेखक स्विफ़्ट इसी ज़माने में, यानी १६६७ से १७४५ ई० में, हुआ था। इस पुस्तक का बाल-साहित्य में बड़ा ऊँचा स्थान है, लेकिन वास्तव में वह

---

[1] न् १९३९-४५ के दूसरे महायुद्ध में हैनोवर राजवंश का नाम बदलकर राजवंश रख दिया गया।

[2] 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' में डॉक्टर गुलिवर की यात्राओं का बड़ा दिलचस्प बयान बार वह एक-एक इंच के मनुष्यों के देश में जा पहुँचा और दूसरी बार लम्बे मनुष्यों के देश में।

उस ज़माने के इंग्लैण्ड पर एक तीखा व्यंग है। 'रॉबिन्सन क्रूसो'[1]
.डेनियल डेफ़ो भी स्विफ़्ट का समकालीन था।

: ८८ :

बाबर

३ सितम्बर,

अब ज़रा भारत की तरफ़ लौट चलें। हमने यूरोप को काफ़ी है और कई पत्रों में, उथल-पुथल, लड़ाई-झगड़ों और युद्धों की गहराई की और सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में वहाँ क्या हो रहा था, यह कोशिश की है। मैं नहीं जानता कि यूरोप के इस ज़माने के बारे में विचार हुए होंगे। तुम्हारे खयाल चाहे जो कुछ हों, पर वे ज़रूर होंगे, और इसमें ताज्जुब की भी कोई बात नहीं है, क्योंकि उस समय बड़ा अजीब और झमेलों से भरा देश था। लगातार और वहशियाना मज़हबी कट्टरपन और अत्याचार, जिसकी मिसाल इतिहास में दूसरी मुश्किल है, बादशाहों की निरंकुशता और 'दैवी अधिकार', गिरा, हुआ और जनता का शर्मनाक शोषण। चीन इससे सदियों आगे बढ़ा हुआ था—वह एक सुसंस्कृत, कलाप्रिय, उदार और क़रीब-क़रीब अमन-चैन था। फूट और गिरावट होते हुए भी भारत बहुत-सी बातों में चीन का दावा कर सकता था।

लेकिन इंग्लैण्ड का भी एक दूसरा और खुशनुमा पहलू दिखाई आधुनिक विज्ञान की शुरुआत नज़र आ रही थी और जनता की आज़ादी ज़ोर पकड़कर बादशाही सिंहासनों को डाँवाडोल कर रही थी। इनके नीचे और इनकी व बहुत-सी दूसरी हलचलों की वजह थी पश्चिम पश्चिम के यूरोपीय देशों में व्यापार व उद्योगों का विकास। बड़े-बड़े रहे थे, जो दूर देशों से व्यापार करनेवाले सौदागरों से भरे थे और उद्योगों की हलचलों से गूंज रहे थे। सारे पश्चिमी यूरोप में 'शिल्प-संघ' कारों और कारीगरों के संघ बन रहे थे। ये ही व्यापारी और 'बुर्जुआ' यानी नया मध्यमवर्ग कहलाये। यह वर्ग बढ़ा तो सही, लेकिन में बहुत-सी राजनीतिक, समाजी और मज़हबी रुकावटें आईं।

---

[1] 'रॉबिन्सन क्रूसो' अंग्रेज़ी की एक बड़ी मशहूर और है। इसमें एक मल्लाह की कहानी है, जिसने लगभग बीस वर्ष अकेले पर बिताये थे और अपने लिए सब तरह की सहूलियतें इकट्ठा कर

व्यवस्था में सामन्तशाही के निशान अब भी बाक़ी थे। यह प्रथा बीते हुए थी। वह इस ज़माने से मेल नहीं खाती थी और व्यापार और उद्योग में भी डालती थी। सामन्त-सरदार तरह-तरह के टोल और टैक्स वसूल जिनसे व्यापारी वर्ग को झुँझलाहट पैदा होती थी। इसलिए मध्यमवर्ग ती-वर्ग से सत्ता छीनने की कोशिश शुरू की। बादशाह भी इन सामन्ती रदारों से नाराज़ था, क्योंकि ये लोग उसके अधिकारों में भी दख़ल देना थे। इसलिए इन सामन्ती-सरदारों के ख़िलाफ़ बादशाह और मध्यमवर्ग कर एक हो गये और इन्होंने उनके असली दबदबे को मिटा दिया। नतीजा कि बादशाह और भी ज़्यादा शक्तिशाली और निरंकुश हो गया।

सी तरह यह भी महसूस किया गया कि उन दिनों पश्चिमी यूरोप का संगठन और चालू मज़हबी विचार व व्यापार करने के ढंग भी व्यापार ोग की तरक़्क़ी में रुकावट डाल रहे थे। ख़ुद मज़हब भी बहुत-सी बातों शाही से जुड़ा हुआ था, और जैसाकि मैं तुमको बतला चुका हूँ, ईसाई- बड़ा सामन्ती ज़मींदार था। पिछले बहुत वर्षों से कितने ही व्यक्ति और ोमन ईसाई-संघ की आलोचना करने और उसकी सत्ता को चुनौती देने दा होते रहे थे। लेकिन वे कुछ ज़्यादा परिवर्तन न ला सके। मगर अब ता हुआ मध्यमवर्ग परिवर्तन चाहता था, इसलिए सुधार का आन्दोलन लवंत बन गया।

सब परिवर्तन, और इनके अलावा कितने ही दूसरे परिवर्तन, जिनपर हम साथ विचार कर चुके हैं, उस क्रान्ति के अलग-अलग पहलू और रुख़ थे, ध्यमवर्ग को सामने ला दिया। पश्चिमी यूरोप के सब देशों में क़रीब- ऐसी प्रक्रिया हुई होगी, लेकिन अलग-अलग देशों में वह अलग-अलग समय स समय और इसके बहुत दिन बाद तक भी, उद्योगों के लिहाज़ से पूर्वी प पिछड़ा हुआ था। इसलिए वहाँ कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

न और भारत में भी शिल्प-संघ थे और शिल्पकारों और कारीगरों बड़ी भारी संख्या थी। उद्योग-धन्धे यूरोप के मुक़ाबले में ही और बहुत- भी ज़्यादा आगे बढ़े हुए थे। लेकिन अभी यहाँ विज्ञान का उतना विकास जितना यूरोप में था और न यहाँ की जनता में आज़ादी की यूरोप-जैसी थी। दोनों देशों में मज़हबी आज़ादी और नगरों, गाँवों और संघों में मुक़ामी की पुरानी परम्पराएँ चली आ रही थीं। बादशाह की शक्ति और निरं- लोगों को ज़रा भी परवाह न थी जबतक कि उनके मुक़ामी मामलों में दिया जाता हो। दोनों देशों ने एक समाजी संगठन बना लिया था, जो बहुत टिका हुआ था और जो यूरोप के ऐसे किसी भी संगठन से ज़्यादा टिकाऊ

था। शायद इस संगठन के टिकाऊपन और मज़बूती ने ही विकास को रोक था। हमने देखा है कि भारत में फूट और गिरावट का नतीजा अन्त में कि उत्तरी भाग पर मुग़ल बाबर ने क़ब्ज़ा कर लिया। मालूम होता है कि आज़ादी के प्राचीन आर्य-विचारों को बिलकुल भूल गये थे और उनमें की और किसी भी शासक की अधीनता क़बूल करने की आदत हो गई थी। तक कि देश में एक नई चेतना लेकर आनेवाले मुसलमान भी औरों की ही पतित और खुशामदी हो गये।

इस तरह ताज़गी और क्रियाशक्ति के उन गुणों से भरा हुआ यूरोप, पूर्वी दुनिया की पुरानी सभ्यताओं में कमी दिखाई देती थी, धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा था। उसके निवासी संसार के कोने-कोने में फैल रहे थे। और धन के लालच ने उसके जहाज़ियों को अमेरिका और एशिया की ओर लिया था। दक्षिण-पूर्वी एशिया में पुर्तगालियों ने मलक्का के अरब साम्रा अन्त कर दिया था। उन्होंने भारत के किनारे-किनारे और पूर्वी समुद्रों में अपनी चौकियाँ बना ली थीं। लेकिन जल्द ही मसाला-व्यापार पर उनके हॉलैण्ड, और इंग्लैण्ड इन दो नई शक्तियों ने चुनौती देना शुरू कर दि गाली पूर्व से खदेड़ दिये गए और उनका पूर्वी साम्राज्य और व्यापार नष्ट हो कुछ हद तक हॉलैण्ड ने पुर्तगाल की जगह ले ली और बहुत-से टापुओं पर लिया। १६०० ई० में महारानी एलिज़ाबेथ ने लन्दन के व्यापारियों की एक 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' को भारत में तिजारत करने का फ़रमान दिया और बाद 'डच ईस्ट इण्डियन कम्पनी' बनी। इस तरह यूरोप का एशिया को ज़माना शुरू होता है। बहुत दिनों तक तो यह मलाया और पूर्वी टापुओं तक रहा। मिङ् राजाओं और सत्रहवीं सदी के बीच में आनेवाले मंचुओं के राज यूरोप के लिए बहुत बलवान था। जापान तो इतना आगे बढ़ गया कि उसने ई० में सब विदेशियों को बाहर निकाल दिया और अपने देश को बाहर लिए बिलकुल बन्द कर दिया। और भारत में क्या हुआ? भारत की हमें बहुत पीछे छोड़ आये हैं, इसलिए अब इस कमी को पूरा करना चाहिए कि हम देखेंगे, नये मुग़ल राजवंश के अधीन भारत एक शक्तिशाली बन गया था, और यूरोप के हमले का ज़रा भी खतरा या मौक़ा न था। समुद्रों पर यूरोप का क़ब्ज़ा पहले ही हो चुका था।

इसलिए अब हम भारत की तरफ़ वापस आते हैं। यूरोप, चीन और मलेशिया में हम सत्रहवीं सदी के अन्त तक आ पहुँचे हैं, और अब

---

[1] कोउ नृप होउ हमहि का हानी
चेरि छाड़ि अब होब कि रानी—तुलसीदास

रहे हैं। लेकिन भारत में अभी तक हम सोलहवीं सदी के शुरू में ही हैं, बर यहाँ आया था।

५२६ ई० में दिल्ली के बोदे और टुच्चे अफ़ग़ान सुलतान पर बाबर की भारत में एक नया ऐतिहासिक ज़माना और नया साम्राज्य—मुग़ल शुरू होता है। बीच में थोड़े समय को छोड़कर यह १५२६ से १७०७ ई० १८१ वर्ष तक, रहा। ये वर्ष उसकी शक्ति और शान के थे, जबकि महान् मुग़ल की कीर्त्ति सारे एशिया और यूरोप में फैल गई थी। इस के छः बड़े शासक हुए, जिनके बाद यह साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया और खों, वग़ैरा ने उसमें से रियासतें बाँट लीं। इनके बाद अंग्रेज़ आये, केन्द्रीय सत्ता की टूट-फूट और देश में फैली हुई गड़बड़ से फ़ायदा उठाकर अपनी हुकूमत जमा ली।

बाबर के बारे में पहले ही कुछ कह चुका हूँ। चंगेज़ख़ाँ और तैमूर के ने की वजह से इसमें कुछ-कुछ उनका बड़प्पन और सैनिक योग्यता चंगेज़ के ज़माने से अबतक मंगोल बहुत सभ्य हो गये थे और बाबर स्कृत और खुशदिल व्यक्ति उस ज़माने में मिलना मुश्किल था। उसमें ती बिलकुल न थी, न मज़हबी कट्टरपन था, और न उसने अपने पुरखों विनाश ही किया। वह कला और साहित्य का पुजारी था और खुद भी कवि था। वह फूलों और बाग़ों से प्यार करता था और भारत की गर्मी अपने देश मध्य एशिया की याद आ जाती थी। अपने संस्मरणों में है—"फ़रग़ाना में वनफ़शा के फूल बड़े प्यारे होते हैं; वहाँ तो गुलेलाला के ढेर हैं।"

पिता की मृत्यु पर जब बाबर समरक़न्द का शासक हुआ तब वह वर्ष का बच्चा था। यह काम आसान न था। उसके चारों तरफ़ दुश्मन जिस उम्र में छोटे लड़के और लड़कियाँ स्कूल जाते हैं, उस उम्र में उसे कर लड़ाई के मैदान में जाना पड़ा। उसकी राजगद्दी छिन गई, लेकिन से उसे जीत लिया और अपनी तूफ़ानी ज़िन्दगी में उसे बहुत खतरों का ना पड़ा। इसपर भी वह साहित्य, कविता और कला का अभ्यासी त्वाकांक्षा उसे आगे हाँकती रही। काबुल को जीतकर वह सिन्ध नदी भारत में आया। उसके साथ फ़ौज तो थोड़ी-सी थी, लेकिन उसके पास पें, जो उन दिनों यूरोप और पश्चिमी एशिया में काम में लाई जा रही ानों की जो बड़ी भारी फ़ौज उससे लड़ने आई वह इस छोटी-सी लेकिन सिखाई हुई फ़ौज और उसकी तोपों के आगे तहस-नहस हो गई और बर के हाथ लगी। लेकिन उसकी मुसीबतों का अन्त नहीं हुआ और कितनी

ही बार उसके भाग्य का पलड़ा डाँवाडोल हो गया था। एक बार जब ख़तरे में था तो उसके सेनापतियों ने उसे उत्तर की ओर वापस भाग चलने दी। लेकिन वह बड़ा जीवटवाला था और उसने कहा कि पीछे हटने से तो का सामना करना अच्छा समझता है। शराब का प्याला उसे बहुत प्या लेकिन अपनी ज़िन्दगी में इस संकट के समय उसने शराब छोड़ देने का किया और अपने सब प्याले तोड़ डाले। संयोग से वह जीत गया और उसने छोड़ने की अपनी क़सम को अन्त तक निभाया।

बाबर को भारत में आये चार वर्ष भी न बीते थे कि उसकी मृत्यु लेकिन ये चार वर्ष लड़ाई-झगड़ों में ही बीते और उसे ज़रा भी आराम न वह भारत के लिए एक अजनबी ही रहा और यहाँ के बारे में कुछ न जा आगरे में उसने एक शानदार राजधानी की नींव डाली और क़ुस्तुन्तुनिया मशहूर इमारत बनानेवाले को बुलाया। यह वह समय था जब शानदार क़ुस्तुन्तुनिया में इमारतें बनवा रहा था। सीनन एक मशहूर उस्मानी था। उसने अपने प्रिय शिष्य यूसुफ़ को भारत भेजा।

बाबर ने अपनी ज़िन्दगी की यादें लिखी हैं और इस मज़ेदार पु इस व्यक्ति की गहरी झलकियाँ मिलती हैं। उसने भारत का और उसके फूलों, पेड़ों, फलों का वर्णन किया है, यहाँतक कि मेढ़कों को भी नहीं छो वह अपने वतन के ख़रबूज़ों, अंगूरों और फूलों के लिए तरसता है। भार के बारे में हद दर्जे की निराशा ज़ाहिर करता है। उसके कहने के मुताबिक़ पक्ष में एक भी अच्छी बात नहीं है। शायद चार वर्षों तक लड़ाइयों में की वजह से वह भारतवासियों को पहचान न सका और सुसंस्कृत वर्गों के नये विजेता से दूर-दूर भी रहे। शायद एक नया आनेवाला दूसरे देश के के जीवन, और उनकी सभ्यता में आसानी से घुलमिल नहीं सकता। कुछ उसे न तो अफ़ग़ानों में—जो कुछ दिनों से भारत में राज कर रहे थे ज़्यादातर भारतवासियों में ही कोई तारीफ़ की चीज़ नज़र आई। वह हर अच्छी तरह ग़ौर करनेवाला था और एक विदेशी की तरफ़दारी का ख हुए भी उसके बयानों से मालूम होता है कि उत्तर भारत की हालत बहुत ख़राब थी। वह दक्षिण भारत की तरफ़ बिलकुल नहीं गया।

बाबर ने लिखा है—"हिन्दुस्तान का साम्राज्य बड़ा लम्बा-चौड़ा, हुआ और मालदार है। उसकी पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की भी सीमाओं है। उसके उत्तर में काबुल, ग़ज़नी और कन्धार हैं। सारे हिन्दुस्तान की दिल्ली है।" यह बात ध्यान में रखने लायक़ है कि बाबर सारे भारत को

था, हालाँकि जब वह यहाँ आया था तब देश कई रियासतों में बँटा हुआ रत की एकता की यह भावना इतिहास में शुरू से चली आ रही है।

रत का विवरण देते हुए बाबर लिखता है :

“यह एक निराला और नफ़ीस मुल्क है। हमारे मुल्कों के मुक़ा- में यह एक अलग ही दुनिया है। इसके पहाड़ और नदियाँ, इसके और मैदान, इसके जानवर और पौधे, इसके निवासी और की भाषा, इसकी हवाएँ और बरसातें, सब अलग ही तरह के ...सिंध को पार करते ही जो जमीन, पेड़, पत्थर, घुमक्कड़ ले, और लोगों के ढंग और रस्म-रिवाज, दिखलाई पड़ते हैं, वे ठेठ दुस्तान के ही हैं। यहाँतक कि यहाँ के साँप भी दूसरी तरहाँके हैं।... दुस्तान के मेंढक ग़ौर करने लायक़ हैं। हालाँकि ये उसी क़िस्म के जिस क़िस्म के हमारे यहाँ होते हैं, लेकिन ये पानी की सतह पर सात गज तक दौड़ सकते हैं।”

के बाद वह भारत के जानवरों, फूलों, पेड़ों और फलों की एक सूची और फिर यहाँ के रहनेवालों का ज़िक्र करता है :

“मुल्क़ हिन्दुस्तान में आनन्द के कोई ऐसे साधन नहीं हैं, जिनके इसकी तारीफ़ की जाय। यहाँ के निवासी सुरूप नहीं हैं। उन्हें मण्डली के आनन्द का, या दिल खोलकर एक दूसरे से मिलने का, आपसी घरू बर्ताव का कुछ भी ज्ञान नहीं है। उनमें न तो प्रतिभा न दिमाग़ की सूझ-बूझ, न शिष्टाचार की नम्रता, न दया या सहानु- , न दस्तकारी के कामों की योजना बनाने और उनपर अमल करने की क्षता या यान्त्रिक आविष्कार-बुद्धि, न नक़्शे और इमारतें ने का हुनर या ज्ञान। उनके यहाँ न तो अच्छे घोड़े हैं, न अच्छा , न अंगूर और न खरबूज़े, न अच्छे फल, न बर्फ़, न ठण्डा पानी, बाज़ारों में अच्छा खाना और रोटी, न हम्माम, न मदरसे, न मोम- , न मशालें, यहाँतक कि शमादान भी नहीं हैं।”

अगर यह पूछने को तबीयत हो उठती है कि आखिर उनके यहाँ है क्या ? ता है बाबर ने ये बातें उस वक़्त लिखी होंगी जब वह शायद बिलकुल होगा। बाबर आगे कहता है—

“हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह बहुत बड़ा मुल्क़ और यहाँ सोना और चाँदी बरसते हैं।... भारत में एक यह भी है कि यहाँ हर पेशे और व्यापार के काम करनेवालों

की संख्या इतनी ज्यादा हैं कि उसका कोई अन्त ही नहीं। किसी
या धन्धे के लिए जब चाहो तब एक जमात तैयार है, जिनके
काम-धन्धा युगों से, पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा है।"

बाबर की यादियों से मैंने कुछ लम्बे बयान यहाँ नक़ल किये हैं।
से हमको किसी व्यक्ति का जितना ज्यादा अन्दाज़ा होता है, उतना
किसी बयान से नहीं।

१५३० ई० में ४९ वर्ष की उम्र में बाबर की मृत्यु हुई।
बारे में एक मशहूर क़िस्सा है। उसका पुत्र हुमायूँ बीमार पड़ा, और कहते हैं
प्रेम में बाबर खुद अपना जीवन भेंट चढ़ाने के लिए तैयार हो गया,
उसका पुत्र अच्छा हो जाय। कहते हैं कि हुमायूँ अच्छा हो गया और
कुछ ही दिन बाद बाबर की मृत्यु हो गई।

बाबर की लाश को लोग काबुल ले गये और वहाँ उसी बाग में
जो बाबर को बहुत पसन्द था। जिन फूलों के लिए वह तरसता था,
उन्हीं के पास चला गया।

: ८९ :

अकबर

४ सितम्बर,

अपनी सिपहसालारी और सैनिक योग्यता के बल पर बाबर ने
का बहुत-सा भाग जीत लिया था। उसने दिल्ली के अफ़ग़ान सुलतान को
और बाद में इतिहास के एक मशहूर वीर, चित्तौड़ के रण-बाँकुरे
की नेतागिरी में लड़नेवाले राजपूतों को हराया, जो ज्यादा मुश्किल
लेकिन इससे भी ज्यादा मुश्किल काम वह अपने पुत्र हुमायूँ के लिए
हुमायूँ बहुत सुसंस्कृत और विद्वान् था, लेकिन अपने पिता की
न था। उसके नये साम्राज्य में सब जगह गड़बड़ फैल गई और आखिर
में, बाबर की मृत्यु के दस वर्ष बाद, बिहार के शेरखाँ नामक
ने उसे हराकर भारत से बाहर निकाल दिया। इस तरह यह दूसरा
इधर-उधर छिपता हुआ और बड़ी मुसीबतें झेलता हुआ मारा-मारा
इसी भाग-दौड़ की हालत में, राजपूताना के रेगिस्तान में, नवम्बर
उसकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। रेगिस्तान में पैदा हुआ
जाकर अकबर के नाम से मशहूर हुआ।

हुमायूँ भागकर ईरान पहुँचा और वहाँ के बादशाह शाह

अकबर का साम्राज्य

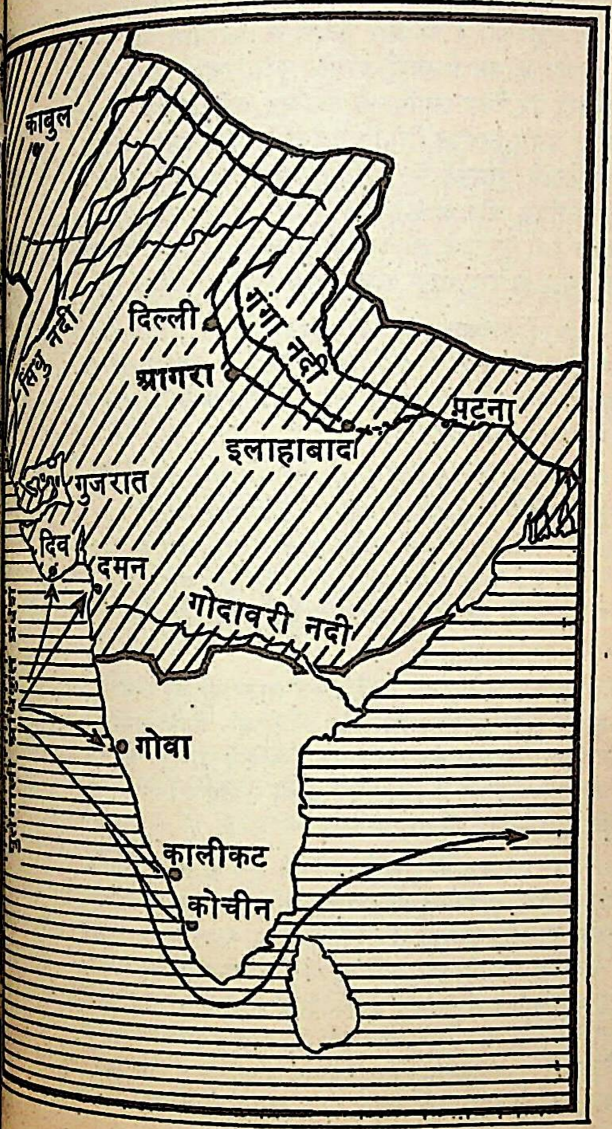
काबुल
सिंधु नदी
दिल्ली
आगरा
गंगा नदी
पटना
इलाहाबाद
गुजरात
दिव
दमन
गोदावरी नदी
गोवा
कालीकट
कोचीन

शरण दी। इस अर्से में उत्तरी भारत में शेरखाँ का दबदबा खूब फैला और शेरशाह के नाम से पाँच वर्ष तक राज किया। इस थोड़े-से समय में ही उसने दिया कि वह बहुत योग्य और कुशल व्यक्ति था। वह प्रतिभाशाली सं और उसका शासन क्रियाशील और कुशल था। अपने युद्धों के बीच काश्तकारों पर टैक्स लगाने की एक नई और अच्छी मालगुज़ारी प्रणाली करने का समय निकाल लिया। वह रूखा और कठोर व्यक्ति था, लेकिन सारे अफ़ग़ान शासकों में, और बहुत-से दूसरे शासकों में भी, वह बेहद ज्यादा क़ाबिल और अच्छा था। लेकिन जैसा कि अक्सर कुशल निरंकुश का हाल हुआ करता है, वह खुद ही अपने सारे शासन का कर्त्ता-धर्त्ता था, उसकी मृत्यु के बाद सारा ढाँचा टुकड़े-टुकड़े हो गया।

हुमायूँ ने इस गड़बड़ी से फ़ायदा उठाया और १५५६ ई० में वह लेकर ईरान से लौटा। उसकी जीत हुई और सोलह वर्ष बाद वह फिर सिंहासन पर आ बैठा। लेकिन वह ज्यादा दिन के लिए नहीं। छै महीने वह ज़ीने पर से गिरकर मर गया।

शेरशाह और हुमायूँ के मक़बरों का मुक़ाबला करने से एक दिल मालूम होती है। अफ़ग़ान शेरशाह का मक़बरा बिहार में सहसराम में है इमारत उसीकी तरह रूखी, मज़बूत और शाही बनावट की है। हुमायूँ का दिल्ली में है। एक निखारदार और सुडौल इमारत है। पत्थर की इन से, साम्राज्य के लिए सोलहवीं सदी के इन दो विरोधियों के बारे में अच्छा लगाया जा सकता है।

अकबर उस समय सिर्फ़ तेरह साल का था। अपने दादा की तरह राजगद्दी बहुत जल्दी मिल गई। बैरमखाँ, जिसे खानबाबा भी कहते हैं निगरानी और रक्षा करनेवाला था। लेकिन चार ही वर्षों में अकबर इस से और दूसरे लोगों के इशारे पर चलने से तंग आ गया। उसने शासन की अपने हाथों में ले ली।

१५५६ ई० के शुरू से १६०५ ई० के अन्त तक, यानी क़रीब प तक, अकबर ने भारत पर राज किया। वह ज़माना यूरोप में नीदरलै विद्रोह का और इंग्लैण्ड में शेक्सपियर का था। अकबर का नाम भारत के में जगमगा रहा है और कभी-कभी कुछ बातों में वह हमें अशोक की याद है। यह एक अजीब बात है कि ईसा से तीन सौ वर्ष पहले का एक बौ और ईसा के बाद सोलहवीं सदी का एक मुसलमान सम्राट्, दोनों एक ही और क़रीब-क़रीब एक ही आवाज़ में बोल रहे हैं। ताज्जुब नहीं कि यह खु की ही आवाज़ हो, जो उसके दो महान् पुत्रों के ज़रिये बोल रही हो।

हम सिर्फ़ उतना ही जानते हैं जितना उसने खुद पत्थरों पर तराशा हुआ है। लेकिन अकबर के बारे में हम बहुत-कुछ जानते हैं। उसके दरबार के दो इतिहासकारों के लम्बे विवरण मिलते हैं। और जो विदेशी उससे मिलने —खासकर जेजुइट लोग, जिन्होंने उसे ईसाई बनाने की ज़ोरदार कोशिश —उन्होंने भी लम्बे-चौड़े बयान लिखे हैं।

वह बाबर की तीसरी पीढ़ी में था। लेकिन मुग़ल लोग अभी इस देश के लिए वे विदेशी समझे जाते थे और उनका क़ब्ज़ा फ़ौजी ताक़त के बल पर था। के राज ने मुग़ल राजवंश की जड़ जमा दी और उसको यहीं की धरती का तरह भारतीय नज़रियेवाला बना दिया। इसीके राज में यूरोप में मुग़ल' का खिताब काम में लाया जाने लगा। वह बहुत निरंकुश था और में बे-लगाम सत्ता थी। मालूम होता है कि उस वक़्त भारत में राजा पर रोक-थाम लगाने की कोई हलकी-सी चर्चा तक नहीं थी। संयोग एक बुद्धिमान् स्वेच्छाचारी था और वह भारत के लोगों की भलाई जी-तोड़ कोशिश करता रहता था। एक तरह से वह भारतीय राष्ट्रीयता माना जा सकता है। ऐसे समय में, जबकि देश में राष्ट्रीयता का कुछ न था, और मज़हब लोगों को एक-दूसरे से अलग कर रहा था, अकबर बूझकर, समान भारतीय राष्ट्रीयता के आदर्श को, फूट डालनेवाले दावों के ऊपर, रख दिया। वह अपनी कोशिश में पूरी तरह तो सफल नहीं लेकिन यह अचम्भे की बात है कि वह कितना आगे बढ़ गया और उसकी को कितनी ज़्यादा सफलता मिली।

लेकिन फिर भी अकबर को जो कुछ सफलता मिली, वह अकेले उसीकी, मदद के बिना, नहीं थी। जबतक कि ठीक समय न आ गया हो और की हालतें मदद न करें तबतक कोई भी मनुष्य महान् कामों में सफल नहीं। महापुरुष खुद अपना चौगिर्द तैयार करके ज़माने को जल्दी बदल सकता महापुरुष खुद भी तो ज़माने का और ज़माने के चौगिर्द का ही फल है। इसी तरह अकबर भी भारत के उस ज़माने का फल था।

पिछले एक पत्र में मैंने तुमको बतलाया था कि जिन दो संस्कृतियों और का इस देश में साथ आ पड़ा था, उन दोनों के समन्वय के लिए भारत में ताक़तें काम कर रही थीं। मैंने तुमको भवन-निर्माण की नई शैली भाषाओं, खासकर उर्दू या हिन्दुस्तानी, के विकास के बारे में लिखा मैं तुमको रामानन्द, कबीर और गुरु नानक जैसे सुधारक और धर्म-गुरुओं में भी लिख चुका हूं, जिन्होंने इस्लाम और हिन्दू-धर्म के एक-से पहलुओं देकर और उनके बहुत-से रीति-रस्म और आडम्बरों की निन्दा करके

दोनों को एक-दूसरे के नज़दीक लाने की कोशिश की थी। उस समय की यह भावना चारों ओर फैली हुई थी। और अकबर के ऐसे दिमाग ने, जो को बारीकी से महसूस करता था और ग्रहण करता था, जब इस भावना को किया तो उसमें बहुत बड़ा जवाबी असर हुआ होगा। वास्तव में वह इस भा सबसे बड़ा व्याख्या करनेवाला बन गया।

एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से भी वह इसी नतीजे पर पहुंचा उसका बल और राष्ट्र का बल इसी समन्वय से बढ़ सकते हैं। वह एक बहुत लड़ाका और कुशल सेनानायक भी था। अशोक की तरह वह लड़ाइयों से न करता था। लेकिन तलवार की विजय से वह स्नेह की विजय को ज़्यादा समझता था और यह भी जानता था कि ऐसी विजय ज़्यादा टिकाऊ हो इसलिए वह पक्के इरादे के साथ हिन्दू सरदारों और हिन्दू जनता का स्नेह करने में जुट गया। उसने ग़ैर-मुस्लिमों से वसूल किया जानेवाला ज हिन्दू तीर्थ-यात्रियों पर लगाया जानेवाला टैक्स बन्द कर दिया। अपना विवाह एक ऊंचे राजपूत घराने की लड़की से किया। बाद में उसने पुत्र का विवाह भी एक राजपूत लड़की से किया। और उसने ऐसी मि शादियों को बढ़ावा दिया। उसने अपने साम्राज्य के ऊँचे-से-ऊँचे ओहदों पर सरदारों को मुक़र्रर किया। उसके सबसे बहादुर सिपहसालारों और वज़ीरों और सूबेदारों में कितने ही हिन्दू थे। राजा मानसिंह को तो दिनों के लिए काबुल का सूबेदार बनाकर भेजा था। देखा जाय तो रा और अपनी हिन्दू-प्रजा को मनाने के लिए कभी-कभी तो वह इतना आगे था कि मुसलमान-प्रजा के साथ अक्सर अन्याय हो जाता था। बहर हिन्दुओं की सद्भावना हासिल करने में सफल हुआ और उसकी नौक और उसे सम्मान देने के लिए चारों ओर से लगभग सभी राजपूत इक लगे, सिवाय मेवाड़ के राणा प्रताप के, जिसने कभी सिर नहीं झुकाया। प्रताप ने अकबर को नाम के लिए भी अपना सम्राट् मानने से इन्कार क लड़ाई के मैदान में हार जाने पर भी उसने अकबर का ताबेदार बनक मज़े का विलासी जीवन बिताने की बनिस्बत जंगल में छिपते फिर पसन्द किया। ज़िन्दगी भर यह अभिमानी राजपूत दिल्ली के महान् लड़ता रहा, और इसने उसके सामने सिर झुकाना मंजूर नहीं किया। के आखिरी दिनों में उसे कुछ सफलता भी मिली। इस रण-बांकुरे रा यादगार राजपूताना की एक बेशक़ीमती थाती है, और इसके नाम के सा ही गाथाएँ जुड़ गई हैं।

इस तरह अकबर ने राजपूतों को अपनी तरफ़ कर लिया और वह

ारा बन गया। वह पारसियों और उसके दरबार में आनेवाले जेज़ुइट ों तक से अच्छा बर्ताव करता था। लेकिन उसकी इस उदारता और ी शरीयत के ख़िलाफ़ कुछ कार्रवाइयों से मुसलमान अमीर-सरदार उससे हो गये और उसके ख़िलाफ़ कई विद्रोह भी हुए।

मैंने अकबर की तुलना अशोक से की है। लेकिन इस तुलना से तुम कहीं े में न पड़ जाना। बहुत-सी बातों में वह अशोक से बिलकुल अलग तरह का ह बड़ी ऊँची उमंगोंवाला था, और अपने जीवन के अन्त समय तक वह अपना ज्य बढ़ाने की धुन में चढ़ाइयाँ करता रहा। जेज़ुइट लोगों ने लिखा है—

“वह चौकस और पारखी दिमाग़वाला था; वह समझ-बूझ का पक्का, मामलों रदर्शी और इन सबके अलावा दयालु, मिलनसार और उदार था। इन गुणों थ उसमें बड़े-बड़े जोखिम के कामों को उठाने और पूरा करने की हिम्मत ी... । वह बहुत-सी बातों में दिलचस्पी रखता था, और उनके बारे में ने का इच्छुक रहता था; उसे न सिर्फ़ सैनिक और राजनीतिक बातों का ही बहुत-से कला-कौशल का भी गहरा ज्ञान था... । जो लोग उसकी पर हमला करते थे उनपर भी इस राजा की रहमदिली और नम्रता की ो पड़ती रहती थी। उसे ग़ुस्सा बहुत ही कम आता था। अगर कभी आता ो उसका आवेश भयंकर हो जाता था; लेकिन उसका यह ग़ुस्सा ज़्यादा देर ता न था।”

याद रहे कि यह बयान किसी चापलूस मुसाहिब का नहीं है, लेकिन दूसरे के रहनेवाले अजनबी का है, जिसे अकबर को ग़ौर से देखने के काफ़ी मौक़े ले थे।

शरीर में अकबर असाधारण बलवान और चुस्त था, और वह जंगली ूंख़ार जानवरों के शिकार से ज़्यादा और किसी चीज़ से प्रेम नहीं करता । एक सिपाही की हैसियत से तो वह इतना बहादुर था कि उसे अपनी जान तक बिलकुल परवाह न थी। उसकी अद्भुत शक्ति का अन्दाज़ा आगरे से अहमदाबाद उस मशहूर कूच से लगाया जा सकता है, जो उसने नौ दिन में पूरी की थी। ात में विद्रोह हो गया था और अकबर एक छोटी-सी सेना के साथ राजपूताना रेगिस्तान को लाँघकर साढ़े चार सौ मील की दूरी तय करके वहाँ जा धमका। एक असाधारण करतब था। यह बतलाने की ज़रूरत नहीं है कि उस ज़माने में तो रेलें थीं और न मोटरें।

लेकिन इन गुणों के अलावा महान् पुरुषों में कुछ और भी होता है; उनमें चुम्बक जैसा आकर्षण होता है, जो लोगों को अपनी तरफ़ खींचता है। अकबर

में यह जिस्मानी आकर्षण-शक्ति और मोहनी बहुत ज़्यादा मिक़दार में थी; लोगों के अद्भुत विवरण के मुताबिक़ उसकी बस में करनेवाली आँखें झिलमिलाती थीं जिस तरह सूर्य की रोशनी में समुद्र।" फिर इसमें ताज्जुब बात है, अगर यह व्यक्ति हमको आज भी मोहता हो और उसका शाही स्वरूप उन ढेरों लोगों से बहुत ऊँचा दिखलाई पड़ता हो, जो सिर्फ़ बादशाह

विजेता की हैसियत में अकबर ने सारे उत्तर भारत और दक्षिण को लिया था। उसने गुजरात, बंगाल, उड़ीसा, कश्मीर, और सिन्ध अपने साम्रा मिला लिये। मध्य भारत और दक्षिण भारत में भी उसकी जीत हुई और खिराज वसूल किया। लेकिन मध्य-प्रान्त की रानी दुर्गावती को हराना उस को नहीं बढ़ाता। दुर्गावती एक बहादुर और अच्छी शासक थी और उसने को कुछ नुक़सान नहीं पहुँचाया था। लेकिन ऊँचा चढ़ने की हविस और की लालसा इन छोटी-मोटी अड़चनों की बिलकुल परवाह नहीं करतीं। भी उसकी सेनाएँ अहमदनगर में राजा की जगह शासन करनेवाली चाँदबीबी से लड़ीं। इस महिला में बहादुरी और काबलियत थी और उसने में जो लोहा लिया उसका असर मुग़ल फ़ौज पर इतना पड़ा कि उन्होंने माफ़िक़ शर्तों पर सुलह मंज़ूर कर ली। बदक़िस्मती से कुछ दिन बाद कुछ नाराज़ सिपाहियों ने उसे मार डाला।

अकबर की फ़ौजों ने चित्तौड़ पर भी घेरा डाला। यह राणा प्रताप की बात है; जयमल ने बड़ी वीरता से चित्तौड़ की रक्षा की। उसके मारे भयंकर 'जौहर' व्रत फिर हुआ और चित्तौड़ जीत लिया गया।

अकबर ने अपने चारों तरफ़ बहुत-से क़ाबिल नायब जमा कर लि उसके बड़े वफ़ादार थे। इनमें मुख्य फ़ैज़ी और अबुलफ़ज़ल दो भाई थे, था बीरबल, जिसके बारे में अनगिनती कहानियाँ आज तक प्रचलित हैं। का वित्तमन्त्री था टोडरमल। इसीने लगान की सारी प्रणाली को बद तुम्हें यह जानकर अचम्भा होगा कि उन दिनों ज़मींदारी-प्रथा न थी ज़मींदार थे, न ताल्लुक़ेदार। राज्य खुद किसानों या रैयत से लगान वसूल था। यही आजकल रैयतवारी प्रणाली कहलाती है। आजकल के ज़मींदार के बनाये हुए हैं।

जयपुर का राजा मानसिंह अकबर के सबसे अच्छे सेनापतियों में अकबर के दरबार में एक और मशहूर आदमी था—महान् गायक तानसेन आज भारत के सारे गवैये अपना गुरु मानते हैं।

शुरू में अकबर की राजधानी आगरा थी, जहाँ उसने किला बनवाया। बाद उसने आगरे से पन्द्रह मील दूर फ़तहपुर सीकरी में एक नया शहर

जगह इसलिए पसन्द की कि यहाँ शेख सलीम चिश्ती नाम के एक मुस्लिम थे। यहाँ उसने एक आलीशान शहर बनवाया, जो उस वक़्त के एक अंग्रेज़-शब्दों में "लन्दन से भी ज़्यादा बड़ा" था और यही पन्द्रह वर्ष से ज़्यादा साम्राज्य की राजधानी रहा। बाद में उसने लाहौर को अपनी राजधानी। अकबर का दोस्त और वज़ीर अबुलफ़ज़ल लिखता है—"बादशाह आलीशान इमारतों के खाके सोचते हैं और अपने दिल और दिमाग़ की पत्थर और मिट्टी का जामा पहना देते हैं।"

तहपुर सीकरी और उसकी ख़ूबसूरत मस्जिद, उसका ज़बर्दस्त बुलन्द और बहुत-सी दूसरी सुन्दर इमारतें आज भी मौजूद हैं। यह शहर उजड़ और उसमें किसी तरह की हलचल अब नहीं है; लेकिन उसकी गलियों उसके चौड़े सहनों में एक मिटे हुए साम्राज्य की छायाएँ आज भी चलती-मालूम होती हैं।

मारा मौजूदा इलाहाबाद शहर भी अकबर का बसाया हुआ है, लेकिन ज़रूर बहुत प्राचीन है, और प्रयाग तो यहाँ रामायण के युग से चला आ। इलाहाबाद का क़िला अकबर का बनवाया हुआ है।

अकबर का जीवन एक विशाल साम्राज्य को जीतने और मज़बूत बनाने रहा होगा। लेकिन इसके अन्दर अकबर का एक और विचित्र गुण नज़र है। यह थी उसकी बेहद जिज्ञासा और सचाई की खोज। जो कोई किसी भी र रोशनी डाल सकता था, उसे बुलाया जाता था और उससे सवाल किये । अलग-अलग मज़हबों के लोग इबादतखाने में उसके चारों तरफ़ बैठते र हरेक इस महान् बादशाह को अपने मज़हब में शामिल करने की उम्मीद था। वे अक्सर एक दूसरे से झगड़ पड़ते थे और अकबर बैठा-बैठा उनकी नता रहता और उनसे बहुत-से सवाल पूछता रहता था। मालूम होता है, विश्वास हो गया था कि सत्य का ठेका किसी ख़ास मज़हब या फ़िरक़े ने रखा है और उसने यह ऐलान कर दिया था कि वह संसार के सारे मज़हबों उदारता के सिद्धान्त को मानता है।

सके शासनकाल के एक इतिहास-लेखक बदायूंनी[1] ने, जो ऐसे बहुत-से में शामिल होता रहा होगा, अकबर के बारे में मज़ेदार बयान लिखा है, हाँ देना चाहूँगा। बदायूंनी ख़ुद एक कट्टर मुसलमान था और वह अकबर कार्रवाइयों को बिलकुल नापसन्द करता था। वह लिखता है—

---

[1] बदायूंनी का पूरा नाम मिर्ज़ा अब्दुल क़ादिर बदायूंनी (बदायूं का) था। इसने मुग़ल साम्राज्य का इतिहास लिखा है, जिसके हरेक पन्ने कट्टरपन की छाप है। यह हिन्दुओं से बहुत चिढ़ता था।

"जहाँपनाह हरेक की रायें इकट्ठी करते थे, खासकर ऐसे लोगों की जो मुसलमान नहीं थे, और उनमें से जो कोई बात उनको पसन्द आती, ले लेते और जो उनके मिज़ाज के खिलाफ़ होतीं और उनकी मर्जी के खि जातीं उन सबको फेंक देते थे। शुरू बचपन से जवानी तक और ज वुढ़ापे तक, जहाँपनाह बिलकुल अलग-अलग तरह की हालतों में से औ तरह के मज़हबों, दस्तूरों और फ़िरक़ेवाराना अक़ीदों में से गुजरे हैं, और कुछ किताबों में मिल सकता है उस सबको उन्होंने, छाँटने के अपने गुण से, इकट्ठा किया है, और तहक़ीक़ात की उस रूह से इकट्ठा किया है हर इस्लामी उसूल के खिलाफ़ है। हर तरह उनके दिल के आईने पर मूल उसूलों की बुनियाद पर एक नक़शा खिंच गया है और उनपर असर पड़े हैं, उन सबके नतीजे से उनके दिल में पत्थर की लकीर धीरे-धीरे यह यक़ीन जमता गया है कि सब मज़हबों में समझदार और सब क़ौमों में परहेज़गार, सोचनेवाले और चमत्कारी ता आदमी हैं। अगर कोई सच्चा इल्म इस तरह हर जगह मिल सकता है सचाई किसी एक ही मज़हब में कैसे बन्द हो सकती है?…"

तुम्हें याद होगा कि इस ज़माने में यूरोप में मज़हबी मामलों में बड़ा बैर-भाव फैला हुआ था। स्पेन, नीदरलैण्ड और दूसरे देशों में इनक्विज़ि दौर-दौरा था और कैथलिक और कैल्विनिस्ट दोनों एक-दूसरे को बर्दाश्त घोर पाप समझते थे।

अकबर ने वर्षों तक सब मतों के आचार्यों से अपनी मज़हबी चर्चाएं बहसें जारी रक्खीं, यहाँतक कि अन्त में वे सब उकता गये और उन्होंने अपने-अपने खास मज़हब में मिला सकने की आशा छोड़ दी। जब हरेक में सचाई का कुछ-न-कुछ अंश था तो वह उनमें से किसी एक को कैसे चुन सकता जेजुइट लोगों के लिखे मुताबिक़ वह कहा करता था—"चूँकि हिन्दू लोग सिद्धान्तों को ठीक मानते हैं और इसी तरह मुसलमान और ईसाई भी मानते तो फिर हम इनमें से किसको अपनावें?" अकबर का सवाल बड़ा वाजिब था। जेजुइट लोग इससे चिढ़ते थे और उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा है— बादशाह में हम उस नास्तिक की-सी आम ग़लती देखते हैं जो दलील को ई दास बनाने से इन्कार करता है और जिस बात की गहराई को उसका दिमाग़ न पा सके, उसे सच न मानता हुआ वह उन मामलों को अपने अधूरे पर छोड़कर सन्तुष्ट हो जाता है, जो मानव-ज्ञान की सर्वोच्च सीमा से भी परे अगर नास्तिक की यही परिभाषा है तो जितने ज्यादा नास्तिक हों उतना ही

अकबर का लक्ष्य क्या था, यह साफ़ नहीं मालूम पड़ता। क्या वह इस को खाली राजनीतिक निगाह से देखता था? सबके लिए एक-सी राष्ट्री

के इरादे से कहीं वह अलग-अलग मज़हबों को ज़बर्दस्ती एक ही रास्ते
डालना चाहता था ? या क्या उसकी नीयतों और उसकी तलाशों की
मज़हब था; मैं नहीं जानता। लेकिन मेरा ख़याल इधर झुकता है कि वह
सुधारक की बनिस्वत राजनीतिज्ञ ही ज़्यादा था। उसका उद्देश्य चाहे जो
उसने सचमुच एक नये मज़हब 'दीन इलाही' का ऐलान कर दिया,
इमाम वह खुद था। दूसरी बातों की तरह धार्मिक मामलों में भी उसके
को कोई चुनौती नहीं दे सकता था और दण्डवत्, क़दम-बोसी, वग़ैरा,
करनेवाली ढेरों चीज़ें होती थीं। यह नया मज़हब चला नहीं। हुआ
इसने मुसलमानों को चिढ़ा दिया।

अकबर सत्तावाद का तो पूरा निचोड़ था। फिर भी यह सोचना दिलचस्प
राजनीतिक उदार विचारों का उस पर क्या जवाबी असर हुआ होता।
मज़हबी विश्वास की स्वतन्त्रता मानी जाती थी तो जनता को ज़्यादा राज-
आज़ादी क्यों नहीं ? विज्ञान की तरफ़ वह ज़रूर खूब खिंचा होता।
सी से ये विचार, जिन्होंने उस समय यूरोप के कुछ लोगों को परेशान
शुरू कर दिया था, उस समय के भारत में चालू नहीं हुए थे। छापेखानों
कोई उपयोग नज़र नहीं आता। इसलिए शिक्षा का दायरा बहुत छोटा
जानकर तुमको सचमुच ताज्जुब होगा कि अकबर अनपढ़ था, यानी
लिख नहीं सकता था। लेकिन फिर भी वह उच्च शिक्षित था और किताबें
सुनने का बड़ा भारी शौक़ीन था। उसकी आज्ञा से बहुत-सी संस्कृत
का फ़ारसी में अनुवाद किया गया था।

भी मार्के की बात है कि उसने हिन्दू विधवाओं के सती होने की प्रथा को
ने का हुक्म निकाला था और युद्ध-बन्दियों को गुलाम बनाये जाने की भी
कर दी थी।

चौंसठ साल की उम्र में, क़रीब पचास वर्ष राज करने के बाद, अक्तूबर,
ई० में अकबर की मृत्यु हुई। उसकी लाश आगरा के पास सिकन्दरे में एक
मक़बरे में दफ़न की हुई है।

अकबर के शासनकाल में उत्तर भारत में और ज़्यादातर काशी में एक
हुआ, जिसका नाम संयुक्तप्रान्त[१] के हरेक देहाती की ज़बान पर है। वहाँ
मशहूर है और इतना लोकप्रिय है, जितना अकबर या दूसरा कोई
नहीं हो सकता। मेरा मतलब तुलसीदास से है, जिन्होंने हिन्दी में
-मानस या रामायण लिखी है।

---

[१] आज का उत्तर प्रदेश।

: ९० :

भारत में मुग़ल-साम्राज्य का पतन और अन्त

९ सितम्बर,

मेरी इच्छा होती है कि अकबर के बारे में तुम्हें कुछ और बतलाऊं
इस इच्छा को दबाना पड़ेगा। मगर पुर्तगाली पादरियों के लेखों में से कुछ को
यहाँ देने के लोभ को मैं नहीं रोक सकता। उनकी राय दरबारी मुसाहिबों
से बहुत ज्यादा महत्व रखती है और यह बात भी ध्यान में रखने की है कि जब
ईसाई न बना तो उसकी तरफ़ से उनको बहुत निराशा भी हुई थी। फिर
लिखते हैं, "वह वास्तव में एक महान् बादशाह था; क्योंकि वह जानता था कि
शासक वही हो सकता है, जो अपनी प्रजा में एक-साथ फ़रमाबरदारी, इज़
और भय पैदा कर सके। यह बादशाह सबका प्यारा था, बड़े आदमियों पर
छोटे आदमियों पर मेहरबान, और सब लोगों के साथ न्याय करनेवाला,
ऊँच हों या नीच, पड़ौसी हों या अजनबी, ईसाई हों या मुसलमान या
इसलिए हरेक आदमी यही समझता था कि बादशाह उसीके पक्ष में है।
लोग आगे कहते हैं—"अभी वह राजकीय मामलों में मशग़ूल है या अपने
के लोगों को मुजरे दे रहा है, तो दूसरे ही क्षण वह ऊंटों के बाल कतरता
पत्थर फोड़ता हुआ या लकड़ी काटता हुआ या लोहा कूटता हुआ नज़र आ
और इन सब कामों को वह इतनी होशियारी से करता था मानो खुद
खास पेशे को कर रहा हो।" हालांकि वह एक शक्तिशाली और निरंकु
था, लेकिन वह हाथ से काम करने को अपनी शान के खिलाफ़ नहीं सम
जैसा कि आजकल के कुछ लोग खयाल करते हैं।

आगे चलकर यह बतलाया गया है कि "वह बहुत थोड़ा खाना
और साल में सिर्फ़ तीन या चार महीने ही माँस खाता था...। सोने
वह बड़ी मुश्किल से रात के तीन घण्टे निकालता था...। उसकी
ग़ज़ब की थी। उसके हज़ारों साथी थे, लेकिन वह सबके नाम जानता था;
घोड़ों के, हिरनों के और कबूतरों तक के नाम भी उसे याद थे!" इस
स्मरण-शक्ति के बारे में यक़ीन करना मुश्किल है, और शायद यह
बढ़ा-चढ़ाकर भी लिखा गया हो। लेकिन इसमें कोई शक़ नहीं कि उसका
अद्भुत था। "हालांकि वह पढ़-लिख नहीं सकता था लेकिन अपनी बाद
होनेवाली तमाम बातें उसे मालूम रहती थीं।" और "उसकी ज्ञान हासिल
की लगन" ऐसी थी कि वह "सब बातें एक साथ सीखने की कोशिश कर
जैसे कोई भूखा आदमी सारे भोजन को एक ही कौर में निगल जाना चाहता

ा था यह अकबर। लेकिन वह पूरा निरंकुश था। और, हालाँकि उसने बहुत हद तक सुरक्षित कर दिया था और किसानों पर से टैक्सों का बोझ कर दिया था, लेकिन उसका दिमाग़ शिक्षा और सिखाई के ज़रिये जनता ऊंचा उठाने की तरफ़ नहीं गया। वह युग हर जगह निरंकुशशाही का र दूसरे निरंकुश राजाओं के मुक़ाबले में बादशाह और इन्सान की हैसियत र सबसे ज़्यादा तेजी से चमकता है।

ांकि अकबर बाबर की तीसरी पीढ़ी में था, लेकिन भारत में मुग़ल की नींव डालनेवाला असल में यही था। चीन में कुबलइख़ाँ के युआन की तरह, अकबर के बाद मुग़ल बादशाहों का राजवंश भारतीय बन कबर ने अपने साम्राज्य को मज़बूत बनाने के लिए जो महान् काम , उसका नतीजा यह हुआ कि उसका राजवंश उसकी मृत्यु के बाद सौ ज़्यादा राज करता रहा।

कबर के बाद तीन और क़ाबिल बादशाह हुए, लेकिन उनमें कोई असाधारण थी। जब कोई बादशाह मरता तो उसके पुत्रों में राजगद्दी के लिए बड़ी ना-झपटी होती। महलों की साज़िशें और उत्तराधिकार की लड़ाइयाँ । पुत्रों का पिताओं से विद्रोह, भाइयों का भाइयों से विद्रोह, हत्याएँ और यों की आँखें फोड़ी जाना—मतलब यह कि निरंकुशता और स्वेच्छाचारी के साथ चलनेवाली तमाम घिनौनी बातें होती थीं। शान-शौक़त और क़ तो ऐसी थीं कि उनकी बराबरी कहीं न थी। तुम्हें याद होगा कि यह ा था जब फ़्रान्स में चौदहवाँ लुई, जो 'सूर्य-जैसा राजा' कहलाता था, था और जिसने वर्साई बनवाया था और जिसका दरबार शान-शौक़त- । लेकिन महान् मुग़लिया शान-शौक़त के सामने लुई की शान-शौक़त जाती थी। शायद ये मुग़ल बादशाह उस ज़माने के बादशाहों में सबसे दार थे। लेकिन फिर भी कभी-कभी अकाल, महामारी और बीमा- जाती थीं और बेशुमार आदमियों का सफ़ाया कर देती थीं। जबकि ऊ बादशाही दरबार विलास में डूबा रहता था।

कबर के समय की मज़हबी उदारता उसके पुत्र जहांगीर के राज में भी , लेकिन फिर यह धीरे-धीरे मिटती गई और ईसाइयों और हिन्दुओं पर चार होने लगे। बाद में, औरंगज़ेब के राज में, मन्दिरों को तोड़कर, म जज़िया टैक्स दुवारा जारी करके, हिन्दुओं को जान-बूझकर सताने की गई। साम्राज्य की नींव की जो ईंटें अकबर ने इतनी मेहनत से , वह इस तरह एक-एक करके खोद डाली गईं और साम्राज्य एकदम र गिर पड़ा।

अकबर के बाद जहांगीर गद्दी पर बैठा जो उसकी राजपूत रानी था। उसने कुछ हद तक अपने पिता की परम्परा को जारी रक्खा, लेकि उसे सरकारी कामों की बनिस्बत कला व चित्रकारी और बाग़ों व फूलों दिलचस्पी थी। उसके यहाँ बढ़िया चित्रशाला थी। वह हर साल कश्मीर और मेरे ख़याल से श्रीनगर के पास शालिमार और निशात नामों के म इसीने बनवाये थे। जहांगीर की बेग़म—या यों कहो कि उसकी बहुत- में एक—सुन्दरी नूरजहां थी, जिसके हाथों में सिंहासन के पीछे राज की बागडोर थी। ऐतमादुद्दौला की क़ब्र पर ख़ूबसूरत इमारत जहांगीर के ही बनी थी। जब कभी मैं आगरे जाता हूँ तो वास्तुकला के इस रत्न को कोशिश करता हूँ ताकि उसकी सुन्दरता से अपनी आँखों की प्यास बुझा

जहांगीर के बाद उसका पुत्र शाहजहां गद्दी पर बैठा और उसने यानी १६२८ से १६५८ ई० तक शासन किया। यह फ़्रान्स के चौदहवें समकालीन था और इसके राज में जहाँ मुग़लों की तड़क-भड़क सबसे पर पहुँच गई, वहाँ उसकी गिरावट के बीज भी साफ़ नज़र आने लगे थे। के बैठने के लिए अनमोल रत्नों से जड़ा हुआ मशहूर तख़्ते-ताऊस बन और फिर आगरे में जमना के किनारे वह सुन्दरता का सपना ताजम शायद तुम जानती हो कि यह उसकी प्यारी बेग़म मुमताजमहल का म शाहजहां ने बहुत-से ऐसे काम किये, जिनसे उसके नाम और उसकी इज़् लगता है। वह मज़हब के मामले में उदार नहीं था और जब दक्षिण में और में भयंकर अकाल पड़ा तो उसने अकाल-पीड़ितों की राहत के लिए कुछ किया। उसकी प्रजा की इस कम्बख़्ती और ग़रीबी के मुक़ाबले में उस और शान घिनौनी दिखाई पड़ती हैं। फिर भी पत्थर और संगमरमर दिलकश सौंदर्य के जो चमत्कार छोड़े हैं, उनके लिए शायद उसकी बहु माफ़ की जा सकती हैं। इसीके समय में मुग़ल वास्तुकला अपनी चोटी थी। ताज के अलावा इसने आगरे की मोती मस्जिद, दिल्ली की वि मस्जिद, और दिल्ली के महलों में दीवाने-आम और दीवाने-ख़ास ब इमारतों में ऊँचे दरजे की सादगी है; इनमें से कुछ तो बड़ी विशाल है और सुडौल हैं, और उनकी सुन्दरता परियों जैसी है।

लेकिन इस परियों-जैसी सुन्दरता के पीछे ग़रीबी की मारी हुई थी, जो इन महलों की क़ीमत चुकाती थी और जिसके ज़्यादातर लोगों रहने को मिट्टी के झोंपड़े भी न थे। बे-लगाम ज़ुल्मी शासन का बोलबाला सम्राट् या उसके बड़े नायब और सूबेदार अगर किसीसे नाख़ुश हो ज भयानक सज़ाएँ दी जाती थीं। दरबार की साज़िशों में मैकियावेली के

था। अकबर की रहमदिली, उदारता और अच्छी शासन-व्यवस्था हो गई थीं। हालतें गड़बड़ी की तरफ़ जा रही थीं।

के बाद आख़िरी महान् मुग़ल औरंगज़ेब आया। उसने अपने शासन की अपने पिता को क़ैद में डालकर की। उसने १६५९ से १७०७ ई० तक वर्ष राज किया। अपने दादा जहांगीर की तरह वह न तो कला और से प्रेम करता था और न अपने पिता शाहजहां की तरह वास्तुकला से। सादगी से रहनेवाला भगत था और कट्टर मज़हबी था और अपने मज़हब दूसरे किसी मज़हब को बर्दाश्त नहीं करता था। दरबार की तड़क-भड़क रही पर अपने व्यक्तिगत निजी जीवन में औरंगज़ेब सादा-मिज़ाज जैसा था। उसने इरादा करके हिन्दुओं को सताने की नीति चलाई। के ही उसने अकबर की सबको राज़ी रखने की और समन्वय की नीति और जिस नींव पर अभी तक साम्राज्य टिका हुआ था, उसे इस तरह ा। उसने हिंदुओं पर जज़िया टैक्स फिर लगा दिया; जहाँतक हो सका सब ओहदे छीन लिये; जिन राजपूत सरदारों ने अकबर के समय से की सहायता की थी, उन्हींको नाराज़ करके राजपूतों से लड़ाई मोल ने हज़ारों हिन्दू मन्दिरों को तुड़वा डाला और इस तरह बहुत-सी सुन्दर रतें धूल में मिला दीं। जहाँ एक तरफ़ दक्षिण में उसका साम्राज्य बढ़ बीजापुर और गोलकुण्डा उसके क़ब्ज़े में आ गये थे और दूर दक्षिण से उसे लने लगा था, वहाँ दूसरी तरफ़ इस साम्राज्य की नींव ढीली होकर दिन-कमज़ोर होती जा रही थी और चारों तरफ़ दुश्मन पैदा हो रहे थे। विरोध में हिन्दुओं की तरफ़ से जो अर्ज़ी उसे पेश की गई थी, उसमें लिखा टैक्स "इन्साफ़ का विरोधी है; उसी तरह यह अच्छी नीति के दायरे आता, क्योंकि यह देश को ग़रीब कर देगा; इसके अलावा यह एक चीज़ है और हिन्दुस्तान के क़ानूनों को भंग करनेवाला है।" साम्राज्य हो रही थी, उसके बारे में उसमें लिखा था—"जहांपनाह के राज में साम्राज्य के खिलाफ़ हो गये हैं, जिसका लाज़िमी नतीजा यह होगा हिस्से हाथ से निकल जायँगे क्योंकि सब जगह बेरोकटोक बरबादी सोट का बाज़ार गर्म हो रहा है। आपकी प्रजा पैरों तले रौंदी जाती साम्राज्य का हरेक सूबा ग़रीब होता जा रहा है, आबादी कम हो कठिनाइयाँ बढ़ती जा रही हैं।"

लोगों में फैली हुई यह तबाही उन भारी परिवर्तनों की भूमिका थी, पचास-साठ वर्षों में भारत में होनेवाले थे। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद साम्राज्य का एकदम और पूरी तरह पतन इन्हीं परिवर्तनों में से एक

था। महान् परिवर्तनों और महान आन्दोलनों के पीछे हमेशा आर्थि हुआ करते हैं। हम देख चुके हैं कि यूरोप और चीन के बड़े-बड़े साम्राज्यों से पहले और साथ-साथ, आर्थिक पतन हुआ और बाद में क्रान्ति हुई। भारत में हुआ।

जिस तरह तमाम साम्राज्यों का अन्त हुआ करता है, उसी त साम्राज्य का अन्त भी उसीकी अन्दरूनी कमज़ोरियों की वजह से हुआ। वह तहस-नहस हो गया। लेकिन हिन्दुओं में विद्रोह की जो नई चेतना पैदा हो और जो औरंगज़ेब की नीति की वजह से उफ़ान पर आगई थी, उसने इ लाने की प्रक्रिया में बहुत मदद पहुँचाई। लेकिन एक तरह की यह मज़ राष्ट्रीयता औरंगज़ेब के राज से पहले ही जड़ पकड़ चुकी थी और सम्भ कुछ-कुछ इसीकी वजह से औरंगज़ेब इतना कट्टर और तास्सुबी हो मराठे, सिक्ख, वग़ैरा इस हिन्दू जागृति के भाले की नोक थे और, जैसा कि पत्र में लिखूंगा, मुग़ल साम्राज्य का तख़्ता अन्त में इन्होंने ही उलट दिया। विरासत में मिली इस जायदाद से वे कुछ लाभ न उठा सके। जबकि वे के माल के लिए आपस में लड़ रहे थे, अंग्रेज़ चुपचाप और चालाकी के आये और उसे हथिया बैठे।

तुमको यह जानकर दिलचस्पी होगी कि जब मुग़ल-सम्राट् फ़ौज कूच करते थे तो उनका शाही डेरा किस तरह का होता था। वह एक बड़ी चीज़ होती थी, जिसका घेरा तीस मील और आबादी क़रीब पांच लाख इस आबादी में सम्राट् के साथ चलनेवाली फ़ौज तो होती ही थी, लेकिन उ इस चलते-फिरते भारी शहर में लाखों दूसरे लोग और सैकड़ों बाज़ार इन्हीं चलते-फिरते डेरों में उर्दू, यानी 'लश्कर' की भाषा, का विकास हुआ।

मुग़ल-काल के बहुत-से छबि-चित्र अब भी मिलते हैं, जिनकी बड़ी बारीक़ और नफ़ीस है। सम्राटों की तसवीरों की तो एक पूरी मिलती है। बाबर से लगाकर औरंगज़ेब तक तमाम बादशाहों के ये तसवीरें बड़ी ख़ूबी के साथ प्रकट करती हैं।

मुग़ल-सम्राट् दिन में कम-से-कम दो बार झरोखे में से लोगों को करते थे और अर्ज़ियाँ लिया करते थे। जब १९११ ई० में अंग्रेज़ सम्राट् दिल्ली में ताजपोशी के दरबार के लिए भारत आये थे तो उनका भी तरह करवाया गया था। अंग्रेज़ लोग अपने-आपको मुग़लों का गद्दीनशीं हैं और इसलिए वे तड़क-भड़क और बेहूदा प्रदर्शन में मुग़लों की नक़ की कोशिश करते हैं। मैं तुमको बतला चुका हूँ कि अंग्रेज़ बादशाह बादशाहों का ख़िताब 'क़ैसरे हिन्द' तक दे दिया गया है। आज भी दुनि

शौकत और नुमायशी ठाट-बाट शायद और कहीं न मिले, जितना इंग्लैण्ड के वाइसराय के व्यक्तित्व के साथ लगा हुआ है।

तुम्हें अभी तक यह नहीं बताया है कि पिछले मुग़ल बादशाहों का विदे- कैसा ताल्लुक़ था। अकबर के दरबार में पुर्तगाली पादरियों पर ख़ास थी और यूरोप की दुनिया के साथ अकबर का जो कुछ भी सम्पर्क गालियों के ही ज़रिये से था। अकबर इनको यूरोप की सबसे ज्यादा क़ौम समझता था, क्योंकि समुद्रों पर इनका क़ब्ज़ा था। अंग्रेज़ों का उस न था। अकबर की गोवा लेने की बड़ी इच्छा थी और उसने उसपर किया मगर सफलता न मिली। मुग़ल लोग समुद्र-यात्रा को पसन्द नहीं और जहाज़ी शक्ति के सामने उनकी दाल न गलती थी। यह एक विचित्र कि उस ज़माने में पूर्व बंगाल में जहाज़ बनाने का काम ज़ोरों से चल रहा ये जहाज़ ज्यादातर माल लादने के काम के थे। समुद्र पर हमला कर लाचारी मुग़ल-साम्राज्य के पतन की एक वजह बतलाई जाती है। शक्तियों का समय आ गया था।

अंग्रेज़ लोगों ने मुग़ल दरबार में आने की कोशिश की तो पुर्तगालियों डाह हुई और उन्होंने जहांगीर के कान उनके ख़िलाफ़ भरने में कोई उठा रक्खी। लेकिन इंग्लैण्ड के जेम्स प्रथम का राजदूत सर टामस रो में किसी तरह जहांगीर के दरबार में जा पहुँचा। उसने सम्राट् से बहुत- हासिल कर लीं और ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार की नींव जमा बीच अंग्रेज़ी बेड़े ने भारतीय समुद्र में पुर्तगाल के बेड़े को हरा दिया। सितारा आसमान में ऊँचा चढ़ रहा था और पुर्तगाल का सितारा पश्चिम था। डचों और अंग्रेज़ों ने धीरे-धीरे पुर्तगालियों को पूर्वी समुद्रों से दिया और तुम्हें याद होगा कि मलक्का का बड़ा बन्दरगाह भी में डचों के हाथ आ गया था। १६२९ ई० में हुगली में शाहजहां और के बीच युद्ध हुआ। पुर्तगाली बाक़ायदा ग़ुलामों का व्यापार करते थे को जबर्दस्ती ईसाई बना रहे थे। पुर्तगाली बड़ी बहादुरी से लड़े, लेकिन पर क़ब्ज़ा कर लिया। छोटा-सा पुर्तगाल देश बार-बार के इन युद्धों उसने साम्राज्य की होड़ से पीछा छुड़ाया; लेकिन वह गोवा और जगहों से चिपका रहा और आज भी इन जगहों पर उसका क़ब्ज़ा है।

दौरान में अंग्रेज़ों ने मद्रास और सूरत के पास, भारत के समुद्र-तट कारखाने खोल दिये। मद्रास की नींव भी उन्होंने ही १६३९ ई० में १६६२ ई० में इंग्लैण्ड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाल की कैथरीन के साथ शादी की और बम्बई का टापू उसे दहेज में मिला। कुछ

दिनों बाद उसने इसे बहुत सस्ते दाम में ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ बे
यह घटना औरंगज़ेब के शासनकाल में हुई। पुर्तगालियों के ऊपर विजय
चूर ईस्ट इंडिया कम्पनी ने यह सोचकर कि मुग़ल-साम्राज्य कमज़ोर हो
है, १६८५ ई० में लड़ाई के ज़रिये भारत की और ज़्यादा ज़मीन पर
की कोशिश की। लेकिन उसे नुक़सान उठाना पड़ा। इंग्लैण्ड से जंगी
हुए आये और औरंगज़ेब के राज्य में दो जगह, यानी पूर्व में बंगाल पर औ
में सूरत पर हमले किये गए। लेकिन अभी मुग़लों में उनको बुरी तरह ह
ताक़त थी। अंग्रेज़ों ने इससे नसीहत ली और आगे के लिए वे बहुत
गये। औरंगज़ेब की मृत्यु पर भी, जबकि मुग़ल-शक्ति लड़खड़ाती हुई
रही थी, वे बहुत वर्षों तक कोई बड़ा हमला करने से पहले आगा-पीछे सो
१६९० ई० में जॉब चार्नोक ने कलकत्ता शहर की नींव डाली। इस त
बम्बई और कलकत्ता, इन तीनों शहरों की नींव अंग्रेज़ों के हाथों से डाली
शुरू-शुरू में ये शहर अंग्रेज़ों के ही उद्योग से बढ़े।

अब फ़ान्स ने भी भारत में क़दम रक्खा। एक फ़ान्सीसी व्यापारी
बनी और १६६८ ई० में उसने सूरत में और कुछ दूसरी जगहों में कारखा
कुछ साल बाद उसने पांडिचेरी शहर खरीद लिया, जो पूर्वी तट पर
तिजारती बन्दरगाह बन गया।

१७०७ ई० में क़रीब नब्बे वर्ष की बड़ी उम्र में औरंगज़ेब की मृ
उसके छोड़े हुए बेशक़ीमती माल को, यानी भारत को, हथियाने के लि
झगड़े का मैदान तैयार हो गया। एक तो ख़ुद उसी के निकम्मे वंशज
बड़े-बड़े सूबेदार थे; उधर मराठे और सिक्ख थे; दूसरी तरफ़ उत्त
सीमा के पार के लोग दान्त लगाये हुए थे; और समुद्र पार के दो शक्तिशा
अंग्रेज़ और फ़ान्सीसी थे। बेचारे भारतवासियों की चिन्ता किसे थी?

: ९१ :

सिक्ख और मराठे

१२ सितम्बर,

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद के सौ वर्षों में भारत एक अजीब पैवन्द
नमूना बना रहा। सैरबीन की तरह उसके नज़ारे हर घड़ी बदलते रहे
वे कोई बहुत सुन्दर नहीं थे। ऐसा ज़माना ले-भग्गुओं के या ऐसे लोगों के लि
बढ़िया होता है, जो साधनों और उपायों की परवाह नहीं करते और मौक़े का
उठाने में न तो डरते हैं और न भले-बुरे का कुछ विचार करते हैं। इसलि
भारत में इस तरह के मौक़ा-परस्त पैदा हो गये। इन मौक़ा-परस्तों में एक

ही रहनेवाले थे; दूसरे वे थे, जो उत्तर-पश्चिम की सीमाओं से आ रहे थे रे वे लोग थे, जो अंग्रेज़ों और फ़ान्सीसियों की तरह समुद्र-पार से आये थे। ती या गिरोह अपनी-अपनी चाल चलता था और बाक़ी सबको जहन्नुम के लिए तैयार था। कभी-कभी दो मिलकर तीसरे को ख़त्म कर देते थे; द में ये दोनों आपस में ही लड़ मरते थे। रियासतें हड़पने के लिए, जल्दी र बनने के लिए, और लूटमार करने के लिए, जी-तोड़ कोशिशें की जा रही मार ज्यादातर खुल्लम-खुल्ला और बेशर्मी के साथ होती थी, लेकिन व्यापार के झीने पर्दे में भी छिपकर होती थी। और इस सबके पीछे ता हुआ मुग़ल-साम्राज्य, जो 'चेशायर की बिल्ली'[1] की तरह ऐसा रहा था कि उसकी मुस्कराहट भी बाक़ी न रही थी। बेचारे नाम के या तो पेन्शन दे दी जाती थी या वह दूसरों का क़ैदी हो जाता था।

किन ये सब उथल-पुथल और हलचल और तोड़-मरोड़ उस क्रान्ति के प थे, जो सतह के नीचे हो रही थी। पुरानी आर्थिक व्यवस्था टूट रही न्तशाही के दिन पूरे हो गये थे और वह ख़त्म हो रही थी। ये चीज़ें ई हालतों से मेल नही खाती थीं। यही सिलसिला हम यूरोप में देख चुके यापारी वर्ग की तरक्क़ी भी देख चुके हैं, जिसे स्वेच्छाचारी शासकों ने था। सिर्फ़ इंग्लैण्ड में, और कुछ हद तक हालैण्ड में, बादशाहों को या था। जिस समय औरंगज़ेब गद्दी पर बैठा, उस समय इंग्लैण्ड में वेल का गणराज्य चल रहा था, जो चार्ल्स प्रथम की फाँसी के बाद बना र औरंगज़ेब के ही शासनकाल में जेम्स द्वितीय के भाग जाने से, और में पार्लमेण्ट की विजय से, इंग्लैण्ड की क्रान्ति पूरी हुई। इंग्लैण्ड में जो सी एक आधी लोक-सत्तावाली परिषद् थी, उससे इस लड़ाई में बहुत ली। वह एक ऐसी चीज़ थी, जो सामन्त सरदारों के और बाद में बादशाह खड़ी की जा सकती थी।

रोप के बहुत-से दूसरे देशों में और ही तरह की हालतें थीं। फ़्रान्स में भी महान् सम्राट् चौदहवाँ लुई था, जो औरंगज़ेब के लम्बे शासन-काल भर समकालीन रहा और उसके भी आठ वर्ष बाद मरा। वहाँ क़रीब-क़रीब वीं सदी के अन्त तक स्वेच्छाचारी शासन जारी रहा, जबकि फ़्रान्स की इति- द्ध राज्य-क्रान्ति के रूप में ज़बर्दस्त विस्फोट हुआ। जर्मनी में, जैसा कि चुके हैं, सत्रहवीं सदी का ज़माना बड़ा भयानक था। इसी सदी में 'तीस युद्ध' हुआ, जिसने देश के टुकड़े-टुकड़े करके उसका सत्यानाश कर दिया।

'एलिस इन दि वंडरलैंड' नाम की कहानी की पुस्तक में बयान की हुई बिल्ली, जो सदा मुस्कराती रहती थी।

अठारहवीं सदी में भारत की हालत का मुक़ाबला कुछ-कुछ
उस हालत से किया जा सकता है, जो वहाँ तीस साल के युद्ध के ज़माने में थी
यह मुक़ाबला ज़्यादा आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। दोनों देशों में आर्थिक
रहा था और पुराने सामन्त-वर्ग के लिए कोई जगह नहीं रही थी। हालांकि
में सामन्तशाही आख़िरी साँसें ले रही थी, लेकिन उसका अन्त बहुत दिनों
हुआ। और क़रीब-क़रीब नष्ट होने पर भी उसका ऊपरी रूप बना ही रहा।
आज दिन भी भारत में और यूरोप के कुछ हिस्सों में सामन्तशाही के
बचे-खुचे निशान बाक़ी हैं।

मुग़ल-साम्राज्य इन्हीं आर्थिक परिवर्तनों के कारण भंग हुआ, लेकिन
मौक़े से फ़ायदा उठाकर सत्ता छीनने के लिए कोई मध्यमवर्ग मौजूद न था।
की तरह इन वर्गों का प्रतिनिधि-जैसा कोई संगठन या परिषद् भी न थे।
के अत्याचारी शासन ने आम लोगों को बहुत-कुछ चापलूस बना दिया
आज़ादी की जो कुछ भी पुरानी भावनाएँ थीं, वे क़रीब-क़रीब भुलाई जा
लेकिन, जैसा कि आगे चलकर इसी पत्र में ज़िक्र किया जायगा, कुछ-कुछ
वर्ग ने, कुछ-कुछ मध्यमवर्ग ने और कुछ-कुछ किसानों ने सत्ता छीनने की
कीं और इनमें से कुछ कोशिशें सफलता के नज़दीक भी पहुँच गईं। ध्यान
ख़ास बात यह है कि सामन्तशाही के पतन, और मध्यमवर्ग के उदय के बीच
होता है, अन्तर पड़ गया, क्योंकि मध्यमवर्ग में अभी सत्ता-ग्रहण करने
तैयारी नहीं थी। जब इस तरह का अन्तर पड़ जाता है तो ज़रूर गड़बड़ और
पुथल होती है, जैसा कि जर्मनी में हुआ। यही हाल भारत में भी हुआ।
बादशाह और राजा देश पर अपना-अपना क़ब्ज़ा जमाने के लिए लड़ने लगे।
वे सब एक सड़ी हुई व्यवस्था के रूप थे, इसलिए उनकी नींव मज़बूत न थी।
एक नये ही वर्ग के लोगों से लड़ना पड़ा, जो इंग्लैण्ड के मध्यमवर्ग के नुमाइन्दे
जो उन्हीं दिनों अपने देश में विजय हासिल कर चुका था। इंग्लैण्ड का यह
सामन्त-वर्ग से ऊँची समाजी व्यवस्था का प्रतिनिधि था। वह उन नई
से मेल खाता था, जो संसार में पैदा हो रही थीं; उसका संगठन ज़्यादा
कारगर था; उसके पास ज़्यादा अच्छे हथियार और औज़ार थे, जिनके
वह ज़्यादा कारगर तरीक़ों से लड़ सकता था; और समुद्र पर भी उसका
था। भारत के सामन्ती राजाओं का इस नई शक्ति के मुक़ाबले में ठहरना
था और इसके सामने वे एक-एक करके ख़त्म होते गये।

इस पत्र की यह भूमिका काफ़ी लम्बी हो गई। अब हमको ज़रा पीछे
चाहिए। औरंगज़ेब के शासन के पिछले दिनों में जनता के जो विद्रोह हुए
हिन्दुओं में जो धार्मिक राष्ट्रीयता जागी, उनका ज़िक्र मैं अपने पिछले पत्र

ा हूं। अब मैं इस बारे में कुछ और बतलाऊंगा। मुग़ल-साम्राज्य के अलग-हिस्सों में कुछ-कुछ धार्मिक स्वरूपवाले जन-आन्दोलन शुरू होते दिखलाई ते थे। कुछ समय तक तो ये आन्दोलन शान्ति से चलते रहे; राजनीति का कोई ताल्लुक़ न था। हिन्दी, मराठी, पंजाबी, वग़ैरा देशी भाषाओं में गीत जन बने, जिनका खूब प्रचार हुआ और जिनसे जनता में चेतना पैदा हो गई। र धर्म-प्रचारकों के पीछे बहुत-से पन्थ बन गये। आर्थिक परिस्थितियों के ने जल्द ही इन पन्थों का ध्यान राजनीतिक सवालों की तरफ़ खींचा। शासक-ी मुग़ल-साम्राज्य से रगड़े-झगड़े होने लगे। नतीजा यह हुआ कि पन्थ पर हुआ। इस दमन ने शान्ति के रास्ते चलनेवाले पन्थ को सैनिक बिरादरी में बदल दिया। सिक्खों और दूसरे कई पन्थों का विकास इसी तरह हुआ। का इतिहास ज़्यादा उलझा हुआ है, लेकिन वहाँ भी यही दिखलाई पड़ता र्म और राष्ट्रीयता ने मिलकर मुग़लों के खिलाफ़ तलवार उठाई। मुग़ल-य का नाश अंग्रेज़ों के हाथों से नहीं हुआ, बल्कि इन मज़हबी राष्ट्रीय नों और खासकर मराठों की वजह से हुआ। इन आन्दोलनों को औरंगज़ेब ी बैर की नीति से क़ुदरती तौर पर बल मिला। यह भी सम्भव है कि अपनी के खिलाफ़ इस बढ़ती हुई मज़हबी चेतना ने औरंगज़ेब को और भी ज़्यादा तास्सुबी बना दिया हो।

१६६९ ई० में ही मथुरा के जाट किसानों ने बलवा कर दिया। बार-बार बाया गया, लेकिन वे तीस साल से ऊपर तक, यानी औरंगज़ेब की मृत्यु र-बार सिर उठाते रहे। याद रहे कि मथुरा आगरे के बहुत नज़दीक है, बलवे राजधानी के पास ही हुए थे। दूसरा बलवा सतनामियों ने किया, ारण लोगों का एक हिन्दू पन्थ था। इसलिए यह भी ग़रीब आदमियों का था और अमीरों, हाक़िमों, वग़ैरा के विद्रोहों से बिलकुल अलग तरह का था। का एक मुग़ल अमीर-सरदार इनके बारे में नफ़रत से लिखता है कि यह प्यासे पाजी बाग़ियों का गिरोह था, जिसमें सुनार, बढ़ई, भंगी, चमार और लोग शामिल थे।" उसकी राय में ऐसे 'नीच लोगों' को अपने से ऊंचे के खिलाफ़ बलवा करने में शर्म आनी चाहिए थी!

अब हम सिक्खों की तरफ़ आते हैं और उनके इतिहास का सिलसिला कुछ पहले से शुरू करेंगे। तुम्हें याद होगा कि मैंने गुरु नानक का ज़िक्र किया था। बाबर के भारत में आने के कुछ ही साल बाद हो गई। वह उन लोगों , जिन्होंने हिन्दू-धर्म और इस्लाम को एक ही मंच पर लाने की कोशिश इनके बाद तीन 'गुरु' और हुए, जो इन्हींकी तरह शान्तिप्रिय थे, और सिर्फ़ बातों में ही दिलचस्पी रखते थे। अकबर ने चौथे गुरु को अमृतसर के तालाब

और स्वर्ण मन्दिर के लिए ज़मीन दी थी। तबसे अमृतसर सिक्ख धर्म
बन गया है।

इसके बाद पाँचवें गुरु अर्जुनसिंह हुए, जिन्होंने ग्रन्थसाहब का संकलन
यह बानियों और भजनों का संग्रह है और सिक्खों का पवित्र ग्रन्थ माना
एक राजनीतिक अपराध के लिए जहांगीर ने अर्जुनसिंह को यन्त्रणाएँ[1] देकर
डाला। सिक्खों के इतिहास की घड़ी बस यहीं से बदल गई। गुरु के साथ
और बेरहमी के इस बर्ताव ने उनमें गुस्सा भर दिया और उन्होंने तलवारें
छठवें गुरु हरगोविन्द के समय में वे एक सैनिक बिरादरी बन गये; और
हुकूमत के साथ उनकी अक्सर मुठभेड़ होने लगीं। गुरु हरगोविन्द खुद दस
जहांगीर की क़ैद में रहे। नवें गुरु तेग़बहादुर औरंगज़ेब के ज़माने में हुए।
ने इनको इस्लाम क़बूल करने का हुक्म दिया और इन्कार करने पर इनको
करवा डाला। दसवें और आख़िरी गुरु गोविन्दसिंह थे। उन्होंने सिक्खों को
शाली सैनिक सम्प्रदाय बना दिया, जिसका मुख्य उद्देश्य दिल्ली के
लड़ना था। ये औरंगज़ेब की मृत्यु के एक साल बाद मरे। इनके बाद से
गुरु नहीं हुआ। कहते हैं कि गुरु के अधिकार अब सारे सिक्ख-सम्प्रदाय में
'ख़ालसा' कहलाता है।

औरंगज़ेब की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद सिक्खों ने बग़ावत कर दी।
दबा तो दिया गया, लेकिन सिक्ख लोग अपना बल बढ़ाते रहे और पंजाब में
हैसियत को मज़बूत बनाते रहे। आगे चलकर, इसी सदी के अन्त में,
रणजीतसिंह के अधीन एक सिक्ख रियासत पैदा होनेवाली थी।

ये सब बग़ावतें तो दिक़्क़त में डालनेवाली थी हीं, पर मुग़ल-साम्रा
असली ख़तरा दक्षिण-पश्चिम में मराठों की बढ़ती हुई शक्ति से था।
के राज्य में ही शाहजी भोंसले नामक एक मराठा सरदार ने सिर उठाया
पहले तो अहमदनगर की रियासत में और बाद में बीजापुर रियासत में
रहा था। लेकिन मराठों का गौरव और मुग़ल-साम्राज्य को थर्रा देनेवा
कोई था तो वह इसका पुत्र शिवाजी था, जिसका जन्म १६२७ ई० में हु
वह उन्नीस वर्ष का भी न हुआ था कि उसने लूट-मार शुरू कर दी और पूना
पहला क़िला जीत लिया। वह एक वीर सेना-नायक, छापामारों का आद
और हौसलेदार था। उसने बहादुर और मज़बूत पहाड़ियों का एक गिरोह
कर लिया, जो उसपर जान देते थे। इनकी मदद से उसने बहुत से क़िलों पर

---

[1] यन्त्रणा—शरीर को भयंकर पीड़ा पहुँचाना—जैसे गर्म लोहे से
भाले चुभोना, शिकंजे में कसना वग़ैरा।

िया और औरंगज़ेब के सिपहसालारों को खूब परेशान किया। १६६५ ई० ने अचानक सूरत पर धावा बोल दिया, जहाँ अंग्रेज़ों का कारख़ाना था, और को लूट लिया। बातों में आकर वह आगरे में औरंगज़ेब के दरबार में भी गया, जब उसके साथ एक स्वाधीन राजा का-सा बर्ताव नहीं किया गया तो उसे कि उसे नीचा दिखलाया गया है और उसका अपमान किया गया है। उसे वहाँ र लिया गया, लेकिन वह छूटकर भाग निकला। फिर भी औरंगज़ेब ने उसे का ख़िताब देकर अपनी तरफ़ मिलाने की कोशिश की।

लेकिन शिवाजी ने फिर लड़ाई छेड़ दी। दक्षिण के मुग़ल हाकिम तो इतने डर गये कि वे अपनी हिफ़ाज़त के लिए उसे धन देने लगे। यही वह -प्रसिद्ध 'चौथ' यानी लगान का चौथा अंश थी, जिसे मराठे लोग जहाँ जाते सूल करते थे। इस तरह मराठों की शक्ति तो बढ़ती गई और दिल्ली का ज्य कमज़ोर होता गया। १६७४ ई० में शिवाजी ने रायगढ़ में बड़े ठाट-के साथ राजमुकुट पहना। १६८० ई० में, उसकी मृत्यु तक वह बराबर र-जीत हासिल करता रहा।

तुम्हें मराठा प्रदेश के केन्द्र पूना शहर में रहते हुए कुछ समय हो गया है और लूम हो गया होगा कि वहाँ के लोग शिवाजी से कितना प्रेम करते हैं और कितनी पूजा करते हैं। जिस धार्मिक राष्ट्रीय जागृति का ज़िक्र मैं अभी रहा हूँ, उसका यह नमूना था। आर्थिक संकट और आम जनता की तबाही न तैयार कर दी थी; और रामदास और तुकाराम नामक दो मराठी कवियों ने अपनी कविताओं और भजनों से इसमें खाद डाल दी। इस तरह को जागृति और एकता हासिल हुई और ठीक उसी समय एक तेजस्वी पैदा हो गया, जो उनका नेता बनकर जीत दिलानेवाला था।

शिवाजी के पुत्र संभाजी को मुग़लों ने यन्त्रणाएँ देकर मरवा डाला, लेकिन कों के बाद मराठों की ताक़त फिर बढ़ने लगी। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद साम्राज्य हवा में ग़ायब होने लगा। सारे सूबेदार राजधानी से अपना तोड़कर स्वाधीन बन बैठे। बंगाल अलग हो गया। यही हाल अवध खण्ड का हुआ। दक्षिण में वज़ीर आसफ़जाह ने एक राज्य क़ायम किया, कल रियासत हैदराबाद कहलाता है। मौजूदा निज़ाम आसफ़जाह का है। औरंगज़ेब के मरने के बाद सत्रह वर्ष के भीतर ही साम्राज्य क़रीब-त्म हो गया। लेकिन दिल्ली और आगरा, बिना साम्राज्यवाले नाम बादशाह एक-के-बाद एक गद्दी पर बैठते रहे।

जैसे-जैसे साम्राज्य कमज़ोर होता गया वैसे-ही-वैसे मराठों की ताक़त बढ़ती नका प्रधान मंत्री, जो पेशवा कहलाता था, राजा पर हावी होकर असली

सत्ताधारी बन बैठा। पेशवाओं की गद्दी, जापान के शोगुनों की तरह, मानी जाने लगी और राजा पीछे ढकेल दिया गया। दिल्ली का सम्राट कमज़ोर हो गया कि उसने सारे दक्षिण में चौथ वसूल करने के मराठों के को मंज़ूर कर लिया। पेशवा को इतने पर भी संतोष न हुआ और उसने मालवा और मध्य भारत पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। १७३७ ई० में उसकी ठेठ दिल्ली के फाटक पर जा पहुँचीं। ऐसा मालूम होता था कि भारत पर मराठों का ही क़ब्ज़ा होनेवाला है। सारे देश में उनकी धाक थी। लेकिन ई० में उत्तर-पश्चिम की तरफ़ से अचानक एक हमला हुआ, जिसने ताक़त की का पलड़ा उलट दिया और उत्तर-भारत का नक़शा ही बदल दिया।

: ९२ :

भारत में अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर अंग्रेजों की विजय

१३ सितम्बर,

हम देख चुके हैं कि दिल्ली के मुग़ल-साम्राज्य की हालत बहुत ख़राब असल में यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य के लिहाज़ से तो उसकी कोई ही न थी। लेकिन दिल्ली और उत्तर भारत का इससे भी ज्यादा पतन होनेवाला जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, भारत में उन दिनों ले-भग्गुओं का बोलबाला उत्तर-पश्चिम से एक लुटेरों के राजा ने अचानक आकर धावा बोल दिया बहुत-सी ख़ून-ख़राबी और लूट-मार करके वह बेशुमार दौलत लेकर चम्पत गया। यह नादिरशाह था, जो ईरान का शाह बन बैठा था। वह शाहजहां के हुए मशहूर तख़्ते-ताऊस को भी साथ ले गया। यह भयंकर आफ़त १७३९ ई० आई और इसने उत्तर भारत को पस्त कर दिया। नादिरशाह ने अपने राज्य सरहद ठेठ सिन्ध नदी तक बढ़ा ली। इस तरह अफ़ग़ानिस्तान भारत से अलग गया। महाभारत और गान्धार के ज़माने से लगाकर भारत के सारे इतिहास अफ़ग़ानिस्तान का भारत से नज़दीकी रिश्ता रहा था। लेकिन वह अलग जा पड़ा।

सत्रह वर्ष के भीतर ही दिल्ली पर एक और धावामार लुटेरा चढ़कर यह अहमदशाह दुर्रानी था, जो अफ़ग़ानिस्तान में नादिरशाह का उत्तराधिकारी था। लेकिन इन हमलों के होते हुए भी मराठों की शक्ति लगातार बढ़ती ही और १७५८ ई० में पंजाब पर भी इनका क़ब्ज़ा हो गया। उन्होंने इन सब हुए हिस्सों पर कोई संगठित सरकार क़ायम करने की कोशिश नहीं की। अपनी मशहूर 'चौथ' वसूल कर लेते थे और राज्य का भार वहीं के लोगों पर देते थे। इस प्रकार उनको एक तरह से दिल्ली का सारा साम्राज्य विरासत में

भारत में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की लड़ाइयां.

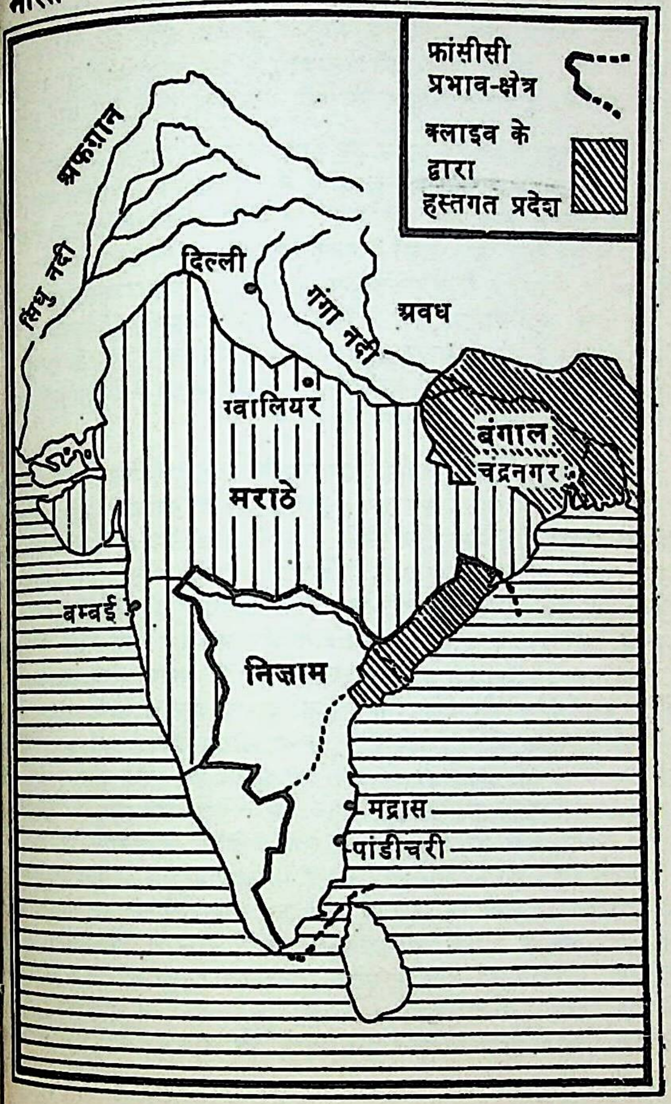
फ्रांसीसी प्रभाव-क्षेत्र
क्लाइव के द्वारा हस्तगत प्रदेश
अफगान
सिंधु नदी
दिल्ली
गंगा नदी
अवध
ग्वालियर
मराठे
बंगाल
चंद्रनगर
बम्बई
निज़ाम
मद्रास
पांडीचरी

गया। लेकिन इसके बाद ही एक बड़ी रुकावट सामने आई। उत्तर-पश्चिम दुर्रानी फिर चढ़ आया और उसने १७६१ ई० में पानीपत के पुराने जंगी में औरों की मदद से मराठों की एक बड़ी भारी फ़ौज को बुरी तरह हरा अब दुर्रानी तमाम उत्तर-भारत का मालिक बन बैठा और उसे रोकनेवाली शक्ति न थी। लेकिन विजय की इस घड़ी में उसे खुद अपने ही आदमियों झगड़े और विद्रोह का सामना करना पड़ा और वह अपने देश लौट गया।

कुछ दिनों तक तो ऐसा मालूम होता था कि मराठों की हुकूमत के दिन हो गये और उनकी कोई गिनती न रही। जो बड़ा फल वे हासिल करना चाहते वह उनके हाथ से जाता रहा। लेकिन उन्होंने धीरे-धीरे अपनी हालत फिर ली और वे एक बार फिर भारत में सबसे ज़बर्दस्त अन्दरूनी ताक़त बन गये। इसी अर्से में, जैसा कि मैं आगे बताऊँगा, इससे भी ज़्यादा ज़बर्दस्त दूसरी शक्ति प्रकट हुई, जो कुछ पीढ़ियों तक के लिए भारत के भाग्य का निबटारा करने थीं। इसी समय में कई मराठे सरदार पैदा हो गये, जो पेशवा के मातहत जाते थे। इनमें सबसे प्रमुख ग्वालियर का सिन्धिया था; बड़ौदा का गायकवाड़ और इन्दौर का होल्कर भी इन्हींमें से थे।

अब हमें दूसरी घटनाओं पर विचार करना चाहिए, जिनका ज़िक्र मैंने किया है। दक्षिण भारत में इस ज़माने की सबसे बड़ी हक़ीक़त अंग्रेज़ों और सियों की लड़ाई है। अठारहवीं सदी में यूरोप में इंग्लैण्ड और फ़्रान्स की मुठभेड़ें होती रहती थीं और उनके प्रतिनिधि भारत में भी एक दूसरे से लड़ते लेकिन कभी-कभी यूरोप में दोनों देशों में बाक़ायदा सुलह होने पर भी भारत ये लड़ते रहते थे। दोनों तरफ़ दुस्साहसी और भले-बुरे का विचार न करने हौसलेबाज़ थे, जिनकी हद से ज़्यादा कामना थी धन और शक्ति हासिल इसलिए इनके बीच घोर प्रतियोगिता होना क़ुदरती बात थी। फ़्रान्सीसियों समय सबसे ज़्यादा ज़ोरदार आदमी डूप्ले था और अंग्रेज़ों में क्लाइव। डूप्ले रियासतों के आपसी झगड़ों में दखल देने का फ़ायदेमन्द खेल शुरू किया; तो वह अपने सिखाये हुए सिपाही किराये पर दे देता और बाद में रियासत जाता। फ़्रान्सीसियों का प्रभाव बढ़ने लगा; लेकिन अंग्रेज़ों ने भी बहुत उनके तरीक़ों को अपना लिया और उससे भी आगे बढ़ गये। भूखे गिद्धों दोनों गड़बड़ी की ताक में रहते थे और उस वक़्त ऐसी गड़बड़ काफ़ी जाती थी। दक्षिण में जब कभी उत्तराधिकार के बारे में झगड़ा होता तो अंग्रेज़ एक दावेदार की और फ़्रान्सीसी दूसरे की तरफ़दारी करते दिखाई थे। पन्द्रह साल के लड़ाई-झगड़े (१७४६–१७६१ ई०) के बाद इंग्लैण्ड ने पर विजय पाई। भारत में अंग्रेज़ हौसलेबाज़ों को अपने देश की पूरी हिमायत

डूले और उसके साथियों को फ़्रान्स से ऐसी कोई सहायता नहीं मिली। जुब की बात नहीं है। भारत में रहनेवाले अंग्रेज़ों की पीठ पर ब्रिटिश ते लोग और ईस्ट इंडिया कम्पनी के हिस्सेदार दूसरे लोग थे, और वे पार्ले- और सरकार पर असर डाल सकते थे; लेकिन फ़्रान्सीसियों के ऊपर उस वक़्त लुई (महान् सम्राट् चौदहवें लुई का पोता और उत्तराधिकारी) था, के साथ सत्यानाश की ओर दौड़ रहा था। समुद्र पर अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े ने भी हुत मदद पहुँचाई। अंग्रेज़ और फ़्रान्सीसी दोनों ही भारतीय सैनिकों को, जो कहलाते थे, फ़ौजी तालीम देते थे; और चूँकि इन सिपाहियों के पास देशी से अच्छे हथियार होते थे, और इनका अनुशासन भी उनसे अच्छा होता था, इनकी बड़ी माँग रहती थी।

त, अंग्रेज़ों ने भारत में फ़्रान्सीसियों को हरा दिया और चन्द्रनगर व पांडि- फ़्रान्सीसी शहरों को बिलकुल तहस-नहस कर डाला। यह बर्बादी ऐसी हुई जगह एक भी मकान साबत न बचा। इस समय से फ़्रान्सीसियों का भारत भूमि से हटना जारी हो गया, हालाँकि बाद में उन्हें पांडिचेरी और चन्द्र- र मिल गये और आज भी उनके क़ब्ज़े में हैं, लेकिन इनका महत्व कुछ है।[1]

इस ज़माने में अंग्रेज़ों और फ़्रान्सीसियों का जंगी-मैदान सिर्फ़ भारत ही न था। के अलावा वे कनाडा और दूसरी जगहों में भी लड़े। कनाडा में भी अंग्रेज़ों की हुई। लेकिन थोड़े दिन बाद ही इंग्लैण्ड अमेरिका के उपनिवेशों से हाथ धो बैठा न्स ने इन उपनिवेशों को मदद देकर अंग्रेज़ों से अपना बदला चुकाया। लेकिन बातों के बारे में हम आगे के किसी पत्र में विस्तार के साथ विचार करेंगे।

फ़्रान्सीसियों को निकाल बाहर करने के बाद अंग्रेज़ों के रास्ते में और क्या रह गई थीं? पश्चिम में, मध्य-भारत में और कुछ हद तक उत्तर में भी गे थे ही। हैदराबाद का निज़ाम भी था। लेकिन उसकी ज़्यादा बिसात नहीं थी, दक्षिण में एक नया और शक्तिशाली दुश्मन हैदरअली था। वह पुराने नगर-साम्राज्य के बचे-खुचे टुकड़ों का, जिनसे आजकल की मैसूर रियासत नी है, स्वामी बन बैठा। उत्तर में बंगाल सिराजुद्दौला नामक एक बिलकुल आदमी के मातहत था। दिल्ली का साम्राज्य तो, जैसा कि हम देख चुके हैं, ख़याल-ही-ख़याल रह गया था। लेकिन काफ़ी मज़ेदार बात यह है कि ई० तक, यानी नादिरशाह के हमले के बहुत बाद तक, जिसने केन्द्रीय सरकार तक मिटा दी थी, अंग्रेज़ लोग दिल्ली साम्राज्य को अपनी मातहती के

---

[1] सन् १९५४ में भारत की ये फ़्रान्सीसी बस्तियाँ स्वतन्त्र भारत और के आपसी सुलहनामे के अनुसार भारत के अधिकार में आ गई हैं।

चिह्न-रूप नज़राने भेंट करते रहे। तुम्हें याद होगा कि औरंगजेब के एक बार बंगाल में अंग्रेज़ों ने सिर उठाने की कोशिश की थी। लेकिन वे हारे थे और इस हार ने उनका दिमाग़ इतना ठंडा कर दिया था कि दुबारा करने के लिए वे बहुत दिन तक आगा-पीछा सोचते रहे, हालाँकि उत्तर तो मानो किसी पक्के इरादेवाले आदमी को खुला न्यौता दे रही थी।

क्लाइव नामक अंग्रेज़, जिसकी उसके देशवासी एक महान् निर्माता की तरह तारीफ़ करते हैं, ऐसा ही पक्के इरादेवाला आदमी था। ज़ात से और अपने कारनामों से वह मिसाल पेश करता है कि साम्राज्य खड़े किये जाते हैं। वह बड़ा दिलेर, हौसलेबाज़ और हद दरजे का और अपने इरादे के सामने वह जालसाज़ी और धोखेबाज़ी से भी नहीं बंगाल का नवाब सिराजुद्दौला, जो अंग्रेज़ों की बहुत-सी कार्रवाइयों से था, अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से चढ़कर आया और उसने कलकत्ते कर लिया। 'काल-कोठरी' की कही जानेवाली दुखद घटना, कहते हैं, हुई थी। किस्सा यों बताया जाता है कि नवाब के हाक़िमों ने बहुत-से रात भर एक छोटी-सी और दम घोंटनेवाली कोठरी में बन्द कर दिया बहुत-से आदमी दम घुटने से मर गये। यह हरकत बेशक जंगली और दिल है, लेकिन यह सारा क़िस्सा एक ऐसे आदमी के बयान पर निर्भर है जो के लायक़ नहीं माना जाता। इसलिए बहुत-से लोगों का खयाल है कि क़िस्सा ज्यादातर झूठा है और कम-से-कम बढ़ा-चढ़ाकर बनाया हुआ तो

नवाब ने कलकत्ते पर क़ब्ज़ा करके जो कामयाबी हासिल की उस क्लाइव ने ले लिया। लेकिन इसके लिए इस साम्राज्य-निर्माता ने नवाब के मीर जाफ़र को ग़द्दारी करने के लिए घूस देकर और एक जाली दस्तावेज़, क़िस्सा बहुत लम्बा है, बनाकर अपने ही ढँग से काम किया। जालसाज़ी और बाज़ी के ज़रिये रास्ता साफ़ करके क्लाइव ने १७५७ ई० में नवाब को की लड़ाई में हरा दिया। जैसी लड़ाइयाँ हुआ करती हैं, उनके मुक़ाबले में छोटी थी, और इसे तो क्लाइव ने असल में अपनी साज़िशों से, लड़ाई पहले ही, क़रीब-क़रीब जीत लिया था। लेकिन पलासी की इस छोटी- का नतीजा बहुत बड़ा निकला। इसने बंगाल के भाग्य का फ़ैसला कर भारत में ब्रिटिश राज्य की शुरुआत अक्सर पलासी से ही मानी जाती है। और जालसाज़ी की इस गन्दी नींव पर भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य की खड़ी हुई। लेकिन सब साम्राज्यों और साम्राज्य-निर्माताओं का क़रीब- ढँग होता है।

भाग्यचक्र के इस अचानक परिवर्तन ने बंगाल के हौसलेबाज़ और

दिमाग़ आसमान पर चढ़ा दिया। वे बंगाल के स्वामी बन बैठे और रोकनेवाला कोई न रहा। बस, क्लाइव की सरदारी में उन्होंने बंगाल पर हाथ मारना शुरू किया और उसे बिलकुल ख़ाली कर डाला। क्लाइव २५ लाख रुपये नक़द अपनी नज़र किये और इतने पर भी सन्तोष कई लाख रुपये साल की आमदनी की बड़ी क़ीमती जागीर भी हड़प! बाक़ी के सब अंग्रेज़ों ने भी इसी तरह अपना 'हर्जाना वसूल किया'। लिए बड़ी शर्मनाक छीना-झपटी मची और ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्म- लालच और अविवेक तो सब मर्यादाओं को पार कर गये। अंग्रेज़ के नवाब-विधाता बन गये और अपनी मर्ज़ी के माफ़िक़ नवाबों को। हरेक परिवर्तन के साथ घूस और भारी-भारी नज़राने चलते थे। ज़िम्मेदारी उनपर न थी, यह तो बेचारे बदलते हुए नवाब का काम था। तो था जल्दी-से-जल्दी मालदार बन जाना।

वर्ष बाद, १७६४ ई० में, अंग्रेज़ों ने बक्सर में एक और लड़ाई जीती। यह हुआ कि दिल्ली के नाम के बादशाह ने भी उनकी मातहती ली। उन्होंने उसे पेन्शन दे दी। अब बंगाल और बिहार में अंग्रेज़ों के चुनौती देनेवाला कोई न रहा। देश से जो अपार धन वे लूट रहे थे, उससे न्तोष न हुआ और उन्होंने रुपया बटोरने के नये-नये तरीक़े निकालने। देश के अन्दरूनी व्यापार से उनको कुछ लेना-देना नहीं था। लेकिन ज़कातों को, जो देशी माल के व्यापारियों को देनी पड़ती थीं, दिये बिना करने पर उतारू हो गये। भारत की कारीगरी और व्यापार पर अंग्रेज़ों चोट थी।

भारत में अंग्रेज़ों की हैसियत अब ऐसी हो गई थी कि शक्ति और दौलत हाथ में थी, लेकिन ज़िम्मेदारी उनपर कुछ भी न थी। ईस्ट इंडिया कंपनी लुटेरों को यह पता लगाने की ज़रूरत न थी कि ईमानदारी के व्यापार, के व्यापार, और खुल्लम-खुल्ला लूट-मार में क्या फ़र्क़ है। ये वे दिन थे लोग भारत से मालामाल होकर इंग्लैण्ड लौटते थे और 'नवाब' कहलाते तुमने थैकरे[1] का 'वैनिटी फ़ेयर' पढ़ा है तो उसमें आये हुए ऐसे ही एक आदमी का तुमको ख़याल होगा।

जनीतिक जोखिम और गड़बड़ें, वर्षा की कमी, और अंग्रेज़ों की हड़पने इन सबका नतीजा यह हुआ कि १७७० ई० में बंगाल और बिहार में भयंकर अकाल पड़ा। कहा जाता है कि इन इलाक़ों की एक-तिहाई आबादी ख़त्म हो गई। इस दिल दहलानेवाली संख्या का ख़याल तो

---

[1] विलियम मेकपीस थैकरे—इंग्लैण्ड का मशहूर उपन्यासकार।

करो! कितने लाख आदमी भूख से तड़प-तड़पकर मर गये! इलाके के वीरान हो गये और वहाँ जंगल पैदा हो गये, जिन्होंने उपजाऊ खेतों और ढक दिया। भूख से मरनेवालों की मदद के लिए किसीने कुछ नहीं किया। के पास न तो ताक़त थी, न सत्ता और न इरादा। ईस्ट इंडिया कम्पनी के ताक़त और सत्ता तो थी, लेकिन वे कोई ज़िम्मेदारी या इरादा महसूस नहीं थे। उनका काम तो रुपया इकट्ठा करना और मालगुज़ारी वसूल करना उन्होंने यह काम अपनी जेबें भरने के लिए इतनी क़ाबलियत और खूबी से किया कि तुम्हें ताज्जुब होगा कि भयंकर अकाल और एक-तिहाई आबादी के बावजूद भी उन्होंने बचे हुए लोगों से मालगुज़ारी की पूरी रक़म वसूल असल में उन्होंने तो मालगुज़ारी से भी ज़्यादा वसूली करली और सरकारी में कहा गया कि यह काम उन्होंने 'ज़ोर-ज़बर्दस्ती के साथ' किया। भयानक से बचे हुए भूख से अधमरे और कम्बख़्त लोगों से जो ज़बर्दस्ती और के साथ वसूली की गई, उसके वहशीपन को पूरी तरह खयाल में मुश्किल है।

बंगाल में फ़्रान्सीसियों पर विजय के बावजूद दक्षिण में अंग्रेज़ों को दिक़्क़तों का सामना करना पड़ा। आख़िरी विजय मिलने से पहले उनको हारना और नीचा देखना पड़ा। मैसूर का हैदरअली उनका कट्टर दुश्मन वह एक कुशल और ख़ूँख़्वार सेनानायक था और उसने अंग्रेज़ी फ़ौजों को हराया। १७६९ ई० में उसने ठेठ मद्रास के क़िले के नीचे अपने माफ़िक़ शर्तें लिखवा लीं। दस साल बाद उसे फिर बहुत हद तक सफलता मिली और मृत्यु के बाद उसका पुत्र टीपू सुलतान अंग्रेज़ों की राह का कांटा बन गया। को पूरी तौर पर हराने में मैसूर के दो युद्ध और हुए और कई साल लग गये। मौजूदा मैसूर महाराजा का एक पुरखा अंग्रेज़ों की छत्रछाया में राजा की बिठलाया गया।

१७८२ ई० में दक्षिण में मराठों ने भी अंग्रेज़ों को हराया। उत्तर में के सिन्धिया का दबदबा था और दिल्ली का बेचारा अभागा सम्राट् उसकी में था।

इसी अर्से में इंग्लैण्ड से वॉरन हेस्टिंग्ज़ भेजा गया। वह यहाँ का गवर्नर जनरल हुआ। ब्रिटिश पार्लमेंट अब भारत के मामलों में दिलचस्पी लगी। हेस्टिंग्ज़ भारत के अंग्रेज़ शासकों में सबसे बड़ा माना जाता है उसके समय में भी सरकारी इन्तज़ाम बहुत भ्रष्ट और बुराइयों से भरा हुआ था। हेस्टिंग्ज़ की बहुत-सा रुपया ऐंठने की कई मिसालें मशहूर हो चुकी हैं। हेस्टिंग्ज़ इंग्लैण्ड लौटा तो भारत के प्रशासन के बारे में पार्लमेंट के सामने

गया, लेकिन बहुत दिन मुक़दमा चलने के बाद वह बरी कर दिया पहले पार्लमेंट ने क्लाइव की भी निन्दा की थी और इसपर उसने तो सच- ही कर ली। इस तरह इन लोगों की निन्दा करके या इनपर मुक़दमे ने अपने मन को समझा लिया, लेकिन दिल-ही-दिल में वह इनकी और उनकी नीति से फ़ायदा उठाने के लिए हरदम तैयार था। क्लाइव की भले ही निन्दा की गई हो, लेकिन ये लोग साम्राज्य-निर्माताओं और जबतक गुलाम क़ौमों पर जबर्दस्ती साम्राज्य लादे जायँगे और जायगा, तबतक ऐसे लोग आगे आवेंगे और क़द्र हासिल करेंगे। अलग-अलग युगों में भले ही बदलने रहें, लेकिन भावना वही रहती पार्लमेंट ने क्लाइव की निन्दा भले ही की हो, लेकिन इन लोगों ने हाल[1] में इंडिया ऑफिस[2] के सामने ही, उसकी एक मूर्ति खड़ी है; इंडिया ऑफिस के भीतर उसकी आत्मा आज तक निवास करती में अंग्रेज़ों की नीति को ढालती है।

ने अंग्रेज़ों के अंगूठे के नीचे भारतीय राजाओं को कठपुतलियों की नीति शुरू की। ऊपरी तड़क-भड़क व खाली दिमाग़वाले जो ढेरों और नवाब भारत के रंगमंच पर अकड़ते फिर रहे हैं और अपने-आपको बना रहे हैं, उसके लिए हमें हेस्टिंग्ज़ की कुछ दाद देनी चाहिए।

में जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्य बढ़ा वैसे-ही-वैसे मराठों, अफ़ग़ानों, वग़ैरा से बहुत-से-युद्ध हुए। लेकिन इन युद्धों के बारे में निराली कि हालांकि ये इंग्लैण्ड के फ़ायदे के लिए लड़े जाते थे, लेकिन इनका के सिर पड़ता था। इंग्लैण्ड या इंग्लैण्ड के निवासियों पर कोई बोझ था। वे तो मज़े से फ़ायदा उठाते रहते थे।

रहे कि भारत पर ईस्ट इंडिया कम्पनी, जो एक व्यापारी कम्पनी थी, थी। ब्रिटिश पार्लमेंट का क़ब्ज़ा बढ़ता जा रहा था, लेकिन भारत का व्यापारी मौक़ा-परस्तों की एक मंडली के हाथों में था। शासन था और व्यापार ज़्यादातर लूट था। इनके बीच में भेद की रेखा थी। कम्पनी अपने हिस्सेदारों को हर साल १०० फ़ी सदी, १५० फ़ी फ़ी सदी से ऊपर ज़बर्दस्त मुनाफ़े बांटती थी। इसके अलावा भारत अपने लिए अच्छी रक़में बना लेते थे, जैसा कि हम क्लाइव के मामले

---

[1] हाइट-हाल (White Hall) लन्दन का वह भाग है, जिसमें सरकारी

[2] इंडिया-ऑफिस—लंदन में भारत-सचिव का दफ़्तर।

में देख चुके हैं। कम्पनी के कर्मचारी व्यापार के ठेके भी ले लेते थे और इस जल्द बेशुमार दौलत बटोर लेते थे। भारत में कम्पनी की हुकूमत इस थी।

। ९३ ।

चीन का एक महान् मंचू-शासक

१५ सितम्बर,

मैं बिलकुल घबरा गया हूं और मेरी समझ में नहीं आता कि बड़ी भयानक खबर यह आई है कि बापू ने अनशन करके जान दे देने कर लिया है। मेरी छोटी-सी दुनिया, जिसमें उन्होंने इतनी बड़ी जगह है, थरथरा रही है और लड़खड़ा रही है, और मुझे चारों तरफ़ अंधेरा और नज़र आ रहा है। एक साल से ज्यादा हुआ तब मैंने उनको उस जहाज़ खड़े हुए देखा था, जो उन्हें भारत से दूर पश्चिम को ले जा रहा था— नहीं देखा, और उनकी वह तसवीर रह-रहकर मेरी आँखों के आगे आ क्या उन्हें अब मैं दुबारा नहीं देखूंगा? जब मुझे शंका होगी और नेक ज़रूरत होगी या जब मैं मुसीबत और रंज में होऊँगा और मुझे प्यार-भरे की ज़रूरत होगी तब मैं किसके पास जाऊँगा? जब हमारा प्यारा सरदार हमको प्रेरणा दी है और जो हमारा रहनुमा रहा है, चला जायगा तो हम करेंगे? हाय! भारत एक बदक़िस्मत देश है, जो अपने महान् पुरुषों को मरने देता है; और भारत के लोग गुलाम हैं और उनके दिमाग़ भी से हैं, जो खुद आज़ादी को तो भूल बैठे हैं और ज़रा-ज़रा-सी न-कुछ बातों टंटे करते रहते हैं।

मेरी तबीयत लिखने को बिलकुल नहीं कर रही है और मैंने इस सिलसिले को खत्म तक कर देने का विचार किया है। लेकिन यह की बात होगी। इस कोठरी में पड़ा-पड़ा मैं क्या कर सकता हूं, सिवाय पढ़ूं, लिखूं और विचार करूं? और जब मैं ऊबता जाता हूं और परेशान हूं तो तुम्हारा खयाल करने और तुमको पत्र लिखने से ज्यादा तसल्ली किस बात में मिल सकती है? रंज और आँसू इस दुनिया में कोई हैं। बुद्ध ने कहा है कि "सागर में जितना पानी है, उससे भी ज्यादा हैं", और कमबख्त दुनिया जबतक ठीक-ठिकाने पर आवेगी तबतक कितने आँसू और बहाये जायँगे। हमारा कर्त्तव्य अभी तक हमारे सामने एक बड़ा काम हमको अब भी बुला रहा है, और जबतक वह काम पूरा न तबतक हमको या हमारे पीछे आनेवालों को चैन नहीं मिल सकता।

मामूली ढर्रे को जारी रखने का इरादा कर लिया है और मैं पहले की तुमको पत्र लिखता रहूँगा।

आखिरी कुछ पत्र भारत के बारे में थे और जो बयान मैंने लिखा है पिछला हिस्सा कुछ नसीहत देनेवाला नहीं है। भारत चारों खाने चित्त और हरेक लुटेरे और ले-भग्गू का शिकार हो रहा था। पूर्व में उसके ई चीन की हालत इससे बहुत अच्छी थी और अब हमें चीन की तरफ़ ही चाहिए।

हें याद होगा कि मैंने तुमको मिङ-काल के ख़ुशहाल दिनों का हाल लिखा यह बतलाया था कि किस तरह उसमें ख़राबियाँ और फूट घुस गईं और उत्तरी पड़ौसी मंचुओं ने हमला करके उसे जीत लिया। १६५० ई० से र्षों में सारे चीन में मंचू लोगों के क़दम मज़बूती के साथ जम गये। इस नी राजवंश के मातहत चीन मज़बूत हो गया और दूसरों पर हमले लगा। मंचू लोग एक नई स्फुर्ति लेकर आये, और जहां एक ओर वे चीन मामलों में कम-से-कम रुकावटें डालते थे, वहाँ वे अपनी फ़ालतू शक्ति को श्चिम और दक्षिण की तरफ़ अपना साम्राज्य बढ़ाने में खर्च करते थे।

या राजवंश शुरू-शुरू में अक्सर कुछ समर्थ शासक पैदा करता है और बाद रे नालायक़ों में उसका अन्त हो जाता है। इसी तरह मंचुओं में भी कुछ योग्यतावाले और लायक़ शासक और राजनीतिक पैदा हुए। कांङ-ही म्राट हुआ। जब यह गद्दी पर बैठा तो इसकी उम्र सिर्फ़ आठ वर्ष की थी। र्षों तक वह ऐसे साम्राज्य का बादशाह रहा, जो अपने ज़माने की दुनिया भी साम्राज्य से बड़ा और ज़्यादा आबाद था। लेकिन इतिहास में उसने हासिल की है, वह न तो इस वजह से है, और न उसकी सिपाहियाना बहादुरी से। उसका नाम इसलिए अमर हुआ है कि वह एक राजनीतिज्ञ था और में ख़ास रुचि लेता था। वह १६६१ से १७२२ ई० तक सम्राट् रहा, वन वर्ष तक वह फ़्रान्स के महान् सम्राट चौदहवें लुई का समकालीन न दोनों ने बहुत ही लम्बे अर्से तक राज किया, और रेकार्ड क़ायम करने दौड़ में बहत्तर वर्ष राज्य करके लुई ने बाज़ी मार ली। इन दोनों की क दिलचस्प चीज है। लेकिन यह तुलना सब तरह से लुई को ही नीचे ती है। उसने अपने देश का सत्यानाश कर दिया और भारी क़र्जों का बोझ र पर लादकर उसे बिलकुल कमजोर बना दिया। मजहबी मामलों में भी र नहीं था। कांङ-ही कन्फ़्यूशियस का पक्का अनुयायी था, लेकिन वह हबों की तरफ़ उदार था। उसके राज में, और असल में पहले चार मंचू के राज में, मिङ-संस्कृति से कोई छेड़-छाड़ नहीं की गई। उसका ऊंचा

आदर्श बना रहा और कुछ हद तक तो उसमें तरक़्क़ी भी हुई। उद्योग-
कौशल, साहित्य और शिक्षा उसी तरह फूलते-फलते रहे जैसे कि पिछले
में। चीनी मिट्टी के अद्भुत बरतनों का बनना जारी रहा। रंगीन छपाई
ष्कार हुआ और ताम्बे पर नक़्क़ाशी का काम जेजुइट लोगों से सीखा गया

मंचू शासकों की नीतिकुशलता और सफलता का भेद इस बात में
चीन की संस्कृति के पूरे हामी बन गये थे। चीन के विचारों और संस्कृति
कर भी उन्होंने कम सभ्य मंचुओं की शक्ति और क्रियाशीलता को
इस तरह से कांङ-ही एक असाधारण और अजीब खिचड़ी था, यानी
साहित्य को लगन के साथ अध्ययन करनेवाला, संस्कृति की हलचलों में
और साथ ही कुशल सेनानायक, जिसे मुल्क जीतने का ज़रा ज्यादा शौक़
साहित्य और कला-कौशल का कोई नया शौक़ीन या दिखाऊ प्रेमी न था
गहरी दिलचस्पी और विद्वत्ता का कुछ अन्दाज़ा तुम उसके साहित्य
रखनेवाले कामों में नीचे लिखी तीन रचनाओं से लगा सकती हो,
सलाह से और ज्यादातर खुद उसी की देखरेख में तैयार की गई थीं।

तुम्हें याद होगा कि चीनी भाषा में चित्र हैं; शब्द नहीं। कांङ्-ही
भाषा का एक कोश (डिक्शनरी) तैयार करवाया। यह एक ज़बर्दस्त
जिसमें चालीस हज़ार से ज्यादा चिह्न थे और उनका इस्तेमाल
कितने ही फ़िक़रे थे। आज तक भी उसकी जोड़ का कोई ग्रंथ नहीं है।

कांङ्-ही के उत्साह ने हमें जो एक और रचना दी, वह एक बड़ा
विश्वकोश है, जो कई सौ जिल्दोंवाला एक अद्भुत ग्रंथ है। यह एक पूरा
था; इसमें हरेक बात को लिया गया था, हरेक विषय पर विचार किया
कांङ्-ही की मृत्यु के बाद यह ग्रन्थ ताम्बे के ठप्पों से छापा गया।

महत्व की जिस तीसरी रचना का मैं यहाँ ज़िक्र करूँगा, वह
के साहित्य का निचोड़, यानी ऐसा कोश, जिसमें शब्दों को और पुस्तकों
को जमा किया गया और उनका मुक़ाबला किया गया था। यह भी
धारण काम था, क्योंकि इसके लिए सारे चीनी साहित्य का गहरा अध्ययन
था। कवियों, इतिहास-लेखकों और निबन्ध-लेखकों की रचनाओं की
इबारतें इसमें दी गई थीं।

कांङ्-ही ने साहित्य के मैदान में और भी कितने ही काम किये
किसी पर भी छाप डालने के लिए ये तीन ही काफ़ी हैं। इनमें से किसी
टक्कर का ऐसा कोई आधुनिक ग्रंथ मेरी निगाह में नहीं आता, सिवाय
'ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' के, जिसे बनाने में कितने ही विद्वानों ने
से ज्यादा मेहनत की और जो अभी कुछ ही वर्ष हुए पूरी हुई है।

कांङ्-ही ईसाई मज़हब और ईसाई मिशनरियों की तरफ़ काफ़ी झुका हुआ ह विदेशों के साथ व्यापार को बढ़ावा देता था और उसने चीन के सारे ह इसके लिए खोल दिए थे। लेकिन उसे जल्दी ही पता लग गया कि यूरोप बदमाशी करते हैं और उन पर पाबन्दी लगाने की ज़रूरत है। उसे यह गया, जिसके लिए काफ़ी सबूत थे, कि मिशनरी लोग चीन को आसानी लेने के लिए अपने-अपने देश की सरकारों के साम्राज्यवादियों के साथ कर रहे हैं। इससे उसे ईसाइयत की तरफ़ अपना उदार रवैया छोड़ ा। बाद में कैन्टन के चीनी फ़ौजी अफ़सर से जो रिपोर्ट मिली, उससे उसके जबूत हो गये। इस रिपोर्ट में बतलाया गया था कि फ़िलिपाइन और जापान की सरकारों और उनके सौदागरों और मिशनरियों के बीच में कितना ताल्लुक़ था। इसलिए इस अफ़सर ने यह सिफ़ारिश की थी कि बाहरी और विदेशियों की साज़िशों से साम्राज्य को बचाने के लिए विदेशी व्यापार न्दी लगाई जाय और ईसाइयत के प्रचार को बन्द किया जाय।

यह रिपोर्ट १७१७ ई० में पेश की गई थी। पूर्वी देशों में विदेशियों की ों पर और उनकी उन नीयतों पर यह काफ़ी रोशनी डालती है, जिनकी वजह शों को विदेशी व्यापार और ईसाइयत के प्रचार पर पाबन्दी लगानी पड़ी। ायद यह याद होगा कि जापान में भी ऐसी ही घटना हुई थी, जिसकी वजह से को दूसरों के लिए बन्द कर दिया गया था। अक्सर यह कहा जाता है ी व दूसरे लोग पिछड़े हुए और जाहिल हैं और विदेशियों से नफ़रत करते उनकी तिजारत के रास्ते में दिक्क़तें पैदा करते हैं। लेकिन सच तो यह मने इतिहास का जो सिंहावलोकन किया है, उससे यह साफ़ ज़ाहिर हो जाता बहुत पुराने ज़माने से भारत, चीन व दूसरे देशों के बीच खूब आवा-जाई ी। विदेशियों या विदेशी व्यापार से नफ़रत करने का तो कोई सवाल ही । सच तो यह है कि बहुत वर्षों तक तो विदेशी मंडियों पर भारत का ही रहा। जब विदेशी व्यापारियों के रिसाले खुल्लम-खुल्ला पश्चिमी यूरोप तियों के साम्राज्य को बढ़ाने के काम में लाये जाने लगे, तभी जाकर पूर्व में सन्देह की नज़र से देखा जाने लगा।

कैन्टन के अफ़सर की रिपोर्ट को चीन की बड़ी राज्य परिषद् ने विचार करके कर लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि सम्राट् कांङ्-ही ने उसके मुताबिक़ करके विदेशी व्यापार और पादरियों के प्रचार पर सख्त पाबन्दी लगाने जारी कर दिये।

अब मैं थोड़ी देर के लिए खास चीन को छोड़कर तुम्हें एशिया के उत्तर की यानी साइबेरिया, ले जाना चाहता हूं और यह बतलाना चाहता हूं कि यहां

क्या हो रहा था। साइबेरिया का लम्बा-चौड़ा मैदान सुदूर-पूर्व के चीन को के रूस से मिलाता है। मैं कह चुका हूँ कि चीन का मंचू साम्राज्य बड़ा स इसमें मंचूरिया तो शामिल था ही, लेकिन यह मंगोलिया और उसके परे फैला हुआ था। सुनहरे क़बीले के मंगोलों को वाहर निकालकर रूस मज़बूत केन्द्रीय राज्य वन गया था और पूर्व में साइबेरिया के मैदानों की त रहा था। ये दोनों साम्राज्य अव साइबेरिया में आकर मिलते हैं।

एशिया में मंगोलों का तेजी के साथ कमज़ोर होकर गिर जाना की एक अजीब घटना है। ये लोग, जिनका डंका सारे एशिया और यूरोप में था और जिन्होंने चंगेज़खां और उसके वंशजों के मातहत उस वक़्त को का ज्यादातर हिस्सा जीत लिया था, विलकुल भुला दिये गए। तैमूर के में कुछ दिनों तक उन्होंने फिर सिर उठाया था, लेकिन उसका साम्राज्य साथ ख़त्म हो गया। उसके बाद उसके वंश के कुछ लोग, जो तैमूरिया कह मध्य एशिया में हुकूमत करते रहे और हमको मालूम है कि उनके दर चित्रकला की एक मशहूर क़लम का विकास हुआ। भारत में आनेवाला तैमूरिया था। लेकिन इन तैमूरिया शासकों के वजाय रूस से लगाकर जन्मभूमि मंगोलिया तक सारे एशिया में मंगोल जाति गिरकर अपना साव खो बैठी। उसने ऐसा क्यों किया, यह कोई नहीं वतला सकता। कुछ लो राय है कि आबहवा का इसमें कुछ हाथ है, दूसरे लोगों की दूसरी राय है। भी हो, आज तो इन पुराने विजेताओं और हमलावरों पर ख़ुद ही सव तरफ़ हो रहे हैं।

मंगोल साम्राज्य के तहस-नहस हो जाने के वाद क़रीब-क़रीब दो तक एशिया में होकर जानेवाले ख़ुश्की के रास्ते वन्द रहे। सोलहवीं पिछले हिस्से में रूसियों ने ज़मीन के रास्ते चीन को राजदूत भेजे। उन्होंने सम्राटों से राजनयिक सम्बन्ध क़ायम करने की कोशिश की, लेकिन नहीं हुए। थोड़े दिन वाद ही यरमक नामक एक रूसी डाकू ने क़ज़्ज़ाकों दस्ते का नायक बनकर यूराल पहाड़ों को लाँघा और सिबिर के छोटे-से रा जीत लिया। साइबेरिया का नाम इसी राज्य के नाम से निकला है।

यह घटना १५८१ ई० की है। इस तारीख़ से रूसी लोग पूर्व की लगातार आगे ही बढ़ते गये, यहाँ तक कि लगभग पचास वर्ष में वे प्रशान्त मह तक पहुँच गये। जल्द ही आमूर की घाटी में उनकी चीनियों से मुठभेड़ हुई। में लड़ाई हुई, जिसमें रूसियों की हार हुई। १६८९ ई० में दोनों देशों में न की सन्धि हुई। सरहदें तय कर दी गईं और व्यापार के वारे में समझौता गया। यूरोप के एक देश के साथ चीनियों की यह पहली सन्धि थी। इस

आगे बढ़ना तो रुक गया, लेकिन कारखानों के व्यापार में बड़ी भारी तरक्की ज़माने में महान् पीटर रूस का ज़ार था और वह चीन से नज़दीकी क़ायम करना बहुत चाहता था। उसने कांङ-ही के पास दो बार राजदूत और बाद में चीन के दरबार में एक स्थायी राजदूत मुक़र्रर कर दिया।

चीन में तो बहुत पुराने ज़माने से ही विदेशी राजदूत आते रहते थे। किसी पत्र में ज़िक्र कर चुका हूँ कि रोमन सम्राट् मार्क ऑरेलो एन्तोनिन के बाद दूसरी सदी में एक राजदूत-मंडल भेजा था। यह भी दिलचस्पी की कि जब १६५६ ई० में हालैण्ड और रूस के राजदूत-मंडल चीन के दरबार तो वहाँ उन्होंने महान् मुग़ल के राजदूत देखे। ये ज़रूर शाहजहाँ के भेजे थे।

: ९४ :

चीनी सम्राट् का अंग्रेज़ बादशाह को पत्र

१६ सितम्बर, १९३२

मालूम होता है कि मंचू सम्राट् ग़ैर-मामूली तौर पर लम्बी उम्रवाले होते ङ्-ही का पोता चियन-लंङ चौथा सम्राट् हुआ। इसने भी १७३६ से १७९६ यानी साठ वर्ष के बहुत ही लम्बे अर्से तक राज किया। दूसरी बातों में अपने दादा के ही समान था। इसकी भी खास दिलचस्पी दो बातों में थी, के काम और साम्राज्य का विस्तार। इसने रक्षा करने लायक साहित्य ग्रंथों की बड़ी भारी खोज करवाई। इनको इकट्ठा किया गया और बड़ी के साथ इनका सूचीपत्र बनाया गया। इसके लिए सूचीपत्र शब्द मौज़ूं क्योंकि हरेक ग्रंथ के बारे में जितनी भी बातें मालूम हो सकीं, वे सब लिखी और साथ ही उनपर आलोचना की टिप्पणियाँ भी जोड़ दी गईं। शाही पुस्त-का यह बड़ा तफ़सीली सूचीपत्र चार हिस्सों में था—प्राचीन ग्रन्थ यानी यन मत के ग्रंथ, इतिहास, दर्शन और सामान्य साहित्य। कहा जाता है जोड़ का ग्रंथ दुनिया में और कहीं नहीं है।

इसी ज़माने में चीनी उपन्यासों, छोटी कहानियों और नाटकों का विकास और ये बड़े ऊंचे दर्जे तक जा पहुंचे। यह बात ध्यान देने लायक़ है कि उन दिनों में भी उपन्यास का विकास हो रहा था। चीनी के बरतनों और चीनी कला री नफ़ीस चीज़ों की यूरोप में माँग थी और इसकी तिजारत का ताँता बन्ध था। चाय के व्यापार की शुरुआत और भी दिलचस्प है। यह प्रथम मंचू के ज़माने में शुरू हुआ। इंग्लैण्ड में चाय शायद चार्ल्स द्वितीय के ज़माने थी। अंग्रेज़ी के मशहूर डायरी-लेखक सेम्युएल पेपीज़ की डायरी में

चिन-लुंग का साम्राज्य १७९६ ई०

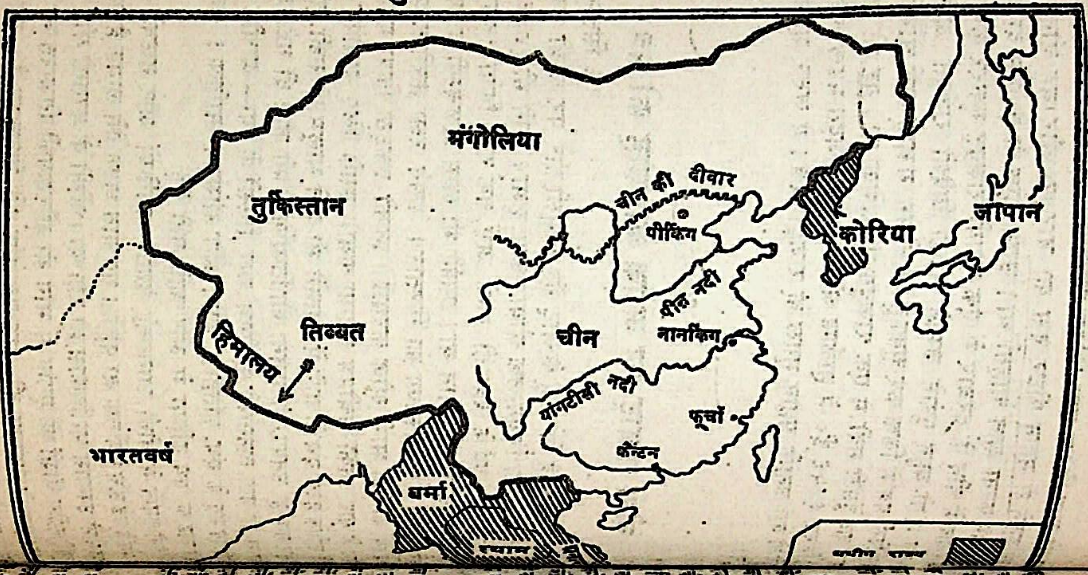
जापान
कोरिया
मंगोलिया
चीन की दीवार
पीकिंग
ह्वांग नदी
तुर्किस्तान
तिब्बत
हिमालय
चीन
नानकिंग
याँगटीसी नदी
फूचौ
कैन्टन
भारतवर्ष
बर्मा
स्याम
अधीन राज्य

ई० में सबसे पहले 'टी' (एक चीनी पेय) पीने के बारे में एक इन्दिराज य के व्यापार में बड़ी ज़बर्दस्त तरक्क़ी हुई और दो सौ वर्ष बाद, १८६० ं, अकेले फ़ूचू नामक चीनी बन्दरगाह से, एक मौसम में, दस करोड़ पौंड बाहर भेजी गई। बाद में दूसरी जगहों में भी चाय की खेती होने लगी, और कि तुमको मालूम है, आजकल भारत और लंका में चाय बहुतायत से पैदा है।

चियन-लुंङ ने मध्य एशिया में तुर्किस्तान को जीतकर और तिब्बत पर क़ब्जा अपना साम्राज्य बढ़ाया। कुछ वर्ष बाद, १७९० ई०, में, नेपाल के गुरखों ने पर चढ़ाई की। इस पर चियन-लुंङ ने न केवल गुरखों को तिब्बत से ही मार बल्कि हिमालय के ऊपर होकर नेपाल तक उनका पीछा कियां और नेपाल नी साम्राज्य की तावेदार रियासत बनने को मजबूर कर दिया। नेपाल पर विजय एक मार्के की सफलता है। चीन की फ़ौज का तिब्बत और फिर हिमालय ांघना, और गुरखों जैसी लड़ाका क़ौम को, ख़ास उन्हींके घर में हरा देना की बात है। सिर्फ़ वाइस वर्ष बाद, १८१४ ई० में ऐसी घटना हुई कि भारत ेज़ों का नेपाल से झगड़ा हो गया। उन्होंने नेपाल को एक फ़ौज भेजी, लेकिन ड़ी दिक्क़तों का सामना करना पड़ा, हालांकि उसे हिमालय नहीं लांघना था।

चियन-लुंङ के शासन के आख़िरी वर्ष में यानी १७९६ ई० में जो साम्राज्य उसके क़ब्ज़े में था, उसमें मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत और तुर्किस्तान शामिल सकी सत्ता को माननेवाली ताबेदार रियासतें थीं कोरिया, अनाम, स्याम रमा। लेकिन देश-विजय और सैनिक कीर्ति की लालसा बड़े खर्चीले खेल हैं। बड़ा भारी खर्चा होता है और टैक्सों का भार बढ़ता जाता है। यह भार ज़्यादा ग़रीबों पर ही पड़ता है। उस वक़्त आर्थिक परिवर्तन भी हो रहे थे, असन्तोष की आग और भी बढ़ी। देशभर में राज्य के ख़िलाफ़ गुप्त समितियाँ हो गईं। इटली की तरह चीन भी गुप्त समितियों के लिए काफ़ी मशहूर है। इनमें से कुछ के नाम भी मज़ेदार थे, जैसे श्वेत-कमल समिति; दैवी-न्याय ; श्वेत-पंख समिति; स्वर्ग और पृथ्वी समिति।

इस दौरान में सब तरह की पाबन्दियों के होते हुए भी विदेशी व्यापार बढ़ था। पाबन्दियों के कारण विदेशी व्यापारियों में बड़ा भारी असन्तोष व्यापार का सबसे बड़ा हिस्सा ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में था, जिसने तरह पैर फैला रक्खे थे, इसलिए पाबन्दियां सबसे ज्यादा इसी को अखरती जैसा कि हम आगे के पत्रों में देखेंगे, यह ज़माना वह था, जबकि औद्योगिक के नाम से पुकारी जानेवाली क्रान्ति शुरू हो रही थी और इंग्लैण्ड इसका

अगुआ बन रहा था। भाप का इंजन ईजाद हो चुका था और नये तरीक़ों और
के इस्तेमाल से काम आसान होरहा था और पैदावार बढ़ रही थी—
सूती माल की। यह जो फ़ालतू माल बन रहा था, उसका बिकना भी ज़
इसलिए नई-नई मण्डियाँ तलाश की जाती थीं। इंग्लैण्ड बड़ा खुशकि
कि ठीक इसी वक़्त भारत उसके क़ब्ज़े में था, जिससे वह यहां अपने
ज़बर्दस्ती बिकवाने का इन्तज़ाम कर सकता था, जैसाकि उसने असल में
भी, लेकिन वह चीन के व्यापार को भी हथियाना चाहता था।

इसलिए १७९२ ई० में ब्रिटिश सरकार ने लार्ड मैकार्टनी के ने
एक राजदूत-मंडल पेकिंग भेजा। उस समय जार्ज तृतीय इंग्लैण्ड का बाद
चियन-लुंङ ने राजदूतों को दरबार में मुलाक़ात के लिए बुलाया और दोनों
नज़राने दिये-लिये गए। लेकिन सम्राट् ने विदेशी व्यापार पर लगी हुई
पाबन्दियों में कुछ भी हेर-फेर करने से इन्कार कर दिया। चियन-लुंङ ने जो
तीसरे जार्ज को भेजा था, वह बड़ा मज़ेदार ख़रीता है और मैं उसमें से एक
हिस्सा यहाँ देता हूँ। उसमें लिखा है:

> “. . .ऐ बादशाह, तू बहुत-से समुद्रों की सीमाओं से परे रह
> है, फिर भी हमारी सभ्यता से कुछ फ़ायदा उठाने की विनीत इच्छा से
> मजबूर होकर तूने एक राजदूत-मंडल भेजा है, जो अदब के साथ तेरी
> अर्ज़ी लेकर आया है. . . .। अपनी भक्ति का सबूत देने के लिए तूने
> अपने देश की बनी हुई चीज़ें भी सौग़ात में भेजी हैं। मैंने तेरी अर्ज़ी
> को पढ़ा है। जिन हार्दिक शब्दों में वह ढाली गई है उनसे तेरी आदर-
> भरी नम्रता ज़ाहिर होती है जो बहुत ज़्यादा तारीफ़ के लायक
> है। . . . .
>
> “सारी दुनिया पर राज करनेवाला होते हुए भी मेरी निगाह में
> सिर्फ़ एक ही लक्ष्य है, यानी बेदाग़ शासन क़ायम रखना और राज्य
> के कर्त्तव्यों को निभाना; अजीब और बेशक़ीमती चीज़ों से मुझे दिल-
> चस्पी नहीं है। मुझे. . . .तेरे देश की बनी हुई चीज़ों की ज़रूरत नहीं
> है। ऐ बादशाह, तुझे मुनासिब है कि मेरी भावनाओं का आदर करे
> और भविष्य में इससे भी ज़्यादा भक्ति और वफ़ादारी दिखलाये
> ताकि तू सदा हमारे सिंहासन की छत्रछाया में रहकर अपने देश के
> लिए आगे को अमन और खुशहाली हासिल कर सके। . . . .
>
> “डर से काँपते हुए हुक्म बजा, और लापरवाही मत कर!”

तीसरे जार्ज और उसके मन्त्रियों ने जब यह उत्तर पढ़ा होगा तो वे
सक्ते में आ गये होंगे। लेकिन ऊँची सभ्यता में जो पक्का विश्वास और

बड़प्पन इस जवाब में झलकता है, उनका आधार असल में टिकाऊ न था। कार मजबूत दिखलाई पड़ती थी और लिन-लुंङ के अधीन वह मज़बूत थी भी। बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था उसकी नींव को खोखला कर रही थी। जिन तियों का मैंने ज़िक्र किया है, वे इसी असन्तोष को बतलानेवाली थीं। दिक़्क़त यह थी कि देश को इन नये आर्थिक परिवर्तनों के अनुकूल नहीं जा रहा था। दूसरी तरफ़ पश्चिम के देश इस नई व्यवस्था के अगुआ थे। तेज़ी के साथ आगे बढ़ रहे थे और दिन-पर-दिन मज़बूत होते जाते थे। चियन-लुंङ ने इंग्लैण्ड के जार्ज तृतीय को जो बड़ा गर्वीला जवाब भेजा था द सत्तर साल भी न बीतने पाये थे कि इंग्लैण्ड और फ़्रान्स ने चीन को नोचा दिया और उसके घमण्ड को धूल में मिला दिया।

चीन के बारे का यह क़िस्सा तो मैं अपने दूसरे पत्र में बयान करूँगा। ई० में, चियन-लुंङ की मृत्यु पर हम अठारहवीं सदी के लगभग अन्त तक जाते हैं। लेकिन इस सदी के ख़त्म होने से पहले अमेरिका और यूरोप में असाधारण घटनाएँ हो चुकी थीं। असल में यूरोप में होनेवाले युद्धों और के ही कारण लगभग पच्चीस वर्ष तक चीन में यूरोप का दबाव कम रहा। अगले पत्र में हम यूरोप की तरफ़ रुख़ करेंगे और अठारहवीं सदी के शुरू का सिलसिला शुरू करेंगे। और भारत तथा चीन की घटनाओं से उसका लायेंगे।

लेकिन इस पत्र को समाप्त करने के पहले मैं पूर्व में रूस की प्रगति का हाल बतलाऊंगा। रूस और चीन के बीच १६८१ ई० की नरखिन्स की सन्धि क़रीब डेढ़-सौ वर्ष तक पूर्व में रूस का प्रभाव बढ़ता ही गया। १७२८ ई० बेरिंग नामक एक डेनमार्क-निवासी कप्तान ने, जो रूस में नौकर था, और अमेरिका को अलग करनेवाले जलडमरूमध्य की खोज की। शायद हो कि यह डमरूमध्य आज भी उसके नाम पर बेरिंग का जल-डमरूमध्य है। बेरिंग समुद्र को पार करके अलास्का जा पहुँचा और उसे उसने घोषित कर दिया। अलास्का समूरों[1] के लिए बहुत मशहूर है, और खालों की चीन में बड़ी भारी माँग थी, इसलिए रूस और चीन के बीच का एक ख़ास व्यापार क़ायम हो गया। अठारहवीं सदी के अन्त में खालों वग़ैरा की माँग चीन में इस क़दर बढ़ गई कि रूस इनको कनाडा खाड़ी से इंग्लैण्ड के रास्ते मंगवाकर, साइबेरिया में बैकाल झील के पास

---

[1] समूर—अलास्का (उत्तरी अमेरिका) में एक लोमड़ी होती है, जिसके मुलायम होते हैं। इसकी खाल के गुलूबन्द बनते हैं, जो बड़े क़ीमती होते में समूर के बालों को फर (Fur) कहते हैं।

कियाख्ता की समूरी खालों की बड़ी मारी मंडी को भेजने लगा। ये सपू कितनी ज़बर्दस्त यात्रा करके आती थीं।

ज़रा परिवर्तन के लिए यह पत्र इस तरह के मेरे ज्यादातर पत्रों से मुझे उम्मीद है कि यह परिवर्तन तुम पसन्द करोगी।

: ९५ :

अठारहवीं सदी के यूरोप में विचारों की लड़ाई

१० सितम्बर,

अब हम वापस यूरोप की तरफ़ चलेंगे और उसके बदलते हुए ग़ौर करेंगे। यह उन ज़बर्दस्त परिवर्तनों की शुरुआत का वक़्त है, जिनक संसार के इतिहास पर पड़ा। इन परिवर्तनों को समझने के लिए हमको तहों में झांकना पड़ेगा और यह जानने की कोशिश करनी पड़ेगी कि लोगों के में क्या-क्या बातें चक्कर लगा रही थीं। क्योंकि जो कुछ क्रिया हमको पड़ती है, वह विचारों और आवेशों, निजी भावनाओं और अन्ध-विश्वासों, और दहशतों की गुत्थी का नतीजा होती है; और जबतक कि हम कि के साथ-साथ उसके कारणों पर विचार न करें तबतक अकेले उसे समझना हो जाता है। लेकिन यह आसान नहीं है, और अगर मैं इतिहास की घटनाओं को ढालनेवाले इन कारणों और प्रेरक ताक़तों पर ठीक तौर से लायक़ भी होऊँ, तो भी मैं यह कभी न चाहूँगा कि इन पत्रों को और भी नीरस और बोझिल बना दूं। मुझे डर रहता है कि कभी-कभी किसी विषय के या किसी नज़रिये के बारे में अपने जोश में मैं ज़रूरत से ज्यादा गहराई में जाऊँ। लेकिन मैं लाचार हूँ। तुम्हें यह बर्दाश्त करना पड़ेगा। फिर भी कारणों की ज़्यादा गहराई में नहीं जा सकते। लेकिन इनको छोड़ देना भी प की बेवक़ूफ़ी होगी; और अगर हम ऐसा करें भी तो इतिहास की मोहि महत्व को नहीं देख पायेंगे।

सोलहवीं सदी में और सत्रहवीं सदी के पहले हिस्से में यूरोप में जो पुथल और हलचलें मचीं उन पर हमने विचार कर लिया है। सत्रहवीं सदी के में वैस्टफैलिया की सन्धि हुई (१६४८ ई०), जिससे उस भीषण 'तीस युद्ध' का अन्त हो गया। एक साल बाद ही इंग्लैण्ड का गृह-युद्ध खत्म हो चार्ल्स प्रथम का सिर उड़ा दिया गया। इसके बाद कुछ-कुछ शान्ति के दिन यूरोप का महाद्वीप बिलकुल पस्त हो गया था। अमेरिका के और दूसरी उपनिवेशों के साथ व्यापार से यूरोप में धन आने लगा, जिससे कुछ राह और वर्गों की आपसी तनातनी कम हुई।

ण्ड में ऐसी बिना हिंसा की क्रान्ति हुई कि जिसने दूसरे जेम्स को निकाल ा और पार्लमेण्ट को विजयी बना दिया (१६८८ ई०)। असली लड़ाई ट ने चार्ल्स प्रथम के ख़िलाफ़ गृह-युद्ध में जीती थी। इस अहिंसक क्रान्ति ी उसी फ़ैसले पर मुहर लगा दी, जो चालीस साल पहले तलवार के ज़ोर हुआ था।

तरह इंग्लैण्ड में बादशाह का महत्व कम हो गया। लेकिन यूरोप में, ज़रलैण्ड और हालैण्ड-जैसे कुछ छोटे-छोटे इलाक़ों के हालत इससे । वहाँ तो अभी निरंकुश और मनमौजी राजाओं का बोलबाला था और हान् बादशाह चौदहवें लुई को नमूना व आदर्श मानकर उसकी नक़ल थी। यूरोप में सत्रहवीं सदी क़रीब-क़रीब चौदहवें लुई की ही सदी थी। राजा लोग पूरी शान-शौक़त व दौलतमन्दी व बेवकूफ़ी के साथ निरं- खेल खेल रहे थे, आगे आनेवाले बुरे नतीजे की उनको कोई फ़िक्र न इंग्लैण्ड के चार्ल्स प्रथम पर जो बीती उससे ही नसीहत लेना चाहते दावा था कि देश की सारी सत्ता और सारी दौलत उनकी ही है और देश नकी निजी जागीर है। चार सौ साल से ज़्यादा हुए तब हालैण्ड के मक एक विद्वान् ने लिखा था:

> इंसानों को तमाम चिड़ियों में एक ईगल ही बादशाह का नमूना र आया है, जो न तो सुन्दर है, न सुरीला, न खाने लायक़, बल्कि खोर, मुक्खड़, सबकी घृणा का पात्र, सबकी लानत का और नुक़सान पहुँचाने की बहुत बड़ी ताक़त रखनेवाला, नुकसान पहुंचाने की इच्छा में सबसे बढ़कर है।"

बादशाहों का क़रीब-क़रीब लोप हो चुका है और जो बचे हैं, वे कुछ के बचे-खुचे चिह्न हैं, उनके हाथ में कुछ भी ताक़त नहीं है। अब हम र कर सकते हैं। लेकिन उनकी जगह दूसरे और उनसे भी ज़्यादा आदमियों ने ले ली है। और नये युग के इन लोहे, तेल, चांदी व सोने वादी बादशाहों का सही चिह्न अब भी ईगल ही है।

की बादशाहतें मज़बूत केन्द्रीय सत्तावाले राज्य बन गये। सरदार के पुराने सामन्तशाही विचार ख़त्म हो चुके थे, या हो रहे थे। ई और एक हस्ती है—यह नया ख़याल इसकी जगह ले रहा था। र मेज़ारिन नामक दो बहुत योग्य मन्त्रियों के समय में फ़्रान्स इसका । इस तरह राष्ट्रीयता का और कुछ हद तक देशभक्ति का उदय जो अभी तक मनुष्यों के जीवन का सबसे ज़्यादा महत्ववाला तत्व

था, अब ओझल होने लगा और उसकी जगह नये विचारों ने ले ली, इसी पत्र में आगे चलकर बताऊँगा।

सत्रहवीं सदी का इस वजह से और भी ज़्यादा महत्व है कि उसमें विज्ञान की नींव पड़ी और सारी दुनिया की हाट बन गई। इस विशाल ने क़ुदरती तौर पर यूरोप की पुरानी अर्थ-व्यवस्था को उलट दिया और यूरोप, एशिया और अमेरिका में जो कुछ भी हुआ वह तभी समझ में आ जब इस नई हाट को नज़र के सामने रक्खा जाय। बाद में विज्ञान हुई और इसने इस संसार-व्यापी हाट की मांग को पूरा करने के साधन दिये।

अठारहवीं सदी में उपनिवेश और साम्राज्य बढ़ानें की होड़ का, जो इंग्लैण्ड और फ़ान्स के बीच चली, नतीजा यह हुआ कि न सिर्फ़ यूरोप में कनाडा, और जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, भारत में भी, युद्ध छिड़ गये। में इन युद्धों के बाद फिर कुछ कम अशान्ति का ज़माना आया। यूरोप सतह शान्त और बे-हलचल नज़र आने लगी। यूरोप के सारे शाही दरबार सभ्य, शाइस्ता और मंजे हुए भद्र पुरुषों और महिलाओं से भरे थे। शान्ति सिर्फ़ ऊपरी सतह पर थी। भीतर-ही-भीतर खलबली मच रही थी विचारों व भावनाओं से लोगों के दिमाग़ परेशान और उथल-पुथल हो और दरबारों की लुभावनी मंडली और ऊंपर के वर्गों को छोड़कर ज़्यादातर लोगों को बढ़ती हुई ग़रीबी की वजह से दिन-पर-दिन ज़्यादा झेलनी पड़ रही थीं। इसीलिए अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में शान्ति नज़र आती थी वह बड़ी धोखा देनेवाली थी; वह तो आने की सूचना देनेवाली थी। १७८९ ई० की १४वीं जुलाई को यूरोप की बादशाहत की राजधानी पेरिस में तूफ़ान की शुरुआत हुई। इस तूफ़ान में शाहत और सैकड़ों ही दूसरे पुराने और काई-लगे रिवाज और रियायतें

इस तूफ़ान की और बाद में होनेवाले परिवर्तन की तैयारी और कुछ-कुछ यूरोप के दूसरे देशों में भी, बहुत दिनों से नये विचारों हो चुकी थी। मध्य युगों के शुरू से अख़ीर तक यूरोप में मज़हब का ही बोलबाला था। बाद में रिफ़ार्मेशन के ज़माने में भी यही हालत सवाल पर, चाहे वह राजनीतिक हो या आर्थिक, मज़हबी नज़रियेसे विचार जाता था। मज़हब एक संगठित चीज़ था और उसका अर्थ था पोप और संघ के दूसरे ऊंचे अधिकारियों की मर्ज़ी। समाज का संगठन बहुत-कुछ ऐसा जैसा भारत में जातियों का। शुरू में जाति का मतलब था समाज का क़ौमों के मुताबिक़ बंटवारा। मध्य युगों में समाज के बारे में लोगों के

ड़ में पेशों के मुताबिक़ समाजी वर्गों की यही भावना थी। हरेक वर्ग की हरेक जाति की तरह, बराबरी की भावना थी। लेकिन किन्हीं दो जातियों के बीच में विषमता थी। समाज का सारा ढाँचा ही इस की नींव पर खड़ा था और कोई इसपर ऐतराज़ करनेवाला न था। स्था से जिनको तक़लीफ़ होती थी, उनसे कहा जाता था कि "इसका इनाम र्ग में मिलेगा। इस तरह मज़हब इस अन्यायी समाजी व्यवस्था को क़ायम कोशिश करता था और परलोक की बात करके लोगों का ध्यान इस तरफ़ की कोशिश करता था। जो अमानतदारी का उसूल कहलाता है, उसका करता था, यानी यह कि धनवान आदमी एक तरह से ग़रीबों का अमानत- ज़मींदार अपनी ज़मीन को काश्तकार की 'अमानत' की तरह रखता ड़ी बेतुकी सूरत को समझने का ईसाई-संघ का यही तरीक़ा था। इससे तो कुछ बिगड़ता न था, पर ग़रीबों को कोई तसल्ली नहीं होती थी। में भोजन की जगह स्यानपत की समझावनों से काम नहीं चल सकता।

लिकों और प्रोटेस्टेण्टों के सख़्त मज़हबी युद्ध, कैथलिकों व कैलविन इयों का मज़हबी-वैर-भाव और इनक्विज़िशन, ये सब इस घोर मज़हबी दायी नज़रिये के ही नतीजे थे। ज़रा इसका विचार तो करो! कहा कि यूरोप में ज़्यादा करके प्यूरिटनों ने लाखों स्त्रियों को डायनें बतला- जला डाला। विज्ञान के नये विचारों को दबाया जाता था, क्योंकि ये के नज़रिये से टक्कर खानेवाले समझे जाते थे। ज़िन्दगी के बारे में यह और जड़ था; प्रगति का कोई सवाल ही न था।

देखते हैं कि सोलहवीं सदी से लगाकर आगे ये विचार धीरे-धीरे बदलते देते हैं। विज्ञान का उदय होता है और मज़हब का सबको जकड़नेवाला पड़ जाता है; राजनीति और अर्थशास्त्र मज़हब से अलग समझे जाते है कि सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में बुद्धिवाद, यानी अन्धविश्वास न तर्क, बढ़ता है। यह माना जाता है कि मज़हबी उदारता की विजय अठारहवीं सदी ने ही क़ायम की। कुछ हद तक यह सही भी है। लेकिन असली मतलब यह था कि लोग अपने मज़हब को अब उतना महत्व जितना पहले दिया करते थे। यह उदारता क़रीब-क़रीब लापरवाही लोगों में किसी बात के लिए बहुत ज़्यादा जोश होता है तो उस बारे में करना उनके लिए दुश्वार होता है; लेकिन जब वे उस बात की परवाह सिर्फ़ तभी वे इनायत के साथ अपनी उदारता का ढिंढोरा पीटते हैं। और बड़ी मशीनों के प्रचार के साथ मज़हब की तरफ़ से लोग और भी परवाह हो गये। विज्ञान ने यूरोप की पुराने विश्वासों की जड़ें ही

खोखला कर दीं; नये उद्योगों और नई अर्थ-व्यवस्था ने नये सवाल पैदा जिन्होंने लोगों का ध्यान खींच लिया। इस तरह यूरोप में लोगों ने मज़हबी और रूढ़ियों के सवालों पर एक दूसरे का सिर फोड़ने की आदत छोड़ दी पूरी तरह नहीं); इसके बजाय अब उनमें आर्थिक व समाजी मुद्दों फुटव्वल होने लगी।

यूरोप के इस मज़हबी ज़माने की तुलना आजकल के भारत से दिलचस्प भी है और नसीहत देनेवाला भी। तारीफ़ और मज़ाक दोनों में यह कहा जाता है कि भारत तो मज़हबी और आध्यात्मिक देश है। उसका यूरोप से किया जाता है, जो बेदीन और विलासी जीवन को ज़रूरत से पसन्द करनेवाला कहा जाता है। जहाँतक भारतीय नज़रिये पर मज़हब चढ़ा हुआ है, वहाँतक तो वास्तव में यह 'मज़हबी' भारत सोलहवीं सदी के से ग़ैर-मामूली तौर पर मेल खाता है। अलबत्ता इस मुक़ाबले को बहु नहीं बढ़ाया जा सकता। लेकिन यह ज़ाहिर है कि क्या तो हमारा मज़हबी और रूढ़ियों पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर देना, क्या राजनीतिक और सवालों को मज़हबी फ़िरक़ों के हितों से जोड़ना, क्या हमारे साम्प्रदायि और इसी तरह के सवाल, ये सब वैसी ही घटनाएँ हैं जैसी मध्यकालीन हुई थीं। व्यावहारिक व जड़वादी यूरोप, और आध्यात्मिक व पर पूर्व, इनका कोई सवाल ही नहीं है। पश्चिम और पूर्व के बीच यह फ़र्क़ है कि पश्चिम तो अपनी तमाम अच्छाइयों और बुराइयों के साथ उद्यो और मशीनों का खूब उपयोग करनेवाला प्रदेश है, और पूर्व में अभी उद्यो प्रारम्भिक अवस्था में हैं और वह कृषि-प्रधान प्रदेश हैं।

यूरोप में मज़हबी उदारता और बुद्धिवाद का विकास बहुत हुआ। शुरू-शुरू में पुस्तकों से इसे ज़्यादा मदद नहीं मिली। क्योंकि लोग की खुल्लम-खुल्ला आलोचना करने से डरते थे। ऐसा करने का नतीजा या और कोई सज़ा। एक जर्मन दार्शनिक को प्रशिया से इसलिए नि गया था कि उसने कनफ़्यूशियस की बहुत ज़्यादा तारीफ़ कर दी थी। यह का अपमान समझा जाता था। लेकिन अठारहवीं सदी में, जबकि ये ज़्यादा साफ़ और व्यापक हो गये, तो इन विषयों के बारे में पुस्तकें निकल बुद्धिवाद व दूसरे विषयों पर उस समय का सबसे मशहूर लेखक वाल्टेयर एक फ़्रान्सीसी था, जिसको क़ैद करके देश से निकाल दिया गया और जो जिनेवा के पास फ़र्नी में जाकर रहा। जेल में उसे काग़ज़ और क़लम-द दिये गए। इसलिए उसने पुस्तकों की लाइनों के बीच-बीच में सीसे के कविताएँ लिखीं। बहुत थोड़ी उम्र में ही वह मशहूर हो गया। वास्तव

असाधारण योग्यता ने लोगों का ध्यान खींचा तब वह सिर्फ़ दस ही साल का ल्तेयर को अन्याय और कट्टरपन से सख्त नफ़रत थी और वह इनके खिलाफ़ ड़ा। उसकी मशहूर पुकार थी "इन बदनाम चीज़ों को नष्ट कर दो।"[1] ी उम्र तक, यानी १६९४ से १७७८ ई० तक जिया और उसने बहुत सारी लिखीं। चूंकि वह ईसाइयत की आलोचना करता था, इसलिए कट्टर ईसाई ख्त नफ़रत करते थे। अपनी एक पुस्तक में उसने लिखा है कि "जो आदमी ाँच-पड़ताल किये किसी मज़हब को कबूल कर लेता है, वह उस बैल के है जो अपने कन्धे पर जुआ रखवा लेता है।" लोगों को बुद्धिवाद और ारों की तरफ़ झुकाने में वाल्तेयर की रचनाओं का बड़ा भारी असर पड़ा। उसका पुराना मकान अब भी बहुत लोगों के लिए एक तीर्थस्थान है। क और महान् लेखक, जो वाल्तेयर का समकालीन लेकिन उम्र में उससे , जीन जैके रूसो था। उसका जन्म जिनेवा में हुआ था और जिनेवा को बड़ा गर्व था। क्या तुमको वहाँपर उसकी मूर्ति की याद है? धर्म और ि पर रूसो के लेखों से बड़ा हो-हल्ला मच गया। लेकिन फिर भी उसके र बहुत कुछ निडर समाजी और राजनीतिक मतों ने बहुतों के दिमाग़ विचारों और नये इरादों की आग सुलगा दी। उसके राजनीतिक विचार ने पड़ गये हैं, लेकिन उन्होंने फ़्रान्स के लोगों को महान् राज्य-क्रांति के लिए रने में ज़बर्दस्त हिस्सा लिया। रूसो ने राज्यक्रान्ति का प्रचार नहीं किया। से किसी क्रान्ति की उम्मीद भी न थी। लेकिन उसकी पुस्तकों और उसके ों ने लोगों के दिमाग़ में ऐसा बीज ज़रूर बो दिया, जिसका फल क्रान्ति के कट हुआ। इसकी सबसे मशहुर पुस्तक 'सोशल काण्ट्रैक्ट' यानी 'समाजी ा' है और वह इस मशहूर वाक्य से शुरू होती है (मैं याददाश्त से हा हूँ); "मनुष्य जन्म से मुक्त है, लेकिन वह सब जगह जंज़ीरों में ड़ा है।"[2]

सो एक महान् शिक्षा-शास्त्री भी था और उसके सुझाये हुए शिक्षा के ये तरीक़े आजकल स्कूलों में बरते जाते हैं।

ठारहवीं सदी में फ़्रान्स में वाल्तेयर और रूसो के अलावा और भी बहुत विचारक और लेखक हुए। मैं सिर्फ़ मान्तेस्क्यू[3] के नाम का ज़िक्र और

---

[1] rasez I infame.

[2] Man is born free, but is everywhere in chains.

[3] न्तेस्क्यू—(१६८९-१७५५) फ़्रान्स का प्रसिद्ध विचारक, तत्ववेत्ता ास्त्रकार। १७४८ ई० में इसकी मशहूर किताब 'Esprit des Lois' ई जिससे उसके गहरे अध्ययन का पता लगता है। यह पुस्तक इतनी

करूंगा जिसने कई पुस्तकें लिखीं। पेरिस में इसी के समय में एक विश्व प्रकाशित हुआ जो दिदरो और राजनीतिक व समाजी विषयों के दूसरे लेखकों के लेखों से भरा था। सच तो यह है कि फ़ान्स दार्शनिकों और वि से भरा हुआ नज़र आता था। इतना ही नहीं, इनकी रचनाएं भी खूब पढ़ी थीं और इन्हें यह सफलता हासिल हुई कि हज़ारों साधारण लोग इन्हीं को सोचने-विचारने लगे और इनके मतों पर चर्चा करने लगे। इस तरह फ़्रा एक ऐसा ज़ोरदार लोकमत पैदा हो गया, जो मज़हबी वैर-भाव और राज व समाज़ी रियायतों के खिलाफ़ था। लोगों पर स्वतन्त्रता की एक धुंध का भूत-सा सवार हो गया। लेकिन अजीब बात तो यह है कि न तो जनता ही न दार्शनिक लोग ही बादशाह से पिण्ड छुड़ाना चाहते थे। उस समय गणरा भावना आम नहीं थी, और जनता तो सिर्फ़ यही उम्मीद करती थी कि अफ़लातून के बताये हुए दार्शनिक बादशाह से मिलता-जुलता एक आद मिले, जो उनकी तक़लीफ़ों को दूर करे और उनको इन्साफ़ और थो स्वतन्त्रता दे दे। कम-से-कम दार्शनिकों ने ऐसा ही लिखा है। इस बारे में लगता है कि आख़िर मुसीबतों की मारी जनता बादशाह को कितना चाहती

इंग्लैण्ड में फ़ान्स की तरह राजनीतिक विचारों का कोई विकास नहीं कहा जाता है कि अंग्रेज़ राजनीतिक जन्तु नहीं होता, लेकिन फ़ान्सीसी हो इसके अलावा १६८८ ई० की क्रान्ति ने भी तनाव कुछ कम कर दिया था। कुछ वर्ग अब भी काफ़ी रियायतों का उपभोग कर रहे थे। नई आर्थिक ने, जिनका ज़िक्र जल्दी ही किसी अगले पत्र में करूँगा, और व्यापार और र भारत की उलझनों में, अंग्रेज़ों का दिमाग़ लगा हुआ था। जब नातनी बहुत बढ़ गई तो एक काम-चलाऊ समझौते ने जुदा होने के र कर दिया। फ़ान्स में इस तरह के समझौते की गुंजाइश न थी, और लिए तख़्ता उलट गया।

यह भी ध्यान देने की बात है कि इंग्लैण्ड में आजकल के उपन्यास का अठारहवीं सदी के बीच में हुआ। 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' और 'रॉबिन्सन क्रूसो' सदी के शुरू में लिखे गए थे, जैसा कि मैं पहले ही बतला चुका हूं। इनके बाद उपन्यास निकले। इस वक़्त इंग्लैण्ड में पुस्तकें पढ़नेवालों की एक नई सामने आई।

अठारहवीं सदी में ही गिबन नामक एक अंग्रेज़ ने अपना मशहूर

लोकप्रिय हुई कि उस ज़माने में भी, १८ महीने के अन्दर उसके २२ संस्क गये। उसके विचारों के कारण चर्च ने उसपर ज़बर्दस्त आक्रमण किया

[1] Decline and Fall of the Roman Empire.

रोमन साम्राज्य का बयान करते समय अपने किसी पिछले पत्र में मैं गिबन उसकी पुस्तक का ज़िक्र कर चुका हूँ।

: ९६ :

महान् परिवर्तनों के पहले का यूरोप

२४ सितम्बर, १९३२

हमने अठारहवीं सदी में यूरोप के, और ख़ासकर फ़्रान्स के, नर-नारियों ों में ज़रा झाँकने की कोशिश की है। यह सिर्फ़ एक झाँकी ही रही है, हमको कुछ नये विचारों को पैदा होते हुए और पुराने विचारों से टक्कर दिखलाया है। अभी तक हम परदे के पीछे रहे हैं, लेकिन अब हम यूरोप रंगमंच के खिलाड़ियों पर निगाह डालेंगे।

फ़्रान्स में बूढ़ा चौदहवाँ लुई आख़िरकार १७१५ ई० में मरने में कामयाब गया। वह कई पीढ़ियों को लाँघकर ज़िन्दा रहा। और उसके बाद उसका न्द्रहवाँ लुई के नाम से गद्दी पर बैठा। फिर उनसठ वर्ष का लम्बा शासन। इस तरह चौदहवें और पन्द्रहवें लुई, फ़्रान्स के इन दो एक के बाद दूसरे हों ने कुल १३१ वर्ष राज किया। बेशक यह दुनिया का एक रिकार्ड है। के दो मंचू बादशाह काङ-ही और चियन-लुङ, हरेक ने साठ-साठ वर्ष राज लेकिन ये एक सिलसिले से नहीं हुए और इन दोनों के बीच में एक तीसरे राज रहा।

असाधारण लम्बाई के अलावा पन्द्रहवें लुई का शासन-काल ख़ास तौर पर भ्रष्टाचार और साज़िशों के लिए मशहूर है। राज्य के सारे साधन बाद- के ऐश-आराम के लिए इस्तेमाल होते थे। दरबारी लोग अपना उल्लू सीधा ने लगे रहते थे, जिसमें अनाप-शनाप ख़र्च होता था। दरबार के जो स्त्री या बादशाह को खुश कर लेते थे उनको मुफ़्त की जमींदारियाँ और फ़ालतू ओहदे जाते थे, जिनका मतलब था बिना मेहनत की आमदनी। और इन सबका जनता पर बराबर बढ़ता जाता था। निरंकुशता, निकम्मापन और भ्रष्टाचार रे से हाथ मिलाये हुए आगे बढ़ रहे थे। फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात सदी के ख़त्म होते-न-होते वे अपने रास्ते के किनारे पर पहुँच गये और खाई में जा गिरे! ताज्जुब तो यह है कि रास्ता इतना लम्बा निकला और इतनी देर बाद आई। पन्द्रहवाँ लुई जनता के इन्साफ़ और बदले से बच इसका सामना तो उसके उत्तराधिकारियों सोलहवें लुई को १७७४ ई० में पड़ा।

निकम्मेपन और नीचपन के बावजूद भी पन्द्रहवें लुई को राज्य परम सत्ता के बारे में कोई सन्देह न था। वह सबकुछ था और उसे के मुताबिक़ करने से रोकनेवाला कोई न था। पेरिस में १७७६ ई० में के सामने बोलते हुए उसने जो शब्द कहे थे, वे सुनने लायक़ हैं:

> “राज्य-सत्ता पूरे तौर पर सिर्फ़ मेरे ही अपने में निवास है....। सिर्फ़ मुझको ही, बिना किसी का सहारा या मदद क़ानून बनाने का पूरा हक़ है। प्रजा के बन्दोबस्त का एकमात्र मैं ही हूँ; मैं ही उसका सबसे बड़ा रक्षक हूँ। मेरी प्रजा की मुझसे कोई हस्ती नहीं है; राष्ट्र के अधिकार और हित, जो कुछ दावे के मुताबिक़ बादशाह से कोई अलग चीज़ हैं, वे ज़रूरी तौर मेरे ही अधिकार और हित हैं और मेरी ही मुट्ठी में रहते हैं।”

अठारहवीं सदी के ज्यादातर समय में फ़्रान्स का शासक इस तरह कुछ दिनों तक तो यूरोप में उसका दबदबा मालूम होने लगा था। में दूसरे राजाओं और राष्ट्रों के ऊँचे हौसलों से उसकी टक्कर हुई और माननी पड़ी। फ़्रान्स के कुछ पुराने प्रतिद्वन्द्वियों का भी यूरोप के प्रमुख पार्ट न रहा। लेकिन उनकी जगह लेनेवाले और फ़्रान्स की शक्ति देनेवाले दूसरे पैदा हो गये। थोड़े दिन की शाही शान-शौक़त स्पेन यूरोप में, और दूसरी जगहों में भी, नीचे गिर गया। लेकिन फ़िलिपाइन टापुओं में बड़े-बड़े उपनिवेश अब भी उसके क़ब्ज़े में थे। के हैप्सबर्ग भी, जिन्होंने साम्राज्य के सिरमौर होने का और उसके की नेतागिरी का ठेका-सा ले रक्खा था, अब पहले जैसे बड़े नहीं आस्ट्रिया अब साम्राज्य की अगुआ रियासत नहीं थी; एक दूसरी आगे बढ़ गई थी और आस्ट्रिया के बराबर महत्ववाली बन गई थी। राजगद्दी के उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुए और बहुत दिनों तक नाम की एक महिला उस पर बैठी रही।

तुम्हें याद होगा कि १६४८ ई० की वैस्टफैलिया की सन्धि ने यूरोप की एक महत्वशाली शक्ति बना दिया। वहाँ पर हॉयनत्सोलर्न राज कर रहा था और दूसरे जर्मन राजवंश, आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग घराने, को चुनौती दे रहा था। छियालीस वर्ष तक, यानी १७४० से १७८६ प्रशिया पर फ़्रेडरिक ने राज किया, जो फ़ौजी कामयाबियों के कारण है। यूरोप के दूसरे राजाओं की तरह यह भी एक स्वेच्छाचारी राजा उसने दार्शनिक का चोग़ा पहन लिया था और वाल्तेयर से दोस्ती करने की थी। उसने एक बलशाली फ़ौज तैयार कर ली थी और वह एक

ह अपने-आपको बुद्धिवादी कहता था और सुनते हैं कि वह कहा करता था रेक को यह छुट्टी रहनी चाहिए कि वह जिस तरह चाहे स्वर्ग में जाय।"

सत्रहवीं सदी से यूरोप में फ़्रान्स की संस्कृति का बोलबाला रहा। अठारहवीं बीच के समय में इसने और भी ज़ोर पकड़ा और वाल्तेयर को सारे ज़बर्दस्त शोहरत मिली। वास्तव में कुछ लोग तो इस सदी को 'वाल्तेयर कहते हैं। यूरोप के तमाम राजदरबारों में, यहाँतक कि पिछड़े हुए सेंट में भी, फ़्रान्सीसी साहित्य पढ़ा जाता था। और सभ्य और शिक्षित लोग भाषा में लिखना और बोलना पसन्द करते थे। मसलन प्रशिया का महान् क़रीब-क़रीब हमेशा फ़्रान्सीसी भाषा में ही लिखता और बोलता सने तो फ़्रांसीसी भाषा में कविता भी लिखने की कोशिश की और वाल्तेयर ना की कि उसे ठीक कर दे व निखार दे।

प्रशिया के पूर्व में रूस था, जो आगे आनेवाले ज़माने का भय बनना शुरू था। चीन के इतिहास की चर्चा करते वक़्त हम लिख चुके हैं कि किस तरह बेरिया में फैलकर प्रशान्त महासागर तक जा पहुँचा और सागर पार अलास्का तक भी पहुँच गया। सत्रहवीं सदी के अन्त में रूस में महान् पीटर ज़ोरदार शासक था। रूस में परम्परा से जो पुराने मंगोली रब्त-ज़ब्त और चले आ रहे थे, पीटर उनको ख़त्म करना चाहता था। वह रूस का, आजकल में, 'पश्चिमीकरण' चाहता था, यानी उसे पश्चिम जैसा सभ्य व उन्नत चाहता था। इसलिए उसने पुरानी परम्पराओं से भरी हुई पुरानी राजधानी को छोड़ दिया और अपने लिए एक नया शहर और नई राजधानी बसाई। र में नीवा नदी के किनारे और फिनलैण्ड की खाड़ी के मुहाने पर सेंटपीटर्स-। यह शहर सुनहरी गुम्बज़दार छतों व गुम्बज़ोंवाले मास्को से बिलकुल अलग था; वह ज़्यादातर पश्चिमी यूरोप के बड़े शहरों-जैसा था। पीटर्सबर्ग करण का प्रतीक बन गया और रूस यूरोप की राजनीति में ज़्यादा हिस्सा ला। शायद तुम्हें मालूम होगा कि पीटर्सबर्ग नाम अब नहीं रहा है। पिछले सों में उसका नाम दो बार बदला है। पहली बार उसका नाम बदल ग्राद किया गया और दूसरी बार लेनिनग्राद हुआ। आजकल यही नाम है।

पीटर महान् ने इस रूस में बहुत-से परिवर्तन किये। उनमें से एक का मैं र ज़िक्र करूँगा, जो तुम्हें दिलचस्प मालूम होगा। उसने स्त्रियों को घरों में ने के रिवाज को, जिसे 'तरेम' कहते थे, और जो उन दिनों रूस में जारी म कर दिया। पीटर का ध्यान भारत की तरफ़ भी था और वह अन्त-राजनीति में भारत के महत्व को समझता था। उसने अपने वसीयतनामे

में लिखा है; "याद रखो कि भारत का व्यापार सारी दुनिया का
और जो अकेला उसे मुट्ठी में रख सकता है, वही यूरोप का डिक्टेटर होगा।
पर प्रभुत्व हासिल करने के वाद इंग्लैण्ड की शक्ति जिस तेज़ी से
पीटर के आख़िरी शब्दों की सचाई साबित हो जाती है। भारत के
इंग्लैण्ड को गौरव और धन मिला, जिसने कई पीढ़ियों तक उसे संसार
बड़ी शक्ति बना दिया।

एक तरफ़ एशिया और आस्ट्रिया तथा दूसरी तरफ़ रूस के बीच
था। वह एक पिछड़ा हुआ देश था, जहाँ के किसान बहुत ग़रीव थे। वहाँ कोई
और उद्योग-धन्धे न थे और न बड़े-बड़े शहर थे। उसका संविधान भी
था, जिसमें वादशाह चुना हुआ होता था और सत्ता सामन्ती अमीरों के हाथों
थी। जैसे-जैसे आसपास के देश ताक़तवर होते गये, पोलैण्ड कमज़ोर
प्रशिया, रूस और आस्ट्रिया तीनों ही उसे हड़पना चाहते थे।

लेकिन वह पोलैण्ड का ही वादशाह था, जिसने १६८३ ई० में
आखिरी हमला करनेवाले तुर्कों को मार भगाया था। उस्मानी तुर्क फिर
उठा सके। उनकी जीवट ख़त्म हो चुकी थी और पलड़ा धीरे-धीरे
था। आगे से वे अपना बचाव करने में ही रहे और धीरे-धीरे यूरोप
साम्राज्य सिकुड़ने लगा। लेकिन जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं,
रहवीं सदी के पहले हिस्से नें, तुर्की दक्षिण-पूर्वी यूरोप में एक शक्तिशाली
और उसका साम्राज्य वल्कान की रियासतों से लगाकर हंगरी के
तक फैला हुआ था।

दक्षिण में इटली कई रियासतों में वँटा हुआ था और यूरोप की
में उसकी कोई गिनती न थी। पोप का पहलेवाला दवदवा नहीं रहा था
और वादशाह उसकी इज्ज़त तो करते थे, लेकिन राजनीतिक मामलों में
पूछते भी न थे। धीरे-धीरे यूरोप में एक नया ढाँचा, यानी बड़ी शक्तियाँ
पैदा हो रहा था। जैसा कि मैं बतला चुका हूँ केन्द्रीय सत्तावाले राज
राष्ट्रीयता की भावना के विकास में मदद कर रहे थे। लोग अपने-अपने
विचार एक निराले तरीक़े से करने लगे थे, जो आजकल तो बहुत
है। लेकिन इस ज़माने के पहले एक असाधारण वात थी। फ़्रान्स,
ब्रिटैनिया, इतालिया और इसी तरह की दूसरी सूरतें प्रकट होने लगीं
राष्ट्र के प्रतीक-से मालूम होने लगे। कुछ दिन वाद उन्नीसवीं सदी में,
लोगों के दिमाग़ में मूर्त्तिमान होने लगीं और उनके दिलों पर अजीब
असर डालने लगीं। ये प्रतीक नई देवियाँ वन गये, जिनकी वेदी पर
भक्त को पूजा करनी पड़ती है और जिसके नाम पर और जिसके लिए

ते हैं और एक दूसरे की हत्या करते हैं। तुम जानती हो कि 'भारत-माता' ता किस तरह हमारे दिलों को हिलाती है और किस तरह लोग इस र और खयाली मूरत के लिए खुशी-खुशी मुसीबतें झेलते हैं और मर हैं। दूसरे देशों के लोग भी अपनी मातृभूमि के लिए इसी तरह की भावना करते थे। लेकिन ये सब तो बाद की बातें हैं। अभी तो मैं तुमको यह बत- हता हूँ कि अठारहवीं सदी में राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की इस भावना पकड़ी। फ़्रान्सीसी दार्शनिकों ने इस प्रगति को बढ़ाया और फ़्रान्स की ज्य-क्रान्ति ने इस भावना पर मुहर लगा दी।

राष्ट्र ही 'शक्तियाँ' थे ; बादशाह आते-जाते रहते थे, लेकिन राष्ट्र बना । इन शक्तियों में से कुछ धीरे-धीरे दूसरी शक्तियों से ज्यादा महत्ववाली । मसलन अठारहवीं सदी के शुरू में फ़्रान्स, इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, प्रशिया साफ़ तौर पर 'बड़ी शक्तियाँ' थीं। स्पेन की तरह कुछ और भी शक्तियाँ बड़ी थीं, लेकिन उनका पतन हो रहा था।

लैण्ड बहुत तेजी के साथ दौलत में और महत्व में बढ़ रहा था। एलिज़ा- त तक वह यूरोप के लिहाज़ से कोई महत्व का देश न था और दुनिया ज़ से तो और भी कम महत्व का था। उसकी आबादी थोड़ी थी; शायद वह साठ लाख से ज्यादा न थी, जो आज लन्दन की आबादी से भी बहुत लेकिन प्यूरिटन क्रान्ति और बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय के बाद ने अपने-आपको नई परिस्थितियों के मुताबिक़ बना लिया और वह लगा। स्पेन से पिण्ड छुड़ाने के बाद हालैण्ड ने भी ऐसा ही किया।

ठारहवीं सदी में अमेरिका और एशिया में उपनिवेशों के लिए छीना- ची। इसमें यूरोप की कई शक्तियों ने हिस्सा लिया, मगर खास होड़ लैण्ड और फ़्रान्स इन दोनों में ही रही। इस दौड़ में, अमेरिका में भी और में भी, इंग्लैण्ड बहुत आगे हो लिया था। पन्द्रहवें लुई के निकम्मे शासन के अलावा फ़्रान्स, यूरोप की राजनीति में बहुत ज्यादा उलझा हुआ था। से १७६३ ई० तक यूरोप, कनाडा और भारत में भी इन दोनों शक्तियों में इस बात का निपटारा करने के लिए युद्ध हुए कि किसका प्रभुत्व हो। 'सात साल का युद्ध' कहलाता है। इसके एक टुकड़े को हम भारत में देख जिसमें फ़्रान्स की हार हुई थी। कनाडा में भी इंग्लैण्ड की विजय हुई। इंग्लैण्ड ने वह नीति बरती जिसके लिए वह मशहूर हो चुका है, यानी कर अपनी ओर से दूसरों को लड़वाना। फ़्रैडरिक महान् इंग्लैण्ड का था।

स सात साल के युद्ध का नतीजा इंग्लैण्ड के लिए बहुत फ़ायदेमन्द रहा।

भारत और कनाडा, दोनों ही देशों में उसका कोई भी यूरोपीय प्रतिद्वं न रहा। समुद्रों पर भी उसकी नौ-सेना का दबदबा क़ायम हो गया। इ इंग्लैण्ड की ऐसी हैसियत हो गई कि वह अपने साम्राज्य को जमावे औ और संसार की एक बड़ी शक्ति बन जाय। प्रशिया का भी महत्व बढ़ा।

इस लड़ाई-झगड़े से यूरोप फिर पस्त हो गया और सारे महाद्वी पहले से कुछ ज्यादा शान्ति नजर आने लगी। लेकिन यह शान्ति प्रशिया, और रूस को पोलैण्ड की रियासतें हड़पने से न रोक सकी। पोलैण्ड की ऐ न थी कि इन शक्तियों से लड़ता, इसलिए ये तीनों भेड़िये उस पर टू इन्होंने बार-बार उसके हिस्से बाँट कर पोलैण्ड के आज़ाद देश का अन्त क सन् १७७२, १७९३ और १७९५ ई०, में तीन बार बंटवारे हुए। पहले के बाद पोलैण्ड के लोगों ने, जो पोल कहलाते हैं, अपने देश को सुधा मजबूत बनाने के लिए ज़बर्दस्त कोशिश की। उन्होंने पार्लमेण्ट क़ायम की कला और साहित्य का उद्धार हुआ। लेकिन पोलैण्ड के चारों तरफ़ के राजाशाहों के मुंह खून लग चुका था और वे रुकनेवाले न थे। इसके अल मेण्टों से उनको नफ़रत थी। इसलिए पोलों की देश-भक्ति और मह कोसियस्को के नेतृत्व में बहादुरी के साथ लड़ाई के बावजूद १७९ यूरोप के नक़्शे पर पोलैण्ड का निशान बाक़ी न रहा। उस वक़्त पोलैण्ड गया; लेकिन पोलों ने अपनी देश-भक्ति को ज़िन्दा रक्खा और आ सपना फिर भी देखते रहे। एक सौ तेईस वर्ष बाद उनका सपना स और यूरोप के महायुद्ध के बाद पोलैण्ड फिर एक स्वाधीन देश प्रकट हुआ।

मैं लिख चुका हूं कि अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में यूरोप बहुत अमन था। लेकिन वह ज़्यादा टिक न सका, क्योंकि वह ज्यादातर ऊ पर ही था। उस सदी में जो बहुत-सी घटनाएँ हुईं उनको भी मैं बतला लेकिन असल में अठारहवीं सदी तीन घटनाओं, तीन क्रान्तियों, मशहूर है, और इन सौ वर्षों में यूरोप में और जो कुछ भी हुआ, वह घटनाओं के सामने हेच मालूम होता है। ये तीनों क्रान्तियाँ इस सदी के पच्चीस वर्षों में हुईं। ये क्रान्तियाँ तीन अलग-अलग क़िस्मों की थीं—रा उद्योगी और समाजी। राजनीतिक क्रान्ति अमेरिका में हुई। यह वहाँ उपनिवेशों का विद्रोह था, जिसका नतीजा यह हुआ कि 'यूनाइटेड स्टे अमेरिका', यानी अमेरिका का संयुक्त राज्य, का स्वाधीन गणराज्य हमारे आज के ज़माने में इतना शक्तिशाली होनेवाला था। उद्योगी इंग्लैण्ड में शुरू हुई। वहाँ से पहले तो वह पश्चिम यूरोप के दूसरे देशों

र दूसरी जगहों में। हालाँकि यह क्रान्ति विना किसी मारकाट के हुई, बहुत दूर तक असर डालनेवाली थी और सारी दुनिया की ज़िन्दगी पर इसका असर पड़ा उतना इससे पहले इतिहास में लिखी हुई किसी भी का नहीं पड़ा। इसका नतीजा हुआ भाप और बड़ी मशीन और आखिर में ाद की उन अनगिनती शाखाओं का आना, जो आज हम अपने चारों तरफ़ हैं। फ़्रान्स की महान् राज्य-क्रान्ति समाजी क्रान्ति थी, जिसने न केवल फ़्रान्स ाशाहों का ही अन्त कर दिया, वल्कि बहुत-सी रियासतों को भी ख़त्म कर और नये-नये वर्गों को आगे ला दिया। इन तीनों क्रान्तियों पर हम ज़रा खुलासा र अलग-अलग विचार करेंगे।

हम देख चुके हैं कि इन परिवर्तनों की शुरुआत से पहले यूरोप में राजाशाही र था। इंग्लैण्ड और हालैण्ड में पार्लमेण्ट तो थीं, लेकिन उनकी बागडोर और धनवानों के हाथ में थी। क़ानून बनाये जाते थे तो धनवानों के लिए नके माल, अधिकारों और हक़ों की हिफ़ाज़त के लिए। शिक्षा भी नवान और हक़दार वर्गों के लिए थी। असल में ख़ुद सरकार ही इन वर्गों थी। उस ज़माने की एक सबसे बड़ी समस्या ग़रीबों की समस्या थी। ऊपर के लोगों की हालत में कुछ सुधार हुआ, लेकिन ग़रीबों की मुसीबतें बनी रहीं, वल्कि ज़्यादा बढ़ गईं।

अठारहवीं सदी भर में यूरोप के राष्ट्र ग़ुलामों का बे-रहम और बे-दर्द व्यापार है। वैसे तो यूरोप में ग़ुलामी ख़त्म हो चुकी थी, हालाँकि काश्तकारों , जिन्हें असामी कहते थे, ग़ुलामों से बेहतर न थी। लेकिन अमेरिका की बाद ग़ुलामों का पुराना व्यापार अपनी सबसे ज़्यादा बे-रहम सूरत में फिर । स्पेनियों और पुर्तगालियों ने इसकी इस तरह शुरुआत की कि वे अफ़्रीका ों पर से हब्शियों को पकड़-पकड़कर अमेरिका ले जाने लगे और उनसे काम लेने लगे। इस कमीने व्यापार में इंग्लैण्ड ने भी भरपूर हिस्सा लिया। फ़्रीकियों को जंगली जानवरों की तरह शिकार करके और पकड़कर और ंजीरों में कसकर अमेरिका को लादा जाता था, उनकी भयंकर तकलीफ़ों ाज़ा लगाना तुम्हारे लिए, या किसी के लिए भी मुश्किल है। हज़ारों तो ंचने के पहले ही चल बसते थे। इस दुनिया में जितने लोगों ने मुसीबतें ं, उनमें सबसे ज्यादा मुसीबतों का भार शायद हब्शियों पर ही पड़ा है। ों सदी में ग़ुलामी की प्रथा क़ानूनन मिटा दी गई और इंग्लैण्ड इस बात में रहा। अमेरिका में इस सवाल का निपटारा करने के लिए एक गृह-युद्ध आज अमेरिका के संयुक्त राज्य में बसनेवाले करोड़ों हब्शी इन्हीं ग़ुलामों की न हैं।

मैं इस पत्र को यह बतलाकर अच्छे सुर में खत्म करूंगा कि इ
जर्मनी और आस्ट्रिया में संगीत का बड़ा भारी विकास हुआ। तुम जान
यूरोपीय संगीत में जर्मन लोग आगे हैं। इनमें से कुछ बड़े-बड़े सं
नाम सत्रहवीं सदी में भी सामने आते हैं। दूसरे देशों की तरह ही यूरो
संगीत क़रीब-क़रीब मज़हबी रस्मों का अंग था। धीरे-धीरे ये दोनों अ
लगे और संगीत ख़ुद ही कला बन गया, जिसका मज़हब से कोई रिश्ता
मोत्सार्त (मोज़ार्ट) और बीथोवन——ये दो नाम अठारहवीं सदी में रोशन
दोनों बाल-गन्धर्व थे; दोनों ही प्रतिभाशाली राग रचनेवाले थे। यह अ
है कि बीथोवन, जो शायद पश्चिम का सबसे महान् राग रचनेवाला
है, बिलकुल बहरा हो गया था, और जिस अद्भुत संगीत की रचना
के लिए की उसे वह ख़ुद नहीं सुन सकता था। लेकिन उस संगीत को
पहले उसके हृदय ने ज़रूर उसे गाकर सुनाया होगा।

: ९७ :

बड़ी मशीन का आगमन

२६ सितम्ब

अब हम उसकी चर्चा करेंगे जो औद्योगिक क्रान्ति कहलाती है। इस
इंग्लैण्ड में हुई, इसलिए इंग्लैण्ड में ही हम संक्षेप में इस पर ग़ौर करें।
लिए कोई ठीक सन नहीं बतला सकता, क्योंकि यह परिवर्तन जादू की
ख़ास साल में नहीं हुआ। लेकिन फिर भी वह काफ़ी तेज़ी के साथ हुआ
रहवीं-सदी के बीच से लगाकर आगे के सौ वर्षों से कम में ही उसने ज़िन्द
बदल दी। इन पत्रों में तुमने और मैंने, दोनों ने दुनिया की शुरुआत से लगा
वर्षों के इतिहास के सिलसिले का सिंहावलोकन किया है और बहुत-से
हमारी निगाह में आये हैं। लेकिन ये सब परिवर्तन, जो कभी-कभी ब
हुए, लोगों की जिन्दगी और रहन-सहन के ढंग को गहराई के साथ
सके। अगर सुक़रात या अशोक या ज़ूलियस सीज़र भारत में अक़बर के
अचानक चले आते, या अठारहवीं सदी के शुरू में इंग्लैण्ड या फ़्रान्स में
तो बहुत-से परिवर्तन उनकी नज़र में आते। इनमें से कुछ परिवर्तनों को
करते और कुछ को नापसन्द। लेकिन सरसरी तौर पर, कम-से-कम
वे दुनिया को पहचान लेते, क्योंकि विचारों में उन्हें बहुत फ़र्क़ नहीं माल
और जहाँ तक ऊपरी बातों से ताल्लुक़ है वे अपने को बिल्कुल अजनबी
करते। अगर वे सफ़र करना चाहते तो घोड़े पर या घोड़ा-गाड़ी पर करते

में किया करते थे; और सफ़र में वक़्त भी क़रीव-क़रीव उतना ही

इन तीनों में से एक भी अगर हमारे ज़माने की दुनिया में आ जाय ज़बर्दस्त अचम्भा होगा। और यह अचम्भा वहुत करके उसके लिए हो सकता है। वह देखेगा कि आजकल लोग तेज-से-तेज घोड़े से भी के साथ, या शायद कमान से छूटे हुए तीर से भी ज़्यादा तेज़ी के साथ, हैं। रेल, स्टीमर, मोटर और हवाई-जहाज़ में वे अद्भुत तेज़ी के साथ में दौड़ते-फिरते हैं। फिर उसकी दिलचस्पी तार, टेलीफ़ोन, वेतार खानों से प्रकाशित होनेवाली अनगिनती कितावों, अखवारों और सैकड़ों में होगी, जो सव अठारहवीं सदी और उसके वाद की उद्योगों की हुए उद्योगों के नये तरीकों के नतीजे हैं। सुक़रात या अशोक या जूलियस नये तरीक़ों को पसन्द करेंगे या नापसन्द, यह मैं नहीं कह सकता, लेकिन नहीं कि वे उनको अपने ज़माने के तरीक़ों से विलकुल अलग तरह के

गिक क्रान्ति ने दुनिया को वड़ी मशीन दी। उसने मशीन-युग या यान्त्रिक आत की। पहले भी मशीनें ज़रूर थीं, लेकिन इतनी वड़ी नहीं, जितनी नें। मशीन है क्या? वह इन्सान को उसके काम में मदद देनेवाला र है। आदमी औज़ार वनानेवाला जन्तु कहा जाता है और अपनी से वह औज़ार वनाता रहा है और उनको अच्छा वनाने की कोशिश है। दूसरे जानवरों में, जिनमें से वहुत-से उससे ज़्यादा ताक़तवर थे, औज़ारों की ही वजह से क़ायम हुआ था। औज़ार उसके हाथ का ही है; या उसे तीसरा हाथ भी कह सकते हैं। मशीन औज़ार का वढ़ा है। औज़ार और मशीन ने मनुष्य को पशु-जगत् से ऊपर उठा लिया। -समाज को प्रकृति की गुलामी से छुड़ाया। औज़ार और मशीन की के लिए चीज़ें वनाना आसान हो गया। वह ज़्यादा चीज़ें वनाने लगा भी उसे ज़्यादा फुरसत रहने लगी। और इसका नतीजा यह हुआ कि कलाओं में और विचारों में व विज्ञान में प्रगति हुई।

वड़ी मशीन और उसके सव साथी निरी वरकतें ही नहीं सावित हुए। सभ्यता की तरक़्क़ी में मदद दी है तो लड़ाई और वर्वादी के भयंकर ईजाद करके वहशीपन को वढ़ाने में मदद की है। अगर इसने चीज़ों पैदा की है तो यह वहुतायत जनता के लिए नहीं वल्कि कुछ थोड़े-के लिए हुई है। इसने तो दौलतमन्दों के ऐश-आराम और ग़रीवों की ग़रीवी को पहले से भी ज़्यादा वढ़ा दिया है। यह मनुष्य का औज़ार और सेवक

होने के बजाय उसका स्वामी बनने का दावा करने लगी है। एक तरफ़ सहयोग, संगठन, समय की पाबन्दी वग़ैरा गुण सिखाये हैं; दूसरी तर की ज़िन्दगी को एक ऐसा नीरस ढर्रा और ऐसा मशीनी बोझ बना दिया है ज़रा भी ख़ुशी और आज़ादी नहीं है।

लेकिन मशीन से जो बुराइयाँ पैदा हुई हैं, उसके लिए हम उसको क्यों दोष दें ? दोष तो मनुष्य का है जिसने उसका दुरुपयोग किया है, और का है, जिसने उससे पूरा फ़ायदा नहीं उठाया। यह तो ध्यान में भी नहीं कि दुनिया या कोई देश, उद्योग की क्रान्ति से पहले के पुराने ज़माने को लौट और यह बात न तो ज़रूरी मालूम होती है, न बुद्धिमानी की कि हम लोग कुछ से छुटकारा पाने के लिए उद्योगवाद की लाई हुई बहुत सारी अच्छी चीज़ों दें। चाहे जो हो, मशीन तो अब आ गई और बनी रहेगी। इसलिए हमारे सवाल यही है कि उद्योगवाद की लाभकारी चीज़ों को रख लें और उस जो बुराइयाँ चिपक गई हों, उनसे पिण्ड छुड़ायें। इससे पैदा होनेवाली दौलत फ़ायदा उठाना चाहिए, लेकिन इस बात का ख़याल रखना चाहिए कि यह उन लोगों में बराबर बँट जाय जो उसे पैदा करते हैं।

इस पत्र में मेरा इरादा तुम्हें इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के बारे बतलाने का था। लेकिन जैसी कि मेरी आदत है, मैं असली बात से अलग हट और उद्योगवाद के नतीजों की चर्चा करने लगा हूँ। मैंने तुम्हारे सामने वह रख दी है, जो आज लोगों को परेशान कर रही है, लेकिन यहाँ तक आ से पहले हमको पिछले कल की बातों से निबटना है; उद्योगवाद के नतीजों पर करने से पहले हमको यह जाँच करना है कि वह कब और कैसे आया। भूमिका इतनी लम्बी इसलिए की है कि तुमको इस क्रान्ति का महत्व महसू सकूँ। यह कोरी राजनीतिक क्रान्ति न थी, जिससे चोटी पर के बादशाह और बदल गये हों। यह ऐसी क्रान्ति थी, जिसका असर सब वर्गों पर और अलग आदमी पर पड़ा। मशीन और उद्योगवाद की विजय का मतलब था क़ब्ज़ा रखनेवाले वर्गों की विजय। जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ, रा वर्ग करता है, जो पैदावार के साधनों पर क़ब्ज़ा रखता है। पुराने ज़माने का सबसे बड़ा ज़रिया सिर्फ़ ज़मीन थी, इसलिए जो लोग ज़मीन के मालिक ज़मींदार थे, उन्हींका बोलबाला था। सामन्तशाही के ज़माने में भी यही हाल इसके बाद ज़मीन के अलावा दूसरी तरह की दौलत सामने आई और वर्ग के लोगों की सत्ता में पैदावार के नये साधनों के मालिकों का साझा और अब बड़ी मशीन आती है, जिससे उसपर क़ब्ज़ा रखनेवाले वर्ग कुदरत पर आगे आ जाते हैं और मालिक बन बैठते हैं।

पत्रों के सिलसिले में मैं कई बार तुमको बतला चुका हूँ कि शहरों के नी मध्यमवर्गों का महत्व किस तरह बढ़ा और किस तरह वे सामन्ती दारों से लड़ते रहे और कहीं-कहीं कुछ हदतक विजयी भी हुए। मैंने मन्तशाही के पतन का हाल बतलाया है और शायद तुम्हारे दिल में ल पैदा कर दिया है कि इस नये मध्यमवर्ग ने उसकी जगह ले ली। अगर तो मैं अपनी ग़लती सुधारना चाहता हूँ, क्योंकि मध्यमवर्ग ने बहुत धीरे-धीरे की और यह तरक्क़ी उस ज़माने में नहीं हुई, जिसका हम ज़िक्र कर रहे हैं। राज्य-क्रान्ति ने और इंग्लैण्ड में इसी तरह की क्रान्ति के डर ने कहीं जाकर को ऊपर उठने का मौक़ा दिया। इंग्लैण्ड की १६८८ ई० की क्रान्ति यह हुआ कि पार्लमेण्ट की विजय हो गई, लेकिन तुम्हें याद होगा कि ण्ट भी लोगों की एक छोटी-सी संख्या की, और खासकर ज़मींदारों निधि थी। शहरों के कुछ बड़े-बड़े व्यापारी उसमें भले ही घुस जाते हों, रूप में व्यापारी-वर्ग, यानी मध्यमवर्ग के लिए उसमें कोई जगह न थी। लिए राजनीतिक सत्ता उन लोगों के हाथों में थी, जो ज़मींदारियों के थे। इंग्लैण्ड में ऐसा ही था और दूसरे देशों में तो और भी ज़्यादा था। पिता से पुत्र को विरासत में मिलती थी। इसलिए राजनीतिक सत्ता खुद मौरूसी हक़ बन गई। मैं इंग्लैण्ड के 'जेबी निर्वाचन क्षेत्रों' यानी पार्ले-तिनिधि भेजनेवाले ऐसे चुनाव-क्षेत्रों के बारे में पहले ही लिख चुका में सिर्फ़ कुछ गिने-चुने निर्वाचक होते थे। ये गिने-चुने निर्वाचक आमतौर की मुट्ठी में होते थे और इसलिए वह निर्वाचन-क्षेत्र उसकी जेब में ता था। ऐसे चुनाव लाज़िमी तौर पर एक तमाशा होते थे; खूब रिश्वतें और वोट व पार्लमेण्ट की सीटें बिकती थीं। बढ़ते हुए मध्यमवर्ग के र लोग इस तरह से पार्लमेण्ट की सीट खरीद सकते थे। लेकिन जनता सीटों में से एक तरफ़ भी निगाह नहीं डाल सकते थे। उनको तो कोई क़ या सत्ता मिलती न थी, और ज़ाहिर है कि वे सत्ता खरीद भी नहीं। इसलिए जब धनवान और हक़दार लोग उनकी छाती पर बैठकर ते थे तो वे कर ही क्या सकते थे? पार्लमेण्ट में या पार्लमेण्ट के मेम्बरों में भी उनकी कोई आवाज़ न थी। सत्ताधारी लोग उनके बाहरी प्रदर्शनों नाराज़ होते थे और इन्हें बलपूर्वक दबा दिया जाता था। वे बिखरे हुए, और असहाय थे। लेकिन जब ज़ुल्मों और मुसीबतों का प्याला भर गया न और व्यवस्था को भूलकर दंगा कर बैठे। इस तरह इंग्लैण्ड में अठारहवीं रक़ानूनी हरकतों का बहुत ज़ोर रहा। जनता की माली हालत आमतौर ख़राब थी। छोटे-छोटे काश्तकारों की ज़मीनें छीनकर और उन्हें ज़बर्दस्ती करके बड़े-बड़े ज़मींदार अपनी जागीरें बढ़ाने की कोशिशें कर रहे थे,

जिससे यह हालत और भी बुरी होती जा रही थी। गाँवों की शामलाती हड़प ली जाती थीं। ये सब बातें जनता की मुसीबतों को वढ़ानेवाली थीं। कोई आवाज़ न होने के कारण भी आम लोग नाराज़ थे और कुछ ज़्यादा के लिए दवीदवी-सी माँग करते थे।

फ़ान्स में तो हालत और भी खराव थी, जिसने वहाँ राज्य-क्रान्ति इंग्लैण्ड में वादशाह का महत्व कुछ नहीं रहा था और सत्ता ज्यादा लोगों के आ गई थी। इसके अलावा इंग्लैण्ड में फ़ान्स की तरह के राजनीतिक विकास नहीं हुआ था। इसलिए इंग्लैण्ड एक वड़े भारी विस्फोट से वच वहाँ परिवर्तन ज़रा धीरे-धीरे हुए। इसी अर्से में उद्योगवाद और नये की वजह से जल्दी-जल्दी होनेवाले परिवर्तनों ने चाल को तेज कर दिया।

अठारहवीं सदी में इंग्लैण्ड की राजनीतिक हालत का पिछवाड़ा खासकर विदेशी कारीगरों के आ वसने से इंग्लैण्ड घरेलू उद्योग-धन्धों में वढ़ गया। यूरोप के मज़हवी युद्धों ने वहुत-से प्रोटेस्टेण्टों को अपने देश छोड़कर इंग्लैण्ड में शरण लेने के लिए मजवूर किया। जिस समय स्पेनवाले लैण्ड के विद्रोह को कुचलने की कोशिश कर रहे थे उस समय नीदरलैण्ड से भागकर इंग्लैण्ड आ गये। कहा जाता है कि इनमें से इंग्लैण्ड के पूर्वी भाग में वस गये और रानी एलिज़ावेथ ने उनको इस वसने की आज्ञा दी कि हरेक घर में एक अंग्रेज़ को काम सिखाने के लिए जाय। इससे इंग्लैण्ड को अपने कपड़ा-उद्योग को वनाने में मदद मिली। उद्योग जम गया तो अंग्रेज़ों ने नीदरलैण्ड के वने हुए कपड़े का रोक दिया। उधर नीडरलैण्ड अभी तक आज़ादी के भयानक युद्ध में था, जिससे उसके उद्योग-धन्धों को नुक़सान पहुँच रहा था। नतीजा जह पहाँले नीडरलैण्ड के कपड़ों से भरे हुए जहाज़-के-जहाज़ इंग्लैण्ड वहाँ वहुत जल्दी न सिर्फ़ यह वन्द हो गया—वल्कि उलटे अंग्रेज़ी कपड़े की तरफ़ जाने लगे और इनकी मिक़दार वढ़ती ही गई।

इस तरह वेलजियम के वॉलून लोगों ने अंग्रेजों को कपड़ा वुनना वाद में फ़ान्स से प्रोटेस्टेण्ट शरणार्थी ह्यूजिनॉत आये और इन्होंने कपड़ा वुनना सिखाया। सत्रहवीं सदी के पिछले हिस्से में यूरोप के कारीगर इंग्लैण्ड चले आये और अंग्रेजों ने इनसे वहुत-से धन्धे सीखे, जैसे— काँच, चाभी के खिलौने और जेवी व दीवार की घड़ियाँ, वनाना।

इस तरह इंग्लैण्ड, जो अभी तक यूरोप का एक पिछड़ा हुआ देश था, और दौलत में वढ़ने लगा। लन्दन की भी वढ़ोत्तरी हुई और वह व्यापारियों की मालामाल होती हुई आवादीवाला काफ़ी महत्व का

दिलचस्प कहानी से हमको पता लगता है कि सत्रहवीं सदी के रूप में एक बड़ा भारी बन्दरगाह और व्यापार का केन्द्र था। इंग्लैण्ड का बादशाह जो चार्ल्स प्रथम का—जिसका सिर उड़ा दिया गया था—पिता की निरंकुशता व दैवी अधिकार को पूरी तरह माननेवाला था। वह और लन्दन के इन कल के छोकरे व्यापारियों को पसन्द नहीं करता उसने गुस्से में आकर लन्दन के नागरिकों को, अपनी राजधानी ऑक्सफ़ोर्ड धमकी दी। लन्दन के लार्ड मेयर पर इस धमकी का कुछ भी असर न उसने कहा—"मुझे उम्मीद है कि हिज़ मैजेस्टी हमारे लिए टेम्स नदी जाने की इनायत करेंगे!"

मेण्ट की मदद पर यही मालदार व्यापारी-वर्ग था और इसीने चार्ल्स होनेवाली लड़ाई में उसे ख़ूब रुपया दिया था।

में जो सब उद्योग-धन्धे पैदा हुए वे घरेलू उद्योग या कुटीर-उद्योग हैं। यानी कारीगर या दस्तकार लोग आमतौर पर अपने घरों में या गिरोहों में काम करते थे। हरेक धन्धे के दस्तकारों की 'गिल्ड' या समितियाँ जो भारत की बहुत-सी जातियों से मिलती-जुलती थीं, लेकिन जिनमें का-सा मज़हबी तत्व नहीं होता था। दस्तकारियों के उस्ताद शागिर्द और उनको अपने हुनर सिखलाते थे। जुलाहों के निजी करघे होते थे, निजी चरखे रखते थे? कताई का ख़ूब प्रचार था और यह धन्धा लड़कियाँ फ़ालतू वक़्त में करती थीं: कहीं-कहीं छोटे-छोटे कारख़ाने होते थे करघे इकट्ठे कर लिये जाते थे और जुलाहे मिलकर काम करते थे। बुनकर अपने करघे पर अलग ही काम करता था, और चाहे वह इस अपने घर ही काम करता या दूसरे बुनकरों और उनके करघों के साथ जगह काम करता, इन दोनों बातों में कोई असली फ़र्क़ न था। यह ख़ाना बड़ी मशीनोंवाले आधुनिक कारख़ानों से बिलकुल अलग तरह

ज़माने में उद्योग-धन्धों का यह घरेलू दर्जा सिर्फ़ इंग्लैण्ड में ही नहीं बल्कि के हरेक देश में, जहाँ उद्योग-धन्धे होते थे, फूल-फल रहा था। मसलन ये घरेलू उद्योग-धन्धे बहुत उन्नत थे। इंग्लैण्ड में घरेलू-उद्योग-धन्धे बिलकुल ख़त्म हो गये, लेकिन भारत में अब भी बहुत-से मौजूद हैं। बड़ी मशीन और घरेलू करघा दोनों साथ-साथ चल रहे हैं, और इन दोनों और फ़र्क़ देखा जा सकता है। तुम जानती हो कि हम जो कपड़ा पहनते है। यह हाथ-कता और हाथ-बुना है। और इसलिए पूरी तरह भारत की कच्ची झोपड़ियों में बना हुआ है।

नये मशीनी आविष्कारों ने इंग्लैण्ड के घरेलू उद्योग-धन्धों की काया दी। मशीनें आदमी का काम दिन-पर-दिन ज़्यादा करने लगीं और उनके मेहनत से ज़्यादा माल पैदा करना आसान हो गया। ये आविष्कार अठार के बीच में शुरू हुए और इनका ज़िक्र हम अगले पत्र में करेंगे।

मैंने थोड़े में अपने खादी-आन्दोलन का ज़िक्र किया है। इसके बारे मैं ज़्यादा नहीं लिखना चाहता। लेकिन मैं तुमको वतला देना चाहता हूँ आन्दोलन या चरखा वड़ी मशीन से मुक़ावला करने के लिए नहीं है। वहुत इस ग़लती में पड़ जाते हैं और यह ख़याल करने लगते हैं कि चरखे का अर्थ युगों को लौट जाना और मशीनों व उद्योगवाद के सव फलों को रद्दी सम देना। यह सब ग़लत है। हमारा आन्दोलन यक़ीनी तौर पर न तो उद्योगवा खिलाफ़ है और न मशीनों और कारखानों के। हम तो चाहते हैं कि भारत अच्छी चीज़ें मिलें और जहाँतक हो सके वहुत जल्दी मिलें। लेकिन मौजूदा हालत को, और ख़ासकर अपने किसानों की भयंकर ग़रीवी को दे हम उनसे अनुरोध करते हैं कि वे अपने फ़ालतू समय में सूत कातें। इस त सिर्फ़ कुछ हद तक अपनी हैसियत सुधारते हैं, वल्कि विदेशी कपड़े पर उस निर्भरता को भी कम करते हैं, जिसकी वजह से हमारे देश की इत वाहर जाती रहती है।

: ९८ :

इंग्लैण्ड में उद्योगी क्रान्ति की शुरुआत

२२ सितम्ब

अव मैं तुमको कुछ मशीनी आविष्कारों के बारे में वतलाना चाहता की वजह से पैदावार के तरीक़ों में बड़ा ज़वर्दस्त फ़र्क़ पड़ गया। आज ह किसी मिल या कारखानों में देखते हैं तो वे हमको कुछ ज़्यादा पेचीदा न लेकिन पहले-पहल उनका विचार करना और उनका आविष्कार क मुश्किल वात थी। सवसे पहला आविष्कार १७३८ ई० में हुआ जव कें अंग्रेज़ ने कपड़ा वुनने की सरकवाँ ढरकी वनाई। इस आविष्कार के पहले के हाथ की ढरकी का धागा लम्वे फैले हुए ताने के तारों में धीरे-धीरे पिरो था। सरकवाँ ढरकी के ज़रिये यह काम वहुत जल्दी होने लगा, जिससे वुन माल तैयार करने लगे। इसका मतलव यह हुआ कि अव वुनकर पहले से व सूत काम में ला सकता था। सूत की इस वढ़ती हुई माँग को पूरा करने में को वड़ी दिक़्क़त हुई और वे भी अपनी पैदावार वढ़ाने की कुछ तरकीव

करने लगे। १७६४ ई० में हारग्रीव्ज ने कातने की 'जेनी' का आविष्कार समस्या को कुछ-कुछ हल कर दिया। इसके बाद रिचर्ड आर्कराइट लोगों ने और-और आविष्कार किये, जल-शक्ति का और बाद में भाप-इस्तेमाल होने लगा। शुरू में ये सब आविष्कार सूती कपड़े के उद्योग लाये गए और सूती कपड़े के कारखाने या मिलें धड़ा-धड़ खड़े होने लगे। इन नये तरीक़ों को उपयोग में लानेवाला ऊनी कपड़ों का उद्योग था।

अर्से में, १७६५ ई० में, जेम्स वाट ने भाप का इंजन बनाया। यह एक बड़ी थी और इसका नतीजा यह हुआ कि कारखानों को चलाने में भाप होने लगा। इन नये कारखानों के लिए कोयले की ज़रूरत पड़ी, इसलिए उद्योग की तरक़्क़ी हुई। कोयले के इस्तेमाल से लोहा गलाने के, यानी को गलाकर शुद्ध धातु अलग करने के, नये तरीक़े ईजाद हुए। इसपर उद्योग बड़ी तेज़ी से बढ़ने लगा। नये-नये कारखाने कोयले की खानों के जाने लगे, क्योंकि वहाँ कोयला सस्ता पड़ता था।

तरह इंग्लैण्ड में तीन नये उद्योगों—कपड़ा, लोहा और कोयला—का और कोयले के क्षेत्रों और दूसरी माक़ूल जगहों में कारख़ाने खड़े होने की काया ही पलट गई। हरे-हरे ख़ुशनुमा देहात के बजाय अब जगह ये क़ारख़ाने पैदा हो गये, जिनकी लम्बी-लम्बी चिमनियाँ कर आस-पास अँधेरा करने लगीं! कोयलों के ऊँचे टीलों और के ढेरों से घिरे हुए ये कारखाने कुछ सुन्दर चीज़ें नहीं थीं। इन कारखानों नेवाले उद्योगी नगर भी कोई सुन्दर चीज़ें न थे। वे तो किसी तरह ये गये थे, क्योंकि मिल-मालिकों का तो असली मक़सद था रुपया ना। ये नगर भद्दे, बड़े और गन्दे थे, और भूखों मरते मज़दूरों को इन नगरों और कारखानों की बड़ी बुरी और तन्दुरुस्ती ख़राब करनेवाली रहना पड़ता था।

याद होगा कि मैं लिख चुका हूँ कि बड़े जमींदारों ने छोटे-छोटे काश्त-ज़बर्दस्ती बेदख़ल कर दिया था और बेकारी बढ़ी; इससे इंग्लैण्ड में दंगे र मच गया। शुरू-शुरू में इन नये उद्योगों ने हालत और भी ख़राब -बाड़ी को नुक़सान पहुँचा और बेकारी बढ़ने लगी। वास्तव में जैसे आविष्कार होता, वैसे ही उसका नतीजा यह होता कि हाथ के काम शीनें ले लेतीं। उसका फल यह होता था कि बहुत बार मज़दूर लोग निकाल दिये जाते थे, जिससे उनमें बहुत असन्तोष पैदा हो जाता था। से नई मशीनों से नफ़रत करने लगे और उनको तोड़ डालने की करने लगे। ये लोग 'मशीन तोड़' कहलाने लगे।

यूरोप में 'मशीन-तोड़ी' का एक लम्बा इतिहास है, जो सोलहवीं
होता है, जबकि जर्मनी में एक मामूली मशीनी करघा ईजाद हुआ था।
एक पादरी की १५७९ ई० में लिखी गई एक पुरानी पुस्तक में इस
बारे में लिखा है कि डैनज़िग की नगर-परिषद् ने "इस डर से कि
सैकड़ों कारीगरों को दर-दर का भिखारी बना देगा, मशीन को नष्ट
और आविष्कार करनेवाले को चुपचाप गला घोंटकर या पानी में डुबो
डाला!" इस आविष्कार करनेवाले का इस तरह झटपट सफ़ाया कर
पर भी सत्रहवीं सदी में यह मशीन फिर प्रकट हुई और इसकी वजह से सारे
दंगे-फ़िसाद हुए। इसके इस्तेमाल को रोकने के लिए कितनी ही जगह
गए और कहीं-कहीं तो बीच बाज़ार में सब लोगों के सामने इसमें आग
अगर यह मशीन जिस समय ईजाद हुई थी उसी समय इस्तेमाल में
तो सम्भव है इसके बाद दूसरे आविष्कार होते और मशीन-युग ज़रा
जाता। लेकिन सिर्फ़ यही बात कि इसका इस्तेमाल नहीं किया गया
करती है कि उस समय की हालतों में इसका वक़्त नहीं आया था। जब
गया तो इंग्लैण्ड में बहुत-से दंगे-फ़िसाद होने पर भी मशीन की सत्ता
गई। मज़दूरों की मशीन के लिए नाराज़गी क़ुदरती बात थी। लेकिन
वे जान गये कि दोष मशीन का नहीं, बल्कि उस तरीक़े का था, जिससे
लोगों के फ़ायदे के लिए काम में लाई जाती थी। लेकिन अब हमको इंग्लैंड
और कारख़ानों के विकास की तरफ़ लौटना चाहिए।

नये कारख़ाने बहुत-से कुटीर-उद्योगों और घरेलू काम करनेवालों
गये। इन घरेलू काम करनेवालों के लिए मशीन से होड़ करना सम्भव न था।
या तो उनको अपने पुराने हुनरों और धन्धों को छोड़कर उन्हीं कारख़ानों
तलाश करनी पड़ती थी, जिनसे वे नफ़रत करते थे, या बेकारों में
पड़ता था। कुटीर-उद्योगों का विनाश एकदम तो नहीं हुआ, लेकिन हुआ
के साथ। सदी के अन्त तक, यानी क़रीब १८०० ई० तक बहुत-से बड़े-बड़े
नज़र आने लगे। तीस साल बाद इंग्लैण्ड में स्टीफ़ेन्सन के 'रॉकेट' नामक
इंजन के साथ भाप से चलनेवाली रेलें शुरू हुईं। इस तरह सारे
उद्योग-धन्धों व जीवन के लगभग सारे कामों में, मशीन दिन-पर-दिन
गई।

यह दिलचस्प बात है कि सारे आविष्कार करनेवाले, जिनमें से
ज़िक्र मैंने नहीं किया है, दस्तकारों के वर्ग में पैदा हुए थे। इसी वर्ग में से
के बहुत-से उद्योगी नेता निकले। लेकिन उनके आविष्कारों का, और इन
से पैदा होनेवाले कारख़ानों के ढंग का, नतीजा यह हुआ कि मालिक

की खाई और भी ज़्यादा चौड़ी हो गई। कारखाने का मज़दूर मशीन का
क फ़िर्री बन गया और उन ज़बर्दस्त आर्थिक ताक़तों के हाथ में असहाय हो
नको वह समझ तक नहीं सकता था; उनपर क़ाबू पाना तो दूर रहा। दस्त-
र कारीगर को सबसे पहले खटका तो तभी हुआ था जब उन्हें पता लगा
कारखाने उन लोगों से होड़ कर रहे हैं और चीज़ें इतनी सस्ती बनाकर बेच
जितनी सस्ती अपने सादे और आदिम औज़ारों से घर पर बनाकर बेचना
लिए सम्भव न था। कोई क़सूर न होते हुए भी उनको अपनी छोटी-छोटी
बन्द करनी पड़ीं। अगर वे अपने ही हुनर को नहीं चला सकते थे तो नये
सफल होना तो दूर की बात थी। बस, वे बेकारों की फ़ौज में शामिल हो
र भूखों मरने लगे। अंग्रेज़ी कहावत है कि “भूख कारखानेदार का ड्रिल-
ट[1] है,” और इसी भूख ने आख़िर इन कारीगरों को नौकरी की तलाश में
खानों के दरवाज़ों पर ला पटका। मालिकों ने उनकी तरफ़ ज़रा भी दया
खाई। उन्होंने इन्हें काम तो दिया, लेकिन सिर्फ़ कौड़ी भर मज़दूरी पर,
लिए इन कम्बख़्त मज़दूरों को कारखानों में अपना ख़ून पानी कर देना
था। औरतें और छोटे-छोटे बच्चे तक भी दम घोंटनेवाली और गन्दी जगहों
-रात पिसते थे। यहाँतक कि उनमें से बहुत-से तो थकान के मारे ग़श खाकर
ड़ते थे। लोग कोयले की खानों के अन्दर ठेठ नीचे सारे-सारे दिन काम करते
र महीनों तक उनको सूरज के दर्शन न होते थे।

लेकिन यह ख़याल न कर बैठना कि इन सबकी वजह मालिकों का ज़ुल्म
। वे दिल से बेरहम कभी न थे; दोष तो उस प्रणाली का था। वे तो जिस
अपना व्यापार बढ़ाना चाहते थे और दुनिया की दूर-दूर की मंडियाँ दूसरे
छीनना चाहते थे, और ऐसा करने के लिए वे सब कुछ करने को तैयार थे।
खानों के बनाने में और मशीनें ख़रीदने में बहुत रुपया ख़र्च होता है। यह
भी वापस मिलता है, जब कारखाना चालू हो जाय और उसका माल
र में बिकने लगे। इसलिए नये कारखाने बनाने के लिए इन कारखानों के
ों को किफ़ायत से चलना पड़ता था और जब माल बिककर रुपया आ
था तो भी नये-नये कारखाने डालते चले जाते थे। इंग्लैण्ड में जल्दी उद्योगी-
होने से ये लोग दुनिया के दूसरे देशों से आगे बढ़े हुए थे और इससे
उठाना चाहते थे—और वास्तव में उन्होंने फ़ायदा उठाया भी। बस, अपना
र बढ़ाने और ज़्यादा धन कमाने की बदहवास लालसा में वे उन बेचारे

---

[1] ड्रिल-सारजैंट यानी फ़ौज को ड्रिल—क़वायद करानेवाला अफ़सर, जिसकी
पर फ़ौज चलती है।

मज़दूरों का ख़ून चूसते थे, जिनकी मेहनत उनकी दौलत पैदा करने का थी।

उद्योग-धन्धों की यह नई प्रणाली बलवानों के हाथों निर्बलों के लिए ख़ासतौर पर अनुकूल थी। सारे इतिहास में हम बलवानों के हाथों को चूसा जाता देखते हैं। कारख़ानों की प्रणाली ने इसे और भी आसान कर क़ानून में तो ग़ुलामी नहीं थी, लेकिन सच तो यह है कि भूखों मरनेवाला यानी कारख़ाने का मज़दूर ग़ुलाम, पुराने ज़माने के ग़ुलामों से किसी तरह हालत में न था। क़ानून हमेशा मालिकों का ही साथ देता था। मज़हब के पक्ष में था और ग़रीबों से कहता था कि इस जन्म में अपने फूटे भाग्य को करो और अगले जन्म में स्वर्गीय मुआवज़े की आशा करो। शासक वर्गों ने में अपने सुभीते की फ़िलासफ़ी बना ली थी कि समाज के लिए ग़रीबों ज़रूरी है और इसलिए कम मज़दूरी देना नेकी है। अगर अच्छी मज़दूरी दी तो ग़रीब लोग मौज उड़ाने की कोशिश करेंगे और कड़ी मेहनत न करेंगे। करने का यह तरीक़ा बड़ा तसल्ली देनेवाला और फ़ायदेमन्द था। क्योंकि खानेदारों और दूसरे मालदार लोगों के दौलत बटोरने के स्वार्थ से यह ठीक मेल खाता था।

इस ज़माने का इतिहास बड़ा दिलचस्प और नसीहत देनेवाला है। कितनी जानकारी हासिल होती है। हम देख सकते हैं कि अर्थशास्त्र पर और पर पैदावार के इन मशीनी तरीक़ों का कितना ज़बर्दस्त असर पड़ता है। समाजी तख्ता ही उलट जाता है, नये-नये वर्ग आगे आते हैं और सत्ता करते जाते हैं; कारीगरों का वर्ग कारख़ानों का मज़दूरी कमानेवाला वर्ग है। साथ-ही-साथ नई अर्थ-व्यवस्था से मज़हब और नीति के बारे में भी विचार नये साँचे में ढल जाते हैं। मनुष्य-जाति के आम लोगों के हितों या वर्ग-भावनाओं के साथ-साथ दौड़ते हैं, और जब क़ानून बनाने उनके हाथ में आ जाती है तो वे अपने हितों की हिफ़ाज़त के लिए क़ानून ख़ूब सावधानी रखते हैं। अलबत्ता इस सारी नेकी को, हर तरह की दिखावट किया जाता है, और हर तरह से भरोसा दिया जाता है कि क़ानून की तह मनुष्य-जाति की भलाई करने का ही मक़सद है। हम भारत वासियों को अंग्रेज वाइसरायों और दूसरे अफ़सरों की ऐसी दिखावटी नेक भावना काफ़ी तजुर्बा है। हमसे हमेशा कहा जाता है कि भारत की भलाई के लिए कितनी मेहनत करते हैं। लेकिन दूसरी तरफ़ वे आर्डिनेन्सों और संगीनों के हम पर राज करते हैं और हमारे देशवासियों के कलेजे का ख़ून चूसते हैं। ज़मींदार लोग कहते हैं कि वे काश्तकारों से कितनी मुहब्बत करते हैं, लेकिन निचोड़ने और उनसे कसकर लगान वसूल करने में ज़रा भी नहीं हिचकते

बेचारों के पास सिवाय भुखमरे शरीरों के और कुछ नहीं छोड़ते। हमारे और बड़े-बड़े मिल-मालिक मज़दूरों के लिए अपनी नेक-नीयती का भरोसा हैं, लेकिन यह नेक-नीयत अच्छी मज़दूरी या मज़दूरों को ज्यादा सहूलियतें कट नहीं होती। सारे मुनाफ़े नये-नये महल बनवाने में खर्च हो जाते हैं; की कच्ची झोंपड़ियों को सुधारने में नहीं।

ज्जुब है कि लोग अपने-आपको और दूसरों को किस क़दर धोखा देते हैं, ना करना उनके हित में हो। इसलिए हम अठारहवीं सदी और उसके बाद मालिकों को मज़दूरों की हालत सुधारने की सारी कोशिशों में अड़ंगा पाते हैं। उन्होंने कारखानों के बारे में क़ानून और मज़दूरों के लिए ान बनाने पर ऐतराज़ किया और यह मानने से इन्कार किया कि उनकी के इन कारणों को दूर करना समाज का फ़र्ज़ है। वे तो यह सोचकर कर लेते थे कि सिर्फ़ निकम्मे लोग ही दुःख उठाते हैं। कुछ भी हो; वे तो मज़दूरों जैसा आदमी भी नहीं समझते थे। उन्होंने 'मुक्त-व्यापार'[1] की एक नई ी बनाई, यानी वे चाहते थे कि अपने व्यापार में वे जो मन में आवे सो करें कार उसमें कोई दखल न दे। उन्होंने दूसरे देशों से पहले चीज़ बनाने के ले थे, इसलिए वे उनसे आगे थे और अब तो वे सिर्फ़ यही चाहते थे या कमाने के लिए उनको खुली छूट मिल जाय। मुक्त-व्यापार का न्याय ांत एक दैवी मत बन गया, जिसमें यह माना जाता था कि इसमें हरेक मिलता था, बशर्ते कि वह फ़ायदा उठा सके। आगे बढ़ने के लिए हरेक र पुरुष को बाक़ी संसार से लड़ना पड़ता था और अगर इस लड़ाई में बहुत-आ जाते थे तो इसमें हर्ज क्या था?

न पत्रों के दौरान में मैं तुमको आदमी-आदमी के आपसी सहयोग की प्रगति में लिख चुका हूँ, जो सभ्यता का आधार रहा था। लेकिन 'मुक्त-व्यापार' और नये पूँजीवाद ने जंगल का क़ानून[2] चालू कर दिया। कार्लाइल ने इसे नीति'[3] नाम दिया है। जीवन और व्यापार का यह नया क़ानून किसने ? मज़दूरों ने तो नहीं। उन बेचारों की तो सुनता ही कौन था। इसके बनाने-ऊँचे वर्ग के सफल मिल-मालिक थे, जो इसे बेवक़ूफ़ी की भावना बताकर

---

[1] Laissez Faire.

[2] जंगल का कानून—बलवानों के द्वारा निर्बलों के नाश का नियम, जिसके र मनुष्य के सिवा संसार के सब प्राणी आचरण करते हैं। जंगल में छोटे रों को बड़े जानवर मारकर खा जाते हैं और उनसे बड़े उनको मारकर ते हैं।

[3] Pig Philosophy.

अपनी सफलता में किसी तरह की दस्तंदाज़ी नहीं चाहते थे। वस, स्वतन्
और मिल्कियत के हक़ की दुहाई देकर वे इसका भी विरोध करते थे कि
निजी मकानों की क़ानून के ज़ोर से सफ़ाई कराई जाय और माल में
करना रोका जाय।

मैंने अभी पूंजीपति शब्द का इस्तेमाल किया है। किसी-न-किसी
पूंजीवाद वहुत दिनों से सव देशों में चला आ रहा था, यानी जमा किये हुए
उद्योग चलाये जाते थे। लेकिन वड़ी मशीन और उद्योगवाद के आने का
यह हुआ कि कारखानों में माल तैयार करने के लिए वहुत ज्यादा रुपये की
पड़ने लगी। यह 'उद्योग की पूंजी' कहलाती थी और पूंजीवाद शब्द आज
अर्थ-व्यवस्था के लिए काम में लाया जाता है, जो उद्योगी क्रान्ति के वाद
इस व्यवस्था के अन्दर पूंजीपति, यानी पूंजी के मालिक, कारखानों के
और उनके मुनाफ़े कमाते थे। उद्योगीकरण के साथ-साथ पूंजीवाद सारी
में फैल गया, सिवाय सोवियत रूस और शायद कुछ दूसरे देशों के। पूंजीवाद
शुरुआत के दिनों से ही अमीर और ग़रीव के भेद पर ज़ोर देता रहा है।
धन्धों के मशीनीकरण से माल की पैदावार वहुत ज्यादा वढ़ गई और
दौलत भी खूव पैदा होने लगी। लेकिन यह नई दौलत एक छोटी-सी जमात
जेव में जाती थी—यानी नये उद्योगों के मालिकों की जेवों में। मज़दूर
के ग़रीव ही वने रहे। इंग्लैण्ड में मज़दूरों की हालत वहुत ही धीरे-धीरे
और वह भी ज्यादातर भारत व दूसरे देशों की लूट की वदौलत, लेकिन
के मुनाफ़े में मज़दूरों का हिस्सा वहुत कम था। उद्योगी क्रान्ति और पूं
पैदावार की समस्या को हल कर दिया। लेकिन जो नई दौलत पैदा हुई
वंटवारे की समस्या इनसे हल नहीं हुई। धनवानों और धनहीनों की पुरानी
सिर्फ़ जारी ही न रही, वल्कि और भी तीखी हो गई।

उद्योगों की क्रान्ति अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में हुई। यह वही
जव अंग्रेज़ लोग भारत व कनाडा में लड़ रहे थे। यही 'सात साल की
का भी समय था। इन घटनाओं का एक-दूसरी पर वहुत वड़ा असर पड़ा।
इंडिया कम्पनी और उसके नौकर-चाकरों (तुम्हें क्लाइव का नाम याद
ने प्लासी की लड़ाई के वाद जो वेशमार रुपया भारत से लूटा उससे इन नये
धन्धों को चालू करने में वड़ी मदद मिली। मैं इस पत्र में पहले लिख चुका
उद्योगीकरण शुरू-शुरु में वड़े खर्चे का काम है। इसमें जो रुपया फँस जाता है
दिन तक उससे कुछ फ़ायदा नहीं मिलता। अगर वहुत-सा धन हाथ में न आ
चाहे कर्ज़ से या दूसरी तरह से, तो जवतक उद्योग चल न निकले और
पैदा करने लगे तवतक उसका नतीजा ग़रीवी और मुसीवत ही होता है।

असाधारण सौभाग्य था कि ठीक जिस वक़्त उसे अपने उद्योग-धन्धों और ों को बढ़ाने के लिए रुपये की सबसे ज्यादा ज़रूरत हुई तभी भारत से ार रुपया मिल गया।

नये कारखानों के बन जाने पर नई ज़रूरतें पैदा हुईं। कारखानों की चीज़ें तैयार करने के लिए कच्चे माल की ज़रूरत हुई। मसलन, कपड़ा लिए रुई की ज़रूरत पड़ी। इससे भी ज्यादा ज़रूरत थी नये-नये हाट-की, जिनमें कारखानों में तैयार किया हुआ नया माल बेचा जा सके। पहले खोलकर इंग्लैण्ड दूसरे देशों से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। लेकिन ियों के होते हुए भी उसे ऐसे हाट-बाज़ार मुश्किल से मिलते थे, जहाँ माल बेचा जा सके। एक बार फिर भारत ने, अपनी मर्ज़ी के बिलकुल खिलाफ़, यह दिक़्क़त दूर कर दी। भारत में अंग्रेज़ों ने भारतीय उद्योग-धन्धों नाश करने और भारत पर विलायती कपड़ा लादने के लिए सब तरह की ों से काम लिया। इसका ज्यादा हाल मैं आगे बताऊँगा। यहाँ यह तौर पर ध्यान देने की है कि अंग्रेजों ने भारत पर जो क़ब्ज़ा कर रक्खा उसे जबर्दस्ती अपनी योजनाओं में बिठा लिया था, इससे इंग्लैण्ड की क्रान्ति को कितनी मदद मिली।

ीसवीं सदी में उद्योगवाद सारी दुनिया में फैल गया और पूँजीवादी दूसरे देशों में भी उसी मोटे ढंग से विकास हुआ, जो इंग्लैण्ड में शुरू किया । पूँजीवाद ने लाज़िमी तौर पर एक नये साम्राज्यवाद को जन्म दिया जगह तैयार माल बनाने के लिए कच्चे माल की और तैयार माल को लिए हाट-बाज़ारों की माँग बढ़ने लगी। बाज़ार और कच्चा माल हासिल सबसे आसान तरीक़ा यही था कि उस देश पर क़ब्ज़ा कर लिया जाय। शक्तिशाली देशों में नये उपनिवेशों के लिए आपस में जंगलियों जैसी होने लगी। इस मामले में भी भारत पर क़ब्ज़ा और समुद्री ताक़त, वजहों से इंग्लैण्ड फ़ायदे में था। लेकिन साम्राज्यवाद और उसके नतीजों मुझे आगे चलकर कुछ कहना है।

ोगों की क्रान्ति के आने से अंग्रेज़ी दुनिया पर लंकाशायर के बड़े-बड़े कपड़ा ों, और लोहे के मालिकों और खानों के मालिकों का प्रभुत्व दिन-पर-ता गया।

: ९९ :

अमेरिका का इंग्लैण्ड से नाता तोड़ना

२ अक्तूबर, १९३२

हम अठारहवीं सदी की दूसरी बड़ी क्रान्ति पर विचार करेंगे—यानी

अमेरिका द्वारा संबंध विच्छेद

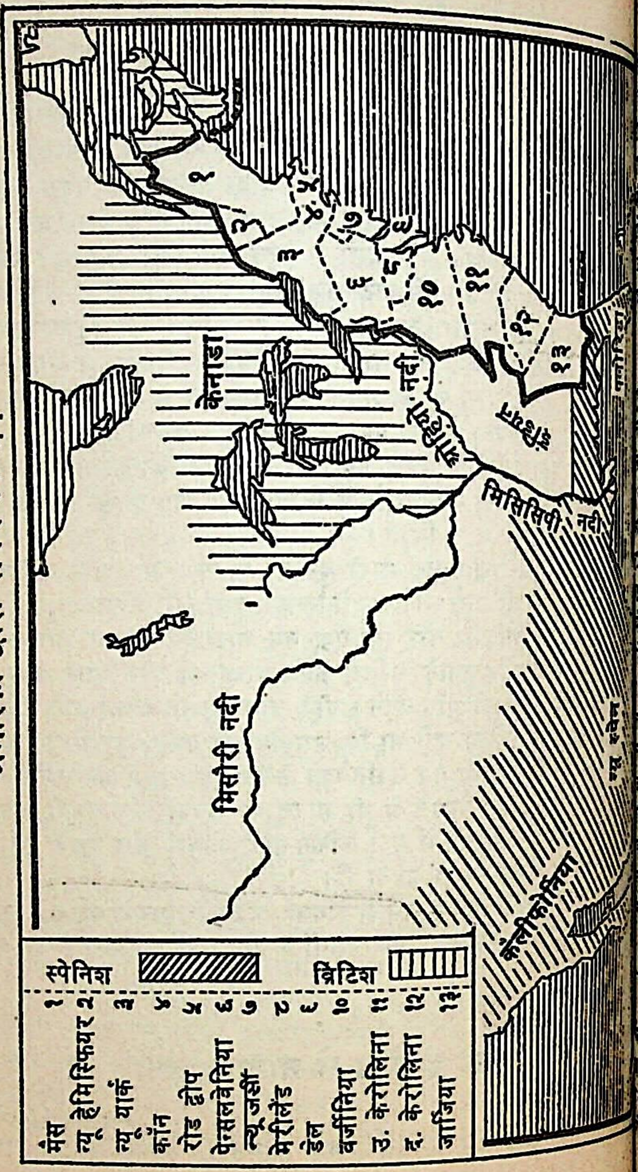
केनाडा
ओहियो नदी
फ्लोरिडा
मिसिसिपी नदी
मिसौरी नदी
कैलीफोर्निया
१
२
३
४
५
६
७
८
९
१०
११
१२
१३
स्पेनिश ▨
ब्रिटिश ▥
१ मेंस
२ न्यू हैम्पिशायर
३ न्यू यार्क
४ कॉन
५ रोड द्वीप
६ पेन्सलवेनिया
७ न्यू जर्सी
८ मेरीलैंड
९ डेल
१० वर्जीनिया
११ उ. केरोलिना
१२ द. केरोलिना
१३ जार्जिया

उपनिवेशों का इंग्लैण्ड से विद्रोह। यह तो निरी राजनीतिक क्रान्ति थी, उद्योगी क्रान्ति जैसे बुनियादी महत्व की थी, जिस पर हम विचार कर चुके न फ़्रान्स की उस राज्य-क्रान्ति की तरह थी, जो इसके थोड़े ही दिनों बाद थी और जिसने यूरोप की समाजी नींव को ही हिला डाला। लेकिन अमेरिका में होनेवाला यह राजनीतिक परिवर्तन महत्व का था और इससे नतीजे निकलनेवाले थे। उस वक्त जो अमेरिकी उपनिवेश आज़ाद हो गये बढ़कर दुनिया का सबसे शक्तशाली, सबसे मालदार और उद्योगों के से सबसे ज़्यादा बढ़ा हुआ देश बन गये हैं।

तुम्हें 'मे' फ़्लावर' जहाज़ का नाम याद होगा, जो १६२० ई० में प्रोटेस्टेण्टों जत्था इंग्लैण्ड से अमेरिका ले गया था। वे जेम्स प्रथम की निरंकुशता पसन्द करते थे, और उसके मज़हब को भी। इसलिए ये लोग, जो तबसे फ़ादर्स' (यात्रिक-पितागण) कहलाते हैं, इंग्लैण्ड की ज़मीन को हमेशा के म करके अतलान्तिक समुद्र के पार एक नये अजनबी देश को चले गए। इरादा वहाँ ऐसा उपनिवेश क़ायम करने का था, जिसमें उनको ज़्यादा रहे। वे उत्तर में उतरे और उस जगह का नाम उन्होंने न्यू-प्लाइमाउथ उत्तरी अमेरिका के समुद्री किनारे के दूसरे हिस्सों में इनसे पहले भी उप- लोग जा बसे थे। इनके बाद बहुत-से और लोग भी जा पहुंचे और पूर्वी पर उत्तर से लगाकर दक्षिण तक बहुत-से छोटे-छोटे उपनिवेश क़ायम हो कैथलिक उपनिवेश थे; इंग्लैण्ड से आये हुए 'कैवेलियर' अमीर-सरदारों म किये हुए उपनिवेश थे; और 'क्वेकर'[1] उपनिवेश थे—पैनसिलवेनिया नाम पैन नामक क्वेकर नेता के ऊपर ही पड़ा है। वहाँ डच लोग भी बसते व डेनमार्क के निवासी भी, और कुछ फ़्रान्सीसी भी। इसमें सभी देशों के मिले हुए थे, लेकिन सबसे ज़्यादा संख्या अंग्रेज़ उपनिवेशियों की थी। डचों शहर बसाया और उसका नाम न्यू-एमस्टर्डम रक्खा। बाद में जब यह अंग्रेज़ों में आया तो उन्होंने इसका नाम बदलकर न्यूयार्क कर दिया जो आजकल मशहूर है।

अंग्रेज़ उपनिवेशी इंग्लैण्ड के बादशाह और पार्लमेण्ट को मानते रहे।

---

[1] सन १६४९ ई० में विलियम फ़ॉक्स ने एक 'सोसाइटी आफ़ फ्रेण्ड्स' मण्डली) क़ायम की थी, जिसका उद्देश्य धर्म के 'ढकोसलों' को छोड़ और शान्ति स्थापित करना था। इन लोगों का मुँह-बोला नाम 'क्वेकर' था। अमेरिका में इस सोसाइटी का संगठन विलियम पैन ने किया था। इन का ज़बर्दस्त अन्तर्राष्ट्रीय और सामाजिक प्रभाव रहा है।

बहुत-से लोगों ने अपने घर इसलिए छोड़ दिये थे कि वे इंग्लैण्ड में अपनी हा
वेज़ार थे और बादशाह या पार्लमेण्ट के बहुत-से कामों को नापसन्द कर
लेकिन उनसे नाता तोड़ने की इच्छा बिलकुल न थी। दक्षिण के उपनिवेश, जि
कैवेलियर लोग और बादशाह के समर्थकों का ज़ोर था, इंग्लैण्ड से और भी ज़्या
चिपके हुए थे। ये सब उपनिवेश अपनी-अपनी अलग-अलग ज़िन्दगी बि
थे और एक-दूसरे से अलग तरह के थे। अठारहवीं सदी तक पूर्वी किनारे पर
उपनिवेश थे, और ये सब इंग्लैण्ड के मातहत थे। उत्तर में कनाडा था और
में स्पेन का इलाक़ा। इन तेरहों उपनिवेशों में जितनी डचों की या डेनमार्कवाल
या दूसरी बस्तियाँ थीं, वे सब इन्हीं में शामिल कर ली गई थीं और अंग्रेज़ों के
में थीं। लेकिन याद रहे कि ये सब उपनिवेश किनारे पर ही और किनारे के
कुछ भीतर की तरफ़ थे। इनके परे पश्चिम में प्रशान्त महासागर तक विशा
फैला हुआ था, जो आकार में इन तेरहों उपनिवेशों से क़रीब दस गुना बड़ा
इन इलाक़ों में कोई यूरोपीय उपनिवेशी बसे हुए न थे। इनमें तो
इण्डियनों"[1] के जुदे-जुदे क़बीले या राष्ट्र बसते थे, और ये उन्हींके क़ब्
थे। इनमें मुख्य 'आइरोकोइस' थे।

अठारहवीं सदी के बीच में, जैसा कि तुम्हें खयाल होगा, इंग्लैण्ड और
की संसार-व्यापी लड़ाई हुई। यह 'सात साल का युद्ध' (१७५६-१७
तक) कहलाता है जो सिर्फ़ यूरोप में ही नहीं, बल्कि भारत और कनाडा में
गया। इंग्लैण्ड की जीत हुई और फ़्रान्स को कनाडा उसके हवाले करना
इस तरह अमेरिका से फ़्रान्स का पत्ता कट गया और उत्तरी अमेरिका के सारे
निवेश इंग्लैण्ड के क़ब्ज़े में आ गये। कनाडा के सिर्फ़ क्यूबेक प्रान्त में ही
फ़्रान्सीसी लोगों की आबादी थी; बाक़ी उपनिवेशों में अंग्रेज़ ही ज़्यादा थे।
जात है कि क्यूबेक अभी तक 'ऐंग्लो-सैक्सन'[2] आबादी से घिरा हुआ
भाषा और संस्कृति का एक टापू-सा है। क्यूबेक प्रान्त के सबसे बड़े शहर

---

[1] कोलम्बस जब हिन्दुस्तान की तलाश में निकला तो अमेरिका जा प
वहाँ के निवासियों को देखकर उसने उनको हिन्दुस्तानी समझा और
उनको 'इंडियन' कहा जाने लगा। लेकिन जब मालूम हुआ कि ये लोग हिन्दु
न थे तो उनका ताम्बे जैसा रंग होने के कारण 'रेड इंडियन' का नाम दे दिया
ये लोग अब भी थोड़ी-बहुत तादाद में उत्तरी अमेरिका में पाये जाते हैं।

[2] इंग्लैण्ड के निवासी ऐंग्लो-सैक्सन जाति के माने जाते हैं। कहते
पहले-पहल जर्मनी के सैक्सनी प्रान्त से लोग यहाँ आकर बसे थे।

रायल का बिगड़ा हुआ रूप) में, मैं समझता हूँ, फ़्रान्सीसी भाषा बोलने- तने ज़्यादा लोग हैं, जितने पेरिस के सिवा और किसी शहर में नहीं होंगे।

पिछले किसी पत्र में मैं ग़ुलामों के उस व्यापार का ज़िक्र कर चुका हूँ जो के देशों ने अफ़्रीका से हब्शी मज़दूर पकड़-पकड़कर अमेरिका भेजने के लिए रक्खा था। यह भयानक और हौलनाक़ व्यापार ज़्यादातर स्पेनियों, पुर्त- ों और अंग्रेज़ों के हाथों में था। अमेरिका में मज़दूरों की ज़रूरत थी, ख़ासकर राज्यों में, जहाँ तमाखू की खेती खूब होने लगी थी। अमेरिका के मूल 'रेड-इण्डियन' कहलानेवाले लोग, घुमक्कड़ थे और एक जगह टिककर पसन्द नहीं करते थे। इसके अलावा उन्होंने ग़ुलामों की हालत में काम करने इन्कार किया। वे झुकनेवाले न थे; तबाह हो जाना उन्होंने बेहतर समझा, बाद में वे तबाह हो भी गये। उनका क़रीब-क़रीब सफ़ाया कर दिया गया ई हालतों में वे ज़िन्दा न रह सके। इन लोगों में से, जो किसी समय सारे में बसे हुए थे, आज बहुत कम बाक़ी बचे हैं।

चूंकि रेड-इंडियन लोग तो खेतों में काम करने के लिए मजबूर नहीं किये के, और मज़दूरों की बड़ी भारी ज़रूरत थी, इसलिए अफ़्रीका के कम्बख़्त यों को भयानक नर-आखेटों के ज़रिये पकड़ा जाता था, और जिस तरीक़े को समुद्र पार भेजा जाता था, उसकी बेरहमी पर विश्वास करना मुश्किल फ़्रीकी हब्शी वर्जिनिया, कैरोलिना और जॉर्जिया के दक्षिणी राज्यों को जाते थे, जहाँ इनकी टोलियाँ बनाकर इनसे ज़्यादातर तमाखू की बड़ी-बड़ी में काम लिया जाता था।

त्तरी राज्यों में हालतें इससे जुदा थीं। 'मे-फ़्लावर' जहाज़ में आये हुए न फ़ादर्स' की पुरानी प्यूरिटन परम्पराएँ अभी तक चल रही थीं। वहाँ टे घने फ़ार्म थे, दक्षिण की तरह विशाल बाड़ियाँ न थीं। इन फ़ार्मों मों की या मज़दूरों की ज़्यादा संख्या की ज़रूरत न थी। चूंकि नई की कमी न थी, इसलिए हरेक आदमी की कोशिश यही रहती थी कि अपना फ़ार्म रखकर खुद-मुख्तार बना रहे। इसलिए इन बसनेवालों में बराबरी वना बढ़ने लगी।

इस तरह हम इन उपनिवेशों में दो आर्थिक प्रणालियों का विकास देखते क तो उत्तर में, जो छोटे-छोटे फ़ार्मों और बराबरी के कुछ विचारों पर टिकी और दूसरी दक्षिण में, जिसका आधार बड़ी-बड़ी बाड़ियाँ और गुलामी था। यनों के लिए इन दोनों में से किसी में भी जगह न थी। इसलिए ये लोग, देश के मूल निवासी थे, धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ़ खदेड़ दिये गए। रेड-

इंडियनों के आपसी झगड़ों और आपसी फूट ने इस सिलसिले को आसान कर दिया।

इंग्लैण्ड के बादशाह और बहुत-से अंग्रेज़ जमींदारों का इन उपनिवे खासकर दक्षिण में, बहुत रुपया फँसा हुआ था। वे इनसे जितना फ़ायदा हो उठाने की कोशिश करते थे। सात साल के युद्ध के बाद अमेरिका के उपनि रुपया वसूल करने के लिए खासतौर पर कोशिश की गई। इंग्लैण्ड की पा जिसमें ज़मींदारों की ही तूती बोलती थी, उपनिवेशों के शोषण को तैयार और उसने बादशाह का साथ दिया। टैक्स लगा दिये गए और व्यापार पर पा लगा दी गईं। तुम्हें याद होगा कि इसी समय में भारत में भी अंग्रेज़ों ने बंगा गहरी लूट शुरू कर दी थी और भारत के व्यापार के रास्ते में हर तरह की डाली गई थीं।

उपनिवेशियों ने इन पाबन्दियों और नये टैक्सों का विरोध किया, सात साल के युद्ध में विजय के बाद ब्रिटिश सरकार को अपनी ताक़त का भरोसा हो गया था कि उसने इनके विरोध की ज़रा भी परवाह न की। उध सात साल के युद्ध से उपनिवेशों ने भी बहुत-सी बातें सीख ली थीं। अलग- उपनिवेशों या राज्यों के लोग आपस में मिले और एक दूसरे को जानने-पहचा लगे। वे सिखाई हुई अंग्रेज़ी फ़ौजों के साथ फ़्रान्सीसी फ़ौजों के खिलाफ़ लड़ थे और इस तरह लड़ने के तरीक़ों से और युद्ध के हौलनाक खेल से जानका गये थे। इसलिए अपनी तरफ़ से ये उपनिवेशी भी ऐसी बात को सीधी तरह के लिए तैयार न थे, जिसे वे अपने साथ अन्याय और ज़्यादती समझते थे।

१७७३ ई० में जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की चाय उनके सिर थोपनी चाही तो मामला क़ाबू से बाहर हो गया। ईस्ट इंडिया में इंग्लैण्ड के बहुत-से मालदारों के हिस्से थे, जिससे वे उसकी कमाई में दिल रखते थे। सरकार इन्हीं लोगों की मुट्ठी में थी, और शायद सरकार के का खुद भी ईस्ट-इंडिया कम्पनी के व्यापार में कुछ साझा था। इसलिए सर ईस्ट इंडिया कम्पनी को अमेरिका चाय भेजने और वहाँ उसे बेचने की सुवि देकर व्यापार को मदद पहुँचाने की कोशिश की। लेकिन इससे उपनिवे चाय के मुक़ामी व्यापार को धक्का पहुँचा और लोग बहुत नाराज़ हुए। इस विदेशी चाय के बायकाट का फ़ैसला किया गया। दिसम्बर, १७७३ ई० जब ईस्ट इंडिया कम्पनी की चाय बोस्टन पर उतारी जाने लगी तो उसे रोका कुछ उपनिवेशी रेड-इंडियानों का भेष बनाकर माल के जहाज़ों पर चढ़ गये उन्होंने चाय को समुद्र में फेंक दिया। यह काम खुल्लमखुल्ला और उनका

ी एक भारी भीड़ के सामने किया गया। यह एक चुनौती थी, जिसका वह हुआ कि बाग़ी उपनिवेशों और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध ठन गया।

इतिहास की घटनाएँ ठीक उसी तरह दुबारा कभी नहीं होतीं, फिर भी ीब बात है कि कभी-कभी वे कितनी मिलती-जुलती होती हैं। बोस्टन में ई० में चाय के समुद्र में फेंके जाने की यह घटना बड़ी मशहूर हो गई है। स्टन टी-पार्टी' कहलाती है। ढाई साल हुए, जब बापू ने अपनी नमक की और दांडी की महान् यात्रा और नमक पर धावे शुरू किये थे तो अमेरिका से लोगों को 'बोस्टन टी पार्टी' का ख़याल आ गया था और वे इस नई ार्टी का उससे मिलान करने लगे। लेकिन असल में इन दोनों में बहुत बड़ा ा।

ेड़ साल बाद, १७७५ ई० में, इंग्लैण्ड और उसके अमेरिकी उपनिवेशों के ठन गया। उपनिवेश किस बात के लिए लड़ाई लड़ रहे थे? आज़ादी के ों, न इंग्लैण्ड से अलहदा होने के लिए, यहाँतक कि जब लड़ाई शुरू हो गई ों तरफ़ ख़ून बह चुका, तब भी उपनिवेशियों के नेता, इंग्लैण्ड के जार्ज ो 'मोस्ट ग्रेशस सॉव्रेन'[1] कहते रहे और अपने-आपको उसकी वफ़ादार ते रहे। यह बात बड़ी दिलचस्प है, क्योंकि ऐसी बात तुम्हें अक्सर होती ाई देगी। हालैण्ड में स्पेन का फ़िलिप द्वितीय बादशाह कहलाता था, उसकी फ़ौज के साथ भीषण लड़ाई छिड़ी हुई थी। बहुत वर्षों की लड़ाई हीं जाकर हालैण्ड को मजबूर होकर अपनी स्वाधीनता की घोषणा करनी रत में भी बहुत वर्षों तक शंका और हिचकिचाहट और उपनिवेशी स्वराज्य से खिलवाड़ करने के बाद, हमारी राष्ट्रीय कांग्रेस ने, पहली जनवरी, ई० को पूर्ण स्वराज्य के हक़ में घोषणा की। अब भी कुछ लोग ऐसे हैं, जो, ता है, स्वाधीनता के विचार से घबराते हैं और भारत में उपनिवेशी ी बातें करते हैं। लेकिन इतिहास हमको बतलाता है और हालैण्ड और की मिसालें ज़ाहिर कर देती हैं कि ऐसी लड़ाई का नतीजा सिर्फ़ स्वा- ी हो सकता है।

७७४ ई० में, उपनिवेशों और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध छिड़ने से कुछ ही ले, वाशिंगटन ने कहा था कि उत्तरी अमेरिका का कोई समझदार आदमी ा नहीं चाहता; और यही वाशिंगटन बाद में अमेरिका के गणराज्य का सबसे ट्रपति होनेवाला था! १७७४ ई० में युद्ध छिड़ जाने के बाद, उपनिवेशी

---

[1] 'महा कृपालु नरेश'—इंग्लैण्ड के बादशाह को सम्बोधन करने का पुराना ।

कांग्रेस के छियालीस प्रमुख सदस्यों ने वफ़ादार प्रजा की हैसियत से वादशाह तृतीय की खिदमत में सुलह की और 'खून वहना' रोकने की अर्जी भेजी। और उसकी अमेरिकी सन्तान के वीच दुवारा मेल-जोल और अच्छी भावना करने की उनकी ज़ोरदार तमन्ना थी। वे तो सिर्फ़ किसी तरह की उपनिवेशी चाहते थे और वाशिंगटन के शब्दों में ऐलान करते थे कि कोई भी समझदार स्वाधीनता नहीं चाहता। यह 'ओलिव-ब्रांच-पिटीशन'[1] कहलाई।

लेकिन दो साल भी न वीतने पाये थे कि इस अर्जी पर दस्तखत क में से पच्चीस ने एक दूसरे ही खरीते पर दस्तख़त किये—वह थी 'स्वाधी घोषणा।'

ज़ाहिर है कि उपनिवेशों ने कोई स्वाधीनता की ख़ातिर लड़ाई थी। उनकी शिकायतें तो टैक्सों और व्यापार पर पावन्दियों के वारे में थीं। उन पर उनकी मर्ज़ी के खिलाफ़ टैक्स लगाने के पार्लमेण्ट के हक़ को मानने तैयार नहीं थे। उनका मशहूर नारा यह था कि 'विना प्रतिनिधित्व के को नहीं'[2], क्योंकि ब्रिटिश पार्लमेण्ट में उनका कोई प्रतिनिधि न था।

इन उपनिवेशों के पास कोई फ़ौज न थी, लेकिन एक विशाल दे था, जिसमें से ज़रूरत पड़ने पर पीछे हटकर शरण ले सकते थे। उन्होंने ए तैयार की और आगे जाकर वाशिंगटन उनका प्रधान सेनापति हुआ। उन सफलताएँ भी मिलीं। और फ़्रान्स भी अपने पुराने दुश्मन इंग्लैण्ड से वदला लि का अच्छा मौक़ा देखकर उपनिवेशों से मिल गया। स्पेन ने भी इं खिलाफ़ युद्ध का ऐलान कर दिया। अव इंग्लैण्ड का पासा हल्का हो गया, युद्ध वहुत वर्षों तक चलता रहा। १७७६ ई० में उपनिवेशों का मशहूर 'स्व का घोषणा-पत्र' निकला। १७८२ ई० में युद्ध ख़त्म हो गया, और १७८ लड़नेवाले देशों ने पेरिस के सुलहनामे पर दस्तख़त कर दिये।

इस तरह अमेरिका के ये तेरह उपनिवेश एक स्वाधीन गणराज्य जनको 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ़ अमेरिका' यानी अमेरिका का संयुक्त रा दिया गया। लेकिन वहुत दिनों तक इन राज्यों में आपसी फूट वनी रही औ राज्य अपने-आपको क़रीब-क़रीव स्वाधीन मानता रहा। सवकी समान की भावना वहुत धीरे-धीरे पैदा हुई। यह एक विशाल देश था, जो पश्चिम

---

[1] 'ओलिव-ब्रांच' यानी जैतून के पेड़ की डाली। यूरोप में जैतून शान्ति का चिह्न समझा जाता है। इसलिए जैतून के पेड़ की डाली पेश क मतलब होता है शान्ति का प्रस्ताव करना।

[2] No taxation without representation.

ही जा रहा था। आज की दुनिया का यह सबसे पहला बड़ा गणराज्य ोटा-सा स्वीज़रलैण्ड ही उस समय का दूसरा असली गणराज्य था। हालैण्ड ज़रूर था, लेकिन वह अमीर-वर्ग के हाथ में था। इंग्लैण्ड सिर्फ़ बादशाहत था बल्कि वहाँ की पार्लमेण्ट एक छोटे-से धनवान ज़मींदार-वर्ग के हाथों में सलिए यूनाइटेड स्टेट्स का गणराज्य एक नई तरह का देश था। यूरोप शिया के देशों की तरह उसका पुराना इतिहास कुछ नहीं था। सामन्तशाही वहाँ कोई निशान न था, सिवाय दक्षिण में बागान प्रणाली और ग़ुलामी के। नी अमीर-उमरा न थे। इसलिए मध्यम-वर्ग की तरक्क़ी के रास्ते में कोई न थीं और वह तेजी के साथ बढ़ा। स्वाधीनता के युद्ध के समय वहाँ की चालीस लाख से भी कम थी। दो साल पहले; १९३० में, यह १२ करोड़ के क़रीब थी।

ार्ज वाशिंगटन संयुक्त राज्य का पहला राष्ट्रपति हुआ। यह वर्जिनिया एक बड़ा ज़मींदार था। इस ज़माने के और महापुरुष, जो गणराज्य डालनेवाले माने जाते हैं, टामस पेन, बेन्जामिन फ़्रैंकलिन, पैट्रिक हेनरी जेफ़रसन,[1] जॉन एडम्स,[2] और जेम्स मैडिसन[3] हैं। बैन्जामिन फ़्रैंकलिन, तौर पर नामी आदमी था और यह बड़ा भारी वैज्ञानिक था। बच्चों की ड़ाकर इसने यह साबित कर दिया कि बादलों की कौंध और बिजली एक हैं।

७७६ ई० की गणराज्य की घोषणा में कहा गया था कि "जन्म से सब बराबर हैं।" अगर बारीकी से देखा जाय तो यह बयान पूरी तौर पर सही क्योंकि कुछ कमजोर होते हैं, कुछ बलवान, कुछ दूसरों से ज़्यादा चतुर होते हैं। लेकिन इस बयान की तह में जो विचार है, वह बिलकुल साफ़ रीफ़ के लायक़ है। उपनिवेशी लोग यूरोप के सामन्तशाही वर्ग-भेद से छुट- ना चाहते थे। यह अकेली ही बहुत आगे बढ़ी हुई बात थी। शायद 'स्वा- की घोषणा' की रचना करनेवालों में से बहुतों पर फ़्रान्स के वाल्तेयर व र इनके बाद होनेवाले अठारहवीं सदी के दार्शनिकों और विचारकों र पड़ा था।

ब लोग जन्म से बराबर हैं"—लेकिन फिर भी बेचारा हब्शी था, एक

---

[1] जेफ़रसन (१७४३–१८२६); अमेरिका का तीसरा राष्ट्रपति।

[2] एडम्स (१७३५–१८२६); अमेरिका का दूसरा राष्ट्रपति।

[3] मैडिसन (१७५१–१८३६); अमेरिका का चौथा राष्ट्रपति।

३३

ग़ुलाम, जिसे कोई हक़ न थे ! उसे कौन पूछता था ? संविधान में उसकी थी ? उसके लिए कोई जगह न थी, और अभी तक भी नहीं हो पाई है। साल बाद उत्तर और दक्षिण के राज्यों में भीषण गृह-युद्ध हुआ, जिसके ग़ुलामी की प्रथा तोड़ दी गई। लेकिन हब्शियों की समस्या अमेरिका में चली आती है।

: १०० :

बास्तील का पतन

७ अक्तूबर,

हम बहुत थोड़े में अठारहवीं सदी की दो क्रान्तियों का बयान कर इस पत्र में मैं तुमको तीसरी, यानी फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति के बारे में कु ऊँगा। तीनों क्रान्तियों में फ़्रान्स की इस क्रान्ति ने सबसे ज्यादा हलचल इंग्लैण्ड में शुरू होनेवाली उद्योगी क्रान्ति आमतौर पर महत्वभरी वह धीरे-धीरे आई और ज्यादातर लोगों की तो वह निगाह में भी न उस समय उसका असली महत्व किसी ने महसूस नहीं किया। लेकिन दू फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति चकित यूरोप पर एकदम बिजली की तरह गिर प अभी तक बहुत-से स्वेच्छाचारी राजाओं और सम्राटों के मातहत था। पु रोमन साम्राज्य की हस्ती मिट चुकी थी, लेकिन कागज़ी तौर पर व चल रहा था और उसके प्रेत की छाया अभी तक सारे यूरोप पर प बादशाहों व सम्राटों और दरबारों व राजमहलों की इस दुनिया में की गहराई में से यह अद्‌भुत और डरावना जीव निकल पड़ा, जि रिवाजों और हक़ों की ज़रा भी परवाह न की, और जिसने एक तख्त से उठा फेंका तो दूसरों की भी यही हालत कर डालने का दिया। फिर इसमें क्या ताज्जुब है, अगर यूरोप के बादशाह व तमाम लोग उस जनता के इस विद्रोह के आगे थर्राने लगे, जिसे उन्होंने तक नाचीज़ समझा और कुचला था !

फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति ज्वालामुखी की तरह फट पड़ी। लेकिन और ज्वालामुखी बिना सबब या बिना बहुत दिनों की तैयारी के अचान पड़ते। हम अचानक होनेवाले विस्फोट को देखकर ताज्जुब करते हैं ज़मीन की सतह के नीचे युगों तक बहुत-सी ताक़तें आपस में टकरा और आगें सुलगा करती हैं। अन्त में ऊपर की पपड़ी उनको ज्यादा देर रख सकती और ये ज्वालाएँ आकाश तक उठनेवाली विकट लपटों के

और पिघला हुआ पत्थर पहाड़ से नीचे वहने लगता है। ठीक इसी तरह जो अन्त में क्रान्ति की शक्ल में फूटती हैं, समाज की सतह के नीचे खेला करती हैं। पानी गरम करने पर उबलता है, लेकिन तुम जानती गर्म होने के बाद ही उसमें उवाल आता है।

चार और आर्थिक हालतें ही क्रान्तियाँ पैदा करते हैं। वेवक़ूफ़ सत्ताधारी हें अपने विचारों से मेल न खानेवाली कोई चीज़ नज़र नहीं आती, यह कि क्रान्तियाँ वेचैनी फैलानेवालों के सबब से होती हैं। वेचैनी फैलाने- होते हैं, जो मौजूदा हालतों से नाराज़ होते हैं और परिवर्तन चाहते सके लिए जतन करते हैं। क्रान्ति के हरेक ज़माने में इनकी बहुतायत वे तो खुद ही उस ज़माने की उथल-पुथल और वेचैनी का नतीजा होते हज़ारों और लाखों आदमी खाली एक वेचैनी फैलानेवाले के इशारे नाचने लगते हैं। ज़्यादातर लोग सलामती को दुनिया में सवसे ज़्यादा जो कुछ उनके पास है उसे वे छिन जाने के ख़तरे में नहीं डालना चाहते, आर्थिक हालतें ऐसी हो जाती हैं कि इनकी रोज़मर्रा की मुसीवतें वढ़ती और जीवन वर्दाश्त से वाहर का वोझ वन जाता है, तो कमज़ोर-से-कमज़ोर उठाने के लिए तैयार हो जाते हैं। तभी जाकर वेचैनी फैलानेवाले की र कान देते हैं, जो उनको उनकी मुसीवत से निकालने का रास्ता हुआ मालूम होता है।

ने बहुत-से पत्रों में मैंने जनता की मुसीबतों और किसानों के वलवों का है। एशिया और यूरोप के हरेक देश में किसानों के ऐसे विद्रोह हुए हैं, रह से बहुत खून-ख़रावी और ज़ुल्मी दमन हुए हैं। किसानों को उनकी ने क्रान्तिकारी कार्रवाइयों की ओर ज़वर्दस्ती ढकेला, लेकिन आम को अपने लक्ष्य का ठीक-ठीक भान नहीं था। विचारों के इस धुँधलेपन, के इस अभाव के सबव से उनकी कोशिशें अक्सर वेकार हो गईं। राज्यक्रान्ति में हम एक नई बात देखते हैं, कम-से-कम इतने बड़े पैमाने ह क्रान्ति करने की आर्थिक ढकेल के साथ विचारों का संगम। जहाँ ऐसा है वहीं सच्ची क्रान्ति होती है, और सच्ची क्रान्ति जीवन और समाज की —राजनीतिक, समाजी, आर्थिक और मज़हवी—पर असर डालती वीं सदी के अख़ीरी वर्षों में हम फ़्रान्स में ऐसा ही होता हुआ पाते हैं।

मको फ़्रान्स के वादशाहों के विलासी जीवन, निकम्मेपन व भ्रष्टाचार और आम जनता को पीसनेवाली ग़रीबी के बारे में पहले ही लिख चुका जनता के दिमाग़ में जो उथल-पुथल मच रही थी, उसका भी कुछ चुका हूँ; और उन नये विचारों का भी, जिन्हें वाल्तेयर, रूसो और

मांतेस्क्यू और बहुत-से लोगों ने चलाया था। इस तरह आर्थिक और विचारधारा का निर्माण, ये दो प्रक्रियाएँ साथ-साथ चल रही थीं दूसरी पर असर व जवाबी असर डाल रही थीं। किसी क़ौम की विचा बनाने में बहुत समय लगता है, क्योंकि नये विचार धीरे-धीरे छन-छन के पास पहुँचते हैं, और पुरानी रूढ़ियों व रायों को त्यागने के लिए लोग होते। अक्सर ऐसा होता है कि जबतक कोई नई विचारधारा क़ायम हो विचारों के नये मेल को आख़िर कबूल करने लगें, तवतक खुद ही समय से कुछ पिछड़े रह जाते हैं। यह दिलचस्पी की वात है कि व के फ़्रान्सीसी दार्शनिकों के विचारों का आधार यूरोप के उद्योगी युग ज़माना था; और फिर भी क़रीव-क़रीव ठीक उसी समय में इंग्लैण्ड क्रान्ति शुरू हो रही थी, जो उद्योग-धन्धों को और जीवन को इस क़दर ब कि वास्तव में वह बहुत-से फ़्रान्सीसी मतों की नींव ही खोखली क उद्योगी क्रान्ति का विकास असल में वाद में हुआ और फ़्रान्सीसी विचा यह अन्दाज़ा न कर सके कि आगे क्या होनेवाला था। लेकिन फिर उद्योग-धन्धों के आने के साथ-साथ उनके विचार, जिनपर फ़्रान्स की की विचारधारा वहुत हद तक टिकी हुई थी, कुछ ज़माने से पिछड़ ग

कुछ भी हो, यह साफ़ है कि फ़्रान्सीसी दार्शनिकों के इन विचारों का राज्यक्रान्ति पर वड़ा ज़बर्दस्त असर पड़ा। वलवों और विद्रोह जनता की कार्रवाइयों की वहुत-सी मिसालें पहले ही हो चुकी थीं; जनता के आन्दोलन की, या यों कहिये कि समझ-बूझकर आगे वढ़नेवा आन्दोलन की, निराली मिसाल सामने आई। फ़्रान्स की इस महान् का महत्व इसी सवव से है।

मैं वतला चुका हूँ कि १७१५ ई० में पन्द्रहवाँ लुई अपने पड़ लुई का गद्दीनशीन हुआ और उसने उनसठ वर्षों तक राज किया। क कहा करता था—'आप मरे जग प्रलय', और इसी के मुताविक़ व करता था। वड़े मज़े के साथ वह अपने देश को गहरे गड्ढे में गिरा र इंग्लैण्ड की क्रान्ति और वहाँ के वादशाह का सिर उड़ा दिये जाने की कुछ सवक़ नहीं सीखा। उसके वाद, १७७४ ई० में उसका पोता सोलह पर बैठा, जो वड़ा वेवक़ूफ़ और काठ का उल्लू था। उसकी रानी मेरी आस्ट्रिया के हैप्सवर्ग सम्राट् की वहन थी। यह भी बिलकुल वेवक़ूफ़ उसमें एक तरह की ज़िद का वल था, जिससे सोलहवाँ लुई पूरी तरह उस था। उसमें 'वादशाहों के दैवी अधिकार' का ख़याल लुई से भी ज़्याद था, और वह आम लोगों से नफ़रत करती थी। पति और पत्नी दोनों ही

के खयाल को लोगों के लिए नफ़रतभरा बनाने में कोई कसर न रक्खी। शुरू होने के बाद तक भी फ़्रान्स के लोगों का दिमाग़ बादशाहत के नहीं था, लेकिन लुई और मेरी एन्तोइनेत ने अपने कारनामों से और से गणराज्य को लाज़िमी कर दिया। लेकिन इनसे ज्यादा बुद्धिमान कुछ नहीं कर सकते थे। ठीक इसी तरह १९१७ ई० की रूसी राज्यक्रान्ति के समय रूस के ज़ार और ज़रीना ने अजीब बेवक़ूफ़ी का वर्ताव किया विचित्र बात है कि जैसे-जैसे संकट गहरा होता जाता है वैसे-वैसे ये लोग ज्यादा बेवक़ूफ़ियाँ करते जाते हैं और इस तरह खुद अपने ही विनाश का वार करते हैं। एक प्रसिद्ध लातीनी कहावत इन पर ठीक तरह लागू "ईश्वर जिसका नाश करना चाहता है उसको पहले दीवाना बना ठीक ऐसी ही कहावत संस्कृत में भी है—"विनाशकाले विपरीत बुद्धिः।"

ड़ाइयों की जीत बादशाहत और तानाशाही की अक्सर एक थूनी रही है। देश में गड़बड़ पैदा होती है तो बादशाह या सरकारी गुट्ट, जनता का तरफ़ से हटाने के लिए बाहर के देशों में फ़ौजी धावे मारने की ओर खींचता फ़्रान्स में इन फ़ौजी कारनामों का नतीजा बुरा हुआ था। सात साल के युद्ध की हार हुई और इससे बादशाहत को धक्का पहुँचा। दिवालियापन की दिन नौबत आ रही थी। अमेरिका के स्वाधीनता-युद्ध में फ़्रान्स ने जो हिस्सा में और रुपया खर्च हुआ। यह सब रुपया कहाँ से आता? अमीर-सरदारों को खास रियायतें मिली हुई थीं। वे बहुत-से टैक्सों से बरी थे और यतों को ज़रा भी नहीं छोड़ना चाहते थे। लेकिन न सिर्फ़ कर्ज़ चुकाने बल्कि दरबार की फ़िज़ूलखर्ची के लिए भी, रुपया तो वसूल होना ही । जनता की या आम लोगों की कौन परवाह करता था? फ़्रान्स की पर लिखनेवाले थामस कार्लाइल नामक एक अंग्रेज़ लेखक ने इनका किया है, वह मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ। तुम देखोगी कि उसकी एक शैली है, लेकिन वह अपनी क़लम से बड़े असर डालनेवाले खाक़े खींचता

श्रमजीवियों की हालत फिर खराब हो रही है। दुर्भाग्य की बात है! की संख्या दो-ढाई करोड़ है। जिनको हम एक तरह की धुँधली घनी एकता लेकिन धुंधले, बहुत दूर के, गँवारू भीड़ जैसे लोंदे में इकट्ठा करके कमीन, मनुष्यता से, 'जनता' कहते हैं। सचमुच जनता; लेकिन फिर भी यह है कि अगर अपनी कल्पना पर ज़ोर डालकर आप इनके साथ-साथ में, इनकी मिट्टी की मड़ैयों में, इनकी कोठरियों और झोंपड़ियों में, मालूम होगा कि जनता सिर्फ़ इकाइयों की बनी हुई है। इसकी हरेक

इकाई का अपना अलग-अलग दिल है और रंग है; वह अपनी ही खाल
और अगर तुम उसे नोचोगे तो खून बहने लगेगा।"

यह वयान १७८९ ई० के फ़्रान्स पर ही नहीं वल्कि १९३२ ई० के
कितनी अच्छी तरह फबता है! क्या हममें से बहुत-से लोग भारत
को, बीसियों करोड़ किसानों और मज़दूरों को, एक ढेर में इकट्ठा करके
दुखी और बेढँगा जानवर नहीं समझते? वे लोग बड़े लम्बे समय से बोझ
जानवर ही रहे हैं, और अब भी हैं। हम उनके साथ 'सहानुभूति'
और उनकी भलाई करने की इनायतभरी वातें वनाते हैं। और फिर भी
अपनी ही तरह के व्यक्ति और मानव खयाल नहीं करते। यह खूब
चाहिए कि अपनी कच्ची झोंपड़ियों में वे अलग-अलग ज़िन्दगी विताते हैं
सबकी ही तरह भूख और सर्दी और तक़लीफ़ महसूस करते हैं। हमारे
राजनीतिज्ञ, जो क़ानून के पंडित हैं, संविधानों वग़ैरा की वातें करते हैं,
इन्सानों को भूल जाते हैं, जिनके लिए संविधान और क़ानून वनाये जाते हैं।
देश की करोड़ों कच्ची झोंपड़ियों और शहरों के गन्दे मोहल्लों के निवासि
राजनीति का अर्थ है भूखों को भोजन, पहनने को कपड़ा और रहने को

सोलहवें लुई के राज में फ़्रान्स की यही हालत थी। उसके शासन
ठीक शुरू में ही भुक्खड़ों के दंगे हुए। ये कई साल तक जारी रहे और
दिन शान्ति रही और बाद में फिर किसानों के बलवे हुए। दिज़ों में भोजन
इसी तरह के एक दंगे के दौरान में वहाँ के गवर्नर ने भुखमरों से कहा—
उग आई है; खेतों में जाकर उसे चरो!" हज़ारों आदमी भीख माँगने का पे
लगे। सरकारी तौर पर यह वतलाया गया था कि १७७७ ई० में फ़्रान्स
लाख भिखमंगे थे। जब हम इस ग़रीबी और कम्वख्ती पर विचार करते हैं तो
की तस्वीर किस तरह बरबस हमारे सामने आ जाती है!

किसान लोग सिर्फ़ भोजन के ही भूखे न थे, ज़मीन के भी भूखे थे।
प्रथा में अमीर-सरदार ज़मीन के मालिक थे और उसकी आमदनी का
हिस्सा उन्हीं की जेबों में जाता था। किसानों के कोई सुलझे हुए विचार
उनका कोई ठीक लक्ष्य था। लेकिन वे ज़मीन पर अपनी मिल्क़ियत चाहते
उन्हें कुचलनेवाली इस सामन्त-प्रथा से नफ़रत करते थे। सामन्तों से, पादरि
और (भारत का फिर खयाल करो!) नमक-कर से उन्हें सख्त नफ़रत थी,
तौर पर ग़रीबों पर पड़ता था।

किसान-वर्ग की यही हालत थी, लेकिन फिर भी वादशाह और वेगम
के लिए हल्ला मचाते थे। सरकार के पास खर्च के लिए ही रुपया न था,
कर्ज़ बढ़ते चले जा रहे थे। मेरी एन्तोइनेत का उपनाम 'मदाम दैफ़िसित'

ीं' रख दिया गया। ज्यादा रुपया वसूलने का कोई ढँग नज़र न आता रकार लाचार होकर सोलहवें लुई ने मई, १७८९ ई० में, 'स्टेट्स जनरल' बुलाई। इस सभा में अमीर-सरदार, पादरी व साधारण लोग, इन तीन जो राज्य की जागीरें कही जाती थीं, प्रतिनिधि होते थे। उसकी रचना पार्लमेण्ट से मिलती-जुलती थी जिसमें अमीर-सरदारों व पादरियों का ऑफ़ लॉर्ड्स' होता है और दूसरा 'हाउस ऑफ कामन्स' होता है। लेकिन इन फ़र्क़ भी बहुत थे। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की बैठकें कई सौ वर्षों से क़रीब-क़रीब होती-चली आई थीं, और अपनी परम्पराओं, नियमों व काम करने के के साथ वह अच्छी तरह जम चुकी थी। 'स्टेट्स जनरल' की बैठकें बहुत ही ी थीं और उसकी कोई परम्पराएँ नहीं थीं। दोनों संस्थाओं में ऊँचे वर्गों तिनिधि होते थे; ब्रिटिश 'हाउस ऑफ़ कामन्स' में तो 'स्टेट्स जनरल' से भी प्रतिनिधि थे। किसान-वर्ग का प्रतिनिधि किसी में भी नहीं होता था।

५ मई, १७८९ ई० को वर्साई में बादशाह ने 'स्टेट्स जनरल' का उद्घाटन लेकिन जल्दी ही बादशाह को पछतावा होने लगा कि उसने इन तीनों के प्रतिनिधियों को इकट्ठा क्यों बुलाया। तीसरी जागीर यानी 'कामन्स' मवर्ग खुल्लम-खुल्ला विरोध करने लगे और इस बात पर ज़ोर देने लगे कि मर्ज़ी के बिना कोई टैक्स नहीं लगाया जा सकता। उनके सामने इंग्लैण्ड ाल थी, जहाँ कामन्स सभा ने अपना यह हक़ कायम कर लिया था। अमेरिका ी मिसाल भी उनके सामने थी। वे इस ग़लत-फ़हमी में थे कि इंग्लैण्ड आज़ाद ा। असल में यह एक धोखा था, क्योंकि इंग्लैण्ड पर अमीर-वर्ग और ज़मींदार-कब्ज़ा व शासन था। खुद पार्लमेन्ट पर भी इनका इजारा था, क्योंकि ने का अधिकार बहुत ही कम लोगों को था।

हरहाल, तीसरी जागीर या 'कामन्स' ने जो कुछ भी ज़रा-सी हिम्मत वही बादशाह लुई की बर्दाश्त से बाहर हो गई। उसने उनको सभा-भवन निकलवा दिया। डिप्टी लोगों का वहाँ से चले जाने का कोई इरादा नहीं था। हीं नज़दीक के एक टैनिस कोर्ट पर इकट्ठे हुए और उन्होंने यह क़सम ली कि एक संविधान क़ायम न कर लेंगे तबतक न टलेंगे। यही 'टैनिस कोर्ट की कहलाती है। इसके बाद वह ख़तरनाक घड़ी आई जब बादशाह ने ज़ोर-करनी चाही और खुद उसी के सिपाहियों ने उसका हुक्म मानने से इन्कार ा। क्रान्ति में हमेशा नाज़ुक घड़ी तभी आती है जब फ़ौज, जो सरकार का ा होती है, भीड़ में अपने भाइयों पर गोलियाँ चलाने से इन्कार कर देती है। घबराकर हार मान ली और इसके बाद उसने अपनी आदत की बेवकूफ़ी से, सेनाओं को बुलाने की साज़िश की कि वे उसकी प्रजा पर गोलियाँ चलावें।

जनता इसे बर्दाश्त न कर सकी और १४ जुलाई, १७८९ ई० को उन्होंने बा के पुराने जेलखाने पर क़ब्ज़ा करके कैदियों को रिहा कर दिया। यह दिन के इतिहास में हमेशा याद रहेगा।

बास्तील का पतन इतिहास की एक महान् घटना है। इसने क्रान्ति की शु की; यह सारे देश में जनता के बलवों का लक्षण था; इसका अर्थ था फ़ान्स में पु व्यवस्था, सामन्तशाही, महान् बादशाही और ख़ास रियायतों का अन्त; यह के तमाम बादशाहों और सम्राटों के लिए ज़बर्दस्त और डरावना बदशगुन था। फ़ान्स ने शानदार बादशाहों का फ़ैशन चलाया था, वही अब एक नया फ़ैश रहा था, जिसने तमाम यूरोप को हैरत में डाल दिया। कुछ लोग इस कार देख कर डर से काँपने लगे। लेकिन बहुत-से लोग इसमें आशा की किरण और दिनों के लक्षण देख रहे थे। चौदहवीं जुलाई आज तक फ़ान्स का राष्ट्रीय त्यो और यह हर साल सारे देश में मनाया जाता है।

चौदहवीं जुलाई को पेरिस की बलवाई भीड़ के क़ब्ज़े में बास्तील आ लेकिन सत्ताधारी लोग इतने अन्धे होते हैं कि इसके पहले दिन की, यानी १३ की, शाम को वर्साई में एक शाही जलसा किया गया था। नाच और गाने के बादशाह और रानी के सामने बाग़ी पैरिस पर होनेवाली भावी विजय की 'टोस्ट'[2] पिये गए। अजीब बात है कि यूरोप में बादशाह की भावना ज़बर्दस्त थी! इस युग में हम लोग गणराज्यों के आदी हो गये हैं और बाद पर ज्यादा ध्यान नहीं देते। दुनिया के कुछ बचे-खुचे बादशाह बहुत फूंक-फूं क़दम रखते हैं कि उन पर कहीं मुसीबत न आ जाय। फिर भी ज्यादातर बादशाहत के विचार के विरोधी हैं। क्योंकि यह वर्ग-भेदों को बनाये रखती है, अलगाव व बड़प्पन की झूठी अकड़ की भावना को बढ़ाती है। लेकिन अठा सदी के यूरोप में यह बात न थी। उस समय के लोगों के लिए बिना बाद देश की कल्पना करना ज़रा कठिन था। इसलिए हुआ यह कि लुई की बे लोगों की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ जाने की कोशिश के बावजूद भी उसे गद्दी से

---

[1] बास्तील (Bastille) पेरिस शहर के बीच में एक पुराना और मज़बूत क़िला था, जिसमें राजनीतिक क़ैदी बन्द किये जाते थे और तकलीफ़ें दी जाती थीं। पेरिस के लोगों ने इसपर हमला किया। लेकिन वे कुछभी नहीं बिगाड़ सकते थे, अगर क़िले के भीतर सैनिक उनका साथ न दे

[2] टोस्ट—शराब के प्याले को हाथ में लेकर, किसी व्यक्ति या घटना के में पीना 'टोस्ट' पीना कहलाता है। यह रिवाज यूरोप में और यूरोप के में अब भी मनाया जाता है और आजकल अंग्रेज़ी सभ्यता के भक्त भारतीय लो इसकी नक़ल करने लगे हैं।

ोई चर्चा न थी। क़रीब दो साल तक लोगों ने उसको और उसकी साज़िशों त किया और फ़्रान्स ने बिना बादशाह के काम चलाने का फ़ैसला तभी किया भागने की कोशिश करता हुआ पकड़ा गया।

लेकिन यह बाद की बात है। इस अर्से में 'स्टेट्स जनरल', राष्ट्रीय सभा बन र यह मान लिया गया कि बादशाह संविधान के मातहत चलनेवाला राजा उसके अधिकार सीमित हैं, यानी ऐसा राजा जो सभा के कहने के मुताबिक़ ेकिन वह इस बात से नफ़रत करता था और मेरी ऐन्तोइनेत तो और ा नफ़रत करती थी। पैरिस के लोग भी उनसे कोई ज़्यादा मोहब्बत नहीं और उन पर तरह-तरह की साज़िशें करने का शक भी करते थे। वर्साई, दशाह और रानी दरबार करते थे, पैरिस से इतनी दूर था कि राजधानी उन पर निगाह नहीं रख सकते थे। वर्साई की दावतों और विलास के ौर अफ़वाहों ने भी पैरिस के भूखे लोगों को भड़का दिया। बस, बादशाह ी पैरिस की त्विलरी[1] में एक बहुत-ही अजीब जुलूस में ले जाये गए। ान्ति की यह कहानी मैं अपने अगले पत्र में भी जारी रक्खूंगा।

: १०१ :

फ़्रान्स की राज्य-क्रान्ति

१० अक्तूबर, १९३२

ान्स की राज्यक्रान्ति के बारे में लिखने में मुझे ज़रा दिक्क़त मालूम होती बब से नहीं कि उसके लिए मसाला कम है, बल्कि इसलिए कि मसाला बहुत । यह क्रान्ति हैरत में डालनेवाले और सदा बदलते रहनेवाले एक ी तरह थी, और ऐसी असाधारण घटनाओं से भरी हुई थी जो आज भी ी हैं, सहमा देती हैं और थर्रा देती हैं। राजाओं और राजनीतिज्ञों ीति कोठरियों और खानगी कमरों में रहती हैं और उसपर रहस्य की चादर ी है। बहुत से पाप चतुराई के पर्दे में ढँक जाते हैं, और ऊँचे हौसलों व ा आपसी रगड़ा-झगड़ा शिष्टाचार की भाषा में छिप जाता है। यहाँ तक स रगड़े-झगड़े की वजह से युद्ध छिड़ जाता है, और इन लोगों की हविस व ी खातिर हज़ारों नौजवान मौत के मुँह में भेज दिये जाते हैं, तब भी ऐसी ीनी नीयतों की चर्चा हमारे कानों को बुरी नहीं लगती। इसके बजाय ऐसे ऊंचे आदर्शों और महान् हितों की बातें की जाती हैं, जो भारी-से-ानी चाहते हैं।

---

[1] त्विलरी (Tuilleries)—पैरिस का राजमहल, जिसमें सोलहवें लुई किया गया था।

लेकिन क्रान्ति इससे बिलकुल अलग तरह की चीज़ है। उसका घर गलों और बाज़ार में है और उसके तरीक़े भोंड़े और गँवारू होते हैं। क्रान्ति को राजाओं और राजनीतिज्ञों जैसी शिक्षा नहीं मिली हुई होती। उनकी भाषा और शिष्ट नहीं हुआ करती, जिसमें ढेरों साज़िशें और चालबाज़ियाँ छिपी उनमें कोई रहस्य की बात नहीं होती, न उनके दिमागों की दौड़ किसी ढकी रहती है; यहाँ तक कि उनके शरीर पर भी ढकने को काफ़ी कपड़ा नहीं राज्य-क्रान्ति में राजनीति ख़ाली राजाओं और पेशेवर राजनीतिज्ञों का रह जाती। उसका ताल्लुक़ तो असलियतों से होता है और उनके पीछे मनुष्य-स्वभाव और भूखे लोगों का ख़ाली पेट।

इसलिए १७८९ से १७९४ ई० तक इन बदशगुन पाँच वर्षों में में भूखी जनता के कारनामे देखते हैं। यही लोग डरपोक राजनीतिज्ञों को करते हैं और उन्हीं के हाथों से बादशाहत, सामन्तशाही और ईसाई-संघ की का अन्त करवाते हैं। यही लोग ख़ूँख़्वार 'मदाम गिलोतीन'[1] को भेंट चढ़ाते जिन लोगों ने इनको पहले कुचला है और जिन लोगों पर ये अपनी नई आज़ादी के ख़िलाफ़ साज़िशें करने का सन्देह करते हैं, उनसे बड़ी बेरहमी बदला लेते हैं। यही फटे-हाल और नंगे पैरोंवाले लोग, कामचलाऊ हथियार अपनी राज्यक्रान्ति की ख़ातिर लड़ने के लिए जंगी-मैदान की ओर दौड़ते अपने ख़िलाफ़ एक होकर आनेवाली यूरोप की सिखाई हुई फ़ौजों को देते हैं। फ़्रान्स के ये लोग अद्भुत काम कर दिखाते हैं। लेकिन ज़बर्दस्त लड़ाई-झगड़े के कुछ ही साल बाद क्रान्ति की शक्ति बीत जाती है और वह ख़िलाफ़ उलटकर ख़ुद अपनी ही सन्तान को खाने लगती है। और इसके बाद क्रान्ति होती है, जो क्रान्ति को हड़प कर जाती है और जिस आम जनता ने हिम्मत की थी और इतनी मुसीबतें झेली थीं, उसको दुबारा फिर 'ऊँचे' अधीन कर देती है। इस उलट-क्रान्ति में से तानाशाह और सम्राट् नेपोलि उदय होता है। लेकिन न तो यह उलट-क्रान्ति और न नेपोलियन, जनता को पुरानी जगह पर लौटा सके। क्रान्ति की बड़ी-बड़ी सफलताओं को कोई सका; और उस दिन की प्यारी यादगार को, जब थोड़ी देर के लिए सही हुओं ने अपने जुये को उतार फेंका था, फ़्रान्सीसियों से, और वास्तव में दूसरी क़ौमों से, कोई न छीन सका।

क्रान्ति के शुरू के दिनों में बहुत-से दल और गिरोह प्रभुत्व के लिए लड़ एक तो बादशाह के हिमायती थे जो सोलहवें लुई को पूरा स्वेच्छाचारी बाद

---

[1] Guillotine—मध्यकालीन यूरोप में अपराधियों के सिर काम में आनेवाली एक मशीन।

की थोथी आशा लगा रहे थे; दूसरे मद्धिम विचारोंवाले उदार लोग थे, जो न चाहते थे और बादशाह को एक सीमित अधिकारोंवाला शासक बनाकर को तैयार थे; तीसरे मद्धिम विचारोंवाले गणराज्यवादी थे, जो 'जिरोंद'[1] कहलाते थे; चौथे गरम गणराज्यवादी थे, जो जैकोबिन[2] कहलाते थे, क्योंकि ोबिन कॉन्वेन्ट के भवन में अपनी सभाएँ किया करते थे। मुख्य दल यही थे इन सबमें और इनके अलावा भी, बहुत-से हौसलेबाज़ थे। इन सब दलों क्तियों के पीछे थी फ़्रान्स की, और ख़ासकर पैरिस की जनता, जो अपनी ही के कितने ही गुमनाम नेताओं के इशारों पर चलती थी। विदेशों में, और र इंग्लैण्ड में, वे प्रवासी फ़्रेंच अमीर-सरदार थे, जो क्रान्ति से मुँह छिपाकर थे और लगातार उसके ख़िलाफ़ साज़िश कर रहे थे। यूरोप के सारे ाली राज्य क्रान्तिकारी फ़्रान्स के ख़िलाफ़ एक-जुट हो रहे थे। पार्लमेण्ट ेकिन उच्चवर्ग की सत्तावाला इंग्लैण्ड, और यूरोप के बादशाह व सम्राट् जनता के इस अद्भुत धड़ाके से बहुत डर गये थे और इसे कुचल डालने की मे थे।

बादशाहवादियों और बादशाह ने मिलकर साज़िश की, लेकिन इससे उन्होंने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारी। नेशनल असेम्बली में शुरू-शुरू में जिस दल का वह मद्धिम उदार लोगों का था, जो कुछ-कुछ इंग्लैण्ड या अमेरिका की तरह ई संविधान चाहता था। उनका नेता था मिराबो[3]। लगभग दो वर्ष तक ी में इन्हींका ज़ोर रहा और क्रान्ति के शुरू के दिनों की सफलताओं के इन्होंने कितनी ही बहादुराना घोषणाएँ कीं और कुछ महत्व के परिवर्तन भी ास्तील के पतन के बीस दिन बाद, ४ अगस्त, १७८९ ई० को, असेम्बली ऐसी घटना हुई, जिसका किसीको गुमान भी न था। असेम्बली में सामन्ती ों और ख़ास रियायतों के तोड़ दिये जाने के सवाल पर विचार हो रहा था। फ़्रान्स की हवा में कुछ ऐसी तासीर थी, जो लोगों के दिमाग़ में चढ़ गई थी,

---

[1] Girondei—यह फ़्रान्स के एक प्रान्त का नाम है। जिरोंद दल के नेता र इसी प्रान्त के निवासी थे।

[2] फ़्रान्स की राज्यक्रांति में भाग लेनेवाला एक शक्तिशाली राजनीतिक दल। बेलियों की-सी टोपी पहनते थे, जो 'जैकोबिन कैप' के नाम से मशहूर और क्रान्ति का चिह्न मानी जाने लगी। इस दल की स्थापना १७८९ ई० में हुई और रोब्सपीयरी की हार के बाद इसका अन्त हो गया।

[3] १७४९–१७९१ के बीच का एक फ्रेंच राजनीतिज्ञ (बादशाह का विरोधी); असेम्बली का प्रधान (१७९१)।

यहाँतक कि सामन्ती सरदार भी कुछ देर के लिए आज़ादी की नई शराब में मतवाले हो गये थे। बड़े-बड़े अमीर-सरदार और ईसाई-संघ के नेता के भवन में उठ खड़े हुए और अपने सामन्ती अधिकारों और खास-हक़ों को में एक दूसरे से होड़ करने लगे। यह एक सच्चा और उदार संकेत था, कुछ साल तक इसका ज्यादा असर न हुआ। हक़दार-वर्ग के दिल में ऐसी भावनाएँ कभी-कभी, लेकिन बहुत ही कम, उठती हैं, या शायद यह बात है उसे यह महसूस होने लगता है कि ख़ास हक़ों का अन्त तो होनेवाला इसलिए बहती गंगा में हाथ धोने में ही भलाई है। थोड़े ही दिन हुए जबकि छुआछूत को मिटाने के लिए अनशन किया था, तब भारत के सवर्ण हिन्दु इसी तरह का एक लासानी क़दम उठाया था और जादूकी तरह सारे देशमें की लहर फैल गई थी। हिन्दुओं ने जिन जंज़ीरों में अपने बहुत-से भाइयों को रक्खा था वे कुछ हद तक टूट गईं और हज़ारों मंदिरों के दरवाज़े, जो अछूतों के लिए बन्द थे, उनके लिए खुल गये।

बस, क्रान्तिकारी फ़्रान्स की नेशनल असेम्बली ने जोश में आकर कम प्रस्ताव तो पास कर ही दिया कि किसानों की ग़ुलामी और रियायतें और अदालतें और अमीर-सरदारों व पादरियों को टैक्स की छूट और उपाधियां सब मिटा दी जायँ। यह अजीब बात है कि बादशाह तो बना रहा, लेकिन की उपाधियाँ छिन गईं।

तब असेम्बली ने आगे चलकर मानव-अधिकारों की एक घोषणा मंज़ूर इस मशहूर घोषणा का विचार शायद अमेरिका की स्वाधीनता की घोषणा गया था। लेकिन अमेरिका की घोषणा छोटी-सी व सीधी-सादी है; लम्बी और ज़रा पेचीदा है। मानव-अधिकार वे अधिकार थे जो मनुष्य को स्वतन्त्रता और सुख दिलानेवाले माने गये थे। उस समय मानव-अधिकारों घोषणा बड़ी ही दिलेर और हिम्मतभरी मालूम होती थी, और बाद के सौ वर्षों तक यह यूरोप के उदारों और लोकतन्त्रियों का परवाना बनी रही। फिर भी आज यह ज़माने के माफ़िक़ नहीं है, और हमारे समय की किसी भी को हल नहीं करती। लोगों को यह पता लगाने में बहुत दिन लगे कि की रू से समानता और वोट देने का हक़ सच्ची समानता, या स्वतन्त्रता नहीं दिला सकते, और यह कि जिनके हाथ में सत्ता है, उनके पास उनका करने के और भी तरीक़े हैं। फ़्रान्स की राज्य-क्रान्ति से अबतक राजनीतिक बहुत आगे बढ़ गये हैं या बदल गये हैं; और शायद मानव-अधिकारों की के उन लम्बे-चौड़े सिद्धान्तों को बहुत-से रूढ़िवादी भी आज मंज़ूर कर लेंगे। इसका यह मतलब नहीं है, जैसा कि हम आसानी से देख सकते हैं, कि ये लोग

नता और स्वतन्त्रता देने को तैयार हैं। वास्तव में यह घोषणा निजी मिल्क़ियत बचाती थी। बड़े-बड़े अमीर-सरदारों की और ईसाई-संघ की जागीरें सामन्ती और रियायतों से ताल्लुक़ रखनेवाले दूसरे सबवों से ज़ब्त की गई थीं। लेकिन त्ति रखने का हक़ पवित्र और अटल माना गया था। तुम शायद जानती हो कि जकल के प्रगतिशील राजनीतिक विचारों के मुताविक़ निजी सम्पत्ति एक बुराई जो, जहाँतक हो सके, मिटा दी जानी चाहिए।

मानव-अधिकारों की घोषणा आज हमको शायद एक मामूली दस्तावेज़ म पड़े। कल के दिलेर आदर्श अक्सर आज की एक मामूली-सी बात बन जाते लेकिन जिस समय इसका ऐलान किया गया था, उस समय इससे सारे यूरोप में ी की लहर दौड़ गई थी और तमाम पीड़ितों व रौंदे हुओं को इसमें वेहतर ों की काफ़ी आशा नज़र आने लगी थी। लेकिन वादशाह ने इसे पसन्द नहीं किया; बदतमीज़ी से हैरत में आ गया और उसने इसपर मंज़ूरी देने से इन्कार कर ा। वह अभी वर्साई में ही था। इसी समय हुआ यह कि पैरिस के लोगों की उपद्रवी ड़, जिसके आगे स्त्रियाँ थीं, वर्साई के महलों पर चढ़ आई और उसने वादशाह से सिर्फ़ यह घोषणा ही मंजूर करा ली, वल्कि उसे पैरिस चले जाने के लिए भी बूर कर दिया। जिस अजीव जुलूस का ज़िक्र मैंने पिछले पत्र के अन्त में किया वह यही था।

असेम्वली ने और भी वहुत-से उपयोगी सुधार किये। ईसाई-संघ की वड़ी बी-चौड़ी मिल्क़ियत राज्य ने ज़ब्त कर ली। फ़ान्स का अस्सी इलाकों में नया टवारा किया गया और मेरा ख़याल है कि यह वँटवारा आज तक चालू है। पुरानी मन्ती अदालतों की जगह अच्छी क़ानूनी अदालतें क़ायम की गईं। यह सब अच्छे लिए था, लेकिन इससे कुछ ज्यादा मतलब हल नहीं हुआ। इससे न तो ज़मीन के किसान-वर्ग का ज्यादा फ़ायदा हुआ और न शहरों के मामूली लोगों का, जो टी के भूखे थे। ऐसा मालूम होता था कि क्रान्ति की चाल रोक दी गई। जैसा तुम्हें वतला चुका हूँ, जनता, किसान-वर्ग और शहरों के आम लोगों का असेम्वली कोई प्रतिनिधि नहीं था। असेम्वली पर मध्यमवर्ग का क़ब्ज़ा था, जिसका नेता राबो था, और ज्योंही उन्हें महसूस हुआ कि उनका मतलव पूरा हो गया, ही उन्होंने क्रान्ति को रोकने की भरसक कोशिश की। वे तो वादशाह लुई से साँठ-गाँठ करने लगे और सूवों के किसानों को गोलियों से भूनने लगे। का नेता मिराबो तो वास्तव में वादशाह का गुप्त सलाहकार बन गया। जनता ने वास्तील पर हमला करके उस पर क़ब्ज़ा कर लिया था और जो सोचने लगी थी कि इस तरह उसने अपनी जंज़ीरें तोड़ डाली हैं, वही अब ज्जुब के साथ देखने लगी कि क्या हो रहा है। उसकी आज़ादी अब भी उतनी

ही दूर मालूम होती थी जितनी पहले थी, और नई असेम्बली उसकी इसी तरह सवार थी जिस तरह पुराने सरदार लोग।

असेम्बली में मात खाकर, क्रान्ति के केन्द्र पैरिस की जनता ने अपनी क्रान्ति शक्ति के निकास का दूसरा रास्ता तलाश कर लिया। यह थी पैरिस की ' या म्यूनिसिपैलिटी। कम्यून ही नहीं बल्कि कम्यून को कई प्रतिनिधि भेजने शहर के हरेक हलक़े में एक ज़िंदा संस्था थी, जो जनता से सीधा सम्पर्क रखती। कम्यून, और ख़ासकर हलक़े, क्रान्ति के झण्डा-बरदार और उदार व मध्य असेम्बली के मुक़ाबलेदार बन गये।

इसी बीच बास्तील के पतन की साल-गिरह आ गई और १४ जुलाई पैरिस के निवासियों ने बड़ा भारी जलसा मनाया। इसे 'फेडरेशन का जलसा' गया; और पैरिसवालों ने शहर को सजाने में दिल खोलकर मेहनत की, वे इस जलसे को अपना ही समझते थे।

१७९० और १७९१ ई० में क्रान्ति की ऐसी हालत थी। असेम्बली सारा क्रान्तिकारी जोश ठंडा पड़ चुना था और वह सुधार करते-करते उकता थी; लेकिन पैरिस के लोग अभी तक क्रान्तिकारी जोश से खौल रहे थे, किसान अभी तक भूखों की तरह ज़मीन की तरफ़ ताक रहा था। यह हालत बहुत दिनों नहीं रह सकती थी; या तो क्रान्ति आगे बढ़ती या ख़त्म हो जाती। उदार नेता मिराबो १७९१ ई० में मर गया। बादशाह से गुपचुप साज़िशें करते रहने भी वह लोकप्रिय था और उसने लोगों को रोक रक्खा था। २१ जून, १७९१ को ऐसी घटना हुई, जिसने क्रान्ति की क़िस्मत का फ़ैसला कर दिया। यह था बादशाह लुई और रानी मेरी एन्तोइनेत का भेष बदलकर भाग जाना। वे किसी तरह तक पहुँच भी गये। लेकिन वेर्दून के पास वेरनीस के कुछ किसानों ने उन्हें पहचान लिया और उन्हें रोककर फिर पैरिस भेज दिया।

जहाँ तक पैरिस के निवासियों का ताल्लुक़ था वहाँतक बादशाह और की इस हरकत ने उनकी क़िस्मत का फ़ैसला कर दिया। अब गणराज्य का वि ख़ूब ज़ोर पकड़ने लगा। लेकिन फिर भी असेम्बली और उस समय की इतनी अनुदार थी और जनता की भावनाओं से इतनी दूर थी कि जो लोग लुई राजगद्दी से उतार देने की माँग करते थे उनको वे गोलियों से भूनती रहीं। क्रान्ति महान् नेता मारत के पीछे सत्ताधारी लोग बुरी तरह पड़ गये, क्योंकि बादशाह की, भाग जाने के कारण, देशद्रोही कहकर निन्दा की थी। उसे पैरिस की ज़मींदोज़ नालियों में छिपना पड़ा, जिसकी वजह से उसे भयंकर रोग हो गया।

ताज्जुब है कि फिर भी एक साल से ज़्यादा तक नाम के लिए लुई बाद

जाता रहा। सितम्बर, १७९१ ई० में नेशनल असेम्बली का काल पूरा हो गया उसकी जगह लेजिस्लेटिव असेम्बली ने ले ली। यह भी उसीकी तरह मद्धिम रोंवाली थी और सिर्फ़ ऊँचे वर्गों की ही प्रतिनिधि थी। वह फ़ान्स के बढ़ते ोश की प्रतिनिधि न थी। क्रान्ति का यह बुखार जनता में फैल गया और प्रजातन्त्रवादी जैकोबिन लोगों की, जो जनता के ही लोग थे, ताक़त बढ़ने ।

उधर यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्र इन अजीब घटनाओं को चौकन्ने होकर हे थे। थोड़े दिनों तक तो प्रशिया और आस्ट्रिया और रूस दूसरी जगह र में लगे रहे। वे पोलैण्ड के पुराने राज्य को ख़त्म करने में लगे हुए थे; लेकिन में घटनाएँ बड़े ज़ोरों से आगे बढ़ रही थीं और उनका ध्यान खींच रही १७९२ ई० में फ़ान्स का आस्ट्रिया और प्रशिया में युद्ध छिड़ गया। मैं तुम्हें लला दूं कि आस्ट्रिया इन दिनों नीदरलैण्ड के बेलजियमवाले हिस्से पर क़ब्ज़ा हुए था और उसकी सरहद फ़ान्स से लगी हुई थी। विदेशी फ़ौजें फ़ान्स के ें में घुस आईं और उन्होंने फ्रान्स की फ़ौजों को हरा दिया। लोगों का यह ख़याल और जिसके लिए सबब भी था, कि बादशाह उनसे मिला हुआ है, और सारे हवादियों पर दग़ाबाज़ी का सन्देह किया जाने लगा। जैसे-जैसे उनके चारों ख़तरे बढ़ने लगे वैसे-ही-वैसे पैरिस के लोग ज़्यादा-ज़्यादा भड़कने और घबराने न्हें चारों तरफ़ भेदिये और देशद्रोही नज़र आने लगे। पैरिस की क्रान्तिकारी न ने इस संकट की घड़ी में आगे बढ़कर लाल झण्डा फहरा दिया, और यह र कर दिया कि राज-दरबार की ग़द्दारी के ख़िलाफ़ जनता ने फ़ौजी क़ानून मार्शल-ला जारी कर दिया है। उसने १० अगस्त, १७९२ ई० को बादशाह ल पर भी धावा बोल दिया। बादशाह ने अपने स्विस[1] अंग-रक्षकों के हाथों पर गोलियाँ चलवा दीं। लेकिन जीत आख़िर जनता की ही हुई और कम्यून म्बली को मजबूर किया कि बादशाह को गद्दी से उतार कर क़ैद करे।

सब लोग जानते हैं कि आज यह लाल झण्डा सब जगह मजदूरों का, समाजवाद ाम्यवाद का, झण्डा है। लेकिन पहले यह जनता के ख़िलाफ़ फ़ौजी क़ानून षणा का सरकारी झण्डा हुआ करता था। मेरा ख़याल है, लेकिन मैं यक़ीन नहीं कह सकता, कि पैरिस कम्यून ने जब इस झण्डे का इस्तेमाल किया, नता की ओर से उसका यही सबसे पहला इस्तेमाल था। और तभी से यह ारे मजदूरों का झण्डा बनता गया।

बादशाह को गद्दी से उतारना और क़ैद करना काफ़ी न था। स्विस अंग-

---

[1] स्विट्ज़रलैण्ड के निवासी स्विस कहलाते हैं।

रक्षकों की गोलियाँ चलाने व बहुतों को मार डालने की कारंवाई से भड़के और देश के दुश्मनों व भेदियों के खिलाफ़ डर व गुस्से से भरे हुए पैरिस के जिन पर सन्देह करते उनको पकड़-पकड़ कर जेलों में ठूंसने लगे। गिरफ़्तार में बहुत-से ज़रूर क़सूरवार थे, लेकिन बहुत-से बेक़सूर आदमियों को भी गिरफ़् करके जेलों में डाल दिया गया। कुछ दिन बाद लोगों पर एक भयंकर जुनून हुआ। उन्होंने क़ैदियों को जेल से निकालकर उनपर झूठ-मूठ का मुक़दमा और उनमें से बहुतों को मौत के घाट उतार दिया। ये 'सितम्बर की हत्याएँ' क हैं और इनमें एक हज़ार से ज़्यादा आदमी मार डाले गए। पैरिस की उपद्रवी को बड़े पैमाने पर ख़ून बहाने का यह पहला ही तजुर्बा था। ख़ून की प्यास बु लिए अभी तो और बहुत ख़ून बहना बाक़ी था!

सितम्बर में ही फ़्रान्स की फ़ौजों को आस्ट्रिया और प्रशिया की हम फ़ौजों पर पहली बार जीत मिली। यह जीत वाल्मी की छोटी-सी लड़ाई में मि जो छोटी तो थी लेकिन उसका नतीजा बहुत बड़ा निकला, क्योंकि उसने को बचा लिया।

२१ सितम्बर, १७९२ ई० को नेशनल कन्वेन्शन बुलाया गया। यह असे की जगह लेनेवाली नई सभा थी। यह अपने पहले की दोनों असेम्बलियों से आगे बढ़ी हुई थी। लेकिन कम्यून से फिर भी पिछड़ी हुई थी। कन्वेन्शन ने प काम यह किया कि गणराज्य की घोषणा कर दी। इसके बाद ही सोलहवें लू मुक़दमा हुआ; उसे मौत की सज़ा दी गई और २१ जनवरी, १७९३ ई० को बादशाहत के पापों का बदला अपना सिर देकर चुकाना पड़ा। उसे गिलोटीन चढ़ा दिया गया, यानी गिलोटीन से उसका सिर उड़ा दिया गया। फ़्रान्स की अब अपना पीछे लौटने का रास्ता बन्द कर चुकी थी। उसने आख़िरी क़द दिया था और यूरोप के बादशाहों और सम्राटों को चुनौती दे दी थी। वे अब पीछे नहीं लौट सकते थे। बादशाह के ख़ून से सनी हुई गिलोटीन की पर से ही क्रान्ति के महान् नेता दान्तों[1] ने जमा हुई भीड़ के सामने बोलते हु दूसरे बादशाहों को अपनी ललकार सुनाई। उसने पुकारकर कहा—" के बादशाह हमको चुनौती देना चाहेंगे; हम एक बादशाह का सिर उनके फेंकते हैं!"

---

[1] दान्तों—(१७५९–१७९४); फ़्रान्स का एक वकील और क्रान्ति नेता। 'सितम्बर की हत्याओं' का हुक्म इसीने दिया था। रोबे ने इसे हटा दिया और इसको गिलोटीन पर चढ़ाकर मार गया।

: १०२ :

क्रान्ति और उलट-क्रान्ति

१ अक्तूबर, १९३२

बादशाह लुई मर चुका था, लेकिन उसकी मौत से पहले ही फ़्रान्स में अद्भुत र्तन हो चुका था। उसके निवासियों का ख़ून क्रान्ति की गर्मी से भभक रहा उनकी नसों में सनसनी दौड़ रही थी और उनपर धधकते हुए जोश का भूत र था। गणराज्यवादी फ़्रान्स तलवार खींचे खड़ा था; बाक़ी का यूरोप—शाही यूरोप—उसके ख़िलाफ़ था। गणराज्यवादी फ़्रान्स इन बोदे बादशाहों र राजाओं को बतला देना चाहता था कि स्वतन्त्रता के सूरज की गर्मी पाकर क्त लोग किस तरह लड़ सकते हैं। वे लोग केवल अपनी नई मिली हुई स्वतन्त्रता ए ही नहीं, बल्कि बादशाहों और अमीर-सरदारों के सताये हुए दूसरे सब लोगों स्वतन्त्रता के लिए लड़ने को तैयार थे। फ़्रान्स के लोगों ने यूरोप के राष्ट्रों अपना सन्देश भेजकर उनसे अनुरोध किया कि वे अपने शासकों के ख़िलाफ़ उठ हों, और यह घोषणा की कि ये लोग सब देशों की जनता के दोस्त और सब बाद-ही सरकारों के दुश्मन हैं। उनकी पितृभूमि[1] फ़्रान्स स्वतन्त्रता की जननी बन , जिसकी वेदी पर बलिदान हो जाना आनन्द की बात थी और इस ख़ूँख़्वार जोश घड़ी में उन्हें एक अद्भुत गीत मिल गया, जिसका स्वर उनके धधकते हुए भावों मिला हुआ था और जिसने उन्हें ख़तरों की ज़रा भी परवाह न करते हुए और गाते-गाते लड़ाई के मोर्चे की ओर दौड़ने के लिए और सब अड़चनों को लाँघने ए उकसाया। यह रूज़े द लिल का राइन की फ़ौजों के लिए रचा हुआ युद्ध-गीत जो तबसे 'मार्सेलास'[2] कहलाता है, और आज भी फ़्रान्स का राष्ट्रीय गीत है। सी भाषा के इस गीत का भावार्थ यह है:

पितृभूमि के बच्चो, आओ!
गौरव का दिन आया है!
निष्ठुरता का ख़ूनी झंडा,
अपने सिर पर छाया है!
सुनो ख़ून के प्यासे सैनिक,
चारों ओर दहाड़ रहे।
गोदी के लालों, ललनाओं,
की हत्या को उमड़ रहे।

---

[1] यूरोप के लोग देश को मातृभूमि के बजाय पितृभूमि कहते हैं।

[2] Marseillaise.

सैन्य सजाओ ! ओ नागरिको !
कर में तलवारें खींचो !
इन सबके अपवित्र खून से,
अपने खेतों को सींचो !

वे लोग बादशाहों की बड़ी उम्र मनाने के निरर्थक गीत नहीं गाते थे। बजाय वे मातृभूमि के पुनीत प्रेम और प्यारी स्वतन्त्रता के गाने गाते थे।

ओ पितभूमि के पुण्य प्रेम !
आगे बढ़ने की राह दिखा !
प्रतिहिंसा के प्यासे शस्त्रों
को तू रण में कर वल प्रदान !
प्रिय स्वतन्त्रते ! तू समर बीच
निज रक्षक-जन के प्राण बचा।

चीज़ों की जबर्दस्त तंगी थी। न तो काफ़ी खाना था, न कपड़े, न जूते। तक कि हथियार भी न थे। कितनी ही जगहों के नागरिकों से फ़ौज के लिए और जूते दे देने को कहा गया। देशभक्तों ने बहुत तरह की ऐसी चीज़ें छोड़ दिया, जिनकी फ़ौज के लिए ज़रूरत थी, और जिनकी कमी पड़ गई कुछ लोग तो अक्सर उपवास भी करने लगे। चमड़ा, रसोई के बरतन, बाल्टियाँ वग़ैरा, तरह-तरह की घरू काम की चीज़ें माँग ली गईं। पैरिस की में हज़ारों लुहारों के यहाँ हथौड़े चल रहे थे, क्योंकि सारी जनता, सारे नर-नारी, हथियार भी बनाने में मदद दे रहे थे। लोग बड़ी मारी तंगी उठा लेकिन इसकी क्या परवाह थी जब उनकी पितृभूमि फ़ान्स, सुन्दर फ़ान्स, हाल मगर आज़ादी का मुकुट पहने, ख़तरे में थी और दुश्मन उसके दरवाज़े खड़ा था ? बस, फ़ान्स के नौजवान उसे बचाने को दौड़े और भूख-प्यास की न करते हुए, विजय के लिए कूच करने लगे। कार्लाइल लिखता है, "ऐसा कमदेखा जाता है कि राष्ट्र की सारी-की-सारी जनता में ज़रा-सा भी होना माना जा सके; सिवाय उन चीज़ों में जिन्हें वह खा सके या घर- जब कभी कोई भरोसा मिल जाता है तो उसका इतिहास जोश भरनेवाला ध्यान देने के क़ाबिल बन जाता है।" एक महान् उद्देश्य में यही भरोसा नर-नारियों में पैदा हुआ और याद रखने लायक़ दिनों में उन्होंने जो इतिहास और जो क़ुर्बानियाँ बर्दाश्त कीं, उनमें अब भी हमें जोश दिलाने की और हमारे की हरकत तेज करने की पूरी ताक़त है।

नये रंगरूटों की इन क्रान्तिकारी फ़ौजों ने, पूरी तरह फ़ौजी तालीम न पर भी, फ़ान्स की धरती पर से सब विदेशी फ़ौजों को मार भगाया और

ड के दक्षिणी हिस्से (बेलजियम, वग़ैरा) को भी आस्ट्रिया के चंगुल से या। हैप्सवर्गों ने हमेशा के लिए नीदरलैण्ड छोड़ दिया और वे फिर त आये। यूरोप की सिखाई हुई और पेशेवर फ़ौज इन क्रान्तिकारी के मुक़ाबिले में न ठहर सकी। सीखा हुआ सिपाही तनख़्वाह की ख़ातिर था और बड़ी सावधानी से लड़ता था; क्रान्तिकारी रंगरूट एक आदर्श लड़ता था और विजय के लिए भारी-से-भारी जोखिम उठाने को तैयार ला हुआ सिपाही ढेर-का-ढेर सामान लादे धीरे-धीरे चलता था; रंगरूट लादने को कुछ सामान न था और वह तेजी के साथ चलता था। यानी री फ़ौज युद्ध में एक नया ही नमूना थी और उनके लड़ने का ढँग भी नया था। उन्होंने युद्ध-कला के पुराने तरीक़ों को बदल दिया और तक वे यूरोप में अगले सौ वर्षों की फ़ौजों के लिए नमूना बन गईं। इन फ़ौजों का असली बल इनके जोश और हौसले में था। इनका नारा; ल में उस समय क्रान्ति का भी नारा, दान्तों के इस मशहूर वाक्य में आ है: "पितृभूमि के दुश्मनों को परास्त करने लिए हममें दिलेरी, और भी दिलेरी, हमेशा दिलेरी, चाहिए।"

युद्ध फैलने लगा। जल-सेना के सबब से इंग्लैण्ड एक ताक़तवर दुश्मन साबित णराज्यी फ़ान्स ने बड़ी भारी थल-सेना बना ली थी, लेकिन समुद्र पर वह र था। इंग्लैण्ड ने फ़्रान्स के सारे बन्दरगाहों की नाकाबन्दी शुरू कर दी। भागे हुए लोग इंग्लैण्ड से ही करोड़ों की संख्या में जाली 'असाइनेतूस' सीसी गणराज्य के नोट घड़ा-घड़ फ़्रान्स भेजने लगे। इस तरह उन्होंने फ़्रान्स क्का-प्रणाली और अर्थ-व्यवस्था को बर्बाद करने की कोशिश की।

विदेशों के साथ यह युद्ध सबसे ज्यादा महत्ववाली चीज़ बन गया और राष्ट्र ी ताक़त उसमें ख़र्च होने लगी। ऐसे युद्ध क्रान्तियों के लिए ख़तरनाक ते हैं, क्योंकि ये समाजी समस्याओं से ध्यान हटाकर उसे विदेशी शत्रु से की तरफ़ लगा देते हैं, जिससे क्रान्ति का असली उद्देश्य घपले में पड़ जाता ति के जोश की जगह युद्ध का जोश ले लेता है। फ़्रान्स में ऐसा ही हुआ और हम देखेंगे, आख़िरी दर्जा फ़ान्स का यह हुआ कि वहाँ एक ज़बर्दस्त जंगी र की तानाशाही क़ायम हो गई।

रू झगड़े भी साथ-साथ चल रहे थे। फ़्रान्स के पश्चिम में वान्दे में, कुछ के किसानों के नई फ़ौजों में भरती होने से इन्कार करने की वजह से और दशाहवादी नेताओं और फ़्रान्स से भागे हुए लोगों की कोशिशों से, किसानों र्दस्त विद्रोह उठ खड़ा हुआ। क्रान्ति को सम्भालनेवाले और चलानेवाले ल में पैरिस के शहरी लोग थे; किसान-वर्ग राजधानी में तेजी से होनेवाले

परिवर्तनों को और उनके महत्व को न समझ सके और पिछड़ गये। वान्दे बड़ी बेहरमी के साथ दबा दिया गया। युद्ध में और खासकर गृह-युद्ध में हलके-से-हलके आवेग जाग उठते हैं और हमदर्दी तो दर-दर मारी फिरती है में क्रांति-विरोधी बलवा हुआ। इसे दबा दिया गया और किसीने किया कि सज़ा के तौर पर लियों का बड़ा शहर ही नष्ट कर दिया जाय! ने स्वतन्त्रता के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ा है; लियों अब नहीं बच सकता!" से यह प्रस्ताव मंज़ूर नहीं किया गया, मगर फिर भी लियों को बड़ी झेलनी पड़ी।

इसी बीच में पैरिस में क्या हो रहा था? वहाँ किसका क़ब्ज़ा था? हुई कम्यून और उसके हलक़ों का शहर में अभी तक बोलबाला था। न्शन में शक्ति के लिए सारे गिरोहों में कशमकश चल रही थी, जिरोंदी यानी मद्धिम गणराज्यवादी और जैकोबिनी यानी गरम जैकोबिनी दल की जीत हुई और जून १७९३ ई० के शुरू में ही जिरोंदी डिप्टी कन्वेन्शन से निकाल दिये गए। कन्वेन्शन ने अब हमेशा के लिए उठा देने की कारंवाई की और जो ज़मीनें सामन्ती क़ब्ज़े में थीं, वे मुक़ामी कम्नों यानी म्यूनिसिपैलिटियों को वापस लौटा यानी ये ज़मीनें जनता की सम्पत्ति हो गईं।

कन्वेन्शन ने, जिसमें अब जैकोबिनी लोगों की तूती बोलती थी, मुक़र्रर कीं; एक तो सार्वजनिक कल्याण की और दूसरी सार्वजनिक और इनको लम्बे-चौड़े अधिकार दे दिये। ये कमेटियाँ—खासकर कमेटी, जल्दी ही बड़ी शक्तिशाली बन बैठीं और लोग इनसे खौफ़ इन्होंने कन्वेन्शन को एक-एक कदम आगे हाँकना शुरू किया, यहाँतक 'आतंक'[1] के गहरे गड्ढे में जा पड़ी। भय की छाया अभी तक हरेक के थीं; विदेशी दुश्मनों का भय, जो उनको चारों तरफ से घेरे हुए थे; देश-द्रोहियों का भय, जिनकी संख्या बहुत थी। भय लोगों को अन्धा और बना देता है, और लगातार सिर पर सवार रहनेवाले इस भय से सितम्बर, १७९३ ई० में कन्वेन्शन ने एक भयंकर क़ानून पास किया, भाजनों का कानून' कहलाया। जिस किसीपर सन्देह या शक होता थी। और सन्देह किये जाने से कौन बच सकता था? एक महीने बाद बाईस जिरोंदी डिप्टियों पर क्रान्ति की अदालत के सामने मुक़दमा और उनको फ़ौरन मौत की सज़ा दे दी गई।

---

[1] आतंक—क्रान्ति के बाद पैरिस में जो आतंक यानी वहशत का अंग्रेज़ी में उसे The Terror कहा जाता है।

तरह 'आतंक' का राज शुरू हुआ। मौत की सजा पाये हुए लोग हर तीन पर ले जाये जाते थे; हर रोज़ इन कुर्बानी के बकरों से भरी हुई जिन्हें 'तम्ब्रिल' कहते थे, पैरिस की गलियों की रोड़ी पर चूँ-चूँ करती ड़ाती हुई जाती थीं और लोग इन अभागों को चिढ़ाते थे। कन्वेन्शन ासक-गुट्ट के ख़िलाफ़ बोलना खतरनाक था, क्योंकि इससे सन्देह पैदा और सन्देह का नतीजा था मुक़दमा और गिलोतीन। कन्वेन्शन की सार्वजनिक कल्याण और सार्वजनिक बचाव की कमेटियों के हाथों में कमेटियाँ, जिनके हाथों में ज़िन्दगी और मौत का पूरा अधिकार था, कार दूसरों को नहीं बाँटना चाहती थीं। इन्होंने पैरिस की कम्यून तराज़ किया। असल में जो इनकी हाँ-में-हाँ नहीं मिलाते थे, उन सब ऐतराज़ था। सत्ता में लोगों को भ्रष्ट कर देने की अजीब तासीर होती ए इन कमेटियों ने उस कम्यून को कुचलना शुरू कर दिया, जो अपने मेत क्रान्ति की रीढ़ रही थी। पहले इन्होंने हलक़ों को कुचला और इन काटकर फिर कम्यून को कुचल डाला। इस तरह क्रान्ति अक्सर अपने खा जाती है। पैरिस के हरेक हिस्से के ये हलक़े जनता को चोटी के मिलानेवाली कड़ियाँ थे। ये वे नसें थीं, जिनमें होकर क्रान्ति का उसे बल देनेवाला लाल ख़ून बहता था। १७९४ के शुरू में हलक़ों और कम्यून दिये जाने का अर्थ था इस जीवन देनेवाले ख़ून का रोक दिया जाना। अब न और ये कमेटियाँ अपने ऊपर की सरकार का अंग बन गईं, जिनका कोई असली सम्पर्क न था और जो 'आतंक' के ज़रिये अपनी मर्ज़ी दूसरों थीं—जैसा कि सब सत्ताधारियों का रवैया हुआ करता है। यह न्तिकारी ज़माने के अन्त की शुरुआत थी। छै महीने तक यह 'आतंक' रहनेवाला था और क्रान्ति लस्टम-पस्टम चलनेवाली थी। लेकिन न तो दिखाई देने लगा था।

ल-पुथल और परेशानी के इन दिनों में पैरिस और फ़्रान्स के नेता कौन से नाम सामने आते हैं। कैमिल देम्यूलां, जो १७८९ ई० में बास्तील के नेता था और जिसने दूसरे बहुत-से मौक़ों पर भी महत्व का हिस्सा लिया क' के दिनों में नरमी की नीति का समर्थन करते हुए यह ख़ुद गिलोतीन र हुआ। कुछ ही दिन बाद इसकी युवा पत्नी लूसिल भी इसके क़दमों पर उसने पति के बिना ज़िन्दा रहने से मौत को बेहतर समझा। कवि फैब्र दि और सरकारी वकील फोकिये तिनविल, जिससे सब भय खाते थे। मारत, शायद सबसे महान् और क़ाबिल आदमी, जिसे एक नौजवान लड़की कॉरदे ने छुरा भोंककर मार डाला; दान्तों, जिसका ज़िक्र मैं पहले भी र चुका हूँ, जो दिलेर और शेरदिल था और बड़ा अच्छा व लोकप्रिय

भाषण देनेवाला था, लेकिन फिर भी उसका अन्त गिलोतीन पर हुआ;
सबसे ज़्यादा मशहूर रोवेसपीर, जैकोबिनी दल का नेता और 'आतंक' के
कन्वेन्शन का क़रीव-क़रीब तानाशाह। यह तो एक तरह से 'आतंक'
ही बन गया था और लोग इसका नाम लेते हुए थर्राते थे। लेकिन इस
ईमानदारी और देशभक्ति के बारे में कोई उंगली नहीं उठा सकता;
'शुद्ध' यानी कभी भ्रष्ट न होनेवाला कहते थे। लेकिन जीवन में इतना
पसन्द होते हुए भी वह ज़रूरत से ज़्यादा अहंकारी था। और शायद वह
करता था कि उससे मतभेद रखनेवाला हरेक आदमी गणराज्य व क्रान्ति
है। क्रान्ति के बहुत-से बड़े-बड़े नेता, जो इसके साथी रह चुके थे, इसीके
गिलोतीन के घाट उतार दिये गए; यहाँतक कि वह कन्वेन्शन, जो भेड़
इसके पीछे-पीछे चल रहा था, आख़िर इसीके ख़िलाफ़ खड़ा हो गया।
ज़ालिम और अत्याचारी क़रार दिया और इसका व इसके अत्याचारों
कर दिया।

क्रान्ति के ये तमाम नेता नौजवान लोग थे; क्रान्तियाँ वुड्ढे
नहीं हुआ करतीं। इन नेताओं में वहुत-से भारी-भरकम ज़रूर थे, लेकिन
नाटक में किसीका भी पार्ट, यहाँतक कि रोवेसपीर का भी, ज़ोरदार
क्रान्ति के तथ्य के सामने ये हेच मालूम पड़ते हैं; क्योंकि इन लोगों ने न तो
पैदा की थी और न उसकी वागडोर ही इनके हाथों में थी। वह तो एक ऐसा
इन्सानी भूचाल था जैसे कि इतिहास में समय-समय पर हुआ करते हैं; और
समाजी हालतें व वर्षों की लगातार मुसीवतें और अत्याचार धीरे-धीरे
न लौटनेवाले रास्ते पर तैयार करते हैं।

यह न समझना कि कन्वेन्शन ने लड़ने-भिड़ने और गिलोतीन
के सिवा और कुछ न किया। सच्ची क्रान्ति से पैदा होनेवाली शक्ति
ज़ोरदार होती है। इसका बहुत-सा हिस्सा तो विदेशियों से युद्ध में खप
लेकिन फ़िर भी वहुत-कुछ वच रहा था, और इसके ज़रिये काफ़ी ठोस
गया। ख़ासकर राष्ट्रीय शिक्षा का सारा तरीक़ा ही वदल दिया गया।
प्रणाली, जिसे आज स्कूल के सव वच्चे सीखते हैं, इसी समय जारी की
इसने तमाम वाटों को और लम्वाई व आयतन के तमाम नापों को
दिया। यह प्रणाली अब दुनिया के लगभग सारे सभ्य देशों में फैल गई है
कट्टर-पन्थी इंग्लैण्ड अभी तक गज़ों, फ़र्लांगों, पौण्डों और हण्डरवेटों
पुरानी प्रणाली से चिपका हुआ है। हम भारतवासियों को सेरों और
के अलावा इन पेचीदा लम्वाइयों और तोलों को भी वर्दाश्त करना पड़ता

---

[1] अब स्वतन्त्र भारत ने भी मीट्रिक-प्रणाली अपना ली है।

क़ायदे से, मीट्रिक प्रणाली का लाज़िमी नतीजा था कि गणराज्य का एक नया र भी बने! यह २२ सितम्बर, १७९२ ई० से, यानी जिस दिन गणराज्य लान हुआ उस दिन से, शुरू किया गया। सात दिन के सप्ताह की जगह दस का सप्ताह कर दिया गया और दसवाँ दिन छुट्टी का रक्खा गया। महीने तो ही रहे, मगर उनके नाम बदल दिये गए। कवि फ़ैब्र ने ऋतुओं के मुताबिक़ नों को बड़े प्यारे नाम दिये। बसन्त के तीन महीने 'जर्मिनल', 'फ्लोरेआल', आल' थे; गरमी के महीने 'मेसिदोर', 'थर्मिदोर', 'फ़्यूक्तिदोर' थे; पतझड़ हीने 'वान्देम्यार', 'ब्रयूमार', 'फ़्रिमार', रक्खे गये; सरदी के 'निवोज़', 'प्ल्यू-ज़', 'वान्तोज़', रक्खे गये। पर यह कैलेंडर गणराज्य के बाद ज्यादा दिन टिका।

कुछ दिन ईसाइयत के ख़िलाफ़ एक ज़बर्दस्त आन्दोलन हुआ और 'विवेक'[1] जा तजवीज़ की गई। 'सत्य' के मन्दिर बनाये गए। यह आन्दोलन प्रान्तों में जल्द फैल गया। १७९३ ई० के नवम्बर में पैरिस के नोत्रदाम गिरजे में न्त्रता' और 'विवेक' का बड़ा भारी उत्सव मनाया गया और एक सुन्दर स्त्री वी बनाया गया। लेकिन रोबेसपीर इन मामलों में कट्टर था। उसने इस आन्दोलन को पसन्द नहीं किया। दान्तों ने भी नहीं किया। सार्वजनिक कल्याण की जैको-कमेटी भी इसके ख़िलाफ़ थी, इसलिए आन्दोलन के नेताओं को गिलोतीन ढ़ा दिया गया। सत्ता और गिलोतीन के बीच में कोई ठहरने की जगह न थी। न्त्रता' और 'दिदेक' उत्सव का तुर्की-बतुर्की जवाब देने के लिए रोबेसपीर र्वोपरि' सत्ता के दूसरे जलसे का आयोजन किया। कन्वेन्शन के वोट से यह किया गया कि फ़्रान्स एक 'सर्वोपरि सत्ता' में विश्वास करता है! रोमन कैथलिक फिर पसन्द किया जाने लगा।

पैरिस के हलक़ों को और कम्यून को कुचल दिये जाने के बाद हालत बड़ी से बिगड़ रही थी। जैकोबिन्नी दल सब पर हावी हो रहा था; सरकार की डोर उनके हाथों में थी, लेकिन उसमें आपसी फूट फैल रही थी। 'स्वतन्त्रता' 'विवेक' के उत्सव के अगुआ हीबर्त और उसके समर्थकों को गिलोतीन पर या जाना जैकोबिनी दल में फूट का पहला बड़ा सबब हुआ। इसके बाद फ़ैब्र लैंतीन का नम्बर आया; और जब १७९४ ई० के शुरू में दान्तों, कैमिली, ं, वग़ैरा ने रोबेसपीर के हाथों बेहद लोगों को गिलोतीन पर चढ़ाये जाने विरोध किया, तो इनको भी मौत के घाट उतार दिया गया। अप्रैल, १७९४ में दान्तों को फुर्ती के साथ क़त्ल कर दिया गया कि कहीं लोग दख़ल न डाल दें। पैरिस की और प्रान्तों की जनता यह समझ गई कि क्रान्ति का अन्त हो चुका।

---

[1] विवेक (Reason)—भले-बुरे का, सत्य-असत्य का, ज्ञान।

क्रान्ति का एक शेर मारा गया और अब एक तंग-दिल गुट्ट का अधिकार हो शत्रुओं से जो घिरा हुआ था और जनता से जिसका सम्पर्क टूट गया था, ऐसे गुट्ट को चारों तरफ़ दग़ाबाज़ी ही नज़र आने लगी, और 'आतंक' को ज़ोर बनाने के सिवा इसे अपने बचाव का कोई रास्ता न सूझा।

बस, आतंक का राज हो गया और गिलोतीन की तरफ़ जानेवाली गाड़ियों में कुर्बानी के बकरों की संख्या पहले से भी ज़्यादा हो गई। जून में नया क़ानून पास किया गया जो 'बाईसवीं प्रेरिआल' का क़ानून कहलाता है जिसमें झूठी ख़बरें उड़ाना, लोगों को लड़ाना या भड़काना, सदाचार की काटना, और जनता के ईमान को विगाड़ना, वग़ैरा जुर्मों के लिए मौत की सज़ा वीज़ की गई थी। जो कोई भी रोवेसपीर और उसके हिमायतियों से मतभेद रख वही इस क़ानून के लम्बे-चौड़े जाल में पकड़ा जा सकता था। झुण्ड-के-झुण्ड पर एक साथ मुक़दमे चलाएँ जाते थे और उन्हें सज़ाएँ दे दी जाती थीं। एक बार डेढ़-सौ आदमियों पर एक साथ मामला चलाया गया, जिनमें सज़ाएं पाये क़ैदी, वादशाहवादी, वग़ैरा, शामिल थे।

इस नये 'आतंक' का राज छियालीस दिन रहा। आखिरकार थर्मिदोर यानी २७ जुलाई १७९४ ई० को दबी हुई विल्ली ने झपट्टा मार कन्वेन्शन अचानक रोवेसपीर और उसके समर्थकों के ख़िलाफ़ हो गया और 'ज़ालि मुर्दावाद' के नारे लगाते हुए उन्होंने इन सवको गिरफ़्तार कर लिया और रोवेस को तो वोलने तक नहीं दिया। दूसरे दिन तम्ब्रिल उसे भी उसी गिलोतीन पर गई, जहाँ वह वहुतों को भेज चुका था। इस तरह फ़ान्स की राज्यक्रान्ति अन्त हो गया।

रोवेसपीर की मृत्यु के वाद उदारदली क्रान्ति शुरू हुई। अब उदारदली आये और इन लोगों ने जैकोबिनी लोगों को सताना और उनपर आतंक शुरू किया। 'लाल आतंक' के बाद 'सफ़ेद आतंक' की वारी आई। पन्द्रह बाद, अक्तूबर, १७९५ ई० में कन्वेन्शन टूट गया और पाँच सदस्यों की 'डायरेक्टरी', सरकार वन गई। यह पूरी तरह मध्यमवर्ग की सरकार थी और आम लोगों को दवाकर रखने की कोशिश की। इस डायरेक्टरी ने फ़ान्स पर साल से ज़्यादा शासन किया और अन्दरूनी झगड़ों के वाद भी गणराज्य इतनी धाक और ताक़त थी कि वह देश के बाहर भी युद्धों में जीतती रही। ख़िलाफ़ कुछ वग़ावतें भी हुईं, लेकिन वे सब दवा दी गईं। इसी तरह के एक को दवानेवाला गणराज्य की फ़ौज का एक नौजवान सेनानायक नेपोलियन बो पार्ते था, जिसने पेरिस की भीड़ पर गोलियाँ चलाने की हिम्मत की और बहुतों मार डाला। यह घटना 'छर्रों का झोंका' करके मशहूर है। जब खुद गणराज्य

ौज ही फ़ान्स की जनता को मारने के काम में लाई जा सकती थी, तो
कि क्रान्ति की छाया तक भी बाक़ी न रही होगी।
, क्रान्ति का अन्त हो गया और उसके साथ ही आदर्शवादियों के मीठे
और ग़रीबों की आशाओं का भी अन्त हो गया। लेकिन फिर भी जो बातें
ल करना चाहती थी, उनमें से बहुत-सी हासिल हो गईं। कोई भी उलट-
ब किसानों की ग़ुलामी को वापस नहीं ला सकती थी, और बोर्बन वाद-
—बोर्बन फ़्रान्स का एक राजवंश था—जब वापस आये तो उस ज़मीन
न छीन सके जो किसान-वर्ग में बाँट दी गई थी। खेत में या शहर में काम
साधारण आदमी की हालत इतनी अच्छी हो गई कि जितनी पहले कभी
थी। सच तो यह है कि 'आतंक' के दिनों में भी उसकी हालत क्रान्ति के
बेहतर थी। 'आतंक' उसके खिलाफ़ न था। वह तो ऊँचे वर्गों के खिलाफ़
ांकि आख़िरी वक़्त में कुछ ग़रीब लोगों को भी इससे तकलीफ़ें उठानी

ान्ति धराशायी हो गई, लेकिन गणराज्य का ख़याल यूरोप भर में फैल
र उसके साथ ही उन सिद्धान्तों का भी प्रचार हुआ, जिनका ऐलान 'मानव-
ों की घोषणा' में किया गया था।

: १०३ :

हुकूमतों के ढंग

२७ अक्तूबर, १९३२

ने दो हफ़्तों से कुछ नहीं लिखा। कभी-कभी मैं सुस्त हो जाता हूँ। यह
क अब मेरी इस कहानी का अन्त नज़दीक आ रहा है, मुझे ज़रा रोक देता
अठारहवीं सदी के अन्त तक तो पहुँच ही चुके हैं; अब उन्नीसवीं सदी के
र ग़ौर करना बाक़ी है। फिर हमें ठेठ आज तक पहुँचने में बीसवीं सदी
त्तीस वर्ष रह जायँगे। लेकिन इन बचे हुए एक सौ बत्तीस वर्षों का बयान
ा होगा। बहुत नज़दीक होने के सबब से ये बहुत बड़े नज़र आते हैं और
मागों में भर जाते हैं, और पहले की घटनाओं से हमको ज़्यादा भारी मालूम
जो कुछ आज हम अपने चारों तरफ़ देखते हैं, उसके ज़्यादातर हिस्से की
वर्षों के भीतर हैं, और वास्तव में पिछली सदी और उससे आगे की घट-
घने जंगल में होकर तुमको ले जाना मेरे लिए आसान काम न होगा।
ससे मेरे जी चुराने की यही वजह हो! लेकिन मैं इस असमंजस में पड़
कि जब अन्त में मनुष्य-जाति की यह कहानी १९३२ ई० तक आ पहुँचेगी
काल वर्तमान में मिलकर भविष्य की छाया के सामने ठहर जायगा, तब

मैं क्या करूँगा ? प्यारी बेटी, तब मैं तुमको क्या लिखूंगा ? उस वक़्त मेरे बहाना रहेगा कि मैं क़लम लेकर बैठूं और तुम्हारा ख़याल करूं, या कि तुम मेरे पास बैठकर बहुत-से सवाल पूछ रही हो, जिनका जवाब कोशिश करता हूँ ?

फ़ान्स की राज्यक्रान्ति के बारे में मैं तीन पत्र लिख चुका हूं; फ़ान्स हास के थोड़े-से पाँच वर्षों के बारे में तीन लम्बी चिट्ठियाँ हैं। युगों की के दौरान में हमने सदियों को एक-एक डग में पूरा कर दिया है और पर सरसरी निगाह डाली है। लेकिन यहाँ फ़ान्स में, १७८९ से १७९४ हम काफ़ी देर ठहरे हैं; और फिर भी यह जानकर तुम्हें ताज्जुब होगा अपने बयान को छोटा करने की सख़्त कोशिश की है, क्योंकि मेरे दिमाग़ में भरा हुआ था और मेरी क़लम आगे दौड़ना चाहती थी। फ़ान्स को इतिहास में महत्व रखती है। वह इतिहास के एक ज़माने का अन्त और शुरुआत बतलाती है। लेकिन उसका नाटक-जैसा रूप हमको और मोहता है और यह हम सबको बहुत-सी नसीहतें देती है। दुनिया में आज पुथल हो रही है और हम लोग महान् परिवर्तनों के दरवाज़े पर खड़े देश में भी हम क्रान्ति के समय में रह रहे हैं, फिर यह क्रान्ति मारकाट कितनी ही दूर क्यों न हो। इसलिए हम फ़ान्स की राज्य-क्रान्ति से और महान् क्रान्ति से, जो रूस में हमारे ही समय में हमारी आँखों के सामने कुछ सीख सकते हैं। इन दोनों क्रान्तियों जैसी जनता की सच्ची की कठोर असलियतों पर बड़ी तेज़ रोशनी डालती हैं। बिजली की तरह वे सामने की सारी ज़मीन को, और ख़ासकर अन्धेरी जगहों को, देती हैं। कम-से-कम कुछ देर के लिए अपना लक्ष्य बहुत साफ़ और पास दिखाई देता है। दिल में विश्वास और शक्ति भर जाते हैं। शंका और हट दूर हो जाती हैं। दूसरे नंबर की चीज़ पर समझौता करने का नहीं रहता। क्रान्ति को बनानेवाले लोग तीर की तरह सीधे लक्ष्य की बढ़ते हैं, दायें-बायें नहीं देखते; और जितनी सीधीं और तेज उनकी है, उतनी ही क्रान्ति आगे बढ़ती है। लेकिन यह सिर्फ़ क्रान्ति के में ही होता है जबकि उसके नेता पहाड़ की चोटी पर होते हैं और की ढाल पर चढ़ती है। लेकिन अफ़सोस ! एक वक़्त ऐसा आता है जब से उतरकर नीचे की अन्धेरी घाटियों में भी आना पड़ता है। उस मन्दा पड़ जाता है और क्रिया-शक्ति कम हो जाती है।

१७७८ ई० में वाल्तेयर, जो क़रीब-क़रीब ज़िन्दगी भर रहा था, मरने के लिए पैरिस लौटा। उस समय वह चौरासी साल का

वानों को सम्बोधन कर उसने कहा था—"नौजवान बड़े भाग्यशाली हैं; वे महान् बातें देखेंगे।" वास्तव में उन्होंने महान् बातें दिखीं और उनमें भाग लिया कि ग्यारह साल बाद ही क्रान्ति शुरू हो गई। वह ज़रूरत से ज़्यादा इन्तज़ार चुकी थी। सत्रहवीं सदी में महान् बादशाह चौदहवें लुई का कहना था कि हीं सबसे बड़ा हूँ;" अठारहवीं सदी में उसके उत्तराधिकारी पन्द्रहवें लुई ने —"मेरे बाद प्रलय हो जायगी"; और इस न्यौते के बाद सचमुच हं। रेला ा, जो सोलहवें लुई और उसके साथियों को बहा ले गया। पाउडर लगे नक़ली ं और रेशमी बिरजिसोंवाले अमीर-सरदारों के बजाय 'साक्यूलौत' यानी बिना जिसवाले लोग आगे आये, और फ़्रान्स का हरेक निवासी 'नागर' या 'नागरी' ाने लगा। नये गणराज्य का नारा था—"स्वतन्त्रता, समानता, भाईचारा", ारे संसार को पुकार-पुकारकर सुनाया गया।

क्रान्ति के दिनों में 'आतंक' का ख़ूब ज़ोर रहा। क्रान्ति की ख़ास अदालत र किये जाने से लगाकर रोबेसपीर की मृत्यु तक के सोलह से भी कम महीनों गभग चार हज़ार आदमी गिलोतीन पर चढ़ा दिये गए। यह एक बड़ी संख्या ौर जब यह ख़याल होता है कि कितने ही बेक़सूर आदमी गिलोतीन पर चढ़ा गए होंगे तो दिल को बड़ा सदमा और रंज पहुँचता है। लेकिन फिर भी कुछ ाएँ याद रखने लायक़ हैं, जिससे हम फ़्रान्स के इस 'आतंक' को तसवीर में ठीक ह बिठाकर देख सकें। गणराज्य चारों तरफ़ शत्रुओं, देश-द्रोहियों और भेदियों िरा हुआ था और गिलोतीन पर चढ़ाये जानेवालों में से बहुत-से लोग गणराज्य ुल्लमखुल्ला विरोधी थे, जो उसके सत्यानाश की कार्रवाइयाँ कर रहे थे। क' के आख़िरी दिनों में क़सूरवारों के साथ बेक़सूर भी पिस गये। जब दहशत र होती है तो आँखों पर पर्दा पड़ जाता है और तब क़सूरवार और बेक़सूर ेद पहचाननना मुश्किल हो जाता है। फ़्रान्स के गणराज्य को एक नाज़ुक ें लाफ़ेअत'[1] जैसे अपने बड़े-बड़े सेनापतियों के भी विरोध और दग़ाबाज़ी का ना करना पड़ा, तब अगर नेता लोग घबरा गये हों और उन्होंने अन्धाधुन्ध -उधर मार-काट करनी शुरू कर दी हो तो इसमें अचम्भा ही क्या है?

जैसा कि एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास में बतलाया है, यह बात भी न में रखने की है कि उस वक़्त इंग्लण्ड, अमेरिका और दूसरे देशों में क्या हो था। फ़ौजदारी क़ानून, ख़ासकर सम्पत्ति को बचाने के बारे में, वहशियाना

---

[1] लाफ़ेअत—(१७५७–१८३४); फ़्रान्सीसी सेनापति और राजनीतिज्ञ। अमेरिका के स्वाधीनता-संग्राम में अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ा था। १७८९ ई० ह फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति का नेता था, लेकिन १७९२ ई० में वहाँ से भाग ा। नेपोलियन के बाद यह फिर राष्ट्रीय फ़ौज का सेनापति हुआ।

था और छोटे-छोटे अपराधों के लिए लोग फाँसी पर चढ़ा दिये जाते थे। कहीं- अब भी सरकारी तौर पर लोगों को यन्त्रणाएँ दी जाती थीं। वेल्स ने लिखा है फ़ान्स में 'आतंक' के राज में जितने आदमी गिलोतीन पर चढ़ाये गए, उतने ही में इंग्लैण्ड और अमेरिका में इससे कहीं ज्यादा आदमी इसी तरह फांसी पर दिये गए थे।

उन दिनों जिस ख़ौफ़नाक बेरहमी व बेदर्दी के साथ ग़ुलामों का किया जाता था उसका भी ख़याल करो। और युद्ध का और खासकर का ख़याल करो, जो हज़ारों नौजवानों को उठती ज़वानी में मटिया-मेट कर है। ज़रा और पास आकर अपने ही देश की तरफ़ देखो और हाल की घटनाओं विचार करो। तेरह साल हुए जब अमृतसर के जलियांवाला बाग़ में अप्रैल की शाम को, वसन्त के त्यौहार के दिन, सैंकड़ों लोग मार डाले गए थे और हज़ारों तरह घायल कर दिये गए थे। और षड्यन्त्रों के ये सब मुक़दमे और खास और आर्डिनेन्स, लोगों को डराने और दवाने की कोशिशों के सिवा और क्या दमन और आतंक की तेजी हुकूमत की हौलदिली का नाप हुआ करती है। हुकूमत, चाहे वह प्रतिगामी हो या क्रान्तिवादी, विदेशी हो या स्वदेशी, का सहारा तब लेती है जब उसे ख़ुद अपनी ही हस्ती ख़तरे में मालूम पड़ती प्रतिगामी हुकूमत कुछ खास रियायतोंवाले लोगों की ओर से जनता के कार्रवाई करती है; क्रान्तिवादी हुकूमत जनता की तरफ़ से गिने-चुने खास तियों के खिलाफ़ करती है। क्रान्तिवादी हुकूमत ज्यादा खरी और ईमानदार है; वह अक्सर ज़ालिम और कठोर तो होती है, लेकिन उसमें छल-कपट घड़ी नहीं होते। प्रतिगामी हुकूमत धोखेबाज़ी की हवा में रहती है, क्योंकि वह है कि अगर उसका भेद खुल गया तो वह टिक न सकेगी। वह स्वतन्त्रता करती है, और इस स्वतन्त्रता का यह अर्थ लगाती है कि वह ख़ुद मनमानी के लिए स्वतन्त्र है। वह इन्साफ़ की बात करती है, जिसका मतलब होता है व्यवस्था को क़ायम रखना, जिसके अन्दर वह पनपती है, हाल कि दूसरे मरते हैं। तुर्रा यह कि वह क़ानून और व्यवस्था की दुहाई देती है, लेकिन फ़िकरे की आड़ में गोलियाँ चलाना, मारना, क़ैद करना, ज़वानबन्द करना, हरेक ग़ैरक़ानूनी और बेक़ायदा कार्रवाई करती है। 'क़ानून और व्यवस्था नाम पर हमारे सैकड़ों भाइयों को ख़ास अदालतों के सामने पेश करके सज़ा दे दी गई है। इसीके नाम पर ढाई साल पहले अप्रैल के महीने में एक पेशावर में मशीनगनों ने हमारे सैंकड़ों बहादुर पठान देश-भाइयों को निहत्था पर भी भून डाला। और इसी 'क़ानून और व्यवस्था' की दुहाई देकर ब्रिटिश फ़ौज हमारे सरहदी गाँवों में और इराक़ में बम बरसाती है और स्त्रियों, और छोटे-छोटे बच्चों को अन्धाधुन्ध मार डालती है या ज़िन्दगी भर के लिए

कर देती है। लोग कहीं हवाई-जहाज़ की मार से बच न जायँ, इसके लिए किसी नी दिमाग़ ने 'देर से फटनेवाले बम' ईजाद किये हैं। जो गिरकर कोई नुक़सान पहुँचाते मालूम पड़ते और कुछ देर तक फटते नहीं हैं। गाँवों के स्त्री-पुरुष, सोचकर कि ख़तरा निकल गया, अपने घरों को वापस लौट आते हैं और थोड़ी देर बाद बम फट जाते हैं, जिससे आदमियों का और सम्पत्ति का नाश हो ा है।

करोड़ों के सिर पर रोज़मर्रा की भुखमरी की जो दहशत सवार रहती है ा भी ख़याल करो। हम अपने चारों तरफ़ ग़रीबी देखने के आदी हो गये हैं। समझते हैं कि मज़दूर और किसान उजड्ड लोग हैं और वे तकलीफ़ ज्यादा मह- नहीं करते। अपनी आत्माओं की फटकार को ठंडी करने के लिए यह दलील ी फ़िज़ूल है! मुझे बिहार में झरिया की एक कोयले की खान में जाने की बात है, और ज़मीन की सतह के बहुत नीचे, कोयले के लम्बे-लम्बे काले और अन्धेरे ों में स्त्रियों और पुरुषों को काम करते देखकर मुझे जो सदमा पहुँचा, उसे भी नहीं भूल सकता। लोग खानों में काम करनेवालों के लिए आठ घंटे के की बातें करते हैं, लेकिन कुछ लोग इसका भी विरोध करते हैं और सोचते कि उनसे और भी ज्यादा काम लिया जाना चाहिए। जब मैं इस बहस को सुनता ा पढ़ता हूँ तो मुझे अपनी उन ज़मीं-दोज़ अन्धेरे तहख़ानों में जाने की बात आ जाती है, जहाँ आठ मिनिट भी मेरे लिए पहाड़ हो गये थे।

फ़्रान्स का 'आतंक' एक भयंकर चीज़ था। लेकिन फिर भी ग़रीबी और बेकारी जरोग के मुकाबले में वह मक्खी के डंक-जैसा था। समाजी क्रान्ति का ख़र्चा, वह क्रान्ति कितनी ही बड़ी क्यों न हो, इन बुराइयों से कम होता है; और युद्ध के ख़र्चे से भी कम होता है, जो मौजूदा राजनीतिक और समाजी व्यवस्था र-बार हमारे सिर पर आता रहता है। फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति का आतंक बहुत इसलिए दिखलाई पड़ता है कि बहुत-से ख़िताबधारी और अमीर-वर्ग के लोग शिकार हुए। हम लोग इन ख़ास-रियायती वर्गों की इज़्ज़त करने के इतने हो गये हैं कि जब ये लोग मुसीबत में होते हैं तो हमारी सहानभूति उनकी तरफ़ ाती है। दूसरों की तरह ही इनके साथ भी सहानुभूति रखना अच्छा है। लेकिन याद रखना चाहिए कि इन लोगों की संख्या बिलकुल कम होती है। हम उनके की कामना कर सकते हैं। लेकिन जिनसे असली मतलब है, वे तो आम लोग हैं, और हम थोड़ों की ख़ातिर बहुतों को क़ुर्बान नहीं कर सकते। रूसो ता है—"जनता ही वास्तव में मनुष्य जाति है। जो जनता नहीं है वह इतनी चीज़ है कि उसे गिनने की भी तकलीफ़ उठाने की ज़रूरत नहीं।"

इस पत्र में मैं तुमको नेपोलियन के बारे में लिखना चाहता था। लेकिन मेरा

दिमाग़ भटक गया और मेरी क़लम दूसरी तरफ़ दौड़ गई और नेपोलियन प करना अभी बाक़ी है। उसे हमारे दूसरे पत्र का इन्तज़ार करना पड़ेगा।

: १०४ :

नेपोलियन

४ नवम्बर, १

फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति में से नेपोलियन का उदय हुआ। जिस सम फ़्रान्स ने यूरोप के बादशाहों को चुनौती दी थी और उनसे लोहा लिया था, इस नन्हे से कोर्सिका-निवासी के आगे घुटने टेक दिये। फ़्रान्स में उस समय एक तरह की जंगली ख़ूबसूरती थी। फ़्रान्सीसी कवि बार्बिये ने फ़्रान्स की तुलना एक जानवर—सिर उठाये हुए व चमकदार, खालवाली एक शानदार और म घोड़ी से, की है, जो ख़ूबसूरत बदज़ात, ज़ीन, जोत और लगाम से ज़बर्दस्त वाली, ज़मीन पर पाँव पटकनेवाली, और अपनी हिनहिनाहट से दुनि डरानेवाली थी। यह शानदार घोड़ी कोर्सिका के इस नौजवान को सवारी के लिए राज़ी हो गई और उसने इससे बड़े-बड़े अजीब करतब करवाये। उसने इसे सधा भी लिया और इस जंगली, मनमौजी जानवर का सारा जं और अल्हड़पन दूर कर दिया। और उसने इससे इतना फ़ायदा उठाया औ इतना थका दिया कि इसने उसे भी गिरा दिया और खुद भी गिर पड़ी।

तो नेपोलियन किस तरह का आदमी था? क्या वह संसार का कोई पुरुष था या, जैसा कि कहा जाता है, 'तक़दीर-देवी का पुत्र' या ज़बर्दस्त जिसने इन्सानियत को बहुत-से बन्धनों से छुटकारा दिलाने में मदद दी? या कि एच० जी० वेल्स वग़ैरा कहते हैं, वह खाली एक हौसलेबाज़ था, जिसने को और उसकी सभ्यता को बड़ा भारी नुक़सान पहुँचाया? शायद इ बातों में सचाई है; या दोनों में सचाई का कुछ अंश है। हम सबमें अच्छाई और बड़प्पन और छुटपन की अजीब मिलावट होती है। वह भी ऐसी ही एक मि था, लेकिन इस मिलावट में ऐसे असाधारण गुण मिले हुए थे, जो हममें से में न मिलेंगे। उसमें साहस था और आत्म-विश्वास था; कल्पना थी और ब क्रिया-शक्ति थी और बड़े ऊँचे हौसले थे। वह बहुत बड़ा सेनानायक था और ज़माने के सिकन्दर और चंगेज़ जैसे सेनानियों की टक्कर का युद्ध-कला का था। लेकिन वह कमीना था और स्वार्थी और घमण्डी भी था। उसकी ज़िन्द सबसे बड़ी उमंग किसी आदर्श के पीछे दौड़ना नहीं थी, बल्कि खुद अ सत्ता की तलाश थी। उसने एक बार कहा था: "मेरी रखैल! सत्ता मेरी

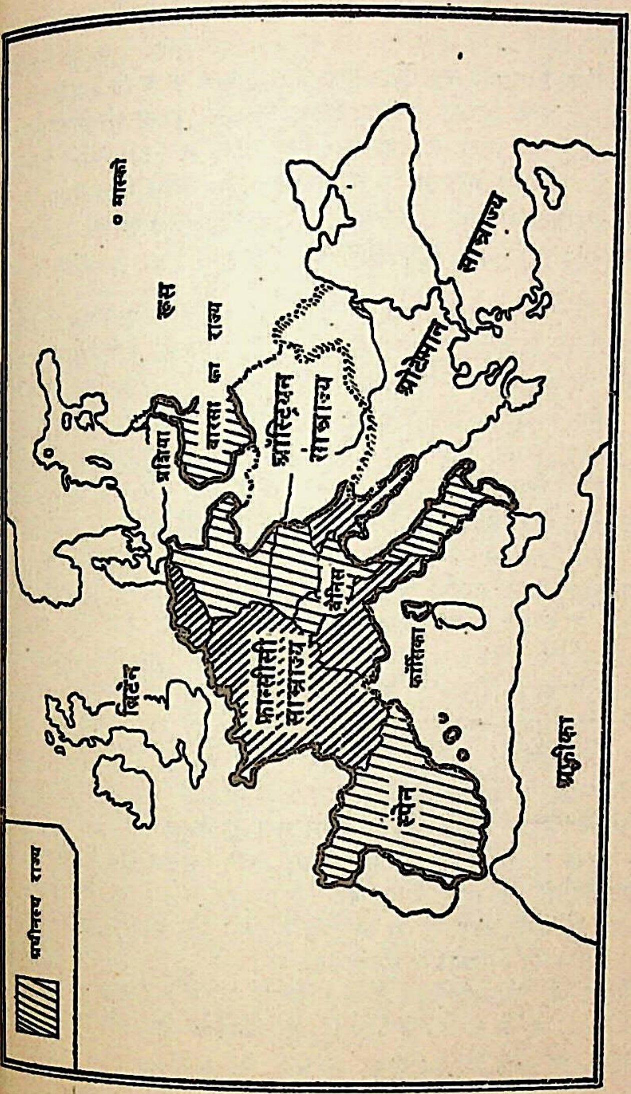
मास्को
रूस
वारसा का राज्य
प्रशिया
आस्ट्रियन साम्राज्य
ओटोमान साम्राज्य
वेनिस
फ्रान्सीसी साम्राज्य
कॉर्सिका
ब्रिटेन
स्पेन
अफ्रीका
▨ अधीनस्थ राज्य

है ! इसे वश में करने के लिए मुझे इतनी दिक़्क़त उठानी पड़ी है कि मैं किसीको छीनने दूंगा और न अपने साथ भोगने दूंगा !" वह क्रान्ति में था लेकिन फिर भी वह एक विशाल साम्राज्य के सपने देखता था और की जीतें उसके दिमाग़ में भर रही थीं। उसे यूरोप भी छोटा मालूम हो पूर्व उसे ललचा रहा था, खासकर मिस्र और भारत। अपनी ज़िन्दगी के दौर में, जब वह सत्ताइस साल का था, तब उसने कहा था : "महान और ज़बर्दस्त परिवर्तन सिर्फ़ पूर्व में ही हुए हैं; उस पूर्व में जहाँ साठ बसते हैं। यूरोप तो एक छोटी-सी टेकरी है !"

नेपोलियन बोनापार्त का जन्म १७६९ ई० में कोर्सिका टापू में जो फ़्रान्स के मातहत था। उसकी रगों में फ़्रान्स, कोर्सिका और इटली मिले हुए थे। उसने फ़्रान्स के एक फ़ौजी स्कूल में तालीम पाई थी और के समय में वह जैकोबिनी क्लब का सदस्य था। लेकिन शायद वह जैकोबिनों में अपना ही उल्लू सीधा करने के लिए शामिल हुआ था, इसलिए नहीं कि आदर्शों में विश्वास करता था। १७९३ ई० में तूलों में उसे पहली जीत इस जगह के मालदार लोगों ने इस डर से कि कहीं क्रान्ति के राज में न छिन जाय, सचमुच अंग्रेज़ों को बुला लिया और बाक़ी बचा हुआ जंगी-बेड़ा उनके हवाले कर दिया। इस आफ़त ने और ऐसी ही दूसरी नई-उम्र के गणराज्य को ज़बर्दस्त धक्का पहुँचाया और हरेक फ़ालतू और औरतों को भी, फ़ौज में भर्ती होने का हुक्म दिया गया। नेपोलियन को पीस डाला और तूलों की लड़ाई में बड़ी उस्तादी के साथ हमला को हरा दिया। अब उसका सितारा बुलन्द होने लगा और चौबीस में वह सेनापति बन गया। कुछ ही महीनों में जब रोबेसपीर गिलोटीन दिया गया तो यह आफ़त में फंस गया, क्योंकि इस पर रोबेसपीर के होने का सन्देह किया गया। लेकिन सच तो यह है कि जिस दल में वह उस दल का सिर्फ़ एक ही सदस्य था, और वह था खुद नेपोलियन ! डायरेक्टरी का राज आया और नेपोलियन ने साबित कर दिया कि होना तो दरकिनार वह तो उलट-क्रान्ति का नेता था और बिना किसी के जनता को गोलियों से भून सकता था। यह १७९५ ई० का वही झोंका था, जिसका ज़िक्र मैं एक पिछले पत्र में कर चुका हूँ। उस ने गणराज्य को घायल कर डाला। दस वर्षों के भीतर ही उसने कर डाला और वह फ़्रान्स का सम्राट् बन बैठा।

१७९६ ई० में वह इटली की फ़ौज का सेनापति हो गया और उत्तरी हिस्से पर बड़ी चतुराई से धावा करके उसने सारे यूरोप को

फ़्रान्स की फ़ौजों में क्रान्ति का जोश अभी कुछ बाक़ी था। लेकिन वे फटे-ीं, और उनके पास न ठीक कपड़े थे, न जूते, न खाना और न रुपया। वह इस और पांवों में छाले पड़े हुए जत्थे को आल्प्स के पहाड़ों के ऊपर होकर ले और उनको आशा दिलाई कि इटली के उपजाऊ मैदानों में पहुँचकर उनको और आराम की चीज़ें सब मिलेंगी। दूसरी तरफ़ इटली के निवासियों को आज़ादी का वचन दिया; वह उनको ज़ालिमों से छुड़ाने आ रहा था। लूट-के नज़ारे के साथ क्रान्तिवादी गपड़-सपड़ की यह कैसी विचित्र मिलावट थी! उसने फ़्रान्स और इटली दोनों के निवासियों की भावनाओं से बड़ी चालाकी फ़ायदा उठाया। चूंकि वह ख़ुद भी आधा इटालवी था, इसलिए उसका ख़ूब जम गया। जैसे-जैसे उसे विजय मिलती गई, उसका रौब बढ़ने लगा उसकी कीर्ति फैलने लगी। अपनी फ़ौज में भी वह बहुत-सी बातों में साधारण हियों के साथ तकलीफ़ें उठाता था और ख़तरे में उनके साथ रहता था; क्योंकि जहाँ कहीं सबसे ज़्यादा ख़तरा होता वहीं वह पहुँच जाता था। वह हमेशा लियाक़त की तलाश में रहता था और इसके लिए वह तुरन्त लड़ाई के ही में इनाम दे देता था; अपने सिपाहियों के लिए वह पिता—एक बहुत न पिता!—के समान था, जिसे वे प्यार से 'छोटा-सा कार्पोरल' कहते थे 'तू' करके सम्बोधन करते थे। फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात, जो बीस-साल का यह नवयुवक सेनापति फ़्रान्सीसी सिपाहियों का प्राणप्यारा गया हो?

तमाम उत्तरी इटली को विजय करके, आस्ट्रिया को हराकर, और के पुराने गणराज्य का अन्त करके और वहाँ बड़ी भद्दी साम्राज्यशाही करके वह एक महान् विजयी और वीर बनकर पैरिस लौटा। फ़्रान्स में उसका क़ायम होना शुरू हो ही गया था। लेकिन उसने सोचा कि शायद अभी हथियाने का ठीक वक़्त नहीं आया है, इसलिए उसने एक फ़ौज लेकर मिस्र का ढंग रचा। जवानी से ही पूर्व की यह पुकार उसके दिल में उठ रही थी अब वह इसे पूरी कर सकता था। एक लम्बे-चौड़े साम्राज्य के सपने उसके में चक्कर लगाने लगे होंगे। भूमध्यसागर में अंग्रेज़ी जंगी-बेड़े से किसी बाल-बाल बचकर वह सिकन्दरिया जा पहुँचा।

मिस्र उन दिनों तुर्कों के उस्मानी साम्राज्य का हिस्सा था, लेकिन इस साम्राज्य न हो चुका था और मिस्र में असली राज ममलूकों[1] का था, जो सिर्फ़ नाम

---

[1] ममलूक—तुर्की के सुलतान अयूब के शरीर-रक्षक ग़ुलाम, जो उसकी (१२५१) के बाद १५१७ ई० तक मिस्र में राज करते रहे। सुलतान सलीम ने इनको निकाल बाहर कर दिया था, लेकिन अठारहवीं सदी में इन्होंने फिर

के लिए तुर्की के सुलतान के मातहत थे। क्रान्तियों और आविष्कारों ने यूरो भले ही हिला डाला हो, लेकिन ये ममलूक अभी तक मध्य-युगों का ही ढंग हुए थे। कहते हैं कि जब नेपोलियन क़ाहिरा पहुँचा तो एक ममलूक सूरमा भड़कीले कपड़े और दमिश्क का ज़िरह-बख़्तर (कवच) पहने घोड़े पर होकर फ़ान्स की फ़ौज के सामने आया और उसके नेता को द्वन्द्व-युद्ध के ललकारा ! उस बेचारे पर गोलियों की बौछार की गई। इसके बाद नेपोलियन ने 'पिरैमिड्स की लड़ाई' जीती। वह नाटक-जैसे हाव-भाव बहुत करता था। एक पिरैमिड के नीचे अपनी फ़ौज के सामने घोड़े पर खड़े होकर कहा—"सिपाहियो ! देखो, चालीस सदियाँ तुम्हारे ऊपर निगाह डाल रही

नेपोलियन थल-युद्ध का उस्ताद था और वह जीतता ही गया। लेकिन पर उसका बस न चला। वह जल-युद्ध लड़ना नहीं जानता था और शायद पास योग्य समुद्री-सेनानायक भी नहीं थे। ठीक उन्हीं दिनों भूमध्यसागर में के जंगी-बेड़े की कमान एक ग़ैर-मामूली प्रतिभावाले आदमी के हाथों में हीरेशियो नेल्सन[1] था। नेल्सन बड़ी हिम्मत करके एक दिन ठेठ बन्दरगाह आया और नील नदी की लड़ाई में उसने फ़ान्स के जंगी बेड़े को तबाह कर इस तरह परदेश में नेपोलियन फ़ान्स से बिछुड़ गया। वह तो किसी तरह बचकर निकल भागा और फ़ान्स पहुँच गया, लेकिन ऐसा करके उसने अप की फ़ौज' को क़ुर्बान कर दिया।

इन जीतों में और कुछ फ़ौजी नामवरी के बावजूद पूर्वी देशों का दंस्त धावा असफल रहा। लेकिन दिलचस्पी की यह बात ध्यान में रखने है कि नेपोलियन अपने साथ विशेषज्ञों, विद्वानों और प्रोफ़ेसरों की भीड़ बहुत-सी किताबों और तरह-तरह के औज़ारों के साथ, मिस्र देश को लेकर इस 'इन्स्टीट्यूट' मण्डली में रोज़ चर्चाएँ होती थीं, जिनमें नेपोलियन भी की हैसियत से भाग लेता था। इन विशेषज्ञों ने विज्ञान की खोजों का बहुत- काम किया। यूनानी लिपि और मिस्र की चित्र-लिपि के दो भेद—इन तीन में खुदा हुआ एक शिलालेख मिलने से तसवीरी लिखावट की पुरानी पहेली गई। यूनानी लिपि की सहायता से दूसरी दोनों लिपियों को पढ़ लिया गया।

अधिकार प्राप्त कर लिया। १७९८ ई० में नेपोलियन ने इन्हें हराया और ई० में सुलतान मुहम्मद अली ने इनका अन्त कर दिया।

[1] नेल्सन (१७५८–१८०५)—इंगलैण्ड का बड़ा प्रसिद्ध और यो सेनापति। इसने कई समुद्री लड़ाइयाँ जीतीं थीं और इंगलैण्ड का समु बढ़ाया। यह ट्राफल्गार के युद्ध में मारा गया।

चस्प बात है कि स्वेज़ पर नहर काटने की एक तजवीज़ में नेपोलियन ने हुत दिलचस्पी दिखलाई थी।

जब नेपोलियन मिस्र में था तो उसने ईरान के शाह और दक्षिण भारत के सुलतान के साथ कुछ बातचीत चलाई थी। लेकिन इनका फल कुछ न निकला कि उसके पास समुद्री ताक़त बिलकुल न थी। अन्त में समुद्री ताक़त ने ही लियन को पछाड़ दिया और उन्नीसवीं सदी में इंगलैण्ड को ज़बर्दस्त बनाने- भी समुद्री ताक़त ही थी।

मिस्र से जब नेपोलियन लौटा तो फ़्रान्स की हालत बहुत खराब हो रही थी। क्टरी बदनाम और लोगों को नापसन्द हो चुकी थी, इसलिए हरेक की आँखें लियन की तरफ़ लगी हुई थीं। वह तो सत्ता हथियाने को तैयार ही बैठा था। र, १७९९ ई० में, अपनी वापसी के एक महीने बाद, नेपोलियन ने अपने भाई की सहायता से असेम्बली को ज़बर्दस्ती भंग कर दिया, और उस समय के संविधान के मातहत डायरेक्टरी हुकूमत कर रही थी, उसका अन्त कर दिया। ज़बर्दस्ती के राजनीतिक धड़ाके[1] से, नेपोलियन ने हालत को क़ाबू में कर लिया। ऐसा इसलिए कर सका कि लोग उसे चाहते थे और उसमें भरोसा रखते थे। का तो बहुत दिन पहले ही दिवाला निकल चुका था; लोकतन्त्र का भी अब हो रहा था और एक लोकप्रिय सेनापति का डंका बज रहा था। एक नये संवि- का मसविदा बनाया गया, जिसमें तीन 'कौंसल' (यह शब्द प्राचीन रोम से गया था) रक्खे गये, लेकिन इन तीनों में प्रधान नेपोलियन था, जिसे पूरे अधि- थे। वह प्रथम 'कौंसल' कहलाया और दस वर्ष के लिए नियुक्त किया गया। न पर चर्चा के दौरान में किसीने यह सुझाव दिया कि एक ऐसा राष्ट्रपति चाहिए, जिसके हाथ में कोई असली सत्ता न हो और जिसका मुख्य काम पत्रों पर हस्ताक्षर करना हो और जो रस्मी तौर पर गणराज्य का प्रतिनिधि जाय, जैसे आजकल संवैधानिक बादशाह होते हैं या फ़्रान्स का राष्ट्रपति गर नेपोलियन तो सत्ता चाहता था, सिर्फ़ शाही पोशाक नहीं। उसे ऐसे शाही विना सत्तावाले राष्ट्रपति की कोई दरकार नहीं थी। उसने कहा—"इस सुअर को दूर करो!"

यह संविधान, जिसमें नेपोलियन को दस साल के लिए प्रथम कौंसल बनाया था, जनता की राय के लिए पेश किया गया और तीस लाख से ज्यादा वोटरों लगभग एक राय से मान लिया। इस तरह फ़्रान्स की जनता ने इस झूठी आशा

---

[1] इसे फ़्रान्सीसी भाषा में 'कू देता' (Coup d'etat) कहते हैं, और यह अंग्रेज़ी भाषा में भी प्रयोग किया जाता है।

में कि वह उन्हें स्वतन्त्रता और सुख दिलायेगा, खुद ही सारी सत्ता नेपोलियन भेंट कर दी।

लेकिन हम नेपोलियन के जीवन-इतिहास की सारी बातें नहीं लिख सकते। तो और सत्ता की दिन-पर-दिन बढ़ती हुई भूख से भरा पड़ा है। 'राजनीतिक के बाद पहली ही रात को, जबकि नया संविधान बनने और मंजूर होने भी न था, उसने क़ानूनी ज़ाब्ते का मसविदा बनाने के लिए दो कमेटियां मुक़र्रर कर उसकी तानाशाही का यह पहला काम था। लम्बे वादविवाद के बाद, जिसमें लियन भी शामिल होता था, यह ज़ाब्ता १८०४ ई० में आखिरी तौर पर कर लिया गया। यह 'नेपोलियन कोड' नेपोलियन का क़ानूनी ज़ाब्ता कहला क्रान्ति के विचारों या आज के पैमाने के लिहाज़ से यह क़ानून कुछ आगे हुआ नहीं था। लेकिन वह उस समय की हालतों से ज़रूर आगे बढ़ा हुआ और सौ साल तक कई बातों में यह सारे यूरोप के लिए क़रीब-क़रीब नमूना रहा। नेपोलियन ने और भी कई तरह से प्रशासन में सादगी और मुस्तैदी पैदा वह हरेक काम में दख़ल देता था और छोटी-छोटी बातों को याद रखने की अजीब शक्ति थी। अपनी अद्भुत कार्यशक्ति और जीवट से वह साथियों मन्त्रियों को थका डालता था। उस समय का उसका एक सहयोगी उसके बारे लिखता है: "अपनी ढंग से चलनेवाली समझ-बूझ के साथ राज करता हुआ, करता हुआ और मोल-तोल करता हुआ, वह दिन में अठारह घंटे काम कर जितना शासन दूसरे बादशाहों ने सौ वर्षों में किया होगा उससे ज्यादा इसने वर्षों में कर लिया है।" यह बात ज़रूर बढ़ाकर कही गई है, लेकिन यह सही अकबर की तरह नेपोलियन की भी याददाश्त असाधारण थी और उसका पूरी तरह ढंग से चलनेवाला था। वह अपने बारे में कहता था: "जब मैं किसी को दिमाग़ से हटाना चाहता हूं तो उसकी दराज़ बन्द कर देता हूं और दूसरी खोल देता हूं। इन दराज़ों में रखी हुई चीज़ें कभी गड़बड़ नहीं होने पातीं और मुझे परेशान करती हैं। मैं जब सोना चाहता हूँ सब दराज़ें बन्द कर देता हूं सो जाता हूं।" वास्तव में यह देखा गया था कि लड़ाई होती रहती थी और ज़मीन पर लेट जाता था और आधा घंटे के क़रीब सो लेता था, और उठकर फिर लम्बे समय के लिए लगन के साथ काम में जुट जाता था।

वह दस वर्ष के लिए प्रथम कौंसल बनाया गया था। सत्ता के ज़ीने की सीढ़ी तीन साल बाद, १८०२ ई० में आई, जब उसने अपने-आपको उम्र भर के कौंसल बनवा लिया और उसके अधिकार बढ़ा दिये गए। गणराज्य का चुका था, और वह सब तरह से राजा बन गया था, हालांकि नाम के लिए कहलाता था। और फिर जैसा कि होना ही था, उसने १८०४ ई० में

लेकर अपने-आपको सम्राट् ऐलान कर दिया। फ़्रान्स में वह ही सर्वेसर्वा था, न फिर भी इसमें और पुराने ज़माने के निरंकुश राजाओं में बहुत फ़र्क़ था। रम्परा और दैवी अधिकार को अपनी सत्ता का आधार नहीं बना सकता था। तो अपनी सत्ता अपनी मुस्तैदी और जनता में अपनी लोकप्रियता के आधार पर ी थी। और वह भी ख़ासकर किसानों में लोकप्रियता के आधार पर, जो हमेशा सके सबसे ज़्यादा हिमायती रहे थे; क्योंकि वे जानते थे कि इसी ने उनकी तों को छिनने नहीं दिया था। नेपोलियन ने एक बार कहा था: "मैं गोल कमरों नेवालों और बकवास करनेवालों की राय की क्या परवाह करता हूँ। मैं फ़ एक ही राय को मानता हूँ, जो किसानों की राय है।" लेकिन लगभग लगा-चलनेवाले युद्धों के लिए अपने बेटों को भेंट देते-देते अन्त में किसान लोग भी आ गये। जब यह सहारा छिन गया तो जो विशाल भवन नेपोलियन ने खड़ा था, वह लड़खड़ाने लगा।

दस वर्ष तक वह सम्राट् रहा और इन वर्षों में वह मार्के की चढ़ाइयाँ करता और याद रखने लायक़ लड़ाइयाँ जीतता हुआ यूरोप के सारे महाद्वीप में ता फिरा। सारा यूरोप उसके नाम से थर्राता था और उसका ऐसा दबदबा जैसा उसके पहले और बाद में आजतक किसी का न हुआ। मारेंगो (यह लड़ाई ०० ई० में हुई, जब उसने अपनी फ़ौज के साथ स्वीज़रलैण्ड की बरफ़ से ढकी ंट बर्नार्ड की घाटी को पार किया), उल्म, आस्तरलित्स, यैना, ईलू, फ़्रीदलैंद, न, वग़ैरा, उसकी ज़मीन पर जीती हुई मशहूर लड़ाइयों के नाम हैं। आस्ट्रिया, या, रूस वग़ैरा, सब उसके सामने भरभराकर गिर पड़े। स्पेन, इटली, नीदर-, राइन का कान्फ़ेडरेशन कहलानेवाला जर्मनी का बड़ा हिस्सा, पोलैण्ड, जो की डची कहलाता था, ये सब राज्य उसके मातहत हो गये। पुराना पवित्र साम्राज्य, जो बहुत दिनों से नाम के लिए रह गया था, अब बिलकुल ख़त्म गया।

यूरोप की बड़ी शक्तियों में से सिर्फ़ इंग्लैण्ड ही आफ़त से बच गया। इंग्लैण्ड सी समुद्र ने बचाया, जो नेपोलियन के लिए हमेशा एक रहस्य रहा। और समुद्र ी हुई हिफ़ाज़त के सबब से इंग्लैण्ड उसका सबसे ज़बर्दस्त और कट्टर दुश्मन या। मैं बतला चुका हूँ कि किस तरह नेपोलियन की ज़िन्दगी के शुरू में ही न ने नील नदी की लड़ाई में उसके जंगी बेड़े को तबाह कर दिया था। २१ र, १८०५ ई० को स्पेन के दक्षिणी किनारे पर ट्रेफल्गार अन्तरीप के पास न ने फ़्रान्स और स्पेन के शामिल जंगी बेड़े पर और भी ज़बर्दस्त विजय की। इसी समुद्री लड़ाई के शुरू होने के पहले नेल्सन ने अपने बेड़े को यह र सन्देश दिया था: "इंग्लैण्ड को आशा है कि हरेक आदमी अपना फ़र्ज़ अदा

करेगा।" नेल्सन तो विजय की घड़ी में मारा गया। लेकिन इस विजय ने, जि अंग्रेज़ लोग बड़े अभिमान से याद करते हैं और जिसकी यादगार लंदन के ट्रे स्क्वायर में नेल्सन-मीनार के रूप में बनी हुई है, नेपोलियन के इंग्लैण्ड पर धा बोलने के सपने को नष्ट कर दिया।

नेपोलियन ने यूरोप के महाद्वीप के सारे बन्दरगाहों को इंग्लैण्ड के ख़ि रोक देने का हुक्म निकालकर इसका बदला लिया। इंग्लैण्ड की किसी तरह की आवा-जाही की मनाही कर दी गई और 'बनियों के राष्ट्र' इंग्लैण्ड को इस तरह में लाने का इरादा किया गया। उधर इंग्लैण्ड ने इन बन्दरगाहों की नाकाब कर दी और नेपोलियन के साम्राज्य व अमेरिका वग़ैरा दूसरे देशों के बीच वाले व्यापार को रोक दिया। यूरोप में लगातार साज़िशें करके और नेपोलि दुश्मनों को तटस्थ (ग़ैर-तरफ़दार) राज्यों को दिल खोलकर सोना बाँट इंग्लैण्ड ने नेपोलियन से लड़ाई लड़ी। इस काम में उसे यूरोप के कई बड़े मालदार घरानों से, ख़ासकर रॉथ्सचाइल्ड घराने से, बड़ी मदद मिली।

इंग्लैण्ड ने नेपोलियन के ख़िलाफ़ एक और भी तरीक़ा काम में लिया प्रचार का था। हमला करने का यह नया ही ढंग था, लेकिन तबसे यह बहुत हो गया है। फ़्रान्स के, और ख़ासकर नेपोलियन के ख़िलाफ़ अख़बारों में आन्दो शुरू किया गया। तरह-तरह के लेख, पुस्तिकाएँ,, समाचार-पत्रिकाएं, नं का मख़ौल उड़ानेवाले कार्टून, और झूठी बातों से भरे हुए बनावटी संस्मरण जारी होते थे और चोरी-छिपे फ़्रान्स में दाख़िल कर दिये जाते थे। अख़बारों के झूठी बातों का प्रचार आजकल के युद्धों का बाक़ायदा अंग बन गया है। १९ १८ ई० के महायुद्ध के दौरान, युद्ध में भाग लेनेवाले सब देशों की सरका बड़ी बेहयाई के साथ अजीब-से-अजीब झूठी बातें फैलाईं और मालूम हो इनको गढ़ने और प्रचार करने की कला में इंग्लैण्ड आसानी से सबसे आगे उसे तो नेपोलियन के समय से अबतक एक सदी की लम्बी तालीम भी मिल थी। हम भारत के लोग अच्छी तरह जानते हैं कि किस तरह हमारे देश में सच्ची बातें दबा दी जाती हैं और यहाँ इंग्लैण्ड में ऐसी झूठी बातों का किया जाता है कि देखकर हैरत होती है!

: १०५ :

नेपोलियन का कुछ और हाल

६ नवम्बर, १९

पिछले पत्र में हमने नेपोलियन की कहानी जहाँ छोड़ी है, वहीं से सि जारी रखना चाहिए।

नेपोलियन जहाँ कहीं गया वहीं वह अपने साथ फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति बातें लेता गया और जिन देशों को उसने जीता वहाँ लोग उसके आने श नहीं हुए। वे लोग अपने बोदे और आधे सामन्ती शासकों से तंग आ गये उनकी गरदन पर सवार थे। इससे नेपोलियन को बहुत मदद मिली और से वह आगे बढ़ता गया, सामन्तशाही उसके सामने टूटकर गिरने लगी। में तो खासतौर पर सामन्तशाही का सफ़ाया हो गया। स्पेन में उसने इनक्वि- का अन्त कर दिया। लेकिन राष्ट्रीयता की जिस भावना को उसने अनजान किया था, वही उलटकर उसके पीछे पड़ गई और अन्त में इसी ने उसे कर दिया। वह पुराने बादशाहों और सम्राटों को नीचा दिखा सकता था, अपने खिलाफ़ भड़के हुए सारे राष्ट्र को नहीं। इस तरह स्पेन के लोग खिलाफ़ हुए और वर्षों तक उसकी शक्ति और उसके साधनों को निचोड़ते रहे। लोग भी बैरन वॉन स्तीअन नामक एक बड़े देशभक्त के झण्डे के नीचे हो गये। यह नेपोलियन का कट्टर दुश्मन बन गया। जर्मनी में मुक्ति का हुआ। इस तरह राष्ट्रीयता, जिसे खुद नेपोलियन ने ही जगाया था, समुद्री- से मेल करके उसके पतन का सबब बन गई। लेकिन किसी भी सूरत में किल था कि सारा यूरोप तानाशाह को बर्दाश्त कर लेता, या शायद खुद न की ही बात सही थी, जो उसने बाद में कही थी: "मेरे पतन का दोष वा किसी पर नहीं है। मैं खुद ही अपना सबसे बड़ा दुश्मन रहा हूँ, और जो झपर गिरी उसका कारण भी मैं खुद ही हूँ।"

इस अद्भुत प्रतिभावाले व्यक्ति में कमज़ोरियाँ भी बहुत ही अनोखी थीं। हमेशा कुछ नई नवाबी का ठाठ रहा और उसके दिल में यह अजीब लालसा कि पुराने और बोदे बादशाह और सम्राट् उससे बराबरी का बर्ताव करें। अपने भाई-बहनों को बड़े भद्दे तरीक़े से बढ़ाया, हालाँकि वे बिलकुल नालायक़ न ही एक लायक भाई था, जिसने १७९९ ई० के राजनीतिक धड़ाके के एक संकट की घड़ी में नेपोलियन की सहायता की थी, लेकिन बाद में पट हो जाने के कारण इटली में जाकर बस गया। दूसरे भाइयों को, ण्डी और बेवक़ूफ़ थे, नेपोलियन ने कहीं का राजा और कहीं का शासक दिया। अपने कुटुम्ब को आगे बढ़ाने की उसमें एक अजीब और बेहूदा थी। जब उस पर मुसीबत पड़ी तो इनमें से क़रीब-क़रीब सबने उसे धोखा और उससे किनाराकशी की। नेपोलियन को अपना राजवंश क़ायम करने बड़ी चाह थी। अपने जीवन के शुरू में, इटली पर चढ़ाई करने और नामी पहले ही उसने जोज़ेफ़ीन दे बोहार्नाई नामक एक सुन्दर लेकिन चंचल से विवाह कर लिया था। जब उससे कोई सन्तान न हुई तो नेपोलियन को बड़ी शा हुई, क्योंकि उसके दिल में तो राजवंश चलाने की लालसा थी। बस उसने

जोज़ेफ़ीन को तलाक़ देकर दूसरी स्त्री से विवाह करने का इरादा कर लिया, किं जोज़ेफ़ीन से वह प्रेम करता था। उसकी इच्छा रूस की एक ग्रांड-डचेस से करने की थी, लेकिन ज़ार ने इसकी इजाज़त नहीं दी। नेपोलियन भले ही सारे यूरोप का स्वामी हो, लेकिन रूस के शाही ख़ानदान में विवाह का ऊंचा करना ज़ार की राय में कुछ गुस्ताख़ी की बात थी! तब नेपोलियन ने किसी आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट् को मजबूर किया कि वह अपनी पुत्री मेरी लुइ विवाह उसके साथ कर दे। उसकी कोख से एक लड़का पैदा हुआ, लेकिन और मूर्ख थी और उसे बिलकुल नहीं चाहती थी और नेपोलियन के लिए वह बुरी पत्नी साबित हुई। जब नेपोलियन पर आफ़त आई तो वह उसे छोड़कर गई और उसे बिलकुल ही भूल गई।

बड़े अचम्भे की बात है कि यह व्यक्ति जो कई बातों में अपनी पीढ़ी के से बहुत ऊंचा था, बादशाहत के पुराने विचारों से पैदा होनेवाली थोथी तड़क का शिकार हो गया। और फिर भी बहुत बार, वह क्रान्ति की-सी बातें कर और इन बोदे बादशाहों का मख़ौल उड़ाया करता था। उसने क्रान्ति और व्यवस्था से जान-बूझकर पीठ मोड़ ली थी; पुरानी व्यवस्था न तो उसके थी और न उसे अपनाने के लिए तैयार थी। इसलिए इन दोनों के बीच पतन हो गया।

धीरे-धीरे फ़ौजी नामवरी की इस ज़िन्दगी का दुःखभरा अन्त होता है, जो ही था। ख़ुद उसके ही कुछ मन्त्री दग़ाबाज हो जाते हैं और उसके ख़िलाफ़ करते हैं; तैलीरँद रूस के ज़ार से मिलकर साज़िश करता है और फ़्यूशे से मिलकर। नेपोलियन उनकी दग़ाबाज़ी पकड़ लेता है, लेकिन फिर भी है कि उनकी सिर्फ़ लानत-मलामत करके उन्हें मन्त्रियों के पद पर रहने दे बर्नादोत नामक एक सेनापति उसके ख़िलाफ़ हो जाता है और उसका कट्टर बन जाता है। माता और ल्यूशन के सिवा उसके कुटुम्ब के सारे लोग माशियाँ करते चले जाते हैं और उसकी जड़ भी काटते रहते हैं। फ़्रान्स में भी बढ़ती चली जाती है और उसकी तानाशाही बड़ी कठोर और बेदर्द हो है और कितने ही लोग बिना मुक़दमे के जेलों में डाल दिये जाते हैं। उसका साफ़तौर पर नीचे गिरता हुआ मालूम होता है और तालाब को सूख कर बहुत-सी मछलियाँ उसे छोड़ जाती हैं। उम्र ज़्यादा न होने पर भी वह से और दिमाग़ से कमज़ोर होता जाता है। ठेठ लड़ाई के बीच में कभी-कभी पेट में वायु गोले का दर्द उठ खड़ा होता है। सत्ता भी उसे भ्रष्ट कर देती है। चतुराई तो उसमें मौजूद है, लेकिन अब उसकी चाल भारी पड़ जाती है। वह

पीछा सोचने में रह जाता है और वहम करने लगता है। उसकी फ़ौजें भी से ज़्यादा भारी-भरकम हो गई हैं।

१८१२ ई० में ज़बर्दस्त फ़ौज के साथ वह रूस पर चढ़ाई करने के लिए होता है। वह रूसवालों को हरा देता है और बिना ज़्यादा लड़ाई के आगे चला जाता है। रूस की फ़ौजें लगातार पीछे हटती जाती हैं और लड़ने र सामने नहीं आतीं। नेपोलियन की 'ग्रान्ड आर्मी' उनकी बेकार तलाश करती अन्त में मास्को पहुँच जाती है। ज़ार तो घुटने टेकने के लिए तैयार हो है, लेकिन दो व्यक्ति, एक तो फ़्रान्सीसी बर्नादोत, नेपोलियन का पुराना सहयोगी सेनापति, और दूसरा जर्मन राष्ट्रवादियों का नेता बैरन वान स्तीअन, जिसे यन ने बाग़ी ऐलान कर दिया था, ज़ार को ऐसा करने से रोक देते हैं। रूसी दुश्मन को धुएँ से भगा देने के लिए अपने प्यारे मास्को शहर में ही आग देते हैं। जब मॉस्को के जलने की खबर सेंट पीटर्सबर्ग पहुँचती है तो स्तीअन, जो क्त खाना खा रहा था, अपना शराब का प्याला उठाकर कहता है: "इससे तीन-बार पहले भी मैं अपना सामान गँवा चुका हूँ। हमें तो ऐसी चीज़ों को फेंक देने का ी बन जाना चाहिए। चूंकि हमें मरना तो है ही, इसलिए हमको बहादुरी ना चाहिए!"

सर्दी का मौसम शुरू हो रहा था। नेपोलियन जलते हुए मास्को को छोड़कर लौटने का फैसला करता है। 'ग्रान्डआर्मी' बर्फ़ में होकर थकी-मान्दी धीरे- वापस घिसटती है। उधर रूस के क़ज्ज़ाक, जो बराबर उसके दोनों ओर व पीछे लगे हुए हैं, उसपर हमला करते हैं और छापे मारते हैं और पिछड़ जाने- को मौत के घाट उतार देते हैं। कड़ी सर्दी और क़ज्ज़ाक, दोनों मिलकर ों जानें ले लेते हैं और 'ग्रान्ड आर्मी' भूतों का-सा जुलूस बन जाती है, जिसमें लोग पैदल, फटेहाल, पाँवों में छाले पड़े हुए और ठंड से गले हुए, थकावट से ड़ाते हुए चलते हैं। अपने गोलन्दाज़ों के साथ नेपोलियन को भी पैदल चलना है। यह यात्रा बड़ी भयंकर और दिल तोड़नेवाली साबित होती है और वह त फ़ौज कम होती-होती अन्त में क़रीब-क़रीब ग़ायब हो जाती है। सिर्फ़ -भर लोग वापस लौट पाते हैं।

रूस की यह चढ़ाई ज़बर्दस्त चोट साबित हुई। इसने फ़्रान्स की जन-शक्ति ख़त्म कर दिया और उससे भी ज्यादा यह हुआ कि इससे नेपोलियन पर बुढ़ापा या; चिन्ताओं ने उसे पस्त कर दिया और वह लड़ाई-झगड़ों से ऊब गया। न फिर भी उसे चैन से नहीं बैठने दिया गया। दुश्मनों ने उसे घेर लिया और कि अभी तक वह फ़तह हासिल करनेवाला चतुर सेनापति था, लेकिन

फन्दा अब धीरे-धीरे कसने लगा। तैलीरैंदे की साज़िशें बढ़ने लगीं और नेपो के कुछ भरोसेदार मार्शल तक भी उसके ख़िलाफ़ हो गये। अन्त में उकताकर और आकर नेपोलियन ने अप्रैल, १८१४ ई० में गद्दी छोड़ दी।

नेपोलियन के रास्ते से हटते ही यूरोपीय शक्तियों की एक बड़ी कांग्रेस का नया नक़्शा तय करने के लिए वियेना में की गई। नेपोलियन को सागर से एक छोटे-से टापू एल्बा में भेज दिया गया। बोर्बन राजवंश का एक लुई, जो गिलोतीन पर मारे गए लुई का भाई था, जहाँ कहीं छिपा पड़ा था से निकालकर लाया गया और अठारहवें लुई के नाम से फ़्रान्स की राज बिठाया गया। इस तरह बोर्बन फिर वापस आ गये और उनके साथ पुरानी ज़ालिमशाही भी वापस आ गई। बास्तील के पतन से लगातार पच्चीस वर्ष के सारे दिलेर कारनामों का बस यह अन्त हुआ! वियेना में लोग और उनके मन्त्री लोग आपस में बहसें करते और लड़ते-झगड़ते थे, और बातों से फ़ुरसत पाते तो मौज उड़ाते थे। उन्होंने अब आराम की साँस ली। भारी दहशत दूर हो गई थी और वे लोग खुलकर साँस ले सके। नेपोलियन के साथ गद्दारी करनेवाला देश-द्रोही तैलीरैंदे बादशाहों और की इस भीड़ में बड़ा लोकप्रिय था और कांग्रेस में उसने बड़ा भारी भाग कांग्रेस में एक दूसरा मशहूर कूटनीतिज्ञ मैतरनिख था, जो आस्ट्रिया का मन्त्री था।

एक वर्ष से कम समय में ही नेपोलियन तो एल्बा से तंग आ फ़्रान्स बोर्बनों से। वह किसी तरह एक छोटी-सी नाव में वहाँ से भाग निक २६ फ़रवरी, १८१५ ई० को शायद अकेला ही रिवियरा पर कॅन्स नामक किनारे पर आ गया। किसानों ने बड़े उत्साह से उसका स्वागत किया। उसके भेजी गई फ़ौजों ने जब अपने पुराने सेनापति 'पेतित कार्पोरल' को देखा तो 'सम्राट् ज़िन्दाबाद' का नारा लगाया और उससे मिल गईं। बस, वह पैरिस पहुं बोर्बन बादशाह जान बचाकर भाग गया! लेकिन यूरोप की बाक़ी सब राज में दहशत और घबड़ाहट फैल गई। वियेना में, जहाँ कांग्रेस अभी तक लस्टम चल रही थी, नाच-गान और दावतें एकदम बन्द हो गये। सबके ऊपर इस ख़तरे से बादशाह और मन्त्री अपने आपसी झगड़ों-टंटों को भूल उनका सारा ध्यान नेपोलियन को दुबारा फिर कुचल डालने के एक ही तरफ़ लग गया। बस सारे यूरोप ने उसके ऊपर धावा बोल दिया। लेकिन तो लड़ाइयों से उकता गया था। और नेपोलियन, जो अभी छियालीस वर्ष था, और जिसे उसकी स्त्री मेरी लुई तक छोड़ भागी थी, अब एक थका हुआ था। कुछ लड़ाइयों में उसकी जीत हुई, लेकिन अन्त में फ़्रान्स में उतरने के

वेलिंगटन[1] और ब्लूखार[2] के मातहत अंग्रेज़ी और प्रशियाई फ़ौजों नगर के पास वाटरलू में उसे हरा दिया। इसलिए उसकी वापसी का 'सौ दिन' कहलाता है। वाटरलू की लड़ाई में दोनों तरफ़ करारा था और यह बतलाना कठिन था कि जीत किसकी होगी। नेपोलियन की बुरी निकली। उसके लिए इस लड़ाई में विजय हासिल करना बहुत लेकिन अगर वह जीत भी जाता तो कुछ दिन बाद उसे सारे संगठित आगे घुटने टेकने पड़ते। अब चूँकि वह हार चुका था, इसलिए उसके मददगारों ने उसके ख़िलाफ़ होकर अपनी जानें बचानी चाहीं। अब कार था, इसलिए उसने दुबारा राजगद्दी छोड़ दी और फ़ान्स के एक में पड़े हुए एक अंग्रेज़ी जहाज़ पर जाकर अपने-आपको यह कहकर तान के हवाले कर दिया कि वह शान्ति के साथ इंग्लैण्ड में रहना चाहता है।

किन अगर वह इंग्लैण्ड या यूरोप से उदार और भद्र बर्ताव की उम्मीद तो यह उसकी भूल थी। ये उससे बहुत ज़्यादा डरे हुए थे और एल्वा निकल भागने से वे खूब समझ गये थे कि उसे बहुत दूर और कड़े पहरे जाना ज़रूरी है। इसलिए उसके विरोध करने पर भी उसे क़ैदी क़रार और कुछ साथियों के साथ दक्षिण अतलान्तिक महासागर के सुदूर टापू ना भेज दिया गया। वह 'यूरोप का क़ैदी' माना गया और कई राष्ट्रों हेलेना में उसपर निगरानी रखने के लिए कमिश्नर भेजे। लेकिन उसपर रखने की पूरी जिम्मेदारी असल में इंग्लैण्ड पर थी। सारी दुनिया से अलग र टापू में भी उसपर पहरा देने के लिए एक अच्छी-ख़ासी फ़ौज रक्खी गई। वहाँ के रूसी कमिश्नर काउन्ट बालमेन ने सेन्ट हेलेना की इस एकान्त बारे में लिखा है कि यह "संसार की वह जगह है, जो सबसे ज़्यादा सबसे ज़्यादा अलग, सबसे ज़्यादा पहुँच से बाहर, बचाव के लिए दा आसान, हमले के लिए सबसे ज़्यादा मुश्किल, और सबसे कम माफ़िक ...है।" इस टापू का अंग्रेज़ गवर्नर एक बिलकुल उजड्ड और जंगली था और वह नेपोलियन के साथ बड़ा गन्दा बर्ताव करता था। उसे टापू के

ड्यूक आफ़ वेलिंगटन (१७६९–१८५२)। यह हिन्दुस्तान के गवर्नर ज़ली का छोटा भाई आर्थर वैलज़ली था, जिसने उस ज़माने में न में भी कई लड़ाइयाँ जीती थीं। १८२८ ई० में यह इंग्लैण्ड का प्राइम र भी रहा था।

प्रशिया का सेनापति (१७४२–१८१९)। इसने फ़्रान्स में कई बार न को हराया था। इसकी मदद के बिना वेलिंगटन के लिए वाटरलू का ना असम्भव था।

सबसे ज़्यादा ख़राब हिस्से में एक बहुत बुरे मकान में रक्खा गया और 'व उसके साथियों पर तरह-तरह की खिझानेवाली पाबन्दियाँ लगा दी गईं। कभी तो उसे पेट भर के अच्छा खाना भी नहीं मिलता था। उसे यूरोप में मित्रों से पत्र-व्यवहार नहीं करने दिया जाता था, यहाँ तक कि अपने नन्हे पु नहीं, जिसे अपनी सत्ता के दिनों में उसने रोम के बादशाह की उपाधि पत्र-व्यवहार तो क्या, उसके पुत्र की ख़बर तक उसके पास नहीं पहुँचने दी थी।

यह अचम्भे की बात है कि नेपोलियन के साथ कैसा कमीना बर्ता गया! लेकिन सेन्ट हेलेना का गवर्नर तो सिर्फ़ अपनी सरकार का औ और मालूम होता है कि अंग्रेज़ सरकार की जान-बूझकर यह नीति थी कि के साथ बुरा बर्ताव किया जाय और उसे नीचा दिखाया जाय। यूरोप की शक्तियाँ इससे सहमत थीं। नेपोलियन की माता बूढ़ी होने पर भी सेन्ट हे अपने पुत्र के साथ रहना चाहती थी, लेकिन इन बड़ी शक्तियों ने कहा कि हो सकता। नेपोलियन के साथ जो कमीना बर्ताव किया गया, वह उस माप था, जो अभी तक यूरोप में उसके नाम से फैला हुआ था, हालाँकि पर काट दिये गए थे और वह एक बहुत दूर के टापू में बेबस होकर पड़ा था।

साढ़े पाँच वर्ष तक उसने सेन्ट हेलेना में यह ज़िन्दा मौत बर्दाश्त की। सी चट्टान से उस टापू में पिंजरा-बन्द होकर और रोज़ कमीनी ज़िल्लतें ज़बर्दस्त जीवट और ऊँचे हौसलेवाले इस व्यक्ति ने जो तक़लीफ़ें उठा उनकी कल्पना करना मुश्किल नहीं है।

नेपोलियन मई, १८२१ ई० में मरा। मरने के बाद भी गवर्नर की उसके पीछे पड़ी रही और उसके लिए एक बहुत बुरी क़ब्र बनवाई गई। धीरे नेपोलियन के साथ किये गए बुरे बर्ताव और अत्याचार की ख़बर जैसे-पहुँची (उन दिनों ख़बरें बहुत देर में पहुँचा करती थीं) वैसे ही उसके इंग्लैण्ड समेत बहुत-से देशों में शोर मच गया। इंग्लैण्ड का पर-राष्ट्रमन्त्री जो इस बुरे बर्ताव के लिए सबसे ज़्यादा ज़िम्मेदार था, इस वजह से, और कठोर घरू-नीति की वजह से बहुत बदनाम हो गया। उसे इसका इतना हुआ कि उसने आत्महत्या कर ली।

महान् और ग़ैर-मामूली व्यक्तियों को आँकना मुश्किल होता है। कोई शक नहीं है कि नेपोलियन अपनी तरह का एक महान् और अनोखा था। वह एक बवंडर जैसा था, मानो कुदरत का कोई ज़ोर हो। विचा कल्पनाओं से भरा हुआ होने पर भी वह आदर्शों और बेग़रज़ी भावनाओं की क़द्र नहीं करता था। वह लोगों को कीर्ति और दौलत देकर वश में क

पर असर डालने की कोशिश करता था। इसलिए जब कीर्ति और यह भण्डार खाली हो गया, तो जिन लोगों को उसने बढ़ाया था उन्हींको नाये रखने के लिए उसके पास कोई आदर्श व इरादे नहीं रहे। इसलिए उसे कमीनेपन के साथ दग़ा दे गये। मजहब को तो वह ग़रीबों और को उनकी कम्बख्ती पर तसल्ली देनेवाला एक ज़रिया समझता था। के बारे में उसने एक बार कहा था, "मैं ऐसे मज़हब को कैसे क़बूल कर जो सुक़रात और अफ़लातून की निन्दा करता है।" जब वह मिस्र में था, लाम की तरफ़ रुझान इसलिए दिखलाया था कि उसके विचार से शायद ने से वहाँ वह लोकप्रिय हो जाय। वह निपट ग़ैर-मज़हबी था, लेकिन फिर भी को बढ़ावा देता था। क्योंकि वह इसे उस समय की समाजी व्यवस्था की झता था। वह कहता था, "मज़हब ने स्वर्ग के साथ बराबरी की भावना र जोड़ रक्खा है, जो ग़रीबों को धनवानों की हत्या करने से रोकता है। का वही उपयोग है, जो चेचक के टीके का। वह चमत्कारों के लिए चि को खुराक देता है और हमें नीम-हकीमों से बचाता है....। की असमानता से ही समाज टिकता है और सम्पत्ति की असमानता मज़हब के ठहर नहीं सकती थी। जो भूख से मर रहा है, लेकिन जिसका ज़ायकेदार भोजनों की दावत उड़ा रहा है, उसे तसल्ली देनेवाली एक है आसमानी सत्ता में विश्वास और दूसरा यह विश्वास कि परलोक में बंटवारा दूसरे ही ढँग से होगा।" सुनते हैं, अपनी ताक़त के घमण्ड में हा था—"अगर आकाश हमारे ऊपर गिरने लगे तो हम उसे अपने भालों पर रोक लेंगे।"

उसमें महान् व्यक्तियों की-सी आकर्षण-शक्ति थी और उसने बहुत-से लोगों दार दोस्ती हासिल कर ली थी। अकबर की तरह उसकी निगाह में आकर्षण वार उसने कहा था—"मैंने तलवार बहुत कम खींची है। मैंने लड़ाइयाँ आँखों से जीती हैं, हथियारों से नहीं।" जिस आदमी ने सारे यूरोप को युद्ध दिया, उसके मुंह से ये शब्द विचित्र मालूम होते हैं! बाद में, जबकि वह काले में था, उसने कहा था कि ज़ोर-ज़बर्दस्ती करना कोई इलाज नहीं है ष्य की आत्मा तलवार से भी ज़ोरदार है। उसने कहा था—"तुम जानते सबसे ज्यादा अचम्भा किस बात पर होता? इस बात पर कि किसी संगठन ज़बर्दस्ती के ज़ोर पर नहीं किया जा सकता। दुनिया में सिर्फ़ दो तें हैं—एक तो आत्मा और दूसरी तलवार। बहुत दूर चलकर आत्मा सदा र पर विजय हासिल करेगी।" लेकिन बहुत दूर जाना उसके लिए नहीं ा। वह तो जल्दी में था, और अपनी ज़िन्दगी के शुरू में ही उसने तलवार का न लिया था; तलवार से ही उसने विजय पाई और तलवार ही उसके

पतन का कारण हुई। फिर उसका कहना था—"युद्ध अब समय की चीं
है; एक दिन ऐसा आयेगा जब बिना तोपों और संगीनों के जीतें हासि
जाया करेंगी।" परिस्थितियों ने उसे दबा दिया था—छलाँग भरनेवा
हौसले, युद्धों को जीतने में आसानी, और यूरोप के शासकों की इस कद्र
के लिए नफ़रत और उसका ख़ौफ़, इन सबने उसे शान्ति के साथ जमने नहीं
लड़ाइयों में वह बड़ी बेपरवाही के साथ लोगों की जानें झोंक देता था, लेकि
भी यह कहा जाता है कि लोगों की तक़लीफ़ों को देखकर उसका दिल बहु
जाता था।

अपने निजी जीवन में वह बहुत सादा मिज़ाज था और काम के लि
किसी बात में ज्यादती नहीं करता था। उसकी राय में "कोई मनुष्य चा
कम खाये, वह हमेशा ज़रूरत से ज्यादा खाता है। ज्यादा खाने से आदमी
पड़ सकता है, कम खाने से कभी नहीं।" यही सादा जीवन था, जिसके सबबे
तन्दुरुस्ती इतनी अच्छी थी और उसमें ज़बर्दस्त कार्य-शक्ति थी। वह जब
और जितना कम चाहता, सो सकता था। सुबह से लगातार तीसरे पहर त
पर सौ मील का सफ़र कर लेना उसके लिए कोई अनोखी बात न थी।

जैसे-जैसे उसके ऊँचे हौसले यूरोप के महाद्वीप को लाँघते हुए आ
गये, वैसे-वैसे वह यह सोचने लगा कि यूरोप एक राज्य है, एक इकाई है,
क़ानून और एक ही सरकार होनी चाहिए। "मैं सब राष्ट्रों को मिलाकर
दूंगा।" बाद में सेन्ट हेलेना में अकेला रहते-रहते जब उसका दिमाग़ ठिका
तो यह विचार फिर उसके दिल में अधिक विशाल रूप में पैदा हुआ।
न-कभी घटना-चक्र के बल से (यूरोप के राष्ट्रों का) यह मेल होगा।
धक्का लग चुका है और मुझे तो लगता है कि मेरी प्रणाली का अन्त
बाद यूरोप में संतुलन क़ायम करने का अगर कोई रास्ता है तो वह रा
संघ के द्वारा है।" सौ वर्ष से भी ज्यादा समय के बाद यूरोप अब अं
में टटोल रहा है और राष्ट्रों के संघ (लीग ऑफ़ नेशन्स) का प्रयोग क
है!

उसने अपना आख़िरी वसीयतनामा लिखा, जिसमें अपने उस नन्हे पुत्र के
एक सन्देश छोड़ा, जिसे वह रोम का बादशाह कहता था और जिसके
तक भी इतनी बेरहमी से उसके पास पहुँचने से रोक दिए गये थे। उसे
कि उसका पुत्र एक दिन राज करेगा इसलिए उसने उसे उपदेश दिया था
शान्ति के तरीक़ों से राज करे और ज़ोर-ज़बर्दस्ती कभी न करे। मैं
को हथियारों के ज़ोर से डराने को मजबूर हो गया था; लेकिन आज
तरीक़ा यह है कि दलील से समझा कर यक़ीन दिलाया जाय।" लेकिन पुत्र

करता नहीं लिखा था। नेपोलियन की मृत्यु के ग्यारह वर्ष बाद वह में ही वियेना में मर गया।

लेकिन ये सब विचार उसके दिमाग़ में तब आये जब वह देश-निकाले में जब उसकी अक़्ल ठिकाने आ गयी थी। या शायद उसने आगे के लोगों को में करने के लिए ऐसा लिखा हो। अपनी महानता के दिनों में वह इतना क्रियाशील आदमी था कि उसे दार्शनिक बनने की फ़ुरसत नहीं थी। वह तो वेदी पर पूजा करता था; उसका सच्चा और अकेला प्रेम सत्ता से था उससे भोंडे तौर पर नहीं बल्कि एक कलाकार की तरह प्रेम करता था। हा था—"मैं सत्ता से प्रेम करता हूँ, हाँ, प्रेम करता हूँ, लेकिन उस तरह कलाकार करता है; जैसे फ़िड्ल[1] बजानेवाला अपनी फ़िड्ल से करता उसमें से चमत्कारी राग, स्वर और स्वर-लहरियाँ पैदा करे।" लेकिन ज़्यादा सत्ता की लालसा ख़तरनाक होती है और जो व्यक्ति या राष्ट्र पीछे पड़ते हैं, उनका कभी-न-कभी पतन और नाश हो ही जाता है। बस न का भी अन्त हो गया, और यह अच्छा ही हुआ।

इधर फ़ान्स में बोर्बन राज कर रहे थे। लेकिन यह कहा जाता है कि ंने न तो कुछ नसीहत ली और न वे पुरानी बातों को भूले। नेपोलियन के नौ साल बाद फ़ान्स उनसे तंग आ गया और उसने उन्हें उखाड़ फेंका। री राजाशाही क़ायम हुई और नेपोलियन की यादगार पर इज़्ज़त ज़ाहिर लिए उसकी मूर्ति, जो वान्दोम मीनार के ऊपर से हटा दी गई थी, फिर दी गई। नेपोलियन की दुखिया माता ने, जो बुढ़ापे में अन्धी हो गई थी, "सम्राट् एक बार फिर पेरिस लौट आया है।"

: १०६ :

संसार का सिंहावलोकन

१९ नवम्बर, १९३२

इस तरह नेपोलियन दुनिया के रंगमंच से, जिस पर वह इतने दिनों से रहा था, विदा हुआ। इस बात को एक सदी से ज़्यादा वक़्त हो चुका बहुत-से पुराने विवाद ठंडे पड़ चुके हैं। लेकिन, जैसा कि मैं पहले कह नेपोलियन के बारे में अभी तक लोगों में बड़ा मतभेद है। अगर वह दूसरे ज़्यादा शान्ति के ज़माने में पैदा हुआ होता तो एक नामी सेनापति

---

[1] सारंगी की तरह का एक बाजा, जिसे वायोलिन भी कहते हैं।

से ज़्यादा कुछ न होता, और वह लोगों की नज़र में आये विना ही ब होता। लेकिन क्रान्ति और परिवर्तन ने उसे आगे वढ़ने का मौक़ा दिया, उसने भी इससे पूरा लाभ उठाया। उसके पतन से और यूरोपीय रा के मैदान से हट जाने से यूरोपवासियों को वड़ी राहत मिली होगी, क्यों लोग युद्ध से उकता गये थे। पूरी एक पीढ़ी से उन्होंने सच्ची शान्ति के द किये थे, और वे उसके लिए तरस रहे थे। वर्षों से उसके नाम से थर्रा वाले वादशाहों और राजाओं को तो इससे जितनी राहत मिली होगी, किसी दूसरे को नहीं।

हमने फ़ान्स और यूरोप में वहुत वक़्त लगा दिया और अब हम उ सदी में काफ़ी दूर तक आगे वढ़ आये हैं। आओ, अब हम दुनिया पर एक नज़र डालें और देखें कि नेपोलियन के पतन के समय उसकी क्या हालत

तुम्हें याद होगा कि यूरोप में पुराने वादशाह और उनके मन्त्री की कांग्रेस में इकट्ठा हुए थे। नेपोलियन का हौवा दूर हो गया था, और अब अपना वही पुराना खेल खेल सकते थे और लाखों आदमियों के भाग्यों का मर्ज़ी के माफ़िक़ फ़ैसला कर सकते थे। न तो उन्हें इसकी कुछ परवाह थी कि क्या चाहते हैं और न इस वात की कि क़ुदरती तौर पर और भाषा के लि किसी देश की सीमाएं क्या थीं। रूस का ज़ार, इंग्लैण्ड (प्रतिनिधि के आस्ट्रिया (प्रतिनिधि मैतरनिख़) और प्रशिया, इस कांग्रेस में मुख्य थीं। और हाँ, चतुर, हाज़िर-जवाव और लोकप्रिय तैलीरेन्दे भी, जो एक नेपोलियन का मन्त्री रह चुका था, और अब फ़ान्स के वोर्वन वादशाह का था। इन लोगों ने नाचों और दावतों से मिली फ़ुरसत में यूरोप के उ को फिर नये सिरे से वदल डाला, जिसे नेपोलियन ने इतना वदल दिया था

अठारहवाँ वोर्वन लुई फिर फ़ान्स की गद्दी पर थोप दिया गया। इन्क्विज़िशन फिर से जारी कर दी गई। वियेना की कांग्रेस में इकट्ठे हु शाह गणराज्यों को पसन्द नहीं करते थे, इसलिए उन्होंने हालैण्ड के पु गणराज्य को फिर से क़ायम नहीं किया। इसके वजाय उन्होंने हालैण्ड और जियम को मिलाकर नीदरलैण्ड नामक राज्य वना दिया। पोलैण्ड की फि अपनी अलग हस्ती न रही; प्रशिया, आस्ट्रिया, और खासकर रूस, उसे गये। वेनिस और उत्तरी इटली आस्ट्रिया को मिल गये। स्वीज़रलैण्ड और के वीच का एक टुकड़ा फ़ान्स का, और एक टुकड़ा इटली का मिलाकर सार्डी की रियासत वना दी गई। मध्य यूरोप में एक अजीव और धुंधला-सा जर्मन संघ था, लेकिन प्रशिया और आस्ट्रिया ही उसकी दो प्रधान शक्तियाँ बनी इनके अलावा और भी परिवर्तन हुए। इस तरह वियेना कांग्रेस के अ

स्था दी कि लोगों को उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ ज़बर्दस्ती इधर-उधर बाँट उन्हें ऐसी भाषा को बोलने के लिए मजबूर किया, जो उनकी अपनी न और इस तरह आमतौर पर भविष्य के झगड़ों और युद्धों के बीज ये।

१८१४-१५ ई० की वियेना कांग्रेस का ख़ास विषय था बादशाहों की को एकदम मज़बूत बनाना। फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति से वे बेहद दहल गये लिए अब यह बेवक़ूफ़ी का ख़याल बना बैठे कि इन नये क्रान्तिकारी विचारों ना रोक सकेंगे। रूस के ज़ार, आस्ट्रिया के सम्राट् और प्रशिया के बादशाह पनी और दूसरे बादशाहों की हैसियत बचाने के लिए 'पवित्र मित्र-मंडल' एक गुट्ट तक बना लिया था। बिलकुल ऐसा मालूम होने लगा मानो र चौदहवें और पन्द्रहवें लुई के ज़माने में पहुँच गये हैं। सारे यूरोप में, यहाँ-इंग्लैण्ड तक में, तमाम उदार विचारों को दबाया जाने लगा। यूरोप के ल विचारों के लोगों को यह देखकर कितनी निराशा हुई होगी कि फ़्रान्स क्रान्ति की सख़्त तड़पन फ़िज़ूल गई!

यूरोप के पूर्व में तुर्की बहुत कमज़ोर हो गया था। वह धीरे-धीरे गिरावट र जा रहा था। कहने को तो मिस्र तुर्की साम्राज्य में था, लेकिन असल में आधा-स्वाधीन। १८२१ ई० में यूनान ने तुर्की शासन के ख़िलाफ़ विद्रोह और आठ वर्ष के युद्ध के बाद इंग्लैण्ड, फ़्रान्स और रूस की सहायता से हासिल कर ली। इसी युद्ध में अंग्रेज़ कवि बायरन यूनान की तरफ़ से सेवक की तरह लड़ता हुआ मारा गया था। उसने यूनान के बारे में कुछ सुन्दर कविताएँ लिखी हैं, जिन्हें शायद तुम जानती भी हो।

यहाँ मैं दो राजनीतिक परिवर्तनों का भी ज़िक्र कर दूँ, जो १८३० ई० में में हुए। बोर्बन बादशाहों के दमन और अत्याचारों से तंग आकर फ़्रान्स फिर निकाल बाहर किया। लेकिन गणराज्य के बजाय एक दूसरा बादशाह दिया गया। यह था लुई फ़िलिप, जिसने कुछ अच्छा, और किसी हद तक वैधानिक बादशाह की तरह, बर्ताव किया। उसने १८४८ ई० तक किसी राज चलाया और फिर एक दूसरा व पहले से भी ज़्यादा बड़ा विस्फोट हो बेलजियम में भी १८३० ई० में विद्रोह हुआ। इसका नतीजा यह हुआ कि यम और हालैण्ड अलग-अलग हो गये। यूरोप की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ राज्य प्रणाली की ज़बर्दस्त विरोधी थीं ही, इसलिए उन्होंने एक जर्मन राज-को बेलजियम की भेंट किया और उसे वहाँ का बादशाह बना दिया। एक र्मन राजकुमार यूनान का बादशाह बना दिया गया। मालूम होता है कि की ढेर सारी रियासतों में ऐसे राजकुमारों की हमेशा बहुतायत रहती

थी, जो किसी गद्दी के खाली होते ही मिल जाते थे। तुम्हें याद होगा कि इं का मौजूदा राजवंश जर्मनी की ही एक छोटी-सी रियासत हैनोवर से हुआ है।

१८३० ई० का साल यूरोप में व दूसरी कई जगहों—जर्मनी और इ और खासकर पोलैण्ड—में विद्रोहों का था। लेकिन बादशाहों ने इन विद्रोहों कुचल दिया। पोलैण्ड में रूसियों ने बड़ी बेरहमी से दमन किया, यहाँतक पोली भाषा का इस्तेमाल भी रोक दिया। १८३० ई० का यह साल, एक त १८४८ ई० की भूमिका था और, जैसा कि आगे चलकर हम देखेंगे, यूरोप में वर्ष क्रान्ति का था।

इतना तो हुआ यूरोप के बारे में। अतलान्तिक महासागर के उ संयुक्त राज्य अमेरिका धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ़ फैल रहा था। वह की आपसी लागडाटों और युद्धों से बहुत दूर था और उसके पास बेहद ज़मीन थी, इसलिए वह बड़ी तेजी से तरक़्क़ी करता हुआ यूरोप की क में आता जा रहा था। उधर दक्षिण अमेरिका में भी बड़े परिवर्तन हुए। सीधे तो नहीं लेकिन हिरा-फिराकर ये नेपोलियन की वजह से हुए। जब नेपो ने स्पेन जीता और अपने एक भाई को वहाँ की गद्दी पर बिठाया, तो द अमेरिका के स्पेनी उपनिवेशों ने विद्रोह कर दिया। विचित्र बात है कि राजवंश के लिए अमेरिका के इन स्पेनी उपनिवेशों की वफ़ादारी ही स्वाधीनता का सबब बनी। लेकिन यह तो एक उसी वक़्त का बहाना था। कुछ देर बाद ही सही, लेकिन उपनिवेशों का स्पेन से ज़रूर नाता टूटता; दक्षिण अमेरिका में सब जगह स्वाधीनता की भावना ज़ोर पकड़ रही थी। अमेरिका की स्वाधीनता का बड़ा नायक था साइमन बोलिवर जो दे के नाम से मशहूर है। दक्षिण अमेरिका के बोलिविया गणराज्य का नाम नाम पर रखा गया है। इस तरह जब नेपोलियन का पतन हुआ तब संयु रिका स्पेन से कट चुका था और अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ रहा था। नेपो के बिदा हो जाने से इस लड़ाई में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा और यह स्पेन की सरकार के खिलाफ़ कई वर्षों तक चलती रही। यूरोप के कुछ बादशाह उपनिवेशों के क्रान्तिकारियों को दबाने में अपने दोस्त स्पेन के बादशाह की करना चाहते थे। लेकिन संयुक्त राज्य ने इस तरह के दखल को बिलकुल दिया। उस समय मुनरो संयुक्त राज्य का राष्ट्रपति था। उसने यूरोपीय श को साफ़-साफ़ कह दिया कि अगर उन्होंने उत्तर या दक्षिण अमेरिका की कि जगह टाँग अड़ाई तो उन्हें संयुक्त राज्य से लोहा लेना पड़ेगा। इस धमकी ने पीय शक्तियों को डरा दिया और तब से वे दक्षिण अमेरिका से बहुत-कुछ

हैं। यूरोप को दी गई मुनरो की यह धमकी 'मुनरो सिद्धान्त'[1] के नाम
है। इसने दक्षिण अमेरिका के नये गणराज्यों को बहुत वर्षों तक
रोप के चंगुल से बचाये रक्खा और उन्हें विकास करने का मौक़ा दिया।
तो उनकी अच्छी तरह रक्षा हो गई, लेकिन रक्षा करनेवाले—संयुक्त
उनको बचानेवाला कोई न था। आज उनपर संयुक्त राज्य का ही
और छोटे-छोटे गणराज्यों में बहुत-से तो बिलकुल उसीकी मुट्ठी में

ज़ील का विशाल देश पुर्तगाल का उपनिवेश था। स्पेन के अमेरिकी
जिस समय स्वाधीन हुए लगभग उसी वक़्त यह भी स्वाधीन हो गया।
हम देखते हैं कि १८३० ई० के आस-पास सारा दक्षिण अमेरिका यूरोप
निकल गया। उत्तरी अमेरिका में अलबत्ता कनाडा अंग्रेज़ों का उपनिवेश

हम एशिया की तरफ़ आते हैं। इस समय अंग्रेज़ भारत में पूरी तरह
दस्त शक्ति बन गये थे। जिस वक़्त यूरोप में नेपोलियनी युद्धों का घमा-
रहा था, अंग्रेज़ों ने इधर अपनी हैसियत को मज़बूत बना लिया और
र भी क़ब्ज़ा कर लिया। मैसूर का टीपू सुलतान परास्त किया जा
। और १८१९ ई० में मराठों की सत्ता भी बिलकुल उखाड़ फेंकी गई
पंजाब में रणजीतसिंह के अधीन एक सिक्ख रियासत थी। सारे भारत
घुस-पैठ कर रहे थे और फैलते जा रहे थे। पूर्व में असम मिला लिया
और अराकान—बरमा—भी अगला निवाला बननेवाला था।

कि इधर भारत में अंग्रेज़ बढ़ रहे थे, उधर मध्य-एशिया में एक दूसरी
शक्ति—रूस आगे बढ़ रहा था। पूर्व में प्रशान्त महासागर तक और
गो वह पहुँच ही चुका था। अब यह मध्य-एशिया की छोटी-छोटी रिया-
कुचलता हुआ ठेठ अफ़ग़ानिस्तान की सीमा तक आ गया था। भारत के
रूसी दैत्य को अपनी तरफ़ आता देख इतने डर गये कि घबराहट में,
-भर हीले-बहाने के ही, अफ़ग़ानिस्तान से युद्ध छेड़ बैठे। लेकिन इसमें
तरह मुंह की खानी पड़ी।

न में मंचुओं का राज था। व्यापार और मज़हब के नाम से आनेवाले
की नीयत पर सन्देह करने की काफ़ी वजह होने से वे इन्हें रोकने की
र रहे थे। लेकिन विदेशी लोग चीन के दरवाज़े पर चिल्लाते-पुकारते
ड़ी मचाते ही रहे, और अफ़ीम के व्यापार को खासतौर पर बढ़ावा

---

[1] unroe Doctrine.

देते रहे। ईस्ट इंडिया कम्पनी को ब्रिटिश-चीन के व्यापार का ठेका हुआ था। चीनी सम्राट् ने चीन में अफ़ीम का आना रोक दिया, लेकिन चोरी उसका आयात जारी रहा और विदेशी लोग इस तरह अफ़ीम का ग़ैर व्यापार करते रहे। इसका नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड से युद्ध छिड़ गया 'अफ़ीम का युद्ध' ठीक ही कहा जाता है, और अन्त में अंग्रेज़ों ने चीन के अफ़ीम खरीदने के लिए मजबूर कर दिया।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हें बतलाया था कि १६३४ ई० में जापान ने आपको बिलकुल बन्द कर लिया था। उन्नीसवीं सदी के शुरू तक भी इस दरवाज़ा सब विदेशियों के लिए बन्द था। लेकिन इसके बन्द परकोटे के पुरानी शोगुनशाही कमज़ोर हो रही थी और नई हालतें पैदा हो रही पुरानी प्रणाली का एकदम खातमा करनेवाली थीं। दक्षिण-पूर्व एशिया के दक्षिण में यूरोपीय शक्तियाँ ज़मीनों को हड़प करती जा रही थीं। फ़ि द्वीप-समूह पर अभी तक स्पेनियों का क़ब्ज़ा बना हुआ था। अंग्रेज़ों और पुर्तगालियों को वहाँ से मार भगाया था। वियेना की कांग्रेस के बाद डचों को व दूसरे टापू वापस मिल गये। अंग्रेज़ सिंगापुर और मलाया प्रायद्वीप में फैलते जा रहे थे। अनाम, स्याम और बरमा अभी तक स्वाधीन थे, हाला मौक़े-मौक़े पर चीन को ख़िराज दिया करते थे। मोटे तौर पर वाटरलू १८३० ई० तक के पन्द्रह वर्षों के बीच दुनिया की राजनीतिक दशा इस थी। यूरोप साफ़ तौर पर दुनिया का मालिक बनता जा रहा था; ले यूरोप में पीछे लौटने की क्रिया ज़ोर पकड़ रही थी। सम्राटों और रा का, और इंग्लैण्ड की दक़ियानूसी पार्लमेण्ट तक का, यह खयाल बन गया उन्होंने उदार विचारों को बिलकुल कुचल दिया है। उन्होंने इन विचारों को में बन्द कर देने की कोशिश की। लेकिन वे असफल ही रहे, और ए विद्रोह होने लगे।

राजनीतिक परिवर्तन सारे क्षेत्र पर छाये हुए मालूम देते थे। इनसे भी कहीं ज्यादा भारी बात थी उत्पादन, वितरण और आवागमन के में क्रान्ति, जिसकी शुरुआत इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के साथ हुई। लेकिन बिना किसी रोक-टोक के, यह क्रान्ति यूरोप और उत्तरी अमे फैल रही थी और करोड़ों मनुष्यों के नज़रियों और ढंगों को, और वर्गों के आपसी सम्बन्धों को बदल रही थी। मशीनों की खटाखट में से विचार निकलते जा रहे थे और एक नई दुनिया तैयार हो रही थी। दिन-पर-दिन ज्यादा कार्य-कुशल और संग-दिल—ज्यादा लोभी, साम्रा और बेदर्द बनता जा रहा था। नेपोलियन की आत्मा इसमें घर कर

। लेकिन यूरोप में भी ऐसे विचार पैदा हो रहे थे, जो आगे जाकर वाद से टक्कर लेनेवाले और उसे उखाड़ फेंकनेवाले थे।

युग का साहित्य, काव्य और संगीत भी ऐसा है, जो चित्त को मोहित । लेकिन मैं अपनी क़लम को अव ज्यादा दौड़ने न दूंगा। आज के लिए फ़ी काम कर लिया है।

: १०७ :

महायुद्ध से पहले के सौ वर्ष

२२ नवम्बर, १९३२

पोलियन का पतन १८१४ ई० में हुआ; अगले साल वह एल्वा से लौटा र उसकी हार हुई; लेकिन उसका सारा ढाँचा १८१४ ई० में ही ढह । इसके ठीक सौ वर्ष वाद, १९१४ ई० में, महायुद्ध शुरू हुआ, जो लग- दुनिया में फैल गया और अपने चार वर्षों के समय में इसने ज़वर्दस्त और तक़लीफ़ें पहुँचाई। सौ वर्ष के इस काल पर हमें कुछ विस्तार के चार करना है। इस काल के शुरू में दुनिया की जैसी हालत थी, उसकी मोटी वातें मैं तुम्हें अपने पिछले पत्र में वतला चुका हूं। मैं समझता के लिए यह मुनासिव होगा कि अलग-अलग देशों में इस सदी के अलग- ड़ों की जांच करने से पहले कुल मिलाकर पूरी सदी पर एक निगाह जाय। इस तरह शायद हमें इन सौ वर्षों की ख़ास-ख़ास हलचलों का च्छा ज्ञान हो जाय, और तव हम सारे दृश्य की सव चीज़ों को एक सकें।

हें अपने-आप ही नज़र आ जायगा कि १८१४ से १९१४ ई० तक वर्ष ज्यादातर उन्नीसवीं सदी में पड़े हैं। इसलिए अगर हम इन वर्षों वीं सदी कहकर पुकारें तो कोई हर्ज नहीं है, हालांकि यह विलकुल नहीं होगा।

नीसवीं सदी एक दिलकश ज़माना है। लेकिन हमारे लिए उसका कोई आसान काम नहीं है। यह सामने फैला हुआ एक लम्बा-चौड़ा एक वड़ा चित्र है, और चूंकि हम उसके इतने नज़दीक़ हैं, इसलिए पहले की सदियों की वनिस्वत ज्यादा वड़ा और ज्यादा घना मालूम जब हम इस सदी को गूंथनेवाले हज़ारों भागों को सुलझाने की कोशिश तो इसका वड़प्पन और इसकी पेचीदगी कभी-कभी तो हमको चकरा

यह सदी चमत्कारी मशीनी उन्नति की है। औद्योगिक क्रान्ति के मशीनी क्रान्ति आई, और मशीनें मनुष्य के जीवन में दिन-पर-दिन ज्यादा होती गईं। मशीनों ने उससे बहुत ज्यादा काम कर दिखाया, जितना पहले किया था। उनसे मनुष्य के काम की मशक्क़त दूर हो गई, क़ुदरती पर उसका आसरा कम हुआ और उसके लिए दौलत पैदा होने लगी। बहुत ज्यादा सहायता दी और आवा-जाई व माल-ढुलाई के साधनों की तेज-पर-तेज होती चली गई। रेलगाड़ी आई और उसने घोड़ा-गाड़ियों की ले ली; भाँप के जहाज़ों ने हवा से चलनेवाले जहाज़ों की जगह ले उसके बाद आया ज़बर्दस्त और शानदार समुद्री जहाज़, जो एक महाद्वीप महाद्वीप को तेज रफ़्तार से और बिना नागा किये जाने आने लगा। इस अन्त में अपने-आप चलनेवाली गाड़ियाँ आईं और मोटरकारें तमाम फैल गईं। और इसके बाद आया हवाई जहाज़। इसी समय मनुष्य चमत्कार—बिजली—को क़ाबू में करके अपने काम में लेनें लगा और टेलीफ़ोन प्रकट हुए। इन बातों ने दुनिया का रूप बहुत बदल दिया। संचार के साधनों का विकास हुआ और लोग दिन-पर-दिन ज्यादा तेज़ से यात्रा करने लगे वैसे-ही-वैसे दुनिया सिकुड़ती हुई और छोटी होती हुई पड़ने लगी। आज तो हम इन सबके आदी हो गये हैं और इनपर नहीं देते। लेकिन पुरानी बातों में ये सब सुधार और परिवर्तन हमारे में नये आये हैं; ये सब पिछले सौ वर्षों में ही आये हैं।

साथ ही यह सदी यूरोप की, या यों कहो कि पश्चिमी यूरोप खासकर इंग्लैण्ड की, सदी थी। औद्योगिक और मशीनी क्रान्तियाँ वहीं शुरू आगे बढ़ीं, और इनके सबब से पश्चिमी यूरोप दूसरे देशों से बहुत गया। समुद्री शक्ति और उद्योग-धन्धों में इंग्लैण्ड सबसे आगे था; पश्चिमी यूरोप के दूसरे देश धीरे-धीरे इसकी बराबरी पर आ पहुंचे। मशीनी सभ्यता के सहारे अमेरिका का संयुक्त राज्य भी आगे बढ़ रेलों ने उसे पश्चिम की तरफ़ प्रशान्त महासागर तक पहुंचा दिया, तरह इस विशाल देश को एक राष्ट्र बना दिया। यह अपनी ही सम और अपना विस्तार करने में इतना ज़्यादा फँसा हुआ था कि यूरोप व दुनिया की झंझटों की तरफ़ ध्यान देने की उसे फ़ुरसत ही न थी। लेकिन के किसी भी तरह के दखल का विरोध करने और रोकने की उसमें काफ़ी थी। 'मुनरो सिद्धान्त' ने, जिसके बारे में मैं तुम्हें अपने पिछले पत्र में हूं, दक्षिण अमेरिका के गणराज्यों को यूरोप की लालची निगाहों से बचा इन गणराज्यों की नींव स्पेनियों और पुर्तगालियों ने डाली थी, इसलिए वे गणराज्य कहलाते हैं। ये दोनों देश, और इटली व फ़्रान्स, लातीनी राष्ट्र

री तरफ़ यूरोप के उत्तरी देश ट्यूटानी हैं; इंग्लैण्ड ट्यूटनों[1] की ऐंग्लो शाखा है। संयुक्त राज्य अमेरिका के लोग शुरू में इसी ऐंग्लो-सेक्सन थे, लेकिन बाद में तो सभी तरह के परदेसी वहाँ जा पहुँचे।

औद्योगिक और मशीनी मैदान में बाक़ी दुनिया पिछड़ी हुई थी और पश्चिम मशीनी सभ्यता से होड़ नहीं कर सकती थी। पुराने कुटीर उद्योगों की यूरोप के नये मशीन-उद्योगों से माल कहीं ज्यादा तेजी के साथ और बहुतायत से पैदा होने लगा। लेकिन इस माल को तैयार करने के लिए माल की ज़रूरत थी, जो पश्चिमी यूरोप में नहीं मिलता था। साथ ही तैयार होता था, तो उसे बेचना भी ज़रूरी था, और इसलिए उसकी के लिए हाट-बाज़ार ज़रूरी थे। इसलिए पश्चिमी यूरोप ऐसे मुल्कों करने लगा जो उसे कच्चा माल दे सकें और उनका तैयार माल खरीद एशिया और अफ़्रीका कमज़ोर थे, इसलिए यूरोप उन पर भूखे भेड़िये की पड़ा। अपनी समुद्री-शक्ति और उद्योग-धन्धों में पहल के कारण इंग्लैण्ड की दौड़ में सहज ही सबसे आगे रहा।

तुम्हें याद होगा कि गरम मसाले और अपनी ज़रूरत की दूसरी चीज़ें खरी-लिए यूरोपवाले पहले-पहल भारत और पूर्व-एशिया में पहुँचे थे। इस पूर्व का माल यूरोप में आया और साथ ही पूर्व के करघों का बना हुआ रह का कपड़ा पश्चिम में पहुँचा। लेकिन अब मशीन के विकास से यह उलटा हो गया। पश्चिमी यूरोप का सस्ता माल पूर्व में पहुँचने लगा ज़ी माल की बिक्री को बढ़ावा देने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इरादा भारत के कुटीर उद्योगों की हत्या कर डाली।

यूरोप बड़े लम्बे-चौड़े एशिया पर जमकर बैठ गया। उत्तर में एक सिरे सिरे तक सारे महाद्वीप पर रूसी साम्राज्य पसर गया। दक्षिण में इंग्लैण्ड सबसे बड़े माल भारत पर मज़बूत शिकंजा जमाये बैठा था। पश्चिम में साम्राज्य तीन-तेरह हुआ जा रहा था, और तुर्की का हवाला "यूरोप का कह कर दिया जाता था। नाम के स्वाधीन ईरान पर इंग्लैण्ड और रूस थे। स्याम के एक छोटे-से टुकड़े को छोड़कर सारे दक्षिण-पूर्वी एशिया— हिंदचीन, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फ़िलीपाइन वग़ैरा—को निगल चुका था। सुदूर पूर्व में यूरोप की सभी शक्तियाँ चीन को कुतर और उससे एक के बाद दूसरी रियायतें ज़बर्दस्ती ऐंठी जा रही थीं।

---

[1] जर्मनी की एक प्राचीन आदि-वासी क़ौम।

सिर्फ़ जापान तना हुआ खड़ा रहा और बराबरी की हैसियत से यूरोप से मु में डटा रहा। वह अपने अलगाव से बाहर निकल आया था और उसने तेजी के साथ अपने को नई हालतों के मुताबिक़ ढाल लिया था।

मिस्र के सिवा बाक़ी अफ़्रीका बहुत पिछड़ा हुआ था। वह यूरोप कोई जोरदार मुक़ाबला नहीं कर सकता था, इसलिए यूरोप की साम्राज्य की अन्धी दौड़ में इसपर टूट पड़ीं, और इस विशाल महाद्वीप को कर खा गईं। इंग्लैण्ड ने मिस्र पर कब्ज़ा कर लिया, क्योंकि यह भारत के में था, और फिर तो भारत पर क़ब्ज़ा जमाये रखने की लालसा ब्रिटिश नीति हावी हो गई। १८६९ ई० में स्वेज़ नहर खोली गई। इससे यूरोप और भा बीच का रास्ता बहुत छोटा हो गया। इस नहर के सबब से इंग्लैण्ड के लिए की क़ीमत और भी बढ़ गई, क्योंकि वह नहर में गड़बड़ कर सकता था इस तरह भारत के समुद्री-रास्ते पर उसका अधिकार था।

इस तरह, मशीनी क्रान्ति के नतीजे से सारी दुनिया में पूंजीवादी फैल गई और यूरोप का दबदबा हर जगह क़ायम हो गया। इसलिए इस को साम्राज्यवाद की सदी भी कह सकते हैं। लेकिन यह नया साम्राज्यवाद रोम और चीन, भारत और अरब, और मंगोलों की पुरानी साम्राज्य बहुत अलग ढँग का था। यह तो नये ढँग का साम्राज्य था, जो कच्चे मा हाट-बाज़ारों का भूखा था। नया साम्राज्यवाद नये उद्योगवाद का बच्चा कहा जाता था कि "झण्डे के पीछे-पीछे व्यापार चलता है," और अक्सर बाइबिल के पीछे-पीछे झण्डा चल रहा था। मज़हब, विज्ञान, स्वदेश-प्रेम, को एक ही उद्देश्य के लिए भ्रष्ट किया जा रहा था, यानी दुनिया की ज़्यादा और उद्योगों के मैदान में ज़्यादा पिछड़ी हुई जातियों का शोषण करना बड़ी-बड़ी मशीनों के स्वामी और उद्योग-धन्धों के सरदार मालदार हों जायँ। सत्य और प्रेम के नाम की दुहाई देनेवाला ईसाई मिशनरी साम्राज्यवाद की चौकी का काम करता था, और अगर कहीं उसका कुछ जाता, तो उसका देश इसी को वहाँ की ज़मीन हड़पने का और ज़बर्दस्ती ऐंठने का बहाना बना लेता था।

उद्योग और सभ्यता के पूंजीवादी संगठन से इस तरह के साम्रा का पैदा होना लाज़िमी था। पूंजीवाद ने ही राष्ट्रीयता की भावना को किया, और इसलिए इस सदी को तुम राष्ट्रीयता की सदी भी कह सकते यह राष्ट्रीयता सिर्फ़ स्वदेश-प्रेम ही नहीं थी, बल्कि दूसरे सब देशों से करनेवाली थी। अपनी ज़मीन के टुकड़े की शान के गीत गाने और दूसरों हिक़ारत से निन्दा करने का यही नतीजा हो सकता था कि जुदा-जुदा

झगड़े और लड़ाइयाँ हों। यूरोप के देशों की उद्योगी और साम्राज्यवादी हालत को और भी बिगाड़ दिया। १८१४-१५ ई० की वियेना की कांग्रेस का जो नक़शा तय किया था वह भी एक और खिझानेवाला कारण नक़शे में कुछ क़ौमों को दवा दिया गया था और उन्हें जबर्दस्ती दूसरी की हुकूमत के नीचे रख दिया गया था। एक राष्ट्र के रूप में पोलैंड की नहीं रही थी। आस्ट्रिया-हंगरी ठोक-पीटकर बनाया हुआ साम्राज्य था, तरह-तरह की क़ौमें रहती थीं, जो एक दूसरे से दिली नफ़रत रखती थीं। पूर्व यूरोप के तुर्की-साम्राज्य के बल्कानी देशों में बहुत-सी ग़ैर-तुर्की थीं। इटली के टुकड़े करके बहुत-सी रियासतों में बाँट दिया गया था, और एक हिस्सा आस्ट्रिया के अधीन था। यूरोप के इस नक़्शे को बदल डालने युद्धों और क्रान्तियों के ज़रिये बार-बार कोशिशें की गईं। अपने पिछले मैंने इनमें से कुछ का ज़िक्र किया है, जो वियेना के फ़ैसले के फ़ौरन ही बाद। इस सदी के पिछले हिस्से में इटली ने अपने उत्तरी भाग से आस्ट्रिया का मध्य-भाग से पोप का जुआ उतार फेंका और वह एक संगठित राष्ट्र बन इसके थोड़े ही दिनों बाद प्रशिया के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण हुआ। ने फ़ान्स को हराया और नीचा दिखाया और उसकी सरहद के दो प्रान्त और लॉरेन छीन लिये, और उसी दिन से वह बदला चुकाने के सपने लगा। पचास वर्ष के भीतर-ही-भीतर ख़ूनी और भयंकर बदला लिया जाने-था।

दूसरे देशों से बहुत आगे बढ़ा हुआ होने की वजह से इंग्लैण्ड यूरोपीय में सबसे ज्यादा भाग्यशाली था। सारी बढ़िया चीज़ें उसके क़ब्ज़े में थीं और समय की हालत से ख़ूब राज़ी था; भारत नये ढंग से साम्राज्य का नमूना और ऐसा दौलतमन्द देश था कि जिसके शोषण से सोने की नदी लगातार को बहती रहती थी। भारत पर इंग्लैण्ड की इस हुकूमत को दूसरे सब बनानेवाले डाह की नज़र से देखते थे। वे दूसरी जगहों में भारत के का साम्राज्य बनाने की सोचने लगे। फ़ान्सीसी तो किसी हद तक सफल भी; जर्मनी ज़रा देर से मैदान में आया, और उसके लिए अब कुछ भी नहीं था। इस तरह दुनिया भर में इन यूरोपीय "महाशक्तियों" के बीच राज-तनाव पैदा हो गया। हरेक शक्ति ज्यादा-से-ज्यादा देशों को हड़प जाने कोशिश में थी, और इसी उधेड़-बुन में लगी हुई एक शक्ति दूसरी शक्ति से रा जाती थी। खासकर इंग्लैण्ड और रूस के बीच तो बराबर तना-तनी रहती थी, क्योंकि इंग्लैण्ड के भारतीय साम्राज्य को मध्य-एशिया की ओर से का खतरा मालूम पड़ता था। इसलिए इंग्लैण्ड हमेशा रूस को मात देने कोशिश करता रहता था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में, जब रूस ने तुर्की को

हराकर क़ुस्तुन्तुनिया पर दान्त लगाये, तो इंग्लैण्ड तुर्की की मदद के लिए मै में उतर आया और उसने रूस को पीछे खदेड़ दिया। तुर्की से कोई ख़ास प्रेम वजह से इंग्लैण्ड ने ऐसा किया हो सो बात नहीं, बल्कि रूस का डर और भा से हाथ धो बैठने का अन्देशा ही इसकी वजह थी।

जर्मनी, फ़ान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका धीरे-धीरे इंग्लैण्ड के ब आ पहुँचे, इसलिए उद्योगों में इंग्लैण्ड की सबसे आगे रहने की हैसियत दिन-प्र घटती गई। इस सदी के आखिरी दिनों में मामला तूल पकड़ने लगा था। की इन शक्तियों के ऊँचे हौसलों को पूरा करने के लिए दुनिया बहुत छोटी ये शक्तियाँ आपस में एक दूसरी से डरती थीं और नफ़रत व डाह करती और इसी डर और नफ़रत ने उन्हें अपनी फ़ौजों और जंगी-जहाज़ों की बढ़ाने के लिए मजबूर किया। विनाश के इन साधनों के लिए बड़ी सरग होड़ शुरू हुई। दूसरे मुल्क़ों से लड़ने के लिए अलग-अलग देशों में एक दू गठ-बंधन होने लगे और अन्त में यूरोप में दो तरह के गठ-बंधन आमने- खड़े हो गये—एक का मुखिया था फ़्रान्स, जिसमें इंग्लैण्ड भी गुप्त रूप से श था, और दूसरे का मुखिया बना जर्मनी। यूरोप एक फ़ौजी छावनी बन था। उद्योग-धन्धों, व्यापार और हथियारों में दिन-पर-दिन भयंकर आप बढ़ती जा रही थी। हरेक पश्चिमी देश में धीरे-धीरे तंग राष्ट्रीयता की न जगाई जा रही थी, ताकि जनता को गुमराह करके उसमें पड़ौसी देशों के लि नफ़रत पैदा की जा सके और इस तरह उसे युद्ध के लिए तैयार रक्खा जा स

इस तरह अन्धी राष्ट्रीयता यूरोप पर हावी होने लगी। यह अजीब थी, क्योंकि आवा-जाई के साधनों की बढ़ती हुई रफ़्तार अलग-अलग दे एक-दूसरे के ज्यादा नज़दीक ले आई थी और लोग भी बहुत ज्यादा सं जाने-आने लगे थे। खयाल तो यह था कि जैसे-जैसे लोग अपने पड़ौसियों को पहचानते जायँगे, उनकी तरफ़दारी कम होती जायगी और तंग खयाली के उनका नज़रिया चौड़ा हो जायगा। कुछ हद तक ऐसा हुआ ज़रूर, लेकिन इ उद्योगी पूँजीवाद में समाज का समूचा ढाँचा ही ऐसा था कि उसने राष्ट्र- वर्ग-वर्ग और मनुष्य-मनुष्य में आपसी झगड़ा पैदा कर दिया।

पूर्व में भी राष्ट्रीयता बढ़ी। यहाँ इसका स्वरूप हुआ उन विदेशियों डटकर मुक़ाबला करना, जो देश पर अधिकार जमाये हुए थे और उसका शो कर रहे थे। शुरू में पूर्वी देशों के बचे-खुचे पुराने सामन्तों ने विदेशी सत्ता मुक़ाबला किया, क्योंकि उन्हें अपनी हैसियत छिन जाने का अन्देशा था। वे अन रहे जैसा कि होना लाज़िमी था। अब एक तरह के मज़हबी नज़रिये में रंगी राष्ट्रीयता उठी। धीरे-धीरे यह मज़हबी रंग ग़ायब हो गया और पश्चिमी

राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। जापान विदेशी हुकूमत से तो बच गया, लेकिन वहाँ ज़ोरदार आधी-सामन्ती राष्ट्रीयता को बढ़ावा दिया गया।

एशिया ने तो शुरू से ही यूरोपीय हमलों का डटकर मुक़ाबला शुरू कर ा था। लेकिन जब उसे पता लगा कि यूरोपीय फ़ौजों के हथियार बहुत शक्ति- और कारगर हैं, तो यह मुक़ाबला ठंडा पड़ गया। विज्ञान के विकास और नी तरक़्क़ी ने इन यूरोपीय फ़ौजों को पूर्व की उस समय की फ़ौजों से बहुत दा शक्तिशाली बना दिया था। इसलिए पूर्वी देश उनके सामने अपने को निबल- बेवस महसूस करने लगे और उन्होंने निराश होकर यूरोप के सामने सिर ा दिया। कुछ लोगों का कहना है कि पूर्व आत्मा पर ज़ोर देता है और पश्चिम या की चीज़ों पर। इस तरह का कथन बहुत भ्रम में डालनेवाला है। अठारहवीं र उन्नीसवीं सदी में, जिस समय यूरोप हमलावर बनकर आया, उस समय और पश्चिम का असली फ़र्क़ था पूर्व की मध्यकालीन हालत और पश्चिम उद्योगी और मशीनी प्रगति। भारत और दूसरे पूर्वी देश शुरू-शुरू में सिर्फ़ यूरोप फ़ौजी होशियारी से ही नहीं, बल्कि विज्ञान और उद्योगों में उसकी प्रगति से भी धिया गये थे। इस सबके नतीजे से वे अपने-आपको फ़ौजी और उद्योगों के मामलों गिरा हुआ महसूस करने लगे। लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी राष्ट्रीयता ती और साथ ही विदेशी हमलों का विरोध करने और विदेशियों को निकाल हर करने की इच्छा ने भी ज़ोर पकड़ा। बीसवीं सदी के शुरू में ही एक घटना ो घटी, जिसका एशिया के दिमाग़ पर ज़बर्दस्त असर पड़ा। यह थी जापान ज़ार-शाही रूस को हराना। छोटे-से जापान ने यूरोप की एक सबसे बड़ी और से ज़बर्दस्त शक्ति को हरा दिया, इस बात ने बहुत लोगों को अचम्भे में डाल ा; और पूर्व के लिए तो यह अचम्भा बहुत ही ख़ुशी का था। जापान को अब देशी हमलावरी के ख़िलाफ़ लड़नेवाला एशिया का प्रतिनिधि माना जाने लगा, र उस समय तो वह सारे एशिया में बहुत लोकप्रिय हो गया। पर वास्तव में पान एशिया का ऐसा कुछ प्रतिनिधि था नहीं; वह तो यूरोप की किसी भी क्ति की तरह सिर्फ़ अपने ही स्वार्थ के लिए लड़ा था। मुझे अच्छी तरह याद है जब जापान की जीतों की ख़बरें आती थीं, तो मुझमें कितना जोश भर जाता । उस वक़्त मैं लगभग तुम्हारी ही उम्र का था।

इस तरह, जैसे-जैसे यूरोप का साम्राज्यवाद ज़्यादा हमलावर होता गया, से-ही-वैसे पूर्व में उसका जवाब देने और विरोध करने के लिए राष्ट्रीयता बढ़ती ई। पश्चिम में अरब राष्ट्रों से लेकर सुदूर पूर्व में मंगोली राष्ट्रों तक, तमाम शिया में राष्ट्रीय आन्दोलन खड़े होने लगे? शुरू में ये फूँक-फूँककर और मद्धिम ल से आगे बढ़े और फिर अपनी माँगों में दिन-पर-दिन परले दर्जे के सरगर्म

होते गये। भारत में ये राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म और बालपन के दिन थे। एशिया का विद्रोह शुरू हो चुका था।

उन्नीसवीं सदी का हमारा सिंहावलोकन अभी पूरा होने को बहुत बाक़ी है, लेकिन यह पत्र काफ़ी लम्बा हो गया है, इसलिए खत्म होना चाहिए।

: १०८ :

उन्नीसवीं सदी की कुछ और बातें

२४ नवम्बर, १९३३

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें उन्नीसवीं सदी को खासियत देनेवाले कुछ लक्षणों का और बड़ी-बड़ी मशीनों के आविष्कार होने के बाद पश्चिमी यूरोप के सिर पर सवार उद्योगों के पूंजीवाद से पैदा हुई बहुत-सी बातों का हाल बताया था। इन सबमें पश्चिमी यूरोप आगे क्यों बढ़ गया, इसका एक सबब था उसके पास कोयले और कच्चे लोहे की खानों का होना। बड़ी-बड़ी मशीनों के बनाने और चलाने के लिए कोयला और लोहा बहुत ज़रूरी थे।

जैसा कि हम देख चुके हैं, इस पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता को पैदा किया। वैसे तो राष्ट्रीयता कोई नई चीज़ नहीं थी। यह पहले भी मौजूद थी, लेकिन अब ज्यादा सरगर्म और तंग होती गई। इसने एक ही साथ लोगों को एक डोरे में बाँधा भी और जुदा-जुदा भी किया; एक ही राष्ट्रीय इकाई में रहने-वाले आपस में एक-दूसरे के ज्यादा नज़दीक आ गये, लेकिन साथ ही उन लोगों से और भी ज्यादा दूर और अलग होते गये, जो दूसरी राष्ट्रीय इकाई में रहते थे। एक तरफ़ हरेक मुल्क में देश-भक्ति बढ़ी, तो दूसरी तरफ़ उसके साथ ही विदेशियों को नापसन्द किया जाने लगा और उन पर सन्देह किया जाने लगा। यूरोप के उद्योग-धन्धों में आगे बढ़े हुए देश एक दूसरे को शिकारी जानवरों की तरह घूर रहे थे। इंग्लैण्ड को लूट का माल सबसे ज्यादा मिल गया था, इसलिए वह उससे चिपका रहना चाहता था। लेकिन दूसरे देशों के, खासकर जर्मनी के, विचार से इंग्लैण्ड को हर जगह ज़रूरत से ज्यादा मिला हुआ था। इसलिए टकराहट बढ़ते-बढ़ते अन्त में खुली लड़ाई की नौबत आ गई। उद्योगी पूंजीवाद का सारा ढाँचा और उससे पैदा होनेवाले साम्राज्यवाद का नतीजा यही टकराहट और मुठभेड़ होता है। इनके भीतर ऐसी परस्पर-विरोधी बातें रहती हैं, जिनका आपस में कभी मेल हो नहीं हो सकता, क्योंकि उनका आधार होते हैं टक्कर, होड़ और शोषण। इस तरह पूर्व में साम्राज्यवाद ने जिस राष्ट्रीयता को पैदा किया, वही उसकी कट्टर दुश्मन बन गई।

लेकिन इन विरोधी बातों के बावजूद भी पूंजीवादी सभ्यता ने बहुत-से र के सबक़ सिखाये। इसने संगठन का पाठ पढ़ाया, क्योंकि बड़ी-बड़ी मशीनें र बड़े पैमाने के उद्योग तभी चल सकते हैं जब पहले उनका खूब अच्छी तरह ठन कर लिया जाय। इसने बड़े-बड़े कारोबारों में आपसी सहयोग करना ाया। इसने कार्य-कुशलता और वक़्त की पाबन्दी सिखाई।

इन गुणों के बिना बड़े कारखाने या रेलें चलाना सम्भव नहीं है। कभी- यह कहा जाता है कि ये गुण ख़ास पश्चिमी हैं और पूर्व में इनका अभाव है। न बहुत-सी दूसरी बातों की तरह इसमें भी पूर्व और पश्चिम का कोई सवाल है। इन गुणों का विकास उद्योगवाद की वजह से हुआ है; और क्योंकि म का औद्योगीकरण हो गया है, इसलिए उसे ये गुण मिल गये हैं; उधर अभी तक ज़्यादातर कृषि-प्रधान है, उद्योग-प्रधान नहीं, इसलिए उसमें इनका ाव है।

उद्योगी पूंजीवाद ने एक और महान् सेवा की। इसने यह सिखाया कि नी उत्पादन से यानी बड़ी-बड़ी मशीनों और कोयले और भाप की सहायता से त किस तरह पैदा की जा सकती है। इससे उस पुराने अन्देशे की भी जड़ कट कि दुनिया में सब ज़रूरतें पूरी करने के साधन काफ़ी नहीं हैं और इसलिए वों की बहुत बड़ी संख्या हरदम बनी रहेगी। विज्ञान और मशीनों की मदद निया की आबादी के लिए काफ़ी खाना और कपड़ा और ज़रूरत की हरेक चीज़ र की जा सकती है। इस तरह उत्पादन की समस्या कम-से-कम ख़याली तौर तो हल हो गई, लेकिन वह बस यहीं ठहर गई। दौलत तो बेशक बहुतायत से लगी, लेकिन फिर भी ग़रीब ग़रीब ही बने रहे, बल्कि और भी ज़्यादा ग़रीब गये। यूरोपीय राज में तो पूर्वी और अफ़्रीकी देशों में एकदम नंगा और बेहया ण हो रहा था। वहाँ के अभागे निवासियों की परवाह करनेवाला कोई न था। न पश्चिमी यूरोप में भी ग़रीबी बनी ही रही और दिन-पर-दिन ज़्यादा र होती गई! कुछ समय के लिए तो बाक़ी दुनिया के शोषण से पश्चिमी यूरोप ब दौलत आई। इस दौलत का ज़्यादा हिस्सा उच्च वर्ग के कुछेक मालदार ों के पास रहा; हाँ, उसका थोड़ा-सा हिस्सा निचुड़कर ग़रीब वर्गों के पास पहुंच गया, और उनके रहन-सहन का स्तर कुछ ऊँचा हो गया। आबादी भी ज़्यादा बढ़ी।

लेकिन यह दौलत और रहन-सहन के स्तर में यह उन्नति, एशिया, अफ़्रीका र बिना उद्योग-धन्धोंवाले देशों के शोषित लोगों को मारकर आई। इस शोषण और दौलत की नदी ने कुछ अर्से के लिए पूंजीवादी प्रणाली की परस्पर-विरोधी ों को ढक दिया। फिर भी धनवानों और ग़रीबों के बीच का फ़र्क़ बढ़ता गया;

वे एक -दूसरे से और भी दूर हो गये। ये दोनों दो अलग-अलग क़ौमें हो गईं, अलग-अलग राष्ट्र बन गये। उन्नीसवीं सदी के एक महान् अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ बेन्जामिन डिसरैली ने इनका बयान इस तरह किया है:

> "ये दो राष्ट्र, जिनमें कोई आपसी सम्पर्क नहीं है, कोई सहानुभूति नहीं है; जो एक दूसरे की आदतों, विचारों और भावनाओं से ऐसे अपरिचित हैं, मानो वे अलग-अलग भू-खण्डों के रहनेवाले हों या अलग-अलग ग्रहों के निवासी हों; जो अलग-अलग तरह के व्यवहारों से बने हैं, जिनका पोषण, अलग-अलग तरह के भोजन से हुआ है, जिनके आचार-व्यवहार के ढँग अलग-अलग हैं, और जिनका शासन भी एकसे क़ानूनों से नहीं होता....मालदार और ग़रीब!"

उद्योग-धन्धों की नई हालतें मज़दूरों की एक बड़ी संख्या को बड़े कारखानों में लाईं, और इस तरह कारखाने के मज़दूरों का एक नया वर्ग पैदा हुआ। ये लोग किसानों और खेत पर काम करने वाले मज़दूरों से बहुत-सी बातों में जुदा थे। किसान को बहुत-कुछ मौसमों और वर्षा के आसरे रहना पड़ता है। ये बातें उसके वश में नहीं हैं, और इसलिए वह सोचने लगता है कि उसकी मुसीबत और ग़रीबी दैवी कारणों से है। वह अन्धविश्वासी हो जाता है, आर्थिक कारणों का विचार नहीं करता, एक नीरस और निराश जीवन बिताने लगता है और अपने आपको एक ऐसे निर्दयी भाग्य के भरोसे छोड़ देता है. जिसे वह बदल नहीं सकता। लेकिन कारखाने का मज़दूर मशीनों पर, इन्सान की बनाई हुई चीज़ पर, काम करता है; मौसमों और वर्षा की परवाह किये बिना वह माल तैयार करता रहता है; वह दौलत पैदा करता है, लेकिन वह देखता है कि इस दौलत का बड़ा हिस्सा दूसरों के पास चला जाता है और वह ग़रीब-का-ग़रीब ही बना रहता है। कुछ हद तक वह आर्थिक नियमों को भी काम करते हुए देखता है। इसलिए वह दैवी कारणों से विचार नहीं करता और किसान की तरह अन्ध-विश्वासी नहीं होता। अपनी ग़रीबी के लिए वह देवी-देवताओं को दोष नहीं देता; वह दोषी ठहराता है समाज को या सामाजिक व्यवस्था को, और ख़ासकर कारखाने के पूंजीपति मालिक को, जो उसकी मजदूरी के मुनाफ़े का इतना बड़ा हिस्सा हज़म कर जाता है। वह वर्ग-चेतन बन जाता है; उसे कई तरह के वर्ग दिखाई देने लगते हैं, और वह देखता है कि ऊंचे वर्ग उसके वर्ग को नोच-नोचकर खा रहे हैं। इसका नतीजा होता है बेज़ारी और विद्रोह। बेज़ारी की शुरुआती शिकायतें धुंधली और धीमी होती हैं; गुस्से के बलवे अन्धे, विचार-हीन और कमज़ोर होते हैं और सरकार उन्हें आसानी से कुचल देती है। क्योंकि वह भी तो अब बड़े कारखानों और उनकी शाखाओं को चलानेवाले मध्यम वर्ग के हितों की ही पूरी प्रतिनिधि होती है। लेकिन पेट की आग

ादा दिनों तक दबाकर नहीं रक्खा जा सकता, और जल्द ही ग़रीब मज़दूर ने साथियों की एकता में ताक़त का एक नया भण्डार मिल जाता है। इसलिए ों को बचाने और उनके अधिकारों की लड़ाई के वास्ते ट्रेड यूनियनें (मज़दूर बनती हैं। शुरू में ख़ुफ़िया तौर पर काम करती हैं, क्योंकि सरकार मज़दूरों ना संगठन भी नहीं करने देना चाहती। यह दिन-पर-दिन ज़ाहिर होता है कि सरकार पूरी तरह से एक वर्ग की सरकार है, और हर तरह से उसी वर्ग ाज़त करने पर तुली होती है, जिसकी वह प्रतिनिधि होती है। क़ानून भी उसी लिए बनाये जाते हैं। धीरे-धीरे मज़दूर मज़बूती हासिल करते जाते हैं और ट्रेड-यूनियनें ताक़तवर संगठन बनती जाती हैं। अलग-अलग क़िस्म के मज़दूर हैं कि सत्ताधारी शोषक-वर्ग के ख़िलाफ़ उनके हित असल में एक ही हैं। र अलग-अलग ट्रेड-यूनियनें आपस में सहयोग कर लेती हैं और एक देश के ों का एक संगठित समुदाय बन जाता है। इससे अगला क़दम है अलग-देशों के मज़दूरों का आपस में मिल जाना, क्योंकि वे भी यह महसूस करते हैं उनके भी हित एक ही हैं और सबका एक ही दुश्मन है। इस तरह 'दुनिया के ों एक हो जाओ' का नारा उठता है, और मज़दूरों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन होते हैं। इस बीच पूंजीवादी उद्योग भी आगे बढ़ता है और अन्तर्राष्ट्रीय ाता है। इस तरह जहां कहीं भी उद्योगी पूंजीवाद फूलता-फलता है, वहीं -वर्ग पूंजीवाद के मुक़ाबले में खड़ा हो जाता है।

मैं बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ गया हूं और अब मुझे पीछे लौटना चाहिए। लेकिन ीं सदी की यह दुनिया, बहुत-से परस्पर-विरोधी झुकावों का जंजाल है, बको नज़रों में रखना मुश्किल है। मैं सोचता हूं कि पूंजीवाद और साम्राज्य-ार राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता और दौलत और ग़रीबी की इस अजीब ी से तुम क्या समझोगी? लेकिन जीवन ख़ुद ही एक अजीब खिचड़ी है। यह ी है, वैसा ही इसे मानना चाहिए और समझना चाहिए, और तब सुधारना ए।

बेमेल बातों के इस जंजाल ने यूरोप और अमेरिका के बहुत-से लोगों को ें डाल दिया। सदी की शुरुआत में नेपोलियन के पतन के बाद किसी यूरोपीय स्वतन्त्रता का नाम भी नहीं था। कुछ देशों में तो बादशाहों का निरंकुश था, और इंग्लैण्ड जैसे कुछ देशों में छोटे-से अमीर वर्ग और मालदार वर्ग ों में हुकूमत थी। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूं, उदार तत्वों का हर जगह किया जा रहा था। लेकिन इस पर भी अमेरिका और फ़्रान्स की राज्य-ों ने उदार विचारकों को लोकतंत्र और राजनीतिक स्वतन्त्रता के विचारों करा दिया था, और वे उसकी कद्र करने लगे थे। वास्तव में लोकतन्त्र ही

राज्य की और जनता की सब बुराइयों और तक़लीफ़ों का अकेला इलाज स जाने लगा। लोकतन्त्री आदर्श यह था कि कोई ख़ास रियायतें न हों, राज्य ह व्यक्ति को राजनीतिक और समाजी हैसियत से बराबर हैसियत का समझ वर्ताव करे। यह ठीक है कि लोग कई वातों में एक-दूसरे से वहुत फ़र्क़ रखते, कुछ लोग दूसरों की वनिस्वत ज़्यादा मज़बूत होते हैं, कुछ ज़्यादा बुद्धिमान, कुछ कम स्वार्थी होते हैं। लेकिन लोकतन्त्र में विश्वास रखनेवालों का कहना कि मनुष्यों में चाहे जो फ़र्क़ हों, उनका राजनीतिक दर्जा एक ही रहना चा और इसे वह हरेक को वोट का हक़ देकर क़ायम करना चाहते थे। आगे बढ़े विचारक और उदार विचारोंवाले लोग लोकतन्त्र की खूबियों में दिली विश्व रखते थे, और उसे क़ायम करने के लिए सिर-तोड़ कोशिशें करते थे। पुरान पंथी और प्रगतिगामी लोगों ने उनका विरोध किया, जिससे हर जगह ज़ब खींच-तान शुरू हो गई। कुछ देशों में क्रान्तियाँ भी हो गईं। वोट का अधि बढ़ाने, यानी पार्लमेण्ट के सदस्यों को चुनने का अधिकार कुछ ज़्यादा लोगों दिये जाने से पहले इंग्लैण्ड भी गृह-युद्ध के किनारे ही खड़ा था। लेकिन धीरे ज़्यादातर जगहों में लोकतन्त्र की विजय हुई, और इस सदी के अन्त तक पश्चि यूरोप और अमेरिका में ज़्यादातर लोगों को कम-से-कम वोट का अधिकार मिल ही गया। लोकतन्त्र उन्नीसवीं सदी का एक महान् आदर्श रहा है, यहाँतक इस सदी को लोकतन्त्र की सदी भी कहा जा सकता है। अन्त में लोकतन्त्र की हुई, लेकिन जब यह अन्त आया तो लोगों का इस पर से विश्वास ही उठने ल उन्होंने देखा कि यह ग़रीबी और मुसीबतों और पूंजीवादी प्रणाली की बहु परस्पर-विरोधी वातों को ख़त्म करने में नाकामयाब रही। भूखे आदमी वोट का अधिकार मिलने से क्या फ़ायदा हुआ? और अगर उसका वोट या उ सेवाएँ एक समय के भोजन की क़ीमत में खरीदी जा सकती थीं तो उसे मिली स्वतन्त्रता का क्या नाप था? इसलिए लोकतन्त्र बदनाम हो गया या यों क ठीक होगा कि राजनीतिक लोकतन्त्र लोगों की निगाह में गिर गया। लेकिन वात उन्नीसवीं सदी के दायरे से वाहर की है।

लोकतन्त्र का ताल्लुक़ स्वतन्त्रता के राजनीतिक पहलू के साथ था। निरं कुशता व दूसरी स्वेच्छाचारी हुकूमतों के ख़िलाफ़ यह एक उलटी-क्रिया थी। उ समय पैदा होनेवाली उद्योगी समस्याओं का या ग़रीबी का या वर्ग-संघर्ष का इ पास कोई हल नहीं था। इस आशा से कि व्यक्ति निजी हितों को ध्यान में रखक अपने को हर तरह से सुधारने की कोशिश करेगा और इस तरह समाज तरक्क करेगा, इसने हरेक व्यक्ति को अपने रुझान के अनुसार काम करने की खु आज़ादी पर ज़ोर दिया। यह दख़ल न देने की नीति थी, जिसके वारे में, मैं अपने किसी पहले पत्र में लिख चुका हूँ। लेकिन व्यक्ति की आज़ादी का

नहीं, क्योंकि जिस आदमी को मज़दूरी पर काम करने के लिए मजबूर होना हो, उसका आज़ाद रहना बहुत दूर की बात है।

उद्योगी पूंजीवाद की प्रणाली में बड़ी भारी दिक़्क़त यह पैदा हुई कि जो लोग करते और इस तरह समाज की सेवा करते थे, उन्हें बहुत कम मज़दूरी मिलती सारा मुनाफ़ा मिलता था उन दूसरे लोगों को जो बिलकुल काम नहीं थे। इस तरह मुनाफ़ों का मेहनत से नाता तोड़ दिया गया। इसका नतीजा रफ़ तो हुआ मेहनतक़शों का पतन और ग़रीबी, और दूसरी तरफ़ ऐसे वर्ग ल्ल, जो उद्योग में किसी तरह का काम किये बिना, या उसकी दौलत में किसी की तरक्की किये बिना ही, उसके आसरे जीता था या यों कहो कि उसका ख़ून र पनपता था। यह ऐसा था जैसे कि एक तो किसान-वर्ग, जो खेत पर काम है, और दूसरा ज़मींदार, जो खुद खेत पर काम किये बिना ही किसानों की का फ़ायदा उठाता है। मेहनत के फल का यह बँटवारा बिलकुल अन्यायपूर्ण अन्याय को सदियों से सताये हुए किसान ने तो महसूस नहीं किया था, लेकिन र ने महसूस किया, और बहुत नापसन्द किया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, यह नाराज़गी बढ़ती चली गई। पश्चिम के सभी उद्योग-प्रधान देशों में साफ़ नज़र आने लगे और विचारवान व लगनवाले लोग इस उलझन को ने की कोशिश करने लगे। इस तरह वह विचारधारा पैदा हुई, जिसे समाज-कहा जाता है, जो पूंजीवाद की उपज है और उसका दुश्मन भी है, और जो शायद दिन उसको उखाड़कर उसकी जगह ले लेगा। इंग्लैण्ड में तो इसने मद्धिम लिया, लेकिन फ़्रान्स और जर्मनी में यह ज़्यादा क्रान्तिकारी था। संयुक्त अमेरिका में उसके विस्तार के मुक़ाबले में आबादी कम होने की वजह से री की काफ़ी गुंजाइश थी, इसलिए पूंजीवाद ने पश्चिमी यूरोप में जो अन्याय और जो मुसीबतें ढाईं वे उस हद तक अमेरिका में बहुत दिनों तक दिखाई दिये।

उन्नीसवीं सदी के बीच में जर्मनी में एक व्यक्ति पैदा हुआ, जो आगे चलकर वाद का पैग़म्बर और समाजवाद के उस रूप का जनक माना जानेवाला जो साम्यवाद कहलाता है। उसका नाम था कार्ल मार्क्स। वह सिर्फ़ धुंधले रनेवाला दार्शनिक या इल्मी सिद्धान्तों की चर्चा करनेवाला प्रोफ़ेसर नहीं था। क व्यावहारिक दार्शनिक था और उसका तरीक़ा था विज्ञान की तकनीक को तिक व आर्थिक समस्याओं के अध्ययन में लगाकर दुनिया के दुखों का इलाज निकालना। उसका कहना था—"अबतक फ़िलासफ़ी का काम सिर्फ़ संसार व्याख्या करना रहा है; साम्यवादी फ़िलासफ़ी का लक्ष्य होना चाहिए दुनिया दल देना।" ऐंजेल्स नामक एक दूसरे व्यक्ति के सहयोग से उसने 'साम्यवादी

घोषणापत्र"[1] निकाला, जिसमें उसकी फिलासफ़ी की रूप-रेखा दी गई थी। में उसने जर्मन भाषा में एक मोटी पुस्तक 'पूंजी'[2] लिखी, जिसमें उसने वैज्ञा ढँग से दुनिया के इतिहास की आलोचना की और यह बताया कि समाज का वि किस दिशा में हो रहा है और इस प्रक्रिया की रफ़्तार किस तरह बढ़ाई जा सक हैं। यहाँ मैं मार्क्स की फ़िलासफ़ी समझाने की कोशिश नहीं करूँगा। लेकिन तु यह ज़रूर याद रखना चाहिए कि मार्क्स के इस महाग्रंथ का साम्यवाद के वि पर ज़बर्दस्त असर पड़ा और आज यह साम्यवादी रूस की 'बाइबिल' गया है।

दूसरी मशहूर पुस्तक, जो इस सदी के बीच के लगभग इंगलैण्ड में निक और जिसने बड़ी खलबली पैदा कर दी, डार्विन की 'ओरिजिन ऑफ स्पीशीज़'[3] डार्विन प्रकृति शास्त्री था, यानी वह प्रकृति (क़ुदरत) के और खासकर वनस्प व जीव-जन्तुओं के, निरीक्षण व अध्ययन में लगा रहता था। बहुत-से नमूनों मदद से उसने यह बतलाया कि प्रकृति में वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं का वि कैसे हुआ, प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया से किस तरह एक वर्ग दूसरे में बदल और किस तरह जीवों के सरल रूप धीरे-धीरे ज्यादा पेचीदा बन गये। इस तर वैज्ञानिक तर्क संसार की और जीव-जन्तुओं व मनुष्य की सृष्टि के बारे में मज़हबी उपदेशों के बिलकुल ख़िलाफ़ पड़ता था। इसलिए उस समय वैज्ञा और इन उपदेशों में विश्वास रखनेवालों के बीच एक बड़ा वाद-विवाद पैदा हो ग तथ्यों के बारे में असली झगड़ा इतना नहीं था, जितना सारी ज़िन्दगी की रुख के बारे में। तंग मज़हबी रुख ज्यादातर भय, जादू-टोना और अन्ध-वि का था। तर्क को बढ़ावा नहीं दिया जाता था और लोगों से कहा जाता जो कुछ उन्हें बतलाया जाय, उसी में विश्वास करें, यह सवाल न करें कि ऐ होता है। बहुत-से विषय पवित्रता और दीनदारी के रहस्यवादी ग़िलाफ़ में दिये गए थे और उन्हें खोलने या छूने की मनाही थी। विज्ञान की भावना व इससे बिलकुल जुदा थे। विज्ञान तो हरेक चीज़ की खोज करना चाहता था, बात को बिना किसी ननु-नच के मानने के लिए तैयार नहीं था, न किसी की मानी हुई पवित्रता से डरकर भागनेवाला था। वह हरेक बात की गह जाता था, अन्ध-विश्वासों को दूर भगाता था और सिर्फ़ उन्हीं बातों में वि करता था, जो प्रयोग या तर्क से साबित की जा सकती हों।

पथराये हुए इस मज़हबी रुख के साथ लड़ाई में विज्ञान की भावना की हुई। इन बातों पर विचार करनेवाले ज्यादातर लोग पहले ही, शायद अ

---

[1] Communist Manifesto by Marx and Engels.

[2] Das Capital.

[3] Origin of Species—"प्राणिवर्ग की उ

ही, बुद्धिवादी हो गये थे। तुम्हें याद होगा कि क्रान्ति से पहले फ़ान्स में दार्श- चारों की लहर का मैंने तुमसे ज़िक्र किया था। लेकिन अव यह परिवर्तन अन्दर और भी गहरा पहुँच गया। औसत दर्जे के पढ़े-लिखे आदमी पर विज्ञान की प्रगति का असर पड़ने लगा। वह शायद इस विषय पर बहुत से विचार नहीं करता था और न विज्ञान के वारे में उसकी ज़्यादा री ही थी। लेकिन फिर भी वह अपने सामने खुलनेवाले आविष्कारों और हजूम से चकित हुए बिना न रह सका। रेल, बिजली, तार, टेलीफ़ोन, और ऐसी ही बहुत-सी चीज़ें एक के वाद दूसरी निकलती रहीं और विज्ञान के तरीक़ों की ही सन्तानें थीं। इनका विज्ञान की कामयाबियों के उत्साह से स्वागत किया गया। लोगों ने देखा कि विज्ञान ने सिर्फ़ मनुष्य ही नहीं वढ़ाया बल्कि प्रकृति पर मनुष्य का क़ाबू भी बढ़ा दिया। ज्जुब की कोई वात नहीं कि अन्त में विज्ञान की जीत हुई और लोगों ने शक्तियोंवाले नये देवता के सामने भक्ति-भाव से सिर झुका दिया। सदी के वैज्ञानिक विलकुल निचन्त हो गये और अपने को अफ़लातून समझने उन्होंने अपनी पक्की रायें वना लीं। पचास वर्ष पहले के उन दिनों से अव ान ने वड़ी भारी प्रगति कर ली है, लेकिन आज का रुख, उन्नीसवीं सदी के न्ती व अफ़लातूनी रुख़ से वहुत जुदा है। आज का सच्चा विज्ञानी महसूस है कि ज्ञान का महासागर वहुत लम्वा-चौड़ा और असीम है, और हालाँकि पार करने की कोशिश में है, फिर भी वह पहले के वैज्ञानिकों की कम घमण्डी और कम हठी है।

न्नीसवीं सदी का दूसरा मार्के का पहलू था पश्चिम में लोक-शिक्षा की नति। शासक वर्गों के वहुत-से लोगों ने इसका वड़े ज़ोरों से विरोध किया। कहना था कि इससे आम लोग अपनी हालत से बेज़ार हो जायँगे, और राज- स्ताख़ व अ-ईसाई वन जायँगे! इस दलील के मुताबिक़ ईसाइयत का अर्थ , और मालदारों व सत्ताधारियों का हुक्म राज़ी-राज़ी बजाना। लेकिन य के वावजूद प्राइमरी स्कूल खोले गये और लोक-शिक्षा का फैलाव हुआ। सदी की दूसरी वहुत-सी ख़ास वातों की तरह यह भी नये उद्योगवाद क नतीजा था। क्योंकि वड़े-वड़े कारख़ानों और वड़ी मशीनों के लिए कुशलता की ज़रूरत थी और यह सिर्फ़ शिक्षा से ही पैदा की जा सकती थी। ाने के समाज को सब तरह के कारीगर मज़दूरों की सख्त ज़रूरत थी; यह ज़रूरत लोक-शिक्षा से पूरी हुई।

ारम्भिक शिक्षा के इस चौ-तरफ़ा फैलाव ने पढ़े-लिखे लोगों का एक बहुत पैदा कर दिया। ये शिक्षित तो नहीं कहे जा सकते थे, लेकिन पढ़-लिख

सकते थे, और इस तरह अखबार पढ़ने की आदत चल पड़ी। सस्ते अखबार और उनका बड़ा भारी प्रचार हुआ। लोगों के दिमाग़ों पर ये ज़बर्दस्त असर लगे। यह असर ऐसा हुआ कि अक्सर लोगों में ग़लतफ़हमियाँ फैला देते उनकी भावनाओं को किसी पड़ौसी देश के खिलाफ़ उभाड़ देते थे, जिससे जाता था। लेकिन कुछ भी हो, 'प्रेस' यानी 'अखबारी-वर्ग' पक्के तौर पर ऐसी बन गया, जिसे दर-गुज़र नहीं किया जा सकता था।

जो कुछ मैंने इस पत्र में लिखा है, वह ज्यादातर यूरोप पर, और पश्चिमी यूरोप पर, लागू होता है। कुछ हद तक उत्तरी अमेरिका पर होता है। दुनिया के बाक़ी हिस्से और जापान व अफ़्रीका को छोड़कर तमाम और यूरोप की नीति को चुपचाप देखनेवाले और उसकी मार को एजेण्ट रह गये। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, उन्नीसवीं सदी यूरोप की सारी तसवीर यूरोप से ही भरी हुई दिखाई देती थी; यूरोप दुनिया के के बीच में खड़ा हुआ था। पुराने ज़माने में ऐसे भी लम्बे-लम्बे अर्से हो जबकि यूरोप पर एशिया का दबदबा था। ऐसे भी ज़माने थे जब मिस्र, भारत, चीन, यूनान, रोम या अरब में सभ्यता और उन्नति के केन्द्र थे। पुरानी सभ्यताओं की जान निकल गई और वे पथरा गईं और उनके सिर्फ़ बाक़ी रह गये। परिवर्तन और उन्नति के जानदार तत्व उनमें से निकल जान दूसरे मुल्कों में चली गई। अब यूरोप की बारी थी; और यूरोप और भी ज्यादा हावी हो गया कि आवा-जाई के साधनों की प्रगति ने दुनि सब हिस्सों में आसानी से और बहुत जल्दी पहुँचना सम्भव कर दिया था।

उन्नीसवीं सदी ने यूरोपीय सभ्यता को फूलते-फलते देखा। इसे वर्गी (बुर्जुआ) सभ्यता कहा जाता है, क्योंकि उद्योगी पूंजीवाद से मध्यमवर्ग ही इस पर हावी था। मैं तुम्हें इस सभ्यता की बहुत-सी परस्पर और ख़राब बातें बतला चुका हूँ। हम भारत और पूर्व के निवासियों ने खास इन ख़राबियों को देखा और उनकी मार सही। लेकिन कोई भी देश महानता के दर्जे पर नहीं पहुँच सकती, जबतक कि उसमें महानता का बहुत माद्दा न हो। पश्चिमी यूरोप में वह माद्दा था। यूरोप की शान उसकी फ़ौजी ताक़त पर इतनी टिकी हुई नहीं थी, जितनी उन गुणों पर, कि उसे महान् बनाया। यहाँ सब जगह जान और जानदारी और रचना की बहुतायत थी। बड़े-बड़े कवि, लेखक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, इंजीनियर और कर्मवीर वहाँ पैदा हुए। और इसमें कोई शक नहीं कि यूरोप में एक अदना आदमी की हालत भी इतनी अच्छी थी, जितनी पहले नहीं रही। लन्दन, पेरिस, बर्लिन, न्यूयार्क आदि राजधानियाँ दिन

ईं; उनकी इमारतें दिन-पर-दिन ऊँची होती गईं, विलास बढ़ता गया, ज्ञान ने मनुष्य की कड़ी मेहनत और मशक्क़त को कम करनेवाले और जीवन व आनन्द बढ़ानेवाले हज़ारों तरीक़े ढूंढ़ निकाले। आसूदा लोगों के जीवन में और संस्कृति आ गई और वे कुछ हाल-मस्त, मग़रूर और नाज़ुक-मिज़ाज । यह सभ्यता की एक सुहावनी तिपहरी या शाम जैसी मालूम होती है।

इस तरह उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में यूरोप की खुशनुमा और खुश-ल बन गई थी, और कम-से-कम ऊपर से ऐसा मालूम होता था कि यह मधुर और सभ्यता क़ायम रहेगी और सफलता-पर-सफलता हासिल करती । लेकिन अगर कोई इसकी तह के नीचे झाँककर देखता तो उसे एक अजीब और बहुत-से बदनुमा नज़ारे दिखाई देते। क्योंकि, बहुत करके यह खुशहाल सिर्फ़ यूरोप के ऊँचे वर्गों के लिए थी और बहुत-से देशों और बहुत-सी शोषण पर टिकी हुई थी। तुम्हें इसमें कुछ परस्पर-विरोधी बातें, जिनका किया था, और राष्ट्रीय वैर-भाव व साम्राज्यवाद की कठोर व ज़ालिम खाई देगी। तब तुम्हारा उन्नीसवीं सदी की इस सभ्यता के टिकाऊपन दू में इतना विश्वास न रहेगा। इसका ऊपरी शरीर तो काफ़ी सुन्दर था, इसके भीतर एक नासूर था; इसकी सेहत और प्रगति की तो बड़ी चर्चा कन इस मध्यमवर्गी सभ्यता के मर्म-स्थानों में दीमक लग गई थी।

और १९१४ ई० में एकदम भड़ाका हुआ। सवा चार वर्ष की लड़ाई के प उसमें से बच ज़रूर निकला, लेकिन ऐसे भयंकर घावों के साथ, जो क मरे नहीं हैं। लेकिन इस बारे में मैं तुम्हें फिर बताऊंगा।

: १०९ :

भारत में युद्ध और विद्रोह

२७ नवम्बर, १९३२

हमने उन्नीसवीं सदी का काफ़ी लम्बा सिंहावलोकन किया है। आओ, अब या के कुछ हिस्सों पर ज़्यादा बारीक़ी से ग़ौर करें। हम भारत से शुरू

कुछ समय पहले मैंने तुम्हें बताया था कि अंग्रेज़ों ने किस तरह अपने दारों पर विजय पाई। नेपोलियनी युद्धों के दिनों में फ़्रान्सीसी यहाँ से पूरी ाड़ फेंके गये थे। मराठों, मैसूर के टीपू सुलतान और पंजाब के सिक्खों ने को कुछ समय तक रोके रक्खा, लेकिन वे ज़्यादा दिनों तक उनका मुक़ाबला र सके। ज़ाहिर है कि अंग्रेज़ सबसे ज़्यादा ताक़तवर और हरबे-हथियारों से

भारत १८५७ की क्रान्ति के समय

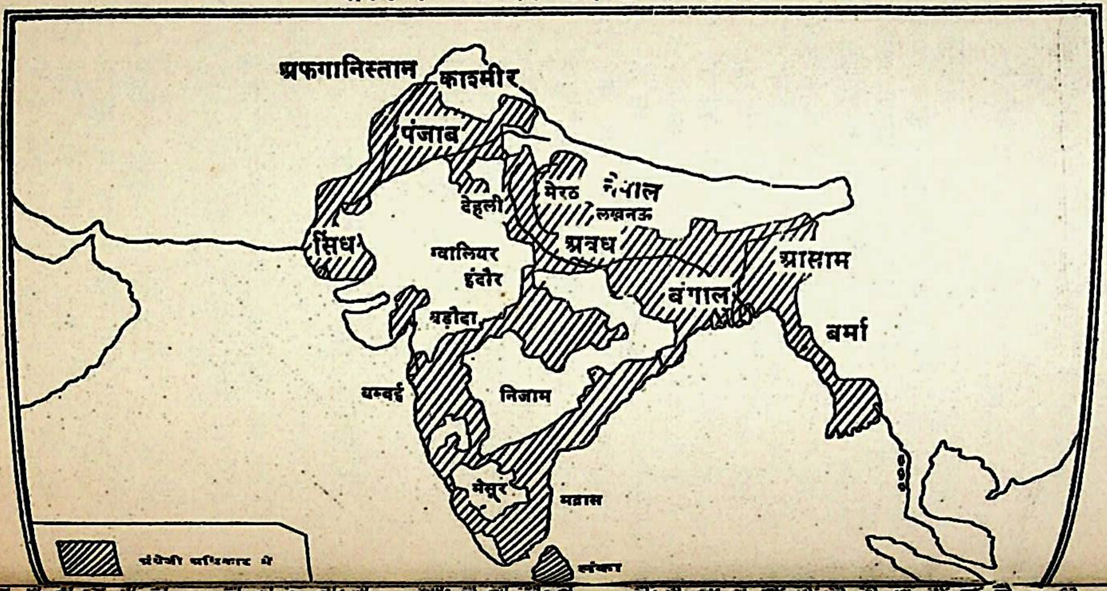
अफगानिस्तान
काश्मीर
पंजाब
देहली
मेरठ
नेपाल
लखनऊ
अवध
सिंध
ग्वालियर
इंदौर
बड़ौदा
आसाम
बंगाल
बर्मा
बम्बई
निजाम
मैसूर
मद्रास
लंका
▨ अंग्रेजी अधिकार में

शक्ति थे। उनके हथियार बढ़िया थे, उनका संगठन बढ़िया था, और इन ऊपर उनकी समुद्री शक्ति थी, जिसका वे सहारा ले सकते थे। अगर वे हार ते, जैसा कि अक्सर होता था, तो भी उन्हें उखाड़ा नहीं जा सकता था, क्योंकि रास्तों पर उनका क़ब्ज़ा होने की वजह से वे दूसरे साधनों की मदद ले सकते किन देशी ताक़तों के लिए तो हार का अक्सर मतलब था पूरी तबाही, जिसका इलाज नहीं हो सकता था। अंग्रेज़ सिर्फ़ ज़्यादा सामान से लैस, लड़ाके और अच्छी न-शक्तिवाले ही न थे, बल्कि वे अपने मुक़ामी मुक़ाबलेदारों से कहीं ज़्यादा क भी थे, और उनकी आपसी दुश्मनियों से पूरा फ़ायदा उठाते रहते थे। ए अंग्रेज़ों की ताक़त होनहार की तरह बढ़ती गई और एक-एक सब मुक़ाबलेदार पछाड़ दिये गए। एक को पछाड़ने में अक्सर दूसरों की मदद ली गई और फिर इनकी भी बारी आ गई। ताज्जुब की बात है कि भारत सामन्ती सरदार उस समय ज़रा भी दूरन्देश न थे। बाहरी दुश्मन के फ़ आपस में मिलकर एक हो जाने का उन्होंने खयाल तक नहीं किया। हरेक ले हाथों लड़ता था और हार जाता था, और यही उसका मानना था।

जैसे-जैसे अंग्रेज़ों की ताक़त बढ़ती गई, वह दिन-पर-दिन ज़्यादा हमलावर र सरकश होती गई। वह किसी बहाने से, या बिना किसी बहाने के ही युद्ध ने लगी। ऐसे बहुत-से युद्ध हुए। उन सबका हाल लिख कर मैं तुम्हें उकताना नहीं हता। युद्ध कोई सुहावने विषय नहीं हैं, और इन्हें इतिहास में ज़रूरत से बहुत दा महत्व दे दिया गया है। लेकिन अगर मैं इनके बारे में थोड़ा-बहुत भी न तो तसवीर अधूरी रह जायगी।

मैसूर के हैदरअली और अंग्रेज़ों के बीच हुए दो युद्धों का हाल मैं तुम्हें पहले चुका हूं। इनमें हैदरअली बहुत हद तक सफल रहा। उसका पुत्र टीपू सुलतान ज़ों का कट्टर दुश्मन था। उसे खतम करने के लिए दो और युद्ध हुए, एक ७९० से १७९२ ई० तक और दूसरा १७९९ ई० में। टीपू लड़ता हुआ मारा । मैसूर शहर के पास अब भी तुम उसकी पुरानी राजधानी श्रीरंगपट्टम के डहर देख सकती हो, जहां वह दफ़नाया गया था।

अब अंग्रेज़ों की सत्ता को चुनौती देनेवाले मराठे बाक़ी रह गये। पश्चिम में पेशवा और ग्वालियर का सिन्धिया, इन्दौर का होल्कर व कुछ दूसरे सरदार भी थे। किन दो बड़े मराठे राजनीतिज्ञों की मृत्यु—ग्वालियर के महादजी सिन्धिया की ७९४ ई० में और पेशवा के मन्त्री नाना फड़नवीस की १८०० ई०—के बाद, राठों की ताक़त तहस-नहस हो गई। फिर भी मराठों ने बहुत-सी टक्करें लीं, और १८१९ ई० में आखिरी हार के पहले, उन्होंने अंग्रेज़ों को कई बार हराया। राठे सरदार एक-एक करके हरा दिये गए; हरेक सरदार दूसरे को मदद न

पहुँचाकर उसका पतन देखता रहा। सिन्धियाँ और होल्कर अंग्रेज़ों की प्रभु क़बूल करके मातहती शासक बन गये। बड़ौदा के गायकवाड़ ने तो पहले विदेशी शक्ति के साथ समझौता कर लिया था।

मराठों का हाल ख़त्म करने के पहले मैं एक नाम का ज़िक्र कर देना चाह हूँ, जो मध्य-भारत में काफ़ी मशहूर हो चुका है। यह नाम है अहिल्याबाई का, १७६५ से १७९५ ई० तक यानी तीस वर्ष तक, इन्दौर की रानी थी। जिस सम वह गद्दी पर बैठी, वह तीस वर्ष की नौजवान विधवा थी, और अपने राज्य प्रशासन में वह बड़ी ख़ूबी से सफल रही। अलबत्ता उसने पर्दा कभी नहीं किया मराठों ने कभी पर्दे को नहीं माना। वह ख़ुद राज्य का कारोबार देखती थी, खुले दरबार में बैठती थी, और उसने इन्दौर को एक छोटे-से गाँव से बढ़ाकर मालदार शहर बना दिया। उसने युद्धों को टाला, शान्ति क़ायम रक्खी, और अपने राज्य को ऐसे समय में ख़ुशहाल बनाया, जबकि भारत का ज्यादातर हिस्सा उथल-पुथल की हालत में था। इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं है कि आज भी वह मध्य-भारत में सती की तरह पूजी जाती है।

आख़िरी मराठा-युद्ध से कुछ ही पहले, १८१४ से १८१६ ई० तक, अंग्रेज़ों का नेपाल से एक युद्ध हुआ था। पहाड़ी इलाक़े में उन्हें बड़ी दिक़्क़तें उठानी पड़ीं, लेकिन आख़िर में उनकी जीत हुई और देहरादून का यह ज़िला, जहाँ पर जेल में बैठा हुआ मैं यह लिख रहा हूँ, और कुमायूँ और नैनीताल, अंग्रेज़ी हुकूमत में आ गये। तुम्हें शायद याद होगा कि चीन के बारे में एक पत्र में मैंने तुम्हें चीन की फ़ौज के अद्भुत कारनामों का हाल लिखा था कि वह तिब्बत को लाँघकर हिमालय के ऊपर होकर चली आई और गुरखों को उन्हीं के घर, नेपाल में, हरा गई। यह घटना ब्रिटिश-नेपाल युद्ध से सिर्फ़ बाईस बरस पहले की है। तबसे नेपाल ने बाक़ायदा चीन की अधीनता क़बूल कर ली, लेकिन मेरा ख़याल है कि अब वह बात नहीं है। नेपाल एक निराला देश है, जो बहुत पिछड़ा हुआ और बाक़ी दुनिया से बहुत कटा हुआ है लेकिन फिर भी उसकी जगह बड़ी सुहावनी है और यह क़ुदरती दौलत का भण्डार है। कश्मीर और हैदराबाद की तरह यह मातहती राज्य नहीं है। यह स्वतंत्र राज्य कहलाता है। लेकिन अंग्रेज़ इस बात की सावधानी रखते हैं कि इसकी स्वाधीनता सीमा के अन्दर ही रहे और नेपाल के बहादुर और रण-बाँकुरे लोग—गुरखे—भारत की अंग्रेज़ी फ़ौजों में भरती किये जाते हैं और उनका इस्तेमाल भारतवासियों को दबाये रखने के लिए किया जाता है।

पूर्व में बरमा असम तक फैल गया था। इसलिए लगातार आगे बढ़नेवाले अंग्रेज़ों से उसकी टक्कर होना लाज़िमी था। बरमा से तीन युद्ध हुए, और हर बार अंग्रेज़ उसका कोई-न-कोई इलाक़ा छीनते गये। १८२४-२६ ई० में होनेवाले

युद्ध का नतीजा हुआ असम का अंग्रेज़ों की अधीनता में आना। १८५२ ई० रे युद्ध में दक्षिणी बरमा क़ब्ज़े में किया गया। उत्तरी बरमा, जिसकी राजधानी के पास आवा में थी, समुद्र से बिलकुल दूर कर दिया गया, और इस तरह ाने पर अंग्रेज़ों की मुट्ठी में आ गया। १८८५ ई० में, बरमा से तीसरा आख़िरी युद्ध हुआ, और सारे देश पर अंग्रेज़ों ने अपना क़ब्ज़ा करके उसे साम्राज्य में मिला लिया। लेकिन फ़र्ज़ी तौर पर बरमा चीन का ताबेदार था रावर चीन को ख़िराज भेजता रहता था। ध्यान देने की अनोखी बात यह बरमा को साम्राज्य में शामिल करते वक़्त अंग्रेज़ लोग चीन भेजे जानेवाले ख़िराज को जारी रखने के लिए रज़ामन्द हो गये। इससे ज़ाहिर होता है ८५ ई० में भी वे चीन की ताक़त से काफ़ी घबराते थे, हालाँकि चीन अपनी ी मुसीबतों में ऐसा फँसा हुआ था कि वह अपने ताबेदार बरमा पर हमला क़्त उसकी मदद न कर सका। अंग्रेज़ों ने १८८५ ई० के बाद एक बार तो ो यह ख़िराज दिया और फिर बन्द कर दिया।

बरमा के युद्ध हमें १८८५ ई० तक ले आये हैं। मैं इन सबको एक साथ लेना ा था। लेकिन अब हमें दुबारा उत्तरी भारत की तरफ़, और इसी सदी के शुरू में, चलना चाहिए। पंजाब में रणजीतसिंह के मातहत एक महान् सिक्ख- क़ायम हो गया था। सदी के शुरू में ही रणजीतसिंह अमृतसर का स्वामी और १८२७ ई० के क़रीब तमाम पंजाब और कश्मीर का मालिक बन गया। ई० में उसकी मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बाद ही सिक्ख राज्य कमज़ोर हो गया टने लगा। सिक्ख लोग इस पुरानी कहावत की मिसाल पेश करते हैं कि "मुसी- आदमी ऊँचा उठता है, और सफलता मिलने के बाद गिर जाता है।" जब- क्ख एक अल्पसंख्यक गिरोह थे, जो जान बचाने के लिए भागे फिरते थे, तब- ाले मुग़ल बादशाहों के लिए भी उन्हें दबाना मुमकिन नहीं हुआ। लेकिन तिक सफलता मिलते ही उनकी इस सफलता की बुनियाद कमज़ोर पड़ गई। ों और अंग्रेज़ों के बीच दो युद्ध हुए, पहला १८४५-४६ ई० में और दूसरा -४९ ई० में। दूसरे युद्ध में अंग्रेज़ों की चिलियांवाला में करारी हार हुई। अन्त में अंग्रेज़ पूरी तौर पर जीत गए और पंजाब अंग्रेज़ी राज्य में मिला गया। क्योंकि तुम कश्मीरी हो, इसलिए तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी ग्रेज़ों ने कश्मीर को जम्मू के एक राजा गुलाबसिंह को पिचहत्तर लाख रुपये ा था। गुलाबसिंह के लिए यह बढ़िया सौदा था; इस सौदे में बेचारे रियों की तो कुछ पूछ ही नहीं थी। कश्मीर अब अंग्रेज़ों की एक मातहत त है और वहाँ के मौजूदा महाराजा इसी गुलाबसिंह के वंशज हैं।

पंजाब के उत्तर की ओर, बल्कि उत्तर-पश्चिम की ओर, अफ़ग़ानिस्तान

था, और अफ़ग़ानिस्तान के नज़दीक ही दूसरी ओर था रूस। मध्य-एशि में रूसी साम्राज्य के विस्तार ने अंग्रेज़ों का दिल दहला दिया। उन्हें हर वा रूस कहीं भारत पर हमला न कर बैठे। क़रीब-क़रीब उन्नीसवीं सदी भर में ' ख़तरे' की चर्चा रही। १८३९ ई० के करीब भारत के अंग्रेज़ों ने अफ़ग़ानि की तरफ़ से रत्तीभर भी छेड़-छाड़ हुए बिना उसपर हमला कर दिया। उस अफ़ग़ानिस्तान की सरहद ब्रिटिश भारत से दूर थी, और पंजाब का स्व सिक्ख-राज्य बीच में पड़ता था। लेकिन फिर भी सिक्खों को अपना दोस्त ब अंग्रेज़ों ने क़ाबुल पर धावा बोल दिया। लेकिन अफ़ग़ानिस्तान ने भी मार्के का लिया। बहुतेरी बातों में अफ़ग़ान लोग चाहे कितने ही पिछड़े हुए हों, उन्हें अपनी आज़ादी से प्रेम है, और उसकी हिफ़ाज़त के लिए वे अख़ीर द लड़ने को तैयार रहते हैं। और इसीलिए, अफ़ग़ानिस्तान किसी भी हम विदेशी फ़ौज के लिए हमेशा 'बर्रों का छत्ता' बना रहा है। हालांकि अंग्रे काबुल पर और अफ़ग़ानिस्तान के कई हिस्सों पर क़ब्ज़ा कर लिया था, अचानक चारों तरफ़ विद्रोह भड़क उठे, अंग्रेज़ वापस खदेड़ दिये गए और की-सारी अंग्रेज़ी फ़ौज तहस-नहस हो गई। बाद में इस हार का बदला लिए एक और ब्रिटिश-हमला हुआ। अंग्रेज़ों ने काबुल पर क़ब्ज़ा करके, बड़े सायबानदार बाज़ार को बारूद से उड़ा दिया, और अंग्रेजी सिपा शहर के बहुत-से हिस्सों में लूटमार की ओर आग लगा दी। लेकिन ज़ाहिर हो गया कि अंग्रेज़ों के लिए बराबर युद्ध किये बिना अफ़ग़ानि क़ब्ज़ा बनाये रखना आसान नहीं था। इसलिए वे वहाँ से वापस लौट आ

क़रीब चालीस वर्ष बाद, १८७८ ई० में, अफ़ग़ानिस्तान के अ शासक ने रूस से दोस्ती कर ली तो अंग्रेज़ फिर घबराये। बहुत हद तक दोहराया गया। एक दूसरा युद्ध हुआ, अंग्रेज़ों ने इस देश पर हमला कि उनकी ज़ीत होती हुई दिखाई दे रही थी कि इतने में ही अफ़ग़ानों ने राजदूत और उसके दल को मौत के घाट उतार दिया और अंग्रेज़ी फ़ौज दिया। अंग्रेज़ों ने इसका थोड़ा-बहुत बदला ले लिया और फिर इस छत्ते' से दूर हट गये। इसके बहुत वर्षों बाद तक अफ़ग़ानिस्तान की अजीब थी। अंग्रेज़ उसके अमीर को दूसरे विदेशों के साथ सीधा सम्बन्ध तो रख देते थे, लेकिन साथ ही उसे हर साल बहुत बड़ी रक़म भी देते थे। हुए, १९१९ ई० में, तीसरा अफ़ग़ान युद्ध हुआ, जिसके नतीजे से अफ़ग़ा पूरी तरह स्वाधीन हो गया। लेकिन जिस ज़माने की हम इस समय चर्चा हैं, यह बात उसके दायरे से बाहर है।

और भी कई छोटे-छोटे युद्ध हुए। इनमें से एक युद्ध, जो बहुत ही बे

१८४३ ई० में सिन्ध पर थोपा गया। वहाँ के ब्रिटिश एजेण्ट ने सिन्धियों को धमकाया और झगड़ा मोल लेने के लिए उकसाया और फिर उन्हें कुचल प्रान्त को अपने राज्य में मिला लिया। और इस कारगुज़ारी के लिए अंग्रेज़ी सरों को ऊपरी मुनाफ़े के तौर पर इनाम का रुपया भी बाँटा गया। एजेण्ट र चार्ल्स नेपियर) के हिस्से की रक़म थी क़रीब सात लाख रुपये! ऐसी त में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि उस ज़माने के भारत में बे-उसूले र हौसलेबाज़ अंग्रेज़ खिंचे चले आते थे।

१८५६ ई० में अवध भी मिला लिया गया। इस समय अवध के शासन हालत बहुत ही बुरी थी। कुछ समय से यहाँ का शासन नवाब-वज़ीर कहे जाने- ले लोगों के हाथों में था। शुरू में दिल्ली के मुग़ल बादशाह ने नवाब-वज़ीर अवध में अपना नायब मुकर्रर किया था। लेकिन मुग़ल-साम्राज्य के पतन बाद अवध स्वाधीन हो गया। पर ज़्यादा दिन के लिए नहीं। पिछले नवाब- र बिलकुल निकम्मे और हलके थे, और अगर वे कुछ भलाई करना भी हते थे, तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की दस्तन्दाज़ी की वजह से कर नहीं सकते। उनके हाथ में कोई असली अधिकार बाक़ी नहीं रह गया था और अंग्रेज़ों अवध के अन्दरूनी शासन में कोई दिलचस्पी नहीं थी। बस, अवध टूक-टूक गया, और जैसा कि होना ही था, अंग्रेज़ी राज्य का हिस्सा बन गया।

युद्धों और राज्यों पर क़ब्ज़े किये जाने की मैं काफ़ी ही नहीं, शायद काफ़ी से ज़्यादा चर्चा कर चुका हूँ। लेकिन ये सब एक बड़ी प्रक्रिया के ऊपरी संकेत जो हो रही थी और जो रुक नहीं सकती थी। अंग्रेज़ जिस समय भारत में ये, यहाँ की पुरानी अर्थ-व्यवस्था का टूटना शुरू हो चुका था। सामन्तीशाही की वारें तड़कने लगी थीं। अगर उस समय विदेशी न भी आये होते तो भी सामन्ती व्यवस्था इस देश में ज़्यादा दिन टिकनेवाली न थी। यूरोप की तरह हाँ भी धीरे-धीरे कोई नई व्यवस्था इसकी जगह ले लेती, जिसमें नये उत्पादक- गों के हाथों में ज़्यादा सत्ता होती। लेकिन यह परिवर्तन होने से पहले ही, जबकि रार ही पड़ी थी, अंग्रेज़ आ पहुँचे और बिना किसी ख़ास दिक़्क़त के इस दरार घुस पड़े। भारत में जिन राजाओं से वे लड़े और जिन्हें उन्होंने हराया, वे बीते हुए र अस्त होते हुए ज़माने की चीज़ें थीं। उनके सामने कोई ठोस भविष्य नहीं। इस तरह इन परिस्थितियों में, अंग्रेज़ों को सफल होना ही था। उन्होंने भारत में सामन्ती व्यवस्था का अन्त जल्दी ला दिया। लेकिन, जैसा कि हम आगे गे, यह अजीब बात है कि उन्होंने ऊपरी तौर से इसे सहारा लगाने की कोशिश और इस तरह भारत को नई व्यवस्था की तरफ़ बढ़ने में रुकावटें डालीं।

इस तरह अंग्रेज़ भारत में इतिहास की एक ऐसी प्रक्रिया के कर्त्ता बन गये, जो सामन्ती भारत को नये ढंग के उद्योगी पूँजीवादी राज्य में बदल देनेवाली

थीं। खुद अंग्रेज़ों ने इस बात को नहीं महसूस किया; और इसमें कोई अ नहीं कि वे सब राजा लोग भी, जो इनसे लड़े थे, इस बारे में कुछ नहीं जानते थे। काल के गाल में पड़ी हुई कोई भी व्यवस्था ज़माने की चेतावनियों को बहुत कम देख पाती है, बहुत कम महसूस करती है कि उसका उद्देश्य और काम पूरा हो चुका है, और इसलिए महाबली घटनाचक्र के हाथों बेइज्ज से खदेड़े जाने के पहले ही उसे शराफ़त के साथ हट जाना चाहिए। इतिहास की नसीहत को भी वह बहुत कम समझ पाती है, और इस बात को भी बहु कम महसूस करती है कि दुनिया उसे, किसी के शब्दों में, 'इतिहास के कूड़ा-दान' पर छोड़ती हुई आगे बढ़ती चली जा रही है। इसी तरह भारत की सामन्ती व्यवस्था ने इन सब बातों को नहीं समझा और व्यर्थ ही अंग्रेज़ों से लड़ती रही। इसी तरह आज भारत में और पूर्व के दूसरे देशों में जमे हुए अंग्रेज भी यह नहीं समझते कि उनके दिन बीत चुके हैं, उनके साम्राज्य के दि बीत चुके हैं, और दुनिया ब्रिटिश साम्राज्य पर ज़रा भी तरस न खाती हुई उ 'इतिहास के कूड़ादान' में फेंकती हुई आगे बढ़ती जा रही है।

लेकिन भारत में चालू सामन्ती व्यवस्था ने उस वक़्त, जबकि अंग्रेज़ लो भारत में पैर पसार रहे थे, एक बार फिर सत्ता हासिल करने का और विदेशियों को निकाल बाहर करने का आख़िरी जतन किया। यह था १८५७ का महान् विद्रोह। देश भर में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ बड़ा असन्तोष और गुस्सा था। ई इण्डिया कम्पनी की नीति थी रुपया बटोरना और इसके सिवा कुछ नहीं करना इस नीति ने उसके बहुत-से अफ़सरों की बेख़बरी और लुटेरेपन के साथ मिलकर चारों तरफ़ घोर तबाही मचा दी। यहाँतक कि अंग्रेज़ों की भारतीय फ़ौज पर भी इसका असर पड़ा और कई छोटी-छोटी बग़ावतें हुईं। कितने ही सामन्ती सरदार और उनके वंशज अपने इन नये स्वामियों से क़ुदरती तौर पर सख़्त नाराज़ थे। इसलिए ख़ुफ़िया तरीक़े से एक ज़बर्दस्त विद्रोह का संगठन किया गया। यह संग खासतौर से उत्तर प्रदेश के आस-पास और मध्य भारत में फैल गया, लेकिन भारतवासी क्या करते हैं और क्या सोचते हैं, इस बारे में भारत के अंग्रेज़ इ अन्धे रहते हैं कि सरकार को इसका गुमान तक नहीं हुआ। मालूम होता है कि क जगहों पर एक ही साथ विद्रोह छिड़ने की तारीख़ मुकर्रर की गई थीं। लेकिन मेरठ की भारतीय फ़ौज की कुछ टुकड़ियों ने बहुत जल्दबाज़ी करके १० म १८५७ ई० को ग़दर कर दिया। इस अधपके विस्फोट ने विद्रोह के नेताओं के कार्यक्रम को गड़बड़ कर दिया, क्योंकि इससे सरकार चौकन्नी हो गई। फिर भी यह विद्रोह तमाम उत्तर प्रदेश और दिल्ली में और मध्य भारत व बिहार के कुछ हिस्सों में फैल गया। यह सिर्फ़ फ़ौजी विद्रोह नहीं था, बल्कि इन प्रदेशों में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ एक आम सार्वजनिक बग़ावत थी। महान् मुग़लों के सिल

आखिरी मुग़ल कमज़ोर, बूढ़े और शायर बहादुरशाह को कुछ लोगों ने सम्राट् न कर दिया। इस विद्रोह ने बढ़कर नफ़रत के पात्र विदेशी के खिलाफ़ भारतीय धीनता-संग्राम का रूप ले लिया, लेकिन यह स्वाधीनता उसी पुराने सामन्ती की थी, जिसके सरताज निरंकुश सम्राट् हुआ करते थे। आम लोगों के लिए में कोई आज़ादी न थी। लेकिन फिर भी वह बहुत बड़ी संख्या में इसमें मिल हो गये, क्योंकि एक तो वे अंग्रेज़ों के आने को ही अपनी तबाही और दी का सबब समझते थे, और दूसरे कई जगहों में उनपर बड़े-बड़े ज़मींदारों क़ाबू था। मज़हबी अदावतों ने भी लोगों को उकसाया। इस संग्राम में दुओं और मुसलमानों, दोनों ने पूरा हिस्सा लिया।

कई महीनों तक उत्तर व मध्यभारत में अंग्रेज़ी राज मानो कच्चे धागे के रे लटका रहा। लेकिन विद्रोह की क़िस्मत का फ़ैसला ख़ुद भारतवासियों ही कर दिया। सिक्खों और गोरखों ने अंग्रेज़ों को मदद दी। दक्षिण में निज़ाम, र में सिन्धिया, और दूसरी कई रियासतें भी उनके साथ हो गईं। इन सब खताओं के अलावा भी, ख़ुद विद्रोह में ही असफलता के बीज मौजूद थे। वह सामन्ती व्यवस्था के लिए लड़ रहा था, जिसके दिन बीत चुके थे; इसमें छे नेताओं का अभाव था; इसका संगठन ठीक ढँग से नहीं हुआ था, और हर त आपसी कलह होती रहती थी। कुछ विद्रोहियों ने अंग्रेज़ों की बेरहमी से हत्याएँ के भी अपने पक्ष पर कलंक लगा दिया। इस जंगली बर्ताव ने क़ुदरती तौर भारत के अंग्रेज़ों को कमर कसकर खड़ा कर दिया और उन्होंने उसी ढँग बल्कि उससे भी सैकड़ों-हज़ारों गुना ज्यादा, बदला ले लिया। कहा जाता कि कानपुर में पेशवा के वंशज नानासाहब ने सुरक्षा का वादा करके भी दग़ा के अंग्रेज़ पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की हत्या का हुक्म दे दिया। इस घटना ग्रेज़ बहुत ज्यादा ग़ुस्से में भर गये। इस भयानक दुर्घटना की याद दिलाने-ला कानपुर में एक यादगार कुआ है।

दूर-दूर की कई जगहों पर अंग्रेज़ों को फ़िसादी भीड़ों ने घेर लिया। ी-कभी तो उनके साथ अच्छा बर्ताव किया गया, लेकिन बहुत बार ख़राब। स्त कठिनाइयाँ होते हुए भी वे ख़ूब लड़े और बहादुरी से लड़े। अंग्रेज़ों हस और सहन-शक्ति की एक निराली मिसाल लखनऊ का घेरा है, जिसके आउटरम और हेवलॉक के नाम जुड़े हुए हैं। १८५७ ई० में दिल्ली के घेरे र पतन ने विद्रोह का पासा ही पलट दिया। इसके बाद और कई महीनों तक ज़ विद्रोह को कुचलते रहे। ऐसा करने में उन्होंने हर जगह दहशत फैला दी। बड़ी संख्या में लोगों को बड़ी बेदर्दी के साथ गोलियों से मार दिया गया, -से लोगों की तोप के मुँह धज्जियाँ बिखेर दी गईं और हज़ारों को सड़क के रे के पेड़ो पर फाँसी चढ़ा दिया गया। कहा जाता है कि नील नामक

एक अंग्रेज़ सेनापति इलाहाबाद से कानपुर तक रास्ते-भर आदमियों को फाँ
पर लटकाता हुआ चला गया, यहाँतक कि सड़क के किनारों का एक भी
ऐसा न बचा, जो फाँसी का झूला न बना दिया गया हो। हरे-भरे गाँव जड़-मूल
से नष्ट कर दिये गए। यह सब एक बहुत ही भयानक और दर्दनाक क़िस्सा है
और मुझमें इस सारे कड़वे सत्य का बखान करने की हिम्मत नहीं है। अगर
नानासाहब ने जंगलीपन और दग़ाबाज़ी का बर्ताव किया, तो कितने ही अंग्रेज़
अफ़सर जंगलीपन में उससे सैकड़ों गुना आगे बढ़ गये। अगर अफ़सरों और
नेताओं के अभाव में बाग़ी सिपाहियों के गिरोह बेरहम और नागवार करतूतों
के दोषी ठहरते हैं, तो अपने अफ़सरों के मातहत सीखे हुए अंग्रेज़ सिपाही बेरहमी
और जंगलीपन में उनसे कहीं आगे बढ़ गये थे। मैं दोनों की तुलना नहीं करना
चाहता। दोनों ही तरफ़ की बातें अफ़सोस के क़ाबिल हैं। लेकिन हमारे एक-
तरफ़ा इतिहास में भारतवासियों की दग़ाबाज़ी और बेरहमी का तो खूब बढ़ा-
चढ़ाकर बखान किया गया है, लेकिन दूसरी तरफ़ का ज़िक्र तक नहीं किया गया
है। यह भी याद रखने की बात है कि एक संगठित सरकार फ़िसादी भीड़ की
तरह बर्ताव करने लगे, तो उसकी बेरहमी के मुक़ाबले में फ़िसादी भीड़ की बेरहमी
कुछ भी नहीं है। अगर आज भी तुम अपने प्रान्त के गाँवों में घूमो, तो तुम्हें
लोग मिलेंगे, जिन्हें रोंगटे खड़ी करनेवाली उन ज़ुल्मों को तसवीर और भयानक
याद अभी तक बनी हुई है, जो विद्रोह को कुचलने में उनपर ढाये गए।

इस विद्रोह की दिल दहलानेवाली बातों, और उसके दमन के बीच
एक नाम सामने आता है, जो काली पृष्ठ-भूमिपर चमकता है। यह नाम
बीस साल की बाल-विधवा झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का, जो मर्दों का
बाना पहनकर अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ अपनी प्रजा की नेता बनकर मैदान में
निकल आई। उसके जोश, उसकी लियाक़त और उसके बेधड़क साहस की
बहुत-सी कहानियाँ कही जाती हैं। यहाँतक कि जिस अंग्रेज़ सेनापति ने उसका
मुक़ाबला किया था, उसने भी उसे बाग़ी नेताओं में "सबसे श्रेष्ठ और सबसे
बहादुर" कहा है। वह लड़ती हुई मैदान में काम आई।

१८५७-५८ ई० का विद्रोह सामान्ती भारत की आख़िरी टिमटिमाहट
थी। इसने बहुत-सी बातों का अन्त कर दिया। इसने महान् मुग़लवंश का सिल-
सिला ख़त्म कर दिया, क्योंकि बहादुरशाह के दोनों पुत्रों और एक पोते को
हडसन नामक एक अंग्रेज़ अफ़सर ने दिल्ली ले जाते वक़्त बिना किसी वजह
या उत्तेजना के, बड़ी बेदर्दी के साथ गोलियों से उड़ा दिया। इस तरह ज़लील
होकर तैमूर, बाबर और अकबर के वंश का सिलसिला ख़त्म हो गया।

विद्रोह ने भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का भी अन्त कर

शासन की बागडोर ब्रिटिश सरकार ने सीधी अपने हाथ में ले ली और गवर्नर-जनरल अब 'वाइसराय' के रूप में खिला। उन्नीस वर्ष बाद, ई० में, इंग्लैण्ड की रानी ने, बिज़ैन्तीन साम्राज्य और सीज़रों की पुरानी के भारतीय रूप 'क़ैसरे हिन्द' की उपाधि ले ली। मुग़ल राजवंश अब हो गया था। लेकिन निरंकुशता की भावना ही नहीं बल्कि उसके चिह्न की रह गये, और इंग्लैण्ड में एक दूसरा महान् मुग़ल बैठ गया।

११०

भारतीय कारीगर की रोज़ी छिन जाती है

१ दिसम्बर, १९३२

भारत में उन्नीसवीं सदी के युद्धों का हाल हम ख़त्म कर चुके। मुझे इससे है। अब हम इस समय की दूसरी बड़ी-बड़ी घटनाओं पर विचार कर हैं। लेकिन यह याद रखना कि इंग्लैण्ड को फ़ायदा पहुँचानेवाले ये युद्ध भारत ख़र्चे पर लड़े गये थे। अंग्रेज़ों ने भारतवासियों को जीतने का ख़र्चा उन्हीं-लने का तरीक़ा बड़ी सफलता के साथ बरता। अपने पड़ौसी बरमियों और नों से भारतवासियों का कोई झगड़ा नहीं था, लेकिन इन्हें जीते जाने की भी उन्होंने अपनी जानें और अपना माल देकर चुकाई। इन युद्धों ने कुछ भारत को ग़रीब बना दिया, क्योंकि युद्ध का मतलब ही है दौलत का नाश। कि हम सिन्ध के मामले में देख चुके हैं, युद्ध का मतलब जीतनेवालों को लूट ाल मिलना भी है। ऐसे ही व दूसरे कारणों से पैदा हुई ग़रीबी के बावजूद इण्डिया कम्पनी के ख़ज़ाने में सोने और चांदी की नदी बहती रही, जिससे के हिस्सेदारों को भारी मुनाफ़े मिलते रहें।

मेरा ख़याल है कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ कि भारत में अंग्रेज़ी सत्ता की त के दिन उन क़िस्मत आज़मानेवाले व्यापारियों के दिन थे, जिन्होंने तिजारत और लूटमार की अन्धाधुन्धी मचा रक्खी थी। इस तरह ईस्ट इंडिया नी और उसके कारिन्दे भारत की बेशुमार जमा दौलत ले गये। इसके बदले रत को वास्तव में कुछ भी नहीं मिला। मामूली तिजारत में कुछ आपसी न हुआ करता है। लेकिन अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में, पलासी की ई के बाद से, सारी दौलत एक ही तरफ़—इंग्लैण्ड—को जाने लगी। इस भारत की पुरानी सम्पत्ति का ज्यादा हिस्सा छिन गया, और इसने परिवर्तन े समय में इंग्लैण्ड के औद्योगिक विकास में मदद पहुँचाई। भारत में तिजारत ंगी-लूट पर टिका हुआ यह पहला ब्रिटिश-काल मोटे तौर पर, अठारहवीं के अन्त के साथ ख़त्म हुआ।

अंग्रेज़ी राज का दूसरा काल सारी उन्नीसवीं सदी है, जिसमें भारत के कारख़ानों को भेजे जानेवाले कच्चे माल का एक ज़बर्दस्त भण्डार और के तैयार माल की बिक्री के लिए एक हाट-बाज़ार बन गया। यह सब भारत प्रगति और उसके आर्थिक विकास का ख़ून करके किया गया था। इस सदी पहले भाग में भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन था, जो एक व्या कम्पनी थी और जो रुपया पैदा करने के उद्देश्य से क़ायम हुई थी। लेकिन ब्रिटिश पार्लमेण्ट भारतीय मामलों पर दिन-पर-दिन ज्यादा ध्यान देने अन्त में, जैसा कि हमने पिछले पत्र में देखा है, १८५७-५८ ई० के विद्रोह के ब्रिटिश सरकार ने भारत के राज को सीधा अपने हाथ में ले लिया। लेकिन बुनियादी नीति में कोई बड़ा फ़र्क़ नहीं पड़ा, क्योंकि सरकार उसी वर्ग प्रतिनिधि थी, जो ईस्ट इंण्डिया कम्पनी का मालिक था।

भारत और इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों के वीच साफ़ टक्कर थी। सारी सत्ता इंग्लैण्ड के हाथ में थी, इसलिए इस टक्कर का फ़ैसला हमेशा के ही हक़ में होता था। इंग्लैण्ड के उद्योगीकरण से पहले ही एक मशहूर लेखक ने भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज के नुकसान पहुँचानेवाले की तरफ़ इशारा कर दिया था। यह व्यक्ति था एडम स्मिथ, जिसे राज अर्थशास्त्र का जन्मदाता कहा जाता है। 'वैल्थ ऑफ़् नेशन्स'—यानी 'राष्ट्रों सम्पत्ति' नामक अपनी मशहूर किताब में, जो १७७६ ई० में ही प्रका गई थी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ज़िक्र करते हुए, वह कहता है—

> "चाहे किसी भी देश के लिए हो, ऐसी सरकार, जो सि व्यापारियों की कम्पनी से ही वनी हो, सवसे वुरी सरकार होती है।... राजा होने के नाते तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हित इसीमें है कि उसके भारतीय उपनिवेश को भेजा जानेवाला यूरोपीय माल वहाँ सस्ते-से-सस्ता विके और वहाँ से लाया हुआ माल यहाँ महंगा-से-महंगा विके। लेकिन व्यापारी की हैसियत से उसका हित इससे विलकुल उलटी वात में है। राजा के नाते तो उसके हित विलकुल वही होने चाहिए, जो उसके राज के देश के हैं। लेकिन व्यापारियों की हैसियत से उसका हित उस देश के हितों से विलकुल उलटा है।"

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि जब अंग्रेज भारत में आये, उस समय यहाँ पुरानी सामन्ती व्यवस्था नष्ट हो रही थी। मुग़ल-साम्राज्य के पतन ने के कई हिस्सों में राजनीतिक हंगामा व गड़वड़ी पैदा कर दिये थे। लेकिन भी, जैसा कि भारतीय अर्थशास्त्री रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है—"अठा सदी में भारत एक वड़ा उद्योग-प्रधान और साथ ही वड़ा कृषि-प्रधान देश

भारतीय करघों का माल एशिया और यूरोप के बाज़ारों में बिकता था।" इसी पत्र-व्यवहार में मैं तुम्हें बतला चुका हूं कि प्राचीन काल में विदेशी रों पर भारत का क़ब्ज़ा था। मिस्र की चार हज़ार वर्ष पुरानी मोमियाइयाँ भारतीय मलमल में लपेटी हुई मिली हैं। भारतीय कारीगरों की दस्त- पूर्व में और पश्चिम में मशहूर थी। देश का राजनीतिक पतन होने पर हाँ के कारीगर अपने हाथ के हुनर को भूले नहीं थे। अंग्रेज़ और दूसरे व्यापारी, जो भारत में तिजारत की तलाश में आते थे, यहाँपर विदेशी बेचने के लिए नहीं, बल्कि यहाँ की बनी हुई बढ़िया और नफ़ीस चीज़ें खरीद- रोप में खूब मुनाफ़े पर बेचने के लिए ले जाने को आते थे। इस तरह शुरू ज़ व्यापारी यहाँ के कच्चे माल से नहीं, बल्कि यहाँ के तैयार माल से खिंचकर आये थे। यहाँ हुकूमत हासिल करने से पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत सूती, ऊनी, रेशमी और ज़री के माल का बड़ा लाभदायक व्यापार करती कपड़े के उद्योग में, यानी सूती, रेशमी और ऊनी माल बनाने में इस देश की ख़ास तौर पर ऊँचे दर्जे को पहुँच गई थी। रमेशचन्द्र दत्त के शब्दों में—ई लोगों का राष्ट्रीय उद्योग था और कताई लाखों स्त्रियों का धन्धा था।" के बने हुए कपड़े इंग्लैण्ड और यूरोप के दूसरे हिस्सों को, और चीन, न, बरमा, अरब, फ़्रान्स और अफ़्रीका के कुछ हिस्सों को भेजे जाते थे।

क्लाइव ने बंगाल के शहर मुर्शिदाबाद का, १७५७ ई० के समय का, बयान हुए लिखा है कि "यह नगर लन्दन के समान लम्बा-चौड़ा, घनी आबादी- और मालदार है। लेकिन फ़र्क़ यह है कि इस शहर में ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके लन्दन के मुक़ाबले में बहुत ही ज़्यादा सम्पत्ति है।". यह पलासी की लड़ाई ल की बात है जब अंग्रेज़ों ने अपने क़दम बंगाल में पूरी तरह जमा लिये थे। तिक गिरावट के इस क्षण में भी बंगाल मालदार था और बहुत-से उद्योग- से भरा-पूरा था और दुनिया के कई हिस्सों में अपना बढ़िया कपड़ा भेजता था। ढाका शहर अपनी नफ़ीस मलमलों के लिए ख़ास तौर पर मशहूर र इन मलमलों का विदेशी व्यापार बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

मतलब यह कि इस ज़माने का भारत निरे कृषि-प्रधान और देहाती दर्जे त ऊंचा बढ़ा हुआ था। यह ठीक है कि यह देश ज़्यादातर कृषि-प्रधान था, ती है, और आगे भी बहुत दिनों तक रहेगा। लेकिन उस समय यहाँ देहाती- और खेती के साथ-साथ नागरिक जीवन का भी विकास हो चुका था। गरों में कारीगर और दस्तकार जमा होते थे। और सामूहिक रूप से माल करते थे, यानी छोटे-छोटे कारखाने थे, जिनमें सौ या सौ से ज़्यादा कारी- म करते थे। अलबत्ता इन कारखानों का मुक़ाबला बाद में आनेवाले मशीन

युग के बड़े-बड़े कारखानों से नहीं किया जा सकता। लेकिन उद्योगवाद के से पहले पश्चिमी यूरोप में, और ख़ासकर नीदरलैण्ड में, इस तरह के छोटे-छोटे कारखाने थे।

भारत इस समय परिवर्तनों की अवस्था में था। यह माल तैयार करने देश था और शहरों में एक मध्यम-वर्ग तैयार हो रहा था। इन कारखा मालिक पूंजीपति थे, जो कारीगरों को कच्चा माल देकर उनसे माल तैयार वाते थे। इसमें शक नहीं कि समय आने पर ये लोग भी इतने शक्तिशाली हो कि यूरोप की तरह सामन्ती वर्ग को हटाकर उसकी जगह ले लेते। ठीक इसी समय अंग्रेज़ बीच में आ कूदे और नतीजा यह हुआ कि भार उद्योग-धन्धों को सख़्त चोट लगी।

शुरू-शुरू में तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय उद्योग-धन्धों बढ़ावा दिया, क्योंकि इनसे वे पैसा पैदा करते थे। विदेशों में भारतीय मा बिक्री से इंग्लैण्ड में सोना-चांदी आते थे। लेकिन इंग्लैण्ड के कारखानेदार होड़ को पसन्द नहीं करते थे, इसलिए अठारहवीं सदी के शुरू में उन्होंने सरकार को इंग्लैण्ड में आनेवाले भारतीय माल पर चुंगी लगाने पर आमाद दिया। कुछ भारतीय चीज़ों का इंग्लैण्ड में आना बिलकुल रोक दिया गया मेरे ख़याल से भारत के बने कुछ कपड़ों को पहनकर निकलना जुर्म तक दिया गया था। वे लोग अपने बायकाट पर क़ानून की मदद से अमल सकते थे। और यहाँ भारत में इन दिनों अंग्रेज़ी कपड़े के बायकाट की चर्चा ही को जेल पहुँचा देने के लिए काफ़ी है! भारतीय माल के बायकाट की इंग्लै की यह नीति इतने ही तक रहती तो भी ज्यादा नुक़सान की बात न थी, भारत के लिए और भी बहुत हाट-बाज़ार थे, लेकिन उस समय संयोग से इण्डिया कम्पनी की मारफ़त इंग्लैण्ड का भारत के बहुत बड़े हिस्से पर था, इसलिए उसने अब इरादा करके भारतीय उद्योगों का गला घोंटकर उद्योगों को आगे बढ़ाने की नीति शुरू की। अब अंग्रेज़ी माल बिना किसी के भारत में आने लगा। यहाँ के दस्तकारों और कारीगरों को ईस्ट इण्डिया के कारखानों में काम करने के लिए तरह-तरह से सताया और मजबूर गया। यहाँ तक कि कितनी ही रवानगी चुंगियाँ, जो माल को एक जगह से जगह ले जाने पर चुकानी पड़ती थीं, लगाकर भारत के अन्दरूनी व्या हाथ-पैर काट दिये गए।

भारत का कपड़े का उद्योग इतने अच्छे ढंग का था कि इंग्लैण्ड का बढ़ मशीन उद्योग भी उससे बाज़ी न ले सका और उसकी रक्षा करने के लिए माल पर अस्सी फ़ीसदी के क़रीब चुंगी लगानी पड़ी। शुरू उन्नीसवीं सदी में

कुछ रेशमी और सूती कपड़े इंग्लैण्ड के बाज़ार में, वहाँ के बने माल से बहुत दामों में बिका करते थे। लेकिन जब भारत में हुकूमत करनेवाली शक्ति, ड, भारतीय उद्योगों को कुचल डालने पर तुला हुआ था, तो यह हालत र दिन नहीं रह सकती थी। फिर भारत के कुटीर-उद्योगों से बना हुआ माल, हुए मशीनी उद्योग से किसी भी हालत में ज़्यादा दिन मुक़ाबला नहीं कर था। मशीनी उद्योग भारी मिक़दार में माल तैयार करने का बड़ा कारगर है, और इसलिए वह माल कुटीर-उद्योगों के माल से कहीं ज़्यादा सस्ता है। लेकिन इंग्लैण्ड ने ज़बर्दस्ती भारतीय उद्योगों का ख़ातमा करने में की, और भारत को मौक़ा नहीं दिया कि वह धीरे-धीरे अपने-आपको ती हुई हालतों के मुताबिक़ बना ले।

इस तरह भारत, जो सैकड़ों वर्षों तक पूर्वी 'दुनिया का लंकाशायर' रहा और जो अठारहवीं सदी में यूरोप को बड़े पैमाने पर सूती माल देता रहता ब माल तैयार करनेवाले देश की हैसियत खो बैठा और ब्रिटिश माल का ग्राहक रह गया। मामूली हिसाब से मशीन भारत में आती ही, लेकिन नहीं हुआ, बल्कि मशीन से बना हुआ माल बाहर से आया। भारत से विदेशों माल ले जाने और बदले में सोना और चाँदी लाने की जो धारा बह रही थी, रुख उलटा हो गया। अब विदेशी माल भारत में आने लगा, और यहाँ ोना-चाँदी बाहर जाने लगे।

इस हमले का सबसे पहला शिकार हुआ भारत का कपड़ा उद्योग। और से इंग्लैण्ड में मशीनी उद्योग की तरक़्क़ी होती गई वैसे-ही-वैसे भारत रे उद्योग भी कपड़ा-उद्योग की राह जाने लगे। आम तौर पर किसी की सरकार का यह फ़र्ज़ होता है कि वह उस देश के उद्योगों की रक्षा करे उन्हें बढ़ावा दे। मगर रक्षा और बढ़ावा तो दूर, ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उद्योगों से टक्कर लेनेवाले हरेक भारतीय उद्योग को कुचल दिया। में जहाज बनाने का काम चौपट हो गया, धातुकार लोग अपना कारोबार सके और काँच और कागज़ बनाने का धन्धा भी धीरे-धीरे कम हो गया।

शुरू में विदेशी माल बन्दरगाहोंवाले शहरों में और उन्हींके आस-पास न्दरूनी हिस्सों में पहुँचता था। जैसे-जैसे सड़कें और रेलें बनती गईं, विदेशी दिन-पर-दिन देश में अन्दर पहुँचता गया, यहाँतक कि इसने गाँवों से भी गरों को निकाल बाहर किया। स्वेज नहर का सीधा रास्ता निकल आने से ड भारत के और भी नज़दीक हो गया। इसलिए अंग्रेज़ी माल यहाँ अब भी सस्ता पड़ने लगा। इस तरह मशीनों का विदेशी माल दिन-पर-दिन ज़्यादा लगा, और दूर-दूर के गाँवों तक में पहुँचने लगा। उन्नीसवीं सदी भर यह

सिलसिला जारी रहा, और वास्तव में कुछ हद तक, अब भी चल रहा है। पिछले कुछ वर्षों में इसमें रोक-थाम ज़रूर हुई, जिसपर हम आगे वि करेंगे।

ब्रिटिश माल की, ख़ासकर कपड़े की, इस फ़ैलती और पसरती ने भारत के हाथ-उद्योगों की हत्या कर दी। लेकिन एक और पहलू इससे ज़्यादा ख़तरनाक था। उन लाखों कारीगरों का क्या हुआ, जो बेकार बना गए? बुनकरों और दूसरे कारीगरों की उस बड़ी संख्या का क्या हुआ, बेरोज़गार हो गये थे? इंग्लैण्ड में भी जब बड़े-बड़े कारख़ाने खुले तो कारी बेकार हो गये थे। उनको सख़्त मुसीबतें उठानी पड़ीं। लेकिन उनको नये का ख़ानों में काम मिल गया, और इस तरह उन्होंने अपने को नई हालतों के कूल बना लिया। भारत में इस तरह का कोई दूसरा उपाय नहीं था। यहां करने के लिए कोई कारख़ाने न थे। अंग्रेज़ नहीं चाहते थे कि भारत एक निक उद्योगी देश बन जाय, और इसलिए कारख़ानों को बढ़ावा नहीं देते इसलिए बेचारे ग़रीब, बेघर, बेरोज़गार और भूखों मरते कारीगरों को की शरण लेनी पड़ी। लेकिन धरती ने भी उनका स्वागत नहीं किया; पहले से ही काफ़ी आदमी थे, और अब फ़ालतू ज़मीन नहीं थी। कुछ कारीगरों ने तो किसी तरह खेती का काम अपना लिया, लेकिन ज़्यादातर धरती-हीन मज़दूर बन गये और रोज़गार की तलाश में डोलने लगे। और गिनती लोग भूख से तड़प-तड़पकर ही मर गये होंगे। बतलाते हैं कि १८३ में भारत के अंग्रेज़ गवर्नर-जनरल ने यह रिपोर्ट की—"वाणिज्य के इति में ऐसी तबाही का शायद ही कोई दूसरी मिसाल मिले। सूती कपड़ा बुनने जुलाहों की हड्डियों से भारत के मैदानों पर सफ़ेदी छा गई है।"

इन बुनकरों और कारीगरों में से ज़्यादातर क़स्बों और शहरों में थे। अब चूंकि उनका रोज़गार जाता रहा, इसलिए उन्हें फिर धरती और की तरफ़ लौटाना पड़ा। इससे शहरों की आबादी कम होती गई और गांवों बढ़ती गई। दूसरे शब्दों में, भारत शहरी कम और देहाती ज़्यादा हो देहातीकरण का यह सिलसिला उन्नीसवीं सदी भर जारी रहा, और अभी बन्द नहीं हुआ है। इस ज़माने के भारत के बारे में यह बड़ी ही अजीब बात तमाम दुनिया में मशीनी उद्योग और उद्योगीकरण का असर यह हुआ कि गांवों से खिंच-खिंचकर शहरों में आ गये। लेकिन भारत में उलटी गंगा ब शहर और क़स्बे छोटे होते गये और उजड़ गये। और दिन-पर-दिन ज़्यादा आ खेती के सहारे आ पड़े और बड़ी कठिनाई से गुज़ारा करने लगे।

बड़े उद्योगों के साथ-साथ उनके सहारे चलनेवाले बहुत-से छोटे

भी ग़ायब होने लगे। धुनाई, रँगाई और छींट-छपाई के काम कम होते गये, कताई बन्द हो गई और लाखों घरों से चरखा उठ गया। इसका अर्थ यह हुआ किसान-वर्ग की आमदनी का अतिरिक्त साधन जाता रहा, क्योंकि किसान को के लोगों की कताई से खेती की आमदनी के अलावा ऊपर की आमदनी में मिलती थी। मशीनी उद्योग के शुरू होने पर यही सब कुछ पश्चिमी यूरोप हुआ था। लेकिन वहाँ परिवर्तन अपने-आप हुआ और अगर एक व्यवस्था हुआ तो उसी समय दूसरी नई व्यवस्था का जन्म भी हो गया। लेकिन में यह परिवर्तन ज़ोर-ज़बर्दस्ती से हुआ। माल तैयार करनेवाले कुटीर-की पुरानी व्यवस्था मार डाली गई, लेकिन नई व्यवस्था का जन्म नहीं ब्रिटिश उद्योगों के फ़ायदे की ख़ातिर अंग्रेज़ सत्ताधारियों ने ऐसा होने ही दिया।

हम देख चुके हैं कि जिस समय अंग्रेज़ों ने यहाँ हुकूमत हासिल की, उस भारत माल तैयार करनेवाला ख़ुशहाल देश था। क़ुदरती तौर से तो दूसरी यही होनी चाहिए थी कि देश को उद्योगोंवाला बनाया जाता और बड़ी-मशीनें चालू की जातीं। लेकिन ब्रिटिश नीति के सबब से भारत आगे बढ़ने ाय पीछे चला गया। वह तो अब माल तैयार करनेवाला देश तक भी न और पहले से भी ज़्यादा कृषि-प्रधान हो गया।

इस तरह बेरोज़गार कारीगरों और दूसरे लोगों की इतनी बड़ी संख्या बेचारी अकेली खेती के सिर आ पड़ा। धरती पर ज़बर्दस्त बोझा पड़ और फिर भी यह बराबर बढ़ता ही गया। भारत की ग़रीबी की समस्या बुनियाद है और यही आधार है। हमारी ज़्यादातर तकलीफ़ें इसी नीति जे हैं। और जबतक यह बुनियादी समस्या हल नहीं हो जाती, तबतक किसान-वर्ग की और ग्राम-वासियों की ग़रीबी और मुसीबतों का अन्त सकता।

बहुत ज़्यादा लोगों के पास खेती के सिवा और कोई दूसरा पेशा न होने ज़मीन के सहारे ही लटके होने के कारण, उन्होंने अपने खेतों और अपने की ज़मीनों को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट डाला। गुज़ारे के लिए और ज़्यादा थी ही नहीं। ज़मीन का छोटा-सा टुकड़ा, जो हर किसान-कुनबे के पल्ले इतना छोटा था कि उससे उसका अच्छी तरह गुज़ारा नहीं हो सकता था। के दिनों में भी ग़रीबी और आधा-पेट भोजन की हालत उनके सामने खड़ी थी। और अक्सर करके तो अकाल की ही हालत रहती थी। इन लोगों को , क़ुदरत की ताक़तों और बरसाती हवाओं की दया के ही आसरे रहना था। अकाल पड़ते, भयंकर बीमारियाँ फैलतीं और ये लाखों को उठा ले

जाते। ये लोग गाँव के सूदखोर बनिये के पास पहुँचकर उससे रुपया उधार थे, और इनका क़र्ज़ दिन-पर-दिन बढ़ता जाता और उसकी अदायगी की बा और सम्भावना दूर होती जाती, और जीवन एक कमर-तोड़ भार बन जा भारत की आबादी के बहुत बड़े हिस्से की, उन्नीसवीं सदी में, अंग्रेज़ों के रा यह हालत हो गई !

: १११ :

भारत के गाँव, किसान और ज़मींदार

२ दिसम्बर, १९

मैंने अपने पिछले पत्र में भारत में बरती गई अंग्रेज़ों की उस नीति का बताया था, जिसका नतीजा हुआ यहाँ के कुटीर-उद्योग-धन्धों की मौत कारीगरों का खेती और गाँवों की ओर खदेड़ा जाना। जैसा कि मैं बता चुका भारत की सबसे बड़ी समस्या है धरती पर इतने ज़्यादा ऐसे लोगों का बहुत ज्या दबाव या भार पड़ना, जिनके पास और कोई धन्धा नहीं है। भारत की ग़री का सबसे बड़ा कारण यही है। अगर ये लोग धरती से हटाकर दौलत पैदा क वाले दूसरे पेशों में लगा दिये जा सकें तो वे न सिर्फ़ देश की दौलत को बढ़ायें बल्कि धरती पर दबाव बहुत कम हो जायगा और खेती भी चमक उठेगी।

अक़्सर यह कहा जाता है कि धरती पर यह ज़रूरत से ज़्यादा दबाव भा की आबादी में बढ़ोतरी की वजह से है, न कि अंग्रेज़ों की नीति के सबब से। लेकि यह दलील सही नहीं है। यह सच है कि भारत की आबादी पिछले सौ वर्षों में गई है, लेकिन और भी तो बहुत-से देशों की आबादी बढ़ी है। वास्तव में यू में, और ख़ासकर इंग्लैण्ड, बेलजियम, हालैण्ड और जर्मनी में, इस बढ़ोतरी अनुपात बहुत ज़्यादा रहा है। किसी देश की या सारे संसार की आबादी की बढ़ो और उसके गुज़ारे का, और जब ज़रूरत हो तब इस बढ़ोतरी को रोकने का, सवा बड़े महत्व का है। मैं इस जगह इस सवाल को नहीं छेड़ना चाहता, क्योंकि इ दूसरे मुद्दों में उलझन पैदा हो सकती है। लेकिन यह भी ज़रूर साफ़ कर देना चाह हूँ कि भारत में धरती पर दबाव पड़ने का असली कारण खेती के सिवा दूसरे पे की कमी होना है, न कि आबादी में बढ़ोतरी होना। भारत की मौजूदा आबादी लिए शायद आसानी से गुंजाइश हो सकती है, और वह फूल-फल भी सकती बशर्ते कि दूसरे पेशे और उद्योग खुले हुए हों। हो सकता है कि आगे चलकर आबादी की बढ़ोतरी के सवाल पर विचार करना पड़े।

आओ, अब हम भारत में ब्रिटिश नीति के दूसरे पहलुओं की जांच कर पहले हम गाँवों में चलेंगे।

मैंने अक़सर तुम्हें भारत की ग्राम-पंचायतों के बारे में लिखा है और यह ाया है कि किस तरह हमलों और परिवर्तनों के बीच भी उन्होंने अपनी हस्ती क़ायम रक्खा। अभी क़रीब सौ वर्ष पहले, १८३० ई० में, भारत के अँग्रेज़ र सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने इन ग्राम-पंचायतों का इस तरह बयान किया था—

> "ग्राम-पंचायतें छोटे-छोटे गणराज्य हैं; अपनी ज़रूरत की क़रीब-क़रीब हरेक चीज़ उनमें मौजूद है; और बाहरी सम्बन्धों से वे हर तरह स्वाधीन हैं। ऐसा मालूम होता है कि जहाँ कोई दूसरी चीज़ नहीं ठहर पाती, उनकी हस्ती क़ायम रहती है। ग्राम-पंचायतों का यह संघ, जिसमें हरेक पंचायत ख़ुद एक अलग छोटे-से राज्य के समान है, उनके सुख-शान्ति से रहने में, और उन्हें आज़ादी व स्वाधीनता से रहने में, बहुत हद तक सहायक होता है।"

वह बयान इस पुरानी गाँव प्रणाली की बड़ाई करनेवाला है। गाँवों की हालत यह एक बिलकुल काव्यमय वर्णन है। इसमें कोई शक नहीं कि स्थानीय आज़ादी र स्वाधीनता, जो गाँवों को हासिल थीं, अच्छी चीज़ें थीं, और इनके सिवा र भी कई अच्छी बातें थीं। लेकिन साथ ही हमें इस प्रणाली के दोषों को भी नहीं ला देना चाहिए। सारी दुनिया से विलग, अपने ही आसरे गाँव का जीवन ाना किसी प्रगति में सहायक नहीं हो सकता था। बड़ी-बड़ी और उनसे बड़ी-ी इकाइयों के आपसी सहयोग में ही उन्नति और प्रगति है। जितना ही ज़्यादा ई व्यक्ति या समुदाय अपने ही हाल में मस्त रहता है, उतना ही ज़्यादा उसके ंकारी, स्वार्थी और तंगदिल होते जाने का अन्देशा रहता है। शहरों के निवा-ों के मुक़ाबले में गाँवों के लोग अक़्सर तंगदिल और अन्ध-विश्वासी होते हैं। लिए ग्राम-संस्थाएँ अपनी तमाम अच्छाइयों को रखते हुए भी, प्रगति के केन्द्र ीं बन सकती थीं। बल्कि वे किसी हद तक ठेठ पुरानी और पिछड़ी हुई थीं। तकारियाँ और उद्योग-धन्धे तो नगरों में ही फूलते-फलते थे। हाँ, बुनकर बहुत ड़ी संख्या में गाँवों में ज़रूर फैले हुए थे।

ग्राम-समुदाय एक दूसरे से ज़्यादा सम्पर्क रखे बिना ही अपना अलग जीवन ां बिताते थे, इसका असली कारण था आवा-जाई के साधनों का अभाव। गाँवों एक दूसरे से जोड़नेवाली अच्छी सड़कें थीं ही नहीं। वास्तव में अच्छी सड़कों इस अभाव ने ही देश की केन्द्रीय सरकार के लिए गाँवों के मामलों में बहुत ादा दखल देना कठिन बना दिया था। बड़ी नदियों के किनारों के, या आस-पास क़स्बों और गाँवों के बीच तो नावों के ज़रिये आवा-जाई हो सकती थी। लेकिन ी बड़ी नदियाँ भी तो नहीं थीं, जो इस तरह का साधन बन सकतीं। आवा-जाई आसान साधनों की इस कमी ने अन्दरूनी व्यापार में भी रुकावट डाली।

बहुत वर्षों तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का उद्देश्य सिर्फ़ रुपया कमाना औ अपने हिस्सेदारों में मुनाफ़ा बाँटना ही रहा। सड़कों पर वह बहुत कम खर्च क थी और शिक्षा, सफ़ाई व अस्पतालों वग़ैरा पर तो बिलकुल ही नहीं। लेकिन बा जब अंग्रेज़ों ने कच्चा माल खरीदने और अंग्रेज़ी मशीनों का बना माल बेचने अपना सारा ध्यान लगाया, तब आवा-जाई के साधनों के बारे में उन्होंने दूसरी नी अपनाई। बढ़ते हुए विदेशी व्यापार की ज़रूरतें पूरी करने के लिए भारत के समु तट पर नये-नये शहर पैदा हो गये। ये शहर, जैसे बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और बा में कराँची,-विदेशों को भेजने के लिए रुई वग़ैरा कच्चा माल जमा करते और मशी का बना विदेशी माल, खासकर इंग्लैण्ड से आया हुआ, भारत में वितरण और बि के लिए मंगाते थे। पश्चिम में जो लिवरपूल, मन्चेस्टर, बरमिंघम, शेफ़ील्ड, बड़े-बड़े उद्योगी शहर बढ़ रहे थे, उनमें व इन नये शहरों में बहुत फ़र्क़ था। यू पीय शहर माल तैयार करने के बड़े-बड़े कारखानों वाले उत्पादक केन्द्र थे और माल को बाहर भेजने के लिए बन्दरगाह थे। इधर भारत के-ये नये शहर कुछ उत्पादन नहीं करते थे। वे तो सिर्फ़ विदेशी तिजारत के गोदाम और विदेशी के चिह्न थे।

मैं अभी बता आया हूँ कि अंग्रेज़ों की नीति के कारण भारत दिन-पर-दि देहाती बनता जा रहा था और लोग शहरों को छोड़-छोड़कर गाँवों की ओर की तरफ़ जा रहे थे। इसके बावजूद और इस सिलसिले पर बिना कुछ असर समुद्र के किनारे ये नये शहर पैदा हो गये। ये शहर गाँवों को नहीं, बल्कि छोटे और क़स्बों को मिटाकर पैदा हुए थे। देहातीकरण का आम सिलसिला ही रहा।

कच्चे माल को इकट्ठा करने और विदेशी सामान के वितरण में मदद के लिए समुद्र के किनारे के इन नये शहरों को देश के अन्दरूनी हिस्सों से जाना ज़रूरी था। राजधानियों और प्रान्तों के प्रशासन-केन्द्रों के रूप में कुछ शहर भी खड़े हो गये। इस तरह आवा-जाई के अच्छे साधनों की ज़रूरत बढ़ गई। अब सड़कें बनाई गईं, और बाद में रेलें भी। सबसे पहला रेलमार्ग १८ ई० में बम्बई में डाला गया।

भारतीय उद्योग-धन्धों के नाश से पैदा होनेवाली बदलती हुई हाल के अनुकूल ढलने में पुराने ग्राम-समुदायों को बड़ी कठिनाई हुई। लेकिन जब अं सड़कें व रेलमार्ग और ज्यादा बने, और सारे देश में फैल गये, तब अन्त में गाँ की पुरानी व्यवस्था भी, जो इतने अर्से से टिकी हुई थी, टूटकर खत्म हो गई। दुनिया उनके यहाँ पहुँचकर दरवाज़े खटखटाने लगी, तो गाँवों के छोटे-

ज्य उससे विलग होकर न रह सके। एक गाँव में चीज़ों की क़ीमतों का असर ही दूसरे गाँवों की क़ीमतों पर पड़ने लगा, क्योंकि अब एक गाँव से दूसरे को आसानी से भेजी जा सकती थीं। वास्तव में, जैसे-जैसे दुनिया में सब जगह -जाई के साधन बढ़ते गये, वैसे ही संयुक्त राज्य अमेरिका या कनाडा के गेहूँ की का असर भारत के गेहूँ की क़ीमत पर पड़ने लगा। इस तरह ज़ोरदार घटना-ने भारतीय ग्राम-प्रणाली को खींचकर अन्तर्राष्ट्रीय क़ीमतों के दायरे में ला या। गाँवों की पुरानी अर्थ-व्यवस्था टूक-टूक हो गई, और जब किसानों पर एक वस्था ज़बर्दस्ती लाद दी गई, तो वे अचम्भा करते ही रह गये। अब यह किसान-पने गाँवों की हाट के बजाय दुनिया के हाट-बाज़ार के लिए अनाज व दूसरा न तैयार करने लगा। वह संसार-व्यापी उत्पादन और क़ीमतों के भँवर में गया और दिन-पर-दिन ज़्यादा डूबता गया। पहले ज़मानों में फ़सल बिगड़ पर भारत में अकाल पड़ते थे, और न तो लोगों के पास जमा किया हुआ कुछ था और न कोई ऐसे अच्छे साधन थे जिनसे देश के दूसरे भागों से अनाज ाया जा सकता। इस तरह भोजन के अकाल पड़ते थे। लेकिन अब एक अजीब हुई। अब लोग बहुतायत के बीच या अनाज उपलब्ध होने पर भी भूखे मरने । अगर अकाल के इलाक़े में अनाज उपलब्ध न हो तो रेलगाड़ियों या जल्दी के साधनों के ज़रिये दूसरी जगहों से लाया जा सकता था। अनाज तो मौजूद लेकिन उसे ख़रीदने के लिए पैसा नहीं था। इस तरह अब अकाल पैसे का था, ज का नहीं। इससे भी ज़्यादा अजीब बात यह थी कि, जैसा मन्दी के पिछले वर्षों में हमने देखा है, कभी-कभी फ़सल का बहुत ज़्यादा होना ही किसान-वर्ग मुसीबत का कारण बन जाता था।

इस तरह पुरानी ग्राम-व्यवस्था ख़त्म हो गई, और पंचायतों की हस्ती मिट । लेकिन हमें इसके लिए कोई ज़्यादा अफ़सोस करने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि प्रणाली के दिन बीत चुके थे और यह आजकल की हालतों से मेल नहीं खाती । लेकिन यहाँ भी यह प्रणाली तो टूट गई, लेकिन नई हालतों से मेल खानेवाली नई ग्राम-व्यवस्था पैदा नहीं हुई। दुबारा तामीर और नये जन्म का यह काम भी हमारे करने के लिए बाक़ी है।

अभी तक हमने ज़मीन व किसानों पर ब्रिटिश नीति के अप्रत्यक्ष नतीजों विचार किया है। अब हमको ईस्ट इण्डिया कम्पनी की असली नीति पर, यानी नीति पर, विचार करना है, जिसका किसान पर और धरती से ताल्लुक़ रखने-सभी लोगों पर, सीधा असर पड़ा। मुझे डर है कि तुम्हारे लिए यह एक पेचीदा र ज़रा रूखा विषय होगा। लेकिन हमारा देश इन ग़रीब किसानों से भरा पड़ा इसलिए हमें यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि उनकी क्या तकलीफ़ें

हैं और किस तरह हम उनकी सेवा कर सकते हैं और उनकी बुरी हालत को सु सकते हैं।

हम लोग ज़मींदारों, ताल्लुक़ेदारों और उनके असामियों के बारे में सुना हैं। असामी भी कई तरह के होते हैं, और असामियों के भी असामी होते हैं। सबकी पेचीदगियों में तुम्हें नहीं ले जाना चाहता। मोटे तौर पर आजकल के दार बिचौलिये हैं, यानी उनका दर्जा सरकार और काश्तकारों के बीच में काश्तकार उनका असामी है और वह उन्हें धरती के इस्तेमाल के बदले लगान है, क्योंकि धरती ज़मींदार की मिलकियत समझी जाती है। ज़मींदार इस का कुछ हिस्सा मालगुज़ारी के रूप में अपनी ज़मीन के टैक्स के तौर पर को अदा करता है। इस तरह ज़मीन की उपज तीन हिस्सों में बँट जाती है: हिस्सा ज़मींदार को मिलता है, दूसरा सरकार को जाता है, और तीसरा जो है, असामी-काश्तकार के पल्ले पड़ता है। यह ख़याल न करना कि ये हिस्से बराबर-बराबर होते होंगे। किसान खेत पर काम करता है, और यह मेहनत, जुताई, बुआई और दर्जनों तरह की दूसरी कारंवाइयों का नतीजा है ज़मीन से कुछ पैदा होता है। ज़ाहिर है कि अपनी मेहनत का फल उसे मि चाहिए। राज्य के सारे समाज के प्रतिनिधि की हैसियत से हरेक व्यक्ति के के लिए बहुत-से ज़रूरी काम पूरे करने होते हैं। सरकार का काम है कि सारे की शिक्षा का इन्तज़ाम करे, अच्छी सड़कें और आवा-जाई के दूसरे साधन अस्पताल और सफ़ाई की सेवाएं रक्खे, बाग़-बग़ीचे और अजायबघर और सी दूसरी बातों का इन्तज़ाम करे। इसके लिए उसे रुपयों की ज़रूरत हो और इसलिए यह मुनासिब ही है कि ज़मीन की पैदावार में से वह एक हिस्सा वह हिस्सा कितना होना चाहिए, यह सवाल दूसरा है। किसान जो कुछ रा देता है, वह तो असल में सड़कों, शिक्षा, सार्वजनिक सफ़ाई, वग़ैरा, स सेवाओं के रूप में उसे वापस मिल जाता है या मिल जाना चाहिए। आजकल की सरकार विदेशी है, और इसलिए हम उसे पसन्द नहीं करते। ठीक से संगठित और आज़ाद देश में तो जनता ही राज्य होती है।

इस तरह ज़मीन की पैदावार के दो हिस्सों से तो हम निबट चुके— हिस्सा काश्तकार का और दूसरा राज्य का। तीसरा, जैसा कि हम देख ज़मींदार या बिचौलिये को मिलता है। इसको पाने या इसका हक़दार होने के वह क्या करता है? बिलकुल कुछ भी नहीं, या असल में कुछ भी नहीं। पैदा के काम में बिना किसी तरह की मदद पहुंचाये ही वह पैदावार का एक बड़ा हिस्सा— अपना लगान—ले लेता है, इस तरह वह बग्घी का पाँचवा पहिया हो जाता जो न सिर्फ़ ग़ैर-ज़रूरी ही है, बल्कि एक रुकावट और ज़मीन पर बोझ भी है।

र है कि जो व्यक्ति इस ग़ैर-ज़रूरी बोझ से सबसे ज्यादा तकलीफ़ उठाता है है बेचारा काश्तकार, जिसे अपनी कमाई का हिस्सा निकालकर देना पड़ता यही कारण है कि बहुत-से लोगों का ख़याल है कि ज़मींदार या ताल्लुक़ेदार कुल ग़ैर-ज़रूरी बिचौलिया है, और ज़मींदारी एक बुरी प्रथा है, इसलिए बदल ानी चाहिए, जिसमें कि यह बिचौलिया उड़ जाय। इस समय यह ज़मींदारी खासकर भारत के तीन प्रान्तों में, यानी बंगाल, बिहार और संयुक्त प्रान्त जारी है।

दूसरे प्रान्तों में काश्तकार अपना लगान आमतौर पर सीधा राज्य को अदा ते हैं, कोई बिचौलिये वहाँ नहीं हैं। कभी-कभी ये लोग भू-स्वामी किसान कहलाते कहीं-कहीं, जैसे पंजाब में, उन्हें ज़मींदार कहा जाता है, लेकिन ये संयुक्त-त, बंगाल और बिहार के बड़े-बड़े ज़मींदारों से जुदा होते हैं।

इस लम्बी-चौड़ी व्याख्या के बाद अब मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि बंगाल, हार और संयुक्त प्रान्त में पनपनेवाली यह ज़मींदारी प्रथा, जिसके बारे में इन दिनों इतना सुनते रहते हैं, भारत में एक बिलकुल नई चीज़ है। यह अंग्रेज़ों पैदा की हुई है। उनके आने से पहले इसकी हस्ती नहीं थी।

पुराने ज़माने गें इस तरह के कोई ज़मींदार, ताल्लुक़ेदार या बिचौलिये नहीं ते थे। काश्तकार अपनी पैदावार का एक हिस्सा सीधा राज्य को देते रहते थे। भी-कभी ग्राम-पंचायत गाँव के काश्तकारों की तरफ़ से यह काम कर देती थी। कबर के ज़माने में उसके नामी वित्त-मंत्री राजा टोडरमल ने बड़ी सावधानी से मीन की पैमाइश करवाई थी। सरकार या राज्य काश्तकार से पैदावार का तीसरा हिस्सा लेता था, जिसे काश्तकार चाहता तो नक़दी में भी अदा कर सकता था। आम-ौर पर करों का बोझ ज्यादा नहीं था और वे बहुत धीरे-धीरे बढ़ाये गए थे। इसके द मुग़ल साम्राज्य के पतन का ज़माना आया। केन्द्रीय शासन कमज़ोर हो गया ौर करों की वसूली ठीक-ठीक नहीं हो सकी। तब वसूली का एक नया तरीक़ा पैदा आ। लगान वसूल करनेवाले तनख्वाह पर नहीं, बल्कि एजेण्ट के तौर पर नियुक्त किये गए, जो वसूल हुई रक़म का दसवाँ हिस्सा अपने लिए रख सकते थे। इन्हें माल-ज़ार, या कभी-कभी ज़मींदार या ताल्लुक़ेदार कहा जाता था; लेकिन ख़याल है कि इन शब्दों का तब वह अर्थ नहीं होता था, जो आज किया जाता है।

जैसे-जैसे केन्द्रीय शासन ढीला पड़ता गया, यह प्रथा भी दिन-पर-दिन बिगड़ती गई। हालत यहाँतक पहुँची कि हर इलाके की मालगुज़ारी का नीलाम होने लगा और सबसे ऊँची बोली लगानेवाले को यह काम मिलने लगा। इसका अर्थ यह था कि जिसे यह काम मिलता, उसको बदनसीब काश्तकार से जितना ाहें उतना रुपया ऐंठने की खुली छूट रहती थी, और अपनी इस छूट का वह भर-

पूरा फ़ायदा उठाता था। धीरे-धीरे ये मालगुज़ार मौरूसी होने लगे, क्योंकि सरकार इतनी कमज़ोर हो गई थी कि इन्हें हटा न सकी।

वास्तव में पहले-पहल बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मानी जानेवाली क़ानूनी हैसियत मुग़ल बादशाह की तरफ़ से काम करनेवाले मालगुज़ार की थी। १७६५ ई० में कम्पनी को दिये गए 'दीवानी' के पट्टे का यही मतलब था। इस तरह कम्पनी दिल्ली के मुग़ल बादशाह की दीवान-जैसी बन गई। लेकिन यह सब धोखा था। १७५७ ई० की पलासी की लड़ाई के बाद बंगाल में अंग्रेज़ों की ही तूती बोलती थी; बेचारे मुग़ल-सम्राट् के पास कहीं भी नाम को या बिलकुल अधिकार न रहा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके अफ़सर बेहद लालची थे। जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूं, इन लोगों ने बंगाल का ख़ज़ाना ख़ाली कर डाला, और जहां कहीं भी मौक़ा लगता पैसे पर ज़बर्दस्ती पंजा मारने में न चूकते थे। उन्होंने बंगाल और बिहार को निचोड़ डालने और ज़्यादा-से-ज़्यादा लगान वसूल करने में कोशिश की। उन्होंने छोटे-छोटे मालगुज़ार पैदा किये और लगान की मांग बहुत बुरी तरह बढ़ा दी। ज़मीन का लगान थोड़े ही दिनों में दुगुना हो गया और बड़ी बेदर्दी से वसूल किया जाने लगा और अगर कोई वक़्त पर लगान अदा न करता तो फ़ौरन बेदख़ल कर दिया जाता था। मालगुज़ार अपनी तरफ़ से यह बेरहमी और लालची लुटेरापन काश्तकारों पर ढाते; उनपर भारी-से-भारी लगान लगा दिया जाता, और उनके पट्टे छीन लिये जाते। पलासी की लड़ाई के बाद बारह वर्षों में यानी दीवानी की सनद दिये जाने के चार वर्षों में ही, ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति से, और साथ ही वर्षा न होने से, बंगाल और बिहार में ऐसा भयंकर अकाल पड़ा कि उसमें कुल आबादी का एक-तिहाई हिस्सा मर-खप गया। १७६९-७० ई० के इस अकाल की चर्चा मैं एक पिछले पत्र में कर चुका हूँ, और यह भी बता चुका हूँ कि इस अकाल के होते हुए भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लगान की पाई-पाई वसूल करके छोड़ी। इस बारे में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अफ़सरों की अनोखी मुस्तैदी का ज़िक्र ख़ास तौर पर किये जाने के लायक़ है। बीसियों लाख पुरुष, स्त्री और बच्चे मर गये, पर उन्होंने लाशों तक से रुपया वसूल कर लिया, ताकि इंग्लैण्ड के मालिकों को भारी-से-भारी मुनाफ़े बांटे जा सकें।

इस तरह अगले बीस या कुछ अधिक वर्षों तक यही सिलसिला चलता रहा। अकाल होने पर भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी रुपया ऐंठती रही और उसने बंगाल सुन्दर प्रान्त को तबाह कर दिया। बड़े-बड़े मालगुज़ार तक भिखारी हो गये और सिर्फ़ इसीसे इस बात का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि मुसीबत के मारे काश्तकारों की क्या दुर्गति हुई होगी। हालत इतनी ख़राब हो गई कि ख़ुद

डया कम्पनी को चेतना पड़ा, और उसे सुधारने की कोशिश करनी पड़ी। उस का गवर्नर-जनरल लार्ड कार्नवालिस, जो ख़ुद इंग्लैण्ड का एक बड़ा ज़मींदार भारत में अंग्रेज़ी ढंग के ज़मींदार पैदा करना चाहता था। पिछले कुछ अर्से लगुज़ार लोग ज़मींदारों की ही तरह बर्ताव कर रहे थे। कार्नवालिस ने इनके समझौता करके इन्हें ज़मींदार ही मान लिया। नतीजा यह हुआ कि पहली बार त को यह नया बिचौलिया मिला, और बेचारे काश्तकार महज़ असामी रह गये। ों ने इन ज़मींदारों से अपना सीधा सम्बन्ध रक्खा और उन्हें अपने असामियों ाय मनमानी करने को खुला छोड़ दिया। ज़मींदार की लालची लूट से बेचारे ान को बचाने का कोई उपाय न था।

बंगाल और बिहार के ज़मींदारों के साथ १७९३ ई० में कार्नवालिस ने जो ोबस्त किया था, वह 'दायमी बन्दोबस्त' कहलाता है। 'बन्दोबस्त' शब्द का अर्थ ेक ज़मींदार सरकार को जो लगान दे, उसकी रक़म तय किया जाना। बंगाल बिहार के लिए यह बन्दोबस्त स्थायी या हमेशा के लिए कर दिया गया। में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था। बाद में जब उत्तर-पश्चिम में अवध और रा तक अंग्रेज़ी राज्य बढ़ गया, तब उनकी नीति बदल गई। फिर ज़मींदारों साथ बंगाल की तरह स्थायी बन्दोबस्त न करके, अस्थायी यानी थोड़े समय का दोबस्त किया गया। यह अस्थायी बन्दोबस्त समय-समय पर, आमतौर पर तीसवें साल, दुरुस्त किया जाता था और लगान की रक़म फिर नये सिरे से तय जाती थी। वैसे हर बन्दोबस्त में यह रक़म बढ़ती ही जाती थी।

दक्षिण में मद्रास में और उसके आस-पास ज़मींदारी प्रथा चालू नहीं थी। ं मौरूसी काश्तकारी थी और इसलिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सीधा किसानों बन्दोबस्त कर लिया। लेकिन वहाँ और हर जगह, कम्पनी के अफ़सरों की न बुझने- ली हविस ने लगान की रक़में बहुत ऊँची तय कर दीं, और उन्हें बड़ी बेरहमी ऐंठा गया। न देने पर फ़ौरन बेदख़ली थी; लेकिन बेचारा किसान कहाँ जाता ? ती पर ज़रूरत से ज़्यादा दबाव होने की वजह से हमेशा उसकी माँग रहती थी; लिए भूखों मरते आदमी किन्हीं भी शर्तों पर उसे लेने को तैयार रहते थे। जब ीबतें झेलते-झेलते किसान और ज़्यादा बर्दाश्त न कर सकते तो अक्सर लड़ाई- ड़े और किसानी दंगे हो जाया करते थे।

उन्नीसवीं सदी के बीच में बंगाल में एक नया अत्याचार शुरू हुआ। कुछ ेज़ नील का व्यापार करने की ग़रज़ से ज़मींदार बन बैठे। उन्होंने अपने असा- यों से नील की खेती के बारे में बड़ी सख़्त शर्तें कीं। उन्हें अपनी जोतों के कुछ नियत से से नील की खेती के लिए, और फिर उसे प्लाण्टर्स कहानेवाले अंग्रेज़ ज़मींदारों हाथ एक बन्धी दर पर बेचने के लिए मजबूर किया गया। यह प्रथा बागान

(प्लाण्टेशन) प्रथा कहलाती है। असामियों पर लादी गई शर्तें इतनी सख्त कि उनके लिए उनको पूरा करना बहुत मुश्किल था। तब बागानियों की मदद के लि अंग्रेज सरकार आ पहुँची और उसने बेचारे किसानों से इन शर्तों के मुताबि ज़बर्दस्ती नील की खेती कराने के लिए खास क़ानून बना दिये। इन क़ानूनों इनके मातहत सज़ाओं के ज़रिये नील की खेती करनेवाले असामी कुछ बागा इन बागानियों के चाकर और ग़ुलाम हो गये। नील के कारखानों के कारिन्दे उन डराते-धमकाते रहते थे, क्योंकि सरकार का सहारा पाकर ये अंग्रेज़ या भार क़ारिन्दे अपने-आपको बिलकुल सुरक्षित समझते थे। अक़्सर, जब नील की क़ी गिर जाती, तब काश्तकार को चावल या कोई दूसरी फ़सल बोने में ज्यादा फ़ रहता, लेकिन उसे ऐसा नहीं करने दिया जाता था। काश्तकार के लिए सख्त मुसी और तबाही थी। अन्त में इन ज़ुल्मों से बेहद तंग आकर कीड़े ने भी करवट बद किसान वर्ग बागानियों के खिलाफ़ उठ खड़ा हुआ और उन्होंने एक कारखाने लूट लिया। लेकिन वे कुचलकर दबा दिये गए।

इस पत्र में मैंने कुछ विस्तार के साथ उन्नीसवीं सदी के किसानों की हालत एक तसवीर तुम्हें दिखाने की कोशिश की है। मैंने यह समझाने की कोशिश की कि किस तरह भारतीय किसान की बुरी हालत बिगड़ती चली गई; किस तरह उसके सम्पर्क में आनेवाले हर आदमी ने उसे निचोड़ा; क्या लगान वसूल करने वाले ने, क्या ज़मींदार ने, क्या बनिये ने, क्या बागानी और उसके कारिन्दे और क्या सबसे बड़े बनिये खुद अंग्रेज़ सरकार ने—चाहे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मार्फ़त, चाहे सीधी तौर पर। क्यों कि इस सारे शोषण की जड़ में थी अंग्रेज़ों की नीति जो वे भारत में जान-बूझकर बरत रहे थे। कुटीर-उद्योगों का, उनकी दूसरे उद्योग जारी करने की कोशिश किये बिना ही, उजाड़ दिया जाना; बेरोज़ कारीगर को गाँव में खदेड़ दिया जाना, जिसकी वजह से ज़मीन पर ज़रूरत ज्यादा दबाव पड़ता; ज़मींदारी; नील की खेती की बागान प्रथा; ज़मीन पर टैक्स, जिसकी वजह से कसकर लगान लगाया जाना और बेरहमी से वसूल कि जाना; किसानों को सूदखोर बनियों के पास जाने के लिए मजबूर करना, जि फ़ौलादी पंजे से वे कभी न निकल सकें; वक़्त पर लगान या मालगुज़ारी अदा न सकने की हालत में बेशुमार बेदखलियाँ; और इन सबके ऊपर पुलिस के सि का, लगान वसूलनेवाले का और ज़मींदार और कारखाने के क़ारिन्दों का अत्याचार जिसने किसानों की रही सही जान और आत्मा को भी नष्ट-जैसा दिया; इस सबका नतीजा न टलनेवाली दुर्दशा और ज़बर्दस्त आफ़त के सि और क्या हो सकता था?

भयंकर अकाल पड़े, जिनसे लाखों की आबादी मौत के मुंह में चली

अजीब बात तो यह कि जब ग़ल्ले की कमी थी और लोग उसके बिना भूखों रहे थे, उसी समय गेहूँ और दूसरे अनाज मालदार व्यापारियों के मुनाफ़े के देश के बाहर भेजे जा रहे थे। लेकिन वास्तव में दुःख की बात अनाज की कमी हीं थी, क्योंकि अनाज तो रेल के ज़रिये देश के दूसरे हिस्सों से भी मँगाया जा ता था, बल्कि खरीदने के साधनों के अभाव की थी। १८६१ ई० में उत्तर त में, खासकर हमारे प्रान्त में, भारी अकाल पड़ा, और कहा जाता है कि उस लवाले इलाक़े की ८½ फ़ीसदी आबादी मौत की भेंट हुई। पन्द्रह साल बाद, ६ ई० में, और दो वर्ष तक, एक और भयानक अकाल उत्तर, मध्य व दक्षिण त में पड़ा। संयुक्त प्रान्त की फिर सबसे ज़्यादा तबाही हुई और साथ ही भारत और पंजाब के कुछ हिस्सों की भी। क़रीब-क़रीब एक करोड़ आदमी के गाल में चले गए! बीस वर्ष बाद, १८९६ ई० में, लगभग इसी अभागे क़े में, एक और भयंकर अकाल पड़ा, जैसा भारत के इतिहास में पहले कभी नहीं था। भयंकर मार ने उत्तर व मध्य-भारत की कमर तोड़ दी और उसे बिलकुल कर दिया। १९०० ई० में फिर एक और अकाल पड़ा।

इस छोटे-से पैरा में मैंने तुम्हें चालीस साल के अन्दर होनेवाले चार ज़ब-त अकालों का हाल बताया है। इस दर्दनाक कहानी में जो भयानक मुसीबतें र दिल दहलानेवाली बातें भरी हुई हैं, उन्हें न तो मैं बयान कर सकता हूँ, न तुम सूस कर सकती हो। असल बात यह है कि शायद मैं यह चाहता भी नहीं कि तुम महसूस करो, क्योंकि इससे गुस्सा व कड़वाहट पैदा होंगे, और मैं नहीं चाहता इस छोटी-सी उम्र में तुम्हारे मन में कड़वाहट पैदा हो।

तुमने उस दिलेर अंग्रेज़ महिला फ्लोरेन्स नाइटिंगेल का नाम सुना है, जिसने ले-पहल युद्ध में घायलों की सेवा का कारगर संगठन किया था। बहुत पहले ही, ८७८ ई० में, उसने लिखा था—"हमारे पूर्वी साम्राज्य का किसान पूर्व में, नहीं-ीं शायद सारी दुनिया में, सबसे ज़्यादा दर्दभरा नज़ारा है।" "हमारे क़ानूनों के ीजों" की चर्चा करते हुए उसने लिखा है कि "इन्होंने दुनिया के सबसे ज़्यादा पजाऊ मुल्क में, और बहुत-सी ऐसी जगहों पर जहाँ अकाल नाम की कोई चीज़ नहीं है, एक पीस डालनेवाली, राज-रोग के समान आधी-भुखमरी की हालत" ा कर दी।

हमारे किसानों की धँसी हुई आँखों में शिकार किये जानेवाले जानवर सा डर झलकता है और मायूसी झलकती है। यह सच है कि इससे ज़्यादा दर्द-रा नज़ारा कोई दूसरा नहीं हो सकता। हमारा किसान-वर्ग इतने वर्षों से कितना ोझ उठाता चला आ रहा है! और हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि हममें से ो थोड़े-बहुत खुशहाल हो पाये हैं, उन्होंने तो इस बोझ को कुछ बढ़ाया है। क्या

विदेशी और क्या भारतवासी, सभी लोगों ने सदियों से सताये हुए इस किसान शोषण करने की कोशिश की है, और सभी इसकी पीठ पर सवारी गाँठे बैठे ऐसी हालत में उसकी कमर टूट रही हो तो इसमें ताज्जुब क्या है?

लेकिन, अन्त में बहुत दिन बाद, किसान को आशा की एक झलक दि दी, अच्छे दिन आने और बोझा हलका होने की धीमी-सी आवाज़ उसके कानों सुनाई दी। एक छोटा-सा व्यक्ति आया, जिसने उसकी आँखों में आँखें मिला उसके मुरझाये हुए दिल की तह तक पहुँचकर उसकी लम्बी पीड़ा को महसूस कि इसकी नज़र में जादू था, छूने में आग थी, आवाज़ में सहानुभूति थी और दि एक जलन थी, और छलकता हुआ प्रेम था और जान निछावर करनेवाली ज़ि दारी थी। और जब किसानों ने, मज़दूरों ने, और उन सबने, जो पैरों तले रौं रहे थे, उसे देखा और उसकी आवाज़ सुनी, तो उनके मुर्दा दिलों में चेतना जाग और वे खुशी से भर उठे; उनमें एक नई आशा का उदय हुआ और वे हर्ष के म चिल्ला उठे—"महात्मा गांधी की जय", और अपने कष्टों की घाटी से बा निकलने के लिए चल खड़े हुए। लेकिन जो पुरानी चक्की इतने दिनों तक इन्हें पी रही थी, वह उन्हें आसानी से छोड़नेवाली नहीं थी। वह फिर चली, और इ कुचलने के लिए उसने नये हथियार, नये क़ानून और आर्डिनेन्स निकाले, और इ के लिए नई ज़ंजीरें तैयार कीं। और आगे?—यह मेरे क़िस्से या इतिहास भाग नहीं है। यह अभी आगे आनेवाले 'कल' की बात है और जब वह 'आज' हो जायगा, तब हम सब कुछ जान जायँगे। क्या इसमें किसी को शक है?

: ११२ :

ब्रिटेन ने भारत पर राज कैसे किया?

५ दिसम्बर, १९

उन्नीसवीं सदी के भारत के बारे में तुम्हें मैं तीन लम्बे पत्र लिख चुका हूँ। यह एक लम्बी कहानी है और लम्बी छटपटाहट है, और अगर मैं इसे छोटा कर तो मुझे डर है कि तुम्हारे लिए उसका समझना और भी ज्यादा मुश्कि जायगा। दूसरे देशों या ज़मानों की बनिस्वत मैं भारत के इतिहास के इस अ पर शायद ज़्यादा ज़ोर दे रहा हूँ। यह कोई अनोखी बात नहीं है। भारतवा होने के नाते मेरी इसमें ज़्यादा दिलचस्पी है, और इसके बारे में ज़्यादा जानकारी होने की वजह से, मैं अच्छी तरह लिख भी सकता हूँ। इसके अलावा यह ज़ हमारे लिए ऐतिहासिक दिलचस्पी से बहुत ज़्यादा महत्व रखता है। जिस निक भारत को आज हम पाते हैं, वह उन्नीसवीं सदी की इसी छटपटाहट में

और गढ़ा हुआ है। इस समय भारत जैसा है, उसे अगर हमें समझना है, तो न कारणों को भी ज़रूर समझना होगा, जिन्होंने इसे बनाया या बिगाड़ा है। हम समझदारी के साथ सेवा कर सकेंगे और तभी यह जान सकेंगे कि हमें करना चाहिए और कौन-सा रास्ता अपनाना चाहिए।

भारत के इतिहास के इस काल का बयान अभी मैंने खत्म नहीं किया है। तो मुझे बहुत-कुछ कहना है। इन पत्रों में मैं इसके एक या ज्यादा पहलुओं गा और उसके बारे में कुछ बताने की कोशिश करूंगा। हरेक पहलू पर ग-अलग चर्चा करूंगा, ताकि उसे समझने में आसानी हो। अलबत्ता तुम कि जिन प्रगतियों और परिवर्तनों का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ और जिनकी इस पत्र में और अगले पत्रों में करूंगा, वे सब कम-बढ़ एक ही साथ हुए हैं, ा दूसरे पर असर पड़ा है और इन्हीं दोनों ने उन्नीसवीं सदी के भारत को दिया है।

भारत में अंग्रेज़ों की इन करतूतों और काली करतूतों का हाल पढ़कर कभी तो तुम उनकी बरती हुई नीति पर और उससे पैदा हुई आम तबाही स्सा करने लगोगी। लेकिन जो कुछ हुआ उसमें क़ुसूर किसका था ? क्या यह हमारी ही कमज़ोरी और ना-जानकारी का नतीजा नहीं था ? कमज़ोरी वक़ूफ़ी हमेशा अत्याचारी शासन को न्यौता देनेवाली हुआ करती हैं। अगर हमारी आपसी फूट से फ़ायदा उठा सकते हैं, तो यह हमारी ही ग़लती है म आपस में झगड़ते हैं। जुदा-जुदा दलों की खुदगर्ज़ी का सहारा लेकर वे हममें फूट डाल सकते हैं और यूँ हमें कमज़ोर बना सकते हैं, तो ऐसा ना खुद इस बात की निशानी है कि अंग्रेज़ हमसे ऊँचे हैं। इसलिए, अगर नाराज़ होना हो तो इस कमज़ोरी और आपसी लड़ाई पर नाराज़ होना, ये ही चीज़ें हमारी मुसीबतों के लिए ज़िम्मेदार हैं।

हम लोग अंग्रेज़ों के अत्याचार की बात करते हैं। लेकिन असल में यह चार है किसका ? कौन इससे फ़ायदा उठाता है ? सारी अंग्रेज़ जाति नहीं, कि खुद उस जाति में लाखों बदनसीब और सताये हुए लोग हैं। और भारत-ों के कई छोटे-छोटे दल और वर्ग ऐसे हैं, जिन्होंने भारत के ब्रिटिश शोषण -न-कुछ फ़ायदा उठाया है। तब हम भेद कहाँ करें ? वास्तव में यह सवाल यों का नहीं प्रणाली का है। हम एक भारी-भरकम मशीन के नीचे दबे रहे सने भारत के लाखों-करोड़ों को निचोड़ा और कुचला है। यह मशीन है ी पूंजीवाद से पैदा हुए नये साम्राज्यवाद की। इस शोषण का मुनाफ़ा तर इंग्लैण्ड को जाता है, लेकिन इंग्लैण्ड में उसका लगभग सारा मुनाफ़ा ास वर्गों को ही पहुंचता है। इसी तरह इस शोषण के मुनाफ़े का कुछ हिस्सा

भारत में भी रहता है, और कुछ वर्ग उससे फ़ायदा उठाते हैं। इसलिए व्यक्तियों से या सारी अंग्रेज़-जाति से नाराज़ होना बेवक़ूफ़ी है। अगर कोई ग़लत है और हमें नुकसान पहुँचाती है, तो उसीको बदलना चाहिए। से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि उस प्रणाली को कौन चलाता है, और अ आदमी भी किसी बुरी प्रणाली में पड़कर लाचार हो जाते हैं। दुनिया नेकनीयती से भी कोई बालू और पत्थर को अच्छे भोजन में नहीं बदल चाहे जितना कोई उन्हें पकावे। मेरे ख़याल से यही बात साम्राज्यवाद पूँजीवाद पर भी लागू होती है। इनमें सुधार हो नहीं सकता; इन असली सुधार है इनको जड़ से उखाड़ फेंकना। लेकिन यह मेरी अपनी कुछ लोग इससे मतभेद रखते हैं। तुम्हें किसी बात को ज्यों-का-त्यों की ज़रूरत नहीं। जब समय आयगा, तुम अपने-आप अपने नतीजे सकोगी। लेकिन एक बात से ज्यादातर लोग सहमत हैं कि जो चीज़ ख़राब प्रणाली है, और इसलिए व्यक्तियों से खीझना बेकार है। अगर हम कोई चाहते हैं, तो हमें इस प्रणाली पर हमला करके उसे बदल डालना इस प्रणाली के कुछ बुरे नतीजे हम भारत में देख चुके हैं। जब हम चीन, और बहुत-से दूसरे देशों का विचार करते हैं, तो वहाँ भी हम उसी प्रणा पूँजीवादी साम्राज्यवाद की उसी मशीन को, काम करते हुए और लोगों करते हुए देखते हैं।

अब हम अपनी कहानी पर आते हैं। मैं तुम्हें बता चुका हूं कि जि अंग्रेज़ भारत में आये, यहाँ के कुटीर-उद्योगों की हालत बहुत ऊँचे दर्जे उत्पादन के तरीक़ों की क़ुदरती प्रगति के साथ, अगर उसमें बाहरी होता, तो सम्भव था कि कभी-न-कभी भारत में भी मशीनों का उद्योग लोहा और कोयला इस देश में मौजूद थे, और जैसा कि हम इंगलैण्ड में हैं, इन चीज़ों ने नये उद्योगवाद को बहुत मदद पहुंचाई और वास्तव में तक उसे पैदा किया। अन्त में यही भारत में भी हुआ होता। राजनीतिक में गड़बड़ी के सबब से शायद इसमें कुछ देर लग जाती। लेकिन इसी बीच ने टाँग अड़ा दी। ये लोग ऐसे देश और ऐसी क़ौम के प्रतिनिधि थे, जि यहाँ के पुराने तरीक़ों को बदलकर बड़ी मशीन के नये उत्पादन को अ था। इससे यह ख़याल किया जा सकता था कि ये लोग भारत में भी इ का परिवर्तन पसन्द करेंगे और यहाँ जिस वर्ग के लोगों के ज़रिये इस परिवर्तन पैदा होने की सम्भावना हो उसे बढ़ावा भी देंगे। लेकिन उन्हों कुछ नहीं किया। बल्कि उन्होंने वास्तव में इससे बिलकुल उलटा ही भारत को अपना होनेवाला मुक़ाबलेदार मानकर उन्होंने उसके उद्यो नष्ट कर डाला और मशीनों के उद्योग को सचमुच चलने ही नहीं दिया।

इस तरह हम भारत में एक निराली हालत पाते हैं। हम देखते हैं कि कि इस समय यूरोप में सबसे आगे बढ़े हुए ये अंग्रेज़ भारत में सबसे ज्यादा पिछड़े हुए और दक़ियानूसी वर्गों के साथ गठ-बन्धन कर रहे हैं। वे मरते हुए सामन्ती वर्ग को टेक देकर खड़ा कर रहे हैं; ज़मींदार पैदा कर रहे हैं; सैकड़ों अधीन देशी राजाओं को उनकी आधी-सामन्ती रियासतों में सहारा दे रहे हैं। वे भारत में जान-बूझकर सामन्तशाही को मज़बूत बना रहे हैं। ये ही अंग्रेज़ यूरोप में मध्यम-वर्ग की उस क्रान्ति के अगुआ थे, जिसने उन की पार्लमेण्ट को अधिकार दिलाया था; ये ही उस उद्योगी क्रान्ति में भी अगुआ थे, जिसके नतीजे से संसार में उद्योगी पूँजीवाद जारी हुआ। इन बातों में अगुआ होने के कारण ही वे अपने मुक़ाबलेदारों से कहीं आगे बढ़ गये और एक लम्बा-चौड़ा साम्राज्य क़ायम कर पाये।

अंग्रेज़ों ने भारत में इस तरह का व्यवहार क्यों किया, यह समझना मुश्किल नहीं है। पूँजीवाद की सारी बुनियाद गर्दन-मार होड़ और शोषण पर है, और साम्राज्यवाद इससे आगे के दर्जे का नाम है। इसलिए हाथ में सत्ता होने से अंग्रेज़ों ने अपने असली मुक़ाबलेदारों की हत्या कर डाली, और दूसरे मुक़ाबलेदारों की बढ़ोतरी को जान-बूझकर रोक दिया। जनता से मेल बढ़ा सकना उनके लिए सम्भव नहीं था, क्योंकि भारत में उनके रहने का सारा प्रयोजन ही जनता का शोषण करना था। शोषकों व शोषितों के हित कभी एक नहीं हो सकते। इसलिए उन्होंने—अंग्रेज़ों ने—भारत में तबतक मौजूद सामन्तशाही के बचे-खुचे टुकड़ों का सहारा लिया। जब अंग्रेज़ यहाँ आये तभी इन लोगों में असली ताक़त कुछ भी बाक़ी नहीं थी; लेकिन इन्हें सहारा देकर खड़ा किया गया और देश की लूट का कुछ हिस्सा इन्हें दिया जाने लगा। लेकिन ऐसे वर्ग को, जिसकी उपयोगिता पहले ही ख़त्म हो चुकी थी, इस तरह का सहारा कुछ ही समय के लिए राहत पहुँचा सकता था; सहारे के हटते ही या तो वे ज़रूर धराशायी हो जाते या फिर अपने को नई हालतों के अनुकूल बना लेते। अंग्रेज़ों की कृपा के आसरे इस तरह की कुछ नहीं तो सात सौ छोटी-बड़ी देशी रियासतें थीं। इन बड़ी रियासतों में से हैदराबाद, कश्मीर, मैसूर, बड़ौदा, ग्वालियर, वग़ैरा, कुछको तुम जानती हो। लेकिन यह विचित्र बात है कि इन रियासतों के ज्यादातर देशी नरेश पुराने सामन्ती सरदारों के वंशज नहीं हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह कि ज्यादातर बड़े ज़मींदारों की कोई बहुत प्राचीन परम्पराएँ नहीं हैं। हाँ, उदयपुर का महाराणा, जो सूर्यवंशी राजपूतों में सबसे बड़ा माना जाता है, ज़रूर एक ऐसा राजा है जो अपनी वंशावली का पिछला सम्बन्ध इतिहास शुरू होने से पहले के एक धुँधले ज़माने के साथ जोड़ सकता है। जापान का राजा मिकादो ही शायद एक ऐसा मौजूदा व्यक्ति है, जो इस बात में उसकी बराबरी कर सकता है।

अंग्रेज़ी राज ने मज़हबी बैर-भावों को भी बढ़ावा दिया। यह बात कुछ अजीब-सी मालूम होती है, क्योंकि अंग्रेज़ लोग ईसाइयत का दावा करते हैं, फिर भी उनके आने से भारत में हिन्दू-धर्म और इस्लाम और भी ज्यादा कट्टर बन गये। कुछ हद तक यह प्रतिक्रिया लाज़िमी भी थी, क्योंकि विदेशी हमले से अपनी रक्षा करने के लिए किसी देश के मज़हब और संस्कृति कठोर बनने लगते हैं। इसी तरह से मुसलमानों के हमलों के बाद हिन्दू-धर्म में कट्टरपन आ गया, और जात-पाँत का भेद बढ़ गया। अब हिन्दू-धर्म और इस्लाम दोनों ही में इस ढंग की प्रतिक्रिया हो गई। लेकिन इसके अलावा भी, ब्रिटिश सरकार ने दोनों मज़हबों के कट्टरपन्थी तत्वों को, सचमुच जानबूझकर और अनजान में, दोनों तरह से मदद पहुँचाई। अंग्रेज़ों को मज़हब में या मज़हब बदलने के मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। वे तो हर तरह रुपया पैदा करना चाहते थे। मज़हबी मामलों में किसी तरह की दस्तन्दाज़ी करने से डरते थे, कि कहीं लोग गुस्से में आकर उनके खिलाफ़ खड़े न हो जायँ। इसलिए दस्तन्दाज़ी का शुबहा तक न होने देने के लिए वे यहाँ तक आगे बढ़ गये कि देश के मज़हबों को, या यों [illegible] कि मज़हबों के ऊपरी रूप को सचमुच बचाने व मदद देने लगे। इसका नतीजा अक़्सर यह हुआ कि यह ऊपरी रूप तो बना रहा, लेकिन भीतर कुछ न रहा।

कट्टर-पन्थियों की नाराज़गी के इस डर से सुधारों के मामले में [illegible] सरकार इन्हीं लोगों का पक्ष लेने लगी। इस तरह सुधार का काम रुक गया। विदेशी सरकार के लिए कोई सामाजिक सुधार करना बहुत कठिन होता है; क्योंकि वह जो कुछ भी परिवर्तन करना चाहेगी, उसीका लोग विरोध करेंगे। हिन्दू-धर्म और हिन्दू-शास्त्र कई बातों में परिवर्तनशील और प्रगतिशील थे; यह बात दूसरी है कि पिछली सदियों में यह प्रगति बहुत धीमी रही। खुद हिन्दू-शास्त्र में ज्यादातर रिवाज ही हैं, और रिवाज हमेशा बदलते और पैदा होते रहते हैं। हिन्दू-शास्त्र का यह लचीलापन अंग्रेज़ी राज में ग़ायब हो गया और उसकी जगह घोर कट्टर-पन्थियों की सलाह से बनाये गए कठोर क़ानूनी जाब्तों ने ले ली। इस तरह हिन्दू-समाज की वह धीमी प्रगति भी अब रुक गई। मुसलमान तो नई हालतों से और भी ज्यादा नाराज़ हुए और वे कूप-मण्डूक बन गये।

सती-प्रथा को, जिसमें हिन्दू विधवा अपने पति की चिता पर जल जाती थी, मिटाने के लिए अंग्रेज़ अपने को बहुत ज्यादा नेकनामी देते हैं। कुछ हद तक इसके हक़दार हैं भी, लेकिन सच तो यह है कि सरकार ने सिर्फ़ तभी इस उठाया जब राजा राममोहन राय के नेतृत्व में भारतीय सुधारकों ने इस प्रथा के खिलाफ़ बरसों आन्दोलन किया। इससे पहले दूसरे राजाओं ने भी, और खासकर मराठों ने, इसे बन्द कर दिया था। गोवा में वहाँ के पुर्तगाली

अलबूकर्क ने इस प्रथा को उठा दिया था। अंग्रेज़ों ने जो इस प्रथा को बन्द किया वह भारतवासियों के आन्दोलन और ईसाई पादरियों की कोशिशों का नतीजा था। जहाँ तक मुझे याद है, मज़हबी महत्त्व का सिर्फ़ यही एक सुधार है, जो ब्रिटिश सरकार ने किया है।

इस तरह अंग्रेज़ों ने देश के सब पिछड़े हुए और दक़ियानूसी वर्गों के साथ गठ-बन्धन कर लिया और उन्होंने यह कोशिश की कि भारत उनके उद्योगों के लिए कच्चा माल पैदा करनेवाला बिलकुल कृषि-प्रधान देश बन जाय। भारत में कारखाने तरक्क़ी न पा सकें, इसलिए उन्होंने यह किया कि भारत में मशीनों की आमद पर चुंगी लगा दी ! दूसरे देशों ने अपने उद्योग-धन्धों को ख़ूब बढ़ावा दिया। जैसा कि हम आगे देखेंगे, जापान ने उद्योगीकरण की सरपट दौड़ लगाई। लेकिन भारत में ब्रिटिश सरकार ने उसकी मनाही कर दी। मशीनों पर इस चुंगी के कारण, जोकि १८६० ई० तक हटाई नहीं गई थी, भारत में कारख़ाना खोलने का ख़र्च, यहाँ पर मज़दूरी कहीं ज्यादा सस्ती होने पर भी, इंग्लैण्ड से चौगुना पड़ता था। रुकावटें डालने की यह नीति प्रगति में देर भले ही कर सकती थी, घटनाओं के लाज़िमी बहाव को नहीं रोक सकती थी। सदी के बीच के क़रीब भारत में मशीन का उद्योग बढ़ने लगा। बंगाल में अंग्रेज़ी पूँजी से पटसन का उद्योग शुरु हुआ। रेशों के निकलने से उद्योगों की तरक्क़ी में सहायता मिली और १८८० ई० में बम्बई और अहमदाबाद में कपड़े की मिलें खुलीं, जिनमें ज्यादातर भारतीय पूँजी लगी थी। इसके बाद खनिज उद्योगों की बारी आई। धीरे-धीरे होनेवाला यह उद्योगीकरण कपड़े की मिलों के सिवा, ज्यादातर अंग्रेज़ी पूँजी से हो रहा था। और यह सब कुछ हो रहा था सरकारी नीति के बावजूद भी। सरकार तो दख़ल न देने की नीति की दुहाई देती थी और कहती थी कि घटनाओं को अपने ढंग पर चलने दिया जाय और निजी तौर पर शुरू किये जानेवाले उद्योगों में दख़ल न दिया जाय। जब अठारहवीं और शुरू-उन्नीसवीं सदियों में भारतीय व्यापार ब्रिटिश व्यापार का मुक़ाबलेदार था, तब तो ब्रिटिश सरकार ने इंग्लैण्ड में उसमें दख़ल देकर और उस पर भारी चुंगियाँ और पाबन्दियाँ लगाकर उसे कुचल दिया। और सबकुछ क़ाबू कर लेने के बाद वह अपनी दख़ल न देने की नीति की बात कर सकती थी ! लेकिन असली बात तो यह है कि इस मामले में केवल उदासीन हों ऐसी बात नहीं थी। बल्कि उन्होंने तो कई भारतीय उद्योगों को, ख़ासकर बम्बई और अहमदाबाद के बढ़ते हुए कपड़ा-उद्योग को, सचमुच पनपने ही नहीं दिया। इन भारतीय मिलों के उत्पादन पर एक तरह का टैक्स या चुंगी लगाई गई, जिसे कपास पर उत्पादन-चुंगी का नाम दिया गया। इसका उद्देश्य था लंकाशायर के बने अंग्रेज़ी कपड़े को भारतीय कपड़े का मुक़ाबला करने में मदद पहुँचाना। क़रीब-क़रीब सभी देश अपने उद्योगों की रक्षा के लिए या

आमदनी बढ़ाने की ग़रज़ से विदेशी माल पर चुंगी लगाते हैं। लेकिन भारत में अंग्रेज़ों ने एक बहुत ही अनोखी और निराली बात की। उन्होंने ख़ुद भारतीय माल पर ही चुंगी लगा दी ! ज़बर्दस्त आन्दोलन होने पर भी, कपास पर यह चुंगी कुछ साल पहले तक जारी रही।

इस तरह सरकार की अड़ंगा-नीति के बावजूद भी भारत में धीरे-धीरे आधुनिक उद्योग-धन्धों की उन्नति होती गई। भारत के मालदार वर्ग उद्योगों के विकास के लिए दिन-पर-दिन ज्यादा पुकार मचाते रहे। जहाँ तक मेरा ख़याल है, १९०५ ई० में कहीं जाकर सरकार ने एक 'वाणिज्य और उद्योग विभाग' क़ायम किया। लेकिन फिर भी, महायुद्ध छिड़ने से पहले तक, इस दिशा में उसने कुछ नहीं किया। औद्योगिक हालत की इस उन्नति ने शहरों के कारख़ानों में काम करनेवाले औद्योगिक मज़दूरों का एक वर्ग पैदा कर दिया। ज़मीन पर पड़नेवाला दवाव, जिसकी चर्चा मैं कर चुका हूँ, और देहाती इलाक़ों की अकाल-जैसी हालत, इन दोनों ने मिलकर बहुत-से गाँववालों को इन कारख़ानों में और बंगाल और असम में बढ़नेवाले बड़े-बड़े बागानों में ला पटका। इस दबाव की वजह से बहुत-से लोग दूसरे देशों का प्रवास करने को राज़ी हो गये, क्योंकि वहाँ उन्हें ज्यादा मज़दूरी मिलने की आशा दिलाई गई थी। ज्यादातर प्रवासी दक्षिण अफ़्रीका, फ़िजी, मॉरिशस और लंका गये। लेकिन इस परिवर्तन से मज़दूरों का कोई फ़ायदा नहीं हुआ। कुछ देशों में इन प्रवासी भारतीयों के साथ बिलकुल गुलामों का-सा बर्ताव किया गया। असम के चाय-बागानों के मज़दूरों की हालत भी कुछ बहुत अच्छी न थी। बाद में हिम्मत हारकर और निराश होकर बहुतों ने चाय-बागानों को छोड़कर फिर अपने गांवों को लौट जाना चाहा। लेकिन अपने गाँवों में भी उन्हें किसी ने नहीं अपनाया, क्योंकि उनके लिए अब कोई ज़मीन बाक़ी नहीं रही थी।

कारख़ानों के मज़दूरों को जल्दी ही मालूम हो गया कि थोड़ी-सी ज्यादा मज़दूरी मिलने से उनका कुछ भला नहीं हुआ। शहर में हरेक चीज़ की क़ीमत ज्यादा देनी होती थी, और शहरों का सारा रहन-सहन ही बहुत ज्यादा ख़र्चीला था। रहने की जो जगहें उन्हें मिलती थीं, वे गन्दी, सीली, अँधेरी और तन्दुरुस्ती को बिगाड़नेवाली तंग कोठरियाँ होती थीं। जिन हालतों में उन्हें काम करना पड़ता था, वे भी बुरी थीं। गाँवों में उन्हें अक्सर भूखों मरना पड़ता था, लेकिन धूप और ताज़ी हवा तो भरपूर मिल जाती थी। लेकिन कारख़ाने के मज़दूर के लिए न तो ताज़ी हवा थी, न काफ़ी धूप। उसकी मज़दूरी इतनी नहीं होती थी जो शहरी रहन-सहन के बढ़े हुए ख़र्च को पूरा कर सके ! स्त्रियों और बच्चों तक को बहुत घण्टों तक काम करना पड़ता था। गोदी के बच्चोंवाली माताएं अपने बच्चों को अफ़ीम खिलाने लगीं, जिससे कि वे उनके काम में रुकावट न

उद्योगों के मज़दूरों को जिन हालतों में काम करना पड़ता था, वे ऐसी ई थीं। वे बहुत ही दुखी थे, और उनमें असन्तोष बढ़ रहा था। कभी-कभी ा से लाचार होकर वे हड़ताल भी कर देते थे। लेकिन वे बहुत ही बोदे मज़ोर थे, इसलिए उनके पूँजीपति मालिक, जिनकी पीठ पर अक्सर सर-का हाथ रहता था, आसानी से उन्हें कुचल देते थे। बहुत धीरे-धीरे और अनुभवों के बाद उन्होंने सम्मिलित कार्रवाई का महत्व समझा। तब ट्रेड यूनियनें या मज़दूर-संघ बनाये।

यह न समझना कि यह बयान पिछली हालतों का है। मज़दूरों की हालत कुछ सुधार ज़रूर हुआ है, बेचारे मज़दूरों के बचाव के नाम पर कुछ क़ानून ाये गए हैं; लेकिन आज भी अगर तुम कानपुर या बम्बई या कुछ दूसरी पर, जहाँ कारखाने हैं, जाकर देखो तो इन मज़दूरों के घरों को देखकर ा दिल दहल जायगा।

पने इस पत्र में और दूसरे पिछले पत्रों में मैंने तुम्हें भारत में अंग्रेज़ों का भारत में अंग्रेज़ी राज का हाल लिखा है। यह सरकार किस तरह की थी कैसे चलती थी ? शुरू में ईस्ट इण्डिया कम्पनी थी, लेकिन उसकी पीठ पर श पार्लमेण्ट थी। १८५८ ई० के महान् विद्रोह के बाद ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने शासन सम्भाल लिया, और उसके बाद इंग्लैण्ड का बादशाह, या यूँ कहो गम, क्योंकि उस समय वहाँ मलिका राज करती थी, क़ैसरे-हिन्द बन गया। में सबके ऊपर गवर्नर-जनरल था, जो वायसराय भी कहलाता था, और नीचे अफ़सरों के दल-के-दल थे। भारत, जैसाकि बहुत-कुछ अब भी है, ड़े प्रान्तों और देशी रियासतों में बाँट दिया गया था। देशी नरेशों की सतें मानी तो जाती थीं आधी-स्वाधीन, लेकिन वास्तव में वे पूरी तरह ों के अधीन थीं। हरेक बड़ी रियासत में एक अंग्रेज़ अफ़सर रहता था, जो डेण्ट कहलाता था और जो शासन पर सरसरी निगाहबानी करता था। ली सुधारों में उसे कोई दिलचस्पी न थी, और उसे इससे कोई मतलब न कि रियासत का शासन कितना ख़राब या दक़ियानूसी है। उसकी दिलचस्पी र्फ़ इस बात में थी कि रियासत में ब्रिटिश सत्ता को किस तरह ज़्यादा-से-ज़्यादा ूत बनाया जाय।

भारत का क़रीब एक-तिहाई हिस्सा इन रियासतों में बँटा हुआ था। ी का दो-तिहाई हिस्सा सीधा ब्रिटिश सरकार के अधीन था। इसलिए यह तहाई हिस्सा ब्रिटिश भारत कहलाता था। ब्रिटिश भारत के सब ऊँचे अफ़सर होते थे। हाँ, उन्नीसवीं सदी के अन्त में कुछेक भारतवासी इन ओहदों पहुँच गये। लेकिन फिर भी तमाम सत्ता और अधिकार अंग्रेज़ों के ही हाथ

में रहे, और अभी भी हैं। फ़ौजी अफ़सरों को छोड़कर बाक़ी के ये सब अफ़सर इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य होते थे। इस तरह भारत के शासन की बागडोर इसी आई० सी० एस० सेवा के हाथों में थी। एक-दूसरे को मुक़ करने वाले और अपने कामों के लिए जनता के कोई जवाबदार न हों अफ़सरों की ऐसी सरकार नौकरशाही कहलाती है।

इस आई० सी० एस० के बारे में हम बहुत-कुछ सुनते रहते हैं। इन का एक निराला दल बन गया है। कुछ बातों में वे बड़े मुस्तैद होते थे। वे की व्यवस्था करते थे, ब्रिटिश हुकूमत को मज़बूत बनाते थे, और उसी सि में ख़ुद भी उससे ख़ूब फ़ायदा उठाते थे। ब्रिटिश-राज को जमाने में और वसूल करने में सहायता देनेवाले सब सरकारी विभाग बड़ी होशियारी के संगठित किये गए थे। दूसरे विभागों पर ध्यान नहीं जाता था। आई० सी० के अफ़सरों को न तो जनता मुक़र्रर करती थी और न वे उसके जवाबदार इसलिए वे उन दूसरे विभागों पर कोई ध्यान नहीं देते थे, जिनका जन सबसे ज्यादा ताल्लुक़ था। जैसा कि ऐसी हालतों में होना लाज़िमी था, वे मग़रूर और ढीठ हो गये और लोकमत को तुच्छ समझने लगे। अपने तंग हद-बन्द नज़रिये की वजह से ये लोग अपने-आपको दुनिया में सबसे अक़्लमन्द समझने लगे। उनके लिए भारत के हित का अर्थ था सबसे पहले नौकरशाही का हित। उन्होंन एक क़िस्म का आपसी तारीफ़ों का गुट्ट बना और वे हमेशा एक-दूसरे की तारीफ़ें करते रहते थे। बेलगाम सत्ता और कार का यही लाज़िमी नतीजा हुआ करता है, इसलिए ये इण्डियन सिविल वाले ही भारत के असली मालिक थे। ब्रिटिश पार्लमेण्ट इतनी दूर थी कि कामों में दख़ल दे नहीं सकती थी, और देखा जाय तो उसे दख़ल देने का कोई भी न था, क्योंकि ये लोग उसके हितों को और ब्रिटिश उद्योग के हितों को रहते थे। जहाँ तक भारतीय जनता के हितों का प्रश्न था, उनके बारे में कुछ ज्यादा असर डालने का कोई रास्ता न था। वे इतने चिड़चिड़े हो कि अपनी मामूली-से-मामूली आलोचना को भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।

फिर भी इण्डियन सिविल सर्विस में कुछ भले, ईमानदार और लोग भी हुए हैं। लेकिन वे न तो उस नीति के बहाव को बदल सकते थे और उस धारा का रुख पलट सकते थे, जो भारत को अपने साथ खींचे लिये जा थी। आख़िर ये आई० सी० एस० वाले इंग्लैण्ड के उन औद्योगिक और हितों के एजेण्ट ही तो थे, जिनका ख़ास प्रयोजन था भारत का शोषण

जहाँ-जहाँ इसके अपने और ब्रिटिश उद्योग के हितों का मामला था, भारत की यह नौकरशाही हुकूमत मुस्तैद बन गई। लेकिन शिक्षा, सफ़ाई

ताओं पर और एक मज़बूत व प्रगतिशील राष्ट्र बनानेवाली दूसरी त-सी कारंवाइयों पर ध्यान नहीं दिया गया। वर्षों तक इन बातों का ख़याल नहीं किया गया। पुरानी गाँव-पाठशालाएँ ख़त्म हो गईं। फिर कहीं धीरे-धीरे र बड़ी बेदिली से कुछ शुरुआत की गई। शिक्षा की शुरुआत भी उन्होंने अपनी द की ग़रज़ से ही की थी। तमाम ओहदों पर तो अंग्रेज़ लोग भरे हुए थे, लेकिन हिर है कि छोटे ओहदों को और क्लर्कों यानी दफ़्तर के बाबुओं की जगहों वे नहीं भर सकते थे। बाबुओं की ज़रूरत थी, सो इन बाबुओं को तैयार रने के लिए ही शुरू में अंग्रेज़ों ने स्कूल और कॉलेज खोले। तभी से, भारत में क्षा की ख़ास मंशा यही रही है; और इस शिक्षा से तैयार हुए ज़्यादातर लोग र्फ़ बाबू ही बनने के लायक़ हैं। लेकिन बाबुओं की संख्या जल्दी ही सरकारी दूसरे दफ़्तरों की माँग से ज़्यादा बढ़ने लगी। बहुतों को नौकरी नहीं मिली, र इस तरह इन पढ़े-लिखे बेकारों का एक नया वर्ग बन गया।

इस नई अंग्रेज़ी शिक्षा में बंगाल सबसे आगे बढ़ गया और इसलिए शुरू ज़्यादातर बाबुओं की भरती बंगालियों में से हुई। १८५७ ई० में तीन विश्वविद्यालय कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में खोले गए। ध्यान देने लायक़ एक बात यह है कि मुसलमानों ने इस नई शिक्षा को दिल से नहीं अपनाया। इसलिए बाबूगिरी और सरकारी नौकरियों की इस दौड़ में वे पिछड़ गये। बाद में यही उनकी शिकायतों का एक सबब बन गया।

एक और ध्यान देने लायक़ बात यह है कि जब सरकार ने शिक्षा की शुरुआत की तो लड़कियों को बिलकुल भुला दिया गया। यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है। जो शिक्षा दी जा रही थी, उसकी मंशा थी बाबू लोग तैयार करना, और सिर्फ़ मर्द-बाबुओं की ही ज़रूरत थी, और पिछड़े हुए सामाजिक रिवाजों की वजह से उस समय सिर्फ़ मर्द ही मिलते थे। इसलिए लड़कियों की तरफ़ बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया और बहुत वर्षों के बाद जाकर कहीं उनके लिए छोटी-सी शुरुआत की गई।

: ११३ :

भारत की नई चेतना

७ दिसम्बर, १९३२

भारत में अंग्रेज़ी राज की नींव जिस तरह जमी और जिस नीति ने भारत की जनता में ग़रीबी और मुसीबत पैदा कर दी, यह मैं तुम्हें बतला चुका हूँ। देश में शान्ति ज़रूर आई और बाक़ायदा शासन भी आया और मुग़ल साम्राज्य

के टूटने से पैदा हुई गड़बड़ी के बाद ये दोनों ही बातें अच्छी हुईं। चोर-डाकुओं के संगठित दलों को दबा दिया गया। लेकिन खेतों और कारखानों में काम करने वाले किसानों और मज़दूरों के लिए इस शान्ति और व्यवस्था का कोई मूल्य न था, क्योंकि अब वे नई हुकूमत की भारी चक्की में पीसे जा रहे थे। लेकिन मैं तुम्हें एक बार याद दिलाऊँगा कि किसी देश पर या क़ौम पर—इंग्लैण्ड पर या अंग्रेज़ों पर, नाराज़ होना ठीक नहीं है; क्योंकि वे भी हमारी ही तरह परिस्थितियों के शिकार थे। इतिहास के अध्ययन ने हमें बताया है कि जीवन अक्सर बड़ा निर्दयी और कठोर होता है। इसपर तैश में आना या लोगों पर खाली दोष लगाना बेवक़ूफ़ी है, और उससे कुछ नहीं बनता। बुद्धिमानी इसीमें है कि ग़रीबी, मुसीबत और शोषण के कारणों को समझने की और उन्हें दूर करने की कोशिश की जाय। अगर हम ऐसा नहीं करते हैं और घटना-क्रम की दौड़ में पिछड़ जाते हैं, तो लाज़िमी तौर पर मुसीबतें भुगतनी पड़ती हैं। भारत इसी तरह पिछड़ गया! वह एक तरह से पथरा-सा गया, उसका समाज पुरानी लकीर का फ़क़ीर बन गया, और उसकी सामाजिक व्यवस्था बेताक़त और बेजान हो गई और बहाव रुक जाने से गन्दी होने लगी। ऐसी हालत में भारत को मुसीबतें झेलनी पड़ीं तो उसमें अचम्भे की बात नहीं है। संयोग से अंग्रेज़ इन मुसीबतों के निमित्त बन गये। अगर वे यहाँ न होते, तो शायद कोई दूसरे लोग इसी तरह का वर्ताव करते।

लेकिन अंग्रेज़ों ने भारत को एक बड़ा फ़ायदा ज़रूर पहुँचाया। उनकी नई और ज़ोरदार ज़िन्दगी की टक्कर ने ही भारत को हिला दिया और उसमें राजनीतिक एकता और राष्ट्रीयता पैदा कर दी। हालाँकि यह धक्का दुखदाई था, लेकिन हमारे प्राचीन देश और क़ौम में नई ज़िन्दगी पैदा करने के लिए शायद इसकी ज़रूरत भी थी। बाबू लोग तैयार करने के इरादे से दी जानेवाली अंग्रेज़ी शिक्षा ने भारतवासियों को पश्चिम में चालू विचारों के सम्पर्क में भी ला दिया। इससे अब अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों का एक नया वर्ग बनने लगा। ये लोग हालाँकि संख्या में कम और जनता से अलग से थे, लेकिन फिर आगे चलकर नये राष्ट्रीय आन्दोलन की रहनुमाई करनेवाले थे। ये लोग शुरू में तो इंग्लैण्ड के, और स्वतन्त्रता के बारे में अंग्रेज़ी विचारों के बड़े क़द्रदान थे। उन दिनों इंग्लैण्ड में लोग स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के बारे में बड़ी चर्चाएँ कर रहे थे। लेकिन ये सब बातें बे-सिर-पैर की थीं, और यहाँ भारत में इंग्लैण्ड सिर्फ़ अपने फ़ायदे के लिए अत्याचारी राज कर रहा था। लेकिन फिर भी कुछ अच्छी उम्मीदें लेकर यह आशा की जाती थी कि ठीक वक़्त आ जाने पर इंग्लैण्ड भारत को आज़ादी प्रदान कर देगा।

भारत पर पश्चिमी विचारों की टक्कर का कुछ असर हिन्दू-धर्म पर भी पड़ा। जनता पर तो कोई असर नहीं हुआ बल्कि, जैसा कि मैं पहले तुम्हें बता चुका हूँ,

की नीति ने तो जानकर कट्टरपन्थियों को ही मदद पहुँचाई। लेकिन सरकारी और पेशेवर लोगों का जो नया मध्यमवर्ग वन रहा था, उनपर इसका असर उन्नीसवीं सदी के शुरू में ही वंगाल में हिन्दू-धर्म को पश्चिमी ढंग पर सुधारने जतन किया गया था। इसमें शक नहीं कि पुराने ज़माने में हिन्दू-धर्म में सुधारक हो चुके हैं, जिनमें से कुछका ज़िक्र तो मैं इन पत्रों में कर चुका किन इस नये जतन पर तो साफ़-साफ़ ईसाइयत का और पश्चिमी विचारों र था। इस जतन के करनेवाले थे एक महान् व्यक्ति और बड़े विद्वान् राजा न राय, जिनके नाम का ज़िक्र सती-प्रथा के सिलसिले में आ चुका है। उन्हें अरवी और कई दूसरी भाषाओं का अच्छा ज्ञान था, और उन्होंने जुदा-ज़हवों का गहरा अध्ययन किया था। वे मज़हवी रीतियों और पूजा के विरोधी थे और समाज-सुधार व स्त्री-शिक्षा के हिमायती थे। उन्होंने ज क़ायम किया, वह ब्रह्मसमाज कहलाया। जहाँतक संख्या का ताल्लुक है, छोटी-सी संस्था थी, और अव भी वैसी ही है, और इसका दायरा वंगाल के पढ़े-लिखे लोगों तक ही रहा है। लेकिन वंगाल के जीवन पर इसका जवर्दस्त ड़ा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का परिवार इसका अनयायी वन गया और र रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर वहुत वर्षों तक इस समाज के और स्तम्भ रहे। इसके एक और प्रमुख सदस्य थे केशवचन्द्र सेन।

इस सदी के पिछले हिस्से में एक और मज़हवी सुधार-आन्दोलन चला। ाव में शुरू हुआ और स्वामी दयानन्द सरस्वती इसकी नींव डालनेवाले न्होंने आर्यसमाज नाम का एक दूसरा समाज क़ायम किया। इसने भी हिन्दू-पीछे से पैदा हुई वहुत-सी रूढ़ियों का खण्डन किया और जात-पाँत के खिलाफ़ ड़ा। इस समाज की पुकार थी, "वेदों की शरण में आओ।" हालाँकि यह धार-आन्दोलन था, जिसपर साफ़ तौर से इस्लामी व ईसाई विचारों का पड़ा था, लेकिन असर में यह एक सरज़ोर लड़ाकू आन्दोलन था। और वात यह हुई कि आर्यसमाज, जो शायद हिन्दुओं के वहुत-से सम्प्रदायों में म के सवसे ज्यादा नज़दीक पहुँचता था, इस्लाम का मुक़ावला करनेवाला वन गया। यह अपना वचाव करनेवाले व एक गतिहीन हिन्दू-धर्म रगर्मी से अपना प्रचार करनेवाला मज़हव वना देने की कोशिश थी। इरादा हिन्दू-धर्म में जान डालने का था। राष्ट्रीयता का पुट दे देने से इस लन को कुछ वल मिल गया। वास्तव में इस आन्दोलन के रूप में हिन्दू यता अपना सिर ऊँचा कर रही थी। और चूँकि यह हिन्दू-राष्ट्रीयता थी, वास्ते इसके लिए भारतीय राष्ट्रीयता वन जाना कठिन हो गया।

ब्रह्मसमाज की वनिस्वत आर्यसमाज का कहीं अधिक व्यापक प्रचार था,

खासकर पंजाब में। लेकिन इसके दायरे में ज़्यादातर मध्यम-वर्ग के ही आर्यसमाज ने शिक्षा के मैदान में बहुत बड़ा काम किया है, और लड़कों कियों दोनों ही के लिए स्कूल और कॉलेज खोले हैं।

इस सदी में धर्म में निष्ठा रखनेवाले एक और नामी व्यक्ति रामकृष्ण परमहंस। ये उन दूसरों जैसे बिल्कुल नहीं थे, जिनका इस पत्र ज़िक्र किया है। उन्होंने सुधार के लिए किसी खण्डन-मण्डन करनेवाले स्थापना नहीं की। उन्होंने सेवा पर ज़ोर दिया, और "रामकृष्ण सेवाश्रम कई भागों में निर्बलों व ग़रीबों की सेवा की यह परम्परा आज भी चल रामकृष्ण के एक मशहूर शिष्य स्वामी विवेकानन्द हुए हैं, जिन्होंने के बड़े मोहक और ज़ोरदार ढंग से राष्ट्रीयता के मन्त्र का प्रचार किया। यता किसी तरह भी इस्लाम-विरोधी या दूसरों की विरोधी नहीं थी, समाज की तंग राष्ट्रीयता की तरह की थी। फिर भी विवेकानन्द की हिन्दू राष्ट्रीयता ही थी और इसका आधार हिन्दू-धर्म व हिन्दू-संस्कृति ही

इस तरह यह एक दिलचस्प बात मालूम होती है कि उन्नीसवीं सदी में राष्ट्रीयता की शुरू की लहरों का रूप मज़हबी और हिन्दू था। इस हिन्दू वाद में मुसलमान लाज़िमी तौर पर कोई हिस्सा नहीं ले सकते थे। वे अलग अंग्रेज़ी शिक्षा से अपनेको दूर रखने के कारण नये विचारों का उनपर हुआ और उनमें दिमाग़ी हलचल बहुत ही कम थी। कई दशाब्दियों बाद अपने तंग दायरे से बाहर निकलना शुरू किया, और तब हिन्दुओं की तरह राष्ट्रीयता ने इस्लामी जामा पहन लिया। वे इस्लामी परम्पराओं व तरफ़ मुड़कर देखने लगे और उन्हें यह डर हो गया कि हिन्दुओं के बहुमत कहीं वे इन्हें खो न बैठें। लेकिन मुसलमानों का यह आन्दोलन बहुत सदी के अन्त में, ज़ाहिर हुआ।

हिन्दू-धर्म और इस्लाम के इन सुधारक और प्रगतिशील आन्दो बारे में एक और मज़ेदार बात यह है कि इन्होंने अपने पुराने मज़हबी और दस्तूरों को, जहाँतक हो सका, पश्चिम से आनेवाले नये वैज्ञानिक व विचारों के मुताबिक ढालने की कोशिश की। न तो वे निडर होकर विचारों और दस्तूरों को चुनौती देने को और उन्हें कसौटी पर कसने को न वे विज्ञान की दुनिया को और अपने चारों तरफ़ के और राजनीतिक व विचारों को दरगुज़र कर सकते थे। इसलिए उन्होंने यह साबित करने की करके दोनों का मेल मिलाने का जतन किया, कि तमाम आधुनिक विचार प्रगति का मूल उनके मज़हबों की पुरानी पवित्र पुस्तकों में मिल सकता है। यह लाज़िमी तौर पर विफल होना ही था। इसने लोगों को सही विचार करने

साहस के साथ विचार करने और दुनिया को बदलनेवाली नई ताक़तों व ों को समझने के बजाय वे प्राचीन दस्तूरों और परम्पराओं के बोझ से दब । आगे देखने और आगे बढ़ने के बजाय वे हर वक़्त लुक-छिपकर पीछे की सकते थे। अगर कोई अपनी गर्दन हमेशा मोड़े रहे और पीछे की तरफ़ देखता वह आसानी से आगे नहीं बढ़ सकता।

शहरों में धीरे-धीरे अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों का वर्ग बढ़ गया, और साथ-ही-साथ ों, डॉक्टरों, वग़ैरा पेशेवर लोगों का, और सौदागरों व व्यापारियों का एक ध्यम वर्ग पैदा हो गया। पहले भी एक मध्यम-वर्ग था, लेकिन उसे अंग्रेज़ों की की नीति ने बहुत-कुछ कुचल दिया था। यह नया मध्यम-वर्ग अंग्रेज़ी-राज वा नतीजा था; एक तरह से ये इस राज के टुकड़-ख़ोर थे। जनता की लूट इन लोगों को भी थोड़ा-सा हिस्सा मिल जाता था; अंग्रेज़ शासक-वर्ग की यों भरी मेज़ से गिरी हुई जूठन के कुछ टुकड़े ये लोग उठा लेते थे। इस वर्ग देश के अंग्रेज़ी प्रशासन में सहायता देनेवाले छोटे-छोटे अहलकार; अदालतों ानूनी कार्रवाइयों में मदद देनेवाले और मुक़दमेबाज़ी से मालदार बननेवाले ल-बैरिस्टर; और इंग्लैण्ड के व्यापार व उद्योग के आढ़तिये सौदागर, जो मुनाफ़े या दलाली के लिए अंग्रेज़ी माल बेचते थे।

इस नये मध्यम-वर्ग के इन लोगों में ज़्यादातर हिन्दू थे। इसकी एक वजह ह थी कि मुसलमानों की बनिस्बत इनकी माली हालत कुछ बेहतर थी, और ी यह थी कि इन लोगों ने अंग्रेज़ी शिक्षा को अपना लिया, जो सरकारी नौक-ों में और पेशों में घुसने का एक परवाना थी। मुसलमान आमतौर पर ज़्यादा व थे। अंग्रेज़ों के हाथों यहाँ के उद्योग-धन्धों की बर्बादी के कारण जिन बुनकरों रोज़ी जाती रही थी, उनमें ज़्यादातर मुसलमान जुलाहे थे। बंगाल में, जहाँ की लम आबादी भारत के दूसरे सब प्रान्तों से ज़्यादा है, ये लोग ग़रीब काश्तकार र छोटे-छोटे भूमिया थे। ज़मींदार आमतौर पर हिन्दू थे; इसी तरह गाँव का या भी हिन्दू होता था, जो लोगों को सूद पर रुपया उधार देता था, और गाँव दूकानदार होता था। इस तरह ज़मींदार और महाजन दोनों ही काश्तकार सताने और निचोड़ने की हैसियत में थे और अपनी इस हैसियत का वे पूरा यदा उठाते थे। इस तथ्य को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि हिन्दू-लिम तनाज़े की जड़ इसीमें है।

इसी तरह ऊँची जातियों के हिन्दू, ख़ासकर दक्षिण में, दलित कही जाने-ली जातियों का, जो ज़्यादातर खेतों पर काम करती थीं, शोषण करते थे। पिछले लों, और ख़ासकर बापू के उपवास के बाद से, दलित जातियों की यह समस्या हुत ज़ोरों से हमारे सामने है। छुआछूत पर आज चारों तरफ़ से हमले हो रहे

हैं और सैकड़ों मन्दिर व दूसरे स्थान अछूतों के लिए खोल दिये गए हैं। लेकिन बुनियादी सवाल तो आर्थिक शोषण का है, और जवतक यह दूर नहीं होता, दलित जातियाँ दलित ही रहेंगी। अछूत लोग खेतिहर चाकर रहे हैं, जिन्हें का मालिक नहीं वनने दिया जाता था। उन्हें और भी कितने ही हक़ न

हालाँकि सारा भारत और उसकी जनता दिन-पर-दिन ग़रीव हो फिर भी नये मध्यम-वर्ग के मुट्ठी भर लोग कुछ हद तक खुशहाल हो गये, देश के शोषण में इनको भी हिस्सा मिलता था। वकील-वैरिस्टरों व दूसरे लोगों व साहूकारों ने कुछ धन जमा कर लिया। इस धन को वे कारोवार में चाहते थे, ताकि उनको सूद की आमदनी होती रहे। वहुतों ने ग़रीवी के जमींदारों से ज़मीनें ख़रीद लीं और ख़ुद उनके मालिक वन गये। दूसरे लोग उद्योगों की अद्‌भुत सफलता देखकर भारत में भी क़ारख़ानों में रुपया सोचने लगे। इस तरह भारतीय पूँजी इन वड़ी मशीनों के कारख़ानों में एक नया भारतीय उद्योगी पूँजीपति वर्ग पैदा होने लगा। यह हुआ क़रीव साल पहले, यानी १८८० ई० के वाद।

जितने ये मध्यम-वर्गी लोग वढ़ते गए, उतनी ही उनकी हविस गई। उनकी इच्छा अव आगे-आगे वढ़ने की, ज़्यादा रुपया पैदा करने की, नौकरियों में ज़्यादा जगहें पाने की, और कारख़ाने खोलने के लिए लियतें हासिल करने की होती गईं। उन्होंने अंग्रेज़ों को अपने हर रास्ते में डालते हुए पाया। सव ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर अंग्रेज़ों ने अपना ठेका जमा और तमाम उद्योग-धन्धे उन्हींके फ़ायदे के लिए चलाये जा रहे थे। इसलिए हलचल मचाई और नये राष्ट्रीय आन्दोलन की यहीं से शुरुआत हुई। १८ के विद्रोह और उसके वेरहमी से दमन के वाद लोगों की कमर ऐसी टूट उनके लिए कोई भी हल्ला-गुल्ला या सरगर्म आन्दोलन करना कठिन हो फिर से कुछ जान आने में उन्हें वहुत वर्ष लग गये।

लेकिन राष्ट्रीय भावनाएँ जल्दी ही फैलने लगीं और वंगाल इसमें आगे क़दम उठा रहा था। वंगाल में नई-नई पुस्तकें निकलने लगीं, जिनका साहित्य पर और साथ ही वंगाल में राष्ट्रीयता के विकास पर ज़वर्दस्त असर हमारा मशहूर राष्ट्रीय गीत 'वन्देमातरम्' वंकिमचन्द्र चटर्जी की ऐसी ही एक पुस्तक 'आनन्द मठ' से लिया गया है। 'नील दर्पण' नामक एक वंगला भी वड़ी हलचल पैदा कर दी थी। इसमें नील की खेती की वाग़ान-प्रथा से, कुछ हाल मैं तुम्हें वता चुका हूँ, वंगाल के किसानों की तवाही का वड़ा ही वर्णन किया गया था।

इसी वीच भारतीय पूँजीपतियों की शक्ति भी वढ़ रही थी, और वे

र फैलाने के लिए ज्यादा जगह माँग रहे थे। आख़िरकार, १८८५ ई० में नये ध्यम-वर्ग के इन तरह-तरह के तत्वों ने मिलकर अपने दावे की हिमायत के लिए क संगठन बनाने का फ़ैसला किया। इस तरह १८८५ ई० में हमारी राष्ट्रीय ग्रेस की नींव पड़ी। जैसा कि तुम और भारत का बच्चा-बच्चा अच्छी तरह जानता है, यह संगठन पिछले वर्षों में बहुत बड़ा और ताक़तवर बन गया है। इसने जनता के हितों को हाथ में लिया, और कुछ हद तक यह उनकी हिमायती बन ई। इसने भारत में अंग्रेज़ी राज के आधार को ही ग़लत क़रार दिया और उसके ख़िलाफ़ जनता के बड़े-बड़े आन्दोलनों की रहनुमाई की। इसने स्वाधीनता का झण्डा ठाया और यह आज़ादी के लिए मर्दानगी के साथ लड़ी। लेकिन यह सबकुछ बाद का इतिहास है। कांग्रेस जब पहले-पहल क़ायम हुई, तब एक बहुत ही नर्म और फूंक-फूंककर क़दम रखनेवाली संस्था थी, जो अंग्रेज़ों के लिए अपनी वफ़ादारी का इक़रार करती थी और छोटे-छोटे सुधारों के लिए बड़ी आज़िज़ी से माँगें पेश करती थी। उस समय यह मध्यम-वर्ग के कुछ आसूदा लोगों की प्रतिनिधि थी, ग़रीब मध्यम-वर्ग तक के लोग इसमें शामिल नहीं थे। जनता का, यानी किसानों और मज़दूरों का तो इससे कोई ताल्लुक़ ही नहीं था। यह ख़ासकर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे वर्गों की वकील थी, और इसकी सारी कारंवाई हमारी सौतेली-भाषा अंग्रेज़ी में होती थी। इसकी माँगें ज़मींदारों, भारतीय पूँजीपतियों और नौकरियों की तलाश में रहनेवाले पढ़े-लिखे बेकारों की माँगें होती थीं। जनता को पीस डालनेवाली ग़रीबी पर या जनता की ज़रूरतों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। इसने नौकरियों के 'भारतीयकरण' की, यानी सरकारी नौकरियों में अंग्रेज़ों के बजाय भारतवासियों को ज्यादा जगहें दी जाने की माँग की। इसने यह न देखा कि भारत की जो कुछ ख़राबी है, वह उस मशीन में है, जो जनता का शोषण करती है; और इसलिए इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि वह मशीन किसके हाथों में है—भारतवासियों के या विदेशियों के। कांग्रेस की दूसरी शिकायतें फ़ौज और सिविल सर्विस के अंग्रेज़ी अफ़सरों के ज़बर्दस्त ख़र्चों के बारे में, और भारत से इंग्लैण्ड को जानेवाले सोने-चाँदी की 'नाली' के बारे में, थीं।

यह ख़याल न करना कि शुरू में कांग्रेस कितनी नर्म थी, यह बताकर मैं उसकी आलोचना कर रहा हूँ या उसके महत्व को कम करने की कोशिश कर रहा हूँ। मेरा मतलब नहीं है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि उन दिनों की कांग्रेस ने और उसके नेताओं ने बहुत बड़ा काम किया था। भारतीय राजनीति के कठोर तथ्यों ने इसे धीरे-धीरे, और बहुत-कुछ बिना मर्ज़ी के, दिन-पर-दिन ज्यादा गर्म नीति अपनाने के लिए मजबूर किया। लेकिन अपने शुरू के दिनों में वह जैसी थी उसके अलावा और कुछ हो भी नहीं सकती थी। उन दिनों इसके संस्थापकों को आगे क़दम बढ़ाने के लिए बड़ी हिम्मत की ज़रूरत थी। आज जब भीड़-की-भीड़

हमारे साथ है और इसके लिए हमारी तारीफ़ करती है, तब बहादुरी के साथ आज़ा की बातें करना बड़ा आसान है। लेकिन किसी बड़े प्रयत्न में अगुआ बनना ब कठिन है।

पहली कांग्रेस १८८५ ई० में बम्बई में हुई। बंगाल के उमेशचन्द्र बन इसके पहले अध्यक्ष थे। उन शुरू दिनों के दूसरे नामी व्यक्तियों के नाम हैं: सुरेन्द्र बनर्जी, बदरुद्दीन तैयबजी और फ़ीरोजशाह मेहता। लेकिन इन सबके ऊ नज़र आनेवाला नाम है दादाभाई नौरोजी का, जो 'भारत के वृद्ध पितामह' कह और जिन्होंने सबसे पहले भारत के लक्ष्य के लिए 'स्वराज्य' शब्द का इस्ते किया। एक नाम मैं और बताऊँगा, क्योंकि कांग्रेस के पुराने सेनानियों में से अ एक वही ज़िन्दा हैं और उन्हें तुम अच्छी तरह जानती हो। वह हैं पण्डित मद मोहन मालवीय[1]। पचास वर्ष से भी ज़्यादा समय से वह भारत के हित के लि जूझ रहे हैं, और बुढ़ापे व चिन्ताओं से जर्जर हो जाने पर भी अपनी जवानी सपने को सच्चा बनाने के काम में अभी तक जुटे हुए हैं।

इस तरह कांग्रेस साल-दर-साल आगे बढ़ती गई, और मज़बूती हा करती गई। इससे पहले के दिनों की हिन्दू राष्ट्रीयता की तरह इसका नज़रिया नहीं था। फिर भी यह बहुत-कुछ हिन्दू ही थी। कुछ मुसलमान नेता इसमें शामि हुए, और इसके अध्यक्ष तक बने, लेकिन कुल मिलाकर मुसलमान इससे दूर ही र उस समय के एक बड़े मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ थे। उन्होंने देखा कि शि की कमी ने, खासकर आधुनिक शिक्षा की कमी ने, मुसलमानों का बहुत नुक़ किया है, और उन्हें पिछड़ा हुआ रक्खा है। इसलिए उन्होंने यह महसूस कि कि राजनीति में टाँग अड़ाने से पहले मुसलमानों को इस शिक्षा के लिए ख़ा करना चाहिए और अपनी सारी ताक़त इसीपर लगानी चाहिए। इसलिए उन्होंने मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रहने की सलाह दी, सरकार के साथ सहयोग कि और अलीगढ़ में एक बढ़िया कॉलेज क़ायम किया, जो अब विश्वविद्यालय बन ग है। मुसलमानों की बहुत बड़ी संख्या ने सर सैयद की राय मानकर अपनेको कां से अलग रक्खा। लेकिन उनकी छोटी-सी संख्या हमेशा कांग्रेस के साथ रही। याद रहे कि जब मैं बड़ी संख्या या छोटी संख्या की चर्चा करता हूँ तो उससे मे मतलब ऊँचे मध्यम-वर्ग के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दुओं और मुसलमानों की बड़ी संख्या या छोटी संख्या से होता है। हिन्दू जनता और मुसलमान जनता, दोनों ही का कांग्रेस से कोई वास्ता न था, और उन दिनों इनमें से बहुतों ने तो इसका नाम तक न सुना था। नीचे के मध्यम वर्गों तक पर उस समय इसका कोई असर नहीं हुआ था।

---

[1] पण्डित मदनमोहन मालवीय का देहान्त १९४६ ई० में हो गया।

कांग्रेस बढ़ी, लेकिन कांग्रेस से भी तेज रफ़्तार से राष्ट्रीयता के विचार आज़ादी की चाह बढ़ी। कांग्रेस की पहुँच का दायरा लाज़िमीतौर पर छोटा योंकि इस दायरे में सिर्फ़ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग ही शामिल थे। कुछ हद सने अलग-अलग प्रान्तों को एक-दूसरे के ज़्यादा नज़दीक लाने में और एकसा या बनाने में मदद दी। लेकिन जनता में इसकी पैठ गहरी न होने के इसकी ताक़त कुछ नहीं थी। एक पिछले पत्र में मैंने तुमसे एक घटना क्र किया है, जिसने एशिया भर में भारी हलचल मचा दी थी। यह ४-५ ई० में छोटे-से जापान की भारी-भरकम रूस पर विजय थी। दूसरे ाई देशों के साथ-साथ भारत पर भी इसकी गहरी छाप पड़ी, यानी यहाँ के पढ़े-लिखे मध्यम-वर्गों पर असर पड़ा और उनका आत्म-विश्वास बढ़ गया। यूरोप के एक सबसे ज़्यादा शक्तिशाली देश के ख़िलाफ़ जापान सफल हो ा है तो भारत क्यों नहीं हो सकता ? बहुत अर्से से भारत के लोग अंग्रेज़ों के छोटेपन की भावना के शिकार हो रहे थे। अंग्रेज़ों की लम्बी हुकूमत ने, और ७ के विद्रोह के वहशियाना दमन ने, उनकी हिम्मत पस्त कर दी थी। हथि-न रखने का क़ानून बनाकर उन्हें हथियार रखने से रोक दिया गया था। भारत नेवाली हरेक बात उन्हें यह याद दिलाती थी कि वे एक पराधीन जाति हैं, हीन जाति हैं। उन्हें दी जानेवाली शिक्षा तक भी उनमें हीनता की यही भावना थी। बिगड़े हुए और झूठे इतिहास के ज़रिये उन्हें पढ़ाया जाता था कि ऐसी भूमि है जहाँ सदा से अराजकता फैली रही है, और हिन्दू और मुसलमान दूसरे का गला काटते रहे हैं और अन्त में अंग्रेज़ों ने ही आकर इस देश को इस ीब बुरी हालत से छुटकारा दिलाया, और इसे अमन व ख़ुशहाली दी। ा की और इतिहास की कोई परवाह न करके यूरोप के लोग यह समझते और रा पीटते रहते थे कि सारा-का-सारा एशिया वास्तव में एक पिछड़ा हुआ महा-है, और इसलिए इसे यूरोपीय लोगों की ही हुकूमत में रहना चाहिए।

इसलिए जापान की विजय ने एशियावालों के लिए ताज़गी देनेवाली जब-दवा का काम किया। भारत में हमारे बहुत-से लोगों में हीनता की जो भावना किये हुए थी, वह इससे कम हुई। राष्ट्रीयता के विचार, ख़ासकर बंगाल और राष्ट्र में, चारों तरफ़ फैलने लगे। इसी समय एक घटना घटी, जिसने बंगाल को से हिला दिया और देश भर में हलचल मचा दी। सरकार ने बंगाल के बड़े को (जिसमें उस समय बिहार भी शामिल था) दो हिस्सों में बाँट दिया, में एक हिस्सा पूर्वी बंगाल था। बंगाल के मध्यम-वर्ग की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता सपर नाराज़ी ज़ाहिर की। उसे डर था कि अंग्रेज़ बंगाल के इस तरह टुकड़े कर-से कमज़ोर करना चाहते हैं। पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की संख्या ज़्यादा थी, लिए इस बँटवारे से हिन्दू-मुस्लिम सवाल भी उठ खड़ा हुआ। बंगाल भर में

एक ज़बर्दस्त ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन चल पड़ा। ज़्यादातर ज़मींदार और तीय पूँजीपति भी इसमें शामिल हो गये। सबसे पहले उसी समय 'स्वदेशी' उठाया गया और इसके साथ ही ब्रिटिश माल के बायकाट का भी, जिससे तीय उद्योग और पूँजी को अलबत्ता सहायता मिली। कुछ हद तक जनता में आन्दोलन फैल गया, और हिन्दू धर्म से भी इसने कुछ प्रेरणा ली। इसके साथ बंगाल में क्रान्तिकारी हिंसा की विचार-धारा भी पैदा हुई और भारतीय रा में पहली बार 'बम' सामने आया। बंगाल में आन्दोलन के एक नामी नेता घोष थे। वह अभी भी मौजूद हैं, लेकिन बहुत वर्षों से फ़्रान्सीसी भारत के पा शहर में आध्यात्मिक जीवन बिता रहे हैं।[1]

पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र प्रदेश में भी इस समय भारी खलबली हुई थी, और हिन्दू-धर्म के ही रंग में रँगी हुई जोशीली राष्ट्रीयता का उद रहा था। वहाँ बालगंगाधर तिलक नामक एक महान् नेता हुए, जो भारत लोकमान्य करके मशहूर हैं। तिलक एक बड़े विद्वान् थे; वह पूर्व की पुरानी पाटियों के भी उतने ही जानकार थे, जितने पश्चिम की नई परिपाटियों के; बड़े भारी राजनीतिज्ञ थे; लेकिन सबसे बड़ी बात यह कि वह जनता के महान् नेता थे। कांग्रेस के नेताओं की पहुँच अभी सिर्फ़ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों ही थी; जनता उन्हें नहीं जानती थी; लेकिन तिलक नये भारत के पहले राजनी नेता हुए, जो जनता तक पहुँचे और जिन्होंने उससे बल हासिल किया। व्यक्तित्व से मज़बूती और न दबनेवाली दिलेरी का एक नया बल पैदा जिसने बंगाल में राष्ट्रीयता और बलिदान की नई भावना से जुड़कर भार राजनीति की शक्ल ही बदल दी।

१९०६, १९०७ और १९०८ ई० के इन हलचल-भरे दिनों में कांग्रेस कर रही थी? राष्ट्रीय भावना की जागृति के इस समय में कांग्रेस के नेता राष्ट् रहनुमाई करने के बजाय, पीछे लटक रहे थे। उन्हें एक ठंडी किस्म की राजनी की आदत हो गई थी, जिसमें जनता का दख़ल नहीं था। बंगाल का धधकता हु जोश उन्हें पसन्द नहीं था और न उन्हें महाराष्ट्र की वह नई और न झुकने नीति ही भाती थी जो तिलक के रूप में खड़ी थी। 'स्वदेशी' आन्दोलन को तो उन्हों सराहा, लेकिन ब्रिटिश माल के बायकाट से वे हिचकते थे। कांग्रेस में अब दो हो गये—एक तिलक और कुछ बंगाली नेताओं के नीचे गर्म दल, और दूसरा कांग्रेस के पुराने नेताओं का नर्म दल। लेकिन नर्म दल के सबसे बड़े नेता एक युवक गोपालकृष्ण गोखले थे, जो बड़े क़ाबिल व्यक्ति थे और जिन्होंने अपना सेवा के लिए अर्पित कर दिया था। गोखले भी महाराष्ट्रीय थे। अपने-अपने

---

[1] महर्षि अरविन्द की मृत्यु दिसम्बर, १९५० में हो गई।

कर तिलक और गोखले एक दूसरे के सामने डटकर खड़े हो गये। इसका
मी नतीजा यह हुआ कि १९०७ ई० में कांग्रेस के दो टुकड़े हो गये और
फूट पड़ गई। नर्म दलवालों का कांग्रेस पर अधिकार बना रहा, गर्म दलवाले
ल बाहर किये गए। नर्म दलवाले जीत तो गये, लेकिन देश में अपनी लोक-
ता खोकर, क्योंकि तिलक का दल ही जनता में बहुत ज्यादा लोकप्रिय था।
कमज़ोर हो गई, और कुछ वर्षों तक उसका प्रभाव नाम को रह गया।

और इन वर्षों में सरकार का क्या हाल था? बढ़ती हुई भारतीय राष्ट्रीयता
समें क्या प्रतिक्रिया पैदा की? सरकारों के पास, किसी ऐसी दलील या
का, जिसे वह पसन्द नहीं करतीं, जवाब देने का सिर्फ़ एक ही तरीक़ा हुआ
है—डंडे का इस्तेमाल। बस, सरकार दमन पर उतर आई। उसने लोगों
लों में भरना शुरू किया, प्रेस-क़ानूनों से अखबारों पर लगाम लगा दी गई और
ऐसे आदमी के पीछे, जिसे कि वह पसन्द नहीं करती थी, खुफ़िया पुलिस
जासूसों के दल-के-दल लगा दिये। उसी समय से सी० आई० डी० के आदमी
के बड़े-बड़े राजनीतिक नेताओं के हरदम के साथी बने हुए हैं। बंगाल के
-से नेताओं को क़ैद की सज़ा दी गई। सबसे अधिक मार्के का मुक़दमा लोकमान्य
क का था, जिन्हें छै वर्ष की क़ैद की सज़ा दी गई थी, और जिन्होंने मांडले
में अपनी क़ैद के दिनों में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ[1] लिखा था। लाला लाजपतराय
भी देश-निकाला देकर बरमा भेज दिया गया।

लेकिन दमन से बंगाल को कुचलने में सफलता नहीं मिली। इसलिए कम-
म कुछ लोगों को तसल्ली देने के लिए झट-पट प्रशासन-सुधार का एक
उठाया गया। उस समय की नीति, जो कि बाद में भी रही और आज भी
राष्ट्रवादी दलों में फूट डालने की थी। यानी नर्म दलवालों को बढ़ावा देना
मिलाना, और गर्म दलवालों को कुचल देना। १९०८ ई० में मार्ले-मिन्टो-
रों के नाम से मशहूर नये सुधारों का ऐलान किया गया। इनसे नर्म दलवालों
मिलाने में सफलता हुई और वे इन सुधारों को पाकर खुश हो गये। नेताओं
ल में होने के कारण गर्म दलवालों के हौसले टूट गये और राष्ट्रीय आन्दोलन
ोर पड़ गया। लेकिन बंगाल में बंग-भंग के खिलाफ़ आन्दोलन जारी रहा
अन्त में सफल हुआ। १९११ ई० में ब्रिटिश सरकार ने बंग-भंग को फिर उलट
। इस विजय ने बंगालियों में नया साहस पैदा कर दिया। लेकिन १९०७ का
ोलन ठंडा पड़ चुका था, और भारत फिर राजनीतिक उदासीनता में जा पड़ा।

---

[1] गीता-रहस्य—तिलक ने यह ग्रन्थ मराठी में लिखा था, परन्तु इसका हिन्दी में
भारत की दूसरी भाषाओं में भी अनुवाद हो गया है। इस ग्रन्थ में गीता के ऐति-
क, आध्यात्मिक, नैतिक, आदि पहलुओं पर बड़ी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की गई है।

१९११ ई० में ही यह ऐलान किया गया कि दिल्ली भारत की नई रा धानी होगी। दिल्ली—बहुत-से साम्राज्यों की राजधानी और बहुत-से साम्रा की क़ब्र !

१९१४ ई० में, जिस समय यूरोप में महायुद्ध शुरू हुआ और सै का जमाना खत्म हुआ, भारत की हालत इस तरह की थी। महायुद्ध का भारत भी ज़बर्दस्त असर पड़ा, लेकिन उसके बारे में मैं आगे कुछ कहूँगा।

आखिरकार उन्नीसवीं सदी के भारत का हाल मैंने खत्म कर ही दि मैं अब तुमको आज से अठारह साल पहले तक ले आया हूँ। अब हम भारत छोड़कर अगले पत्र में चीन चलेंगे, और दूसरे ढंग के साम्राज्यशाही शोषण जाँच करेंगे।

: ११४ :

ब्रिटेन का चीन पर ज़बर्दस्ती अफ़ीम लादना

१४ दिसम्बर, १

मैंने तुम्हें काफ़ी विस्तार के साथ भारत में हुई औद्योगिक व मशीनी क्रा का असर समझाया है और यह भी बताया है कि नये साम्राज्यवाद ने भार किस तरह काम किया। भारतवासी होने के नाते मैं तरफ़दार हूँ, इसलि डर है कि मैं तरफ़दारी की नज़र से देखे बिना नहीं रह सकता। लेकिन मैंने कोशिश की है, और मैं चाहता हूँ कि तुम भी यही कोशिश करो कि इन सवा पर, तथ्यों की सही जाँच करनेवाले वैज्ञानिक की तरह, विचार किया जा मामले के पक्ष को साबित करने पर तुले हुए राष्ट्रवादी की तरह नहीं। राष्ट्री अपनी जगह पर अच्छी चीज़ है, लेकिन वह बेवफ़ा दोस्त है और खतरनाक इ हासकार है। कितनी ही घटनाओं के बारे में वह हमें अन्धा बना देती है, और बार सचाई को तोड़-मरोड़ देती है, खासकर जब उससे हमारा या हमारे देश ताल्लुक़ हो। इसलिए हाल के भारतीय इतिहास पर विचार करते समय हमें धान रहना होगा; वरना कहीं ऐसा न हो जाय कि हम अपनी तमाम बा का दोष अंग्रेज़ों के सिर मढ़ने लगें।

उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ उद्योगपतियों और पूंजीपतियों ने भारत का कि तरह शोषण किया, यह देख चुकने के बाद अब हम एशिया के दूसरे बड़े भारत के पुराने दोस्त और राष्ट्रों में प्राचीन, चीन की तरफ़ चलते हैं। यहाँ पश्चिमवालों को एक दूसरे ही ढंग का शोषण करते पायेंगे। भारत की त चीन किसी यूरोपीय देश का उपनिवेश या अधीन-राज्य नहीं बना। उन्नी

ब्रिटेन और चीन

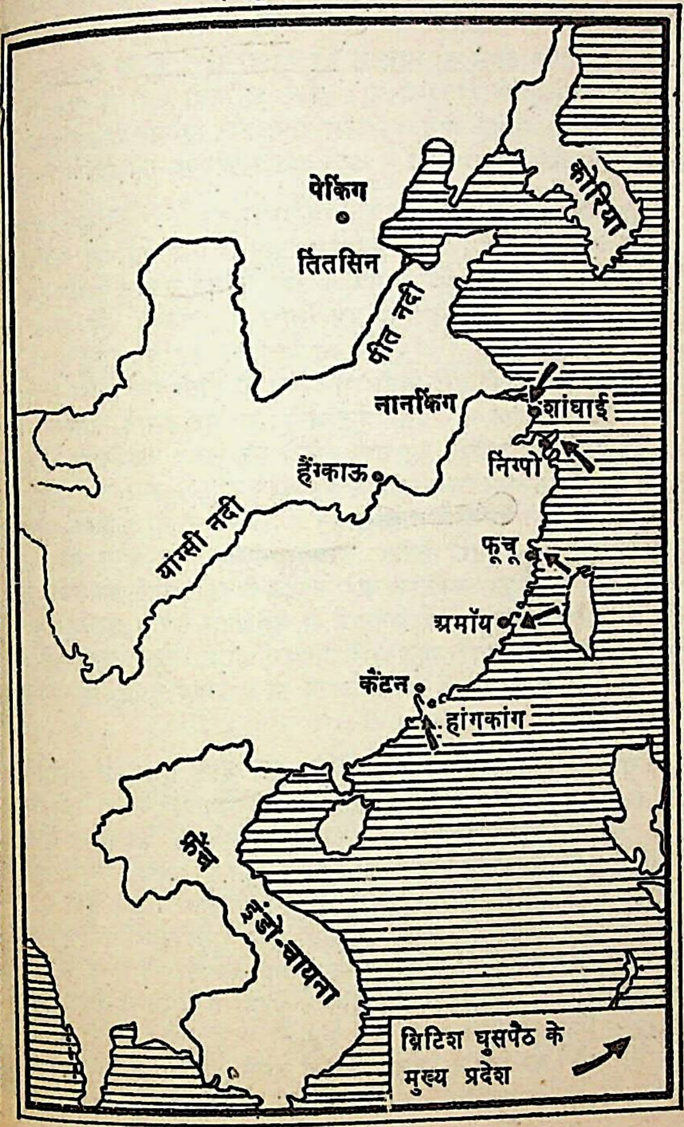
पेकिंग
तितसिन
कोरिया
पीत नदी
नानकिंग
शांघाई
हैंकाऊ
निंगपो
यांग्सी नदी
फूचू
अमॉय
कैंटन
हांगकांग
ब्रैं
इंडो-चायना
ब्रिटिश घुसपैठ के मुख्य प्रदेश

सदी के क़रीब बीच तक, वहाँ का केन्द्रीय शासन अपने देश को एक सूत्र में रखने के लिए काफ़ी ताक़तवर था, इसलिए वह इससे बच गया। जैसा कि देख आये हैं, भारत इससे सौ साल से भी ज्यादा पहले, मुग़ल साम्राज्य के के साथ ही टुकड़े-टुकड़े हो चुका था। चीन उन्नीसवीं सदी में कमज़ोर गया, लेकिन फिर भी वह अन्त तक जमा रहा, और विदेशी शक्तियों की जलन ने उन्हें चीन की कमज़ोरी से बहुत ज्यादा फ़ायदा नहीं उठाने दिया।

चीन-के बारे में आख़िरी पत्र (पत्र-संख्या ९४) में मैंने तुम्हें बताय कि अंग्रेज़ों ने चीन के साथ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए क्या-क्या कोशिशें इंग्लैण्ड के बादशाह जार्ज तृतीय के पत्र के उत्तर में मंचू-सम्राट् शियन-लुंङ ने, बड़ा ऊंचा और कृपा दिखानेवाला पत्र लिखा था, उसका एक लम्बा मैंने तुम्हें बताया था। यह १७९२ ई० की बात है। यह वर्ष तुम्हें यूरोप के समय के तूफ़ानी दिनों की याद दिलायेगा---यह फ़्रान्सीसी क्रान्ति का ज़माना इसके बाद ही नेपोलियन और उसके युद्ध आये। इस पूरे ज़माने में इंग्लैण्ड को मारने को भी फ़ुरसत न थी, वह जान हथेली पर लेकर नेपोलियन से लड़ था। इस तरह नेपोलियन का अन्त होने तक और जान-में-जान आने तक चीन अपना व्यापार बढ़ाने का इंग्लैण्ड के सामने सवाल ही न था। इसके फ़ौरन १८१६ ई० में, एक दूसरा ब्रिटिश राजदूत-मंडल चीन भेजा गया। दरबारी अदब-क़ायदे पूरा करने के बारे में कुछ दिक़्क़त पड़ने की वजह से सम्राट् ने ब्रिटिश राजदूत लार्ड एमहर्स्ट से मुलाक़ात करना नामंज़ूर कर और उसे वापस चले जाने का हुक्म दिया। इस क़ायदे का नाम 'कोतो' था, ज़मीन पर लेटकर दण्डवत् करने के समान था। शायद तुमने 'को-तोइंङ' सुना होगा।

इसलिए यह बात यहीं ख़त्म हो गई। इसी बीच एक नया व्यापार, अफ़ीम का व्यापार, तेज़ी से बढ़ रहा था। इसे नया व्यापार कहना तो शायद न होगा, क्योंकि अफ़ीम पहले-पहल पन्द्रहवीं सदी में ही भारत से चीन चकी थी। पुराने ज़माने में भारत ने चीन को बहुत-सी अच्छी चीज़ें भेजी थीं पर भारत ने जितनी चीज़ें भेजीं, उनमें अफ़ीम वास्तव में एक बुरी चीज़ थी लेकिन यह व्यापार बहुत थोड़ा था। उन्नीसवीं सदी में यूरोपीय लोगों की वजह से ख़ासकर ब्रिटिश व्यापार की ठेकेदार ईस्ट इंडिया कम्पनी की वजह से, यह बढ़ने लगा। कहा जाता है कि पूर्व में डच लोग मलेरिया से बचने के लिए तम्बाकू के साथ अफ़ीम मिलाकर पिया करते थे। इन्होंकी मार्फ़त चीन में भी तम्बाकू की तरह अफ़ीम पीने का रिवाज पहुंचा, लेकिन उससे भी ज्यादा नुकसान पहुंचाने वाले रूप में, क्योंकि यहाँ सिर्फ़ अफ़ीम पी जाने लगी। चीनी सरकार इस

छुड़ाना चाहती थी, क्योंकि लोगों पर इसका बुरा असर पड़ रहा था, और
म का व्यापार देश का बहुत-सा धन बाहर खींचे ले जा रहा था।

१८०० ई० में चीनी सरकार ने एक शाही फ़रमान जारी करके अपने देश
किसी भी काम के लिए अफ़ीम का आना रोक दिया। लेकिन इस व्यापार से
शियों को बड़ा फ़ायदा होता था। इसलिए वे चोरी-छिपे अफ़ीम लाते रहे,
चीनी अहलकारों को रिश्वतें देकर अपना काम बनाते रहे। इस पर चीन-
कार ने यह नियम बना दिया कि उसका कोई भी अहलकार विदेशी व्यापारियों
मिलने पाये। किसी भी विदेशी को चीनी या मंचू भाषा सिखाने पर भी सख्त
एँ लगा दी गईं। लेकिन इन सब का कोई नतीजा नहीं निकला। अफ़ीम का
पार चलता ही रहा और रिश्वत और भ्रष्टाचार का बाज़ार गर्म हो गया।
३४ ई० के बाद, जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ठेका छीन-
तमाम अंग्रेज़ों के लिए यह व्यापार खोल दिया, तब तो वास्तव में हालत और
खराब हो गई।

चोरी-छिपे ग़ैर कानूनी तौर पर अफ़ीम का लाया जाना एकदम बढ़ गया।
आखिरकार चीन-सरकार ने इसे रोकने के लिए सख्त कार्रवाई करने का
ला किया। इस काम के लिए एक ईमानदार आदमी चुना गया। चोरी से
नेवाली इस अफ़ीम की रोक के लिए लिन-सी-हो को स्पेशल कमिश्नर मुक़र्रर
या गया और उसने फ़ौरन ही तेजी और मुस्तैदी के साथ कार्रवाई की। वह
क्षण के कैंटन नगर पहुँचा, जो इस ग़ैर-कानूनी व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र
, और वहाँ के तमाम विदेशी व्यापारियों को हुक्म दिया कि जितनी भी अफ़ीम
के पास हो वह सब उसे सौंप दें। शुरू में तो उन्होंने इस हुक्म को मानने से
कार कर दिया। इस पर लिन ने इसके लिए उन्हें मजबूर किया। उसने उन्हें
की फैक्टरियों में बन्द कर दिया, उनके चीनी मज़दूरों और नौकरों से उनका
म छुड़वा दिया और बाहर से उनके पास रसद जाना रोक दिया। इस सख्ती
र मुस्तैदी का नतीजा यह हुआ कि विदेशी व्यापारियों ने घुटने टेक दिये
र अफ़ीम की बीस हजार पेटियाँ निकालकर उसके सामने धर दीं। अफ़ीम
इस भारी ढेर को, जो चोरी से भेजने के लिए ही इकट्ठा किया गया था, लिन
नष्ट करवा दिया। उसने विदेशी व्यापारियों से यह भी कह दिया कि जब-
क जहाज़ का कप्तान अफ़ीम न लाने का वचन न दे देगा, तबतक कोई जहाज़
कैंटन में घुसने न पायेगा। अगर कोई इस वचन को तोड़ेगा तो चीनी सरकार
जहाज़ और उसके सारे माल को ज़ब्त कर लेगी। लिन काम को पूरी तरह करने-
ला आदमी था। उसने सौंपे हुए काम को अच्छी तरह कर दिखाया, लेकिन उसने
ह नहीं सोचा कि इसके नतीजे चीन के लिए कितनी मुश्किल पैदा करनेवाले थे।

नतीजे ये हुए कि इंग्लैण्ड के साथ लड़ाई छिड़ गई, जिसमें चीन की हा उसे बेइज़्ज़ती की सुलह करनी पड़ी, और वही अफ़ीम, जिसे चीन की सरकार रो चाहती थी, ज़बर्दस्ती चीन के हलक़ में ठूँसी गई। अफ़ीम चीन के लिए अ चीज़ थी या बुरी, इस बात से कोई वास्ता न था। चीन की सरकार क्या चा थी, इससे भी कोई ज़्यादा सरोकार न था। असली बात यह थी कि अफ़ी इस ग़ैरक़ानूनी व्यापार से अंग्रेज़ व्यापारियों को बड़ा भारी मुनाफ़ा हो और ब्रिटेन अपनी इस आमदनी का मारा जाना सहने को तैयार न था। क लिन ने जो अफ़ीम नष्ट करवादी थी, उसमें सबसे ज़्यादा अंग्रेज़ व्यापारि थी। इसलिए राष्ट्रीय इज़्ज़त के नाम पर अंग्रेज़ों ने १८४० ई० में चीन छेड़ दिया। इस युद्ध को 'अफ़ीम का युद्ध' नाम दिया जाना ठीक ही है, यह चीन पर अफ़ीम लादने के हक़ के लिए लड़ा और जीता गया था।

कैंटन व दूसरी जगहों की नाकेबन्दी करनेवाले ब्रिटिश जंगी-बे खिलाफ़ चीन का कुछ वस न चल सका। दो वर्ष बाद उसे हार माननी पड़ी, १८४२ ई० में नानकिंग का सुलहनामा हुआ, जिसके मुताबिक़ पाँच बन्द विदेशी व्यापार के लिए, जिसका उस समय मतलब था ख़ासकर अफ़ीम व्यापार, खोल दिये गए। ये पाँच बन्दरगाह थे कैंटन-शांघाई, अमॉय, नि और फ़्यूचू। इन्हें 'सुलहनामे के बन्दरगाह' कहा जाता था। कैंटन के पा हांग-कांग टापू पर भी अंग्रेज़ों ने क़ब्ज़ा कर लिया, और जो अफ़ीम नष्ट क गई थी उसके हर्जाने के तौर पर और चीन पर जो युद्ध ज़बर्दस्ती डाला था, उसके खर्चे के रूप में उन्होंने चीन से भारी रक़म ऐंठी।

इस तरह इंग्लैण्ड ने अफ़ीम की जीत हासिल की। चीन के सम्राट इंग्लैण्ड की मलिका विक्टोरिया से, चीन पर ज़बर्दस्ती लादे गए अफ़ीम व्यापार के भयंकर नतीजों का बहुत नर्मी के साथ ज़िक्र करते हुए खुद की। लेकिन मलिका की तरफ़ से कोई उत्तर न मिला। ठीक पचास वर्ष पह इसी सम्राट् के पुरखे शियन-लुंङ ने इंग्लैण्ड के बादशाह के नाम इससे बिल्कु दूसरे ही ढंग का पत्र लिखा था!

पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ चीन के बखेड़ों की शुरुआत थी। उसकी अलहदगी का अन्त हो गया। उसे विदेशी व्यापार मंज़ू करना पड़ा, और साथ ही मंजूर करने पड़े ईसाई मिशनरी। इन ईसाई मिश नरियों ने साम्राज्यवाद की हरावल के रूप में चीन में बड़ा महत्व का काम किया बाद में चीन पर जो-जो मुसीबतें आईं, उनका एक-न-एक कारण ये मिशनरी ही थे। इनका बर्ताव बड़ा गुस्ताखी भरा और गुस्सा दिलानेवाला होता था, लेकिन चीनी अदालतों में उनपर मुक़दमा नहीं चलाया जा सकता था। नये सुलहना

के अनुसार पश्चिमी विदेशियों पर चीनी क़ानून और चीनी न्याय लागू नहीं हो सकता था। उनपर उन्हीं की अदालतों में मुक़दमा चल सकता था। यह 'बाह्य राज्य-क्षेत्र' हक़ कहा जाता था, जो अब भी मौजूद है, और जिसका बहुत विरोध किया जाता है। मिशनरियों ने जिन चीनियों को ईसाई बनाया, वे भी इस 'बाह्य राज्य-क्षेत्र' की ख़ास रियायतों की माँग करने लगे। वे किसी भी तरह इसके हक़दार न थे; लेकिन इससे क्या होता था, क्योंकि एक ताक़तवर साम्राज्यशाही राष्ट्र का प्रतिनिधि वह बड़ा मिशनरी उनकी पीठ पर था। इस तरह एक गाँव को दूसरे गाँव के ख़िलाफ़ लड़वा दिया जाता; और जब गाँववालों व दूसरे लोगों के धीरज की सीमा टूट जाती और वे मिलकर किसी मिशनरी पर टूट पड़ते और कभी-कभी उसकी हत्या भी कर देते, तब उसकी पीठ पर रहने वाली साम्राज्यशाही शक्ति आ धमकती, और कसकर बदला लेती। यूरोपीय शक्तियों के लिए चीन में उनके मिशनरियों की हत्याओं से बढ़कर फ़ायदेमन्द घटनाएँ और कोई नहीं हुईं, क्योंकि हरेक ऐसी हत्या को वे ख़ास रियायतें माँगने और ऐंठ लेने का सबब बना लेते थे।

चीन में एक सबसे भयंकर और ख़ूनी बलवा खड़ा करनेवाला भी एक नया ईसाई ही था। यह ताइपिंग का बलवा के नाम से मशहूर है, जो १८५० ई० के लगभग हूंङ-सिन-च्वान नामक एक आधे-पागल ने शुरू किया था। इस मज़हबी दीवाने को अनोखी सफलता मिली। वह "मूर्ति-पूजकों को मारो" का जंगी नारा लगाता हुआ सब तरफ़ गया और अनगिनती आदमी मारे गये। इस बलवे ने आधे से भी ज़्यादा चीन को तबाह कर दिया, और बारह साल या इसीके क़रीब समय में अन्दाज़न दो करोड़ आदमी इसके कारण मौत के मुँह में चले गये। अलबत्ता इस बलवे और उसके साथ होनेवाले हत्याकाण्डों के लिए ईसाई मिशनरियों को या विदेशी शक्तियों को ज़िम्मेदार ठहराना ठीक नहीं है। शुरू-शुरू में तो मिशनरियों ने शायद इसकी ख़ैर मनाई, लेकिन बाद में उन्होंने यह कह दिया कि हूंङ से उनका कोई सरोकार नहीं है। लेकिन चीनी सरकार हमेशा यह विश्वास करती रही कि इसके ज़िम्मेदार मिशनरी लोग ही हैं। इस विश्वास से हम समझ सकते हैं कि ईसाई मिशनरियों की करतूतों से उस समय चीनी लोग कितने नाराज़ थे, और बाद में भी रहे। उनके लिए मिशनरी कोई मज़हब या नेकनीयती का दूत बनकर नहीं आया था, बल्कि साम्राज्यवाद का एजेण्ट था। जैसा कि किसी अंग्रेज़ लेखक ने कहा भी है—"चीनवालों के दिमाग़ में घटनाओं का यह सिलसिला बना हुआ है कि पहले मिशनरियों का आना, फिर जंगी जहाज़ों का पहुँचना, और उसके बाद ज़मीन हड़पना।" ये बातें ध्यान में रखनी चाहिए, क्योंकि चीन के बखेड़ों में मिशनरी बहुत बार सामने आता रहता है।

यह अनोखी बात है कि एक पागल मज़हबी दीवाने का उठाया हुआ बलवा पूरी तरह दबाये जाने से पहले इतनी बड़ी कामयाबी हासिल कर पा इसकी असली वजह यह थी कि चीन में पुरानी व्यवस्था टूट रही थी। मेरा खया है कि चीन पर जो पिछला पत्र मैंने तुम्हें लिखा था, उसमें मैंने तुम्हें वहां टैक्स के बोझ का, बदलती हुई आर्थिक हालतों का और जनता के बढ़ते हुए असन्तो का हाल बताया था। मंचू-सरकार के ख़िलाफ़ हर जगह गुप्त समितियाँ ब हो रही थीं और हवा में बलवा भरा हुआ था। अफ़ीम और दूसरी चीज़ों विदेशी व्यापार ने हालत को और भी ज़्यादा बिगाड़ दिया था। चीन में अलब पहले भी विदेशी व्यापार होता था, लेकिन इस समय हालत दूसरी थी। पश्चि के बड़े-बड़े कल-कारख़ाने बड़ी तेज़ी से माल तैयार कर रहे थे, और वह स का-सब उन देशों में खप नहीं सकता था। इसलिए उन्हें बाहर के हाट-बाज़ा तलाश करने की ज़रूरत पड़ी। भारत में और चीन में बाज़ारों की तलाश के पी यही मजबूरी थी। इस विदेशी माल ने, और ख़ासकर, अफ़ीम ने पुरानी व्याप व्यवस्था को उलट दिया, और आर्थिक गुत्थी को और भी उलझा दिया। भार की तरह चीनी बाज़ारों में भी चीज़ों की क़ीमतों पर दुनिया की क़ीमतों का अ पड़ने लगा। इन सब कारणों ने लोगों के असन्तोष और मुसीबतों को और भी बढ़ा दिया और ताइपिंग के बलवे को बल पहुँचाया।

यूरोपीय शक्तियों की बढ़ती हुई गुस्ताख़ी और दस्तन्दाज़ी के इन दिनों में चीन की यही हालत थी। इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नहीं थी कि यूरोपीय लोगों की माँगों का मुक़ाबला करने में चीन का कुछ बस न चला। इन यूरोपीय शक्तियों ने और जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, जापान ने, चीन में ख़ास रियायतें और इलाक़े ऐंठने के लिए उसकी गड़बड़ और मुसीबतों से पूरा-पूरा फ़ायदा उठाया। वास्तव में चीन का भी भारत जैसा ही हाल होता, और वह भी किसी एक या ज़्यादा यूरोपीय शक्ति का या जापान का अधीन राज्य या साम्राज्य हो जाता, अगर इन शक्तियों में आपसी होड़ न होती और एक-दूसरे के लिए दिलों में जलन न होती।

उन्नीसवीं सदी में चीन की अर्थ-व्यवस्था का टूट जाना, ताइपिंग का बलवा, ईसाई मिशनरियों की करतूतों और विदेशी हमलों की इस आम हालत को बताने में मैं अपने असली क़िस्से से भटक गया हूँ। लेकिन घटनाओं की कहानी को समझदारी से जानने के लिए इन बातों के बारे में कुछ-न-कुछ जानना ज़रूरी है; क्योंकि इतिहास की घटनाएँ किसी चमत्कार की तरह अचानक नहीं हुआ करतीं। बहुत से कारणों के नतीजे से ही वे घटित होती हैं। लेकिन ये कारण अक्सर ज़ाहिर नहीं होते; वे घटनाओं की सतह के नीचे छिपे रहते हैं। चीन के मंचू-शासक

अभी तक इतने महान् और शक्तिशाली थे, भाग्य-चक्र के इस अचानक परि- न पर जरूर ही चकित रह गये होंगे। उन्होंने शायद यह नहीं देखा कि उनके न की खास वजह उनके ही अतीत में समाई हुई थी; उन्होंने पश्चिम की ोगिक प्रगति को और चीन की अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने वाले उसके सत्यानाशी जों को अच्छी तरह नहीं समझा। 'बर्बर' विदेशियों के अपने यहाँ जबर्दस्ती आने पर उन्हें बहुत गुस्सा आया। उस वक़्त के सम्राट् ने विदेशियों के इस आने का ज़िक्र करते हुए एक मजेदार पुराने चीनी मुहाविरे का इस्तेमाल या। उसने कहा कि मैं किसी आदमी को अपने बिस्तर के पास खर्राटे न लेने ा! हालाँकि प्राचीन ग्रंथों के ज्ञान और विनोद से मुसीबत के समय गम्भीर श्वास और खूब धीरज की शिक्षा मिलती थी, लेकिन विदेशियों को पीछे हटाने लिए वे काफ़ी नहीं थे।

नानकिंग की सुलह ने ब्रिटेन के लिए चीन के दरवाजे खोल दिये। लेकिन ह नहीं हो सकता था कि सारे मोटे-मोटे निवाले अकेला ब्रिटेन ही हड़प कर जाय। न्स और संयुक्त राज्य अमेरिका भी आ धमके और उन्होंने भी चीन के साथ ापारी सुलहनामे किये। चीन लाचार था और उसपर की जानेवाली यह जोर- बर्दस्ती उसके दिलमें विदेशियों के लिए कोई प्रेम और आदर पैदा न कर सकी। ने यहाँ इन 'बर्बरों' की मौजूदगी पर ही उसे बहुत गुस्सा था। इधर विदेशियों भूख बुझना भी अभी बहुत दूर की बात थी। चीन के शोषण की उनकी भूख ढ़ ही रही थी। ब्रिटेन फिर इसमें अगुआ बना।

विदेशियों के लिए यह बड़ा अच्छा मौक़ा था, क्योंकि चीन ताइपिंग के वे में उलझा होने के कारण कोई विरोध नहीं कर सकता था। इसलिए अब ज युद्ध का कोई बहाना ढूंढ़ने लगे। १८५६ ई० में कैंटन के चीनी वाइसराय एक जहाज़ के चीनी मल्लाहों को समुद्री डकैती के अपराध में गिरफ़्तार कर या। यह जहाज़ चीनियों का था और इस मामले से विदेशियों का कोई सरो- र न था। लेकिन हांगकांग सरकार के दिये हुए परवाने की वजह से उसपर टिश झण्डा फहराया हुआ था। इत्तफ़ाक़ की बात यह थी कि उस समय तक परवाने की मियाद भी ख़त्म हो चुकी थी। लेकिन फिर भी, नदी-किनारे मेमने और भेड़िये के क़िस्से की तरह, ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इसीको युद्ध का हाना बना लिया।

इंग्लैण्ड से चीन को फ़ौजें भेजी गईं। ठीक इन्हीं दिनों भारत में १८५७ ा विद्रोह शुरू हो गया, और इसलिए इन सब फ़ौजों को भारत भेज दिया गया। द्रोह के दबाये जाने तक चीन के युद्ध को इन्तज़ार करना पड़ा। १८५८ ई० में यह सरा चीन-युद्ध शुरू हुआ। इसी बीच फ़्रान्स ने भी इस युद्ध में शरीक होने का

एक बहाना ढूंढ़ निकाला; क्योंकि चीन में किसी जगह कोई फ़ान्सीसी मिशनरी मार डाला गया था। इस तरह अंग्रेज़ और फ़ान्सीसी चीनियों पर टूट पड़े, जो उस समय ताइपिंग के बलवे में उलझे हुए थे। ब्रिटिश और फ्रांसीसी सरकारों ने रूस और अमेरिका को भी इस युद्ध में शामिल होने को उकसाया, लेकिन वे राज़ी न हुए। मगर लूट में हिस्सा बँटाने को वे बिलकुल तैयार थे। असल कोई लड़ाई हुई ही नहीं, और इन चारों शक्तियों ने चीन के साथ नई सं करके ज़्यादा-से-ज़्यादा रियायतें ऐंठ लीं। विदेशी व्यापार के लिए और ज़्यादा बन्दरगाह खुल गये।

लेकिन चीन के इस दूसरे युद्ध का क़िस्सा अभी ख़त्म नहीं हुआ है। इस नाटक का अभी एक और अंक खेला जाना बाक़ी था, जिसका अन्त और भी ज़्यादा दुखदाई हुआ। जब सन्धियाँ की जाती हैं तो दस्तूर के मुताबिक़ उससे ताल्लुक़ रखनेवाली सरकारों को उन्हें पक्का या सही करना होता है। यह तय पाया गया कि एक वर्ष के अन्दर पेकिंग शहर में इन नई सन्धियों को पक्का कर दिया जाये। जब इसका समय आया तो रूसी राजदूत तो ख़ुश्की के रास्ते सीधा पेकिंग पहुँच गया। बाक़ी तीनों समुद्री-रास्ते से आये और उन्होंने अपनी नावों को पीहो नदी में होकर पेकिंग तक लाना चाहा। उन दिनों इस शहर को ताइपिंग के बलवाइयों से ख़तरा था और नदी पर क़िलेबन्दी की हुई थी। इसलिए चीन सरकार ने ब्रिटिश, फ़ान्स और अमेरिका के राजदूतों से नदी के रास्ते न आकर ज़रा उत्तर की तरफ़ होकर ख़ुश्की के रास्ते आने की प्रार्थना की। यह प्रार्थना कुछ बेजा न थी। अमेरिकी राजदूत तो इसपर राज़ी हो गया; लेकिन ब्रिटिश और फ़ान्सीसी राजदूत नहीं हुए। क़िलेबन्दी होते हुए भी उन्होंने ज़बर्दस्ती नदी में होकर आने की कोशिश की। इसपर चीनियों ने उनपर गोलियाँ चला दीं और भारी नुक़सान के साथ उन्हें वापस लौटने को मजबूर किया।

मग़रूर और मदान्ध सरकारें, जो अपने सफ़र का रास्ता बदलने की चीन-सरकार की प्रार्थना तक सुनने को तैयार न थीं, इसे बर्दाश्त न कर सकीं। बदला लेने के लिए और ज़्यादा फ़ौजें बुला भेजी गईं। १८६० ई० में उन्होंने पेकिंग के प्राचीन नगर पर धावा बोल दिया, और अपना बदला बर्बादी, लूट और नगर की सबसे ज़्यादा अद्भुत इमारत को जलाने के रूप में निकाला। यह इमारत शाही ग्रीष्म महल, यून-मिंग-यून थी, जो शयिन-लुंङ के शासन-काल में पूरी हुई थी। इस महल में साहित्य और कला के अनमोल रत्न भरे हुए थे, जो चीन की सबसे सुन्दर चीज़ें थीं। काँसे की बड़ी सुन्दर मूर्तियाँ, चीनी मिट्टी के अद्भुत बढ़िया बर्तन, दुर्लभ हस्तलिखित पुस्तकें, चित्र और हर तरह के विचित्र नमूने और हुनर के काम, जिनके लिए चीन एक हज़ार वर्ष से मशहूर था, इसमें रखे हुए थे। ज़ाहिर

र हूश अंग्रेज़ और फ़्रान्सीसी सिपाहियों ने इन बेशक़ीमती चीज़ों को लूटा और ई दिनों तक जलती रहनेवाली भयंकर होलियों में झोंककर ख़ाक कर दिया ! ी हालत में हज़ारों वर्षों की संस्कृति के धनी चीनियों ने अगर इस वहशीपन अपने दिलों में दर्द महसूस किया और इन तोड़-फोड़ करनेवालों को सिर्फ़ त्याएँ करनेवाले व बर्बाद करनेवाले जाहिल जंगली समझा तो इसमें क्या ज्जुब है ? इससे उन्हें हूणों, मंगोलों और पुराने ज़माने के दूसरे बहुत-से जंगली ाहकारों की फिर याद हो आई होगी।

लेकिन विदेशी 'बर्बरों' को इस बात की क्या परवाह थी कि चीनी उनके रे में क्या सोचते हैं। अपने जंगी-जहाज़ों और नये ढँग के लड़ाई के हथियारों बीच वे अपने को सुरक्षित समझते थे। अगर सैकड़ों वर्षों में जमा की गई बहु-ल्य और दुर्लभ चीजें नष्ट हो गईं, तो उन्हें इससे क्या मतलब था ? चीन की कला र संस्कृति की उन्हें परवाह ही क्या थी ? उनके शब्दों में तो—

"चाहे कुछ भी हो, हमारे पास बड़ी तोप है, और उनके पास नहीं है।"

: ११५ :

चीन पर मुसीबतें

२४ दिसम्बर, १९३२

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बताया था कि किस तरह १८६० ई० में अंग्रेज़ों और फ़्रान्सीसियों ने पेकिंग के अद्भुत ग्रीष्म-भवन को तहस-नहस कर दिया। कहा जाता है कि चीनियों ने सुलह के झण्डे को नहीं माना, इसलिए उसकी सज़ा के तौर पर यह किया गया था। यह सच हो सकता है कि कुछ चीनी फ़ौजें इस तरह के अपराध की दोषी रही हों, लेकिन अंग्रेज़ों और फ़्रान्सीसियों ने जान-बूझकर जो वहशीपन बताया, वह तो किसी की समझ में आ ही नहीं सकता। कुछ नादान सिपाहियों का यह काम नहीं था, बल्कि ज़िम्मेदार अफ़सरों ने ही यह सबकुछ करवाया था। ऐसी बातें क्यों होती हैं ? अंग्रेज़ और फ़्रान्सीसी सभ्य और सुसंस्कृत क़ौमें हैं, और कई बातों में आधुनिक सभ्यता की अगुआ हैं। और फिर भी ये लोग जो निजी जीवन में बड़े भले और दूसरों का खयाल रखनेवाले होते हैं, सार्वजनिक व्यवहार में और दूसरी क़ौमों के साथ लड़ाई में अपनी सारी सभ्यता और भलमनसाहत भूल जाते हैं। व्यक्तियों के आपसी व्यवहार में और राष्ट्रों के आपसी बर्ताव में एक बड़ा अजीब भेद मालूम होता है। बच्चों, लड़कों और लड़कियों को ज्यादा स्वार्थी न बनने, दूसरों का खयाल रखने और अच्छा बर्ताव करने की शिक्षा दी जाती है। हमारी सारी शिक्षा का इरादा हमें यही

सबक़ सिखाना होता है, और कुछ हद तक हम यह सीखते भी हैं। पर जब युद्ध आते हैं, तो हम अपना पुराना सबक़ भूल जाते हैं और हमारे भीतर छिपा हुआ जानवर बाहर आ जाता है। इस तरह भले आदमी जानवरों की तरह बर्ताव करने लगते हैं।

एक ही बिरादरी के दो राष्ट्र भी, जैसे जर्मनी और फ़ान्स जब एक-दूसरे से लड़ते है, तब भी ऐसा ही होता है। लेकिन जब जुदा-जुदा नस्लों के बीच लड़ाई होती है, एशिया और अफ़्रीका की नस्लों और क़ौमों के साथ यूरोपीय लोगों का मुक़ाबला होता है, तब हालत इससे भी बुरी हो जाती है। अलग-अलग नस्लें एक-दूसरी से परिचित नहीं होतीं, क्योंकि वे एक-दूसरी के लिए बन्द किताब की तरह होती हैं। और जहाँ अज्ञान है, वहाँ आपसी हमदर्दी नहीं होती; नस्लों की आपसी नफ़रत और दुश्मनी बढ़ती जाती हैं, और जब दो नस्लों के बीच लड़ाई छिड़ती है, तब वह सिर्फ़ राजनीतिक युद्ध नहीं होता, बल्कि उससे कहीं बदतर नस्लों का युद्ध बन जाता है। इससे किसी हद तक यह समझ में आ जाता है कि १८५७ ई० के भारतीय विद्रोह में जो दिल दहलानेवाली बातें हुईं, और एशिया व अफ़्रीका में हुकूमतें करनेवाली यूरोपीय शक्तियों ने जो जुल्म और वहशीपन किये, उनका क्या सबब था।

यह सब बहुत दुखभरा और बेहूदा नज़र आता है। लेकिन जहाँ एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र पर, एक क़ौम की दूसरी क़ौम पर और एक वर्ग की दूसरे वर्ग पर हुकूमत होती है, वहाँ बेचैनी, रगड़, और विद्रोह, और शोषित राष्ट्र, क़ौम या वर्ग का अपने शोषक से पीछा छुड़ाने की कोशिश, होना लाज़िमी है। आज के हमारे समाज का आधार यही एक दूसरे का शोषण है। इसीको पूंजीवाद कहते हैं और इसीसे साम्राज्यवाद पैदा हुआ।

उन्नीसवीं सदी के बड़े-बड़े कल-कारखानों ने और उद्योगों की उन्नति ने पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों को और संयुक्त राज्य अमेरिका को मालदार और शक्तिशाली बना दिया था। वे समझने लगे थे कि वे ही दुनिया के मालिक हैं, और दूसरी नस्लें उनसे बहुत हीन हैं और इसलिए उन्हें उनके लिए रास्ता छोड़ देना चाहिए। क़ुदरत की ताक़तों पर कुछ क़ाबू हो जाने की वजह से वे दूसरों के लिए मग़रूर और घमण्डी हो गये। वे इस बात को भूल गये कि सभ्य आदमी को क़ुदरत पर ही नहीं, बल्कि खुद अपने पर भी क़ाबू करना चाहिए। इसलिए हम देखते हैं कि इस उन्नीसवीं सदी में वे प्रगतिशील नस्लें, जो बहुत बातों में दूसरी नस्लों से आगे थीं, अक्सर ऐसे बर्ताव कर बैठती थीं, जो पिछड़े हुए जंगली आदमी को भी शरमा दें। इससे तुमको यूरोपीय नस्लों का एशिया और

फ्रीका में न सिर्फ़ पिछली सदी का, बल्कि आज का भी, वर्ताव समझने में शायद दद मिलेगी।

यह खयाल न कर बैठना कि मैं अपने लोगों से या दूसरी नस्लों से यूरोपीय लों की यह तुलना अपनी अच्छाई बताने की ग़रज़ से कर रहा हूँ। हर्गिज़ नहीं। म सबमें काले धब्बे मौजूद हैं; बल्कि हमारे कुछ धब्बे तो काफ़ी बुरे हैं; वरना म जितने नीचे गिर गये हैं, उतने न गिरते।

अब हम चीन वापस चलेंगे। ग्रीष्म-महल को नष्ट करके अंग्रेज़ और न्सीसी अपनी ज़बर्दस्त ताक़त जतला चुके थे। इसके बाद उन्होंने चीन को पुरानी न्धियों को पक्की करने के लिए मजबूर किया और उससे नई-नई रियायतें ठ लीं। इन सन्धियों के मुताबिक़ चीन-सरकार को शंघाई में विदेशी अफ़सरों की मातहती में अपना एक तटकर विभाग बनाना पड़ा। इसका नाम रक्खा गया इम्पीरियल मैरिटाइम कस्टम्स' यानी शाही समुद्री तटकर।

इस बीच ताइपिंग का बलवा, जिसने चीन को कमज़ोर करके विदेशी ताक़तों को पैर फैलाने का मौक़ा दिया था, चल ही रहा था। आख़िरकार १८६४ ई० में चीनी गवर्नर ली-हुंङ-चांङ ने, जो चीन का एक प्रमुख राजनीतिज्ञ हो गया है, इसको पूरी तरह दबा दिया।

जब इंग्लैण्ड और फ़्रान्स चीन पर इस तरह आतंक जमाकर उससे ख़ास अधिकार और रियायतें ऐंठ रहे थे, उत्तर में रूस ने बिना ज़्यादा ख़ून-ख़राबी के ही एक मार्के की कामयाबी हासिल कर ली। कुछ ही वर्ष पहले क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा जमाने के भूखे रूस ने यूरोप में तुर्की पर हमला किया था। इंग्लैण्ड और फ़्रान्स दोनों ही रूस की बढ़ती हुई ताक़त से डरते थे, इसलिए वे तुर्कों से जा मिले और १८५४-५६ ई० को क्रीमियन युद्ध में उन्होंने रूस को हरा दिया। पश्चिम में हार खाकर रूस ने पूर्व पर नज़र डालनी शुरू की और उसे बड़ी कामयाबी मिली। बिना लड़ाई के उपायों से चीन को फुसलाया गया कि वह ब्लादीवोस्तोक के शहर व बन्दरगाह को समुद्र से लगे हुए उत्तर-पूर्वी प्रान्त समेत रूस के हवाले कर दे। रूस की इस कामयाबी की नामवरी एक नौजवान रूसी अफ़सर मुरावीफ़ को है। इस तरह तीन साल के युद्ध और पागलपन भरी बर्बादी के बाद भी इंग्लैण्ड और फ़्रान्स जितना फ़ायदा न उठा सके, उससे कहीं बहुत ज़्यादा रूस ने दोस्ताना तरीक़ों से हासिल कर लिया।

१८६० ई० में हालत इस तरह की थी। मंचूवंश का महान् चीनी साम्राज्य, जिसका फैलाव और दबदबा अठारहवीं सदी के अन्त तक लगभग आधे एशिया पर छा गया था, अब दीन-हीन हो गया था। सुदूर यूरोप की पश्चिमी शक्तियों ने उसे हरा दिया था, नीचा दिखा दिया था। दूसरे अन्दरूनी झगड़े-फ़िसादों ने

साम्राज्य को क़रीब-क़रीब उलट दिया था। इन सब बातों ने चीन को जड़ से हिला दिया। ज़ाहिर था कि हालत अच्छी नहीं थी, इसलिए नई हालतों का और विदेशी खतरे का सामना करने के लिए देश के दुबारा संगठन का कुछ प्रयत्न किया गया। इसलिए १८६० ई० के वर्ष को, जबकि चीन ने विदेशियों के हमलों का मुक़ाबिला करने की तैयारी की, नये युग की शुरुआत समझनी चाहिए। चीन और पड़ौसी जापान भी इस समय इसी तरह की तैयारी में लगा हुआ था। इसलिए यह भी उसके लिए मिसाल बन गया। चीन की वनिस्बत जापान को कहीं ज़्यादा सफलता मिली, लेकिन कुछ देर के लिए चीन भी विदेशी शक्तियों को रोके रहा।

चीन के एक हमदर्द दोस्त बर्लिङ्गेम नामक अमेरिका-निवासी के साथ एक चीनी प्रतिनिधि-मण्डल सन्धिवाले राष्ट्रों के यहाँ भेजा गया और इसने चीन के लिए पहले से कुछ अच्छी शर्तें हासिल करने में सफलता हासिल की। १८६८ ई० में चीन और अमेरिका के वीच एक नई सन्धि हुई, और इसकी दिलचस्प वात यह है कि इसमें चीन सरकार ने संयुक्त राज्य अमेरिका पर मेहरबानी और रियायत के तौर पर अपने यहाँ के मजदूरों को अमेरिका ले जाया जाना मंजूर कर लिया। संयुक्त राज्य अमेरिका अपने पश्चिमी प्रशान्त राज्यों को, खासकर कैलिफ़ोर्निया को वढ़ाने में लगा हुआ था और वहाँ मज़दूरों की बहुत कमी थी। इसलिए उसने चीनी मज़दूरों को अपने यहाँ मँगवाया। लेकिन यह एक नये झगड़े का सबब वन गया। अमेरिकी लोग सस्ते चीनी मजदूरों का विरोध करने लगे, इससे दोनों सरकारों के वीच तनातनी शुरू हो गई। बाद में अमेरिकी सरकार ने चीनी मज़दूरों का आना बन्द कर दिया। इस अपमानजनक वर्ताव पर चीनी जनता में बहुत नाराज़ी फैली और उन्होंने अमेरिकी माल का बायकाट कर दिया। लेकिन यह सब एक लम्बा क़िस्सा है, जो हमें वीसवीं सदी में पहुँचा देता है। हमें उसमें आने की ज़रूरत नहीं।

ताइपिंग का वलवा अभी दव भी न पाया था कि मंचू-शासकों के ख़िलाफ़ एक और विद्रोह उठ खड़ा हुआ। यह ख़ास चीन में नहीं, वल्कि सुदूर पश्चिम में, एशिया के बीच में, तुर्किस्तान में हुआ था। यहाँ की ज़्यादातर आबादी मुसलमानों की थी, इसलिए १८६३ ई० में यहाँ के मुस्लिम क़बीलों ने, जिनका नेता याक़ूबबेग था, विद्रोह करके चीनी अधिकारियों को निकाल बाहर किया। यह मुक़ामी विद्रोह दो कारणों से हमारे लिए दिलचस्प है। रूस ने चीन का कुछ इलाका हड़प करके इससे कुछ फ़ायदा उठाने की कोशिश की। वास्तव में जब कभी चीन मुसीबत में फँसा होता तभी यूरोपीय शक्तियों की यही खूब सबी-सवाई चालबाज़ी होती थी। लेकिन, यह देखकर सबको बड़ा ताज्जुब हुआ कि इस बार चीन ने रूस की कार्रवाई को मानने से इन्कार कर दिया और आख़िर

र हड़प की हुई ज़मीन उगलवा ली। इसकी वजह थी चीनी सेनापति त्सो-ङ-तांङ का मध्य-एशिया में याक़ूबबेग के ख़िलाफ़ अनोखा मोर्चा। इस सेनापति बड़े इतमीनान के साथ मामले को शुरू किया। बाग़ियों तक पहुँचने के पहले साल-पर-साल बिताता हुआ, धीरे-धीरे अपनी फ़ौज आगे बढ़ाता रहा। दो र तो उसने अपनी फ़ौज को इतने दिनों तक एक जगह ठहराये रक्खा कि उसने पने खाने के लिए अनाज बोकर फ़सल भी काट ली! फ़ौज के लिए रसद की मस्या हमेशा कठिन रहती है, और गोबी के रेगिस्तान को पार करते वक़्त तो ह भयानक हो गई होगी। इसलिए सेनापति त्सो ने इसे निराले ढँग से हल कर या। इसके बाद उसने याक़ूबबेग को हरा दिया और विद्रोह का अन्त कर या। कहा जाता है कि काशगर, तुरफ़ान और यारक़न्द में उसकी चढ़ाई यानक और फ़ौजी लिहाज़ से अद्‍भुत है।

मध्य-एशिया में रूस के साथ सन्तोष के लायक़ फ़ैसला कर लेने के बाद नी सरकार को जल्दी ही अपने दूर तक फैले हुए, लेकिन टूक-टूक होनेवाले ज्य के दूसरे हिस्से में झगड़े का सामना करना पड़ा। यह झगड़ा चीन की तहत रियासत अनाम में हुआ। फ़्रान्स का इस पर बहुत दिनों से दाँत था र चीन और फ़्रान्स के बीच लड़ाई छिड़ गई। इस बार फिर सबको ताज्जुब आ कि चीन ने अच्छा लोहा लिया और फ़्रान्स से ज़रा भी नहीं दबा। १८८५ ० में सन्तोष के लायक़ सन्धि हो गई।

चीन में इस नई मज़बूती के चिह्नों से साम्राज्यवादी शक्तियों पर गहरी प पड़ी। ऐसा मालूम होने लगा कि चीन अपनी १८६० ई० और इसके पहले ी कमज़ोरी को दूर करके पनप रहा था। सुधारों की चर्चा चली और बहुत-से ग यह समझने लगे कि चीन अपनी नाज़ुक हालत को पार कर गया है। इसी रण, १८८६ ई० में इंग्लैण्ड ने बरमा को अपने साम्राज्य में मिलाते वक़्त चीन ो हर दसवें साल दस्तूर के मुताबिक़ ख़िराज भेजने का वादा कर लिया।

लेकिन चीन की नाज़ुक हालत सुधरने में अभी बहुत कसर थी। अभी सकी क़िस्मत में बहुत बेइज़्ज़ती, मुसीबतें और टूट-फूट बदी थीं। उसके अन्दर ी ख़राबी सिर्फ़ उसकी फ़ौज या जंगी बेड़े की कमज़ोरी नहीं थी, बल्कि कोई त गहरी चीज़ थी। उसका सारा सामाजिक व आर्थिक ढाँचा चूर-चूर हो रहा । मैं बतला चुका हूँ कि उन्नीसवीं सदी के शुरू में, जब मंचू-शासकों के ख़िलाफ़ त समितियाँ बन रही थीं, चीन की हालत बहुत ख़राब थी। विदेशी व्यापार ने र उद्योगोंवाले देशों के सम्पर्क के असर ने हालत को और बिगाड़ दिया था। ८६० ई० के बाद चीन में जो मज़बूती दिखाई दी, उसके पीछे असलियत कुछ हीं थी। कुछ उत्साही अफ़सरों ने, ख़ासकर ली-हुंङ-चांङ ने, इधर-उधर कुछ

मुक़ामी सुधार किये। लेकिन ये सुधार न तो समस्या की जड़ तक पहुंच सके, न चीन को कमज़ोर बनानेवाले रोग का इलाज ही कर सके।

इन वर्षों में चीन में जो ऊपरी मज़बूती दिखाई दी, उसकी खास व यह थी कि शासन की लगाम एक ज़ोरदार शासक के हाथ में थी। यह थी ए अनोखी महिला, सम्राज्ञी राजमाता त्ज़ू-सी। जिस समय शासन की बागडो उसके हाथों में आई, उस समय उसकी उम्र सिर्फ़ २६ साल की थी, क्योंकि ना के लिए सम्राट् उसका दूध-मुंहा पुत्र था। सैंतालीस वर्ष तक उसने बड़ी मर्दान के साथ चीन पर शासन किया। उसने चुन-चुनकर मुस्तैद अफ़सर मुक़र्रर कि और उनपर अपनी मर्दानगी की कुछ छाप लगा दी। इन बातों की व इस महि की ही वजह से चीन ने इतनी बहादुराना मज़बूती दिखाई, जितनी वह बहुत से नहीं दिखा सका था।

लेकिन इसी अर्से में सँकड़े समुद्र के उस पार जापान चमत्कार दिखा र था और ऐसा बदल रहा था कि बे-पहचान हुआ जा रहा था। इसलिए आओ अ हम जापान चलें।

: ११६ :

जापान तेज़ी से आगे दौड़ता है

२७ दिसम्बर, १९३

जापान का हाल लिखे मुझे बहुत दिन हो गये हैं। पाँच महीने हुए मैंने तुम्हें (पत्र सं० ८१ में) बताया था कि सत्रहवीं सदी में इस देश ने कैसे विचित्र ढंग से अपने-आपको चारों तरफ़ से बन्द कर लिया था। १६४१ ई० से लेकर २०० वर्षों से ज्यादा तक, जापानी लोग बाक़ी दुनिया से बिलकुल अलग होकर रहे। इन २०० वर्षों ने यूरोप, एशिया और अमेरिका और अफ़्रीका तक में बड़े-बड़े परिवर्तन देखे। इस ज़माने में जो हलचल पैदा करनेवाली घटनाएँ हुईं, उनमें से कुछ का हाल मैं तुम्हें बता ही चुका हूं। लेकिन इस एकान्तवासी राष्ट्र में इन घटनाओं की कोई खबर नहीं पहुँची; जापान की पुरातन-युगी सामती हवा को छेड़नेवाला कोई झोंका बाहरी दुनिया से न आया। ऐसा मालूम होता था मानो समय और परिवर्तन की चाल रोक दी गई हो और सत्रहवीं सदी बीच में ही बन्दी बना दी गई हो। क्योंकि, हालांकि काल का पहिया घूम रहा था, लेकिन तसवीर वहीं ठहरी हुई मालूम देती थी। यह तसवीर थी सामन्ती जापान की, जिसमें ज़मींदार-व के हाथों में सत्ता थी। सम्राट् के हाथ में कोई अधिकार नहीं था, असली शासक शोगुन था, जो बड़े फ़िरक़े का मुखिया होता था। भारत के क्षत्रियों की तरह य

जापान का उत्कर्ष

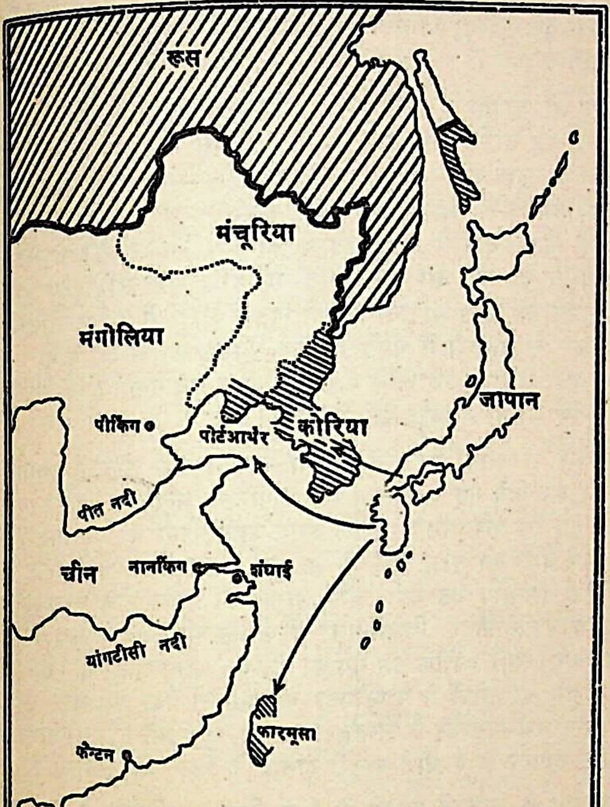
रूस
मंचूरिया
मंगोलिया
पीकिंग
पोर्टआर्थर
कोरिया
जापान
पीत नदी
चीन
नानकिंग
शंघाई
यांगटीसी नदी
फारमूसा
कैन्टन
चीन-युद्ध (१८९५) और रूसी युद्ध (१९०५) के बाद जापान के अधिकार में प्रदेश ▨

भी समूराई नाम की एक सैनिक जाति थी। सामन्ती सरदार और समूराई ही शासक-वर्ग थे। सारे सरदार और फ़िरक़े अक्सर आपस में लड़ते रहते थे। किसानों और दूसरे लोगों को सताने में और उनका शोषण करने में ये सब मिल एक हो जाते थे।

फिर भी जापान में शान्ति थी। लम्बे गृह-युद्धों के बाद, जिनसे देश हो गया था, वह शान्ति बड़ी सुखदाई थी। आपस में हमेशा लड़नेवाले सरदारों में से कुछ को—दाइम्यो सरदारों को—पूरी तरह दबा दिया गृह-युद्ध की तबाही को जापान धीरे-धीरे दुरुस्त करने लगा। लोगों का अब उद्योग, कला, साहित्य और मज़हब की ओर ज़्यादा खिचने लगा। मज़हब दबाया जा चुका था; अब बौद्ध-धर्म का दुबारा ज़ोर हुआ और शिन्तो-मत का, जो ख़ास जापानी ढंग की पितरों की पूजा है। सामाजिक और सदाचार के मामलों में चीनी ऋषि कन्फ़्यूशस को आदर्श माना जाने दरबार के और अमीर-सरदारों के मंडलों में कला ख़ूब पनपी। कई बातों में युगों के यूरोप की-सी तसवीर सामने आ गई।

लेकिन परिवर्तनों को रोके रखना आसान नहीं होता। हालाँकि लगाव बन्द कर दिये गए थे, लेकिन ख़ुद जापान के अन्दर ही परिवर्तन का रहा था; हाँ, इस परिवर्तन की चाल उससे बहुत धीमी थी, जो बाहरी होती। दूसरे देशों की तरह यहाँ भी सामन्ती व्यवस्था आर्थिक तबाही की जाने लगी। असन्तोष बढ़ गया, और शासन का प्रमुख होने के सबब से इसका शिकार होने लगा। शिन्तो-पूजा की उन्नति की वजह से अब जनता का आदर करने लगी, क्योंकि उसे सूर्य का वंश-धर माना जाता था। इस तरह और फैले हुए असन्तोषों से राष्ट्रीयता की भावना पैदा हुई और यही जिसकी नींव अर्थ-व्यवस्था के खण्डहरों पर थी, लाज़िमी तौर पर परिवर्तन वाली और जापान के दरवाज़े बाहरी दुनिया के लिए खोलनेवाली बन जा

जापान के दरवाज़े खोलने के लिए विदेशी शक्तियों ने बहुतेरी की थीं, लेकिन वे सब विफल रहीं। उन्नीसवीं सदी के लगभग बीच में संयुक्त अमेरिका इसमें ख़ासतौर से दिलचस्पी लेने लगा। वह इन दिनों पश्चिम में फ़ोर्निया तक फैल गया था, और सैनफ़्रान्सिस्को एक बड़ा बन्दरगाह बनता जा था। चीन से जो नया व्यापार खुला था वह बड़ा आकर्षक था, मगर प्रशान्त सागर को पार करना एक लम्बी यात्रा थी। इसलिए अमेरिकावाले चाहते थे इस लम्बी यात्रा में किसी जापानी बन्दरगाह पर ठहरकर रसद ले सकें। वालों ने बार-बार जापान के दरवाज़े खुलवाने की जो कोशिशें कीं, उनकी वजह थी।

१८५३ ई० में अमेरिकी जहाज़ों का एक दस्ता, अमेरिका के राष्ट्रपतिका लेकर जापान आया। जापान ने भाप से चलनेवाले इन्हीं जहाज़ों को सबसे देखा। साल भर बाद शोगुन दो बन्दरगाह खोलने के लिए राज़ी हो गया। अंग्रेज़ों, रूसियों और डचों ने यह सुना तो उन्होंने भी आकर शोगुन से इसी तरह चयां कीं। इस तरह २१३ वर्ष बाद जापान के दरवाज़े फिर बाहरी दुनिया लिए खुल गये।

लेकिन झगड़ा खड़ा होनेवाला था। विदेशी शक्तियों के आगे शोगुन ने ने-आपको-सम्राट् ज़ाहिर किया था। पर अब वह लोकप्रिय नहीं रहा था और के और उसकी विदेशी सन्धियों के खिलाफ़ ज़बर्दस्त खलबली मच गई। कुछ शी मारे भी गये और इसका नतीजा यह हुआ कि विदेशी शक्तियों ने जहाज़ी ला कर दिया। हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती गई; अन्त में, १८६७ ई० शोगुन को इस्तीफ़ा देने के लिए मजबूर किया गया। इस तरह तोकुगावा गुनशाही का अन्त हुआ, जो तुम्हें याद हो या न हो, १६०३ ई० में आयेयासू से हुई थी। यही नहीं, शोगुनशाही की सारी प्रथा ही, जो ७०० वर्षों से चली आ थी, खत्म हो गई।

नये सम्राट् को अब अपनी असली सत्ता मिल गई। मुत्सीहितो के नाम से समय राजगद्दी पर बैठनेवाला यह सम्राट् सिर्फ़ चौदह वर्ष का लड़का था। ने १८६७ से १९१२ ई० तक, यानी पैंतालीस वर्ष, राज किया। यह ज़माना जी', यानी प्रबुद्ध शासन का युग कहलाता है। इसी सम्राट् के शासन-काल में पान ने तेजी से प्रगति की और वह पश्चिमी देशों की नक़ल करके बहुत बातों उनकी बराबरी करने लगा। एक पीढ़ी में पैदा किया हुआ यह परिवर्तन निराला और इतिहास में बे-मिसाल है। जापान एक बड़ा औद्योगिक देश हो गया और चमी राष्ट्रों के ढँग का साम्राज्यशाही व लुटेरा राष्ट्र बन गया। प्रगति के तमाम ण उसमें मौजूद थे। उद्योग-धन्धों में तो वह अपने उस्तादों से भी आगे बढ़ ा। उसकी आबादी तेजी से बढ़ने लगी। उसके जहाज़ दुनिया का चक्कर लगाने । वह एक बड़ी शक्ति बन गया, जिसकी आवाज़ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में इज्ज़त साथ सुनी जाने लगी। लेकिन फिर भी यह ज़बर्दस्त परिवर्तन राष्ट्र के दिल में दा गहरा न बैठ सका। परिवर्तनों को सिर्फ़ ऊपरी कहना भी ग़लत होगा, क्योंकि इससे ज्यादा गहरे थे। लेकिन शासकों का नज़रिया वही सामन्तशाही बना रहा; इस सामन्ती खोल के साथ बुनियादी सुधारों का मेल मिलाना चाहते थे। बहुत तक वे कामयाब-से भी नज़र आते थे।

जापान में इन महान परिवर्तनों के लिए जो लोग ज़िम्मेदार थे, वे अमीर-दार-वर्ग के कुछ दूरदर्शी लोग थे, जो 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञ' कहलाते थे। जब

जापान में विदेशी-विरोधी दंगों के बाद विदेशी जंगी-जहाज़ों ने बम बरसाये। जापानियों को अपनी बेकसी का भान हुआ और वे अपमान का कड़वा घूंट पी रह गये। लेकिन अपनी क़िस्मत को कोसने और सिर पीटने के बजाय उन्होंने हार और बेइज़्ज़ती से सबक़ सीखने का फ़ैसला किया। 'बुजुर्ग राजनीतिज्ञों' ने सु का एक कार्यक्रम बनाया और उसपर अमल किया।

पुरानी सामन्ती दाइम्यो-प्रथा उठा दी गई। सम्राट् की राजधानी को से बदलकर जेदो कर दी गई, जिसका नया नाम तोक्यो (टोकियो) रक्खा ग एक नये संविधान की घोषणा की गई, जिसमें पार्लमेण्ट की दो सभाओं की यो थी। नीचेवाली सभा का चुनाव होता था; ऊपरवाली के सदस्य नामज़द होते शिक्षा, कानून, उद्योग, वग़ैरा, क़रीब-क़रीब हरेक चीज़ में परिवर्तन हुए। खाने बने और आधुनिक ढंग की थल और जल-सेनाएँ तैयार की गईं। विदे विशेषज्ञ लोग बुलवाये गए और जापानी विद्यार्थियों को यूरोप व अमेरिका गया—जैसा भारतीय लोग पहले किया करते थे, उस तरह बैरिस्टर वग़ैरा के लिए नहीं, बल्कि वैज्ञानिक और तकनीकी विशेषज्ञ बनने के लिए।

यह सब 'बुज़ुर्ग' राजनीतिज्ञों ने सम्राट् के नाम पर किया, जो नई पार्लमेंट और दूसरी बातों के बावजूद क़ानून के लिहाज़ से जापानी साम्राज्य का एकाकी राजा बना रहा। साथ-ही-साथ जैसे-जैसे इन सुधारों की प्रगति होती जाती थी, सम्राट्-पूजा का पंथ भी फैलता जाता था। यह भी एक अजीब गठजोड़ा था— तरफ़ तो कारखाने, आधुनिक उद्योग और कुछ-कुछ पार्लमेण्टी ढंग का और दूसरी तरफ़ दैवी सम्राट् की मध्यकालीन पूजा। यह समझना मुश्किल है कि ये दोनों बातें, थोड़े समय के लिए भी, क्योंकर साथ-साथ चल सकती थीं। फिर भी दोनों साथ-साथ चलीं और आज दिन भी अलग नहीं हुई हैं। सम्राट् के लिए की इस भावना का 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञों' ने दो तरह से फ़ायदा उठाया। उन्होंने सुधारों को उन कट्टरपंथी और सामन्ती वर्गों पर लादा, जो वैसे तो उनका विरोध करते लेकिन सम्राट् के नाम की धाक के आगे ढीले पड़ गये। दूसरी तरफ़ उन्होंने उन ज़्यादा प्रगतिशील तत्वों को रोके रक्खा, जो तेज़ी से आगे बढ़कर सब तरह सामन्तशाही से पिंड छुड़ाना चाहते थे।

उन्नीसवीं सदी के इस पिछले भाग में चीन और जापान का यह फ़र्क़ ग़ौर करने लायक़ है। जापान तेज़ी के साथ पश्चिमी साँचे में ढलता जा रहा था और चीन जैसा कि हम देख चुके हैं और आगे भी देखेंगे, बहुत ही अजीब कठिनाइयों में उलझ गया। ऐसा क्यों हुआ? चीन देश के विस्तार, भारी आबादी और क्षेत्रफल परिवर्तन होना कठिन बना दिया। भारत भी इसी भारी आबादी और क्षेत्रफल शिकार है, जो स्पष्ट रूप में शक्ति के स्रोत मालूम होते हैं। चीन का शासन

काफ़ी केन्द्रित नहीं था, यानी देश के हरेक हिस्से को बहुत हद तक स्थानीय शासन का अधिकार था। इसलिए केन्द्रीय सरकार के लिए देश के इन हिस्सों में दस्तन्दाज़ी करके जापान की तरह बड़े परिवर्तन करना आसान न था। एक बात यह भी है कि चीन की महान् सभ्यता हज़ारों वर्षों में बनी थी और उसके जीवन से ऐसी गुंथी हुई थी कि उसे सहज ही नहीं त्यागा जा सकता था। हम भारत और चीन की फिर इस बात से तुलना कर सकते हैं। दूसरी तरफ़ जापान ने चीन की सभ्यता की नक़ल की थी, इसलिए वह ज़्यादा आसानी से उसे छोड़कर दूसरी को अपना सकता था। चीन की कठिनाइयों का एक और कारण था यूरोपीय शक्तियों का लगातार दख़ल। चीन एक लम्बा-चौड़ा महादेश था। जापान के टापुओं की तरह वह अपने-आपको बन्द करके नहीं रख सकता था। उत्तर और उत्तर-पश्चिम में इसकी सीमा रूस से लगती थी, दक्षिण-पश्चिम में ब्रिटिश साम्राज्य था और दक्षिण में फ़्रान्स बढ़ा चला आ रहा था। ये यूरोपीय शक्तियाँ चीन से बड़ी-बड़ी रियायतें ऐंठने में कामयाब हो गई थीं और इन्होंने अपने बड़े व्यापारी हित बढ़ा लिये थे। इन हितों की वजह से उन्हें दस्तन्दाज़ी करने के बहुतेरे बहाने मिल जाते थे।

इस तरह जिस समय चीन अन्धे की तरह लड़खड़ा रहा था और अपने-आपको नई हालतों के अनुकूल बनाने की बेकार कोशिश कर रहा था, तब जापान तीर की तरह आगे बढ़ा जा रहा था। फिर भी एक और अजीब बात ध्यान देने लायक़ है। जापान ने पश्चिम की मशीनों और उद्योगों को तो अपना लिया, और आधुनिक थल व जल सेना बनाकर उन्नत औद्योगिक राष्ट्र का जामा पहन लिया। लेकिन यूरोप के नये विचारों और विचार-धाराओं को, व्यक्तिगत व सामाजिक आज़ादी की भावना को, और जीवन और समाज के बारे में वैज्ञानिक नज़रिये को, उसने आसानी से नहीं अपनाया। भीतर से वह सामन्ती और एकसत्तावादी बना रहा; उस विचित्र सम्राट्-पूजा से बँधा रहा, जिसे संसार के दूसरे देश कभी की छोड़ चुके थे। जापानियों की जोशीली और जान-निछावर करनेवाली देशभक्ति का सम्राट् के लिए वफ़ादारी से गहरा नाता था। राष्ट्रीयता और सम्राट्-पूजा का पंथ, दोनों साथ-साथ चल रहे थे। दूसरी तरफ़, चीन ने मशीनों को और उद्योगवाद को झटपट नहीं अपनाया। पर चीनियों ने, या कम-से-कम आधुनिक चीन ने, पश्चिमी विचारों व विचार-धाराओं का और वैज्ञानिक नज़रिये का स्वागत किया। ये विचार उन लोगों के अपने विचारों से ज़्यादा दूर न थे। इस तरह हम देखते हैं कि हालाँकि आधुनिक चीन पश्चिमी सभ्यता की भावना में ज़्यादा घुल-मिल गया, पर जापान उससे आगे इसलिए बढ़ गया कि उसने भावना की परवाह न करके पश्चिमी सभ्यता का कवच पहन लिया। और चूँकि जापान यह कवच पहनकर मज़बूत बन गया था, इसलिए तमाम यूरोप ने उसकी सराहना की और उसे अपना हमजोली बना लिया। लेकिन चीन कमज़ोर था, उसके पास मशीन-गनें वग़ैरा नहीं थीं। इसलिए यूरोप-

वालों ने उसका अपमान किया, उसे उपदेश सुनाया और उसका शोषण किया; उसके विचारों की और विचारधाराओं की तनिक भी परवाह न की।

जापान न सिर्फ़ उद्योगों के तरीक़ों में ही, बल्कि साम्राज्यशाही हमलाव में भी यूरोप के क़दमों पर चला। वह यूरोपीय शक्तियों की लीक पर चलनेवाला चेला था; बल्कि उससे भी कुछ ज्यादा। उसने तो अक्सर उनके भी कान काट लिये। उसकी असली मुश्किल यही थी कि नया उद्योगवाद पुरानी सामन्तशाही के सा मेल नहीं खाता था। दो घोड़ों पर सवारी करने की कोशिश में वह आर्थिक संतुल क़ायम न रख सका। टैक्सों के भारी बोझ के नीचे लोगों के असन्तोष की आवा सुनाई देने लगी। अन्दरूनी झगड़ा रोकने के लिए उसने वही पुरानी चाल चली— युद्धों व विदेशों में साम्राज्यशाही कारनामों के ज़रिये लोगों का ध्यान बँटा दिया। उसके नये उद्योगों ने उसे कच्चे माल और बाज़ारों के लिए दूसरे देशों पर नज़ डालने के लिए मजबूर किया, जिस तरह कि औद्योगिक क्रान्ति ने इंग्लैण्ड को औ बाद में पश्चिमी यूरोप की दूसरी शक्तियों को बाहर नज़र डालने व देश जीत के लिए मजबूर किया था। उसका उत्पादन बढ़ा और आबादी की भी तेजी साथ बढ़ोतरी हुई। खाने की चीज़ों और कच्चे माल की दिन-पर-दिन ज्यादा ज़रूर होने लगी। ये सब उसे मिलें कहाँ से? उसके सबसे नज़दीकी पड़ौसी थे चीन औ कोरिया। चीन में व्यापार की तो गुंजाइश थी, पर वह बहुत घना आबाद देश था। अलबत्ता, मंचूरिया में, जो चीनी साम्राज्य के उत्तर-पूर्वी प्रान्तों का इलाक़ा था, विकास के लिए, और उपनिवेश क़ायम करने के लिए, काफ़ी गुंजायश थी। इसलि जापान की भूखी नज़र कोरिया और मंचूरिया पर पड़ी।

इधर पश्चिमी शक्तियाँ चीन से तरह-तरह के खास अधिकार लेती जा रही थीं, बल्कि ज़मीन तक हड़प करने की कोशिश में थीं। इसे भी जापान ने चिन्त की नज़र से देखा। उसे यह चीज़ बिलकुल पसन्द न आई। अगर ये शक्तियाँ उसके ठीक सामने महाद्वीप में जम जायें तो उसकी सुरक्षा ख़तरे में पड़ सकती थी और कम- से-कम महाद्वीप पर उसकी उन्नति में तो बाधा पड़ ही सकती थी।

बाहरी दुनिया के लिए दरवाज़े खोले अभी बीस वर्ष भी न हुए थे कि जापान ने चीन की तरफ़ हमलावरी शुरू कर दी। कुछ मछुओं के बारे में एक छोटा-सा झगड़ा खड़ा हो गया। इन मछुओं का जहाज़ नष्ट हो गया था और वे मार डाले गये थे। बस, जापान को चीन से हर्जाना माँगने का मौक़ा मिल गया। पहले तो चीन ने इन्कार किया, इसपर उसे लड़ाई की धमकी दी गई। और चूंकि वह अनाम में फ़्रान्स के साथ युद्ध में उलझा हुआ था, उसे जापान के आगे झुकना पड़ा। यह १८७४ ई० की बात है। जापान इस विजय से फूल उठा, और उसी दम इसी क़िस्म की और जीतें हासिल करने के लिए निगाह दौड़ाने लगा। कोरिया को देखकर उसके मुंह

ानी आ रहा था। बस, एक तुच्छ बहाने को लेकर जापान ने झगड़ा खड़ा कर दिया र उस पर हमला बोल दिया, और उसे कुछ रक़म देने के लिए व जापानी व्यापार लिए कुछ बन्दरगाहें खोलने के लिए मजबूर किया।

कोरिया बहुत अर्से से चीन का एक तावेदार राज्य था। उसने चीन का ारा माँगा, पर चीन मदद देने में असमर्थ था। जापान कहीं अपना प्रभाव ुत ज्यादा न बढ़ा ले, इस डर से चीनी सरकार ने कोरिया को सलाह दी कि फ़िल- ल तो जापान के आगे झुक जाय, लेकिन साथ ही जापान को मात देने के लिए ोपीय शक्तियों से भी सन्धियाँ कर ले। इस तरह कोरिया का फाटक दुनिया लिए १८८२ ई० में खुल गया। लेकिन जापान को इतने से ही तसल्ली होनेवाली थी। चीन की कठिनाइयों का फ़ायदा उठाकर, उसने फिर कोरिया का सवाल ड़ा किया और कोरिया को दोनों के शामिल इन्तज़ामवाली रियासत बनाने के ए चीन को मजबूर कर दिया। इसका मतलब यह हुआ कि बेचारा कोरिया न और जापान दोनों का तावेदार राज्य बन गया। यह हालत तो तीनों के लिए ुत ही असन्तोष का कारण थी। झगड़े की सूरत लाज़िमी थी। और जापान तो ाड़ा करना ही चाहता था। बस, उसने १८९४ ई० में चीन को युद्ध के लिए जबूर कर दिया।

१८९४-९५ ई० का चीन-जापान-युद्ध जापान के लिए तो एक खिलवाड़- ा था। उसकी थल व जल सेनाएँ बिलकुल आधुनिक ढँग की थीं। चीनी लोग मी तक पुराने ढँग के और ढीले-ढाले थे। जापान की हर तरफ़ विजय हुई और सने चीन को ऐसी सन्धि करने के लिए मजबूर किया, जिसके मुताबिक़ वह भी चीन सन्धि करनेवाली पश्चिमी शक्तियों का बराबरीवाला बन गया। कोरिया को ाधीन घोषित कर दिया गया, पर यह तो जापानी क़ब्ज़े का सिर्फ़ एक पर्दा था। चूरिया में पोर्ट-आर्थर के साथ लाओतुंग प्रायद्वीप, और साथ ही फारमूसा और ई दूसरे टापू भी, चीन को जापान की नज़र करने पड़े।

छोटे-से जापान के हाथों चीन की इस कड़ी पराजय ने दुनिया को अचम्भे ं डाल दिया। सुदूर-पूर्व में एक शक्तिशाली देश के इस उठान को देखकर पश्चिमी क्तियों को तो नाखुश होना ही था। चीन-जापान युद्ध के दौरान ही, जिस वक़्त ापान जीतता हुआ मालूम होता था, इन शक्तियों ने उसे आगाह कर दिया था कि गर उसने चीन के महादेश में किसी बन्दरगाह पर क़ब्ज़ा किया तो वे उसे न ानेंगे। इस सूचना के बावजूद जापान ने पोर्ट-आर्थर के बड़े बन्दरगाहवाले ाओतुंग प्रायद्वीप को ले लिया। लेकिन उसे उसके क़ब्ज़े में नहीं रहने दिया गया। स, जर्मनी और फ़्रान्स, इन तीनों बड़ी शक्तियों ने ज़ोर दिया कि वह इस प्राय- ीप को वापस दे दे और जापान को यह करना ही पड़ा; हालाँकि यह उसे बहुत

बुरा लगा और उसे गुस्सा भी आया, क्योंकि अभी वह इन तीनों का सामना क के लिए काफ़ी बलवान न था।

लेकिन जापान ने इस अपमान को याद रक्खा। यह बात उसके दिल खटकती रही और इसने उसे और भी बड़ी लड़ाई की तैयारी के लिए मजबूर दिया। नौ वर्ष बाद यह लड़ाई रूस के साथ हुई।

इधर जापान ने, चीन को जीतकर अपनी हैसियत ऐसी बना ली कि सुदूर-पूर्व का सबसे ताक़तवर राष्ट्र बन गया। चीन की सारी कमज़ोरी ज़ा हो गई थी और पश्चिमी शक्तियों के दिल से उसका डर बिलकुल जाता रहा। मुर्दे पर या अधमरे शरीर पर टूटनेवाले गिद्धों की तरह वे उसपर टूट पड़ीं अपने-अपने लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा छीनने की कोशिशें करने लगीं। फ़ान्स, जर्मनी और इंग्लैण्ड, सभी चीनी समुद्र-तट पर बन्दरगाहों के लिए और ख़ अधिकारों के लिए छीना-झपटी करने लगे। रियायतों के लिए गंदा और बहुत भद्दा झगड़ा मच गया। छोटी-से-छोटी बात भी ज़्यादा-से-ज़्यादा ख़ास अधिक व रियायतें झपटने के लिए बहाना बनाई जाने लगी। चूंकि दो ईसाई मिशनरि को किसी ने मार डाला, इसलिए पूर्व के शानतुंग प्रायद्वीप में कियाचू को जर्मनी ज़बर्दस्ती छीन लिया। चूंकि जर्मनी ने इस मुक़ाम पर क़ब्ज़ा कर लिया, इसलि दूसरी शक्तियां भी लूट में अपने-अपने हिस्से के लिए ज़ोर देने लगीं। जिस पोर्ट-आर्थर से तीन वर्ष पहले उसने जापान को हटाया था, उसको अब रूस ने ले लिया। पोर्ट-आर्थर पर रूस के क़ब्ज़े के जवाबी दावे के तौर पर इंग्लैण्ड ने वी-हाई-वी ले लिया। फ़ान्स ने अनाम में एक बन्दरगाह और कुछ इलाक़े हड़प कर लिये। रूस ने ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे को बढ़ाने के इरादे से उत्तरी मंचूरिया में होकर रेल निकालने की इजाज़त भी ले ली।

यह बेशर्म छीना-झपटी एक अजीब-चीज़ थी। इस तरह इलाके या रियायतें देने में चीन को कुछ मज़ा थोड़े ही आ रहा था। जंगी-बेड़े की ताक़त बताकर और बमबारी की धमकी दिखा-दिखाकर उसे हर बार राज़ी होने के लिए मजबूर कि जाता था। इस बेहया बर्ताव को हम क्या कहें? दिन-दहाड़े की लूट? डाकेज़नी? पर साम्राज्यशाही का यही तरीक़ा है। कभी तो वह गुप्त रूप से काम करती है, कभी अपनी बदकारियों को नेक इरादों के और दूसरों की भलाई के मक्कारी-भरे दिखावे के ग़िलाफ़ से ढकती है। लेकिन १८९८ ई० में, चीन में कोई ग़िलाफ़ या ढकना न था। उसका नंगापन अपनी सारी बदसूरती ज़ाहिर कर रहा था।

: ११७ :

जापान रूस को हराता है

२९ दिसम्बर, १९३२

पिछले पत्रों में मैं सुदूरपूर्व के बारे में लिखता आ रहा हूँ, और आज भी यही क़िस्सा ज़ारी रक्खूँगा। तुम्हें शायद ताज्जुब होगा कि मैं बीते ज़माने के इन लड़ाई-झगड़ों का बोझ तुम्हारे दिमाग़ पर क्यों लाद रहा हूँ। ये कोई मज़ेदार विषय नहीं हैं और अब गये-गुज़रे हो चुके हैं। मैं उन्हें महत्व नहीं देना चाहता। लेकिन सुदूरपूर्व में इन दिनों जो-कुछ हो रहा है, उसकी बहुत सारी बातों की जड़ें इन्हीं झगड़ों में हैं। इसलिए आजकल की समस्याओं को समझने के लिए भी इनका कुछ जानना ज़रूरी है। भारत की तरह चीन भी आज दुनिया की बड़ी समस्याओं में से एक है। इस समय भी जब मैं यह पत्र लिख रहा हूँ, मंचूरिया पर जापानी क़ब्ज़े के बारे में बड़ी कड़वी बहस चल रही है।

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बताया था कि १८९८ ई० में चीन से रियायतें ऐंठने के लिए कैसी छीना-झपटी मची हुई थी, जिनके पीछे पश्चिमी शक्तियों के जंगी-जहाज़ों का बल था। इन शक्तियों ने सब अच्छे-अच्छे बन्दरगाहों पर क़ब्ज़ा कर लिया था और इन बन्दरगाहों के पीछे फैले हुए इलाकों में भी खानें खोदने, रेलें बनाने, वग़ैरा के सब प्रकार के हक़ हासिल कर लिये थे। और फिर भी ज़्यादा रियायतों की मांग जारी थी। विदेशी सरकारें चीन में अपने 'प्रभाव के क्षेत्रों' की चर्चा करने लगीं। आजकल की साम्राज्यशाही सरकारों के लिए किसी देश को बाँट खाने का यह एक मुलायम तरीक़ा है। क़ब्ज़े और इख़्तियार (नियंत्रण) के भी कई दर्जे हुआ करते थे। किसी देश को या उसकी ज़मीन को जीतकर अपने राज्य में शामिल कर लेना तो पूरा क़ब्ज़ा करने के बराबर है। किसी रियासत का इन्तज़ाम अपने हाथ में रखना उससे कुछ उतरा हुआ है, 'प्रभाव का क्षेत्र' उससे भी कम है। लेकिन इन सबका रास्ता एक ही तरफ़ है। एक क़दम के बाद दूसरा क़दम अपने-आप उठ जाता है। वास्तव में, जैसाकि शायद हमें आगे चर्चा करने का मौक़ा आवे, क़ब्ज़ा करने का तरीक़ा पुराना और क़रीब-क़रीब त्यागा हुआ है क्योंकि इससे राष्ट्रीयता का झगड़ा खड़ा हो जाता है। किसी देश पर आर्थिक-नियंत्रण कर लेना और बाक़ी झंझटों में न पड़ना इससे कहीं ज़्यादा सहूलियत की चीज़ है।

मतलब यह है कि चीन का बँटवारा होने ही वाला नज़र आ रहा था और जापान इससे पूरी तरह चौकन्ना हो उठा था। चीन पर उसकी विजय का फल पश्चिमी शक्तियों के हाथ में गया हुआ दिखाई दे रहा था और जापान खिसियाना-

सा होकर चीन के इस बँटवारे को देख रहा था। सबसे ज़्यादा गुस्सा तो उसे रूस के ऊपर आ रहा था, जिसने उसे तो पोर्ट-आर्थर नहीं लेने दिया और खुद हड़प लिया।

हाँ, एक बड़ी शक्ति ऐसी थी, जिसने चीन में रियायतों की इस छीना-झपटी में या उसके बँटवारे की योजनाओं में भाग नहीं लिया था। यह था अमेरिका का संयुक्त राज्य। इसके अलग रहने का कारण यह नहीं था कि वह दूसरी शक्तियों की वनिस्वत ज़्यादा नेकनीयत था, बल्कि बात यह थी कि वह अपने ही लम्बे-चौड़े देश के विकास में मशगूल था। जैसे-जैसे अमेरिका का राज्य पश्चिम में प्रशान्त महासागर की ओर बढ़ता जाता था, विकास के लिए नये-नये इलाक़े तैयार होते जाते थे और उसकी सारी शक्ति व दौलत इसी में खप रही थी। यहाँ तक कि इस काम के लिए यूरोप की भी बहुत बड़ी पूँजी अमेरिका में लगाई जा रही थी। लेकिन उन्नीसवीं सदी के अन्त में अपनी पूँजी लगाने के लिए अमेरिकावाले भी बाहर नज़र दौड़ाने लगे। उसकी निगाह चीन पर गई और यह देखकर उसे बुरा लगा कि शायद एक दिन उसपर क़ब्ज़ा कर लेने के इरादे से यूरोपीय शक्तियाँ उसे 'प्रभाव के क्षेत्रों' में बाँटने पर उतारू थीं। इस बँटवारे में अमेरिका को हिस्सा नहीं मिल रहा था। सो अमेरिका ने चीन में 'खुला दरवाज़ा' कहलानेवाली नीति पर ज़ोर दिया। इसका मतलब यह था कि सभी देशों को चीन में व्यापार और धन्धे के लिए एक-सी सहूलियतें दी जायँ। दूसरी शक्तियाँ भी इसपर राज़ी हो गईं।

इस लगातार के आतंक से चीन की सरकार बहुत भयभीत हो उठी। उसे विश्वास हो गया कि सुधार व नये सिरे से संगठन किये बिना गति नहीं है। उसने इस दिशा में कोशिशें भी कीं, पर नई-नई रियायतों की लगातार माँगों के कारण सफलता मिलने का कोई ढँग नहीं था। कुछ वर्षों से राजमाता त्ज़ू-सी ने वैराग्य-सा ले लिया था। चीनी लोगों ने उसे मुसीबतों से बचानेवाली समझकर आशा-भरी नज़र से उसकी ओर देखा। सम्राट् को इस वक़्त कुछ साज़िश का वहम हो गया, इसलिए वह राजमाता को क़ैद करना चाहता था। लेकिन इस बूढ़ी महिला ने बदले में सारे अधिकार उससे छीनकर शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। जापान की तरह उसने कोई बुनियादी सुधारों का तो क़दम नहीं उठाया, पर सारा ध्यान एक आधुनिक सेना बनाने पर लगा दिया। उसने बचाव के लिए अन्दरूनी रक्षा-सेना के मुक़ामी दस्ते बनाने के लिए बढ़ावा दिया। ये मुक़ामी दस्ते अपने को 'ई हो तुआन' यानी 'पवित्र एकता के दल' कहते थे। कभी-कभी वे 'ई हो चुआन' यानी 'पवित्र एकता की मुष्टिका' भी कहलाते थे। बन्दरगाहों में रहनेवाले कुछ यूरोपीय लोगों ने इसी दूसरे नाम का अनुवाद कर डाला 'बाक्सर्स' यानी 'घूँसेबाज़'। एक कोमल पद का यह बड़ा भोंडा अनुवाद था।

ये 'घूँसेबाज़' विदेशी हमलों और चीन व चीनियों पर विदेशियों के ढाँचे

ये अनगिनत अपमानों के ख़िलाफ़ चीनी देशभक्ति की प्रतिक्रिया थे। उन्हें बदमाशी के पुतले दिखाई देने वाले इन विदेशियों से अगर कोई प्रेम न था तो इसमें अचम्भे की कोई बात नहीं थी। ख़ासकर ईसाई मिशनरी तो उन्हें बहुत ही बुरे लगते थे, क्योंकि इन्होंने बड़ा बुरा बर्ताव किया था। और चीनी ईसाइयों को तो वे देश-द्रोही मानते थे। वे उस पुरातन चीन के प्रतिनिधि थे, जो नई व्यवस्था से अपना बचाव करने का आख़िरी जतन कर रहा था। लेकिन इस तरह इस जतन के कामयाब होने की आशा नहीं थी।

इन देशभक्त, विदेशियों के दुश्मन, मिशनरियों के दुश्मन, व कट्टर-पन्थी लोगों का पश्चिमी लोगों के साथ रगड़ा-झगड़ा होना लाज़िमी था। लड़ाई-झगड़े हुए, एक अंग्रेज़ मिशनरी मारा गया, बहुत-से यूरोपीय लोग और कितने ही चीनी ईसाई भी मौत के घाट उतार दिये गए। विदेशी सरकारों ने इन देशभक्त 'घूँसेबाज़' आन्दोलन के दमन की माँग पेश की। जो लोग हत्याओं के अपराधी थे, उनको तो चीन की सरकार ने सज़ाएँ दे दीं, लेकिन खुद अपनी ही औलाद को वह इस तरह कैसे दबा सकती थी? इसी बीच 'घूँसेबाज़' आन्दोलन तेजी से सब तरफ़ फैल गया। विदेशी राजदूतों ने घबराकर अपने जंगी-जहाज़ों से फ़ौजें बुला लीं। इससे चीनियों को और भी ख़याल हो गया कि विदेशी हमला शुरू हो गया है। बस, दोनों में ठन गई। जर्मन राजदूत मारा गया और पेकिंग के विदेशी दूतावास घेर लिये गए।

'घूँसेबाज़' आन्दोलन की सहानुभूति में चीन का बहुत बड़ा भाग विदेशियों के ख़िलाफ़ हथियार लेकर उठ खड़ा हुआ। लेकिन कुछ प्रान्तों के नायबों ने किसी का पक्ष नहीं लिया और इस तरह विदेशी शक्तियों को मदद पहुँचाई। इसमें शक नहीं कि राजमाता की सहानुभूति इन 'घूँसेबाज़ों' के साथ थी, लेकिन उसने खुल्लम-खुल्ला उनका साथ नहीं दिया। विदेशियों ने यह साबित करना चाहा कि घूँसेबाज़ ठेठ लुटेरे हैं। पर सच तो यह है कि १९०० ई० की यह बग़ावत विदेशियों के चंगुल को छुड़ाने के लिए देशभक्तों की एक कोशिश थी। राबर्ट-हार्ट चीन में एक बड़ा अंग्रेज़ अफ़सर था। वह उस समय तट-कर के महकमे का इन्स्पेक्टर जनरल था और खुद भी दूतावासों के घेरे में घिर रहा था। उसने लिखा है कि चीनियों की भावनाओं का अपमान करने का दोष विदेशियों पर और ख़ासकर ईसाई मिशनरियों पर है। और यह कि इस बग़ावत का "मूल देशभक्ति थी, इसका बहुत-कुछ लक्ष्य वाजिब था, इस बात पर कोई सवाल नहीं उठ सकता और इसपर जितना भी ज़ोर दिया जाय, थोड़ा है।"

दबे हुए चीन के यों अचानक उलट पड़ने से यूरोप की शक्तियाँ बहुत चिढ़ीं। उनके लिए यह वाजिब ही था कि उन्होंने पेकिंग में घिरे हुए अपने आदमियों को बचाने के लिए चटपट फ़ौजें भेजीं। दूतावासों को छुड़ाने के लिए एक जर्मन

सेनापति की मातहती में एक अन्तर्राष्ट्रीय फ़ौज चल पड़ी। जर्मनी के क़ैसर ने अपनी फ़ौजों को हिदायत की कि चीन में जंगली हूणों की तरह व्यवहार करना। शायद इसी बात को याद करके महायुद्ध के वक़्त अंग्रेज़ लोग सब जर्मनों को हूण कहने लगे थे।

क़ैसर की हिदायत पर न सिर्फ़ उसीके सिपाहियों ने बल्कि सब विदेशी फ़ौजों ने अमल किया। पेकिंग को कूच करते समय रास्ते में जनता के साथ इन फ़ौजों का बर्ताव ऐसा था कि बहुतों ने तो इनके हाथों में पड़ने की बनिस्वत आत्महत्या कर लेना बेहतर समझा। उन दिनों चीनी औरतें अपने पैरों को छोटे-छोटे बना लिया करती थीं। इसलिए वे आसानी से भाग नहीं सकती थीं। इससे बहुतेरी स्त्रियों ने आत्मघात कर लिया। इस तरह मित्र-राष्ट्रों की फ़ौजें आगे कूच करती गईं अपने पीछे मौत, आत्महत्या और जलते हुए गांवों की लीक छोड़ती गईं।

इन फ़ौजों के साथ जानेवाला एक अंग्रेज़ युद्ध-सम्वाददाता लिखता है—

"ऐसी भी बातें हैं, जिन्हें मैं नहीं लिख सकता और जो इंग्लैण्ड में नहीं छप सकेंगी, जो यह जता देंगी कि हमारी यह पश्चिमी सभ्यता जंगलीपन के ऊपर चढ़ा हुआ सिर्फ़ एक पतला खोल है। किसी भी युद्ध के बारे में असली सच्ची बातें आज तक नहीं लिखी गईं। यह युद्ध भी इसका अपवाद नहीं होगा।"

इन सेनाओं ने पेकिंग पहुँचकर दूतावासों को घेरे से छुड़ाया। उसके बाद पेकिंग की लूट हुई, जो "पिज़ारो"[1] के समय के बाद लूट-पाट का सबसे जबर्दस्त धावा कहा जा सकता है। पेकिंग के कीमती कला-भण्डार उन उजड्डों व असभ्यों के हाथों में पड़ गये, जिनको इनके मूल्य तक का ज्ञान न था। यह लिखते हुए खेद होता है कि मिशनरियों ने इस लूट-पाट में सबसे बड़ा हिस्सा लिया। विदेशियों के झुण्ड-के-झुण्ड घरों के बाहर नोटिस चिपकाते फिरते थे कि ये घर हमारे हैं। एक घर की क़ीमती चीज़ें बेचकर वे दूसरे बड़े मकान की तरफ़ बढ़ जाते थे।

इन शक्तियों की आपसी लाग-डाँट और कुछ संयुक्त राज्य अमेरिका के रुख के कारण भी, चीन का बँटवारा होने से रह गया। लेकिन उसको ज़िल्लत का कड़वे से कड़वा घूंट पीना पड़ा। उसपर हर तरह की बेइज़्ज़तियाँ लादी गईं; एक स्थायी विदेशी सेना पेकिंग में अड्डा जमाने और रेल-मार्ग का पहरा देने के लिए तैनात की गई; बहुत-से क़िले नष्ट कर दिये गए; किसी विदेशी-विरोधी समिति का सदस्य होनेवाले के लिए मौत की सज़ा तजवीज़ की गई; व्यापार के लिए और भी ज़्यादा खास अधिकार लिये गए और हर्जाने के तौर पर एक

---

[1] एक स्पेनी नाविक (१४७१–१५४१ ई०)। इसने दक्षिण अमेरिका के पेरू देश को जीता था। वहाँ उसका जीवन हद से ज़्यादा बेरहमी के कामों में बीता। आखिर में अपने ही एक सिपाही के हाथों उसकी मौत हुई।

भारी रक़म ऐंठी गईं; और सबसे भयानक चोट यह हुई कि चीनी सरकार मजबूर किया गया कि 'घूंसेबाज़'-आन्दोलन के तमाम देशभक्त नेताओं को ग़ी' करार देकर मौत की सज़ा दे। इसको नाम दिया गया था—"पेकिंग का विदा", जिसपर १९०१ ई० में दस्तख़त हुए।

सारे चीन में, और ख़ासकर पेकिंग के आसपास, जब ये घटनाएँ घट रही उस समय रूसी सरकार ने इस आम गड़बड़ी से फ़ायदा उठाकर साइबेरिया कर मंचूरिया में बहुत-सी फ़ौजें भेज दीं। चीन लाचार था; विरोध ज़ाहिर रने के सिवा और कर ही क्या सकता था? लेकिन हुआ यह कि दूसरी शक्तियों रूसी सरकार का इस तरह देश के एक बड़े टुकड़े को हड़प जाना बहुत अखरा। नये गुल के खिलने से जापान को सबसे ज्यादा चिन्ता और घबराहट हुई। , इन सब राष्ट्रों ने रूस को पीछे लौट जाने के लिए दबाया। और रूस की रकार ने इसपर पुण्य-प्रकोप और अचम्भा दर्शाने की कोशिश की कि सके नेक इरादों पर भी कोई सन्देह करे! और उसने इन शक्तियों को भरोसा या कि चीन की प्रभुता के अधिकारों में हाथ डालने का उसका तनिक भी इरादा हीं है; मंचूरिया में रूसी रेल-मार्ग पर शान्ति होते ही वह अपनी फ़ौजें वहाँ हटा लेगा। बस, सबको तसल्ली हो गई, और इसमें सन्देह नहीं कि मित्र-राष्ट्रों एक दूसरे को इस निराले परोपकार और नेकी के लिए बधाइयाँ भी दी होंगी। किन फिर भी, रूसी फ़ौजें मंचूरिया में ही जमी रहीं, और ठेठ कोरिया तक ल गईं।

मंचूरिया में और कोरिया तक इस तरह रूस के बढ़ जाने पर जापानियों ो बड़ा गुस्सा आया। चुपचाप लेकिन सरगर्मी के साथ वे युद्ध की तैयारी करने गे। उन्हें याद था कि किस तरह तीन शक्तियों ने मिलकर १८९५ ई० में चीन-युद्ध के बाद उन्हें पोर्ट-आर्थर वापस करने के लिए मजबूर किया था। ऐसा फिर हो सके, इसकी वे अब कोशिश करने लगे। संयोग से उन्हें इंग्लैण्ड एक ऐसी शक्ति मिल गई, जिसे रूस के बढ़ने से अन्देशा था और उसे रोकना चाहती थी। इसलिए १९०२ ई० में आंग्ल-जापानी गठ-बंधन हुआ, जिसका उद्देश्य यह था कि शक्तियों का कोई मेल सुदूरपूर्व में जापान या इंग्लैण्ड को ज़बर्दस्ती न दबा सके। जापान अब अपने-आपको ख़तरे से मुक्त समझने लगा और उसने रूस की तरफ़ ज़्यादा गर्म रुख़ इख़्तियार कर लिया। उसने माँग की कि रूसी फ़ौजें मंचूरिया से हटा ली जायँ। लेकिन उस समय की मूर्ख ज़ारशाही सरकार जापान को हिक़ारत की नज़र से देखती थी और उसे यह भरोसा ही न था कि जापान लड़ने की हिम्मत करेगा।

१९०४ ई० के शुरू में दोनों देशों में युद्ध ठन गया। जापान इसके लिए

बिल्कुल तैयार था। अपनी सरकार के प्रचार और सम्राट्-पूजा के पंथ से हुए जापानी लोग देशभक्ति के जोश से भर गये। दूसरी तरफ़ रूस बिल्कु तैयार न था और उसकी निरंकुश सरकार बराबर अपनी प्रजा को दबाकर शासन चला सकती थी। डेढ़ साल तक युद्ध चलता रहा और तमाम एशि यूरोप और अमेरिका ने जल और थल पर जापान की जीतों को देखा। कुछ के अद्‌भुत कारनामों और ज़बर्दस्त मारकाट के बाद जापानियों के हाथ पोर्ट-आ लगा। यूरोप से रूस ने जंगी-जहाज़ों का एक बड़ा बेड़ा लम्बे समुद्री रास्ते सुदूरपूर्व को भेजा। आधी दुनिया को पार करके, हज़ारों मील के सफ़र से थकाया यह ज़बर्दस्त बेड़ा जापान के समुद्र में पहुँचा और वहाँ जापान और को के बीच के सँकड़े समुद्री रास्ते में इसे इसके जलसेनानायक समेत जापानियों ने दिया। इस दुर्घटना में क़रीब-क़रीब सारा-का-सारा बेड़ा नष्ट हो गया।

हार-पर-हार से रूस की—ज़ारशाही रूस की—बुरी गत हो रही रूस के पास ताक़त का बहुत बड़ा भण्डार था। क्या इसीने सौ वर्ष पहले नेपो को नीचा नहीं दिखाया था? लेकिन उस वक़्त असली रूस, यानी रूस की ज बोल उठी थी।

इन पत्रों के सिलसिले में मैं हमेशा रूस, इंग्लैण्ड, फ़ान्स, चीन, जा वग़ैरा का ज़िक्र किया करता हूँ, मानो इनमें से हरेक देश कोई जीती-जा हस्ती हो। यह मेरी एक बुरी आदत है, जो किताबों और अख़बारों से मु आ गई है। मेरा मतलब वास्तव में उस समय की रूसी सरकार, अंग्रेज़ी सरका वग़ैरा से है। ये सरकारें एक छोटे-से गिरोह के सिवा किसीकी भी प्रतिनि हों, या किसी एक वर्ग की हों, लेकिन उनको सारी जनता का प्रतिनिधि क या समझना ठीक नहीं। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ी सरकार, पार्लमेंट को च वाले ज़मींदारों और ऊँचे मध्यम-वर्ग के आसूदा लोगों की प्रतिनिधि कही सकती थी। जनता के बहुमत की शासन में कोई आवाज़ न थी। आज कभी-कभी सुनते हैं कि भारत ने राष्ट्रसंघ में या गोलमेज़ परिषद् में या ही दूसरे जलसे में अपना प्रतिनिधि भेजा है। यह बेहूदा बात है। ये नाम के प्रतिनिधि तबतक भारत के प्रतिनिधि नहीं हो सकते, जबतक कि भारत की जनता उनको न चुने। उनको तो भारत-सरकार नामज़द करती है, जो हालाँकि भारत-सरकार कहलाती है, पर है ब्रिटिश सरकार का ही एक विभाग। रूस में रूस-जापान-युद्ध के समय निरंकुश शासन था। यह ज़ार "सारे रूसों का निरंकुश शासक" था और यह निरंकुश भी ऐसा कि महामूर्ख! मज़दूरों और किसानों को सेना के ज़ोर पर दबाकर रक्खा जाता था। मध्य-वर्गों तक की शासन में कोई आवाज़ न थी। इस ज़ुल्म के ख़िलाफ़ बहुतेरे रूसी नौजवानों ने सिर उठाया और

उठाया और आज़ादी की लड़ाई में अपना जीवन क़ुर्बान कर दिया। बहुतेरी ड़कियों ने भी यही रास्ता अपनाया। इसलिए जब मैं कहता हूँ कि 'रूस' यह र रहा था, वह कर रहा था, जापान से लड़ रहा था, तो मेरा मतलब सिर्फ़ शाही सरकार से होता है, इससे ज़्यादा कुछ नहीं।

जापानी युद्ध और उससे होनेवाली तबाही ने रूस की आम जनता पर और मुसीबतें ढाईं। सरकार पर दबाव डालने के लिए अक्सर कारखानों के मज़- र हड़ताल कर बैठते। २२ जनवरी, १९०५ ई० को हज़ारों निहत्थे किसान र मज़दूर एक पादरी के पीछे-पीछे जुलूस बनाकर ज़ार के सर्दी के महल में उसके स पहुँचे कि अपने कष्टों से कुछ छुटकारा मिलने की प्रार्थना करें। उनकी बात नने के बजाय ज़ार ने उनपर गोलियाँ चलवा दीं। भयंकर हत्याकाण्ड मच गया, सौ आदमी मारे गये, और पीटर्सबर्ग की बर्फ़ ख़ून से लाल हो गई। उस दिन विवार था और तभी से इस दिन को "ख़ूनी रविवार" कहा जाने लगा। देश गहरी हलचल मच गई। मज़दूरों ने हड़तालें बोल दीं, जो बढ़कर क्रान्ति एक क़दम बन गईं। १९०५ ई० की इस क्रान्ति को ज़ार की सरकार ने ड़ी बेरहमी से दबा दिया। कई कारणों से हमारे लिए यह क्रान्ति बड़ी दिलचस्प । बारह वर्ष बाद रूस की शक्ल को बदल डालनेवाली १९१७ ई० की महान् न्ति के लिए इसने एक तरह से रास्ता तैयार किया। और १९०५ ई० को इसी फल क्रान्ति में क्रान्तिकारियों ने एक नया संगठन क़ायम किया, जो बाद में तना मशहूर हो गया। यह 'सोवियतों' का संगठन था।

जैसा कि मेरा ढँग है, मैं चीन और जापान और रूस-जापान-युद्ध का हाल म्हें बताते-बताते १९०५ ई० की रूसी राज्य-क्रान्ति की तरफ़ बहक गया। किन मंचूरिया के इस युद्ध के समय रूस की अन्दरूनी हालत को समझाने के लिए चन्द बातें बताना ज़रूरी था। क्रान्ति के इसी क़दम की वजह से, और जनता फैले हुए गुस्से की वजह से ज़ार को जापान से सन्धि करनी पड़ी।

सितम्बर, १९०५ ई० की पोर्ट्समाउथ की सन्धि से रूस-जापान के युद्ध का अन्त हुआ। पोर्ट्समाउथ संयुक्त राज्य अमेरिका में है। अमेरिका के राष्ट्रपति ने दोनों पक्षों को वहाँ बुलाकर सन्धि-पत्र पर दस्तख़त कराये। इस सन्धि से अन्त में जापान को पोर्ट आर्थर और लाओ-तुंग प्रायद्वीप फिर मिल गये, जो चीन के युद्ध के बाद उसे वापस करने पड़े थे। रूसियों ने जो रेल-मार्ग मंचूरिया में बनाया था, उसका भी एक बड़ा हिस्सा जापान को मिला। और जापान के उत्तर में जो सैख़ैलीन टापू है, उसका भी आधा हिस्सा मिल गया। इसके अलावा रूस ने कोरिया के ऊपर अपने तमाम दावों को छोड़ दिया।

बस, जापान जीत गया और बड़ी-बड़ी शक्तियों के सुरक्षित घेरे में जा घुसा।

एशियाई देश जापान की विजय का एशिया के तमाम देशों पर बड़ा गहरा असर पड़ा। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि लड़कपन में मैं भी इस विजय पर खूब लहका करता था। ऐसा ही जोश एशिया के बहुतेरे लड़कों, लड़कियों और बड़ों को आया करता था। यूरोप की एक महान् शक्ति हार गई, इसलिए एशिया यूरोप को फिर हरा सकता था, जैसा कि पहले वह कई बार कर चुका था। पूर्वी देशों में राष्ट्रीयता की लहर तेजी से फैलने लगी और 'एशिया एशियावालों के लिए' यह नारा सुनाई देने लगा। लेकिन यह राष्ट्रीयता सिर्फ़ पुराने ज़माने को चलना या पुराने रिवाज़ों और विश्वासों से चिपके रहना न थी। लोगों ने आ लिया कि जापान की विजय का कारण यह था कि उसने यूरोप के नये औद्योगिक तरीक़ों को अपना लिया था। और ये विचार व तरीक़े पूर्वी देशों में दिन दिन लोगों में ज़्यादा फैलने लगे।

: ११८ :

चीन गणराज्य बन जाता है

३० दिसम्बर, १९३

हम देख चुके हैं कि रूस पर जापान की विजय से एशिया के राष्ट्र खुशी से कैसे फूल गये। लेकिन इसका तुरन्त नतीजा तो यह हुआ कि हमलावर साम्राज्य शाही शक्तियों के छोटे-से दल में एक शक्ति और शामिल हो गई। इसकी पहली चोट कोरिया पर पड़ी। जापान के उठने का अर्थ था कोरिया का गिरना। जब जापान ने अपने दरवाज़े दुनिया के लिए खोले, वह कोरिया को और मंचूरिया के कुछ भाग को अपना माल समझने लगा था। अलबत्ता वह बार-बार यह भी ऐलान करता रहता था कि चीन की अखण्डता को और कोरिया की स्वाधीनता को मानेगा। साम्राज्यशाही शक्तियों का यही तरीक़ा होता है कि वे लूटती भी जाती हैं और मक्कारी के साथ अपनी नेकनीयती का भरोसा भी दिलाती जाती हैं; गले भी काटती जाती हैं और यह ढिंढोरा भी पीटती जाती हैं कि जान बहुत पवित्र होती है। बस, जापान ने भी बड़े आडम्बर के साथ यह ऐलान कर दिया कि वह कोरिया में दखल न देगा, लेकिन साथ ही वह उसपर क़ब्ज़ा जमाने की अपनी पुरानी नीति पर भी अमल करता रहा। चीन और रूस दोनों से उसके जो युद्ध हुए थे वे भी कोरिया और मंचूरिया ही के लिए थे। वह एक-एक क़दम आगे बढ़ता जा रहा था और अब चीन व रूस की पराजय से उसका रास्ता साफ़ हो गया था।

अपनी साम्राज्यशाही नीति पर चलने में जापान को कभी कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। वह खुल्लम-खुला हाथ मारता गया; अपनी मंशा को पर्दे में छिपाने

की उसने परवाह नहीं की। चीन का युद्ध शुरू होने से पहले ही, १८९४ ई० कोरिया की राजधानी सिओल के राजमहल में ज़बर्दस्ती घुसकर जापानियों ने की महारानी को गद्दी से उतारकर क़ैद कर लिया, क्योंकि वह उनके कहे ताबिक़ चलने को तैयार न थी। १९०५ ई० में रूसी युद्ध के बाद जापान की रकार ने कोरिया के बादशाह को अपने देश की स्वाधीनता बेच देने और पानी सत्ता को मानने के लिए मजबूर कर दिया। लेकिन यही काफ़ी न था। च साल के अन्दर ही यह अभागा बादशाह गद्दी से उतार दिया गया और कोरिया पानी साम्राज्य में मिला लिया गया। यह १९१० ई० की बात है। तीन हज़ार के लम्बे इतिहास के बाद कोरिया राज्य की अलग हस्ती मिट गई। जिस बादह को इस तरह हटाया गया था वह उस राजवंश का था जो ५०० वर्ष पहले गोलों को अपने यहाँ से खदेड़ चुका था। लेकिन कोरिया अपने बड़े भाई चीन तरह पथरा गया था और बँधे हुए पानी की तरह सड़ गया था, और इसकी से यह सज़ा भुगतनी पड़ी।

कोरिया को फिर उसका पुराना नाम दिया गया—'चोसेन' यानी सवेरे की शान्ति का देश। जापानियों ने वहाँ आधुनिक सुधार भी किये, पर कोरिया के लोगों की आत्मा को उन्होंने बड़ी बेदर्दी से कुचल दिया। बहुत वर्षों तक स्वाधीनता के लिए लड़ाई चलती रही, और बहुत-से उफ़ान भी आये। सबसे बड़ा उफ़ान १९१९ ई० में आया। कोरिया के लोग, ख़ासकर युवक और युवतियाँ, अपने से ज़बर्दस्त का मुक़ाबला होते हुए भी वीरता के साथ लड़ते रहे। एक बार की बात है कि स्वाधीनता के लिए लड़नेवाले एक कोरियाई संगठन ने जब स्वाधीनता की बाक़ायदा घोषणा कर दी और जापानियों को ललकार बताई, तो कहते हैं कि उन लोगों ने पुलिस को टेलीफ़ोन करके अपनी कार्रवाई की सूचना भी दे दी! इस तरह अपने आदर्श के लिए उन्होंने जानबूझकर अपने-आपको बलिदान कर दिया। जापानियों ने कोरियाई लोगों का जिस तरह दमन किया, यह इतिहास का एक दुखभरा और काला अध्याय है। तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि कोरियाई नवयुवतियों ने, जिनमें से बहुत-सी कालेज से नई-नई निकली थीं, इस लड़ाई में बहुत बड़ा हिस्सा लिया।

अब चीन लौट चलना चाहिए। 'घूँसेबाज' आन्दोलन के दमन और १९०१ ई० की पेकिंग की सन्धि के बाद हमने उसे अचानक ही छोड़ दिया था। चीन पूरी तरह ज़लील हो चुका था। वहाँ सुधारों को फिर जन्म दिया गया। बूढ़ी राजमाता तक सोचने लगीं कि कुछ-न-कुछ किया ही जाना चाहिए। रूस-जापान युद्ध के समय चीन चुपचाप खड़ा देखता रहा, हालाँकि लड़ाई चीन के ही प्रदेश मंचूरिया में हो रही थी। जापान की विजय ने चीन के सुधारकों के हाथ मज़बूत

कर दिये। शिक्षा को नया रूप दिया गया। आधुनिक विज्ञान के अध्ययन लिए बहुत-से विद्यार्थी यूरोप, अमेरिका, और जापान भेजे गये। अफ़सरों नियुक्ति के लिए साहित्य की परीक्षाओं का पुराना तरीक़ा उठा दिया ग यह अजीब तरीक़ा, जो चीन का एक खास नमूना था, ठेठ हन् खानदान के स से, दो हज़ार वर्ष से, चला आ रहा था। इसकी फ़ायदेमन्दी तो बहुत पहले खत्म हो चुकी थी। और यह चीन की प्रगति को रोके हुए था। इसलिए इ उठ जाना अच्छा ही हुआ। फिर भी अपनी तौर पर यह तरीक़ा युगों तक अनोखी चीज़ बना रहा। यह ज़िन्दगी के बारे में चीनियों के उस रवैये को प्र करता था, जो एशिया व यूरोप के बहुत-से देशों की तरह न तो सामन्ती था न महन्ती। बल्कि इसका आधार विवेक पर था। चीनी लोग दुनिया के सब के लोगों से कम मज़हबी रहे हैं; लेकिन नीति व क़ायदे के साथ ज़िन्दगी बि के अपने ढँग पर वे जिस कड़ाई से अमल करते रहे हैं वैसा किसी धर्म-प क़ौम ने भी नहीं किया। उन्होंने बुद्धिवादी समाज क़ायम करने का जतन कि लेकिन चूँकि उन्होंने इसे अपने प्राचीन साहित्य के परकोटे में ही बन्द दिया, इससे प्रगति व ज़रूरी परिवर्तन रुक गये, और सड़ाँद व पथरावट पैदा गई। हम भारत के लोग इस चीनी बुद्धिवाद से बहुत-कुछ सीख सकते हैं, क्यों अभी तक हम लोग जात-पाँत, रूढ़िवादी मज़हबों, पोप-लीला और साम विचारों के पंजे में फँसे हुए हैं। चीन के महात्मा कन्फ़्यूशस ने अपने देशवासि को एक चेतावनी दी थी, जो याद रखने लायक़ है—"जो लोग अलौकिक ग़ैबी बातों में दखल रखने का ढोंग रचते हों, उनके साथ कोई ताल्लुक़ मत रखो अगर तुमने अपने देश में अलौकिकवाद को पग जमाने दिया, तो उसका नतीजा भयंकर आफ़त होगा।" दुर्भाग्य से हमारे देश में चोटीधारी या जटा-जूटधारी या लम्बी दाढ़ीवाले या टेढ़े-मेढ़े तिलकधारी या भगवाँ वस्त्रधारी बहुत-से ग़ैबी दूत बने फिरते हैं और साधारण जनता को मूँड़ते हैं।

लेकिन अपने सारे पुरातन बुद्धिवाद और संस्कृति के होते हुए भी चीन का वर्तमान से नाता टूट गया, इसलिए मुसीबत की घड़ी में उसे उसकी ये पुरानी संस्थाएँ कोई काम न आ सकीं। घटनाचक्र ने चीन के बहुत-से नौजवानों में नया जीवन भर दिया और उन्हें बाहर जाकर लगन से ज्ञान-ज्योति तलाश करने के लिए मजबूर किया। इन घटनाओं ने बूढ़ी राजमाता को भी हिला दिया, और अब वह संविधान और स्वराज्य देने की बातें करने लगी और उसने विदेशों को, वहाँ के संविधानों का अध्ययन करने के लिए, कमीशन भी भेजे।

यों बूढ़ी राजमाता की मातहती में चीनी सरकार ने भी आखिरकार आगे क़दम बढ़ाया, लेकिन जनता इससे भी तेजी के साथ आगे बढ़ रही थी। १८९४

में ही, डा० सन-यात-सेन ने 'चीन-पुनरुद्धार समिति' क़ायम कर दी थी। र चीन पर विदेशी शक्तियों ने जो अन्यायी और एक-तरफ़ा सन्धियाँ, जिन्हें ी लोग 'असमान सन्धियाँ' कहा करते हैं, ज़बर्दस्ती लादी थीं, उन पर विरोध हिर करने के लिए बहुत-से लोग इस समिति में शामिल हो गये। यह समिति ने लगी और देश के नवयुवक इसकी तरफ खिंचने लगे। १९११ ई० में इसका म बदलकर 'कुओ-मिन-तांग' यानी 'जनता का राष्ट्रीय दल' रक्खा गया और ह चीन की क्रान्ति का केन्द्र बन गया। इस आन्दोलन की जान डा० सन-यात-न संयुक्त राज्य अमेरिका को आदर्श मानते थे। वह गणराज्य चाहते थे, न इंग्लैण्ड-जैसी संविधानी राजशाही; और जापान-जैसी सम्राट्-पूजा तो हर्गिज़ नहीं। चीनियों ने अपने सम्राटों को पूजा की चीज़ कभी नहीं माना, फिर नका मौजूदा शासक राजवंश तो 'चीनी' भी नहीं था। यह राजवंश मंचू था र जनता में मंचू-विरोधी भावना ख़ूब फैली हुई थी। जनता की इस खलबली ने बूढ़ी राजमाता को मजबूर किया था। लेकिन यह बूढ़ी महिला भावी संविधान घोषणा करने के थोड़े ही दिन बाद मर गई। एक अज़ीब बात यह हुई कि जमाता और इसका भतीजा सम्राट्, जिसे इसने गद्दी से उतारा था, दोनों वम्बर, १९०८ ई० में चौबीस घंटों के अन्दर ही मर गये। अब एक दुध-मुँहाँ न्हा नाम के लिए सम्राट् हुआ।

अब फिर पार्लमेण्ट को बुलाने की माँग बुलन्द होने लगी। जनता की मंचू-विरोधी और राजशाही-विरोधी भावना ज़ोर पकड़ने लगी। क्रान्तिकारी भी ज़ोर कड़ने लगे। इस समय चीन के एक प्रान्त का हाक़िम युआन-शी-काई ही ऐसा ज़बूत आदमी था, जो इनका मुक़ाबला कर सकता था। यह बूढ़ी लोमड़ी की रह चालाक था, और संयोग से चीन की अकेली आधुनिक व होशियार सेना, जिसका नाम 'आदर्श सेना' था, उसके हाथ में थी। मंचू-शासकों ने बड़ी बेवक़ूफ़ी में आकर इसे चिढ़ा दिया और बर्ख़ास्त कर दिया, और इस तरह उन्होंने ऐसे अकेले व्यक्ति को खो दिया, जो उन्हें कुछ देर के लिए बचा सकता था। अक्तूबर, १९११ ई० में, यांगसी की घाटी में क्रान्ति भड़क उठी और बहुत जल्दी मध्य और दक्षिणी चीन के बड़े हिस्से में विद्रोह फैल गया। १९१२ ई० की पहली जनवरी को इन प्रान्तों ने गणराज्य का ऐलान कर दिया और नानकिंग को राजधानी बनाया। डा० सन-यात-सेन राष्ट्रपति चुने गये।

इधर युआन-शी-काई भी इस नाटक को देख रहा था कि ज्योंही अपना मौक़ा मिले, हाथ मारे। रीजेन्ट ने (जो अपने पुत्र, नन्हे सम्राट् के ऐवज़ राजकर रहा था) युआन को बर्ख़ास्त करके बाद में दुबारा बुलाया, इसका क़िस्सा भी दिलचस्प है। पुराने चीन में हरेक बात बड़े तक़ल्लुफ़ व अदब के साथ की जाती थी।

जिस वक़्त युआन को बर्ख़ास्त करना ज़रूरी था, तब यह घोषणा की गई थी कि उसकी टाँग में तकलीफ़ है। वास्तव में सबको अच्छी तरह मालूम था कि उसकी टाँग बिलकुल मज़े में थी। और उसे बर्ख़ास्त करने का यह सिर्फ़ माना हुआ बहाना था। लेकिन युआन ने भी अपना बदला ले लिया। दो साल बाद, १९११ ई० में जब सरकार के ख़िलाफ़ ग़दर और विद्रोह उठ खड़े हुए, तब रीजेन्ट ने घबराकर युआन को बुलवाया। लेकिन युआन का इरादा तबतक जाने का नहीं था जबतक उसकी शर्तें मंज़ूर न करली जायँ। उसने रीजेन्ट को जो जवाब भेजा, उसमें खेद के साथ कहा कि उसके लिए घर छोड़ना मुमकिन नहीं, क्योंकि टाँग में तकलीफ़ होने की वजह से वह सफ़र नहीं कर सकता। लेकिन एक महीने बाद जब उसकी शर्तें मंज़ूर कर ली गईं तो उसकी टाँग भी फ़ौरन दुरुस्त हो गई।

लेकिन अब इतनी देर हो चुकी थी कि क्रान्ति नहीं रुक सकती थी। युआन भी इस क़दर चालाक था कि दोनों में से किसी पक्ष के साथ बँधकर अपनी हैसियत को ख़तरे में नहीं डालना चाहता था। आख़िरकार उसने मंचुओं को गद्दी छोड़ने की सलाह दी। इधर तो गणराज्य उनके मुक़ाबले में खड़ा था, और उधर उनके सेनापति ने उनका साथ छोड़ दिया था; इसलिए मंचू-शासकों के लिए दूसरा कोई चारा ही न था। १२ फरवरी, १९१२ ई० को गद्दी छोड़ने का फ़रमान निकाल दिया गया। इस तरह ढाई सदी से ज्यादा के याद रखने लायक़ शासन के बाद, मंचू राजवंश ने चीन का रंगमंच ख़ाली कर दिया। एक चीनी कहावत के अनुसार “वे सिंह-जैसी गर्जना करते हुए आये और साँप की पूँछ की तरह ग़ायब हो गये।”

इसी १२ फरवरी के दिन नये गणराज्य की राजधानी नानकिंग में, जहाँ प्रथम मिङ्ग बादशाह का मक़बरा बना हुआ था, एक अजीब रस्म पूरी की गई; ऐसी रस्म जिसने पुरानी व नई बातों का भेद दर्शाते हुए उन्हें एक साथ ला दिया। गणराज्य के राष्ट्रपति सन-यात-सेन ने अपने मंत्रिमंडल के साथ मक़बरे पर जाकर पुराने तरीक़े से भेटें चढ़ाईं। इस मौक़े पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा—“हम पूर्वी एशिया के लिए गणराज्य के ढँग के शासन का नमूना सबसे पहले पेश कर रहे हैं। जो लोग कोशिश करते हैं, उन्हें देर-सवेर सफलता मिलती ही है। नेकी का अन्त में ज़रूर इनाम मिलता है। फिर हम आज यह पछतावा क्यों करें कि विजय इतनी देर से आई?”

बहुत वर्षों तक, अपने देश में और निर्वासित रहकर, सन-यात-सेन चीन की आज़ादी के लिए जान लड़ाते रहे, और अन्त में सफलता आती दिखाई दी। लेकिन आज़ादी एक बेवफ़ा दोस्त है और सफलता हासिल करने से पहले उसकी पूरी क़ीमत चुकानी पड़ती है। अक्सर वह हमें झूठी उम्मीदें दिखा-दिखाकर बहलाती है; कठिनाइयाँ पैदा करके हमारी परीक्षा लेती है, और तब कहीं वह हासिल होती है।

चीन और डा० सेन की मंज़िल पूरी होने में अभी बहुत देर थी। बहुत वर्षों तक नये गणराज्य को अपनी ज़िन्दगी के लिए लड़ाई करनी पड़ी और आज इक्कीस वर्ष बाद भी, जबकि उसे बालिग़ हो जाना चाहिए था, उसका भविष्य डावाँडोल हो रहा है।

मंचुओं ने तो राजगद्दी छोड़ दी, लेकिन गणराज्य के रास्ते में युआन अभी तक अड़ा हुआ था। पता नहीं उसका क्या इरादा था। उत्तरी भाग उसके हाथ में था और दक्षिणी भाग गणराज्य के हाथ में। शान्ति की ख़ातिर और गृह-युद्ध बचाने के लिए, डा० सेन ने अपनेको मिटाकर राष्ट्रपति का पद छोड़ दिया और युआन को राष्ट्रपति चुनवा दिया। लेकिन युआन कोई गणराज्यवादी नहीं था। वह तो अपनी बुलन्दी के लिए सत्ता हथियाने की फ़िराक़ में था। जिस गणराज्य ने उसे अपना राष्ट्रपति चुनकर इज्ज़त दी थी, उसीको कुचलने के लिए उसने विदेशी शक्तियों से रुपया उधार लिया। उसने पार्लमेण्ट को बर्ख़ास्त कर दिया और कुओ-मिन्-तांग को तोड़ दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि दो दल हो गये और डा० सेन की अध्यक्षता में दक्षिण में एक मुक़ाबले की सरकार क़ायम हुई। जिस फूट को बचाने के लिए डा० सेन ने भरसक जतन किया था, वही पैदा हो गई, और जिस समय महायुद्ध शुरू हुआ, चीन में दो सरकारें थीं। युआन ने सम्राट् बनने की कोशिश की, लेकिन वह सफल नहीं हुआ और थोड़े ही दिनों बाद मर गया।

: ११९ :

भारत के पूर्ववर्ती देश

३१ दिसम्बर, १९३२

फ़िलहाल हम सुदूरपूर्व की चर्चा को उठा रखते हैं। उन्नीसवीं सदी में हम भारत का भी कुछ हाल देख चुके हैं, और अब पश्चिम की तरफ़ यूरोप, अमेरिका और अफ़्रीका को चलने का वक्त आ गया है। पर मैं चाहता हूँ कि इस लम्बे सफ़र से पहले तुम ज़रा एशिया के दक्षिण-पूर्वी कोने की भी एक झाँकी ले लो, ताकि हमें इसमें अबतक की जानकारी हो जाय। इन देशों पर ग़ौर किये काफ़ी समय हो चुका है। पिछले कुछ पत्रों में मैंने सरसरी तौर पर, और अलग-अलग तौर पर, इन देशों का—मलेशिया, इन्दोनेशिया, पूर्वी द्वीप-समूह और सुदूर भारत के नामों का ज़िक्र किया है, जो शायद सही भी नहीं हैं। मुझे सन्देह है कि इनमें से कोई भी नाम इस सारे इलाक़े को शामिल करता हो। लेकिन जब हम-तुम एक दूसरे की बातें समझ लें, तो नामों से क्या, लेना-देना ?

अगर आसानी से मिल सके तो ज़रा नक़्शे को देखो। तुम्हें एशिया के दक्षिण-पूर्व में एक प्रायद्वीप दिखाई देगा, जिसमें बरमा, स्याम और आजकल का फ़्रान्सीसी

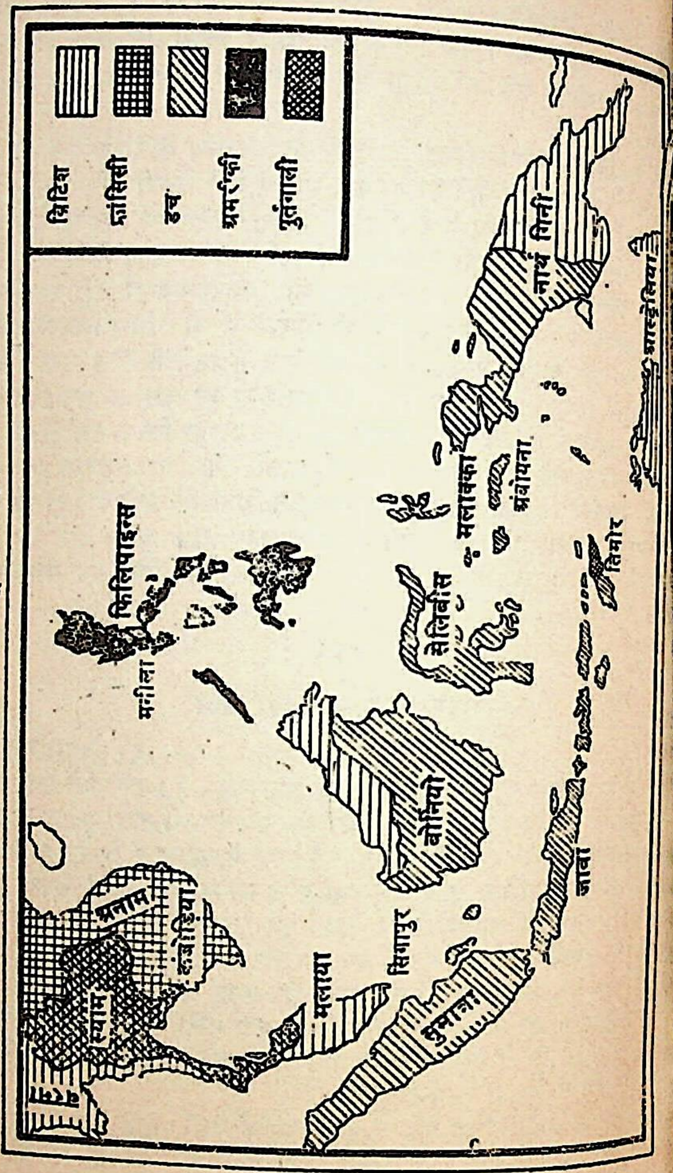
ब्रिटिश
फ्रांसिसी
डच
अमरीकी
पुर्तगाली
फिलिपाइन्स
मनीला
मलाक्का
अंबोयना
सेलिबीज़
तिमोर
न्यू गिनी
आस्ट्रेलिया
बोर्नियो
जावा
सुमात्रा
सिंगापुर
मलाया
अनाम
कम्बोडिया
स्याम
बर्मा

भारत के पूर्ववर्ती देश

-चीन शामिल हैं। बरमा और स्याम के बीच ज़मीन की एक लम्बी ज़बान-सी ली हुई है, जो आख़री छोर की तरफ़ चौड़ी होती गई है और जिसकी नोक सिंगापुर का शहर बसा हुआ है। यह मलाया प्रायद्वीप है। मलेशिया से लेकर ट्रेलिया तक बहुत-से छोटे-बड़े टापू बिखरे हुए हैं, जिनकी अजीब शक्लें हैं र जिन्हें देखकर ऐसा मालूम होता है कि ये एशिया और आस्ट्रेलिया को मिलाने-ले किसी बड़े भारी पुल के खण्डहर हैं। इन्हीं टापुओं का नाम पूर्वीद्वीप-समूह । इनके उत्तर में फ़िलीपाइन के टापू हैं। किसी आधुनिक नक़शे से तुम्हें मालूम हो यगा कि बरमा और मलाया अंग्रेज़ों के कब्ज़े में हैं, हिंद-चीन फ़्रान्स का है और के बीच में स्याम एक स्वाधीन देश है। डचों के क़ब्ज़े में इन्दोनेशिया, यानी मात्रा व जावा, और बोर्नियो, सेलिबीज़ व मलक्का के ज़्यादातर हिस्से हैं। ये पू मसालों के लिए मशहूर हैं, और इन्होंने यूरोप के नाविकों को हज़ारों मील फ़ानी सागरों को लाँघकर आने के लिए खींचा है। फ़िलीपाइन टापू अमेरिका अधीन हैं।

पूर्वी सागरों के इन देशों की यह मौजूदा हालत है। लेकिन तुम्हें याद होगा क लगभग दो हज़ार वर्ष पहले भारतमाता के सपूतों ने इन देशों में जाकर उपनिवेश बसाये थे; कई सदियों तक इनमें बड़े-बड़े साम्राज्य फूले-फले, ख़ूबसूरत हर और अद्भुत इमारतें बनीं, बनिज-व्यापार की तरक्क़ी हुई और भारतीय चीनी सभ्यताओं व संस्कृतियों का मेल हुआ।

इन देशों का (इनकी संख्या ७९ है) बयान करते हुए मैंने अपने एक पिछले त्र में पूर्व में पुर्तगाली साम्राज्य के पतन का और ब्रिटिश और डच ईस्ट इंडिया म्पनियों के उदय का ज़िक्र किया था। फ़िलीपाइन में तबतक स्पेनियों का ही ाज था।

अंग्रेज़ों और डचों ने मिलकर पुर्तगालियों को मार भगाया था। वे क़ामयाब ो हो गये, लेकिन इन विजेताओं के बीच किसी तरह का प्रेम नहीं था और वे अक्सर आपस में लड़ा करते थे। १६२३ ई० में एक बार मलक्का में अम्बोयना के डच गवर्नर ने, डच-सरकार के खिलाफ़ साज़िश का इलज़ाम लगाकर ईस्ट इंडिया कम्पनी के तमाम अंग्रेज़ कर्मचारियों को गिरफ़्तार करके मरवा डाला। यह थोकबन्द जल्लादी अम्बोयना का हत्याकाण्ड कहलाती है।

मैं चाहता हूँ कि तुम एक बात याद रक्खो। अपने शुरू के पत्रों में मैंने इसका ज़िक्र किया है। इस ज़माने में, यानी सत्रहवीं सदी के अन्दर और बाद में, यूरोप औद्योगिक देश न था। बाहर भेजने के लिए वहाँ बड़े पैमाने पर माल तैयार नहीं होता था। औद्योगिक क्रान्ति और बड़ी-बड़ी मशीनों के दिन अभी बहुत दूर थे। यूरोप की बनिस्बत एशिया ज़्यादा माल तैयार और निर्यात करनेवाला देश था।

एशिया का जो माल यूरोप को जाता था, उसकी क़ीमत कुछ तो यूरोप के के रूप में और कुछ स्पेनी अमेरिका से आनेवाले धन से दी जाती थी। एशिया यूरोप की यह तिजारत बड़े मुनाफ़े की थी। बहुत अर्से तक इसपर पुर्तगालि का क़ब्ज़ा रहा, जिससे वे मालामाल हो गये। इसमें हिस्सा बँटाने के लिए ब्रि और डच ईस्ट इंडिया कम्पनियाँ बनीं। लेकिन पुर्तगाली इस तिजारत को अ खास इजारा समझते थे, और उसमें किसी दूसरे को हिस्सा नहीं देना चाहते फ़िलीपाइन में स्पेनियों के साथ तो उनका निभाव होता रहा, क्योंकि स्पेनियों दिलचस्पी तिजारत की बनिस्बत ईसाइयत की तरफ़ ज्यादा थी। लेकिन कम्पनियों की तरफ़ से आनेवाले अंग्रेज़ और डच हौसलेबाज़ों में रीति-नीति थीं। इसलिए बहुत जल्दी ही झड़प हो गई।

पूर्व में राज करते हुए पुर्तगालियों को सवा-सौ से ज्यादा वर्ष हो गये जिनपर उनका शासन था, उनमें वे ज़रा भी लोकप्रिय न थे और चारों असन्तोष था। इंग्लैण्ड और हालैण्ड की दोनों तिजारती कम्पनियों ने इस असन्तोष से फ़ायदा उठा लिया और इन लोगों को पुर्तगालियों से पिंड छुड़ाने में मदद लेकिन पुर्तगालियों ने जैसे ही जगह खाली की, ये फ़ौरन ही उसमें जा बैठे। भारत और इन्दोनेशिया के राजा होने के नाते ये यहाँ के लोगों से भारी महसूलों और दूसरी सूरतों से खिराज वसूल करते थे। इससे यूरोप पर ज्यादा बोझ पड़े बिना ही इनको अपना विदेशी व्यापार चलाने में मदद मिलती थी। पूर्वी देशों के माल की क़ीमत अदा करने में जो बड़ी दिक़्क़त यूरोप को पहले महसूस होती थी, वह इस तरह कमी हो गई। लेकिन फिर भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, इंग्लैण्ड ने रोक लगाकर और भारी चुंगियां लगाकर भारत के माल का अपने यहाँ आना बन्द करने की कोशिश की। औद्योगिक क्रान्ति के आने तक यही हालत थी।

अंग्रेज़ों के हट जाने की वजह से, इन्दोनेशिया में डच-ब्रिटिश झगड़ा ज्यादा न चला। अंग्रेज़ लोग भारत में उलझते जा रहे थे और उन्हें इसीसे फ़ुरसत न थी। इसलिए फ़िलीपाइन के सिवा, जिसपर स्पेनियों का कब्ज़ा बना रहा, इन्दोनेशिया के टापू अकेली डच ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में आ गये। चूंकि स्पेनियों को तिजारत की ज्यादा परवाह न थी, और न वे आगे देश-विजय की ही कोशिश में थे, इसलिए इस इलाके में डचों का कोई मुक़ाबलेवाला न रहा।

भारत में अपनी हमनाम ब्रिटिश कम्पनी की तरह, डच ईस्ट इंडिया कम्पनी भी जितना हो सके धन बटोरने के लिए जम गई। डेढ़-सौ वर्षों तक इस कम्पनी ने इन टापुओं पर राज किया। जनता की बेहतरी की तरफ़ इन लोगों ने ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। उसकी छाती पर सवार होकर उन्होंने जितना भी हो सका रुपया ऐंठा। जब खिराज के तौर पर रुपया पैदा करना आसान था, तो व्यापार दूसरे

की चीज बन गया और मरने लगा। यह कम्पनी बिलकुल निकम्मी थी। जो डच इसमें नौकरी करने के लिए आते, वे भी उसी नमूने के थे, जिनका कोई उसूल नहीं था और जो महज़ तक़दीर-आज़मानेवाले होते थे, जैसे भारत की ब्रिटिश ती के गुमाश्ते या कारकुन। नेकी से या बदी से धन कमाना उनका ख़ास मतलब । भारत में देश के साधन बहुत ज्यादा थे और बहुत-सी बदइन्तज़ामी उनसे ढक ती थी। इसके अलावा भारत में कुछ क़ाबिल गवर्नरों ने ऊपर का प्रशासन मुस्तैद दिया था, हालाँकि नीचे के लोगों को वह कुचलनेवाला था। ख़ैर, तुम्हें याद था कि १८५७ के महान् विद्रोह ने ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी का अन्त कर दिया।

डच ईस्ट इंडिया कम्पनी की हालत दिन-पर-दिन खराब होती गई। ख़िरकार, १७९८ ई० में नीदरलैण्ड की सरकार ने ईस्ट इण्डीज़ की हुकूमत द सम्हाल ली। कुछ ही दिनों बाद यूरोप में नेपोलियनी युद्धों के कारण, अंग्रेज़ों इन टापुओं पर क़ब्ज़ा कर लिया, क्योंकि हालैण्ड भी नेपोलियन के साम्राज्य हिस्सा बन गया था। पाँच साल तक वे ब्रिटिश भारत के ही प्रान्त समझे जाते और इस अर्से में वहाँ बहुत-कुछ सुधार जारी किये गए। नेपोलियन का पतन ने पर पूर्वी द्वीप फिर हालैण्ड को वापस दे दिये गए। जिन पाँच वर्षों में जावा सम्बन्ध भारत की ब्रिटिश सरकार से रहा, उन दिनों टामस स्टैम्फ़र्ड रैफ़ल्स मी एक क़ाबिल अंग्रेज़ जावा का लेफ़्टिनेण्ट-गवर्नर था। रैफ़ल्स की रिपोर्ट थी डचों के उपनिवेशी राज के इतिहास के साथ "दग़ाबाज़ी, रिश्वत, हत्याकाण्ड और मीनेपन का एक बहुत ही असाधारण रिश्ता है।" दूसरी कुछ हरकतों के लावा डच अफ़सरों का एक काम यह भी था कि वे जावा में गुलामों के तौर पर म करने के लिए सेलीबीज़ से आदमियों को ज़बर्दस्ती पकड़ लाते थे। इस धर-कड़ के साथ-साथ लूट-पाट और हत्याएँ भी होती थीं।

नीरदलैण्ड की सरकार की यह सीधी हुकूमत भी कम्पनी की हुकूमत से कुछ अच्छी न थी। कई बातों में तो जनता पर और भी ज्यादा अत्याचार होने लगे। तुम्हें शायद याद होगा कि मैंने बंगाल में उस नील-बागानों की प्रथा के बारे में कुछ बताया था, जिसने काश्तकारों पर बड़ी मुसीबतें ढाई थीं। इसी तरह की प्रथा, बल्कि इससे भी खराब, जावा वग़ैरा में जारी की गई। कम्पनी के ज़माने में लोगों को माल देना पड़ता था। लेकिन अब 'काश्तकारी-प्रथा' के मुताबिक़ हर साल कुछ समय के लिए, जो किसानों के काम-काजी वक़्त का लगभग एक-तिहाई या चौथाई हिस्सा माना जाता था, उनसे ज़बर्दस्ती काम कराया जाता था। व्यवहार में तो बहुत करके किसान का लगभग पूरा ही वक़्त ले लिया जाता था। डच सरकार ठेकेदारों के मार्फ़त काम कराती थी, जिनको सरकार की तरफ़ से बिना सूद पर पेशगी रुपया दिया जाता था। ये ठेकेदार मजदूरों को बेगार में पकड़कर जमीन से

खूब फ़ायदा उठाते थे। कहा तो जाता था कि ज़मीन की पैदावार कुछ बँधे हिस्सों में सरकार, ठेकेदार और काश्तकार के बीच बाँट दी जाती थी। बेचारे काश्तकारों का हिस्सा शायद सबसे कम था; मुझे ठीक मालूम नहीं कि कितना था। सरकार ने यह भी हुक्म निकाल रक्खा था कि यूरोप में खपनेवाली कुछ चीज़ें ज़मीन के कुछ भाग में ज़रूर बोई जायँ। ये चीज़ें चाय, क़हवा, गन्ना, [illegible] वग़ैरा थीं। जैसा कि बंगाल में नील-बागानों का हाल था, यहाँ भी इन चीज़ों को ज़रूर ही बोना पड़ता था, चाहे दूसरी चीज़ें बोने के मुक़ाबले में मुनाफ़ा कम हो या न होता हो।

डच सरकार खूब मुनाफ़ा उठाती थी; ठेकेदार मौज करते थे; किसान भूखों मरते थे और मुसीबत की ज़िन्दगी बिताते थे। उन्नीसवीं सदी के बीच में भयंकर अकाल पड़ा, जिसमें बड़ी संख्या में लोग मौत के शिकार हुए। तब कहीं जाकर बेचारे किसानों के लिए कुछ करना ज़रूरी समझा गया। धीरे-धीरे उनकी हालत सुधरती गई; लेकिन बेगार की प्रथा १९१६ ई० तक भी चलती रही।

उन्नीसवीं सदी के पिछले वर्षों में डचों ने कुछ शिक्षा के मामले में, और दूसरे भी कुछ सुधार जारी किये। एक नया मध्यम-वर्ग पैदा हो गया और राष्ट्रीय आन्दोलन आज़ादी की माँग करने लगा। भारत की तरह यहाँ भी बहुत रुक-रुककर क़दम बढ़ाया गया और ऐसी लचर विधान-सभाएँ क़ायम की गईं, जिनके हाथ में असली सत्ता कुछ भी न थी। क़रीब पाँच वर्ष हुए, डच इन्दोनेशिया में क्रान्ति हुई, जिसे बेरहमी के साथ कुचल दिया गया। लेकिन जावा और दूसरे टापुओं में आज़ादी की जो भावना जाग चुकी है, वह किसी तरह के जुल्मों या अत्याचारों से नहीं दब सकती।

ईस्ट इण्डीज़ आजकल 'नीदरलैण्ड का इंडिया' कहलाते हैं।[1] हर पन्द्रहवें दिन, यूरोप और एशिया के ऊपर होता हुआ हवाई जहाज ठेठ हालैण्ड से जावा के बताविया शहर को जाया करता है।

ईस्ट इण्डीज़ की कहानी की रूपरेखा मैंने खतम कर दी है और अब मैं तुम्हें एशिया के भू-भाग पर ले चलना चाहता हूँ। बरमा के बारे में अब कुछ कहना बाक़ी नहीं है। अक्सर यह मुल्क उत्तरी और दक्षिणी दो हिस्सों में बँटा रहा और ये दोनों आपस में लड़ते-झगड़ते रहे। किसी समय कोई शक्तिशाली बादशाह हो गया तो उसने दोनों को मिला दिया और पड़ौसी स्याम को जीतने की भी हिम्मत कर डाली। फिर उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ों के साथ मुठभेड़ें शुरू हो गईं। अपने बल के घमण्ड में बरमा के बादशाह ने असम के ऊपर चढ़ाई करके उसे अपने राज्य में मिला

---

[1] अब इनका नाम इन्दोनेशिया हो गया है और इन्हें स्वाधीनता प्राप्त हो गई है।

ा। भारत के अंग्रेज़ों के साथ बरमा का पहला युद्ध १८२४ ई० में हुआ और
अंग्रेजों को मिल गया। अंग्रेज़ों को अब मालूम हो गया कि बरमा की सरकार
सेना दोनों कमज़ोर हैं और वे सारे देश को हड़पने की इच्छा करने लगे।
और तीसरे युद्धों के लिए बेहूदा बहाने ढूंढ़ निकाले गये और १८८५ ई० तक
देश को जीतकर ब्रिटिश भारत के साम्राज्य का हिस्सा बना लिया गया।
से बरमा की क़िस्मत भारत के साथ जुड़ गई है।[1]

बरमा के दक्षिण में मलाया प्रायद्वीप में भी अंग्रेज़ों ने अपने पैर फैला दिये।
ापुर के टापू पर तो उन्होंने उन्नीसवीं सदी में ही क़ब्ज़ा कर लिया था।
की जगह पर होने की वजह से सिंगापुर जल्द एक बढ़ता हुआ व्यापारी शहर
र सुदूर पूर्व को जानेवाले जहाज़ों के ठहरने का बन्दरगाह बन गया। इस प्रायद्वीप
कुछ ऊपर मलक्का के पुराने बन्दरगाह का महत्व कम हो गया। सिंगापुर से
उत्तर की तरफ़ बढ़ने लगे। मलाया प्रायद्वीप में छोटी-छोटी बहुत-सी
ासतें थीं, जिनमें से ज्यादातर स्याम की तावेदार थीं। इस सदी के अन्त तक
तमाम रियासतें अंग्रेज़ों की तावेदारी में आ गईं और मलाया राज्यसंघ (फेडरेटेड
लाया स्टेट्स) में शामिल कर दी गईं। कुछ रियासतों पर स्याम का जो कुछ
ज़ा था, वह उसे मजबूर होकर इंग्लैण्ड को दे देना पड़ा।

इस तरह स्याम विरोधी शक्तियों ने घिरता जा रहा था। पश्चिम और
क्षिण में, बरमा और मलाया में, इंग्लैण्ड की प्रभुता थी। पूर्व की तरफ़ फ़्रान्स चढ़ा
रहा था और अनाम को हड़प रहा था। अनाम चीन की प्रभुता मानता था,
किन यह मानना बेकार था, जबकि चीन खुद ही कठिनाइयों में फँसा हुआ था।
हें याद होगा कि मैंने चीन के बारे में हाल के किसी पत्र में तुम्हें बताया था कि
ब फ़्रान्सीसियों ने अनाम पर हमला किया, तो फ़्रान्स और चीन के बीच लड़ाई
ड़ गई। फ़्रान्स की ज़रा रोक-थाम तो हुई, लेकिन कुछ ही दिनों के लिए। उन्नी-
वीं सदी के पिछले वर्षों मे अनाम और कम्बोदिया को शामिल करके फ़्रान्स ने
ान्सीसी हिंद-चीन नामक एक बड़ा उपनिवेश बना डाला। कम्बोदिया, जहाँ
ुराने ज़माने में शानदार अंकोर का साम्राज्य था, स्याम की एक अधीन रियासत
ा। फ़्रान्स ने स्याम को लड़ाई की धमकी देकर इसके ऊपर अपना राज जमा
िया। ध्यान देने की बात यह है कि इन देशों में, फ़्रान्सीसियों की सारी शुरुआती
ाज़िशें फ़्रान्सीसी मिशनरियों की मार्फ़त की गई थीं। किसी वजह से एक मिशनरी
ो मौत की सज़ा दी गई और इसीका हर्जाना वसूल करने के लिए पहला फ़्रान्सीसी
हमला १८५७ ई० में हुआ। फ़्रान्सीसी सेना ने दक्षिण में सैगोन के बन्दरगाह पर

---

[1] बरमा अब भारत से अलग एक स्वाधीन देश है।

क़ब्ज़ा कर लिया और यहींसे फ़्रान्सीसियों का क़ब्ज़ा उत्तर की तरफ़ गया।

मुझे दुःख है कि एशिया के इन देशों में साम्राज्यशाही की बढ़ती के वाक़िए क़िस्से मैंने कई बार दोहराये हैं। हरेक जगह क़रीब-क़रीब एक-सी चालें चलीं और क़रीब-क़रीब हर जगह उन्हें सफलता मिली। एक के बाद दूसरे देश का बयान मैंने किया है, और किसी-न-किसी यूरोपीय शक्ति के अधीन उसे पड़ते दिखाकर उसका क़िस्सा खतम किया है। इस कम्बख़्ती का शिकार होने से सिर्फ़ एक देश बच गया। यह था एशिया के दक्षिण-पूर्व का स्याम।

सौभाग्य से स्याम इसलिए बच गया कि वह बरमा में अंग्रेज़ों और हिंद-चीन में फ़्रान्सीसियों के बीच में फँसा हुआ था। शायद वह इसलिए बच गया कि ये दो यूरोपीय मुक़ाबलेदार उसके आज़ू-बाज़ू मौजूद थे। इसके सौभाग्य की वजह यह भी थी कि इसका प्रशासन कुछ समय से काफ़ी अच्छा था, और बहुत-से देशों की तरह यहाँ अन्दरूनी कलह नहीं थी। लेकिन अच्छा शासन विदेशियों के हमले रोकने की कोई गारण्टी न थी। बात यह थी कि इंग्लैण्ड तो बरमा में और भारत में उलझा हुआ था और फ़्रान्स हिंद-चीन में। उन्नीसवीं सदी के पिछले दिनों में जब ये दोनों शक्तियाँ स्याम की सीमा तक पहुँचीं, तब जीतकर [illegible] करने का ज़माना ही गुज़र चुका था। पूर्व में मुक़ाबला करने की भावना पैदा हो रही थी और उपनिवेशों व अधीन देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो रहे थे। कम्बोदिया के मामले पर स्याम और फ़्रान्स में युद्ध का ख़तरा था, पर स्याम ने दबकर फ़्रान्स से झगड़ा बचा लिया। पश्चिम की ओर पहाड़ों की एक मज़बूत बाड़ बरमा के मालिक अंग्रेज़ों से स्याम की रक्षा कर रही थी।

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि गये दिनों में कम-से-कम दो बार बरमा के बादशाहों ने स्याम पर हमला किया और उसे अपने राज्य में भी मिला लिया। आखिरी हमले में, जो १७६७ ई० में हुआ, स्याम की राजधानी अयुथ्या या अयोध्या (इस भारतीय नाम पर ग़ौर करो) नष्ट कर दी गई। पर थोड़े ही दिन बाद जनता ने विद्रोह करके बरमी लोगों को निकाल बाहर किया और १७८२ ई० में राम-प्रथम नामक राजा से एक नया राजवंश शुरू हुआ। आज ठीक डेढ़ सौ साल बाद भी, यह राजवंश स्याम में राज करता है और शायद सभी राजाओं का नाम 'राम' होता है। इस नये राजवंश के राज में स्याम को अच्छा लेकिन बहुत-कुछ मौरूसी शासन मिला। साथ ही बड़ी बुद्धिमानी से विदेशी शक्तियों से भी अच्छे ताल्लुक़ पैदा करने की कोशिश की गई। विदेशी व्यापार के लिए बन्दरगाह खोल दिये गए, कुछ विदेशी शक्तियों से व्यापारिक सन्धियाँ की गईं, और प्रशासन में कुछ सुधार भी जारी किये गए। बैंकाक नई राजधानी बनाया गया। लेकिन ये सब बातें साम्राज्यशाही

यों को दूर रखने के लिए काफ़ी न थीं। इंग्लैण्ड ने मलाया में पैर पसार-स्याम की भूमि दबा ली। फ़्रान्स ने कम्बोदिया और स्याम के दूसरे पूर्वी प्रदेशों ब्ज़ा कर लिया। १८९६ ई० में स्याम को लेकर इंग्लैण्ड और फ़्रान्स में झड़प होते रह गईं। लेकिन, जैसा कि साम्राज्यशाहियों ने क़ायदा बना रक्खा है, दोनों ने आपस में समझौता कर लिया कि स्याम के राज्य का जितना हिस्सा हुआ है, उसे अखण्ड रहने दिया जाय। मगर साथ ही उन्होंने इसे तीन "प्रभाव-ों" में भी बाँट लिया। पूर्वी हिस्सा फ़्रान्स के दायरे में आया, पश्चिमी अंग्रेजों के रे में, और दोनों के बीच में न्यारा क्षेत्र था, जिसमें दोनों अपने दान्त गड़ा सकते इस तरह आडम्बर के साथ स्याम की अखण्डता की गारण्टी कर चुकने पर, कुछ वर्षों के बाद फ़्रान्स ने पूर्व की तरफ़ कुछ और भूमि दबा ली। और इसके ऐवज़ इंग्लैण्ड को भी दक्षिण में कुछ मआवज़ा लेना ही पड़ा।

इतना सबकुछ होते हुए भी, स्याम का कुछ हिस्सा यूरोपीय लोगों के ल से बच गया और एशिया के इस हिस्से में इस तरह बचा रहनेवाला यही एक है। यूरोप की हमलावरी प्रवृत्ति का ज्वार अब रुक गया है और अब उसे शिया में ज्यादा प्रदेश हासिल होने का मौक़ा नहीं रहा। वह समय जल्दी ही नेवाला है जब यूरोप की शक्तियों को बिस्तर-बोरिया बान्धकर एशिया से च कर जाना होगा।

कुछ दिन पहले तक स्याम में निरंकुश राजाशाही थी और कुछ सुधारों बावजूद भी काफ़ी सामन्तशाही थी। कुछ महीने हुए, वहाँ ख़ून-ख़राबी के बिना ज्यक्रान्ति हुई और मालूम होता है कि ऊपरी मध्यम-वर्ग आगे आ गये। एक क़िस्म पार्लमेण्ट भी क़ायम हो गई है। राम प्रथम के राजवंश के राजा ने बुद्धिमानी इस परिवर्तन को मंजूर कर लिया है, जिससे यह राजवंश बना रह गया है। इस मय स्याम में संविधान के मातहत राजशाही शासन है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के एक और देश—फ़िलीपाइन टापुओं पर विचार करना ह गया है। उनका हाल भी मैं इसी पत्र में लिखना चाहता था, लेकिन अब समय यादा हो गया है और मैं थक गया हूँ, और यह पत्र भी काफ़ी लम्बा हो गया है। ९३२ ई० के इस साल का यह आखिरी पत्र है, जो मैं तुम्हें लिख रहा हूँ। क्योंकि राने साल की ज़िन्दगी पूरी हो चुकी है और वह आखिरी साँसें ले रहा है। अबसे ीन घंटे बाद यह साल न रहेगा और गुज़रे हुए ज़माने की एक याद बन जायगा।

: १२० :

नया साल फिर आया

नया दिन,

आज नये साल का पहला दिन है। पृथ्वी ने सूर्य की एक और परि पूरी कर ली है। छुट्टी या त्यौहार मनाने को यह नहीं रुकती; आकाश में दौड़ती चली जाती है। इसे ज़रा परवाह नहीं कि उसकी सतह पर उन वेशुमार भुनगों का क्या हो रहा है, जो आपस में लड़ते हैं, और क्या क्या नारियाँ, वेवक़ूफ़ी के अहंकार में अपने-आपको संसार का सार और सारे की धुरी समझते हैं। पृथ्वी अपनी सन्तान का लिहाज़ नहीं करती, लेकिन हम लिहाज़ न करें, यह नहीं हो सकता। आज नये साल के दिन, सम्भव है, वहुतेरे लोग अपनी-अपनी जीवन-यात्रा में ज़रा देर सुस्ताकर पुरानी वातें याद लग जायँ, और फिर आगे की तरफ़ देखकर उम्मीदें वान्धने की कोशिश करें। लिए आज मैं भी वीती वातों को याद कर रहा हूँ। जेल में मुझे नये साल यह तीसरी वार पड़ रहा है। हाँ, कुछ महीनों के लिए मैं वाहर की दुनिया रह आया हूँ। इससे भी पीछे जाने पर मुझे याद आता है कि पिछले ग्यारह वर्षों मैंने नये साल के दिन पाँच वार जेलों में विताये हैं। पता नहीं, ऐसे कितने नये- दिन इस जेल में मुझे और देखने को मिलेंगे।

जेल की भाषा में अव मैं वहुत वार का 'आदती' वन गया हूँ और मुझे जीवन की आदत हो गई है। वाहर के मेरे काम-काजी व हलचलभरे, और बड़ी सभाओं, सार्वजनिक भाषणों व इधर-उधर दौड़-भागवाले जीवन में, जेल के जीवन में कितना विचित्र अन्तर है! यहाँ की वात जुदा है, हर तरफ़ ख़ामो है और कोई हलचल नहीं है। मैं देर-देर तक यों ही वैठा रहता हूँ; और घण्टों रहता हूँ। एक-एक करके दिन और सप्ताह और महीने गुज़रते चले जाते हैं और दूसरे में विलीन होते जाते हैं। एक का दूसरे से भेद वतानेवाली कोई चीज़ न वीता हुआ समय एक धुँधली तसवीर की तरह लगता है, जिसमें कोई भी शक्ल नहीं दीखती। कल की याद करते ही गिरफ़्तारी का दिन याद आ जाता है, क्योंकि वीच का अर्सा विलकुल कोरा है, जिसमें कोई ऐसी वात ही नहीं जो दिमाग़ पर डालती हो। यहाँ का जीवन उस पौधे की तरह है, जो एक ही जगह जमा है और वहाँ विना किसी टीका या तर्क-वितर्क के, ख़ामोशी के साथ और विना हरक के साथ वढ़ रहा हो। कभी-कभी वाहरी दुनिया की हलचलें जेल के प्राणी को अजीव और चकरानेवाली-सी लगती हैं, वे वहुत दूर की और छायाओं के खेल की तरह हवाई जान पड़ती हैं। इससे हमारे दो तरह के स्वभाव वन जाते हैं—एक सक्रिय

दूसरा निष्क्रिय। जीवन के ढँग दो तरह के हो जाते हैं और डॉ० जेकिल व हाइड[1] की तरह व्यक्तित्व भी दो बन जाते हैं। राबर्ट लुई स्टीवेन्सन का क़िस्सा तुमने पढ़ा है?

समय पाकर आदमी को हर चीज़ सुहाने लगती है—यहाँतक कि जेल का और एकसा-पन भी। आराम शरीर के लिए अच्छा है और शान्ति दिमाग़ के ए; इससे आदमी विचार करने लगता है। अब शायद तुम समझ जाओगी कि हें इन पत्रों को लिखने से मुझे क्या फ़ायदा हुआ है। इनकी बातें तुम्हें शायद नीरस, कतानेवाली और तूल-तवील लगती होंगी। लेकिन इन्होंने मेरे जेल-जीवन को र दिया है और मुझे ऐसा शग़ल दे दिया है कि जिससे मुझे बहुत आनन्द मिला है। ज से ठीक दो वर्ष पहले नये साल के ही दिन मैंने इनको नैनी-जेल में लिखना किया था और दुबारा जेल आने पर इन्हें फिर जारी कर दिया। कभी-कभी हफ़्तों कुछ नहीं लिखा है, कभी-कभी हर रोज़ लिखा है। जब लिखने की धुन वार होती है तो मैं काग़ज़ क़लम लेकर बैठ जाता हूँ, और दूसरी ही दुनिया में रने लगता हूँ। तब तुम मेरी प्रिय साथी होती हो, और जेल व उसके सारे कामों मैं भूल जाता हूँ। इसलिए ये पत्र मेरे लिए ऐसे बन गये हैं मानो मैं जेल से कलकर बाहर आ गया हूँ।

आज जो पत्र मैं तुम्हें लिख रहा हूँ, उसकी संख्या १२० है, और संख्या डालने यह सिलसिला मैंने सिर्फ़ नौ महीने पहले बरेली-जेल में शुरू किया था। मुझे रत है कि इतना सारा तो मैं लिख चुका हूँ और मैं सोचता हूँ कि जब पत्रों का यह हाड़ बड़े ढेर की तरह तुम्हारे ऊपर गिरेगा तब तुम क्या कहोगी और क्या महसूस रोगी। लेकिन इस तरह मेरा जेल से बाहर निकलना और आना-जाना तुम्हें बुरा हीं लग सकता। प्यारी बेटी! तुमको देखे मुझे सात महीने से ज़्यादा हो गये। यह समय कितना लम्बा बीता है?

इन पत्रों में कही गई कहानी कुछ ज़्यादा तबीयत खुश करनेवाली नहीं है। तिहास सुहावना नहीं होता। अपनी ज़बर्दस्त और शेख़ीगरी प्रगति के बावजूद

---

[1] अंग्रेज़ उपन्यासकार स्टीवेन्सन का एक मशहूर उपन्यास—'Dr. Jekyll nd Mr. Hyde'। डॉ० जेकिल एक बहुत ही नेक विद्वान् प्रोफ़ेसर था। विज्ञान के योग करते समय किसी दवा से उसके शरीर में एक बदमाश मि० हाइड की रूह घुस आई। डॉक्टर को अच्छी दवा हाथ लगी। वह चाहे जब अपना रूप और प्रकृति दल लेता। होते-होते मि० हाइड की आदत ही पड़ गई और वह बिना दवा के ही डॉ० जेकिल के शरीर में घुस आता। आख़िरकार मि० हाइड से छुटकारा ना असम्भव समझकर डॉ० जेकिल ने आत्महत्या कर ली।

मनुष्य अभी तक एक बहुत बुरा और स्वार्थी जीव है। फिर भी उसके स्वार्थीप झगड़ालूपन और हैवानियत के लम्बे और दुखदायी इतिहास में शुरू से अन्त त प्रगति की प्रकाश-रेखा शायद बराबर दिखाई दे सकती है। मैं ज़रा आशावादी और सब बातों को आशाभरी नज़र से देखने का आदी हूँ। लेकिन आशावाद यह अर्थ नहीं है कि हम अपने चारों ओर की बुराइयों से आँखें मूंद लें और इस ख को भी न देखें कि बिना विचार का आशावाद कहीं खुद ही बहुत-कुछ कुठार में चला जाय। क्योंकि दुनिया जैसी अबतक रही है, और जैसी आज भी है, उ आशावाद के लिए ज़रा भी गुंजायश नहीं दिखाई देती। आदर्शवादी के लिए औ ऐसे व्यक्ति के लिए जो श्रद्धा पर अपने विश्वास नहीं बनाता, इस दुनिया में रह कठिन है। हर तरह के सवाल यहाँ उठा करते हैं, जिनका कोई सीधा जवाब न मिलता। मन में हर तरह के सन्देह पैदा होते रहते हैं, जो आसानी से न मिटते। दुनिया में इतनी मुसीबत और बेवक़ूफ़ी क्यों है? इसी पुराने प्रश्न ने हमा देश के राजकुमार सिद्धार्थ को ढाई हज़ार वर्ष पहले परेशान किया था। कथा कि 'बोध' प्राप्त करके 'बुद्ध' बनने से पहले यह प्रश्न बार-बार उनके दिल में उठ रहता था। कहते हैं, वह अपने-आपसे पूछा करते थे:

"कैसे हो सकता कि ब्रह्म यह जगत बनाये
किन्तु उसे दुख और मुसीबत में रखवाये,
क्योंकि अगर वह सर्वशक्तिमय हो यह करता,
तो वह अच्छा कभी नहीं माना जा सकता
और अगर वह ब्रह्म नहीं है सर्वशक्तिमय,
तो वह ईश्वर कभी नहीं, यह जानो निश्चय?"

हमारे ही देश में आज़ादी की लड़ाई चल रही है; पर हमारे बहुत-से बा उधर ज़रा भी ध्यान न देकर आपसी बहस और झगड़ों में लगे हुए हैं; वे जनत की भलाई को भूलकर अपने ही पंथ या मज़हबी सम्प्रदाय के लिहाज़ से सोचते हैं। और कुछ लोग, जिन्हें आज़ादी का सपना नहीं दिखाई देता—

"ज़ुल्मियों से मिल गये और हो गये बस शान्त
कर इकट्ठें दूसरों के ताज और सिद्धान्त
और चिथड़े और कुछ टुकड़े मुलम्मेदार
पहनकर फिरने लगे सब लाज शर्म बिसार।"

क़ानून और व्यवस्था के नाम पर अत्याचारी शासन चल रहा है और उसके आगे सिर झुकाने से इन्कार करनेवालों को कुचल डालने की कोशिश कर रहा है। ग़ज़ब तो यह है कि जो चीज़ कमज़ोरों और सताये हुओं का आसरा होनी चाहिए, वही अत्याचारियों के हाथों का हथियार हो रही है! इस पत्र में कई

ण आ चुके हैं, लेकिन एक और मैं देना चाहता हूँ, क्योंकि वह मेरे दिल को है और हमारी मौजूदा हालत से मेल खाता हुआ मालूम देता है। यह वीं सदी के फ़ान्सीसी विचारक मान्तेस्क्यू की एक किताब से लिया गया इस नाम का ज़िक्र मैं शुरू के किसी पत्र में कर भी चुका हूँ।

“जिस तख्ते ने सहारा देकर डूबते हुए मुसीबत के मारे लोगों को बचाया हो, उसीके ज़रिये अगर उन्हें डुबा दिया जाय, तो क़ानून और न्याय का चाहे जितना रंग चढ़ाने पर भी इससे बढ़कर निर्दयी अत्याचार नहीं हो सकता।”

यह पत्र इतना दुखभरा हो गया है कि नये दिन का पत्र कहलाने लाय रहा। यह चीज़ बहुत अनुचित है। पर वास्तव में मैं तो उदास नहीं, और उदास हों भी क्यों? हमें तो खुशी होनी चाहिए कि हम एक महान् उद्देश्य के जतन कर रहे और लड़ रहे हैं; हमें एक महान् नेता मिल हुआ है, जो एक रा मित्र और भरोसे का रास्ता दिखानेवाला है, और जिसके दर्शन से हमें मिलता है और जिसका स्पर्श हमें प्रेरणा देता है। हमें पूरा यक़ीन है कि लता हमारा इन्तज़ार कर रही है और कभी-न-कभी हम उसे ज़रूर हासिल र लेंगे। अगर पार करने के लिए ये रुकावटें न होतीं, और जीतने के लिए ये ड़ाइयाँ न होतीं, तो जीवन नीरस और बेरंग हो जाता।

प्यारी बेटी, तुम जीवन की देहली पर खड़ी हो; तुम्हें तो उदासी व मलाल ा करनेवाली बातों से कोई सरोकार ही नहीं होना चाहिए। तुम्हें जीवन का र जो कुछ उसमें आ पड़े, उसका सामना प्रसन्न व शान्त मुद्रा से करना गा; रास्ते में आनेवाली कठिनाइयों का स्वागत करना होगा ताकि उनपर जय पाने का आनन्द हासिल करो। विदा, प्यारी बेटी! हमें आशा रखनी हिए कि हमें कामयाबी मिलने में बहुत देर नहीं लगेगी।

: १२१ :

फ़िलीपाइन और संयुक्त राज्य अमेरिका

३ जनवरी, १९३३

वर्ष के नये दिनपर कुछ इधर-उधर की बातों का ज़िक्र करके अब हम पनी कहानी चालू करते हैं। अब हमें फ़िलीपाइन टापुओं को लेना चाहिए ाकि एशिया के पूर्वी हिस्से की तसवीर पूरी हो जाय। इन टापुओं की तरफ़ खास यान देने की क्या ज़रूरत है? एशिया में व दूसरी जगह और भी बहुत-से टापू जिनका ज़िक्र भी मैं इन पत्रों के सिलसिले में नहीं कर रहा हूँ। बात यह है

कि हम एशिया में नई साम्राज्यशाही के विकास को, और पुरानी सभ्यताओं उसकी प्रतिक्रियाओं को समझने की कोशिश कर रहे हैं। इस अध्ययन के भारत का साम्राज्य एक नमूना है। चीन हमको इस औद्योगिक साम्राज्यशा फैलाव का एक जुदा, लेकिन बहुत ही महत्व का पहलू दिखलाता है। इन्दोनी हिन्दचीन, वग़ैरा से भी हमें बहुत-कुछ सीखने को मिल सकता है। इसी फ़िलीपाइन भी हमारे लिए दिलचस्पी की चीज़ है। यह दिलचस्पी और भी इसलिए बढ़ जाती है कि हम यहाँ एक नई शक्ति की यानी संयुक्त राज्य अमे की कारगुज़ारियाँ देखते हैं।

हम देख चुके हैं कि चीन में संयुक्त राज्य अमेरिका ने दूसरी शक्तियों तरह हमलावर नीति इख़्तियार नहीं की थी। कई मौक़ों पर तो उसने दू साम्राज्यशाही शक्तियों को रोककर चीन की मदद भी की थी। इसकी वजह नहीं थी कि उसे साम्राज्यशाही से नफ़रत थी, या चीन से कोई प्रेम था। असल कुछ ऐसे अन्दरूनी तथ्य थे, जिनके कारण अमेरिका का यूरोप के देशों से मतभे था। यूरोप के ये देश छोटे-से महाद्वीप में बहुत ही पास-पास सटे हुए थे और इन आबादी इतनी घनी थी कि पाँव रखने को भी जगह न थी। इसलिए यहाँ हमें लड़ाई-झगड़े और गड़बड़ें होती रहती थीं। उद्योगवाद के आने से इनकी आब तेज़ी से बढ़ी और वे दिन-पर-दिन इतना ज़्यादा माल तैयार करने लगे कि उन खपत उनके घर में नहीं हो सकती थी। बढ़ती हुई आबादी के लिए खूराक ज़रूरत हुई, कारखानों के लिए कच्चे माल की, और तैयार माल के लिए बाज़ा की। इन ज़रूरतों को फ़ौरन पूरा करने की आर्थिक ज़रूरत ने इन देशों को दूसरे देशों में जाकर साम्राज्य के लिए आपस में युद्ध करने को मजबूर किया।

ये बातें संयुक्त राज्य अमेरिका पर लागू नहीं होती थीं। इनका दे यूरोप के बराबर ही लम्बा-चौड़ा था, पर आबादी कम थी। यहाँ हर आदमी के लिए काफ़ी गुंजाइश थी। अपने ही देश के लम्बे-चौड़े बंजर इलाकों के विकास सारा ज़ोर लगाने के इन लोगों को खूब मौके थे। जैसे-जैसे रेलें बनती गई, लोग पश्चिम की तरफ़ बढ़ते चले गये, यहाँतक कि प्रशान्त महासागर के किनारे तक जा पहुँचे। अपने ही देश के इन कामों में अमेरिकावासी इतने मशग़ूल थे कि उपनिवेश बसाने का न तो उन्हें हौसला था और न फ़ुरसत। वास्तव में एक बार तो, जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, उन्हें कैलीफ़ोर्निया के समुद्री किनारे पर काम करने के लिए चीन की सरकार से चीनी मज़दूरों की माँग करनी पड़ी थी। यह माँग पूरी कर दी गई, लेकिन बाद में इसीकी वजह से दोनों देशों के बीच दुश्मनी पैदा हो गई। इस तरह अपने ही देश की चिन्ताओं में फँसे रहने के कारण अमेरिकावाले साम्राज्य की उस दौड़ से अलग रहे, जिसमें यूरोप की सर

लगी हुई थीं। चीन में भी उन्होंने तभी दखल दिया जब मजबूरी ही आ पड़ी उन्हें अन्देशा होने लगा कि दूसरी शक्तियाँ इस देश को आपस में बाँट ी।

हाँ, फ़िलीपाइन टापू सीधे अमेरिका के क़ब्ज़े में आ गये। ये हमें अमेरिका साम्राज्यशाही की कहानी सुनाते हैं और इस वास्ते हमारे लिए दिलचस्पी ते हैं। यह खयाल न करना कि संयुक्त राज्य अमेरिका का साम्राज्य फ़िलीपाइन ुओं तक ही है। ऊपरी तौर पर तो उसके पास सिर्फ़ यही एक साम्राज्य है। पर री साम्राज्यशाही शक्तियों के अनुभवों और परेशानियों से फ़ायदा उठाकर ने पुराने तरीक़ों पर क़लई चढ़ा दी है। अमेरिकावाले किसी देश पर क़ब्ज़ा ने की इल्लत में नहीं पड़ते, जैसा कि अंग्रेज़ों ने भारत पर कर रखा है। उनको सिर्फ़ मुनाफ़ों से मतलब है, इसलिए वे दूसरे देश की दौलत को हाथ में रखने तरक़ीबें करते रहते हैं। दौलत पर क़ब्ज़ा हो जाने से देश की जनता को और ल में फिर खुद उस देश को ही साथ में रखना आसान हो जाता है। बस ज्यादा ड़े के बिना या सरगर्म राष्ट्रीयता से टकराये बिना, ये लोग देश पर अपना बू रखते हैं और उसकी दौलत में हिस्सेदार बन जाते हैं। इस चतुर उपाय ी आर्थिक साम्राज्यवाद कहते हैं। नक़्शे में इसका पता नहीं चलता। अगर ोल की पुस्तक में या ऐटलस में देखो तो देश आज़ाद और स्वाधीन दिखाई ा। पर अगर पर्दे को हटाकर देखो तो पता लगेगा कि यह किसी दूसरे ही देश के गुल में है, या यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि वहाँ के साहूकारों और बड़े-बड़े वसायियों के चंगुल में है। संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथ में इसी तरह का ाम्राज्य है, जो नज़र में नहीं आता है। इंग्लैण्ड जब किसी देश के लोगों को राज ी मशीन सौंप देने का दिखावा करता है तो इसकी तह में उसकी यही कोशिश ोती है कि भारत में व दूसरी जगह उसका इसी तरह का नज़र में न आनेवाला ेकिन फिर भी कारगर साम्राज्य बना रहे। यह खतरनाक चीज़ है, और हमें इससे सावधान रहना चाहिए।

खैर, नज़र में न आनेवाले इस आर्थिक साम्राज्य पर ग़ौर करने की भी ज़रूरत नहीं है; क्योंकि फ़िलीपाइन टापू तो नज़र में आनेवाले साम्राज्य के ही भाग हैं।

फ़िलीपाइन में हमारी दिलचस्पी का एक छोटा और कुछ भावुक सबब ौर भी है। आजकल फ़िलीपाइन का रूप स्पेनी-अमेरिकी है पर उसकी पुरानी संस्कृति की सारी पीठ भारतीय है। भारतीय संस्कृति सुमात्रा और जावा होती ई वहाँ पहुँची थी तथा इसने जीवन के सामाजिक, राजनीतिक, मज़हबी, वग़ैरा र पहलू पर असर डाला था। प्राचीन भारतीय पुराणों की गाथाएँ, कथाएँ और

साहित्य का कुछ हिस्सा वहाँ पहुँचे थे। इन की भाषा में संस्कृत के बहुतेरे हैं। इनकी कला पर और इनके क़ानूनों और दस्तकारियों पर भारत का पड़ा है। यहाँतक कि पोशाक व अलंकारों पर भी भारत की छाप है। स्पे ने अपने तीन सौ साल से ज़्यादा के लम्बे राज में प्राचीन भारतीय सं के सारे सबूतों को मिटाने की कोशिशें कीं, इससे अब बहुत कम बाक़ी बचे

स्पेनियों ने इन टापुओं पर १५६५ ई० में ही क़ब्ज़ा करना शुरू कर दि था। इस तरह ये टापू एशिया में यूरोपवालों के पाँव जमने की सबसे पहली हैं। इनका शासन पुर्तगाली, डच या ब्रिटिश उपनिवेशों से बिलकुल ही जुदा का था। व्यापार को कोई बढ़ावा नहीं दिया जाता था। सरकारों का आ मज़हबी था और अधिकारी ज़्यादातर ईसाई मिशनरी व पादरी हुआ थे। इसको 'मिशनरियों का साम्राज्य' कहा गया है। जनता की हालत को सुधार की कोई कोशिश नहीं की जाती थी। बद-इन्तज़ामी, अत्याचार और टैक्सों बोझ के साथ-साथ लोगों को ज़बर्दस्ती ईसाई बनाने की कोशिशें भी की जाती थीं। ऐसी हालत में विद्रोहों का होना लाज़िमी था। व्यापार के लिए बहुत-से ची लोग भी इन टापुओं में आ बसे थे। ईसाई बनने से इन्कार करने पर उन हत्याएँ कर दी गईं। अंग्रेज़ और डच सौदागरों को यहाँ आने की इजाज़त थी—कुछ तो इसलिए कि वे स्पेनियों के दुश्मन थे, और कुछ इसलिए कि वे प्रो स्टेण्ट ईसाई थे और इसलिए रोमन-कैथलिक स्पेनियों की नज़रों में काफ़िर थे।

हालतें बिगड़ती गईं, लेकिन एक अच्छा नतीजा भी निकला। इन टापु के बिखरे हुए हिस्सों और समूहों में एका हो गया, और उन्नीसवीं सदी में राष्ट्री भावना जागने लगी। इसी सदी के बीच में विदेशी व्यापारियों के लिए इन टापुओं के दरवाज़े खुल जाने के सबब से शिक्षा और दूसरे विभागों में कुछ सुधार भी हुए और व्यापार व व्यवसाय की उन्नति हुई। फ़िलीपाइनियों में भी एक मध्यम वर्ग बन गया। स्पेनियों और फ़िलीपाइनियों के बीच आपसी विवाह होने की वजह से बहुत-से फ़िलीपाइनियों में स्पेनी ख़ून था। स्पेन को मातृभूमि के समान माना जाने लगा और स्पेनी विचार फैलने लगे। फिर भी राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती गई और जैसे-जैसे दमन हुआ, वह क्रान्तिकारी बनती गई। शुरू में तो स्पेन से अलग होने का कोई विचार न था। स्वराज्य की, और स्पेन की कमज़ोर व बेकार पार्लमेण्ट 'कार्नेस' में कुछ प्रतिनिधियों की माँग की गई। यह अनोखी बात है कि किस तरह हर जगह राष्ट्रीय आन्दोलन नर्मी के साथ शुरू होते हैं और लाज़िमी तौर पर गर्म बन जाते हैं और अन्त में अलग होने की व स्वाधीनता की माँग करने लगते हैं। आज़ादी की दबाई हुई माँग, बाद में सूद-दर-सूद के साथ पूरी करनी पड़ती है। बस, फ़िलीपाइन में भी यह माँग बढ़ी; इसे पूरी करने के लिए

राष्ट्रीय संगठन बनाये गए और गुप्त समितियाँ भी फैलीं। "नौजवान फ़िलीपाइनी लीग" ने, जिसका नेता डॉ० जोस रिज़ल था, इस आन्दोलन में बहुत बड़ा भाग लिया। स्पेनी अधिकारियों ने आतंक से आन्दोलन को कुचलने की कोशिश की, क्योंकि मालूम होता है सरकारें सिर्फ़ यही एक तरीक़ा जानती हैं। रिज़ल और बहुत-से दूसरे नेताओं को १८९६ ई० में मौत की सज़ा देकर फाँसी पर चढ़ा दिया गया।

इससे मानो फूस में चिनगारी पड़ गई। स्पेनी सरकार के ख़िलाफ़ खुली बग़ावत भड़क उठी और फ़िलीपाइनियों ने अपना "स्वाधीनता का घोषणा-पत्र" निकाल दिया। पूरे साल भर लड़ाई चलती रही और स्पेनी लोग बग़ावत को कुचल नहीं सके। तब कुछ ठोस सुधारों के वादे पर लड़ाई रोक दी गई। लेकिन स्पेन ने कुछ नहीं किया, और १८९८ ई० में बग़ावत फिर से भड़क उठी।

इसी बीच किसी दूसरे मामले पर अमेरिका की सरकार का स्पेन से झगड़ा हो गया और दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ गया। अप्रैल, १८९८ ई० में, अमेरिका के जंगी बेड़े ने फ़िलीपाइन पर हमला कर दिया। बाग़ी फ़िलीपाइन नेताओं को पूरी आशा थी कि महान् अमेरिकी गणराज्य उनकी आज़ादी की हिमायत करेगा। इसलिए युद्ध में उन्होंने अमेरिकावालों की मदद की। उन्होंने अपनी स्वाधीनता की फिर घोषणा कर दी और एक गणराज्यी सरकार संगठित करली। सितम्बर, १८९८ ई० में, फ़िलीपाइनी कांग्रेस बुलाई गई और नवम्बर के अन्त तक नया संविधान बना लिया गया। लेकिन इधर जब कांग्रेस में नये संविधान पर बहस हो रही थी, तब उधर अमेरिका स्पेन को हरा रहा था। स्पेन कमजोर था, इसलिए साल का अन्त होते-होते उसने हार मान ली और युद्ध समाप्त हो गया। सन्धि की शर्तों के मुताबिक स्पेन ने फ़िलीपाइन टापू अमेरिका के हवाले कर दिये। यह उदार भेंट देने में उसे लगता ही क्या था; क्योंकि फ़िलीपाइनी बाग़ियों ने स्पेनी सत्ता का तो पहले ही अन्त कर दिया था।

अब संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने इन टापुओं पर क़ब्ज़ा करने की कार्रवाई की। फ़िलीपाइनियों ने इसका विरोध किया और बतलाया कि टापुओं को दूसरे को सौंपने का स्पेन को न तो कोई मतलब था और न कोई अधिकार ही, क्योंकि उस वक्त स्पेन के पास सौंपने के लिए था ही क्या। लेकिन यह विरोध बेकार गया, और जब वे अपनी नई जीती हुई आज़ादी के लिए अपनेको बधाई दे ही रहे थे कि उन्हें स्पेन से कहीं ज्यादा ज़बर्दस्त सरकार से दुबारा लड़ाई छेड़नी पड़ी। साढ़े तीन वर्ष तक ये वीरता से लड़ते रहे, कुछ महीनों तक तो संगठित सरकार के रूप में और इसके बाद युद्ध के छापा-मार तरीक़े से।

अन्त में विद्रोह दबा दिया गया और अमेरिकी राज कायम हुआ। बहुत-से चौमुखी सुधार किये गए, ख़ासकर शिक्षा में, लेकिन स्वाधीनता की माँग जारी

रही। १९१६ ई० में संयुक्त राज्य की कांग्रेस ने 'जोन्स-बिल' नामक एक बि पास करके एक चुनी हुई विधान-सभा को कुछ अधिकार सौंप दिये। लेकिन अमे रिकी गवर्नर-जनरल को दखल देने का हक़ रहा, और अक्सर वह इस हक़ काम में भी लाता रहा।

संयुक्त राज्य के खिलाफ़ तो फ़िलीपाइन में बलवे नहीं हुए; पर फ़िलीपाइनि को अपने मौजूदा नसीब पर तसल्ली नहीं है और स्वाधीनता के लिए उनकी बेचै व माँग बराबर चल रही हैं। अमेरिकी लोग सच्चे साम्राज्यशाही ढंग से अक्सर भरोसा दिलाते रहते हैं कि वे तो फ़िलीपाइनियों के ही फ़ायदे के लि वहाँ बने हुए हैं, और जैसे ही वे अपना काम-काज सम्भालने के क़ाबिल हो जाये वैसे ही वे इन टापुओं को छोड़कर चले जायँगे। १९१६ ई० के जोन्स बिल में कहा गया था कि "अमेरिका के लोगों का हमेशा से यही उद्देश्य रहा है, और अ भी है, कि फ़िलीपाइन में मज़बूत सरकार क़ायम होने की सूरत पैदा होते ही फ़िलीपाइन टापुओं पर से अपना राज हटालें और उनकी स्वाधीनता क़बूल करलें।" फिर भी, अमेरिका में बहुत-से लोग मौजूद हैं, जो फ़िलीपाइन स्वाधीनता का खुल्लम-खुल्ला विरोध करते हैं।

मैं यह लिख ही रहा हूँ कि अख़बारों में ख़बर आ रही है कि अमेरिका कांग्रेस ने एक प्रस्ताव या ऐसी ही कोई घोषणा पास की है कि फ़िलीपाइन दस साल में स्वाधीनता दे दी जायगी।[1]

फ़िलीपाइन में संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ आर्थिक स्वार्थ हैं, जिनकी रक्षा की उसे फ़िक्र है। रबड़-बागानों की खेती में उसका ख़ास स्वार्थ है, क्योंकि यह एक ऐसी निहायत ज़रूरी चीज़ है, जो उसके यहाँ पैदा नहीं होती। लेकिन मेरे ख़याल से इन टापुओं पर क़ब्ज़ा रखने का असली सबब है जापान का डर। जापान फ़िलीपाइन के बिलकुल नज़दीक है, और जापान में बढ़ती हुई आबादी की बाढ़ आ रही है। यह बिलकुल सम्भव है कि जापानी सरकार की लालचभरी नज़र इन टापुओं पर पड़ रही हो। अमेरिका और जापान की सरकारों के बीच काफ़ी लाग-डाँट है। इसलिए फ़िलीपाइन के भविष्य का सवाल प्रशान्त महासागर की शक्तियों और उनके आपसी सम्बन्धों के बड़े सवाल का एक टुकड़ा है।

---

[1] अमेरिका ने १९४६ ई० में फ़िलीपाइन को स्वाधीन कर दिया और अब वह एक गणराज्य है।

: १२२ :

तीन महाद्वीपों का संगम

१६ जनवरी, १९३३

नये साल के दिन की मेरी कामनाओं में से एक तो इतनी जल्द पूरी भी हो ई कि एक पखवाड़े पहले पत्र लिखते वक़्त मुझे उनका गुमान भी न था। इतनी म्बी बाट जोहने के बाद आखिर हमारी मुलाक़ात हुई और मैंने तुम्हें फिर देखा। म्हें और दूसरे लोगों को देखने की खुशी और लहर कई दिनों तक मेरे दिल में री रही और उसने मेरे ढर्रे में गड़बड़ डाल दी और रोज़ की बातों में मुझे ला-परवाह ना दिया। मुझे छुट्टियों जैसी मौज आ गई है। हमारी मुलाक़ात को चार ही दिन ीते हैं, पर कितना समय गुज़र गया मालूम होता है! मैं तो भविष्य की भी सोचने ग गया हूँ और इस सोच में हूँ कि हमारी अगली मुलाक़ात कब और कहाँ होगी।

खैर, जेल का कोई क़ानून मुझे अपने मन-बहलाव के खेल से नहीं रोक सकता और मैं इन पत्रों का सिलसिला जारी रक्खूँगा।

कुछ समय से मैं तुम्हें उन्नीसवीं सदी का हाल लिखता आ रहा हूँ। पहले तो ने तुम्हें इस सदी का सरसरी सिंहावलोकन कराया, जो मोटे तौर पर नेपोलियन के पतन के बाद के सौ वर्ष हैं। उसके बाद हमने कई देशों पर बारीकी से ग़ौर करना शुरू किया। भारत, फिर चीन, और जापान, और सबके बाद भारत के र्ववर्ती देशों की हमने अच्छी तरह सैर की। बारीकी के साथ इस सिंहावलोकन में हम अभी तक एशिया के एक हिस्से को ही देख सके हैं। बाक़ी दुनिया अभी बाक़ी है। यह एक लम्बा इतिहास है और इसे सीधा व साफ़ रखना कठिन है। मुझे एक-एक करके देशों और महाद्वीपों को लेना है और उनका अलग-अलग बयान करना है। अलग-अलग इलाकों के लिए मुझे बार-बार पीछे का हाल कहने में बार-बार उसी काल में लौटना पड़ता है और एक ही ज़माने का हाल लिखना पड़ता है। इसलिए कुछ उलझन हो जाना लाज़िमी है। लेकिन तुम्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जुदा-जुदा देशों में उन्नीसवीं सदी की ये सारी घटनाएँ समकालीन थीं, यानी बहुत करके एक ही समय में हुईं। उन्होंने एक दूसरी पर असर डाला और एक की दूसरी पर प्रतिक्रिया भी होती रही। इसीलिए, किसी देश के इतिहास को अलग लेकर अध्ययन करने में धोखा हो सकता है। कुल दुनिया के इतिहास से ही हमें उन घटनाओं और ताक़तों के महत्व का ठीक अंदाज़ा लग सकता है, जिन्होंने अतीत को रूप दिया और उसे वर्तमान बनाया। ये पत्र इस तरह का इतिहास पेश करने का दावा नहीं करते। यह काम मेरी ताक़त से बाहर है और इस विषय पर किताबों की भी कमी नहीं है। इन पत्रों में मैंने सिर्फ़ यह कोशिश

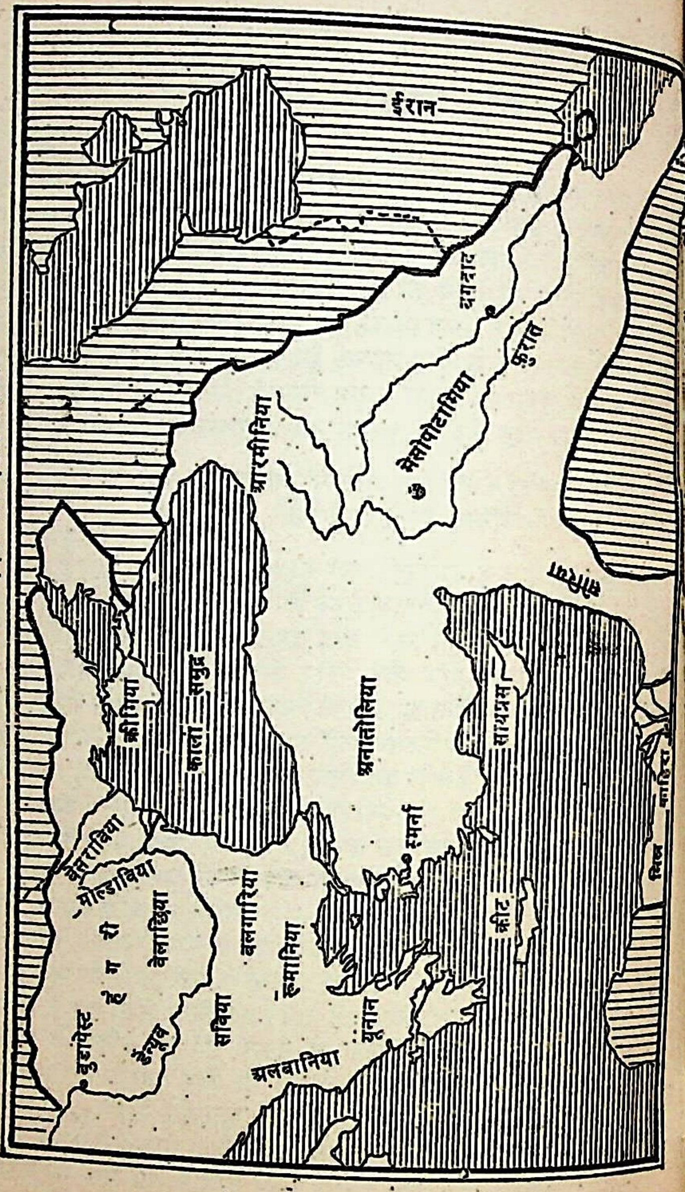
ईरान
बगदाद
फ़ुरात
मैसोपोटामिया
आरमीनिया
अलेप्पो
काला समुद्र
क्रीमिया
अनातोलिया
साइप्रस
स्मर्ना
क्रीट
मिस्र
काहिरा
बेसराबिया
मोल्डाविया
हंगरी
वैलाछिया
बुडापेस्ट
डैन्यूब
सर्विया
बलगारिया
रूमानिया
यूनान
अलबानिया

उस्मानी साम्राज्य—१६वीं और १७वीं सदी में

ी है कि संसार के इतिहास में तुम्हारी रुचि को जगादूं, तुम्हें उसके कुछ पहलुओं ी झाँकी करादूं और शुरू से लगाकर आजतक मनुष्य-जाति की जो हलचलें ही हैं, उनका धागा तुम्हारे हाथ में दे दूं। पता नहीं कि मैं कहाँतक सफल हो ूंगा। कहीं ऐसा न हो कि मेरी मेहनत का नतीजा तुम्हारे सामने एक गड़बड़ाला रख दे, जो तुम्हें सही फ़ैसले पर पहुँचने में मदद देने के बजाय उलटा उलझन में डाल दे।

यूरोप उन्नीसवीं सदी को आगे धकेलनेवाली ताक़त था। वहाँ राष्ट्रीयता का बोलबाला था, और उद्योगवाद वहाँ से दुनिया के दूर-दूर कोनों में फैलकर अक्सर साम्राज्यशाही का रूप ले रहा था। इस सदी पर हमने शुरू में जो सरसरी निगाह डाली थी, उसमें हम यह देख चुके हैं और हमने भारत और पूर्वी एशिया में साम्राज्यशाही के नतीजों को ज़रा बारीकी से सिलसिलेवार समझा है। अब फिर नज़दीक से देखने के लिए यूरोप की तरफ़ चलने से पहले मैं तुमको ज़रा पश्चिमी एशिया की भी सैर करा देना चाहता हूँ। इस भू-भाग को मैंने बहुत अर्से से छोड़ रक्खा है, जिसका ख़ास सबब यह है कि इसके बाद के इतिहास की मुझे कुछ ज़्यादा जानकारी नहीं है।

पूर्वी एशिया व भारत से पश्चिमी एशिया बहुत अलग तरह का है। बहुत ज़माना हुआ तब तो मध्य-एशिया और पूर्व की बहुत-सी क़ौमों और क़बीलों ने यहाँ आकर हमले किये थे। ख़ुद तुर्क लोग इसी तरह आये थे। ईसवी सन से पहले बौद्ध-धर्म भी ठेठ एशिया कोचक तक जा पहुँचा था, लेकिन वह वहाँ जड़ जमा सका हो तो ऐसा नहीं लगता। गुज़रे ज़माने में पश्चिमी एशिया की आँखें एशिया या पूर्व की बनिस्वत यूरोप की तरफ़ ही ज़्यादा लगी रहीं। एक तरह से यह यूरोप की तरफ़ एशिया का झरोखा रहा है। एशिया के जुदा-जुदा भागों में इस्लाम के फैलने से भी पश्चिमी एशिया के नज़रिये में कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ा।

भारत, चीन और दूसरे पड़ौसी देशों ने यूरोप की तरफ़ इस तरह कभी नहीं देखा। वे एशियापन में ही लिपट रहे। भारत और चीन के बीच नस्ल, नज़रिये व संस्कृति का बड़ा भारी फ़र्क़ है। चीन कभी मज़हब का गुलाम नहीं रहा, और वहाँ पुजारियों-पुरोहितों की प्रथा नहीं रही। भारत ने सदा से अपने धर्म पर अभिमान किया है। उसके समाज पर पण्डे-पुजारी लदे रहे हैं, हालाँकि बुद्ध ने उसकी छाती पर बैठे इस बोझ से छुड़ाने के जतन भी किये। भारत और चीन में और भी बहुत-से फ़र्क़ हैं; फिर भी भारत और पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के बीच अजीब एकता है। इस एकता का कारण बुद्ध-गाथाओं की कड़ी है, जिसने इन देशों के निवासियों को जोड़ रक्खा है और जिसने कला व साहित्य, संगीत व गीतों में एक-सी बन्दिश गूँथ दी है।

इस्लाम के साथ भारत में कुछ पश्चिमी-एशियापन आगया। यह एक और संस्कृति थी; जीवन का अलग ही नज़रिया था। लेकिन भारत में पश्चिमी-एशिया सीधा या अपने क़ुदरती रूप में नहीं आया, जैसाकि अरबवाले भारत को वि करते तो होता। वह आया, लेकिन बहुत दिन बाद, और वह भी मध्य-एशिय नस्लों की माफ़ंत, जो उसकी सही प्रतिनिधि नहीं थीं। तो भी इस्लाम ने भा को पश्चिमी एशिया से जोड़ दिया, और इस तरह भारत दो महान् संस्कृति के मिलने की जगह बन गया। इस्लाम चीन में भी पहुंचा और वहाँ बहुत लोगों ने इसे अपना लिया, पर इसने चीन की पुरानी संस्कृति को कभी चुनौ नहीं दी। भारत में यह चुनौती इसलिए दी गई थी कि इस्लाम बहुत अर्से तक रा करनेवाले वर्ग का मज़हब था। इस तरह भारत वह देश हो गया जहाँ दो संस्कृति एक-दूसरे के मुक़ाबले में खड़ी हुईं। मैं तुमको उन तमाम कोशिशों का हाल लि ही चुका हूँ, जो इस कठिन समस्या को हल करने के लिए समन्वय की तलाश में की गईं। इन कोशिशों में बहुत कुछ कामयाबी हासिल हो रही थी कि ब्रिटि हुक़ूमत के रूप में एक नया ख़तरा और एक नई रुकावट आ मौजूद हुई। आज इन दोनों पुरानी संस्कृतियों ने अपना पुराना रूप खो दिया है। राष्ट्रीयत और उद्योगीकरण ने दुनिया को बदल दिया है, और जिस हद तक नई आर्थि हालतों में ठीक बैठ सकें, उसी हद तक पुरानी संस्कृतियाँ जीवित रह सकती हैं। उनके खोखले खोल बच रहे हैं, असली रूप जाते रहे हैं। खुद इस्लाम की जन्मभूमि पश्चिमी एशिया में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। चीन और सुदूरपूर्व बराबर उथल-पुथल की हालत में हैं। भारत में हम ख़ुद देख सकते हैं कि क्या हो रहा है।

पश्चिमी एशिया के बारे में लिखे इतने दिन हो गये कि अब सिलसिले को पकड़ना मुश्किल-सा हो रहा है। तुम्हें याद होगा कि मैंने बग़दाद के महान् अरब साम्राज्य का हाल बताया था कि किस तरह तुर्कों के (ये तुर्क सेलजूक तुर्क थे उस्मानी नहीं) हाथों इसकी मिट्टी पलीद हुई और अन्त में चंगेज़ख़ाँ के मंगोलों ने किस तरह इसे बिलकुल नष्ट कर दिया। मंगोलों ने ख़्वार्ज़म के साम्राज्य का भी अन्त कर दिया, जो मध्य-एशिया तक फैला हुआ था और जिसमें ईरान भी शामिल था। इसके बाद तैमूरलंग आया और कुछ दिन की सैनिक सफलताओं और हत्याकाण्डों के बाद ग़ायब हो गया। लेकिन पश्चिम की तरफ़ एक नया साम्राज्य उठ खड़ा हुआ, जो तैमूर से हारने के बावजूद फैलता जा रहा था। यह साम्राज्य उस्मानी तुर्कों का था, जिन्होंने ईरान के पश्चिम में एशिया पर और मिस्र व दक्षिण-पूर्वी यूरोप के ख़ास बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लिया था। कई पीढ़ियों तक यूरोप पर इनका ख़तरा बना रहा और यूरोप के मज़हबी व अन्धविश्वासी लोगों को, जो मध्य-युगों से बाहर निकल ही रहे थे, ये तुर्क पापियों को सज़ा देने के लिए "ख़ुदा का क़हर" मालूम दिये।

—

उस्मानी राज के अधीन पश्चिमी एशिया इतिहास से ग़ायब हो जाता है और दुनिया की बड़ी जीवनधारा से कटकर रुके हुए पानी की खाड़ी बन जाता है। सदियों तक, बल्कि हज़ारों वर्षों तक, यह यूरोप और एशिया के बीच राजमार्ग और एक महाद्वीप से दूसरे को माल ले जानेवाले अनगिनत क़ाफ़िले इस हिस्से शहरों और रेगिस्तानों को लाँघा करते थे। पर तुर्कों ने व्यापार को बढ़ावा न दिया और अगर वे देना भी चाहते तो एक नये कारण के सामने लाचार थे। यह कारण था यूरोप और एशिया के बीच समुद्री-रास्तों का विकास। समुद्र अब नया राजमार्ग बन गया और जहाज़ों ने रेगिस्तान के ऊँटों की जगह ले ली। इस परिवर्तन के सबब से दुनिया में पश्चिमी एशिया का महत्व बहुत घट गया। वह अब विलग जीवन विताने लगा। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में स्वेज़ नहर खुल जाने से समुद्री रास्ते का महत्व और भी ज़्यादा हो गया। यह नहर पूर्व और पश्चिम के बीच, इन दोनों संसारों को एक-दूसरे के ज़्यादा नज़दीक लानेवाला सबसे बड़ा राजमार्ग बन गई।

अब बीसवीं सदी में हमारे देखते-ही-देखते एक ओर महान् परिवर्तन हो रहा है। जल और थल की पुरानी होड़ में अब थल फिर जीत रहा है और समुद्र को दुनिया के बड़े राजमार्ग की जगह से हटा रहा है। मोटरों के आविष्कार से बड़ा फ़र्क़ पड़ गया है और हवाई-जहाज़ों ने इसे और भी बढ़ा दिया है। व्यापार के प्राचीन मार्ग, जो इतने दिनों से सूने पड़े थे,अब फिर आवा-जाई से भर रहे हैं। हाँ, आराम की चाल चलनेवाले ऊँटों की जगह अब रेगिस्तान में मोटरें दौड़ती हैं और सिर पर हवाई जहाज़ उड़ते हैं।

उस्मानी साम्राज्य ने तीन महाद्वीपों—एशिया, अफ़्रीका और यूरोप को जोड़ दिया था। पर उन्नीसवीं सदी के बहुत पहले से ही यह साम्राज्य कमज़ोर पड़ गया था और इस सदी ने इसे तीन-तेरह होते भी देख लिया। "ख़ुदा का क़हर" अब "यूरोप का मरीज़" हो गया। १९१४-१८ ई० के महायुद्ध ने इसका अन्त ही कर दिया। और इसकी राख में से नवीन तुर्की का उदय हुआ है, जो अपने ऊपर भरोसा रखनेवाला, मज़बूत और प्रगतिशील है। इसके अलावा और भी कई राज्य पैदा हो गये हैं।

मैं लिख चुका हूँ कि पश्चिमी एशिया 'यूरोप की तरफ़ एशिया का झरोखा' है। यह भूमध्य सागर से घिरा हुआ है, जिसने एशिया, यूरोप और अफ़्रीका को एक-दूसरे से अलग भी किया है और जोड़ा भी है। पुराने ज़माने में तो यह जोड़नेवाली कड़ी बहुत मज़बूत रही है और भूमध्य सागर के किनारे के देशों में बहुत-सी बातें एक-सी चली आई हैं। यूरोप की सभ्यता भूमध्य-सागर के प्रदेश में ही शुरू हुई थी। पुराने यूनान के उपनिवेश इन्हीं तीनों महाद्वीपों के समुद्री-किनारों

पर बिखरे हुए थे। रोमन साम्राज्य इसीके चारों ओर फैला था। भूमध्य-सा के आस-पास ही ईसाइयत का बचपन गुज़रा है। अरब लोग अपनी संस्कृति इसी के पूर्वी तट से सिसिली को, और फिर अफ़्रीका के तट के ठेठ पार पश्चिम में स्पे तक, ले गये और वहाँ सात सौ वर्ष तक जमे रहे।

अब हमें मालूम हो गया कि भूमध्य-सागर के तटवाले एशिया के दे का दक्षिणी यूरोप और उत्तरी अफ़्रीका से कैसा गहरा रिश्ता है। इसलिए पश्चि एशिया पुराने ज़माने में एशिया और दूसरे दोनों महाद्वीपों को जोड़नेवाली सा कड़ी बन जाता है। लेकिन इस तरह की कड़ियों की अगर तलाश की जाय तो दुनि भर में आसानी से मिल जायँगी। तंग राष्ट्रीयता के सबब से हम संसार की एक और जुदा-जुदा देशों के समान हितों की बनिस्बत अलग-अलग देशों का ख्या विचार करने लगे हैं।

: १२३ :

पीछे की तरफ़ एक निगाह

१९ जनवरी, १९३३

हाल ही में मैंने दो पुस्तकें पढ़ी हैं, जो मुझे बहुत पसन्द आई है। मेरी इच्छा थी मेरे साथ तुम भी इन पुस्तकों को पढ़तीं। ये दोनों पुस्तकें पेरिस के 'म्यूज़े गिमे' के संचालक रेनी ग्राउज़े नामक फ़्रान्सीसी की लिखी हुई हैं। क्या तुमने पूर्वी कला का और खासकर बौद्ध-कला का यह दिलकश अजायबघर देखा है? मुझे याद नहीं पड़ता कि तुम मेरे साथ वहाँ गई थीं। ग्राउज़े ने चार जिल्दों में पूर्वी यानी एशियाई सभ्यता पर निगाह डाली है और भारत, मध्य-पूर्व (यानी पश्चिमी एशिया और ईरान), चीन व जापान की सभ्यताओं का वर्णन एक-एक जिल्द में अलग-अलग किया है। कला-रसिक होने की वजह से उसने यह पुस्तक इस बात को ध्यान में रखकर लिखी है कि कला की तरह-तरह की हलचलों का विकास कैसे हुआ और इसमें बहुत-सी सुन्दर तसवीरें भी दी हैं। इस तरह इतिहास सीखना, बादशाहों के युद्धों, लड़ाइयों व साज़िशों का हाल जानने से बहुत बेहतर और दिलचस्प होता है।

अभी तक मैंने ग्राउज़े की पुस्तक की वे दो जिल्दें पढ़ी हैं, जिनमें भारत का और मध्य-पूर्व का हाल है और इन्हें पढ़कर मेरा मन बहुत प्रसन्न हुआ है। शानदार इमारतें और सुन्दर मूर्त्तियाँ और अद्‌भुत दीवार-चित्रों व दूसरे चित्रों की तसवीरों ने मुझे देहरादून-जेल से बहुत दूर, दूर-दूर के देशों की और बीते हुए ज़माने की याद दिला दी है।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हें उत्तर-पश्चिम भारत[1] में सिन्ध घाटी के मोहन- ड़ो और हड़प्पा का हाल लिखा था, जो पाँच हज़ार वर्ष पहले की प्राचीन ा के खण्डहर हैं। बीते हुए युग के उन दिनों में जब मोहन-जो-दड़ो में लोग रहते र काम करते और दिल बहलाते थे, तब सभ्यता के और भी कई केन्द्र हमारी जानकारी बहुत थोड़ी है; वह एशिया और मिस्र के जुदा-जुदा कों में खोज निकाले गए कुछ खण्डहरों तक ही है। अगर काफ़ी मेहनत के और काफ़ी विस्तार में खुदाई की जाय तो ऐसे और भी बहुत खण्डहर मिल ते हैं। लेकिन अब भी हम जानते हैं कि मिस्र के नील-काँठे में, खाल्दिया ाम) में जहाँ इलाम राज्य की राजधानी सूसा थी, पूर्वी ईरान के पर्सीपोलिस में, य एशिया के तुर्किस्तान में, और चीन की ह्वांग-हो या पीली नदी के किनारों उन दिनों एक ऊँचे दर्जे की सभ्यता थी।

यह वह ज़माना था जब ताम्बे का इस्तेमाल शुरू हुआ था और चिकने र का युग बीत रहा था। ऐसा मालूम होता है कि चीन से लगाकर मिस्र तक सारे लम्बे-चौड़े इलाके विकास के एक ही दर्जे तक पहुँच चुके थे। वास्तव में यह कर अचम्भा होता है कि एशिया के एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई -सी सभ्यता के कुछ सबूत मिले हैं, जो बतलाते हैं कि सभ्यता के ये जुदा-जुदा द्र एक दूसरे से विलग नहीं थे, बल्कि एक का दूसरे से सम्पर्क था। खेती खूब ती थी। मवेशी पाले जाते थे और कुछ व्यापार भी होता था। लेखन-कला प्रकट हो चुकी थी, लेकिन ये पुरानी चित्र-लिपियाँ अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी । एक दूसरे से बहुत दूर-दूर के इलाकों में एक ही तरह के औज़ार पाये गए हैं र कला की चीज़ों में भी विचित्र समानता है। नक्क़ाशी किये हुए मिट्टी के तंन और तरह-तरह के गुल-बूटोंवाले सुन्दर फूलदान ख़ास तौर पर ध्यान खींचते । मिट्टी के ये बर्तन इतने ज़्यादा पाये गए हैं कि इस तमाम काल का ही नाम क़्क़ाशीदार मिट्टी के बर्तनों की सभ्यता' पड़ गया है। उस ज़माने में सोने- ांदी के ज़ेवर, सेलखड़ी और संगमरमर के बर्तन और रुई के कपड़े तक बनते थे। स्र से लगाकर सिन्ध नदी की घाटी और चीन तक की इस प्राचीन सभ्यता के रेक केन्द्र में अपनी ख़ासियत थी और हरेक का अपना ही अलग ढँग था, किन फिर भी इन सबके अन्दर एक-सी व जुड़ी हुई सभ्यता का सिलसिला खाई देता है।

यह मोटे तौर पर पाँच हज़ार वर्ष पहले की बात है। लेकिन ज़ाहिर है कि सी सभ्यता ने किसी पहली सभ्यता से ही उन्नति की होगी, और इसके विकास

---

[1] अब यह भाग पाकिस्तान में है।

में हज़ारों वर्ष लगे होंगे। नील-काँठे में और खाल्दिया में इसकी शुरुआत और दो हज़ार वर्ष पहले खोजी जा सकती है। दूसरे केन्द्र भी शायद इतने ही पुराने

ईसा से तीन हज़ार वर्ष पहले के बीते ताम्र-युग की, यानी मोहन-जो काल की, इस एक-सी व चारों ओर फैली हुई सभ्यता से चार बड़ी-बड़ी सभ्यताएँ अलग-अलग दिशाओं में निकलीं, अलग-अलग तरह की वर्ण अलग-अलग रूपों में उनका विकास हुआ। ये चारों मिस्री, इराक़ी, भा और चीनी सभ्यताएँ थीं। इसी पिछले काल में मिस्र में महान् पिरामिड[1] गीज़ा का महान् स्फिंक्स[2] बने। इसके बाद मिस्र में थीबन-काल आया, जब से लगभग दो हज़ार वर्ष पहले थीबन-साम्राज्य फूला-फला और अद्‌भुत मू व दीवार-चित्र बनाये गए। कला के दुबारा पनपने का यह एक महान् काल इसी समय के आस-पास लुक्सर का विशाल मन्दिर बना। तूतांखामन एक फ़रऊन[3] था, जिसका नाम तो, मालूम होता है, लोगों ने सुन रक्खा है पर बारे में और कुछ जानकारी उन्हें नहीं है।

खाल्दिया में सुमेर व अक्कद के दो प्रदेशों में शक्तिशाली संगठित रा बने। खाल्दिया का उर शहर मोहन-जो-दड़ो के समय में ही कला की नफ़ीस च बनाने लगा था। क़रीब सात सौ वर्षों की सरदारी के बाद उर पामाल कर दि गया। बाबुल (बाबीलन) के लोगों ने, जो सामी (यानी अरबों या यहूदियों समान) क़ौम के थे, सीरिया से आकर नई हुकूमत क़ायम की। इस नये साम्रा

---

[1] पिरामिड—चौकोर शंकु के आकार के विशाल स्तूप जिनमें फ़रऊ को दफ़नाया गया है। मिस्र में लगभग ४० पिराम्मिड हैं जो अहराम कहलाते हैं। सबसे बड़ा पिरमिड कूफ़ू नामक फ़रऊन का बनवाया हुआ है। इसीमें बाद उसका शव रक्खा गया था। इसका आधार ७५६ फुट लम्बा तथा इतना ही चौड़ा है तथा इसकी ऊँचाई ४८१ फुट है। पिरामिडों में पत्थर के बहुत बड़े-बड़े टुकड़े जमे हुए हैं। कूफ़ू का पिरामिड संसार का एक आश्चर्य माना जाता है। इसके भीतर कई बड़े-बड़े कमरे हैं।

[2] स्फिंक्स—पत्थर की विशालकाय मूर्त्ति जिसका सिर तो स्त्री का-सा है, धड़ सिंह का है, जिसपर पक्षियों के-से पर हैं तथा पूँछ साँप की-सी है। यह मिस्र में पिरामिडों के ही पास है।

[3] ईसा से पूर्व छठी-सातवीं सदी में मिस्र के बादशाह फ़रऊन कहलाते थे। तूतांखामन अन्तिम फ़रऊनों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी क़ब्र में इसकी मोमियाई निकली है जो सोने के सन्दूक़ में बन्द थी। क़ब्र में सोने-चाँदी, हाथीदान्त, जवाहरात की अनेक बहुमूल्य चीज़ें भी मिली हैं।

केन्द्र अब बाबुल का शहर हो गया, जिसका हवाला बाइबिल में बार-बार है। इस ज़माने में भी साहित्य दुबारा पनपा और महाकाव्य बनाये गये जाते थे। ऐसा माना जाता है कि सृष्टि की उत्पत्ति व जल-प्रलय का न करनेवाले इन महाकाव्यों की कथाओं के सहारे पर ही बाइबिल के शुरू अध्याय रचे गये हैं।

बाबुल का भी पतन हुआ और उसके कई सौ वर्षों बाद (लगभग १,००० ईसा से पूर्व और उसके बाद) असीरिया के लोग मैदान में आये और उन्होंने नेवा को राजधानी बनाकर एक नया साम्राज्य क़ायम किया। ये बड़े अजीब ग थे। ये परले सिरे के हैवान व ज़ालिम थे। इनकी सारी शासन-प्रणाली तंकवाद पर खड़ी थी और इन्होंने हत्याकाण्डों व तबाहियों के सहारे सारे मध्य-ों पर एक महान् साम्राज्य तैयार किया। ये लोग उस ज़माने के साम्राज्यशाही ोग थे। लेकिन ये लोग कई बातों में बहुत ही सुसंस्कृत भी थे। निनेवा में एक हुत बड़ा पुस्तकालय जमा किया गया था, जिसमें उस ज़माने के ज्ञान के हर विभाग की पुस्तकें थीं। पर यह बताने की ज़रूरत नहीं कि यह पुस्तकालय ग़ज़ी नहीं था और न इसमें आजकल की पुस्तकों जैसी कोई चीज़ थी। उस माने की पुस्तकें मिट्टी के साँचों पर लिखी जाती थीं। निनेवा के पुराने पुस्तकालय के हज़ारों साँचे आजकल लन्दन के ब्रिटिश अजायबघर में रक्खे हुए हैं। कई तो बहुत ही दिल दहलानेवाले हैं; बादशाह ने बड़ी बोलती भाषा में लिखा है कि उसने दुश्मनों पर कैसे-कैसे जुल्म किये और उनमें कैसा मज़ा लिया।

भारत में आर्य लोग मोहन-जो-दड़ो काल के बाद आये। अबतक उनके शुरू के दिनों के कोई खण्डहर या मूर्तियाँ नहीं मिली हैं। हाँ, उनकी सबसे बड़ी यादगारें उनके पुराने ग्रन्थ—वेद वग़ैरा—हैं, जिनसे हमें भारत के मैदान में उतरनेवाले इन आनन्दी सूरमाओं के मन का भीतरी हाल मालूम होता है। इन ग्रन्थों में प्रकृति की बहुत ही ज़ोरदार कविता भरी है; देवता भी प्रकृति के देवता हैं। यह लाज़िमी था कि जब कला का विकास हुआ तो प्रकृति का प्रेम उसमें बहुत ज़्यादा हिस्सा लेता। भोपाल के पास साँची के फाटक अबतक पाई गई कला की बची-खुची निशानियों में सबसे पुराने गिने जाते हैं। उनका समय शुरू का बौद्धकाल है। इन फाटकों के ऊपर फूल-पत्तों व जानवरों की शक़्लों की सुन्दर नक़्क़ाशी से हमें इनके बनानेवाले कलाकारों के प्रकृति-प्रेम का और प्रकृति की परख का पता लगता है।

इसके बाद उत्तर-पश्चिम की ओर से यूनानी असर आया, क्योंकि यह तो तुम्हें याद होगा कि सिकन्दर के बाद यूनानी साम्राज्य ठेठ भारत की सरहद तक आ गया था। फिर कुषाण-वंश का सरहदी साम्राज्य आया और इसपर भी यूनानी

असर था। बुद्ध मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। वह अपने-आपको देवता नहीं क थे, न अपनी पूजा ही कराना चाहते थे। उनका उद्देश्य उन बुराइयों से सम का पिण्ड छुड़ाना था, जो पोपलीला के जरिये उसमें घुस आई थीं। वह गिरे हु और दीन-दुखियों को उठाने की कोशिश करनेवाले सुधारक थे। बनारस के प सारनाथ या इसिपत्तन में उनका जो प्रथम प्रवचन हुआ, उसमें उन्होंने कहा "मैं अज्ञानियों को ज्ञान से तृप्त करने आया हूँ... जबतक कोई म प्राणियों के हित के लिए अपनेको खपा न दे, त्यागे हुओं को तसल्ली न दे, तब वह पूर्ण नहीं हो सकता।... मेरा मत करुणा का मत है; इसी का संसार के सुखी मनुष्य उसे कठिन समझते हैं। निर्वाण का मार्ग सबके लिए खु हुआ है। ब्राह्मण भी उसी तरह स्त्री के गर्भ से पैदा हुआ जैसे कि चाण्डाल, जि लिए कि उसने मोक्ष का द्वारा बन्द कर रक्खा है। जिस प्रकार हाथी नरकुलों झोंपड़ी को उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार तुम भी अपने विकारों का नाश क दो।...पापों से रक्षा का एकमात्र उपाय आर्यसत्य है।" इस तरह बुद्ध सदाचार का और जीवन के अष्टांगिक मार्ग[1] का उपदेश किया। लेकिन गुरु उपदेशों का छिपा हुआ अर्थ न समझनेवाले मूर्ख शिष्यों का जैसा क़ायदा होता उसी तरह बुद्ध के अनुयायियों ने उनके बताये हुए आचार-व्यवहार के ऊप नियमों का तो पालन किया, मगर उनका भीतरी मर्म नहीं समझा। उनके उपदे पर चलने के बजाय वे उनकी पूजा करने लगे। फिर भी बुद्ध की कोई मूर्तियां न बनीं, न पूजा की कोई प्रतिमाएँ बनाई गईं।

इसके बाद यूनान व दूसरे यूनानी देशों के विचार यहां भी आने लगे। इ देशों में देवताओं की सुन्दर-सुन्दर मूर्तियां बनाई जाती थीं और पूजी जाती थीं। भारत के उत्तर-पश्चिम में गान्धार देश में यह असर सबसे ज्यादा था। वहां 'शिशु बुद्ध' की मूर्तियां बनने लगीं। यह उनके अपने छोटे और प्यारे देवता कामदेव या आगे होनेवाले शिशु ईसा की तरह का था। इस तरह बौद्ध-धर्म में मूर्तिपूजा की शुरुआत हुई और यहाँतक बढ़ी कि हरेक बौद्ध-मन्दिर में बुद्ध की मूर्ति दिखाई देने लगी।

ईरान का असर भी भारतीय कला पर पड़ा। बौद्ध जातकों और हिन्दुओं की अनगिनती पौराणिक कथाओं से भारत के कलाकारों को बेशुमार मसाला मिल गया। पत्थरों पर खुदी हुई या रंगों से खींची गईं इन जातक-कथाओं व पुरानी गाथाओं को तुम आन्ध्र में, अमरावती में, बम्बई के पास एलिफ़ेण्टा की गुफ़ाओं

---

[1] 'आर्यसत्य' और 'अष्टांगिक मार्ग' बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं। सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित 'बुद्धवाणी' में इनका अच्छा परिचय दिया हुआ है।

ौर वेरूळ (एलोरा) व अजन्टा में देख सकती हो। सैर के लिए ये अनोखी हैं और मैं चाहता हूँ कि भारत का हरेक लड़का और लड़की इन जगहों में से ो-कम कुछको तो ज़रूर देखे।

भारत की पौराणिक कथाएँ समुद्र को लांघकर भारत के पूर्ववर्ती देशों में भी जा ची। जावा के बोरोबुदुर में सारी-की-सारी जातक-कथा पत्थर की दीवारों पर लसिलेवार खुदी हुई है। अंकोरवाट के खण्डहरों में बहुत-सी ऐसी मूर्तियाँ जूद हैं, जिनको देखकर हमें आठ सौ वर्ष पहले के ज़माने की याद हो आती है, कि पूर्वी एशिया में यह नगर 'शानदार अंकोर' के नाम से मशहूर था। इन तियों की मुख-मुद्राएँ कोमल और सजीव हैं और उनपर एक विचित्र व पकड़ में न नेवाली मुस्कराहट छाई हुई है, जो 'अंकोर की मुस्कराहट' कहलाने लगी है। हाँ की नस्लों का पुराना ख़ून बदल गया है, लेकिन यह मुस्कराहट वैसी ही बनी है और हमेशा नई लगती है।

कला अपने ज़माने की ज़िन्दगी व सभ्यता का सच्चा दर्पण होती है। जब ारतीय सभ्यता ज़िन्दगी से भर-पूर थी, तब यहाँ सुन्दर वस्तुओं की रचना हुई, लाएँ लहलहाईं और उनकी गूँज दूर-दूर के देशों तक जा पहुँची। लेकिन, जैसा तुम्हें मालूम है, बाद में सड़न व गलन पैदा हुईं और जैसे-जैसे देश टूक-टूक ोता गया, कलाएँ भी गिरती गईं। उनकी जीवट व जान जाती रही और उन- र ज़रूरत से ज्यादा बारीकियाँ लाद दी गईं—यहाँ तक कि वे भोंडेपन की हद र पहुँच गईं। मुसलमानों के आने से एक झटका लगा, और इस नये असर ने फ़ालतू सजावट के गिरे हुए रूप को भारतीय कला से निकाल दिया। ज़मीन तो पुराने आदर्श की ही रही, पर उसे बड़ी सादगी और ख़ूबी के साथ अरब और ईरान का नया जामा पहना दिया गया। पुराने ज़माने में भारत के हज़ारों राज-मिस्त्री मध्य-एशिया गये थे। अब पश्चिम-एशिया के वास्तुकार और चित्रकार भारत आये। ईरान और मध्य-एशिया में कला ज़ोरदार तरीक़े से दुबारा पनपने लगी थी; क़ुंस्तुन्तुनिया में बड़े-बड़े वास्तुकारों के हाथों बड़ी-बड़ी आलीशान इमारतें बन रही थीं। इटली में भी यही रिनेसाँ के शुरू का काल था, जबकि वहाँ भी महान् कलाकारों के एक तारा-मंडल ने सुन्दर चित्रों और मूर्तियों की रचना की थी।

सीनन उस ज़माने का मशहूर तुर्की मेमार था और बाबर ने उसीके चहेते शागिर्द यूसुफ़ को यहाँ बुलवाया। ईरान का महान् चित्रकार बिहज़ाद था। उसके कई शागिर्दों को बुलाकर अकबर ने अपना दरबारी चित्रकार बनाया। वास्तुकला और चित्रकला दोनों पर ही ईरानी असर छाया हुआ नज़र आने लगा। मुग़ल-भारत की इस भारतीय-मुस्लिम कला की कुछ आलीशान इमारतों का ज़िक्र मैंने

किसी पिछले पत्र में किया है। इनमें से कितनी ही तो तुमने देखी भी हैं। इस भार ईरानी कला की सबसे ऊँची सिद्धि ताजमहल है। बहुत-से बड़े-बड़े कलाकारों मदद से यह बना। कहते हैं कि सबसे बड़ा मेमार उस्ताद ईसा नामक कोई तु ईरानी था और उसकी मदद के लिए कई भारतीय मेमार थे। खयाल जाता है कि कुछ यूरोपीय कलाकारों ने, खासकर एक इटालवी ने, भीत सजावट का काम किया। इतने सारे अलग-अलग व बड़े-बड़े कलाकारों के करने पर भी, इस इमारत में कोई खटकनेवाली या आपस में मेल न रखने कोई चीज़ें नहीं हैं। तमाम जुदा-जुदा असर आपस में घुल-मिलकर अद्भुत पैदा कर रहे हैं। ताजमहल में हज़ारों ही आदमियों ने काम किया है। लेकिन पर ईरानी व भारतीय, दो असरों की सबसे ज़्यादा छाप है। इसीलिए कहा है कि "ईरान की आत्मा ने भारत के शरीर में अवतार लिया है।"

: १२४ :

ईरान की अटूट पुरानी परम्पराएँ

२० जनवरी, १९

आओ, अब ईरान की तरफ़ चलें, जिसके बारे में कहा जाता है कि इ आत्मा भारत में आई और ताजमहल को अपने लिए उचित शरीर पाकर उ पैठ गई। ईरानी कला की परम्परा भी निराली है। यह परम्परा ठेठ असीरिया के ज़माने से, दो हज़ार वर्षों से भी ज़्यादा समय से, बराबर चली आ रही है। रा और राजवंशों और मज़हबों में तब्दीलियाँ हुई हैं, देश पर विदेशी हुकूमत भी र है और अपने शाहों की भी, इसलाम ने भी आकर बहुत-कुछ क्रान्तिकारी परिव कर दिये हैं, लेकिन यह परम्परा बराबर बनी रही है। हाँ, युगों के दौरान में बदली है और इसका विकास भी हुआ है। परम्परा के इस तरह क़ायम रहने का सबब ईरानी कला का ईरान की धरती व नज़ारों के साथ ताल्लुक़ होना बताया जाता है।

पिछले पत्र में मैंने निनेवा के असीरियाई साम्राज्य का ज़िक्र किया है। इ साम्राज्य में ईरान भी शामिल था। ईसा से पाँच-छै सौ साल पहले ईरानियों ने, जो आर्य थे, निनेवा पर क़ब्ज़ा करके असीरियाई साम्राज्य का अन्त कर दिया। फिर इन ईरानी-आर्यों ने सिन्ध नदी के किनारे से लेकर ठेठ मिस्र तक अपने लिए बड़ा साम्राज्य बना लिया। प्राचीन संसार पर उनका दबदबा था और यूनानी इतिहास में उनके शासक के लिए 'शहंशाह' शब्द इस्तेमाल किया गया है। इन 'शहंशाहों' में से कुछके नाम कुरु, दारा और ज़रक्स (क्षयार्श) हैं। तुम्हें याद

था कि दारा और ज़रक्स ने यूनान को जीतने की कोशिश की और शिकस्त खाई। यह राजवंश हकामनी राजवंश कहलाता था और इसने २२० वर्षों तक एक बड़े साम्राज्य पर राज किया। अन्त में मक़दूनिया के सिकन्दर महान् ने इसका अन्त कर दिया।

असीरियाइयों और बाबुलियों के बाद ईरानियां के आने से जनता को बड़ी राहत मिली होगी। ये बड़े सभ्य और उदार शासक थे। इन्होंने सब मज़हबों और संस्कृतियों को पनपने दिया। इनके लम्बे-चौड़े साम्राज्य की शासन-व्यवस्था बहुत बढ़िया थी। आवाजाई की सहूलियत के लिए अच्छी सड़कों का तमाम देश में जाल-सा बिछा हुआ था। इन ईरानी-आर्यों का भारत में आनेवाले भारतीय आर्यों से नज़दीकी रिश्ता था। इनका मज़हब, यानी ज़रथुस्त का मज़हब, शुरू के वैदिक धर्म से मिलता-जुलता था। साफ़ नज़र आता है कि दोनों का मूल आर्यों के आदिम वासस्थान में एक ही होगा, चाहे वह स्थान कहीं भी हो।

हकामनी बादशाह इमारतें बनवाने के बड़े शौक़ीन थे। अपनी राजधानी पर्सीपोलिस में उन्होंने मन्दिर नहीं बनवाये, बल्कि खूब बड़े-बड़े महल बनवाये थे, जिनमें बहुत खम्भोंवाले बड़े-बड़े सभा-भवन थे। इन विशाल इमारतों का कुछ अन्दाज़ा इनके खण्डहरों से लगाया जा सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि हकामनी कला का सम्पर्क मौर्यकाल की भारतीय कला के साथ रहा। उसने इसपर अपना असर भी डाला।

सिकन्दर ने शाहंशाह दारा को हराकर हकामनी राजवंश का अन्त कर दिया। उसके बाद सिकन्दर के सेनापति सेलेउक और उसके वारिसों के अधीन कुछ दिनों तक यूनानियों का राज रहा और फिर आधे-विदेशी शासकों के अधीन यूनानी असर का काफ़ी लम्बा ज़माना रहा। इसी ज़माने में भारत की सीमा पर बैठे हुए और दक्षिण में बनारस तक व उत्तर में मध्य-एशिया तक अपने पैर फैलाये हुए कुषाणों पर भी यूनानी असर था। भारत के पश्चिम का तमाम एशिया, सिकन्दर से लेकर ईसा की तीसरी सदी तक, यानी पाँच सौ वर्षों से भी ज्यादा तक, यूनानी असर में रहा। यह असर ज्यादातर कला से ताल्लुक़ रखता था। इसने ईरान के मज़हब के साथ कोई छेड़-छाड़ नहीं की और वहाँ ज़रथुस्त मज़हब ही चलता रहा।

तीसरी सदी में ईरान में राष्ट्रीय जीवन फिर से उठा और एक नया राजवंश सत्ताधारी हुआ। यह सासानी राजवंश था, जो सरगर्म राष्ट्रवादी था और पुराने हकामनी बादशाहों का गद्दीधारी होने का दावा करता था। जैसा कि अक्सर सरगर्म राष्ट्रवाद का क़ायदा होता है, यह बहुत तंग और कट्टर था। उसे सरगर्म इसलिए बनाना पड़ा कि वह पश्चिम में रोम साम्राज्य व क़ुस्तुन्तुनिया के बिज़न्तीन

साम्राज्य, और पूर्व में चढ़े चले आनेवाले तुर्की क़बीलों, के बीच फंसा हुआ फ़िर भी यह राजवंश चार सौ वर्षों से ज़्यादा, यानी इस्लाम के ठेठ आने किसी तरह चलता ही रहा। सासानियों के राज में ज़रथुस्तों का पुजारी-वर्ग ताक़तवर था। राज्य की बागडोर इन्हींके हाथों में थी और वे कोई विरोध नहीं करते थे। कहा जाता है कि इसी ज़माने में उनकी धर्म-पुस्तक अवेस्ता आखिरी पाठ तैयार हुआ।

इस काल में भारत में गुप्त साम्राज्य फूल-फल रहा था। यह भी कुषाण बौद्ध कालों के बाद होनेवाली राष्ट्रीय चेतना थी। साहित्य और कला में नया उ आया और कालिदास सरीखे कई महान् संस्कृत लेखक इसी समय हुए। इस बात बहुत संकेत मिलते हैं कि ईरान की सासानी-कला का भारत की गुप्त-कला के सा सम्पर्क था। आज सासानी ज़माने की चित्रकारियाँ या मूर्तियाँ बाक़ी नहीं हैं। प जो भी मिली हैं, उनमें जान व हरकत भरी हुई हैं। उनमें बने हुए जानवर अज के भित्ति-चित्रों के जानवरों से बहुत मिलते-जुलते हैं। मालूम होता है कि सासानी कला का असर ठेठ चीन और गोबी रेगिस्तान तक फैला हुआ था।

अपने लम्बे राज के आख़िरी दिनों में सासानी कमज़ोर पड़ गये और ईरा का रंग-ढंग बिगड़ गया। बिज़ैन्तीन साम्राज्य के साथ लम्बे युद्धों में फंसे रहने दोनों ही बिलकुल पस्त हो गये। अपने नये मज़हब के जोश से भरी हुई अरबी फ़ौजों के लिए अब ईरान को जीत लेना मुश्किल न हुआ। सातवीं सदी के बीच में, पैग़म्बर की मृत्यु के दस वर्षों के अन्दर, ईरान ख़लीफ़ा की हुकूमत में आ गया। जैसे-जैसे अरब फ़ौजें मध्य-एशिया और उत्तर-अफ़्रीका की तरफ़ फैलती गईं, वे अपने साथ सिर्फ़ एक नया मज़हब ही नहीं बल्कि एक नई और बढ़ती हुई सभ्यता भी लेती गईं। सीरिया, शाम, मिस्र, सब अरबी संस्कृति में रम गये। अरबी भाषा उनकी भाषा हो गई। यहाँतक कि उनकी नस्ल भी अरबी नस्ल में मिल गई। बग़दाद, क़ाहिरा और दमिश्क अरबी सभ्यता के बड़े-बड़े केन्द्र बन गये और इस नई सभ्यता के असर से वहाँ बहुत-सी आलीशान इमारतें बनीं। आज भी ये देश अरबी देश कहलाते हैं और हालाँकि एक-दूसरे से अलग हैं, फिर भी एकता के सपने देखा करते हैं।[1]

इसी तरह अरबों ने ईरान को भी जीता, पर वे इस देश के निवासियों को मिस्र या सीरिया की तरह न तो मिला सके और न हज़म कर सके। पुरानी आर्य नस्ल की ईरानी नस्ल सामी अरबों से बहुत दूर की थी। उसकी भाषा भी आर्य भाषा थी। इसलिए यह नस्ल जुदा रही और उनकी भाषा भी फूलती-फलती रही। तेज़ी से फैलनेवाले इस्लाम ने ज़रथुस्त मज़हब की जगह ले ली और इसे अन्त में

---

[1] अरब देशों के समान हितों की रक्षा के लिए अरब लीग की स्थापना हो चुकी है।

रत में आकर आसरा लेना पड़ा। लेकिन ईरानियों ने इस्लाम में भी अपना ही बनाये रक्खा। इस भेद की वजह से इस्लाम में दो फ़िरक़े पैदा हो गये—शिया र सुन्नी। ईरान बहुत करके शिया देश हो गया और आज भी है। बाक़ी इस्लामी दुनिया ज्यादातर सुन्नी है।

हालाँकि अरबी सभ्यता ईरान को हज़म न कर सकी, तो भी उसका उस पर ज़बर्दस्त असर पड़ा। वहाँ भी, भारत की तरह, इस्लाम ने कला की हलचलों को नया जीवन दिया। ईरानी स्वभावों का भी अरबी कला और संस्कृति पर इतना ही असर पड़ा। रेगिस्तान की सीधी-सादी औलाद के घरों में ईरानी ऐश-आराम घुस गया और अरब के ख़लीफ़ा का दरबार दूसरे शाही दरबारों की तरह तड़क-भड़कदार और शानदार बन गया। शहंशाही बग़दाद उस समय की दुनिया का सबसे बड़ा शहर बन गया। इसके उत्तर में दजला नदी के किनारे समारा में ख़लीफ़ाओं ने अपने वास्ते बड़े-बड़े मस्जिद और महल बनवाये, जिनके खण्डहर अभी तक मौजूद हैं। मस्जिद में बड़े-बड़े कमरे और फ़व्वारोंदार आँगन थे। महल आयताकार था, जिसकी लम्बाई एक किलोमीटर से भी ज्यादा थी।

नवीं सदी में बग़दाद का साम्राज्य टूक-टूक होकर कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। ईरान स्वाधीन हो गया। पूर्व की तरफ़ तुर्की क़बीलों ने कई राज्य क़ायम कर लिये और अन्त में ख़ुद ईरान पर क़ब्ज़ा करके वे बग़दाद के नाम मात्र ख़लीफ़ा पर भी हावी हो गये। ग्यारहवीं सदी के शुरू में महमूद गज़नवी का उदय हुआ, जिसने भारत पर छापा मारा, ख़लीफ़ा को दहला दिया और अपने लिए एक थोड़ी ज़िन्दगीवाला साम्राज्य भी बना लिया, जिसको सेलजूक़ नामी एक दूसरे तुर्की क़बीले ने ख़त्म कर दिया। सेलजूकों ने बहुत वर्षों तक और सफलता के साथ ईसाई जिहादियों से टक्कर ली और युद्ध किया, और इनका साम्राज्य डेढ़ सौ वर्ष रहा। बारहवीं सदी के अन्त में एक और ही तुर्की क़बीले ने सेलजूकों को ईरान से निकाल बाहर किया और ख़ारज़म या ख़ीवा की सल्तनत क़ायम की। लेकिन इसकी ज़िन्दगी भी थोड़े ही दिन की रही, क्योंकि ख़ारज़म के शाह के हाथों अपने राजदूत के अपमान पर चंगेज़ख़ाँ को इतना ग़ुस्सा आया कि वह अपने मंगोलों को लेकर चढ़ आया, और उसने इस देश को व इसके निवासियों को कुचल डाला।

इस छोटे-से पैरा में मैंने तुम्हें कितने ही परिवर्तनों और कितने ही साम्राज्यों का हाल लिख दिया है और तुम काफ़ी चकरा गई होगी। मैंने इन राजवंशों और नस्लों के चढ़ाव-उतार का ज़िक्र तुम्हारे दिमाग़ पर बोझ डालने के लिए नहीं किया है, बल्कि यह ज़ोर देने के लिए किया है कि किस तरह इन सबके बावजूद ईरान का जीवन और उसकी कला की परम्परा अटूट बनी रही। पूर्व से एक के बाद एक तुर्की क़बीले आये और बुख़ारा से इराक़ तक फैली हुई मिली-जुली ईरानी-अरबी

सभ्यता के आगे सिर झुकाते गये। जो तुर्क ईरान से दूर एशिया-कोचक पहुँच ग उन्होंने अपना ढंग क़ायम रक्खा और अरबी संस्कृति को नहीं अपनाया। एशि कोचक को तो उन्होंने अपने वतन तुर्किस्तान का ही एक हिस्सा-सा बना लिय मगर ईरान व उसके आस-पास के देशों में पुरानी ईरानी संस्कृति का ही ऐसा था कि इन तुर्कों को उसे अपनाना पड़ा और अपने-आपको उसके अनुसार ढाल पड़ा। ईरान पर हुकूमत करनेवाले इन सभी तुर्की राजवंशों के समय में ईरानी व साहित्य फूलते-फलते रहे। मेरा ख़याल है कि मैं तुम्हें फ़ारसी के कवि फ़िरदौ का हाल लिख चुका हूँ, जो सुलतान महमूद गज़नवी के समय में हुआ था। मह के कहने पर उसने ईरान का राष्ट्रीय महाकाव्य 'शाहनामा' लिखा था। इस पु में बयान की गई घटनाएँ इस्लामी ज़माने से पहले की हैं और इसका महान् ना रुस्तम है। इससे ज़ाहिर होता है कि पुराने राष्ट्रीय और परम्परावाले अतीत साथ ईरान के साहित्य और कला का कैसा गहरा और अटूट नाता था। ई चित्रों व सुन्दर लघु-चित्रों के ज्यादातर विषय शाहनामा की कहानियों से लि गए हैं।

फ़िरदौसी का जन्म ९३२ ई० में हुआ और मृत्यु १०३२ ई० में हुई, या वह उस समय हुआ जब सदी बदली और ईसा के बाद 'हज़ार वर्ष का युग' भी पू हो गया। उसके कुछ ही दिन बाद ईरान में नैशापुर का रहनेवाला ज्योति शायर उमर ख़य्याम हुआ, जिसका नाम अंग्रेज़ी में उतना ही मशहूर है जित फ़ारसी में। और उमर ख़य्याम के बाद शीराज़ का शेख़ सादी हुआ, जो फ़ा कवीश्वरों में गिना जाता है और जिसकी गुलिस्ताँ व बोस्ताँ पीढ़ियों से भारत मकतबों में पढ़नेवाले लड़कों को रटनी पड़ती थीं।

मैंने महापुरुषों के कुछेक नामों का ही ज़िक्र किया है। नामों की लं सूचियाँ मैं नहीं देना चाहता। लेकिन मैं चाहता हूँ कि तुम यह ज़रूर महसू करो कि इन सदियों भर में ईरान से लगाकर मध्य-एशिया में अक्षु-पार-प्रदे तक ईरानी कला व संस्कृति का दीपक लगातार बड़ी तेज़ रोशनी से जलता रहा। अक्षु-पार-प्रदेश के बलख और बुख़ारा जैसे बड़े नगर कला व साहित्य की हलचलों के केन्द्र हो गये और ईरान के शहरों की होड़ करने लगे। बुख़ारा में ही दसवीं सदी के अन्त में मशहूर अरबी दार्शनिक इनसिना का जन्म हुआ था। दो सौ वर्ष बाद बलख में जलालुद्दीन रूमी नामक एक और फ़ारसी शायर पैदा हुआ। यह बड़ा रहस्यवादी माना जाता है और इसीने रक़्क़ास (नाचनेवाले) दरवेशों का पन्थ चलाया था।

इस तरह युद्धों, लड़ाई-झगड़ों और राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद ईरानी-

---

[1] Transoxiana.

ी कला और संस्कृति की परम्परा जानदार बनी रही और साहित्य, चित्र-ा व इमारती कारीगरी के कमाल पैदा करती रही। उसके बाद तबाही आई। हवीं सदी में (१२२० ई० के क़रीब) चंगेज़ख़ाँ झपाटे के साथ आ पहुँचा खारज़म और ईरान को नष्ट कर गया। कुछ साल बाद हलाकू ने बग़दाद को कर दिया, और ऊँची संस्कृति के जमा किये हुए फलों का सफ़ाया हो गया। ी पिछले पत्र में मैं लिख चुका हूँ कि किस तरह मंगोलों ने मध्य-एशिया को रान बना डाला, किस तरह वहाँ के बड़े-बड़े शहर ख़ाली हो गये और उनमें ुष्य-जीवन का नाम तक न रहा।

मध्य-एशिया इस आफ़त के बाद कभी पूरी तरह नहीं पनप सका। ताज्जुब यही है कि जिस हद तक वह पनपा उतना भी कैसे पनपा! तुम्हें याद होगा कि गेज़ख़ाँ के मरने के बाद उसका बड़ा साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया था। ईरान ौर इसके आसपास का उसका भाग हलाकू के हिस्से में आया। जी भरकर सत्या-ाश करने के बाद हलाकू एक अमन-पसन्द और उदार शासक बनकर बैठ गया ौर उसने इलख़ान-राजवंश चलाया। ये इलख़ान कुछ अर्से तक तो मंगोलों का राना आसमानी मज़हब ही मानते रहे; बाद में मुसलमान बन गये। इस्लाम बूल करने के पहले और बाद में भी, वे दूसरे मज़हबों की तरफ़ पूरी तरह उदार । चीन में उनके भाईबन्द, यानी चीन का ख़ान महान् और उसका परिवार, ौद्ध थे। इनके साथ इलख़ानों के बड़े गहरे ताल्लुक़ थे। यहाँतक कि दुलहिनें भी वे ठ चीन से मँगवाया करते थे।

ईरान और चीन के मंगोलों की दोनों शाखाओं के बीच इन रिश्तों का कला र काफ़ी असर पड़ा। धीरे-धीरे चीनी असर ईरान में आ पहुँचा और वहाँ की चित्रकला में अरबी, ईरानी व चीनी असरों का एक विचित्र मेल दिखाई देता है। लेकिन फिर भी, तमाम आफ़तों के बावजूद, ईरानी तत्व ज़ोरदार बना रहा। चौदहवीं सदी के बीच ईरान ने एक और शायर पैदा किया। यह था हाफ़िज़ ो आज तक भारत में भी लोकप्रिय है।

मंगोल इलख़ानों का राज ज़्यादा दिन न टिका। उनके रहे-सहे निशानों को अक्षु-पार-प्रदेश के समरक़न्द के एक बड़े सूरमा तैमूर ने नष्ट कर दिया। यह ख़ूँख़्वार और महा ज़ालिम वहशी भी, जिसका हाल मैं तुम्हें लिख चुका हूँ, कलाओं का अच्छा रसिक था और एक विद्वान आदमी माना जाता है। मालूम होता है कि इसका सारा कला-प्रेम दिल्ली, शीराज़, बग़दाद और दमिश्क़ के बड़े शहरों को उजाड़ने में और लूट के माल से अपनी राजधानी समरक़न्द को सजाने में ही था। लेकिन समरक़न्द की सबसे अद्‌भुत और आलीशान इमारत तैमूर का मक़बरा ोरे-अमीर' है। यह मक़बरा है भी इसके अनुकूल ही, क्योंकि इसकी शानदार

रूप-रेखा में तैमूर की रौबदार सूरत की, मज़बूती की और ख़ूंख्वार स्वभाव की कुछ झलक है।

तैमूर ने जो विशाल प्रदेश जीते थे, वे उसके मरने के बाद एक-एक करके जाते रहे, लेकिन उसकी तुलना में एक छोटी-सी रियासत, जिसमें अक्षु-पार-प्रदेश और ईरान भी शामिल थे, उसके गद्दीनशीनों के पल्ले पड़ी। पूरे एक सौ वर्षों तक, यानी पन्द्रहवीं सदीभर, इन लोगों का, जिन्हें 'तैमूरिया' कहते थे, ईरान, तुर्किस्तान और हिरात पर क़ब्ज़ा रहा। और अजीब बात यह है कि एक ज़ालिम विजेता के ये वंशधर अपनी उदारता, मानवता और कला-प्रेम के लिए मशहूर हुए। तैमूर का ही पुत्र शाहरुख इनमें सबसे महान् हुआ है। उसने अपनी राजधानी हिरात में एक आलीशान पुस्तकालय स्थापित किया, जिसके कारण वहाँ साहित्य-प्रेमियों की भीड़ खिचकर आती रहती थी।

सौ वर्षों का यह तैमूरी-काल कला व साहित्य की हलचलों के लिए इतना मशहूर है कि इसको 'तैमूरी पुनर्जागरण' कहते हैं। ईरानी साहित्य का खूब विकास हुआ और बहुत-सी सुन्दर तसवीरें बनाई गईं। महान् चित्रकार बिहज़ाद चित्रकला की एक नई क़लम का पेशवा था। एक दिलचस्प बात यह हुई कि फ़ारसी के साथ-साथ तुर्की साहित्य का भी तैमूरी-साहित्य-गोष्ठियों में विकास हुआ। तुम्हें याद दिला दूं कि इटली के 'रिनेसाँ' का भी यही ज़माना था।

तैमूरिये तुर्क थे और उन्होंने ईरानी संस्कृति को बहुत-कुछ अपना लिया था। तुर्कों और मंगोलों की प्रभुता होते हुए भी ईरान ने अपने विजेताओं पर अपनी संस्कृति की छाप बैठा दी थी। साथ ही ईरान राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए भी लड़ता रहा। धीरे-धीरे तैमूरिये दिन-पर-दिन पूर्व की ओर खदेड़ दिये गए, यहाँ तक कि उनकी रियासत अक्षु-पार-प्रदेश के चारों ओर सिकुड़ती गई। सोलहवीं सदी के शुरू में ईरानी राष्ट्रीयता की विजय हुई और तैमूरिये हमेशा के लिए ईरान से निकाल बाहर किये गए। सफ़ावी नामक एक राष्ट्रीय राजवंश ईरान के तख़्त पर बैठा। इसी राजवंश के दूसरे बादशाह तहमास्प प्रथम ने, शेरशाह के डर से भारत छोड़कर भागे हुए हुमायूं को शरण दी थी।

सफ़ावी-काल १५०२ से १७२२ ई० तक, यानी दो सौ वर्ष रहा। इसे ईरानी कला का सुनहला युग कहा जाता है। राजधानी इस्फहान आलीशान इमारतों से भर गया और कला का नामी केन्द्र बन गया, जो चित्रकारी के लिए खास तौर पर मशहूर था। शाह अब्बास, जिसने १५८७ से १६२९ ई० तक राज किया, इस वंश का नामी बादशाह हुआ है और ईरान के सबसे महान् शासकों में गिना जाता है। उसको एक तरफ़ से उज़बकों ने और दूसरी तरफ़ से उस्मानी तुर्कों ने आ दबाया। उसने दोनों को मार भगाया, एक मज़बूत राज्य क़ायम

पश्चिम के और दूसरे दूर-दूर के राज्यों से सम्बन्ध जोड़े, और अपनी राज-को सुन्दर बनाने के काम में जुट गया। इस्पहान में शाह अब्बास की नगर- 'ऊँचे दर्जे की सफ़ाई और रुचि का कमाल' मानी जाती है। जो इमारतें ई गईं, उनमें सिर्फ़ रूप-सौन्दर्य और नफ़ीस सजावट ही नहीं थे, बल्कि वे ऐसी मनो- जगहों में खड़ी की गई थीं कि उनका प्रभाव दुगना हो जाता था। जिन यूरोपीय त्रियों ने उस समय ईरान को देखा था, उन्होंने इनकी तारीफ़ों के पुल बाँध दिये हैं।

ईरानी कला के इस सुनहले युग में इमारती-कला, साहित्य, चित्रकारी (भित्ति-चित्रों तथा छोटे चित्रों, दोनों की), सुन्दर क़ालीनें, चमकदार मिट्टी के बर्तनों का और पच्चीकारी का नफ़ीस काम, सब फूले-फले। कुछ भित्ति-चित्रों और छोटे-छोटे चित्रों में अद्‌भुत लावण्य है। कला राष्ट्रीय सीमाओं को नहीं मानती और न उसे मानना ही चाहिए, और सोलहवीं व सत्रहवीं सदियों की इस ईरानी कला को समृद्ध बनाने में बहुत-से प्रभावों का हाथ रहा होगा। कहते हैं, इटली का प्रभाव तो ज़ाहिर है। पर इन सबके पीछे ईरान की पुरानी कला-परम्परा है, जो दो हज़ार वर्षों से अटूट चली आ रही थी। ईरानी संस्कृति का दायरा सिर्फ़ ईरान की हद के भीतर ही न था। वह पश्चिम में तुर्की से लगाकर पूर्व में भारत तक के लम्बे-चौड़े इलाके में फैली। भारत के मुग़ल दरबारों में फ़ारसी भाषा संस्कृति की भाषा मानी जाती थी। और आमतौर पर पश्चिमी एशिया में भी इसकी वही हैसियत थी जो यूरोप में फ़्रान्सीसी भाषा की थी। ईरानी कला की पुरानी भावना आगरे के ताज-महल में अपनी अमर निशानी छोड़ गई है। बहुत-कुछ इसी तरह इस कला ने पश्चिम में क़ुस्तुन्तुनिया तक उस्मानी इमारती-कला पर भी अपनी छाप डाली है। वहाँ इस ईरानी प्रभाव की छापवाली बहुतेरी नामी इमारतें बनीं।

ईरान के सफ़ावी बहुत-कुछ भारत के महान् मुग़लों के ज़माने में ही हुए थे। भारत का पहला मुग़ल बादशाह बाबर समरक़न्द का एक तैमूरिया शहज़ादा था। जैसे-जैसे ईरानियों की ताक़त बढ़ती गई, वे तैमूरियों को पीछे हटाते गये। होते-होते अक्षु-पार-प्रदेश और अफ़ग़ानिस्तान के सिर्फ़ कुछ ही हिस्से तैमूरिये शहज़ादों के हाथ में रह गये। इन छुट-पुट शहज़ादों से बाबर को बारह साल की उम्र से ही लड़ना पड़ा था। वह सफल हुआ और पहले काबुल का शासक बनकर फिर भारत में आया। उस ज़माने की ऊँची तैमूरिया संस्कृति का अन्दाज़ा बाबर से लगाया जा सकता है, जिसके याद-नामे के कुछ टुकड़े मैं एक पिछले पत्र में दे चुका हूँ। सफ़ावी शासकों में सबसे महान् शाह अब्बास था, जो अकबर व जहाँगीर के ज़माने में हुआ। इन दोनों देशों में बराबर बड़ा गहरा ताल्लुक़ रहा होगा। अफ़ग़ानिस्तान भारतीय मुग़ल साम्राज्य का एक हिस्सा था, इसलिए बहुत अर्से तक दोनों की सरहद एक ही थी।